प्रकाशक :

कुंजबिहारीलाल पचौरी एम. कॉम.
जवाहर पुस्तकालय,
असकुण्डा बाजार, मथुरा. (उ० प्र०)



लेखक :

डॉ० वल्लभदास तिवारी
एम० ए०, पी-एच० डी०, बी० टी०



मूल्य : पचास रुपया मात्र



प्रथम संस्करण जनवरी १९७४



मुद्रक :

कान्ता प्रिन्टिंग प्रेस, पथिक मार्ग, मथुरा. (उ० प्र०)

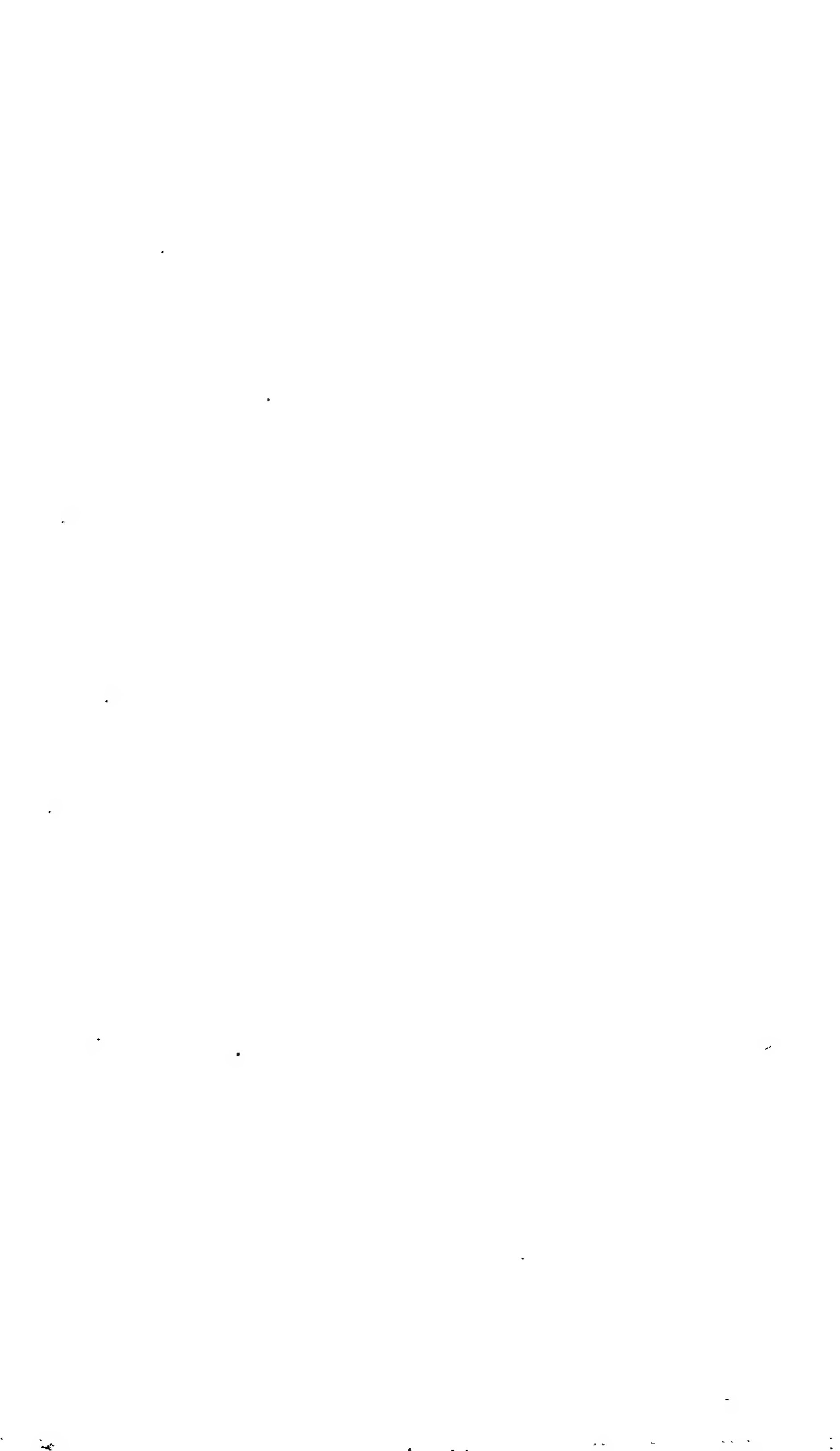
गोलोकवासी पूज्य पितृचरण

पंडित कन्हैयालाल जी तिवारी

की

पावन स्मृति को ... ...







आमुख

नारी प्रकृतिरूपा है, प्रकृति परमपुरुष की इच्छा का प्रतिफलन है। अपने एकाकी जीवन की नीरसता, उदासीनता और निस्सारता को समाप्त करके उसे अनुरंजनकारी और 'जीने योग्य' बनाने के प्रयोजन से परमपुरुष ने स्वयं अपने भीतर से प्रकृति की सृष्टि की। नारी पुरुषजन्य प्रकृति है; उसकी व्युत्पत्ति सोद्देश्य है, अतः निस्सन्देह रूप से है सार्थक और महत्त्वपूर्ण। प्रकृतिविहीन पुरुष केवल 'सृष्टि' है; सृष्टि का हेतु और अभिप्राय दोनों के संयोग से ही सम्भाव्य है, अतः प्रकृति के अभाव में पुरुष की स्थिति अपूर्ण तथा गतिहीन है।

प्रकृति पुरुष का अन्तःकरण, अन्तश्चेतना और अन्तवृत्ति है; नारी पुरुष की प्रकृति है; उसकी चितवृत्तियों, मनोभावों, उद्भावनाओं, रागात्मक वृत्तियों एवं संवेगात्मक अनुभूतियों की विधा है—वह उसका सत्-चित्-आनन्द है। प्रकृति पुरुष की सम्पूर्णता का हेतु है, उसका उपकरण कदापि नहीं। वह पुरुष की संलिप्ति और आसक्ति है, अतः पुरुष उससे अनासक्त रह ही नहीं सकता। पुरुष सत्यम् है, प्रकृति 'शिवम्' और 'सुन्दरम्' है, अतः स्पष्ट है कि प्राणिमात्र के जीवन में नारी की भूमिका पुरुष की अपेक्षा दुहरी है। प्रकृति पुरुष की चितवृत्तियों की संचालिका है; वह 'विराट्शक्ति' की 'शाश्वत प्रेरणा-स्रोत' है—वह उसका 'सद्' है।

भारतीय संस्कृति के तीन सोपान हैं—नारी, गंगा और गीता, जो क्रमशः भारतीय शुचिता, पावनता और नैतिकता के प्रतीक हैं। नारी समाज का धर्म है, मर्यादा और शील है; किसी समाज की जो नारी है, वही समाज भी होगा। कम से कम भारतीय संस्कृति में नारी का स्वरूप, चरित्र और भूमिकाएँ इतनी विशिष्ट, विपुल और बहुल हैं कि उनके सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप में कतिपय धारणाएँ प्रस्तुत करना, केवल काम निकाल लेना होगा। नारी के चरित्र और रूप—जैसे जटिल विषय का शोध करना इतिहासबद्ध एवं परम्परागत उसके अनेक रूपों तथा

भूमिकाओं का निर्देश करना, मनोविश्लेषण की भूमि पर नारी-वृत्ति का अध्ययन और साहित्यिक फलक पर उसके विविध रूपों भावों तथा बिम्बों का अनुशीलन करना 'सहज सम्भाव्य' नहीं है।

विश्व की समृद्ध एवं प्रगतिशील भाषाओं के साहित्यिक-ग्रन्थों के अध्ययन, मनन तथा अनुशीलन से सतत ही यह ज्ञात होता है कि उन भाषाओं के साहित्य और उनके अंग उपांगों को जगत-स्रष्टा जगदीश्वर की अनुपम कृति 'नारी' ने अत्यधिक रूप से प्रभावित किया है। भावानुभूति, सौन्दर्यानुभूति और रागात्मक अनुभूतियों के हेतुपरक रूप परिवार की आधारशिला और समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई होने के नाते नारी सदैव से काव्य को भावात्मक, अनुभूत्यात्मक एवम् माँसल रूप में अनुप्राणित करती चली आयी है। प्रत्येक देश के साहित्य में वह इतनी घुल-मिल गयी जान पड़ती है कि उसके आदि और अन्त के विविध चित्रण तथा स्वरूपों को खोज निकालना सहज कार्य नहीं है।

नारी की पवित्रता, आचार-निष्ठा, कोमलता-युक्त दृढ़ता, व्यवहार-प्रियता तथा त्यागपूर्ण सेवा-प्रियता ने ही हमारी आदिम संस्कृति को जन्म दिया है। इस पुण्यभूमि भारत की सभ्यता, संस्कृति का केन्द्र नारी ही रही है। मनुष्य के जीवन की प्रथम धड़कन नारी की पवित्र कोख से ही संचरित होती है और उसी की स्नेह-मयी छाया में वह रेंगना, उठना-बैठना, चलना, तुतलाना, रोना और हँसना सीखता है। इस प्रकार मानव, जीवन के उषाकाल से लेकर अन्त तक नारी द्वारा अनुप्राणित और प्रभावित होता आया है। भारतीय दर्शन, संस्कृति तथा सभ्यता में भी नारी को विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। महर्षि मनु का यह कथन—'यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' हमारे सम्मुख सदैव एक उच्च आदर्श रहा है।

नारी शाश्वत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है और अक्षय महाशक्ति का उद्गम स्थल भी। व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज, देश तथा संसार सभी नारी से अपना-अपना उचित भाग ग्रहण करते रहते हैं। नारी के अनेक आदर्श गुणों. बाल्यावस्था से निरन्तर कान में पड़ने वाले 'सीताराम', 'राधेश्याम', 'लक्ष्मीनारायण', 'गौरीशंकर', शब्दों की सार्थकता समझ एवं 'मातृदेवो भव' के आदर्श से प्रेरित होकर ही इस शोध प्रबन्ध (THESIS) द्वारा 'नारी' के पुनीत चरणों में हार्दिक श्रद्धा और भक्ति द्वारा संचित कुछ पुष्प अर्पित कर, पूर्व वैदिक-काल से लेकर हिन्दी-साहित्य के इस 'आधुनिक-युग' (१९५० ई० तक) की नारी-सम्बन्धी भावनाओं. दृष्टिकोण तथा काव्य-मनीषियों द्वारा चित्रित नारी के विविध रूपों की एक झाँकी प्रस्तुत करने का यह एक लघु प्रयास है।

प्रबन्ध के 'सृष्टि में नारी का आविर्भाव' शीर्षक प्रथम पुष्प में सृष्टि की उत्पत्ति में 'काम' का महत्त्व संसार के विभिन्न मतावलम्बियों की दृष्टि में नारी-उत्पत्ति, भारतीय मतानुसार नारी का आविर्भाव, नारी के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या, समाज में नारी का गौरवपूर्ण स्थान, कला का वर्गीकरण तथा काव्य-कला और सौन्दर्य में नारी के महत्त्वपूर्ण स्थान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

'पुष्प द्वितीय' में प्रागैतिहासिक, ऋग्वैदिक एवं उत्तर-वैदिक-कालीन नारी की स्थिति, उपनिषद्-ग्रंथों, पुराण-साहित्य एवं रामायण-महाभारत काल की नारी-भावना, जैन-साहित्य, बौद्ध-साहित्य, स्मृतिकारों एवं नीतिकारों के नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं गृह्यसूत्रों तथा कामशास्त्र में वर्णित नारी के विभिन्न रूपों पर विचार करते हुए संस्कृत-साहित्य के प्रमुख कवियों (महाकवि कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, भर्तृहरि, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ आदि) के काव्य-ग्रन्थों तथा मुक्तक रचनाओं में विरूपित नारी-चित्रण पर एकमात्र इस उद्देश्य से संक्षिप्त रूप में विचार करने का प्रयास किया गया है कि हमें नारी के प्राचीन गौरव और तत्कालीन सामाजिक स्थिति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सके और हम आगे चलकर संस्कृत-साहित्य के प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए भारतीय नारी-भावना और उसकी स्थिति का यत्र-तत्र तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन कर कुछ अपने निष्कर्ष प्रस्थापित कर सकें। अतएव हिन्दी-कविता में नारी-चित्रण सम्बन्धी अध्ययन के लिए इस 'पुष्प' को एक पीठिका के रूप में ही मानना चाहिए।

प्रबन्ध के 'तृतीय पुष्प' में हिन्दी-साहित्य के 'आदि युग' नाम से सम्बोधित युग की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का संक्षिप्त सिंहावलोकन कर इस युग के नामकरण के सम्बन्ध में विभिन्न विचारों की समीक्षा की गयी है। बौद्ध-सिद्धों के अपभ्रंश चरित-काव्यों तथा जैन और नाथ-साहित्य की रचनाओं को भी हिन्दी के कुछ प्रथम कोटि के विद्वान् अब पुरानी हिन्दी के अन्तर्गत मानने लगे हैं। ये तथा तत्कालीन अन्य उपदेश-मूलक काव्य-ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के आदिकालीन काव्य-रूपों को समझने में निस्संदेह अत्यन्त उपयोगी तथा सहायक सिद्ध हो रहे हैं। तत्कालीन सामन्तों तथा राजाओं के जीवन-दर्शन में भोग-विलास का अत्यधिक महत्त्व था। अतएव भोग की अन्यान्य आकर्षक सामग्रियों के साथ-साथ बेचारी नारी को भी उन सामन्तों की क्रीत-दासी तथा काम क्रीड़ा का सबसे बड़ा साधन बनना पड़ा। इसी कारण राज-दरबारों में आश्रय पाने वाले राज-कवियों तथा चारण-भाटों ने विविध 'रासो' ग्रंथों की रचना कर अपने आश्रयदाता को उत्साह का

आश्रय और रति का अवलम्बन बनाना चाहा है। 'सामन्ती-युग' के इन रासो-ग्रन्थ प्रणेताओं द्वारा स्वच्छन्द रूप से श्रृंगार की पृष्ठभूमि पर वीर-रस का चित्रण किया गया है। साथ ही उनके द्वारा नारी का रूप-सौन्दर्य, नखशिख-वर्णन, षड्ऋतु एवं श्रृङ्गार-रस के उद्दीपन के रूप में ही लिखे गये हैं। गत पच्चीस-तीस वर्षों में 'वीरगाथा-काल' नाम से प्रसिद्ध हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में जो नवीन विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए तथा खड़ी बोली के प्रथम कवि अमीर खुसरो और मुक्तक काव्य की परम्परा चलाने वाले महाकवि विद्यापति की श्रृङ्गारी रचनाओं पर विचार करते हुए इस पुष्प को सुवासित तथा सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है।

'पुष्प चतुर्थ' का आरम्भ संत-काव्य की पृष्ठभूमि तथा तत्कालीन परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय देकर किया गया है। गत तीन शतकों में संत-साहित्य से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई है और इस साहित्य पर कई उपयोगी ग्रंथ भी लिखे गये हैं, यह हिन्दी-साहित्य के लिए बड़े गौरव की वस्तु है। निर्गुण-धारा के ज्ञानमार्गी-संतों ने नारी के दाम्पत्य-भाव, स्वकीया-भाव तथा पतिव्रता-रूप को ही स्वीकार कर नारी-सौन्दर्य के आकर्षण को स्वभावतः लक्ष्य-प्राप्ति की अपनी सबसे बड़ी बाधा के रूप में माना है। इसी कारण संत-काव्य में यत्र-तत्र नारी-त्याग के विचार भी पाये जाते हैं।

इसी 'पुष्प' में 'प्रेम की पीर' लेकर चलने वाले सूफी-साधकों के जीवन-दर्शन को संक्षिप्त रूप में स्पष्ट कर प्रेमगाथाओं की परम्परा एवं सूफी प्रेम का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। रहस्यवादी होने के कारण ये सूफी-भक्त आत्मा को एक ऐसी पतिव्रता नारी के रूप में मानते थे जो पति-परमेश्वर के मिलने पर आनन्दित हो उठती है। अतएव उन्होंने नारी के लौकिक रूप का चित्रण करते हुए भी उसे पारलौकिक आदर्श प्राप्ति की वस्तु समझ ग्राह्य माना है। सूफी-काव्य वास्तव में प्रेम-काव्य है और आत्मा-परमात्मा प्रेम के आधार माने गये हैं। उसी आधार पर इन कवियों की रचनाओं में सौंदर्य-चित्रण, स्त्री-भेद, वियोग-वर्णन, नख-शिख तथा बारहमासा वर्णन भी पाया जाता है।

'पुष्प पंचम' के आरम्भ में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सिंहावलोकन कर सगुण-भक्ति के उद्भव और विकास को स्पष्ट किया गया है। यहाँ रामकथा के विकास की संक्षिप्त पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टि डालते हुए राम-काव्य में चित्रित नारी के विभिन्न रूपों की झाँकी दिखाने का भी

प्रयास किया गया है। रामभक्ति-धारा के काव्य में यद्यपि नारी के आदर्श एवं स्वभावगत चित्रण की ही प्रधानता देखी जाती है, तथापि इन भक्त-कवियों ने समाज की कल्याण-भावना से प्रेरित होकर समाज में पाये जाने वाले सभी प्रकार के नारी-पात्रों का सफलता के साथ चित्रण किया है।

इसी पुष्प में मैंने कृष्ण-भक्ति-परम्परा को स्पष्ट करते हुए तत्कालीन विविध सम्प्रदायों का परिचय लेकर 'राधा' की भावना के क्रमिक विकास तथा भक्ति-साहित्य की 'गोपी' और 'सखी' भावना पर अपने कुछ विचार स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इस पुष्प में परमानन्द शक्ति की प्रतीक राधा, माता यशोदा, कुब्जा और प्रेम-विह्वल गोपियों की मानसिक दशा का ही विशेष रूप से चित्रण है। तत्कालीन इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मुगल शासन काल के धन, वैभव और शान्ति के कारण समाज में विलासिता की भावना स्पष्ट रूप से जागृत हो उठी थी, अतएव शृङ्गारी-कवियों का नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण कौतुक एवं मनोविनोद पूर्ण बनना कुछ स्वाभाविक ही था। राधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम तथा विविध क्रीड़ा-व्यापार की ओट में कुछ कवियों ने नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, नखशिख-वर्णन को ही काव्य का प्रमुख अंग माना है। साथ ही महात्मा सूरदास, अष्टछाप के कवि, भक्त मीराँबाई, चन्द्रसखी, रसखान, रहीम आदि कृष्ण-भक्त कवियों की नारी-भावना पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है।

'षष्ठ पुष्प' रीतिबद्ध (लक्षणबद्ध) तथा रीति-मुक्त कवियों तथा आचार्यों के नारी सम्बन्धी चित्रण से सम्बन्धित है। इस 'पुष्प' में सविस्तार रीति-युग (शृङ्गार-युग। की प्रवृत्तियों का सकारण विवेचन करते हुए युग की नारी-भावना में विलासिता की उत्पत्ति के कारणों को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही, इसमें रसराज शृङ्गार की काव्य-परम्परा स्पष्ट करते हुए इसके प्रमुख रीतिबद्ध (सर्वश्री केशव, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, मतिराम, देव, बिहारी, भिखारीदास) तथा रीति-मुक्त (सर्वश्री सेनापति, पद्माकर, घन आनन्द, आलम, बोधा, ठाकुर आदि) कवियों द्वारा वर्णित नायिका-भेद, षट्ऋतु-वर्णन नखशिख-वर्णन के विविध उदाहरण देकर नारी-भावना एवं उसकी स्थिति पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालने का प्रयास भी है।

रीतिकालीन कवियों एवं आचार्यों द्वारा निर्मित रचनाओं को अधिकांश समालोचकों ने अश्लील, कुरुचिपूर्ण, सामन्तवादी, हेय, अति-ऐन्द्रिक (OVER-SENSUOUS) आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया है। अतएव यहाँ यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि उस काल की सभी रचनाएँ अश्लील और हेय नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक

परिस्थितियों तथा साहित्यिक परम्पराओं को दृष्टि में रखते हुए इस काल की शृङ्गारी-रचनाओं पर नवीन दृष्टि से विचार और उनका नवीन रूप से मूल्यांकन करें। इस दिशा में मैंने एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करने का विनम्र प्रयास किया है।

'सप्तम् पुष्प' में मैंने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आरम्भ होने वाले साहित्य के 'आधुनिक-युग' की विविध परिस्थितियों तथा परिवर्तित नारी-भावना के प्रमुख कारणों तथा साहित्यिक प्रतिक्रिया के अन्तर्गत समाज एवं साहित्य के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साथ ही, 'आधुनिक-युग' के 'भारतेन्दु-युग' तथा 'द्विवेदी-युग' की नारी-भावना पर संक्षेप में विचार कर, दोनों युगों के प्रमुख कवियों के नारी-चित्रण की सविस्तार विवेचना भी की गयी है। उपरान्त छायावादी, रहस्यवादी, प्रगतिशील प्रयोगवादी एवं 'नई-कविता' के कवियों की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हुए कुछ प्रमुख कवियों की नारी-सम्बन्धी रचनाओं की सहायता से तत्कालीन नारी-सौन्दर्य दर्शन, प्रणय-भावना तथा नारी-विषयक मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है। वास्तव में इस युग के कवियों ने नारी के वास्तविक रूप को पहचानने, उसका उचित मूल्यांकन करने तथा उसे उच्चासन पर आसीन करने का अधिक प्रयास किया है। आवागमन के सुलभ साधन तथा मुद्रण-कला के समुचित विकास के परिणाम-स्वरूप इस 'आधुनिक-युग' में रचित नारी-चरित्र संबंधी अनेक काव्य-ग्रन्थ सुगमता से प्राप्त हो सके हैं। अतएव इस पुष्प में मैं आधुनिक सभी काव्य-धाराओं तथा 'वादों' के कवियों एवं उनकी रचनाओं के अधिक उद्धरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सका हूँ।

प्रबन्ध के 'उपसंहार' में मैंने प्राचीन वैदिक-काल से लेकर हिन्दी-साहित्य के आधुनिक-युग की नारी-सम्बन्धी मान्यताओं, भावनाओं, नारी-चित्रण के विभिन्न दृष्टिकोणों एवं नारी-विकास की पृष्ठभूमि को संक्षेप में स्पष्ट करते हुए निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है।

'परिशिष्ट' भाग में शोधकालीन कुछ आधार-ग्रन्थ और सहायक-ग्रन्थों की सूची दी गयी है, यद्यपि अध्ययनकालीन इन नौ-दस वर्षों में देश के विभिन्न पुस्तकालयों में अनेक अन्य ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाओं के दर्शन-अध्ययन का भी सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है।

वैदिक-काल से लेकर हिन्दी-साहित्य के 'आदि-युग' तक की सुदूर यात्रा मैंने अत्यन्त वेगवती सरिता की तीव्र धारा की गति की भाँति करने का प्रयास किया है। 'आदि-युग' से लेकर 'आधुनिक-युग' (१९७० ई० तक) के विस्तृत काव्योद्यान की

'तीर्थयात्रा' में इन पंक्तियों के लेखक को अनेक सुललित एवं मनोहारी दृश्य देखने को मिले तथा अनेक स्थानों पर तो मन बहुत ही रमा; किन्तु यात्रा को शीघ्र ही पूर्ण करने की दृष्टि से रमणीय स्थलों पर रुकना मेरे लिए सम्भव नहीं हो सका है। यदि मैं ऐसा न करता तो मेरी 'तीर्थयात्रा' को समाप्त करने में कई वर्ष लग जाते और सम्भवतः मेरा यह 'प्रबन्ध', 'प्रबन्ध' न होकर स्व० आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में एक 'वृथा पृष्ठ पोथा' अथवा सुप्रसिद्ध समालोचक डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में 'गोरख-पंथियों का गोरख-धन्धा' बन जाता। बस, इन्हीं कुछ विवशताओं के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ कवियों की रचनाओं के नारी-विषयक उद्धरणों को, इच्छा होते हुए भी पर्याप्त स्थान प्राप्त नहीं हो सका है, इसका मुझे खेद है।

प्रबन्ध के सभी अध्यायों में मैंने तत्कालीन परिस्थितियों, युग की प्रवृत्तियों, पृष्ठभूमि तथा भिन्न-भिन्न नारी-भावनाओं का दिग्दर्शन कराते हुए इस दिशा में स्थान-स्थान पर अपना निजी दृष्टिकोण भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त, उपलब्ध ग्रन्थों से प्राप्त तथ्यों के आधार पर प्रत्येक अध्याय के अन्त में कुछ नवीन अनुसन्धानात्मक निष्कर्षों की स्थापना करके अपने स्वतन्त्र निर्णय भी निर्धारित किये हैं।

समस्त वैदिक-साहित्य और संस्कृत-काव्य-साहित्य को संक्षिप्तरूपेण सम्मिलित करते हुए हिन्दी-साहित्य के 'आदि-युग' से लेकर 'आधुनिक-युग' (१९७० ई०) तक की हिन्दी-कविता में नारी के सत्-असत्, यथार्थ—आदर्श, लौकिक-आध्यात्मिक रूप तथा षट्ऋतु, नख-शिख, नायिका-भेद आदि में वर्णित विविध स्थितियों, मान्यताओं तथा रूपों की इतने विस्तार के साथ विश्लेषणात्मक चर्चा का प्रयत्न सम्भवतः अभी तक नहीं किया गया है। हिन्दी-काव्य में नारी-भावना का इस प्रकार का सर्वांगीण, संक्षिप्त, सुनियोजित तथा सुबोध शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किया जाना मेरी विनम्र सम्मति में, सम्भवतः इस दिशा में मेरा प्रथम प्रयास ही होगा।

जिस प्रकार पुष्प-वाटिका का एक माली वाटिका की विविध क्यारियों से विविध रंगों वाले पुष्पों का चयन कर एक पुष्पगुच्छ तैयार कर लेता है और उस पुष्पगुच्छ का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उसी प्रकार मैंने भी निरन्तर भ्रमण, अध्ययन, दीर्घकालीन परिश्रम तथा देश के कुछ गण्यमान विद्वानों के मार्गदर्शन द्वारा संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य की विभिन्न मनोरम पुष्प-पल्लवित वाटिकाओं से अनेक बीज, पौधे, पुष्प बटोर कर बड़ी सावधानी के साथ यह छोटी-सी पुष्प-वाटिका तैयार की है। मेरी यह वाटिका सहृदय-रसिकों के हृदय में कितना 'रस-संचार' एवं 'सौन्दर्यानुभूति' की जागृति कर उन्हें अपनी सुगन्ध से आकर्षित करती हुई नारी-

सम्बन्धी अध्ययन को अग्रसर करने में सहायक होगी—इसका निर्णय तो हिन्दी-जगत् के आदरणीय विद्वान एवं काव्य-मनीषी ही कर सकेंगे।

अपने इस प्रबन्ध को तैयार करने में प्रगाढ़ पाण्डित्य एवं सौजन्य की समन्वित मूर्ति आदरणीय डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', एम० ए०, डी० लिट्०, इलाहाबाद, से मुझे आरम्भ से ही सुचारु मार्ग-दर्शन के अतिरिक्त सतत प्रोत्साहन और आशीर्वाद प्राप्त होता रहा है। मेरे इन निर्देशक महोदय की सत्प्रेरणाओं के बिना मैं इस कार्य में अग्रसर होने का साहस ही नहीं कर सकता था। एतदर्थ अपने इन गुरुवर्य के चरणों में मेरा शतशः प्रणाम है। औपचारिकता के नाम पर मैं उनका आभार मात्र मानकर उनके 'गुरु-ऋण' से कदापि मुक्त नहीं हो सकता। उनके प्रति अपनी कृतज्ञता मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ ?

मैं उन सभी विद्वानों, आलोचकों, मनीषी साहित्यकारों एवम् कवियों का भी अत्यधिक अनुगृहीत हूँ जिनके ग्रंथों ने मेरा स्थान-स्थान पर गुरुवत् मार्ग-दर्शन किया है और जिनकी सरस-साहित्य-धारा में 'जिन खोजा तिन पाइयां' के अनुसार निरन्तर डुबकी लगा-लगाकर मैंने कुछ ढूँढ़ निकालने की चेष्टा की है। साथ ही, हिन्दी-जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० विनय-मोहन शर्मा, डॉ० कन्हैयालाल सहल, डॉ० गोवर्द्धननाथ शुक्ल, डॉ० सी० एल० प्रभात, डॉ० कमलाकान्त पाठक, डॉ० रामयतनसिंह 'भ्रमर' प्रभृति महानुभावों द्वारा समय पर इस दिशा में स्नेहपूर्ण मार्गदर्शन और परम उपयोगी सुझाव प्राप्त हुए हैं। अतएव मैं इन सभी गुरुजनों तथा बन्धुओं की सौजन्यपूर्ण सहायता-प्रेरणा के प्रति श्रद्धापूर्वक अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम-पुनीत धर्म मानता हूँ।

मेरा यह परम सौभाग्य है कि मेरे इस शोध-प्रबन्ध (THESIS) का परीक्षण-कार्य देश के महान् विद्वान् आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं हिन्दी की महान् कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ है। इन दोनों महान् साहित्यिकों से मुझे जो उपयोगी सुझाव प्राप्त हुए हैं उन्हें भी मैंने यथाशक्ति इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समय कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया है। मैं इन दोनों महान् विभूतियों के चरणों में नतमस्तक हूँ।

उन सभी कवियों तथा विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य मानता हूँ जिनकी कृतियों से मुझे प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में प्रेरणा-सहायता प्राप्त हुई है। इस ग्रंथ के सुन्दर चित्रों और मुख-पृष्ठ को बम्बई के मेरे सहयोगी श्री एस० वी० केलाजी तथा श्री पी० वी० धर्माधिकारी ने तैयार किया है—अतएव मैं इन दोनों कलाकारों का आभारी हूँ। साथ ही जवाहर पुस्तकालय,

मथुरा के संचालक श्री केदारनाथजी पचौरी और उनके सुयोग्य सुपुत्र श्री कुंज-विहारीलाल जी पचौरी भी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी तत्परता और स्नेह के कारण मेरा यह प्रबन्ध इस रूप में हिन्दी साहित्य के विद्वानों, समीक्षकों एवम् रसिक पाठकों के पास पहुँच रहा है।

परम कृपालु परमेश्वर की महती अनुकम्पा एवं गुरुजनों के शुभाशीर्वाद के फलस्वरूप परम पावन ज्योति-पर्व दीपावली की इस मंगल-वेला में दीर्घ साधना एव परिश्रम द्वारा निर्मित तथा स्नेह (तेल) और श्रद्धा (बाती) से समन्वित माटी के इस 'लघु-दीप' को मैं माँ-भारती के विशाल जाज्वल्यमान मन्दिर के एक कोने में अत्यन्त नम्रता और साहस के साथ रखकर विदा लेता हूँ। देखना यह है कि अपने प्रकाश से चकाचौंध करने वाले बड़े-बड़े विद्युत-प्रकाश साधनों के सम्मुख मेरा यह 'लघु-दीप' कैसा दिखाई पड़ता है और वह कितने क्षेत्र में प्रकाश फैला सकने की क्षमता रखता है? इत्यलम्—

दीपावली महोत्सव—
(विक्रमी संवत् २०३०)
हाईवे रोज, दीक्षित रोड,
बम्बई—५७.

विनयावत,
वल्लभदास तिवारी

हिन्दी-काव्य में नारी

विषयानुक्रम

ग्रन्थों के रचयिताओं द्वारा शृंगार-रस की पृष्ठभूमि पर वीर-रस का वर्णन—सामन्ती-काव्य में नारी के दोनों वीर और शृङ्गारी रूप की प्रमुखता—शृङ्गार-रस के उद्दीपन विभाव के रूप में नारी रूप-सौन्दर्य, नखशिख, षड्ऋतु और वारहमासा वर्णन—कृष्ण काव्य परम्परा में मैथिल-कोकिल-विद्यापति ठक्कुर का नारी-चित्रण—खड़ी वोली के प्रथम कवि अमीर खुसरो की पहेलियों में नारी—निष्कर्ष ।

तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ—

(क) **ज्ञानाश्रयी-धारा**—सन्त काव्य की पृष्ठभूमि—सन्त एवम् नारी—निर्गुणी-सन्तों (कवीर, रैदास (रवि-दास), धर्मदास, नानक, दादू दयाल, सुन्दरदास, चरनदास, मलूकदास, गरीवदास, दरिया साहव, पलटू साहव, सहजोवाई, दयावाई आदि) द्वारा नारी-सौन्दर्य की उपेक्षा—विराग एवं त्याग की भित्ति पर स्थित सन्त-सम्प्रदाय की नारी—नारी का कामिनी रूप त्याज्य और घृणित—नारी के पतिव्रता रूप की प्रधानता—नारी का प्रतीक रूप—दाम्पत्य तथा स्वकीया भाव में नारी का चित्रण—नारी का सत् तथा असत् रूप—नारी के प्रति उपेक्षा की भावना—निष्कर्ष ।

(ख) **प्रेमाश्रयी-धारा**—प्रेम-गाथाओं की परम्परा—सूफी-काव्य की पृष्ठभूमि, सूफी सन्त एवं नारी—प्रेममार्गी सूफी-साधकों तथा कवियों (कुतवन, मंझन, उसमान, जायसी, नूर मुहम्मद, कासिमशाह आदि) के प्रेमाख्यानकों में नारी का काल्पनिक रूप—नारी पारलौकिक आदर्श प्राप्ति की एक वस्तु, अतएव ग्राह्य—नारी के लौकिक एवं अलौकिक दोनों रूपों का चित्रण—निष्कर्ष ।

तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ—सगुण भक्ति का विकास—

क—राम-काव्य—रामकथा का विकास एवं राम-काव्य की पृष्ठभूमि—तत्कालीन रामभक्त-कवियों का नारी के प्रति दृष्टिकोण—गोस्वामी तुलसीदास तथा उनके समकालीन राम-कवियों (केशवदास आदि) द्वारा नारी के इष्ट सम्वन्धी, पारिवारिक (लौकिक), सत् (आदर्श) एवं असत रूपों का चित्रण—प्रकृति चित्रण में

संयोग-वियोग पक्ष में नारी चित्रण—नायिका भेद और नख-शिख वर्णन—भारतेन्दु के समकालीन कवियों (बाबा सुमेरसिंह उपाध्याय, श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास, श्री राधाकृष्ण दास, श्री प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि) के नारी-चित्रण में प्रेम तथा सौन्दर्य की भावना—निष्कर्ष ।

ख—**'द्विवेदी-युग'** (जागृति-काल) की विशेषताएँ—काव्यधारा में नया मोड़—नारीत्व में सामाजिक चेतना और राष्ट्रीयता की उच्च भावना का क्रमशः विकास—द्विवेदीजी के समकालीन प्रमुख कवियों (सर्वश्री रामचरित उपाध्याय, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, लाला भगवानदीन, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बाबू मैथिलीशरण गुप्त, दुलारेलाल भार्गव, वियोगी हरि, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', नाथूराम शंकर शर्मा, गुरुभक्तसिंह, पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र, ठाकुर गोपालशरण सिंह, श्यामनारायण पाण्डेय आदि) की रचनाओं में वर्णित सौन्दर्य एवं प्रणय-भावना—नारी विषयक आदर्शों की स्थापना—निष्कर्ष ।

ग—**'छायावाद-रहस्यवाद युग'** (विकास-काल) की विशेषताएँ—छायावादी काव्य में प्रेम तथा विरह का स्वरूप—नारी सौंदर्य-दर्शन में मधुर भाव की स्थापना—नारी की दोनों अन्तर-बाह्य प्रकृति का चित्रण—प्रकृति-चित्रण में नारी की प्रधानता—सर्वश्री जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पन्त तथा सुश्री महादेवी वर्मा द्वारा स्वरूप, शैली, विषय से सम्बन्धित नवीन काव्य प्रयोग—नारी विषयक मान्यताओं, प्रतीकों तथा उपमावों में परिवर्तन—नारी का विस्तृत कार्य क्षेत्र—निष्कर्ष ।

घ—**'छायावादोत्तर प्रगतिशील-प्रयोगवाद-युग'** (नव्य-काल) की विशेषताएँ 'प्रगति' 'प्रयोग' का अर्थ – प्रेम और सौंदर्य की कलागत अभिव्यक्ति—'सर्वश्री हरि-कृष्ण प्रेमी, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारी सिंह 'दिनकर', हरवंशराय 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि द्वारा नारी के आत्म सम्मान और सामाजिक प्रतिष्ठा के विकास का प्रयत्न—निष्कर्ष ।

ङ—**'नयी-कविता' की प्रवृत्तियाँ**—कुछ प्रमुख कवियों (सर्वश्री अज्ञेय, आरसीप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर, लक्ष्मीकान्त वर्मा, नागार्जुन, कुँवर नारायण, जगदीश गुप्त आदि) की मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित नारी-भावना—श्री गोपालदास सक्सेना 'नीरज' तथा हास्यरस के कवियों की स्वतन्त्र विचारधारा में नारी—निष्कर्ष ।

परिशिष्ट—शोधकार्य सम्बन्धी सहायक ग्रन्थ—

१—संस्कृत साहित्य के शास्त्रीय तथा काव्य ग्रन्थ, २—हिन्दी के शास्त्रीय, इतिहास एवं आलोचना ग्रन्थ, ३—आदियुग से सम्बन्धित काव्य एवं सहायक ग्रन्थ, ४—निर्गुण काव्य-धारा से सम्बन्धित काव्य एवं सहायक ग्रन्थ, ५—सगुण काव्य-धारा के काव्य एवं सहायक ग्रंथ, ६—रीति-शृङ्गार कालीन काव्य कृतियाँ तथा आलोचना ग्रंथ, ७—आधुनिक युग की विभिन्न धाराओं से सम्बन्धित काव्य ग्रंथ तथा समालोचना ग्रंथ, ८—लोक-साहित्य एवं लोकगीतों से संबंधित ग्रंथ, ९—प्रकाशित एवं अप्रकाशित शोध-प्रबंध (THESIS), १०—हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ, ११—अंग्रेजी के सहायक संदर्भ ग्रंथ।







सृष्टि-उत्पत्ति में नारी, उसका गौरव तथा काव्य-कला में स्थान

१. सृष्टि-उत्पत्ति में 'काम' का महत्व
२. सृष्टि-उत्पत्ति एवम् नारी
३. नारी-उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मत
४. 'नारी'–उसके पर्यायवाची और सम्बन्धित शब्द
५. नारी का समाज में गौरवपूर्ण स्थान
६. 'कला' एवम् उसका वर्गीकरण
७. कला, सौन्दर्य एवम् नारी
८. नारी–काव्य-कला का आधार और प्रेरणा-स्रोत
९. निष्कर्ष


रंगा.

पुष्प : प्रथम

भारतीय साहित्य, विचार, भावना और विश्वास को भलीभाँति समझने के लिए प्राचीनतम ग्रन्थ वेद ही हमारे मौलिक साधन हैं। उन्हीं वेदों के अध्ययन-मनन से हमें ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य प्रकृति सम्बन्धी अद्‌भुत लीलाओं को अत्यन्त आश्चर्य और आनन्दभरी दृष्टि से देखते थे। उन्होंने प्रकृति की इन विचित्र लीलाओं का स्पष्ट ज्ञान कराने के उद्‌देश्य से ही अनेक देवी-देवताओं की कल्पनाएँ की थीं।

हमारे सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ '**ऋग्वेद**' के नासदीयसूक्त में 'काम' के उद्‌भव का उल्लेख है। इस 'काम' का स्वरूप वहाँ ब्रह्म के संकल्प के रूप में प्रतिष्ठित है, जो आदिम-शक्ति तत्व के रूप में सृष्टि का विधाता भी है और उसी का समवायि कारण भी। इस दृष्टि से वह ब्रह्म और जगत् दोनों से अभिन्न है। सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्व मन की सर्व-व्यापिनी बुद्धि का मूलतत्व 'कामना' का द्योतक समझा जाता था और वह सृष्टिकर्ता की 'इच्छा' का भी बोधक माना जाता था।[1] इस प्रकार यहाँ 'काम' का उल्लेख सृष्टि-उत्पत्ति के कारण रूप में हुआ। आदि-तत्व में कामना हुई (अर्थात् 'काम' उत्पन्न हुआ) और प्रथम मन में बीज हुआ। तभी तो **यजुर्वेद** में अन्य देवताओं के साथ कामदेव की भी स्तुति की गयी है।[2]

अथर्ववेद में भी 'काम' का स्तवन किया गया है[3] और उसे शक्तिशाली, तेजस्वी, शत्रु-संहारक और अनन्य सुन्दर माना गया है।[4] वहाँ पुरुषार्थ चतुष्टय में 'काम' को अत्यधिक महत्व देते हुए कहा गया है कि—'हे काम, तू सबसे प्रथम उत्पन्न होकर, देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ, कोई तुझसे बचा नहीं। अतएव इस विश्व में तू व्यापक और सबसे महान है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ'।[5] अथर्ववेद के कामसूक्त में 'काम' के प्रभाव का विशद वर्णन[6] करते हुए बतलाया गया है कि

---

१. 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्
सतो बन्धमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषः।'—ऋग्वेद : १०, ११
१२९, ४

२. 'शुक्ल यजुर्वेद-संहिता'—२४, २९

३. अथर्ववेद—३, २५, १

४. वही, ९, १, १९

५. वही, ९, २, १९

६. वही, [illegible]

जिस प्रकार अग्नि समग्र पदार्थों को अपनी ज्वाला से जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार 'काम' प्राणियों के हृदय को जलाता है ।[१]

ब्राह्मण-ग्रन्थों ने भी 'काम' की स्तुति की है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में 'काम' का विशद् वर्णन प्राप्त होता है। सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रजापति के हृदय में 'काम' ही सर्वप्रथम प्रस्फुटित हुआ। इसी कारण प्रजापति को सृष्टि सम्बन्धी कार्य में प्रवृत होना पड़ा।[२] तैतिरीय ब्राह्मण में उसे देवता के रूप में प्रेरणादायक, दाता और प्रतिगृहीता माना गया है।[३] काम वह समुद्र है जिसके अन्त का पता नहीं और जिसके भीतर जगत के समस्त पदार्थ समा जाते हैं।[४] 'काम' ने ही सर्वप्रथम सृष्टि रचना के निमित्त प्रजापति में इच्छा-शक्ति उत्पन्न की थी।[५]

उपनिषदों में 'काम' को पुरुष रूप में तथा संकल्प और कांक्षा रूप में निर्दिष्ट किया गया है।[६] वहाँ 'काम' शब्द का प्रयोग सृष्टि-निर्माण की प्रेरिका-शक्ति के व्यापक अर्थ में ही किया गया है और 'काम' को आनन्द-भावना से समन्वित पाकर ही श्रेयस्कर माना गया है।[७] बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार मन, जल, अग्नि, पृथ्वी के उपरान्त ब्रह्म के हृदय में अपने द्वितीय स्वरूप को उत्पन्न करने की कामना हुई–यह कामना भी काम-प्रेरित थी।[८] मानस-शास्त्र के सुप्रसिद्ध ज्ञाता शार्ङ्गधर भी आर्य सभ्यता के प्रधान चार स्तम्भों में 'काम' को बड़ा महत्व देते हैं।[९] धर्मशास्त्रों ने धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ चतुर्वर्ग में 'काम' की भी गणना की है। इसके दो भेद हैं–धर्मविरुद्ध और धर्मा-विरुद्ध। जब यह धर्म-विरुद्ध होता है तो नर-नारी की

१. 'यो देवो (अग्निः) विश्वात् यं तु काममाहुः'—अथर्ववेद : ३, २, १, ४।
२. 'प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयांस्यामीति'—ऐतरेय ब्रा०–४, ४, २३
३. 'काम कामायेत्याह–कामेन हि ददाति—कामेन प्रतिगृहगाति……तैति० ब्रा० २, २, ५, ५-६
४. 'समुद्र इव हि कामः, नहि कामस्यान्तोऽस्ति'—वही; २, २, ५, ६
५. शतपथ ब्राह्मण – २, ४, ४, १
६. 'काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो तं पुरुषं विद्यात—यः एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रियः इति होवाच' —बृहद० उप०; ३, ९, ११
७. वही; ४, ३, २१
८. 'सोहमकामयत–द्वितीयोमआत्मा जायतेति'–वही; १, २, ४
९. 'स्त्रिषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणांच पुरुषेषु वा।
परस्पर कृतः स्नेहः काम इत्यभिधीयते ॥' –शार्ङ्गधर; १, ६

विविध अवनति का कारण वनता है, किन्तु धर्म से अविरुद्ध होने पर वह स्त्री-पुरुष की सर्वांगीण सुख-समृद्धि का पोषक होता है। इसी कारण श्रीमद्भगवद्गीता में धर्म-संयुक्त 'काम' को ईश्वरीय विभूतियों में सम्मिलित किया गया है[1] और धर्म-विरुद्ध 'काम' को महापापी, वैरी और ज्ञान को ढँकने वाला कहा गया है।[2] 'काम' के इसी द्विविध भाव में जो सशक्त आकर्षण अनन्त काल से चला आ रहा है वही इस सृष्टि का महान रहस्य है।[3] नारी का नर के प्रति और नर का नारी के प्रति सहज आकर्षण विधाता का विधान है। इसी अनुभूति को 'रति' की संज्ञा दी गयी है। 'रति' का काम की देवी ('तस्य कादेवतेति स्त्रियः'—वृहद०) और 'रति' तथा 'काम' की प्रेमोपासना का वरदान स्वरूप पुत्र 'आनन्द' है।[4] यही आनन्द अनन्त सृष्टि-विस्तार का प्रेरक, पोषक और अखिल विश्व का आधार है। भगवान कृष्ण ने अपनी द्वारिका में पंचम् कर्मेन्द्रिय का विषय आनन्द ही वताया है। किसी-किसी ने इसे 'ब्रह्मानन्द' का समकक्ष तक कहा है। पारस्कर गृह्यसूत्र भी 'काम' को दाता, अदाता सब-कुछ स्वीकार करते हैं।[5] 'काम' के भौतिक रूप के परिणामस्वरूप अनेक अनात्मिक वृत्तियों का जन्म हुआ है। स्वार्थ, विलास, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ आदि शत्रुओं की उत्पत्ति का एकमात्र कारण अनुचित 'काम' का यही रूप है। विश्व की विषमता-समरसता का अभाव इसी 'काम' की सृष्टि है। इस लोक में जितने देहधारी जीव हैं, वे किसी-न-किसी 'काम' के उपासक अवश्य हैं।

'शिव-पुराण' के अनुसार[6] संकल्प, इच्छा और कल्पना भी 'काम' है जिससे

---

१. 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ—श्रीमद्भगवद्गीता, ७, ११
२. वही; ३, ३७,३८,३९
३. 'श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिव्हा घ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां
स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः।'—कामसूत्र अधिकरण १, अध्याय २
४. 'मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते। तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते
स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म।'.......वृहद०; ४, १, ६
५. 'कामो दात् कामायादात्।
कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता, कामैतते'—पा० गृह्यसूत्र; ३, १२
६. 'कामः सर्वमयः, पुंसां स्वसंकल्पसमुद्भवः।
कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागताः।'—शिव-पुराण (धर्म संहिता),

सृष्टि का उन्मेष होता है। महाभारत के वनपर्व[1], शान्तिपर्व[2] और अनुशासन-पर्व[3] में भी 'काम' की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा गया है कि पंचेन्द्रियाँ, मन और हृदय के विषयासक्त रहने पर उन्हें जो तद्विषयक प्रीति उत्पन्न होती है, वही 'काम' है तथा वह कर्मों का उत्तम परिणाम-स्वरूप है।

वात्स्यायन ने 'काम' को जीवन की प्रेरक-शक्ति[4] बतलाते हुए 'कामसूत्र' में 'सामान्य काम' और 'विशेष काम' की चर्चा की है।[5] उनके अनुसार पाँच इंद्रियों के पाँच विषयों (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) में प्रकृति-अनुकूल सुखद पदार्थों के अनुभव की इच्छा 'सामान्य काम' है इच्छा, वासना, तृष्णा आदि इसी सामान्य-काम के पर्याय हैं। विशेष काम की भावना स्पर्श-सुख की अनुभूति की प्रतीति पर अवलम्बित रहती है।[6]

जैन-ग्रन्थों में भी 'काम' का उदात्त वर्णन पाया जाता है।[7] वहाँ चौसठ काम-कलाओं की चर्चा में उन्हें चौसठ 'महिला-गुण' कहा गया है। अनात्मवादी बौद्धों ने 'काम' को दुःख का कारण बतलाया है। 'ललित विस्तर' (पृ० ४६७) में चौसठ काम-कलाओं का उल्लेख पाया जाता है।

त्रिपुरोपनिषद् के अनुसार काम-कला-काम (शिव) और कला (शक्ति)–ही सृजनात्मक शक्ति है। कालिका-पुराण (एक अर्वाचीन उप-पुराण) में काम-कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा है—'ब्रह्मा ने पहले प्रजापति और मानसोत्पन्न ऋषियों को उत्पन्न किया, फिर सन्ध्या नामक कन्या को उत्पन्न किया और तत्पश्चात् सुप्रसिद्ध मदनदेवता को, जिसे ऋषियों ने मन्मथ नाम दिया। ब्रह्मा ने मदन-देवता को वर दिया कि तुम्हारे बाणों के लक्ष्य से कोई नहीं बच सकेगा। तुम अपनी इस त्रिभुवन विजयी शक्ति से सृष्टि-रचना में मेरी मदद करो। मदन-देवता ने इस वरदान और कर्तव्य-भार को शिरसा स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उसने ब्रह्मा और सन्ध्या पर ही किया। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मा और सन्ध्या प्रेम-पीड़ा से अधीर हो उठे।

१. महाभारत; वनपर्व; ३३, ३७, ३८
२. वही—शान्तिपर्व; २५४, १-३
३. वही—अनुशासन-पर्व; १६१
४. 'कामसूत्र'; १, १-२
५. वही; १, २, ११-१२
६. वही; १, २, १२
७. महापुराण (चरित्रों के आधार पर लिखे ग्रन्थों को दिगम्बर जैन साधारणतः पुराण कहते हैं)—पर्व २, ३१-३२।

उन्हीं के प्रथम समागम के समय ब्रह्मा के ४६ भाव हुए तथा सन्ध्या के विब्बोक आदि हाव तथा ६४ कलाएँ हुईं। कला (काम-कला) की उत्पत्ति का यही इतिहास है।[1]

'काम' की भावना मन से जन्म लेती है, अतएव काम का एक नाम 'मनसिज' है; वह इतना प्रबल है कि मन को भी मथ डालता है, अतएव 'मन्मथ' है; वह 'कन्दर्प' इस कारण कहलाता है कि उसमें किसी भी प्राणी का दर्प चूर करने की महान शक्ति है; वह 'अनंग' और 'स्मर' भी कहलाता है क्योंकि केवल इच्छा करने मात्र अथवा स्मरण मात्र से वह उत्पन्न हो जाता है। निस्सन्देह 'काम' ही इस सृष्टि का आदि-तत्व है और उसके द्वारा ही सृष्टि की उत्पति और वंश की अभिवृद्धि सम्भव है। आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्रियों ने भी 'काम' को जीवन का सबसे अधिक प्रबल मनोवेग, सबसे अधिक व्यापक एवम् जीवों के समस्त कार्य-कलापों का मूल माना है। आचार्य रजनीश के अनुसार प्रेम की सारी यात्रा का प्राथमिक बिन्दु काम है, सैक्स है। काम की ऊर्जा ही, सैक्स की एनर्जी ही अन्ततः प्रेम में परिवर्तित होती और रूपांतरित होती है।[2]

सृष्टि की उत्पति एवं नारी—सृष्टि के आदिकाल से नारी की उत्पति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के मत रहे हैं। प्राचीन भारतीय शास्त्रों के अध्ययन-मनन से ज्ञात होता है कि विश्व-निर्माता प्रजापति आरम्भ में एकाकी था, एकाकी वह रहना नहीं चाहता था। उसने दूसरे की इच्छा की, अतएव उसने स्वयं को ही दो भागों में विभक्त कर लिया। एक भाग को पत्नी और दूसरे भाग को पति बना दिया गया। पति और पत्नी, दोनों को 'रेतः सिचं' कहा गया है। ये दोनों रेतोधान करने वाले 'रेतोधा' तत्व हैं। अन्तर्वत्नी ('अन्तरे वर्तते रेतः यस्यां सा अन्तर्वत्नी'-विग्रह-कोष) पत्नी इस तथ्य का प्रमाण है कि उसके साथ नियामक 'रेतोधा' पति का साहचर्य हुआ है। इन्हीं दोनों 'रेतोधा' तत्वों को वैदिक-भाषा में 'प्रयति' और 'स्वधा' कहा गया है और 'प्रयति' तथा 'स्वधा' का प्राण और भूत मिला हुआ रूप ही 'प्रजापति है।

वेदों में सृष्टि की उत्पति के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'तब न सत् था न असत्, न वायु था और न आकाश; तब सब और गाढ़तम अन्धकार था, सभी वस्तुएँ इसी गाढ़तम अन्धकार में प्रच्छन्न थीं और यह समस्त दृश्य जगत् अपनी

---

१. 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद'—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० १७
२. सम्भोग से समाधि की ओर—आचार्य रजनीश; पृ० २४, २५

वर्तमान अवस्था की उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त रूप में मौजूद था'[1]—तदुपरान्त 'इच्छा' की उत्पति हुई और यही उत्पति का प्रारम्भिक मूल है।[2] ऋग्वेद के अनुसार देवों की माता 'अदिति' (ऋग्वेद की भाषा में चिन्ति) और दैत्यों की माता 'दिति' (अचिन्ति) है। मौलिक रूप से ये ही दोनों सृष्टि की आद्याज्योतिर्मयी माताएँ हैं तथा विश्व को उत्पन्न करने वाली अति मानस-चेतना के भीतर इन दोनों (निःसीमता-ससीमता, एकत्व-अनेकत्व, अखंडता-खंडता) का सम्पूर्ण समन्वय है।

श्री नासदीय सूक्त के अनुसार इस जगत् का मूल एक अदय, अखण्ड और अविभाज्य है, जिसे ब्रह्म कहते हैं। वह दिक् और काल से अनवच्छिन्न, ज्ञातत्व और ज्ञेयत्व से परे शुद्ध ज्ञानस्वरूप विज्ञान-धन है। ब्रह्म का स्वरूप साधारण अनुभव किंवा बुद्धि अथवा वाणी का विषय नहीं। तभी तो श्रुति कहती है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' वहाँ से मन और वाणी लौट आते हैं क्योंकि उस तक उनकी पहुँच नहीं। अनास्तित्व अथवा अज्ञान तत्व का नाम ही 'माया' है—उसे शांकर प्रवन्ध लेखक त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं। वह ब्रह्म के साथ उसी प्रकार संलग्न है जिस प्रकार शरीर के साथ छाया। इसी माया के ही कारण जगत् सत्य लगता है। जिस समय अव्याकृत एक रस भेद-रहित ईश्वर अनेकत्व की इच्छा करता है तभी उसकी 'हिरण्यगर्भ' संज्ञा होती है।[3] इसी से पुरुष और मूल प्रकृति की अभिव्यक्ति हुई और यही 'हिरण्यगर्भ' इस जगत् का मूल है।

अथर्ववेद के अनुसार विद्वान्, पंडित, विचारक, यथार्थ विद्या और गान-विद्या को जानने वाले, सूर्यादि लोक उन्हीं के साथ इन सबकी स्त्रियाँ उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुई हैं।[4]

वैशेषिक मतानुसार नव पदार्थ-क्षिति, अप, तेज, वायु, प्रकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा-नित्य हैं। आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा।

---

१. 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे·······' —ऋग्वेद—१०, १२६, ३
२. वही—१०, ११६; ३-४
३- 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवींद्यामुतेमाम्।' —ऋग्वेद—१०, १२१, १
४. ऋग्वेद के दशम् मंडल के १६० वें सूक्त में सविस्तार सृष्टि-क्रम का विस्तार है—ऋतंच सत्यंचाभीद्धा तपसोऽध्यजायत················।'
५. 'देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः।' —अथर्ववेद—११, २४, ४, २७

परमात्मा एक है और जीवात्मा असंख्य हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया[1]—आधे भाग से 'पुरुष' और आधे भाग से वे 'नारी' हुए। परमात्मा वाम-भाग से स्त्री और दक्षिण भाग से पुरुष हुआ—('स्वेच्छामयः स्वेच्छायाच द्विधारूपो बभूवह–स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः') इसी से फिर आगे चलकर 'अर्द्धनारीश्वर' की भावना को रूप-विकास मिला। 'वह सहयोगात्मक, परम्पराश्रित पुरुषोचित और स्त्रीजनोचित कृत्यों की, जो अलग रहते हुए अपूर्ण रहते हैं और मिल कर परस्पर पूर्ण हो जाते हैं, एक धारणा है'।[2] इस अर्द्धनारीश्वर रूप का विवेचन मत्स्यपुराण (अध्याय २६०) में भी वड़े सुन्दर ढंग से किया गया है।

सभी दर्शनशास्त्रों विशेषतः **प्रवचन-दर्शनों एवं मीमांसा-दर्शनों** के अनुसार सृष्टि-कार्य में प्रकृति का बहुत-कुछ प्राधान्य है। किसी ने उसे मूल प्रकृति, किसी ने उसे महामाया और किसी ने उसे ब्रह्म-शक्ति के नाम से पुकारा है। वैदिक दर्शनों में जीवन-सृष्टि की दो स्वतंत्र धाराएँ बतलायी गयी हैं—स्त्रीधारा और पुरुषधारा।[3] ये दोनों एक दूसरे की पूरक मानी गई हैं और मनुष्ययोनि में अपने तक ये दोनों प्राकृतिक नियम से क्रमशः आगे वढ़ती रहती हैं। मनुष्य योनि में पहुँचकर दोनों पूर्णावयव स्त्री तथा पुरुष बन जाते हैं।[4] मीमांसा-दर्शन तो मूल प्रकृति से स्त्रीधारा का ही विशेष सम्बन्ध प्रमाणित करते हैं। अतएव यदि यह कहा जाये कि स्त्री-मात्र ही प्रकृति-रूपिणी है तो कोई विज्ञान-विरुद्ध बात न होगी। हिन्दू विवाहों पर वर, वधू का दाहिना हाथ पकड़कर कहता है—'प्रिये, मैं विष्णु हूँ; तुम लक्ष्मी; मैं त्रिवेद हूँ, तुम त्रयी; मैं संगीतमय सामवेद हूँ, तुम कवितामयी ऋचा (ऋग्वेद); मैं अन्त-रिक्ष हूँ और तुम पृथ्वी—'अमो हमस्मि सो सा त्वमस्यमो हम् सामाहमस्मि ऋक्त्वं धारये हं पृथिवी त्वम्'।

परमेश्वर पूर्ण है। वही जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है। उसका नाम 'गौरी' भी है।[5] गौरीमिमां सलिलानि तक्षति (ऋग्वेद)—इन मन्त्रों का तात्पर्य यही है कि परमात्मा स्त्री-पुरुष रूप से माता-पिता के समान सुख प्रदान

---

१. 'स इमां एवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नीचाभवताम्'—बृहदा० उप०; १, ४, ३।

२. 'धर्म और समाज'—डा० राधाकृष्णन; पृ० १६६।

३. द्वे धारे स्वतंत्ररूपत्वात्—धर्मपाद; सूत्र पृ० ५५

४. कल्याण—हिन्दू संस्कृति अंक; पृ० ६१५

५. 'पुनश्च गौरी देहात्सा समुद्भूता यथाऽभवत्
वधाय दुष्ट दैत्यानां.......'—मार्कण्डेय पुराण–देवी महात्म्य; पृ० ४, ४१

करता है। वह नर और नारी दोनों में विद्यमान है। नारी में भगवती आदि-शक्ति की जो अभिव्यक्ति है, उसी को लक्ष्य करके देवताओं ने शुम्भ-वध के उपरान्त स्तुति करते हुए कहा था कि हे देवि, सम्पूर्ण विद्याएँ तथा जगत् की सम्पूर्ण स्त्रियाँ (समष्टि और व्यष्टि रूप से) आपके ही भेद और आपकी ही विभिन्न मूर्तियाँ हैं—'विद्या समस्तास्तव देवि भेदाः, स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'।

निरीश्वरवादी **सांख्य-दर्शनकार** इस संसार का कर्ता-हर्ता किसी चैतन्य को नहीं मानते। उनके अनुसार यह समस्त जगत् और इसकी समस्त वस्तुएँ पुरुष और प्रकृति के संयोग-प्रतिसंयोग से उत्पन्न हुई हैं। 'एकोऽहं बहुस्याम्' में सृष्टि का अपार रहस्य छिपा हुआ है। मूल में एक अद्वैत-ब्रह्म है, फिर वह आत्मा-माया का आश्रय लेकर द्वैत बनता है, क्योंकि बिना एक से दो बने 'बहु' की कल्पना नहीं की जा सकती है और इस द्वैत से ही नाम रूपात्मक अनन्त सृष्टि की रचना होती है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह जो नामरूपात्मकता है, उसी का नाम सृष्टि अथवा द्वैत है।

बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। इसमें उपनिषद् के समस्त विषय आ जाते हैं। यहाँ मैथुनी सृष्टि के मूल सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया गया है कि स्त्री और पुरुष, पति और पत्नी—ये दोनों एक मण्डल के आधे-आधे भाग (अर्द्ध बृगल) हैं। जब तक स्त्री के सम्मुख पुरुष और पुरुष के सम्मुख स्त्री नहीं होती, तब तक आकाश में द्यावा-पृथिवी का पूरा मण्डल नहीं बनता। वेदों में इसे ही 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। प्रजापति से मिथुन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ बतलाया गया है कि प्रजापति पहले केवल एक ही थे—एकमेव अद्वितीयं महापुरुष। किन्तु अकेले में सुख नहीं है अर्थात् जीवन ही नहीं है।[1] वह आद्य पुरुष अकेले होने पर भी अकेले नहीं थे—अन्तर में युगल थे। प्रजापति ने अरति की निवृत्ति के लिए अरति का नाश करने में समर्थ अन्य वस्तु 'स्त्री' की अभिलाषा की—उसी से पति और पत्नी हुए। इस प्रकार नर-नारी का भेद-विराट् देह में प्रकट हुआ।

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में **तैत्तिरीय उपनिषद्** का मत है कि आरम्भ में असत् (अव्यक्त) ही विद्यमान था। वह एक था, उसके समान दूसरा न था। उसी असत (अव्यक्त) से सत् की उत्पत्ति हुई।[2]

---

१. 'स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्री-पुमांसौ तं परिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्। ततः पतिश्च पत्नीचाभवताम्।—बृहद० उपनिषद्; पृ० १, ४, ३

२. 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत'—ब्रह्मानंदवल्ली—सप्तम् अनु०

श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार आत्मा में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है।[1] कर्मानुसार देह धारण हुआ और देहानुसार स्त्री-पुरुष का भेद हो गया। नर और नारी तत्वतः और वस्तुतः एक हैं। विश्व कर्म-क्षेत्र में कर्म, प्रेरणा एवं पृथक-पृथक सुख-दुःख आदि कामना के अनुसार जीवात्मा का लिंग-भेद होता है। नर और नारी कामना के निःशेष हो जाने पर जन्म-मृत्यु का अतिक्रम करके जब अमृत-जीवन में प्रवेश करते हैं तब वहाँ भी यह लिंग-भेद और रूप-भेद दूर नहीं होता।

महोपनिषद् में प्रसंग है कि अनादिकाल में एक नारायण ही थे[2]—'नारा' स्त्रीलिंग शब्द है—उसी से जीव की उत्पत्ति हुई है। नारी शक्ति ही आद्याशक्ति है और वही समस्त विश्व का आधार है। उसी के अंशमात्र से समस्त देव और समस्त शक्तियाँ उद्भासित होती हैं। सभी स्त्रियाँ उसी शक्ति की चिनगारी हैं।

शिवपुराण की 'वायवीय-संहिता' के पूर्व-भाग में सृष्टि-वर्णन का प्रसंग है। वहाँ नारी को शक्ति का प्रतीक माना गया है क्योंकि 'शक्ति' शब्द स्त्रीवाचक है एवं सृष्टि की प्रधान शक्ति को स्त्री के रूप में स्मरण किया है। वहाँ अर्धनारीश्वर की भावना का वर्णन है। ब्रह्म का शिवरूपी चिदाभास जब अन्तःकरण की बुद्धि-रूपा पार्वती में प्रतिबिम्बित होता है, तभी जीव की उत्पत्ति होती है और वह जीव-संसृति मोक्ष या महा प्रलय तक निरंतर संसार-चक्र चलाती रहती है।[3] इसी प्रकार 'मत्स्य पुराण' के २६० वें अध्याय में भी अर्द्धनारीश्वर के रूप का वर्णन हमें प्राप्त होता है।

श्री विष्णु पुराण के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में रुद्र आधे शरीर से पुरुष और आधे शरीर से स्त्री हुए।[4] इस बात को देख ब्रह्माजी को सन्तोष हुआ और उन्होंने कहा कि इसका विभाजन कर सृष्टि चलायी जावे। ब्रह्माजी ने अपने ही स्वरूप स्वायम्भुव को प्रजापालन के लिए प्रथम मनु बनाया। स्वायम्भुव मनु ने

---

१. 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यद् शरीर मादत्ते तेन तेन स लक्ष्यते ॥'—दुर्गा सप्तशती; पृ० ११, ६

२. नारायण—नारा (जल) और अयन (घर) अर्थात् जल ही जिसका घर है।
'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥'—श्री विष्णुपुराण–४, १, ६

३. 'कल्याण—हिन्दू संस्कृति अंक; पृ० ६१६

४. 'अर्ध नारी नरवपुः प्रचण्डोऽति शरीरवान्।
विभजात्मानमित्युक्त्वा तं ब्रह्मान्तर्दधे ततः'॥—वही; ७, १, १२

(अपने ही साथ उत्पन्न हुई) तप के कारण निष्पाप शतरूपा नामक स्त्री को अपनी पत्नी-रूप से ग्रहण किया।[1]

मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत 'दुर्गा सप्तशती' (अ० २) में देवों के शरीर से तेज प्रकट हुआ—फिर उसमें से एक देवी उत्पन्न हुई और वही देवी इस सृष्टि का मूल कारण है।

सामान्यतः शिव और उनकी शक्ति, विष्णु और लक्ष्मी, इन्द्र और इन्द्राणी, ब्रह्मा और ब्रह्माणी—इन सब में पुरुष और रमणी भाव पृथक-पृथक है। किन्तु चण्डी के ऋषि के अनुसार प्रत्येक पुरुष ही नारी है और प्रत्येक नारी ही पुरुष। हमारी शक्ति-रूपिणी रमणी हमारे भीतर ही छिपी है, वह हमारी देह में निमग्न है।[2] फिर ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों एवम् देवताओं की पत्नियों की भी कल्पना की जाकर उनकी पृथक-पृथक पूजा होने लगी। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐंद्री—इन सात शक्तियों को सप्त मातृका कहते हैं। कुछ रुद्रशक्तियाँ भी हैं—काली, कराली, कापाली, चामुण्डा, चण्डी। सर्जन की मूल वासना की ओर ले जाने वाली शक्तियाँ आनन्द भैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी, ललित आदि हैं।[3] इन शक्तियों के उपासकों के अनुसार शिव और त्रिपुर सुन्दरी के योग से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। नागरी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' से शिव और अन्तिम अक्षर 'ह' से त्रिपुर सुन्दरी अभिप्रेत है। इस प्रकार दोनों का योग 'अहः' काम-कला का सूचक है।[4] इसी में श्री शंकराचार्यजी ने भगवती के पूर्ण रूप की झाँकी देखी है।

श्रीमद्भागवत् के अनुसार तत्व सृष्टि के पश्चात् अर्थात् ब्रह्मा ने उत्पन्न होकर जब विश्व का प्रवर्तन किया तब कुमार और रुद्रादि की सृष्टि के अनन्तर प्रजापतिवर्ग

---

१. विष्णुपुराण; ७, १, १६-१७

२. 'ब्रह्मेशगुह विष्णुनाम तथेन्द्रस्य च शक्तयः
शरीरेभ्यो विनिष्क्रम्य तद्रूपैश्चण्डिकां ययुः
यस्य देवस्य यद् रूपं यथा भूषण वाहनम्
तद्वदेवहि तच्छवितरसुरान् योद्धुमाययौ।'—८, १३-१४

३. 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'— डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० २१

४. वैष्णविज़्म, शैविज्म एण्ड अदर मायनर रिलीजिअस सिस्टम्स:डा० भांडारकर, पृ० १४२-४६

की सृष्टि हुई। उसके उपरान्त एक अपूर्व घटना घटित हुई। सृष्टिकर्ता के तपोमय, ज्ञानमय शरीर से एक दिव्य नर-नारी का जोड़ा प्रकट हुआ। उनमें जो नर था, वह सार्वभौम सम्राट् स्वायम्भुव मनु थे और नारी विश्व-मानव की माता महारानी शतरूपा। तब से मिथुनधर्म से प्रजा की वृद्धि होने लगी।[1] वास्तव में नर और नारी एक ही तत्व की दो प्रकार की मूर्तियाँ हैं—दो होकर वह रूप, भाव, शक्ति और सामर्थ्य में विभिन्न हो गयीं।

सप्तशती के अनुसार शक्ति के रूप में परमात्मा प्रकट हुए और उस शक्ति ने स्वयं को त्रिधा में विभाजित कर महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती—तीन रूप धारण किये। तत्पश्चात् उन तीनों ने अपनी देह से स्त्री-पुरुषात्मक एक-एक जोड़ा तैयार किया। संक्षेप में, पुरुष-प्रकृति, नर-नारी, मानव-मानवी और देव-देवियों का सच्चा स्वरूप हमें 'सप्तशती' में प्राप्त होता है।

चण्डीपाठ में भी नारी की उत्पत्ति का वर्णन है। महिषासुर राक्षस के अत्याचारों के कारण विष्णु तथा ब्रह्मादि देवता जब क्रोधाग्नि से जलने लगते हैं, तब क्रोध की वह ज्वाला देखते-देखते एक तेजोराशि का रूप धारण कर लेती है। उस तेजोराशि से एक दीप्तिमती तेजोमयी नारी मूर्ति आविर्भूत होती है। तब देवताओं के आनन्द की सीमा न रही और उन्होंने विश्व-जननी, दानव-दलनी, भगवती दुर्गा के दर्शन किये और सभी ने वसन, भूषण, अस्त्र-शस्त्रादि उपहार समर्पित कर भगवती का अभिनन्दन किया।[2]

'संसार-सागर-मंथन' नामक ग्रन्थ के अनुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सर्वप्रथम अचेतन सृष्टि का निर्माण किया, फिर प्राणियों का और तदुपरान्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष का। जब वे नारी का निर्माण करने लगे तो उन्हें शीघ्र ज्ञात हुआ कि यह निर्माण-कार्य तो बड़ा ही व्यय-साध्य है। अतएव वे बड़ी चिन्ता में पड़ गये। अन्त में उन्होंने चन्द्रमा की चन्द्रिका, लता की कोमलता, तिनके का कम्पन, पुष्प की सुकुमारता, जल की तरलता, वायु की चंचलता, सूर्य रश्मियों की तेजस्विता, हरिण के कटाक्ष, हाथी की मन्दगति, कोयल की आवाज, बाघ की क्रूरता, बगुले का ढोंग और रत्न की कठोरता—इन सब वस्तुओं का संग्रह करके नारी का निर्माण किया और उसे पुरुष को सौंप दिया। यह कथा भले ही तथ्य से दूर हो, परन्तु यह कल्पना है अत्यन्त सटीक। नारी में उपर्युक्त सारे ही गुण न्यूनाधिक प्रतीक के रूप में विद्यमान हैं। इन्हीं भावनाओं से नारी में आकर्षण-शक्ति उत्पन्न होती है।

---

१. श्रीमद्भागवत्—३, १२, ५२-५३
२. 'दुर्गा-सप्तशती'—२, १२-३०

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि मेरी माया—त्रिगुणात्मिका, प्रकृति समस्त भूतों की योनि है, उसी में मैं समस्त बीजों को स्थापित करता हूँ—हे कौन्तेय सभी योनियों में जो मूर्तियाँ पैदा होती हैं, उन सबकी गर्भ धारण करने वाली (मां) मेरी प्रकृति है, और मैं बीजप्रद (पिता) हूँ।'[1] सृष्टि के प्रारम्भ में नारी का प्रादुर्भाव हुआ इसके पूर्व नारी नहीं थी, यह भावना सत्य नहीं है। कारण सृष्टि अनादि और अनन्त है। अतएव नारी भी सनातन है, प्रलयकाल में सब-कुछ अन्तर्हित हो जाता है और फिर जीवन प्रभात में सब-कुछ प्रकाशित हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस गूढ़तर प्रश्न को स्पष्ट किया गया है।[2] यहाँ पुरुष और प्रकृति द्वैत नहीं है, केवल प्रकृति ही है—परा और अपरा। जीव-मात्र के साथ परा प्रकृति है और देह, मन, प्राण, इन्द्रिय, पृथ्वी, जल, तेज आदि सब अपरा प्रकृति है, जड़ प्रकृति है। चित्त प्रकृति ही पुरुष है और पुरुष भी प्रकृति से ही है। पुरुष बनाने वाली प्रकृति और नारी-रूपा योग्य प्रकृति, दोनों ही प्रकृति हैं। महत् तत्व नामक बुद्धि पुरुष से सम्पूर्ण पृथक होने पर भी पुरुषाभासित होकर पुरुष-सी बन जाती है। दार्शनिकों की भाषा में इसी का नाम 'गृहीता पुरुष' है। इस पुरुष-भाव के क्रम को दूर करना ही समस्त साधनाओं का मूल उद्देश्य है। वस्तुतः प्रकृति है, पुरुष नहीं। जगत् में सत्व तत्व नारी है, पुरुष तो नारी के साथ अभिनयकर्ता है। यही कारण है कि नाटकों के अभिनय में भी स्त्री-पुरुष दोनों ही नट-नटी के रूप में आते हैं, एक नहीं।

विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन है कि 'उस वायु और जल के पिंड में सम्पूर्ण तम को निवारण करने वाला अग्नि उत्पन्न हुआ। फिर अग्नि, वायु और जल मिलकर एक बादल के रूप में हो गया। प्राणियों का शरीर पंचमहाभूतों का ही संघात है। इसमें जो चेष्टा अथवा गति है, वह वायु का भाग है। जो खोखलापन है, वह आकाश का अंश है। ऊष्मा (गर्मी) अग्नि का अंश है। रक्त आदि तरल पदार्थ जल के अंश हैं और अस्थि मांस आदि ठोस पदार्थ पृथ्वी के अंश हैं। इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जंगम इन्हीं पंचभूतों से युक्त हैं। इन्हीं के सूक्ष्म अंश श्रोत्र (कान), घ्राण (नासिका), रसना, त्वचा और नेत्र इन पाँच इन्द्रियों के नाम से जाने जाते हैं।[3]

---

१. सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥—श्रीमद्भगवद्गीता—६, ७
'माता पितरमृत आबभाज'—ऋत अर्थात् प्राकृतिक नियम में माता (स्त्री) ने पिता को बराबर-बराबर बाँटा हुआ है—ऋग्वेद; १, १६४, ८

२. श्रीमद्भगवद्गीता; ७, ५

३. महाभारत-शान्ति पर्व—अ० १८३।१४, १५, १६

जैन-सिद्धान्त के अनुसार इस संसार का कर्ता-हर्ता कोई चेतन नहीं। सृष्टि अनादि अनन्त है और केवल एक द्रव्य ही पदार्थ है, उसी के चेतन और अचेतन दोनों रूप हैं—वही जगत् रूप है। जैन-दर्शन वतलाते हैं कि विश्व के मूल में जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्व हैं। प्रत्येक जीव में अपनी सत्ता के अनुभव की शक्ति का नाम दर्शन है तथा बाह्य पदार्थों के जानने-समझने की शक्ति का नाम है ज्ञान। जीव के इन्हीं दो—दर्शन और ज्ञान–अथवा स्वसंवेदन और पर-संवेदन रूप गुणों को उपयोग कहा गया है। जिन पदार्थों में यह उपयोग शक्ति है, वहाँ जीव व आत्मा विद्यमान हैं; और जहाँ इस उपयोग गुण का सर्वथा अभाव है, वहाँ जीव का अस्तित्व नहीं माना गया। इस प्रकार जीव का निश्चित लक्षण चैतन्य है। इस चैतन्य-युक्त जीव की पहचान व्यवहार में पाँच इन्द्रियों, मन, वचन व कायरूप तीन बलों तथा श्वासोच्छवास और आयु—इन दस प्राण-रूप लक्षणों को ही हीनाधिक सत्ता के द्वारा की जा सकती है।[1]

जैन-दर्शन में संसारवर्ती अनन्त जीवों को दो भागों में विभाजित किया गया है—साधारण और प्रत्यक। संसारी जीवों की दृश्यमान चार गतियाँ मानी गयी हैं—मनुष्य गति, तिर्यंच गति, देवगति और नरक गति। 'शरीरधारी संसारी जीव अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न लिंगधारी होते हैं। एकेंद्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यंच एवम् नारकी जीव नियम से नपुंसक होते हैं। पंचेंद्रिय मनुष्य और तिर्यंच पुरुषवेदी, स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी तीनों प्रकार के होते हैं।[2] **'प्रकरण-रत्नाकर'** भाग १ के अनुसार जीव और इन चीजों के दाता कर्म भी भिन्न-भिन्न प्रकार के रहते हैं। जिन जीवों के गुण बिल्कुल विकृत हो गये हैं, वे अशुद्ध हैं; जिनके गुण कुछ विकृत और कुछ ठीक हैं, वे मिश्र जीव हैं; जिन आत्माओं के स्वाभाविक गुणों से आवरण बिल्कुल हट गया है, वे शुद्ध जीव हैं।

बौद्ध-मत—बौद्ध-दर्शन में आत्मवादी तथा अनात्मवादी दोनों प्रकार की विचारधाराओं के पोषक विचार प्राप्त होते हैं। यहाँ एक ओर जीव की सत्ता की स्वीकृति को मिथ्या दृष्टि कहा गया है तो दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया है कि जीवन में ऐसा भी कोई तत्व है जो जन्मजन्मान्तरों में से होता हुआ

---

१. **'पंच वि इंदियपाणा मनवचकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा॥—गोम्मट सार–जी; १२६**

२. **'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान'—डा० हीरालाल जैन–पृ०** २१७-२०।

शरीर-रूपी घर का निर्माण करता है।[1] सृष्टि सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति यहाँ दो रूपों में प्राप्त होती है—एक पौराणिक रूप में तथा दूसरे आध्यात्मिक विवेचन के रूप में। 'तिब्बती-दुल्व' के पांचवें भाग में भगवान् भिक्षुओं से कहते हैं कि आभास्वर देवों के पवित्र, सुन्दर, चमकदार, अपार्थिव शरीर थे। आनन्द से वे बहुत दिन तक जीवित थे। अभी तक पृथ्वी न थी, पर इस बीच में जल के साथ पृथ्वी मिल गयी। फिर एक आँधी ऐसी चली कि सूखी धरती बाहर निकल आई। पुण्य क्षीण होने पर बहुत से आभास्वर देव पृथ्वी पर उत्पन्न हुए; भोजन में अनेक परिवर्तनों के पश्चात् चावल का रिवाज़ बढ़ा और उसके खाने से लिंग-भेद हुआ अर्थात् कुछ पुरुष हो गये और कुछ स्त्री।[2] यह वर्णन भी सूर्य-सिद्धान्त के औपनिषध प्रकरण जैसा ही है।

इस्लाम-मत के अनुसार सबसे पहले खुदा ने आदम को बनाया और उसे बहिश्त में भेज दिया। किन्तु वहाँ वह अकेला था, इसलिए उसका मन नहीं लगता था। तब खुदा ने आदम की एक पसली निकालकर उसकी नारी बना दी और कहा कि हे आदम! तू और तेरी जोरू बहिश्त में रहकर जहाँ चाहो आनन्द में रहो किन्तु एक खास पेड़ के नजदीक मत जाना। अगर गये तो पापी हो जाओगे। लेकिन शैतान ने आदम को डिगा दिया। इसलिए खुदा ने उसे पृथ्वी पर भेज दिया और आदम पृथ्वी पर आ गया।[3]

ईसाई-मत के अनुसार ईश्वर ने प्रारम्भ में आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न किया और पृथ्वी तब बेडौल और सूनी थी और घनत्व पर अंधेरा और ईश्वर की आत्मा जल के ऊपर डोलती थी। ईश्वर ने कहा कि 'उजाला होवे', उजाला होवे और ईश्वर ने उजाले को देखा कि अच्छा है।[4] तब आकाश बनाकर ईश्वर ने आदम को बड़ी नींद में डाला। वह सो गया। तब उसने उसकी पसलियों में से एक पसली निकाली और उससे एक नारी बनायी। पर आदम के लिए ऐसा कोई सहायक न मिला जो उससे मेल खाये। तब यहोवा परमेश्वर ने आदम को भारी नींद में

१. 'अनेक-जाति-संखारं संधाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसंतो दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहिसि।
विसंखा रगतं चितं तण्हा मे खय मज्झगा॥—धम्मपद–१५३-५४

२. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—डा० बेनीप्रसाद—पृ० २५२

३. मं० १।सि० १।स० २।आ० ३५-३६-३७

४. पर्व १।१-२-३-४

डाल दिया और जब वह सो गया तब उसने उसकी एक पसली निकालकर उसमें माँस भर दिया और यहोवा परमेश्वर ने उस पसली को, जो उसने आदम में से निकाली थी, स्त्री बना दिया। और उसको आदम के पास ले आये। और आदम ने कहा यह मेरी हड्डियों में की हड्डी और मेरे मांस में का मांस है तो इसका नाम नारी होगा, क्योंकि वह नर से निकाली गयी है।[1]

कवि जोधराज के 'हम्मीर रासो' ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी सृष्टि-रचना और मानव-सृष्टि का वर्णन है।[2] ग्रन्थ के रचयिता के मतानुसार प्रथम कल्प के आदि में संसाररूपी उपवन के जीव-निर्जीव, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सभी पदार्थ बीज-स्वरूप से उस अनादि जगदीश्वर के स्वरूप में स्थित थे और वह प्रभु योगनिन्द्रा में निमग्न था। निन्द्रा-भंग हो जाने पर उस प्रभु की इच्छा से माया उत्पन्न हुई। फिर शेष-शायी भगवान के नाभि-कमल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा ने घोर तप करके पाँच महा-तत्व और वृक्ष आदि जड़ पदार्थ उत्पन्न किये—फिर उन्होंने अपने शरीर से ही मुनिवरों को तथा उनकी धर्म-पत्नियों को उत्पन्न किया।

सूफी महाकवि जायसी ने भी अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'पद्मावत' और 'अखराहट' में इस जगत की उत्पत्ति और उसके विकास-क्रम का वर्णन किया है। 'पद्मावत' के स्तुति-खण्ड में कवि ने लिखा है कि मैं उस करतार का सुमिरन करता हूँ जिसने प्राण दिया और यह संसार रचा। उसने पहले ज्योति का प्रकाश किया और कैलास (स्वर्ग) बनाया। उसने आग, हवा, जल, मिट्टी, धरती, स्वर्ग और पाताल बनाया तथा भाँति-भाँति की अठारह सहस्र योनियाँ रचीं।[3] इस सृष्टि का विकास-क्रम बतलाते हुए कवि ने 'अखरावट' में लिखा है कि सर्वप्रथम सब ओर शून्य-ही-शून्य था। न आकाश था, न पृथ्वी थी; न चाँद-सूरज थे। ऐसी ही अन्धकार

---

1. 'And the Lord God causes a deep sleep to fall upon Adam and he slept and He took one of his ribs and closed up the flesh instead thereof. And the rib which the Lord God had taken from man, made a woman and brought her upto the man. And Adam said, this is now bone of my bones and flesh of my flesh. She shall be called WOMAN because she was taken out of man.

—Genesis II—20, 23.

२. 'हम्मीर रासो'—सम्पा० श्री विश्वनाथ प्रसाद—पद १६-२५ पृ०; ४
३. 'पदमावत'—मलिक मुहम्मद जायसी—स्तुति खण्ड १-४

की अवस्था में एक आदिपुरुष ने खेल-ही-खेल में सृष्टि की रचना कर डाली।[1] सर्व-प्रथम चार फरिश्तों की रचना की गयी। उन फरिश्तों ने चार तत्वों को मिलाकर आदम की सृष्टि की। आदम पुरुष की रचना के उपरान्त हउआ स्त्री की रचना की गयी और इन दोनों के पुनर्मिलन के फलस्वरूप ही मानव-जाति की सृष्टि हुई।

निर्गुण-भक्ति धारा के प्रमुख भक्त महात्मा कबीरदास ने दर्शन-शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इच्छा रूप नारी के अवतरित होने की बात लिखी है—

'जीव रूप एक अंतर वासा, अंतर ज्योति कीन परकासा।
इच्छा रूप नारि अवतरी, तासु रूप गायत्री धरी।
तेहि नारी के पुत तिन भयऊ—ब्रह्मा विष्णु शम्भु नाम धरेउ।
तव ब्रह्मा पूछत महतारी, को तोर पुरुष काकर तुम नारी।
तुम हम, हम तुम और न कोई, तुम मोर पुरुष हमे तोर जोई।
बाप पूत की नार इक, एकै माय विआय।
दिखौ न पूत सपूत अस बापै चीन्हें धाय॥[2]

आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' (अष्टम समुल्लास) तथा 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में इस जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर प्रणाली द्वारा बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है।[3] उनके मतानुसार जब सृष्टि का समय आता है तब परमात्मा अनादि नित्य स्वरूप सत्व, रजस और तमो गुणों की एकावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परम सूक्ष्म पृथक-पृथक तत्वावयव विद्यमान हैं, उन्हें एकत्रित करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृति रूप-कारण से कुछ स्थूल होता है, उसका नाम महतत्व और जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम 'अहंकार' और 'अहंकार' से भिन्न-भिन्न पाँच सूक्ष्मभूत, श्रोत, त्वचा, नेत्र, जिव्हा, घ्राण, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ,[4] वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और ग्यारहवाँ मन कुछ स्थूल उत्पन्न

१. 'गगन हुता नहिं महि हुती हुते चंद नहिं सूर।
ऐसेइ अंधकूप महं रचा मुहम्मद नूर॥'—'अखरावट' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ
२. 'कबीर-वचनावली'— पद ५२ पृ० ११७
३. 'सत्यार्थ प्रकाश'—महर्षि दयानन्द सरस्वती पृ०, १६६
४. 'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात्पंच-तन्मात्राण्युभय मिन्द्रियं'।—सांख्य दर्शन; १, ६१

होता है। उन पंच तन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए कम-से-कम पाँच स्थूल भूत (जिनको हम प्रत्यक्ष देखते हैं) उत्पन्न होते हैं। उन स्थूल-भूतों से अनेक प्रकार की औषधियाँ, वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है। परन्तु आदि-सृष्टि मैथुनी नहीं होती, क्योंकि जब परमात्मा नर-नारी के शरीर को बनाकर उनमें जीव का संयोग कर देता है तभी मैथुनी सृष्टि चलती है। इस प्रकार सृष्टि के विकास के लिए उन्हें भी नारी की अनिवार्यता स्वीकार करनी पड़ी। (डारविन से पूर्व मानव उत्पत्ति के सम्बन्ध में लुकरीटियस का विचार था कि प्रथम मानव सीधे सीधे पृथ्वी से उस समय पैदा हुए थे जिस समय उसकी उर्वरता अत्यन्त प्रबल थी।)[1]

आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार लाखों वर्षो पूर्व सूर्य, पृथ्वी और चन्द्र तथा अन्य ग्रह ने एक प्रज्वलित अग्नि का समूह बनाया। उसी प्रचण्ड अग्नि-समूह से ग्रह और चन्द्र बने। ग्रह तो शीघ्र ठण्डे पड़ गये, किन्तु सूर्य मध्य में होने के कारण ठण्डा नहीं हुआ। धीरे-धीरे भाप की सहायता से वर्षा होने लगी और समुद्र बने। इन्हीं गर्म समुद्रों के किनारे पर कई युगों के पश्चात् प्राण शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। आरम्भ में बिना मज्जा-अस्थियों वाले पदार्थ बने, फिर छोटे जीव-जन्तु, फिर मछलियां (Reptiles), पक्षी (Mammals)। जलवायु के परिणामस्वरूप परिवर्तन होते गये। दक्षिण-पूर्वी एशिया पर (Ape) का जन्म हुआ और फिर अन्त में पुरुष और स्त्री का।[2] जावा और जर्मनी की नींव डर्थल घाटी में मनुष्य की जो प्राचीन अस्थियाँ प्राप्त हुई हैं, उससे इस सिद्धान्त की बहुत कुछ पुष्टि होती है।

'नारी' और उसके पर्यायवाची शब्द—यदि हम शब्दों के विकास के साथ मानव सभ्यता-संस्कृति के विकास का अध्ययन करें तो विदित होता है कि 'नारी' बड़ी ही रहस्यमयी है। 'नारी' अर्थ के बोधक शब्द भी 'नारी' के स्वरूप को स्पष्ट करने में बड़े ही सहायक सिद्ध हुए हैं। विषम समाज में विषम परिस्थितियों के कारण नारी के विभिन्न स्वरूप होते गये हैं। फिर मानव का 'नारी' के साथ शारीरिक, रागात्मक और धार्मिक सम्बन्ध होने के कारण भी नारी के स्वरूप-भेद हुए।[3] ये भेद-प्रभेद इतने जटिल बन गये कि आज शब्द के आधार पर नारी के वास्तविक स्वरूप को समझना बड़ा कठिन है।

---

१. मानव की उत्पत्ति और क्रमिक विकास—माइखेल नैस्तुर्ख पृ० १
२. 'ए ब्रीफ हिस्ट्री आफ सिविलाइजेशन'—जे० एस० हालैण्ड
३. 'कल्याण'—नारी-विशेषांक पृ० १२७

ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में 'नारी' शब्द से स्पष्टतः याज्ञिक पत्नी के रूप में स्त्री का आशय है।[1] यह शब्द 'नृ' अथवा 'नर' से बना है।[2] यास्क ने 'नर' शब्द को नृत (नाचना) से बनाया है—'नराः नृत्यन्ति कर्मसु' अर्थात् काम की पूर्ति के लिए मनुष्य हाथ पैर नचाता है। इसी के कारण स्त्री को 'नारी' कहते हैं। ऋग्वेद में 'नृ' का प्रयोग वीरता का कार्य करना, दान देना तथा नेतृत्व करने के अर्थों में हुआ है। विद्वान् डेल्बृक के मतानुसार 'नारी' शब्द वैवाहिक सम्बन्ध का नहीं, अपितु मनुष्य के लैंगिक सहयोगी के रूप में स्त्री को व्यक्त करता है। यह शब्द तैत्तिरीय, अरण्यक, शतपथ एवं ऐतरेय ब्राह्मण[3] में भी प्राप्त होता है।

अमरकोषकार के अनुसार[4] 'नारी' शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं—स्त्री, योषित्, अबला, योषा, जोषा, सीमन्तिनी, वधू, प्रतीपदर्शिनी, वामा, वनिता, महिला, अंगना, भीरुः, कामिनी, वाम लोचना, प्रमदा, मानिनी, कान्ता, ललना, नितम्बिनी, सुन्दरी, रमणी, रामा, कोपना, भामिनी, चण्डी, वरारोहा, मतकाशिनी, वरवर्णिनी, कृताभिषेका, महिषी, भोगिनी, पत्नी, सहधर्मिणी, भार्या, कुटुम्बिनी, पुरन्ध्री, अध्यूढ़ा, अधिभिन्ना, स्वयंवरा, पतिवरा, कुलपालिका।

वैदिक साहित्य में 'स्त्री' शब्द नारी के लिए सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है। पाली-प्राकृत युग तथा अपभ्रंश काल में भी वह सजीव रहा है। स्त्री की व्युत्पत्ति के विषय में निरुक्तकार का मत है कि स्त्री शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है। यास्क के मतानुसार 'स्त्यै' का अर्थ लज्जा से सिकुड़ना है—'स्त्रियः स्त्यायतेः अपत्रपणकर्मणः' तथा 'स्त्यायतः शुक्र शोणिते अस्याम् सा स्त्री। टीकाकार दुर्गाचार्य नारी की 'स्त्री' संज्ञा उसके लज्जाशील होने के कारण मानता है, किन्तु पाणिनि के धातुपाठ में 'स्त्यै' का अर्थ लजाना नहीं मिलता। धातुपाठ के अनुसार 'स्त्यै' शब्द का अर्थ है 'शब्द करना' तथा इकट्ठा करना ('स्त्यै शब्द-संघातयोः') जान पड़ता है कि नारी का स्त्री नाम सम्भवतः उसके वाचाल होने के कारण ही पड़ा। महर्षि पंतजलि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में समझाया है कि नारी को 'स्त्री' इसलिए कहते हैं कि गर्भ की स्थिति उसके भीतर रहती है। उन्होंने एक दूसरी व्युत्पत्ति भी की है—'शब्दस्पर्श-रूपरसगंधानां गुणानां स्त्यानं-संघातम्—स्त्री' अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

---

१. ऋग्वेद—१, ७३, ३–७, २०, ५–७, ५५, ८–८, ७७, ८–१०, १८, ७
२. नृ+ङीष्=नारी—नरस्य समान धर्मा नारी
   नृ+अ+ङीन=नारी
३. 'पुमांसो वै नरः स्त्रियोनार्यः'—ऐयरेय ब्राह्मण ३, ३४
४. अमरकोष—द्वितीय खण्ड–मनुष्य वर्गः

गंध—इन सबका समुच्चय ही स्त्री है। महाभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार कैयट के अनुसार 'स्त्यान' का अर्थ तिरोभाव है। यह शब्द-स्पर्श, आदि पंचतन्मात्राओं तथा सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों का परिणाम है। इन गुणों का आविर्भाव पुंसत्व का, तिरोभाव स्त्रीत्व का और साम्यावस्था नपुंसकत्व की द्योतक है। कुछ विद्वानों का मत है कि शब्द, स्पर्श आदि ज्ञानेंद्रियों के विषय हैं। पुरुष की ज्ञानेंद्रियों की तृप्ति अकेले स्त्री से एक ही साथ, एक ही समय में हो सकती है। जैसे स्त्री-शब्द, स्त्री-स्पर्श, स्त्री-रूप, स्त्री-रस, स्त्री-गंध-ये जगत् में अपनी अनुपमता और अवर्णनीय शोभा के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्हीं को आधार मानकर कामशास्त्रियों ने पद्मिनी आदि के लक्षण लिखे हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी अनेक स्थानों पर 'स्त्री' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] नारी को **'योषित्'** इस कारण कहा जाता है कि वह सेवा करती है और सेवा कराती है। नारी को **'योषा'** इस कारण कहा गया है कि वह विविध प्रकार की सेवा का साधन है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद[2] एवम् ब्राह्मण-ग्रन्थों विशेषकर शतपथ ब्राह्मण[3] में अधिक पाया जाता है। योषा, योषणा, योषन्, योषित—सभी शब्द युवती स्त्री के वाचक हैं।[4] **जोषा** शब्द से उसे इस कारण पुकारा जाता है कि उसमें प्रीति और सेवा करने के साधन उपलब्ध हैं। **'अबला'** नाम इस कारण प्रचलित हुआ कि नारी का शारीरिक बल पुरुष की अपेक्षा प्रायः न्यून होता है (अल्पं बलं यस्या सा)—नारी अपने केशों का विशेष विन्यास करती है, इसी कारण वह **'सीमन्तिनी'** भी कहलाती है। **'वधू'** वह है जिसका वहन किया जाता है अथवा जो विवाह करने योग्य होती है। नारी **'प्रदीपदर्शिनी'** इस कारण कहलाती है कि उसकी दृष्टि विपरीत रहती है—वह अधिक कार्यों में उल्टी ही दृष्टि से विचार करती है। नारी को **'वामा'** इस कारण कहते हैं कि वह प्रतिकूल बात करती है—जैसे, 'हां' के बदले 'ना'—साथ ही वह सौंदर्य को बिखेरती है (नयति सौन्दर्यम् इति वामा) और स्नेह का वमन करती है (वमति स्नेहं इति वामा)—

---

१. शतपथ ब्राह्मण—२, ५, २, २०-३, २; १, २०-८, ४, ४, ११
२. ऋग्वेद १, ४८, ५--१, ६८, ११--१, ११७, २०-३, ३३, १०-४, ५, ५-६, २८, ४
३. शतपथ ब्राह्मण—योषा हि वाक्—१, ४, ४, ४
योषा वै पत्नी—१, ३, १, १८
४. 'योषा योषित् योषिता च जोषा जोषिच्च जोषिता'—शब्द-रत्नावली।

देवी-पुराण[1] एवम् कलिका-पुराण[2] में कई स्थानों पर यह शब्द उपलब्ध होता है। जिसमें राग उत्पन्न हो, वह 'वनिता' कहलाती है। जो पति का सम्मान करे, वह 'महिला' नाम से सम्बोधित करने योग्य है। पूज्या होने के कारण भी स्त्री का नाम 'महिला' पड़ा (मह+इलच्+आ=महिला), जिसके अङ्ग प्रशंसनीय हों वह 'अंगना' 'जो भयशीला, कातर हो वह 'भीरू' जिसमें काम-वासना अधिक रहती हो वह 'कामिनी' और जिसकी दृष्टि में काम का आधिक्य हो वह 'वामलोचना' कहलाती है। नारी का एक पर्यायवाची शब्द 'प्रमदा' भी है। जो आनन्द से भर दे अथवा जिसमें छोटे-से-छोटे भाव से पुरुष को उत्तेजित कर देने की स्वाभाविक विशेषता पायी जावे, वह 'प्रमदा' कहलाती है। स्त्री को मान करना अधिक प्रिय है और वह स्वाभिमानिनी भी होती है, एतदर्थ वह 'मानिनी' कहलाती है। नारी के लिए 'सुन्दरी' शब्द के प्रचलित होने का कारण यह है कि उसके सौंदर्य और लावण्य को देखकर मनुष्य भावविभोर हो जाता है और उसका हृदय द्रवीभूत होने लगता है–(सु+उन्द=गीला करना, अर+ङीष=सुन्दरी)। निरुक्तकार का मत है कि नारी, पुरुष को भलीभाँति प्रसन्न करती है, इसी से उसका नाम सुन्दरी पड़ा।[3] जान पड़ता है कि यह ऋग्वेद के 'सूनरी' शब्द का ही विकसित रूप है।

जिसके साथ रमण किया जावे अथवा जो रमण करावे, वह 'रमणी' जिसमें रमण हो वह 'रामा', जो क्रोध करने वाली हो वह 'कोपना' जिसमें भाम (क्रोध) अधिक रहता हो वह 'भामिनी', जो क्रोध और आवेश में भयंकर रूप धारण करे वह 'चण्डी', जिसके पैर का ऊपरी भाग अधिक सुन्दर हो वह 'वरारोहा', जो नशे के कारण उन्मत-सी दिखायी देवे वह 'मतकाशिनी', जिसमें प्रशंसनीय गुण हों वह 'वर-वर्णिनी',[4] जिसका राजा के साथ अभिषेक हुआ हो वह 'कृताभिषेका', जो माता के रूप में पूजनीय हो वह 'महिषी', जो केवल भोग के लिए हो वह 'भोगिनी' और जिसकी चाह की जावे अथवा जो चाह करे वह 'कान्ता' कहलाती है।

---

१. 'वामं विरुद्धं रूपं तु विपरीतं तु गीतये।
वामेन सुखदा देवी वामा तेन मता बुधैः॥'—अध्याय ४६

२. 'या पुनः पूज्यमाना तु देवादीनां तु पूर्वतः
यज्ञभागं स्वयं धत्ते सा वामा तु प्रकीर्तिता।'—अध्याय ७७

३. 'सुष्ठुः नन्दयति इति नैरुक्ताः'—क्षीर स्वामी–अमर० ३, १, ५२,

४. 'शीते सुखोष्णसर्वांगी ग्रीष्मे या सुखशीतला।
भर्तृ भक्ता च या नारी साभवेत् वर्णिवनी॥'—अमरकोष–मनुष्य वर्ग

नारी में लालसा, इच्छा, चाह, चंचलता प्रबल होती है, अतएव उसे 'ललना' भी कहते हैं। स्त्री के लिए शतपथ ब्राह्मण[1] तथा कौषीतकि ब्राह्मण[2] में 'पत्नी' शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है। नारी, पुरुष की केवल इस लोक की ही नहीं, परलोक की भी सखी है। इस पत्नी शब्द में यही अर्थ गर्भित है।[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण में पत्नी पुरुष के शरीर की अर्धांगिनी मानी गयी है।[4] पुरुष का शरीर तब तक पूर्ण नहीं, जब तक कि उसके अर्ध अङ्ग को नारी आकर नहीं भरती ('पुमानर्द्धपुमांस्तावत् यावद् भार्या न विन्दति')–'सहधर्मिणी' नारी को तब कहा जाता है जब वह पुरुष के सभी धर्मों में साथ देती है।

जो धारण करने और पालन-पोषण करने योग्य हो, वह 'भार्या' कहलाती है। धर्मशास्त्रकारों ने इस शब्द का पत्नी के अर्थ में सर्वाधिक प्रयोग किया है। इस शब्द में 'भृ' धातु है जिसका अर्थ 'भृ' भरणे (भरण करने के अर्थ में) और 'भृ' धारणे पोषणे च (धारण और पोषण के अर्थ में) है। यह शब्द भर्ता का स्त्रीलिंग रूप है। सदाचारिणी और दीप्तिमती नारी को भी 'भार्या' कहा गया है।[5]

जिस नारी के नितम्ब बड़े हों वह 'नितम्बिनी', जिसके कुटुम्ब की पर्याप्त

---

१. (क) 'श्रियै वा एतद् रूपं यत्पत्न्यः'—शत० ब्रा० १३, २, ६, ७
   (ख) 'गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा'— ,, ३, ३, १, १०
२. (क) 'ग्रार्हपत्य भाजो वै पत्न्यः'—कौ० ब्रा० ३, ९
   (ख) 'अन्त भाजो वै पत्न्यः'—वही, १६, ७
३. 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'—पाणिनीय-४, १, १३
४. 'अथो अर्धो वा एत्र आत्मनः यत् पत्नी'—तै० ब्राह्मण-३, ३, ३, ५
५. (क) 'भया दीप्त्या आर्या-भार्या'—
      भा (दीप्ति) और आर्या (श्रेष्ठ गुण सम्पन्न)—भार्या
   (ख) 'भार्या जायाऽथ'—अमरकोषकार
   (ग) 'सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता'—महाभारत १, ७८, ३९-४३
   (घ) 'अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा'—वही, आदिपर्व ७४, ४०
   (ङ) 'नास्ति भार्या समो बन्धुर्नास्ति भार्या समा गतिः'—वही, शांतिपर्व १४४, १६
   (च) भर्तुम् योग्या या सा भार्या—पाणिनि
   (छ) भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च—शिवपुराण २, ३, ५४

वृद्धि हो चुकी हो वह 'कुटुम्बिनी', जो कुल का पालन करने वाली हो वह 'कुल-पालिका', पुरुष की एक पत्नी होते हुए जब अन्य स्त्री ब्याही जावे वह 'अध्यूढ़ा', जिस नारी के ऊपर सौत प्राप्त की गयी हो वह 'अधिविन्ना', जो स्वयं अपना वरण करे वह 'स्वयंवरा', जो पति को स्वीकार करे अथवा जिससे पति वरण किया जावे वह 'पतिवरा' और 'वर्या' कहलाती है। 'पुरन्ध्री' नारी वह है जो अत्यन्त सुन्दरी भी हो एवम् गुणयुक्त भी। शतपथ ब्राह्मण में पुरन्ध्री का विवरण प्राप्त होता है।[1]

नारी का एक अन्य पर्यायवाची शब्द 'जाया' भी पत्नी के साथ (पति) के यौन सम्बन्ध और उसकी प्रजनन शक्ति (जाति विकास की क्षमता) का ज्ञान कराता है।[2] पुरुष को जन्म देने वाली नारी है, इसी कारण वह 'जाया' कहलाती है (जायते स्यां सा जाया)—इस शब्द का प्रयोग भी ऐतरेय-ब्राह्मण,[3] शतपथ ब्राह्मण,[4] मैत्रायणी संहिता[5] और मनुस्मृति[6] में पाया जाता है। युवती नारी के लिए 'युवति' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद[7] तथा शतपथ ब्राह्मण[8] में सामान्य रूप से हुआ है।

हिन्दी-विश्वकोष के विद्वान् लेखक ने 'नारी' शब्द के पर्याय योषित्, स्त्री, अबला, योषा, सीमन्तिनी, वधू, प्रतीपदर्शिनी, वामा, वनिता, महिला, प्रिया, रामा, जनि, जनी, योषिता, जोषित, जोषा, जोषिता, धनिका, महेलिका, महेला, शर्वरी, योषीत, सिंदूर तिलका आदि दिये हैं।[9]

नारी का समाज में गौरव पूर्ण स्थान—'नारी' की उत्पत्ति एवं 'नारी और इसके पर्यायवाची शब्दों की व्युत्पति पर विचार कर लेने के उपरान्त 'नारी' के गौरव और महत्व की ओर ध्यान दिया जाय तो विदित होगा कि भारतीय साधकों, महर्षियों तथा मनीषियों ने नारी के सौंदर्य, उसकी कोमलता तथा मधुरता में

---

१. 'पुरन्ध्री योषित्येव रूपं दधाति तस्माद् रूपिणी युवतिः प्रियाभावुका'—श० ब्रा० १३, १, ६, ७
२. ऋग्वेद—१०, ३४, २
३. एत० ब्राह्मण—३, २३
४. शत० ब्राह्मण—६, ४, ४, १६
५. मैत्रा० संहिता—४, ८, १
६. 'जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः'—मनु ६, ८
७. ऋग्वेद—१, ११८, ५–२, ३५, ४
८. शत० ब्रा०—१३, १, ६, ६
९. हिन्दी विश्वकोष—एकादश भाग, पृ० ६६१

महाशक्ति का प्रकाश देता है। उनके मतानुसार नारी शक्ति स्वरूपिणी है, क्योंकि उसमें वीर्य और ऐश्वर्य, सौंदर्य और माधुर्य, स्नेह और ममता, प्रेम और त्याग आदि अनेक कोमल तथा शान्त गुणसमूह विद्यमान हैं। नारी के अन्तर में अनन्त शक्ति का स्रोत है, इसी से वह गर्भ में पुरुष को धारण करती है और पौरुष सम्पन्न महापुरुषों को जन्म देती है। इसी से वह पुरुष और पौरुष की जननी मानी जाती है। उसी की शक्ति से ही विश्व की समस्त शक्तियों का जन्म होता है। 'जब ऐश्वर्य, विक्रम, तेज निर्द्वन्द्व और सहज भाव से रहते हैं, उनमें कोई चंचलता, रुक्षता और कदर्यता नहीं रहती और अपनी प्रतिद्वंद्विनी शक्तियों के प्रति हिंसात्मक संग्राम पर ज्वालामय नहीं हो जाते, तभी वे सौंदर्य-माधुर्य मण्डित होते हैं और तभी उनमें नारीत्व का विकास होता है।[1] इसी विकास के कारण ही नारी का गौरव है और है समाज में पूज्य स्थान।

'भारतीय नारी के सभी स्वरूपों में एक सात्विकता थी, एक सौम्यता थी, एक दिव्यत्व था, जो समाज के शिरोभाग को विभूषित करता था; और इस स्थान को प्राप्त करने के लिये उसे कोई संघर्ष नहीं करना पड़ता था, वरं अपने प्राकृतिक गुणों की सहज अभिव्यक्ति में स्वभाव से ही उसे वह पुण्यपद प्राप्त था'।[2]

पुराण-साहित्य की मान्यताओं के अनुसार सृष्टि के आदिकाल में जब सृष्टा ने विश्व के निर्माण की इच्छा की, तब उन्होंने स्वयं को दो रूपों में विभक्त कर लिया—एक ब्रह्म, दूसरी शक्ति (शक्तिरूपिणी प्रकृति)। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के अनुसार यह समस्त जगत् इसी शक्ति की ही रचना है और उसका सम्बन्ध ब्रह्म के प्रत्येक स्वरूप के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। देवी-भागवत के अनुसार शक्ति ही ब्रह्माण्ड की रचना करती है (शक्ति करोति ब्रह्माण्डम्, १।८-३७)। ब्रह्मा में राजसी तथा सृष्टि शक्ति, विष्णु में सात्विकी शक्ति तथा पालन शक्ति, शिव में तामसी शक्ति तथा संहारशक्ति, सूर्य में प्रकाशिका शक्ति, अग्नि में दाह-शक्ति तथा वायु में प्रेरणा शक्ति—ये सब उसी आद्याशक्ति के ही रूप हैं। विश्व की प्रत्येक शक्ति में वही आदिशक्ति विद्यमान है। वही अखिल ब्रह्माण्ड का सर्जन, पोषण और संहार करने वाली महाशक्ति है। 'सर्वं शक्तिमयं जगत्'—यही अंतिम सत्य है। तैत्तिरीय उपनिषद् (१।११) भी पहले 'मातृदेवो भव' कहकर फिर 'पितृदेवो भव', 'आचार्य देवोभव' कहते हैं। शतपथ-ब्राह्मण भी पितृमान, आचार्यवान् से पूर्व 'मातृमान्' शब्द का प्रयोग करते हैं—'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'। भगवान की स्तुति

१. 'कल्याण'—नारी विशेषांक; पृ० ५३
२. कल्याण—हिन्दू संस्कृति अंक; पृ० ६२५

करते समय सर्वप्रथम इसी जगत्-जननी महाशक्ति की वन्दना की जाती है। 'दुर्गा-सप्तशती' में नारी के विविध रूपों की वन्दना करते हुए इसी महाशक्ति को विश्वात्मिका तथा विश्वेश्वरी बतलाया गया है।[1] भारतीय मूर्ति-विधान में सप्त मातृकाओं की तथा शास्त्रकारों ने षोड़श मातृकाओं[2] की कल्पना की है। भारतीय समाज में आरम्भ से ही शक्ति की उपासना प्रचलित है।

नारी ने हमारी वैदिक-सभ्यता, संस्कृति तथा साहित्य के निर्माण में भी महत्वपूर्ण योग दिया है। नारी ही आदिम-संस्कृति का उद्गम स्थल है और नारी ही सृष्टि की उत्पादिका, प्रतिपालिका और गार्हस्थ स्नेह-सुख की सरिता का स्रोत है। वास्तव में नारी है ही प्रेरणाशक्ति का नाम और पुरुष संघर्ष-शक्ति का, और प्रेरणा एवं संघर्ष का संगम ही पूर्ण जीवन है। 'पुरुष का जीवन संघर्ष से आरम्भ होता है और स्त्री का आत्म-समर्पण से, जीवन के कठोर संघर्ष में जो पुरुष विजयी प्रमाणित हुआ, उसे स्त्री ने कोमल हाथों से जयमाल देकर, स्निग्ध चितवन से अभिनन्दित करके और स्नेह प्रवण आत्म-निवेदन से अपने निकट पराजित बना डाला।'[3] भारतीय साधकों ने इसी विश्वविधायनी महाशक्ति का नारी-तत्व के रूप में ही साक्षात्कार किया था। 'शक्ति-संगम तंत्र' के ताराखण्ड में शिवजी का कथन है कि नारी ही त्रैलोक्य की माता, त्रैलोक का प्रत्यक्ष विग्रह, त्रिभुवन का आधार और शक्ति की देह है। उसके समान न सुख है, न गति है, न भाग्य है, न राज्य है, न तीर्थ है, न योग है, न जप है, न मंत्र और न धन है। उसके समान न कभी कुछ था, न ही है और न होगा।'[4]

---

१. नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृति भद्रायै नियताः प्रणताःस्मताम् ॥'—'दुर्गा सप्तशती' अ० ५।६-८२

२. 'गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया,
देवसेना, स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः,
शान्तिः पुष्टि धृतिस्तुष्टि एते षोडष मातृकाः।'—'संस्कार भास्कर'

३. 'श्रृंखला की कड़ियाँ'—सुश्री महादेवी वर्मा; पृ० २१।

४ 'नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देह स्वरूपिणी ॥'
....
'न च नारी समं सौख्यं न च नारी समा गतिः।
न नारीसदृशं भाग्यं न भूतं न भविष्यति ॥
न नारी सदृशं राज्यं न नारी सदृशं तपः।
न नारी सदृशं तीर्थं न भतं न भविष्यति ॥'—तारा खण्ड-१३, ४४-४६-४८

मानव जाति की सभ्यता एवं सामाजिक विकास का मूल स्रोत नारी है। उसी के कारण संसार की सबसे अद्भुत (यद्यपि आज उपेक्षित) संस्था गृह का जन्म हुआ, परिवार बने और समाज विकास का क्रम चला। समस्त विश्व की नारी मूल उद्‌भावनी शक्ति का प्रतीक है।[1] सृष्टि के आदिकाल से 'कहा न तिरिया कर सके' और 'का न करै अवला प्रबल' के आधार पर नारी का महत्व अखण्ड रहा है। 'नर वपन कर सकता है, सर्जन नहीं।' नारी के विना पुरुष पंगु है। नारी ही विश्व की शक्ति है और पुरुष का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके गर्भ में प्रतिष्ठित है। आस्वाद्य, आस्वादन और आस्वादक—इन तीनों गुणों के कारण वह आकर्षण का केन्द्र भी है और आकर्षित भी होती है। नारी रूप में सुकुमारता, मादकता, मृदुता, वशीकारिता, सुन्दरता, सरसता, एवं आकर्षण नर से अधिक होता है। उसके ये ही गुण सृष्टि-वृद्धि के कारण हुए हैं। उसके दर्शन पाकर पुरुष का उत्साह वढ़ा और उसके अंग-अंग में स्फूर्ति उत्पन्न हो गयी।[2]

नारी प्राणदात्री है। नारी की प्रेरणा पुरुष को महान कलाकार, महान कवि और महान उद्योगी वना सकती है। वह समाज में सरसता का संचार कर सर्जन कार्य को सुचारु रूप से संचालित करती है। पुत्री बनकर वह केवल एक कुल की कीर्ति नहीं बढ़ाती, अपितु दो कुलों को गौरवान्वित करती है। अपनी सहज सरसता के कारण वह दो अपरिचित कुलों में घनिष्ट सम्वन्ध स्थापित कर देती है। जब वह भगिनी रूप में वन्धु के सम्मुख आकर राखी बांधती, तिलक लगाती है, तो हृदय में एक नवीन उल्लास, प्रेरणा और उत्साह का संचार कर देती है। जव वह नर के सम्मुख नारी रूप में आती है, तो वह नर के आधे रूप को पूर्ण करने के लिए अर्धांगिनी के वेष में अवतरित होती है। मनुष्य नारी को प्राप्त करने के लिए अपने प्राणों का मोह त्याग करके भी अत्यधिक कठोर और भयंकर-से-भयंकर कार्य करने को संहर्ष तैयार हो जाता है।

नारी में मातृत्व की प्रधानता रही है। मातृ-भावना में पूर्ण दैवी गुणों को पाकर ही पुराणों में अनेक स्थानों पर माता की महिमा का यशोगान किया गया है ('माता न पूजिता येन, तस्यवेदा निरर्थका:')—माता-पिता से गौरव में दस गुनी अधिक मानी गयी है ('पितुर्दश गुणा माता गौरवेणातिरिच्यते')। माता का स्थान

---

१. 'कल्याण'—श्री रामनाथ 'सुमन'–वर्ष ३६, अंक १०; पृ० १२६२।
२. श्रीमद्‌भागवत्—३, १२, ४६-५२

वस्तुतः स्वर्ग से भी ऊंचा माना गया है।[1] नारी के मातृत्व में वह अनन्त वात्सल्य है जो समस्त संसार को सिक्त किये हुए है। 'जीवन के अरुणोदय में नारी ही जननी के रूप में सात्विक, राजसिक, और तामसिक संस्कारों का जो वीज वालक के जीवन-क्षेत्र में वपन करती है, वही वीज पुष्पित और पल्लवित होकर जगत्-जीवन का कारण बनता है।'[2] नारी जब जननी बनकर सन्तान के सम्मुख आती है तो वह अपने समस्त स्नेह को पयःपान द्वारा सन्तान को पिलाकर स्नेह का सर्वोच्च अनुपम आदर्श उपस्थित करती है। वह स्वयं गीले में सोकर सन्तान की रक्षा करती है, स्वयं भूखी रहकर सन्तान को भोजन जुटाती है, प्यासी रहकर उसकी पिपासा शान्त करती है। राम-कृष्ण, वुद्ध-महावीर, भीम-अर्जुन, प्रताप-शिवाजी, गांधी-जवाहर आदि महान् विभूतियों को इसी मातृत्व रूप ने जन्म दिया है। नारी के सर्जन, पालन तथा प्रलय की शक्तियों से परिपूर्ण होने के कारण ही शास्त्रों तथा पुराणों में नारी को 'अवध्या' कहा गया है। किसी भी वर्ग की नारी क्यों न हो, उसे मारना घोर पाप माना गया है।

विश्व में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें धर्म के अधिकांश अनुष्ठान ऐसे हैं जो नारी के विना पूरे नहीं होते। यदि गार्हस्थ्य के रक्षण और पर्यवेक्षण का भार नारी अपने ऊपर न ले तो पुरुष को उपार्जन करने का समय ही न मिल सकेगा। 'काम' सम्वन्धी समस्त क्रियाओं की आधार-शिला नारी ही है। योग की चरम सीमा तथा सिद्धि की प्राप्ति में भी स्त्री आवश्यक है। सूक्ष्म दृष्टि से हम विचार करें तो परस्पर सम्बन्ध से नारी ही मोक्ष में भी प्रयोजक है—कारण, नारी विषय सेवन की प्रमुख वस्तु है और विषय की तृप्ति के पश्चात् ही विषयों से स्थायी वैराग्य होता है। यही विराग अन्त में मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने वाला सिद्ध होता है।

युग-युगान्तर से दलित, पीड़ित और अपमानित होने पर नारी सदैव शक्ति की साकार प्रतिमा रही है। महर्षि गौतम की पत्नी अहिल्या को देवाधिपति इन्द्र ने ठगने का प्रयत्न किया, परिणामस्वरूप वेचारी नारी को प्रायश्चित रूप में पत्थर के रूप में वदल जाना पड़ा; मर्यादा-पुरुषोत्तम अयोध्यापति राम ने परम पावन सीता को शुद्ध-पवित्र जानते हुए भी परित्याग किया; अपने अपूर्व मातृ-प्रेम के कारण लक्ष्मण ने अपनी नव-विवाहित पत्नी (उर्मिला) की अवहेलना की; महाभारत की द्रौपदी

---

१. 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'।
२. कल्याण—'नारी विशेषांक'; पृ० २३५।

को अपने निकट कुटुम्बियों के सम्मुख अपमानित और लज्जित होना पड़ा; अपने पिता दक्ष के अनादर के कारण सती को यज्ञ की लपटों में भस्म होना पड़ा; विश्व को अहिंसा और त्याग का महान् उपदेश देने वाले भगवान गौतम बुद्ध और पराक्रमी राजा नल अपनी धर्मपत्नी को अकेला बिलखता छोड़ जंगल को चले गये। इतना सब कुछ होते हुए भी नारी के गौरव और स्नेह (पतिप्रेम) में किसी प्रकार की कमी नहीं आई है। नारी ने सदैव प्रेम को संवरण करने के लिए अपने कर्तव्य का पालन किया है।

'भारत वासियों के सब आदर्श स्त्री-रूप में पाये जाते हैं। विद्या का आदर्श सरस्वती में, धन का लक्ष्मी में, पराक्रम का महामाया या दुर्गा में, सौन्दर्य का रति में, पवित्रता का गंगा में। यहाँ तक कि भारतवासियों ने परम शक्ति शाली भगवान को भी 'जगज्जननी' के रूप में देखा है।[1]

हमारी इस पवित्र भूमि में पार्वती, शतरूपा, अरुन्धती, सावित्री, आत्रेयी, अनुसूया, दमयन्ती, सीता, शैव्या, तारा, उत्तरा, मन्दोदरी, सुभद्रा, सुलोचना, पद्मिनी, सारंधा, नीलदेवी, रूपकुमारी, शाड़िली, राजबाला आदि अनेक महिमाशालिनी सतियों एवं पतिव्रता देवियों ने जन्म धारण किया है। हमारे इस देश में ही घोषा, विश्व-वारा, अपाला, ममता, उशिज, रोमजा, सूर्या, लीलावती, गार्गी, वाचकन्वी, कास्कृ-तस्ना, रूसा (चिकित्सा में), माणकूसी (चित्रकला में) प्रभृति विदुषी महिलाएँ हुई हैं। महिलाओं ने आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के मैदान में अपनी मातृभूमि, सतीत्व और धर्म की रक्षा के लिए अपूर्व वीरता दिखायी है। वीर कन्या और वीरांगनाओं में आज भी विद्युल्लता, ताजकुंवरी, रूपसुन्दरी, कर्मदेवी, ताराबाई, दुर्गावती, कलावती, किरणदेवी, हाड़ी रानी, रूपाली, सुन्दरबाई, वीरमती और वीर माताओं में देवलदेवी, कमलावती, मैना, कौशल्या, सुमित्रा, सुनैना, विदुला, जीजाबाई को स्मरण करते हैं। भारत की नारियाँ न केवल अपने घर की चहारदीवारी में बन्द रहीं, किन्तु वे अनेक अवसरों पर त्याग और बलिदान की साकार मूर्ति बन राष्ट्र की प्रेरक शक्ति के रूप में सामने आई। राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात उनकी विधवा रानी कर्णवती ने अपूर्व साहस, वीरता और धैर्य के साथ युद्ध में भाग लिया था। कोल्हापुर की रानी ताराबाई, इन्दौर की महारानी अहिल्याबाई, झांसी की सुप्रसिद्ध वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई की नीति-कुशलता और पराक्रम न केवल इस देश के, अपितु विश्व के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखी जाने वाली वस्तुएँ हैं।

---

१. स्त्रियों की स्थिति—चन्द्रावती लखनपाल; पृ० १८

'सीता और सावित्री-सी सती-साध्वियों तथा भारतीय नारी के वीरतापूर्ण चरित्र की विमल-गाथा, जहाँ इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों से अंकित हुई हैं, वहाँ साहित्य, कला एवं विज्ञान आदि के क्षेत्र में उनकी गणना प्रच्छन्नाकाश में प्राय: लुप्त तारिकाओं-सी ही रही है। फलयुक्त वृक्ष की भाँति, जिसकी विनत डालियाँ, पत्ते, फूल आदि सब मूल को आच्छादित किये रहते हैं, मातृत्व एवं पत्नीत्व के आँचल तले निज व्यक्तित्व को ढंके रखने में ही नारी ने अपना गौरव माना है।[1] प्रख्यात नीतिकार महात्मा विदुर ने नारी को सौभाग्यशालिनी, पूजा के योग्य, पवित्र, घर की लक्ष्मी आदि गौरवपूर्ण विशेषणों से अलंकृत कर उसकी रक्षा करने की बात कही है।[2]

इन्हीं अनेक गुणों तथा विशेषताओं के कारण नारी-गौरव के सम्बन्ध में महर्षि मनु की लेखनी से सहसा ये अमर शब्द—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' निकल पड़े थे। इन्हीं शब्दों के भीतर नारी का समस्त गौरव सन्निहित है। अतएव श्री, शक्ति, मेधा, क्षमा, दया, त्याग, सेवा और प्रेम की साक्षात प्रतिमा नारी के गौरव-ज्ञान में जितने गीत लिखे जावें, थोड़े हैं।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नारि जाति के प्रति अत्यधिक श्रद्धा थी। इसी कारण अपने 'मानसी' गीत में नारी को सम्बोधित करते हुए उन्होंने 'नारी को भगवान की अद्भुत कृति' बतलाया है। आधुनिक कवि भी नारी को एक ऐसी शक्ति के रूप में देखता है जो सृष्टि के सर्जन, संहार, पालन और कल्याण की मूल कारण है। कवि का यह विश्वास है कि नारी-शक्ति ने ही अपने को विभाजित कर पुरुष का निर्माण किया है। 'नारी ने पुरुष को ओज अंश प्रदान किया और स्वयं के लिए रख ली माधुरी; उसके लघु शरीर में सर्जन, पालन और संहार की समष्टि है; उसके अधरों में सुधा, अंचल में पयस्विनी और नेत्रों में विष और अमृत है; उसके एक संकेत से सृष्टि और एक से प्रलय हो सकती है; जरा और मृत्यु, यौवन और जीवन, प्रलय और सृष्टि उसके दृष्टि परिवर्तन के ही रूप हैं।[3] 'उसका वरदान पीड़ा को सुख

---

१. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ–'भारतीय नारी की बौद्धिक देन'—सुश्री सत्यवती मल्लिक; पृ० ६७०

२. 'पूज्जनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्ताः तस्माद्रक्ष्या विशेषतः॥'

३. 'जरा, मृत्यु, यौवन, जीवन औ प्रलय, सृष्टि, अवसान, विहान
तेरी चितवन पर उठते हैं, सुख-दुःख के कितने तूफान।'—'जादूगरनी'-श्री हरिकृष्ण प्रेमी पृ०; ५९।४

और भय तथा मृत्यु को अमरता में परिवर्तित करने वाला है। उसकी शुभ दृष्टि भुक्ति-मुक्ति प्रदायनी है और उसी के कारण सृष्टि अमर है।[1] 'नारी स्वर्गीय अलौकिक शक्ति का अवतार है, सूर्य और चन्द्र उसके ज्योतिमान नेत्र हैं, आकाश उसका वस्त्र है, तारागण शृङ्गार के फूल हैं और विद्युत उसका अस्त्र है।'[2]

'निराशा के अवसर पर नारी आशा और उत्साह का संदेश लेकर पुरुष के सम्मुख उपस्थित होती है और जीवन-जलनिधि से बहुमूल्य मुक्ता निकालने का प्रयत्न करती है; वह पुरुष की पाशविक वृत्तियों का शमन करके उसमें मानवता का समा-वेश करती है; वह गंगा के समान पवित्र और त्रिभुवन को पवित्र करने वाली है। जहाँ उसका प्रवाह है, वहीं तृप्ति है; उसी के तट पर तीर्थ है। उसके पावन सरल स्नेह में स्नान करने के पश्चात् ज्ञान, ध्यान, पूजा, सेवा, व्रत, जप, तप, दानादि करने की आवश्यकता नहीं रहती। वह पतित पावनी है। उसके स्नेहपूर्ण परिचय को पाकर मानव नयन-जल से अपने कल्मषों को धोकर सर्वथा निर्मल हो जाता है। इसी कारण जगत्, श्रद्धा, भक्ति और प्रेम के पुष्प अर्पित कर उस पवित्र और मंगलमयी की उपासना करता है।'[3] सुश्री महादेवी वर्मा के विचार से तो 'पुरुष समाज का न्याय है, स्त्री दया; पुरुष प्रतिशोधमय क्रोध है, स्त्री क्षमा; पुरुष शुष्क कर्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति और पुरुष बल है, स्त्री हृदय की प्रेरणा—ऐसा एक भी सामाजिक प्राणी न मिलेगा जिसका जीवन, माता, पत्नी, भगिनी, पुत्री आदि स्त्री के किसी-न-किसी रूप से प्रभावित न हुआ हो।'[4] निस्सन्देह 'नर यदि भर्ता है तो नारी भार्या, नर यदि गृहपति है जो नारी गृहलक्ष्मी, नर यदि वेत्ता है तो नारी विद्या, नर यदि मायी है तो नारी माया, नर यदि बन्धक है तो नारी शृङ्खला, नर यदि मोचक है तो नारी मुक्ति, नर यदि कर्ता है तो नारी क्रिया।[5] इस प्रकार सृष्टि

---

१. 'भुक्ति-मुक्ति देती है दोनों माँ तेरी शुभ दृष्टि,
जीती है तुमसे ही जननी अमर हुई सब दृष्टि।'—'शक्ति'—श्री मैथिलीशरण गुप्त; पृ० २८

२. 'रवि शशि हैं आलोकित आँखें, यह विराट है अंबर वस्त्र।
हैं शृङ्गार सुमन ये तारे, बिजली महाशक्ति का अस्त्र।'—'जादूगरनी'—श्री हरिकृष्ण प्रेमी पृ०; ६।१४

३. 'आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना'—डा० शैलकुमारी; पृ० ६१।६२।

४. 'शृङ्खला की कड़ियाँ—सुश्री महादेवी वर्मा; पृ० ७

५. 'कल्याण'— नारी विशेषांक पृ०; १०९-१०।

के आदिकाल से हम नारी को विभिन्न रूपों में गौरवास्पद एवम् पुरुष से जुड़ी हुई पाते हैं।

कला और उसका वर्गीकरण—मनुष्य एक समाजिक प्राणी है। समाज में जीवन-यापन करते हुए वह विभिन्न प्रकार के सुख-दुःख, आशा-निराशा, हर्ष, विषाद, आश्चर्य और भय के अनुभव करता है। उसके अवचेतन मन पर उसके चतुर्दिक वातावरण के चित्र अनजान में बनते रहते हैं। अतएव चिरकाल से अपने हृदयस्थ भावों एवम् मनोवेगों को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त करने के लिए वह व्यग्र रहा है। मनोभावों को व्यक्त करने की यही शाश्वत भावना कला की जननी मानी गयी है और मानव मन में अंकित विभिन्न भावनाओं की अभिव्यक्ति की विविध विधियों को ही 'कला' की संज्ञा दी गयी है। क्रोचे 'मानसिक अभिव्यक्ति' को कला मानता हैं (All Art is an Expression)। डा० श्यामसुन्दर दास का कथन है कि 'जिस समय चैतन्य मनुष्य पर वाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की छाप पड़ने लगी, लगभग उसी समय उसमें उसके भिन्न-भिन्न प्रभावों के अभिव्यक्त करने की क्षमता आने लगी थी। कालानुक्रम से अभिव्यंजना की शक्ति का विकास होता गया और साथ ही अभिव्यंजना की भिन्न-भिन्न विधियाँ भी प्रतिष्ठित होती गयीं। अभिव्यंजना की इन्हीं विधियों को 'कला की संज्ञा दी गयी।'[1] कवीन्द्र रवीन्द्र के अनुसार जो सत्य है, जो सुन्दर है, वही कला है। सृष्टि में चारों ओर एक चिर-सौंदर्य परिलक्षित हो रहा है, एक चिरन्तन-सत्य का आभास मिल रहा है, इसी का व्यक्तीकरण, इसी को कल्पना के उन्मुक्त पंखों द्वारा चारों ओर प्रकट कर देना ही 'कला' है।[2] चराचर की अन्तरात्मा से वहकर जब भावसौरभ साहित्यकार को अपने भीने झोंके से छू देता है और जब वह उस स्पर्श को अपने में सम्हाल न सकने के कारण व्यक्त कर देता है, तभी साहित्य की सृष्टि होती है। जिस आकृति (Form) में साहित्य हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है, वह साहित्य का कौशल कहलाता है।[3] टालस्टाय अभिव्यक्ति-मात्र को 'कला' नहीं मानता। उसके अनुसार 'मानव-जीवन की अनुभूतियों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति जिसके द्वारा अन्य सदस्यों में भी तत्सदृश अनुभूतियाँ जाग्रत कर सकें, और उनके द्वारा रस-संचार भी कर सकें, 'कला' है। है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य-कला की परिभाषा देते हुए कहा था कि

---

१. 'साहित्यालोचन'—डा० श्यामसुन्दर दास (आठवीं आवृत्ति); पृ० ३
२. 'आधुनिक काव्य में सौंदर्य-भावना'—कु० शकुन्तला शर्मा; पृ० २१
३. 'साहित्य कला'–उपसंहार में —डा० विनयमोहन शर्मा

'कविता द्वारा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।' इस रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह की भावना ही समस्त कलाओं का मूलाधार माना जाता है। राग मनुष्य की प्रमुख प्रवृत्ति है, जो मानवता के रक्त के साथ संचरित होती है और जब तक मानव, मानव है तब तक यह राग उसकी सम्वेदना का प्रमुख अंग है।[१]

तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो 'कला' एक ऐसी अखण्ड अभिव्यक्ति है जिसका किसी भी प्रकार से वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध कलाशास्त्री क्रोचे का भी यही मत रहा है। उसने तो ऐसी सम्पूर्ण पुस्तकों को जला देने की बात कही थी, जिनका सम्बन्ध कला के वर्गीकरण से हो—किन्तु यूरोप के एक कलाशास्त्री हीगेल ने उपकरण, सामग्री तथा उपयोगिता के विचार से 'कला' का विभाजन 'उपयोगी-कला' और 'ललित-कला' के नाम से किया है। डा० श्यामसुन्दर दास ने भी 'कला' के इन दो भेदों को स्वीकार कर अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में इनका विशद् वर्णन किया है।[२] उपयोगी-कलाओं के अन्तर्गत वे समस्त कलाएं आवेंगी, जिनका हमारे दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है—जैसे, कुम्हार बढ़ई, जुलाहा, लुहार, सुनार आदि का कार्य; ये हमारे भौतिक सुखों, उपयोगों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। ललित-कलाएँ वे हैं जिनका हमारे दैनिक जीवन से इतना गहरा सम्बन्ध नहीं है जितना मानसिक और लोकोत्तर जीवन से। ये कलाएँ हमें कुछ क्षणों के लिए एक ऐसी लोकोत्तर अवस्था में पहुँचा देती हैं जो 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' माना गया है।

रचनाओं के वस्तु-पक्ष के आधार पर ही 'ललित-कला' का वर्गीकरण पाँच भागों में किया गया है—(१) वास्तुकला, (२) मूर्तिकला, (३) चित्रकला, (४) संगीत-कला, और (५) काव्य-कला। स्व० जयशंकर 'प्रसाद' कविता को कला के अन्तर्गत नहीं मानते थे—उनके विचार से तो कविता विद्या है जबकि कला एक उपविद्या। फिर कलापूर्ण कविता हो सकती है और कविता की कला भी, किन्तु कविता, कला से उत्कृष्ट वस्तु है।[३] आचार्य शुक्ल के मतानुसार भी 'यदि कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है अर्थात् मनोरंजन या उपभोग-मात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए।'[४] वास्तव में 'काव्य का मूल उद्देश्य भी अन्य कलाओं के उद्देश्य

१. 'साहित्य-शास्त्र'—डा० रामकुमार वर्मा पृ०, १६।
२. 'साहित्यालोचन'—डा० श्यामसुन्दर दास पृ०; १७।
३. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'—स्व० जयशंकर प्रसाद; पृ० १०-११।
४. 'चिन्तामणि'-भाग १—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० २९३।

से भिन्न या अधिक होता है जिनमें कि तात्विक पक्ष का महत्व हम कम कर देते हैं। कलाओं का उद्देश्य मनोरंजन या मन को चमत्कृत करना है जबकि काव्य का उद्देश्य मन का संस्कार करना, सत्य का अनुसंधान करना, मानव-जीवन की सांस्कृतिक प्रगति करना, भाव-सम्प्रेषण करना और संवेदनशीलता बढ़ाना, वैचारिक क्रान्ति करना और विचार पर प्रहार करना है। ये उद्देश्य 'ललित कला के सुकुमार हाथों से पूरे नहीं हो सकते'।[1]

काव्य-कला एवम् सौंदर्य—ललित-कलाओं में 'काव्य-कला' ही सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है, क्योंकि मस्तिष्क पर इसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है और वह विचार-तत्व को ऐन्द्रिक (Sensuous) रूपों में अभिव्यक्त कर पूर्णता की उपलब्धि करने में समर्थ है। काव्य-कला में पाठक एवम् श्रोता के भावों को आन्दोलित करने तथा 'काव्यानन्द' के स्वर्गीय सुख का अनुभव कराने की शक्ति है। इसी 'काव्यानन्द' को भारतीय-चिन्तकों ने 'ब्रह्मानन्द सहोदर' माना है। राजशेखर ने उक्ति-विशेष को तथा आचार्य विश्वनाथ ने 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' को ही काव्य की संज्ञा दी है। 'रस-गगाधर' के कर्ता पंडितराज जगन्नाथ रमणीय अर्थ को प्रतिपादन करने वाले वाक्य ('रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्') को काव्य मानते हैं। रमणीय अर्थ वही है जिसके ज्ञान से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, क्योंकि अलौकिक आनन्द ही काव्य का रस है और इसी कारण ही यह कहा गया है कि बुद्धमानों का समय काव्यशास्त्र-विनोद में कटता है ('काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्')।

भारतीय-साहित्य में आनन्द का प्रतिशब्द 'रस' है। उपनिषदों में भी परमात्मा को 'रस' कहा गया है—(रसो वै सः) और इसी रस से समस्त जीव आनंदित होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में जगत् के समस्त पदार्थों का कारण, आधार और लय, आनन्द माना गया है। इन्हीं दोनों अन्योन्याश्रित रस और आनन्द की प्राप्ति के उद्देश्य से ही काव्यकार कल्पना के सहारे अपने काव्य में सौंदर्य की सृष्टि करता है। वस्तुतः कलात्मकता सौंदर्य से उठती है और साहित्य की उन समस्त दिशाओं में छा जाती है, जिनका सम्बन्ध अन्तर्जगत् की कल्पना और भावना से है।'[2] कल्पना-शक्ति ही की सहायता से भावयित्री प्रतिभा (जिज्ञासा-भावना) वस्तु में सौंदर्य का अंकन करती है और कारयित्री प्रतिभा (निर्माण-भावना) उस निर्माण में सौंदर्य की स्थापना करती है। यही सौंदर्य-प्रेरणा (Aestheic Impulse) कला में मादकता भरती है। कलाकार सदैव अपनी कला का प्रदर्शन सृष्टि की मनोरम वस्तु की

१. 'कला, साहित्य और समीक्षा'—डा० भगीरथ मिश्र; पृ० ४।
२. 'साहित्य-शास्त्र'—डा० रामकुमार वर्मा; पृ० १९।

अभिव्यक्ति करने में करता आया है। सौंदर्य रिझाने वाला होता है और नेत्र उस सौंदर्य पर रीझने वाले होते हैं।[1] आचार्य शुक्ल ने हमारी अन्तश्चेतना की तदाकार आनन्दमय परिणति को ही सौंदर्य माना है।

'कलाकार युग-युग से सौंदर्य को प्यार करता आया है। उसकी सौंदर्यानुभूति कभी अजंता और एलोरा की मूर्ति बनकर प्रकट हुई, तो कभी एथेंस, यूनान एवं रोम की बोलती प्रतिमा बनकर आयी। क्या हम कभी भूल सकते हैं लियोनार्डो-द-विन्सी की मोनारिलसा को ! होमर के 'इलियड' में हैलेन, वाल्मीकि में द्रौपदी, कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शकुन्तला, वर्ड्सवर्थ की कविताओं में लुसी और अनातोले फ्राँस की 'थोयस' में थाया बनकर कौन प्रकट हुआ—सौंदर्य।[2] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कला के मूल में सौंदर्य-भावना की प्रधानता है। रवीन्द्र बाबू ने भी सौंदर्य-भावना को कला का मूल माना है। सौंदर्यशास्त्र के विद्वानों का कथन है कि सौंदर्य-बोध से सौन्दर्याभिव्यंजन के लिए आकुल भावुक हृदय की सौन्दर्याभिव्यक्ति की रमणीय प्रणाली का ही नाम वस्तुतः 'कला' है। विश्व के प्रायः सभी कलाविद् इस बात से सहमत हैं कि कला सौंदर्य की साधना है और इस सौंदर्य की अभिव्यंजना ही कला का प्राण-तत्व है। यद्यपि 'सौंदर्य' शब्द एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है और मानव की मूल एवं सरलतम अनुभूति होने के कारण उसे शब्दों के घेरे में बांधना सम्भव नहीं है, तथापि सौंदर्य काव्य का एक अनिवार्य उपकरण अवश्य है। अभिनव गुप्त तो सौंदर्य को ही 'काव्य की आत्मा' घोषित करता है। 'सुन्दर' शब्द में ष्यञ् प्रत्यय जोड़ने से सौन्दर्य शब्द बनता है। कोषकार वाचस्पत्य ने उसको 'सु' उपसर्ग सहित 'उन्द' (संज्ञा) धातु से 'अरन' प्रत्यय जोड़कर सिद्ध किया है। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभकार ने 'सुन्दर' की उत्पत्ति मूलधातु 'उन्द' में 'अरन' प्रत्यय जोड़कर सिद्ध की है—अर्थात सुन्दर वह है जो नेत्रों को प्रिय लगे।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि सौंदर्य में आकर्षण होता है। महाकवि माघ के अनुसार तो सौंदर्य वही है जो क्षण-क्षण में नवीनता धारण करे।[3] कुछ विद्वान्

---

१. 'रूप रिझावन हारन वह, ये नैना रिझवारे'—बिहारी रत्नाकर-दोहा ६८२।

२. 'सरस्वती संवाद' (जुलाई १९६०)—'साहित्यकार और नारी-सौन्दर्य'—श्री गौरीशंकर; पृ० ३२

३. 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'—शिशुपाल-वध; ४, १७
'रावरे रूप की रीति अनूप
नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारिये'—घन आनन्द

(सुकरात, अरस्तू, होगार्थ, लिबनिज, ह्यूम, बर्क, हरबर्ट, स्पेंसर आदि) इस सौंदर्य को वस्तुगत् अथवा भौतिक (Objective) मानते हैं। उनके अनुसार सौंदर्य किसी आध्यात्मिक जगत् की वस्तु न होकर किसी एक सुन्दर, सुगठित पदार्थ में ही विद्यमान रहता है और समान रूप से सबको प्रभावित करता है। कुछ अन्य विद्वान् (प्लेटो, प्लोटीनस, आस्कर वाइल्ड, काण्ट, हैगेल, क्रोचे, रस्किन, शैली, कीट्स आदि) उसे पूर्णतया मानसिक एवं आध्यात्मिक जगत् की ही वस्तु मानते हैं।

काव्य-कला, सौन्दर्य तथा नारी—जहाँ कला के मूल्य में सौंदर्य-भावना की प्रधानता रहती है, वहाँ भरत मुनि के अनुसार कला का मूल उद्देश्य सुख और विश्रान्ति है, क्योंकि संसार में सभी सुख भी कामना करते हैं (सर्वः प्रायेण लोको यं सुखमिच्छंति सर्वदा) और इस सुख का मूल-स्थान है नारी (सुखस्य च स्त्रियो मूलं, नाना शील धराश्चताः—भरत)। चिर आकर्षणमयी तथा प्रेम की परिपूत प्रतिमा नारी सृष्टि की कोमलतम रचना मानी गयी है। समस्त कलाओं ने उसे सदैव उच्च एवं सम्मानित स्थान प्रदान किया है।[1] क्या वास्तुकला और मूर्तिकला, क्या संगीत-कला एवं नृत्यकला, क्या काव्य-कला—सभी ललित-कलाओं के लिए वह आधार और प्रेरणा का स्रोत रही है। 'नारी की कमनीय मूर्ति के बिना कला ही नहीं, विश्व का समस्त विधान अविकसित रहता है। नारी का लावण्य कला का ललाम-भाव है। वह रस बनकर कला में ओत-प्रोत हुआ है और अपने अस्तित्व से कला को दर्शनीय बनाता है। स्त्री-चित्रण के बिना कला केवल दर्शन की अनुगामिनी बनकर रह जाती।[2] नारीत्व की भावना प्रत्येक अन्य भावना पर विजय प्राप्त करती रही है।

काव्य की सर्वप्रिय अनुभूति सौन्दर्य चित्रण ही रही है और नारी अपने आप में एक सौन्दर्य और एक कला है। 'न रूपं पापवृत्तये'—यह परिभाषा कला और

---

1. 'Woman is the presiding deity of art (कला). All laws of rhythm in musical art, and of forms in visual arts are derived from, and refer to, the female figure. She is (प्रकृति)—the mother of all charms and creation, the eternal inspiration of all creative artistic activity'—
   A critical and comparative Study of Indian Aesthetics—Shri H. L. Sharma.

२. 'कला और संस्कृति'—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; पृ० २०५।

जीवन के मेल की वास्तविक स्थिति को प्रदर्शित करती है। फिर कविता तो सौंदर्य की लयात्मक और संगीतात्मक रचना मानी गई।[1] महाकवि कालिदास के अनुसार तो सौन्दर्य की सच्ची उपासना पापवृत्ति को बढ़ाने के लिए नहीं, अपितु पाप के कल्मष को धोकर, पाप की ज्वाला को शान्त करके मन की रस-ग्राहिणी सूक्ष्म वृत्तियों को और अधिक चैतन्य-युक्त एवं आनन्दमय बनाने के उद्देश्य से की जाती है।'[2] जब सारी दुनिया ही सौन्दर्य के पीछे पागल है तो विधाता की कोमल सृष्टि-साहित्यकार-भावुक साहित्यकार अपने को सौन्दर्य के नन्दन-कानन में भ्रमण कराने का लोभ कैसे संवरण कर सकता है? और सौन्दर्य साकार हो उठा है नारी में। सौन्दर्य में नारी और नारी में सौन्दर्य, यही तो रहस्य है। दोनों को एक-दूसरे से अलग कर नहीं देखा जा सकता।'[3] नारी का चित्रण करने की कलाकार की आकांक्षा प्राचीन काल से रही है। नारी के नाना शृङ्गारिक रूप कलाकार को मुग्ध करते तथा उसकी सृजनात्मक शक्ति को बल देते रहे हैं। कला और नारी का निकट सम्बन्ध है।······ कला में रूप का जो स्थान है उसकी अभिव्यक्ति नारी को छोड़ और किसी वस्तु में नहीं हो सकती।[4]

विश्व की दो महान् सभ्यताओं—यूनानी और भारतीय सभ्यता—ने अपनी-अपनी कला की अधिष्ठात्री देवी की कल्पना नारी-रूप में की थी। विद्वान् मैकाले तथा भर्तृहरि एक सुन्दर नारी को ही संसार की सर्वाधिक सुन्दर वस्तु मानते हैं। भक्त-श्रेष्ठ गोस्वामी तुलसीदास ने भी सुन्दर नारी को, सुन्दरता को भी सुन्दर बनाने वाली और छविगृह के बीच एक दीपशिखा की भाँति प्रदीप्त होने वाली बतलाया है।[5] सृष्टि के सुन्दरतम उपादानों के अन्तर्गत नारी का ही महत्वपूर्ण स्थान है। वह मोहिनी होने के साथ ही माता भी है, सुन्दरी होने के साथ सेविका भी है और कामिनी होने के साथ वह मर्यादा-मानिनी भी है। काव्य में तो नारी मानो कथानक में प्राण के समान है। प्रायः काव्य में नारी-पात्रों के आधार पर ही घटना का विकास होता है

---

1. Poetry is the rhythemic creation of Beauty—Edgar Elan Poe
२. 'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः'—कुमार सम्भवम्; पृ० ३६।
३. 'सरस्वती संवाद' (जुलाई १९६०)—साहित्यकार और नारी-सौंदर्य; पृ० ३३
४. कादम्बिनी—अगस्त १९७२; पृ० १३४।
५. 'सुन्दरता कहुं सुन्दर करई।
छविगृह दीपसिखा जनु बरई॥'—रामचरित-मानस (बालकाण्ड)

और कथावस्तु में गति आती है। नारी के स्नेह, त्याग और बलिदान के अमरत्व में ही असंख्य काव्य-रचनाओं का निर्माण निहित है।

कविता और कामिनी के चले आ रहे घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही 'ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन' काव्य-सौंदर्य को अंगनाओं के लावण्य की भाँति मानते हैं[1] तथा आचार्य मम्मट काव्य के प्रयोजन में 'कान्ता-सम्मित' शब्द का प्रयोग करते हैं।[2] अतएव इन तथ्यों एवं प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कमनीयता, कोमलता तथा करुणा की प्रतिमूर्ति एवं सेवा, स्नेह और त्याग की सहज अनुगामिनी नारी के रूप-लावण्य और असीमित गुण सदा से काव्य-कला के लिए प्रेरणा और आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। सौन्दर्य और रूप-नैसर्गिक, शृङ्गारिक, चेष्टागत–की भंडार नारी को आदिकाल से ही काव्य का प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है, कारण काव्य के विषय हृदयपक्ष को स्पर्श करने वाले होते हैं और हृदय को सहज ही आकर्षित करने तथा भावों को जाग्रत करने की अद्भुत शक्ति नारी से अधिक और किसमें पायी जा सकती है? 'यदि यह सत्य है कि सौन्दर्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति कला में होती है, तो यह भी सत्य है कि सौन्दर्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति के लिए कला को, संसार की इस सर्वाधिक सुन्दर वस्तु, नारी के सौन्दर्य को, अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में कला, सौन्दर्य एवं नारी एक-दूसरे के पूरक ही सिद्ध होते हैं। सौन्दर्य नारी की शोभा है, नारी कला की शोभा है और कला सौन्दर्य की शोभा है।[3] नारी के बिना कला नीरस और प्राणहीन है-तभी तो हमारे चिन्तकों, कलाकारों एवं कवियों ने अपनी कला में नारी को सर्वोपरि स्थान दिया है। वास्तव में नारी के सौन्दर्य-चित्रण ने ही कला को जीवित रखा है।

निष्कर्ष

नारी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सृष्टि के आदिकाल से विभिन्न प्रकार के मत रहे हैं, किन्तु यह तो सभी महर्षि, चिन्तक और विद्वान स्वीकार करते आये हैं कि चेतन-सृष्टि की चेतना के प्रारम्भ से नारी-शक्ति ही आद्य-चेतनाप्रद शक्ति रही है और वही विश्व का आधार है। नारी जहाँ सृष्टि की उत्पादिका, प्रतिपालिका और गार्हस्थ स्नेह-सुख की सरिता का स्रोत है, वहाँ निवृत्ति का वास्तविक मार्ग भी नारी के कारण प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार सृष्टि अनादि और अनन्त है, उसी प्रकार नारी भी सनातन

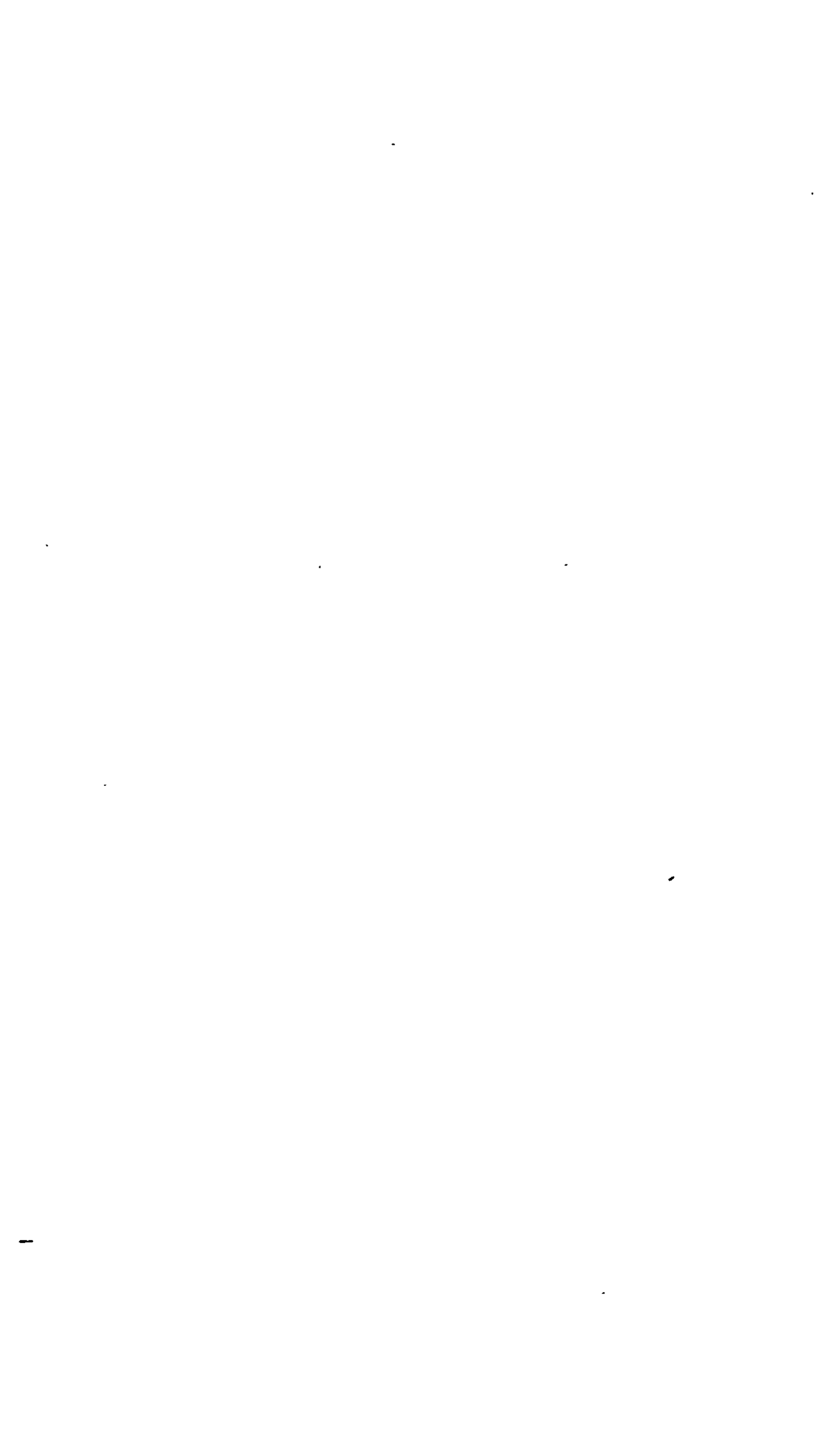
---

१. 'विभाति लावण्यमिवांगनासु'—ध्वन्यालोक उद्योत १; कारिका ४
२. 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'—काव्य प्रकाश-उल्लास १; कारिका २
३. 'हिन्दी महाकाव्यों में नारी-चित्रण'—डा० श्यामसुन्दर व्यास; पृ० २३०

है। यही मानव-जाति की सम्पूर्ण सभ्यता तथा सामाजिक विकास का मूल स्रोत है। इसी के कारण संसार की एक महान् संस्था—गृह का जन्म हुआ, परिवार बने और समाज तथा राष्ट्र के निर्माण का क्रम चला।

नारी शक्ति-स्वरूपिणी, पुरुष और पौरुष की जननी तथा कोमलता, स्नेह, ममता, सौन्दर्य एवं आनन्द का आगार है। उसमें कार्य-शक्ति और ज्ञान-शक्ति, पालन-शक्ति और संहार-शक्ति, उत्पादिनी-शक्ति एवं संघटिनी-शक्ति—सभी कुछ विद्यमान है। इसी की शक्ति से ही विश्व की समस्त शक्तियों का जन्म होता है। 'कन्या' होकर यह मानव के 'सत्यम्' को, 'पत्नी' बनकर उसके 'सुन्दरम्' को तथा 'माता' बनकर उसके 'शिवम्' को एक रूप प्रदान करती है। इस प्रकार नारी के जीवन का कोई भी भाग ऐसा नहीं, जिसमें उसके व्यक्तित्व की महत्ता न झलकती हो।

आह्लाद, आकर्षण और आह्लादक—इन तीनों गुणों के कारण नारी आकर्षण का केन्द्र भी है और स्वयं आकर्षित भी होती है। सौंदर्य एवं रूप का भण्डार नारी, आदिकाल से ही मानव-हृदय की रागात्मक वृत्तियों का प्रेरणा-स्रोत रही है। अतः जीवन की भाँति कला एवं काव्य की भी अनिवार्यता बनकर रही है। भावानुभूति एवं सौन्दर्यानुभूति का माध्यम विशेष होने के कारण वह सदैव काव्य को भी अनुप्राणित करती आयी है। रमणी और उसके रूप-चित्रण की परम्परा हमारे भारतीय वाङ्मय में अत्यन्त प्राचीन है। प्रेम की परिपूत प्रतिमा तथा चिर-आकर्षणमयी यह नारी अपने अलौकिक सौन्दर्य तथा असीमित मानवीय गुणों के कारण ही अनेक देश में सदा से विद्वानों, कलाकारों और कवियों का आकर्षण एवं श्रद्धा का पात्र रही है। वास्तव में कमनीय कला और काव्य का कलित रूप कामिनी से ही अधिक स्पष्ट हुआ है। साहित्य कलात्मक दृष्टि से देखते हुए समाज का दर्पण कहा जाता है। अतः साहित्य, समाज के इस 'अर्धांग'—नारी की अवहेलना कर ही कैसे सकता है?



पुष्प द्वितीय

आलोच्य-काल से पूर्व की नारी-भावना

१. आदिम-युग की नारी-भावना,
२. वैदिक-कालीन नारी का गौरवपूर्ण स्थान,
३. उत्तर-वैदिक-काल में नारी के उच्च पद का अपकर्ष,
४. उपनिषद् ग्रन्थों द्वारा विरूपित नारी-भावना,
५. पुराण साहित्य में वर्णित नारी,
६. महाकाव्य (रामायण-महाभारत) युग में नारी की स्थिति,
७. जैन एवम् बौद्ध साहित्य में नारी-भावना का प्रतिबिम्ब,
८. विभिन्न स्मृतिकारों की दृष्टि में नारी,
९. नीति-काव्य और नारी,
१०. गृह्य सूत्रों तथा कामशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का नारी-चित्रण,
११. संस्कृत-कवियों द्वारा वर्णित नारी के विविध रूप,
१२. निष्कर्ष,



पुष्प : द्वितीय

आलोच्य-काल से पूर्व की नारी-भावना

भारत में मानव के आविर्भाव से लेकर वैदिक-युग तक के काल को 'प्रागैतिहासिक-युग' के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रागैतिहासिक-युग में भारतीय संस्कृति का सूत्रपात हुआ और उत्तर-पश्चिम भारत में एक उन्नत सभ्यता का विकास हुआ। आज जिसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है, उसके निर्माण में यद्यपि आर्यों का प्रधान भाग है किन्तु आर्येतर जातियों ने उसके निर्माण-कार्य में जो भाग लिया है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं।[1] प्राचीन भारत की हिन्दू-सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माणकों में अनार्य, निषाद और द्राविड़ जाति की देन मुख्य है।[2] यह युग हमारी भारतीय-सभ्यता का उषा-काल कहा जा सकता है, क्योंकि सिन्धुघाटी में विशेषकर मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में प्राप्त अवशेषों से हमें तत्कालीन आदिम-मानव की प्रगति और विकास का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। इन अवशेषों की खोज निःसन्देह भारतीय इतिहास में युगान्तर करने वाली है।

इस अज्ञात आदिम-युग में नारी की ऐतिहासिक स्थिति का स्वरूप निर्धारित करना एक कठिन समस्या है, क्योंकि 'अतीत अनादि है, उसका अधिकतर सुदूर भाग अज्ञात है।'[3] नारी-समाज से सम्बन्धित जो सामग्री और मुख्य रूप से मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, वे उस समय की मातृदेवी की उपासना की व्यापकता सूचित करती हैं और उनसे हमें आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व की भारतीय रमणियों की वेश-भूषा, वस्त्रालंकार, अभिरुचि, रूप-सज्जा के विविध साधनों एवं देव-दासी प्रथा का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त अवशेषों पर मुद्री लिपि पढ़े जाने के पश्चात्, सम्भव है, तत्कालीन नारी-भावना पर विशेष प्रकाश पड़ सके। प्रागैतिहासिक काल के गुफा चित्रों में प्रचुर मात्रा में स्त्री अंकन मिलता है। धनुर्धर के साथ जाती, अधोवस्त्र पहने सु-पुष्ट कटिबन्ध वाली पात्र में फल लिये, भोजन बनाती स्त्रियां;

---

१. 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास'—श्री हरिदत्त वेदालंकार; पृ० १७

२. संस्कृत-साहित्य का इतिहास—वाचस्पति गैरोला; पृ० २२

३. 'भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण'—डा० भगवतीशरण उपाध्याय; पृ० १

वालक को गोद में लिये माता, पुष्प लिये जूड़े युक्त स्त्री, युग्म नर्तन में रत नारी-चित्रण रेखाओं में या गेरू रंग के 'सिल हुट' में प्राप्त हुए हैं।[1]

आदिम-युग में भारतीय सामाजिक संगठन का रूप मातृ-सत्ता पर आधारित गण-संगठन होता था। मातृ-परम्परा के अनुसार पीढ़ियाँ चलती थीं और आदिम समाज का जन्म और उसका निर्माण मातृ-सत्ता द्वारा ही हुआ था।[2] जहाँ तक श्रम-विभाजन का प्रश्न था, पुरुष शिकार करता, युद्धों में भाग लेता और पशुओं को पालता था; नारी घर का प्रवन्ध करती, भोजन वनाती, दूध दुहाती और वस्ती के आस-पास अन्न उपजाती थी। दोनों स्त्री और पुरुष का श्रम सामाजिक श्रम माना जाता था और सामाजिक ढंग से ही उसका उपभोग होता था। तव निजी गृहस्थियाँ नहीं थीं और पुरुष एवं नारी की मर्यादा में कोई अन्तर नहीं था।[3] अतएव यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में आदिम-नारी की स्थिति सन्तोष-जनक ही थी, क्योंकि उस मातृ-सत्ताक समाज में नारी वलवती एवं सम्पत्ति और गृह की स्वामिनी मानी जाती थी।[4]

भारत में आकर आर्य जाति ने जो सभ्यता विकसित की, उसे ही हम वैदिक-सभ्यता कहते हैं; क्योंकि इसका परिज्ञान हमें वैदिक-साहित्य द्वारा ही होता है। 'वैदिक-साहित्य जनभाषा का साहित्य है, दैवी साहित्य है, ग्राम-संस्कृति का साहित्य है।'[5] वेद हमारी सभ्यता-संस्कृति के मूलस्रोत, अध्यात्म-शास्त्र की द्युतिमान निधि तथा न केवल आर्यों प्रत्युत मानव-जाति के अतीत इतिहास, आचार-व्यवहार और रहन-सहन का समुचित ज्ञान कराने वाले अत्यन्त उपादेय आद्य-ग्रन्थ हैं। आर्यों की प्राचीनतम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का वास्तविक ज्ञान हम वेदों की सहायता से ही प्राप्त कर सकते हैं। वैदिक-संहिताओं के काल को हम 'वैदिक-काल' तथा व्राह्मण और उपनिषद्-ग्रन्थों के काल को 'उत्तर-वैदिक-काल' के नाम से स्मरण करते हैं।

वैदिक-काल—चार वेदों में प्राचीनता की दृष्टि से ऋग्वेद प्रथम ग्रन्थ माना गया है। ऋग्वैदिक-समाज पितृ-सत्तात्मक होते हुए भी नारी के प्रति उदार दृष्टिकोणों

---

१. कादम्बिनी—अगस्त १९७२; पृ० १३५
२. 'भारत'—श्री श्रीपाद अमृत डाँगे—अनु० श्री आदित्य मिश्र; पृ० ४९-८६
३. वही; पृ० ६७-६८
४. 'भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण'—डा० भगवतीशरण उपाध्याय; पृ० २९७
५. 'संस्कृत-कवि-दर्शन—डा० भोलाशंकर व्यास–आमुख; पृ० ६

से पूर्ण था। इस काल में पुत्र और पुत्री दोनों समान रूप से प्रिय माने जाते थे। कन्या का एक नाम 'दुहिता' है। यह शब्द 'दुह' धातु से बना है जिसका अर्थ है दुहना। ये कन्याएँ घर में दूध दुहने आदि के अनेक कार्य करती थीं और इनके विवाह का भार पिता अथवा बड़े भाई पर रहता था। पिता की आज्ञा से 'मर्य' अर्थात् युवक का 'योषा' अर्थात् युवती-कन्या को ओर 'अभ्यगंन' और 'अभिगनन'—मनाना, रिझाना, कल्याणी युवतियों के साथ 'मर्यों' का मोद और हर्ष करना, प्रीत होने पर कन्या का 'मर्य' को परिष्वजन (आलिंगन) देना, योषाओं और कन्याओं का अपने जारों के लिए अनुवसन—ये सब समाज में साधारण बातें थीं।[1] कन्याओं को अपने प्रेमियों के साथ घूमने की स्वतन्त्रता थी।[2] सभाओं, विदथों और ग्राम्य-जीवन के अन्य समागमों आदि के अतिरिक्त वसन्त-ऋतु में 'समन'[3] नामक उत्सव होते थे जिनमें योषाएँ सजधज कर पहुँचतीं और नृत्य-गायन सम्बन्धी क्रीड़ाओं में भाग लेती थीं।[4] इन समनों में भाग लेकर प्रायः क्षत्रिय-कुमारियाँ अपने लिए वर खोज लेती थीं। कभी-कभी माता-पिता अपने घर पर ही विवाहार्थी युवकों को बुलवाकर उनका सत्कार करते और उनकी पुत्रियाँ उन युवकों में से अपना पति चुन लेती थीं।[5] कुछ कन्याएँ आजीवन अविवाहित रहकर अपने माता-पिता अथवा भाई के साथ रहती थीं। 'अमाजुः'—उस कन्या को कहते थे जो अपने पिता के घर में ही वृद्धावस्था प्राप्त कर लेती थी।[6]

वैदिक काल में स्त्री और पुरुष दोनों को अपना पति अथवा पत्नी चुन लेने की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी यद्यपि यह कार्य प्रायः माता-पिता अथवा भाई की सम्मति

---

१. ऋग्वेद—१, ११५, २, ४

२. वही—३, ३१, ७-३, ३३, १०-४, २०, ५-६, ६६, २०

३. अथर्व वेद—१४, २, ५६, ६१

४. ऋग्वेद—१, ४८, ६-१, १२३,११-१, १२४, ८-४, ५८, ८-७, २, ५-१०, ८६, १०-१०, १६८, २

'The maiden enjoyed singular freedom..................Seclusion of women was absolutely unknown, and the maiden was free to move anywhere she liked. She appeared gay and smiling on festive occasions and tournaments.

'Women in Rigved'—Shri Bhagwat Sharan Upadhayay M. A.—P. 39

५. अथर्व०—२, ३६, १-१४, २, ५६-६, ६१, १-१, १४, ३

६. ऋग्वेद—१, १७७, ७-२, १७, ७-१०, ३६, ३

से ही किया जाता था। शीघ्र विवाह के लिए धन और सौन्दर्य आवश्यक वस्तुएँ मानी जाती थीं। कन्या में शारीरिक दोष होने पर दहेज देना आवश्यक होता था।[१] विवाह के उपरान्त ही पत्नी को परिवार में सर्व अधिकार-स्वरूपा-सम्राज्ञी रूप से समादृत किया जाता था।[२] स्त्री को 'भगवती' (ऐश्वर्य वाली), 'सुभगे' (सौभाग्य-वाली),[३] 'देवितमे' (अत्यन्त सुशिक्षिता), 'सरस्वति',[४] 'कुलपा'[५] और 'गृहपत्नी'[६]—घर की स्वामिनी आदि नामों से सम्वोधित किया गया है। सिद्धान्ततः स्त्री, पुरुष की अर्द्धांगिनी मानी जाती थी। पुरुष उसके विना अपूर्ण माना जाता था। दोनों के मिलन से ही जीवन की सफलता और पूर्णता संभव थी। शतपथ ब्राह्मण के मतानुसार जाया (स्त्री) अपना आधा है, अतएव जव तक जाया का वरण नहीं होता तव तक प्रजनन सम्भव नहीं। मनुष्य तव तक असर्व (अपूर्ण) रहता है। जव वह 'जाया' का वरण करता है और सन्तान उत्पन्न करता है, तभी वह सर्व (पूर्ण) होता है।[७] वास्तव में वैदिक-काल के पुरुष पितृ-ऋण से मुक्त होने और सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से ही विवाह करते थे।[८]

वैदिक-साहित्य में विवाह की मर्यादा से सम्वन्धित अनेक मंत्र पाये जाते हैं। ऋग्वेद में सूर्या के विवाह के प्रसंग में जो हृदयस्पर्शी उदात्त भाव हैं, वैसे संसार की किसी भी विवाह-पद्धति में मिलना कठिन है। यम-यमी के वार्तालाप के अनुसार भाई-वहिन के परस्पर विवाह का निषेध था और छोटे भाई-वहिन वड़े भाई-वहनों

---

१. ऋग्वेद—६, २८, ५-१०, २७, १२—अथर्व० ५, १७, १२

२. (क) 'सम्राज्ञी श्वसुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी. सम्राज्ञी अधि देवृषु।'—ऋग्वेद १०, ८५, ४६

(ख) 'गृहान गच्छ गृहपत्नी यथा स'।—अथर्व० १४, १, १८

(ग) 'सम्राज्ञेधि पत्युरस्तं परेत्य'।—वही १४, १, ४३

३. ऋग्वेद; १, २२, १६४, ४०-२, ४, ३३, ५

४. वही; २, ४, ४१, १६-६, ५, ४६, ७

५. अथर्व०; १, ३, १४, ३

६. ऋग्वेद; १०, ७, ८५, २६

७. शतपथ ब्राह्मण—५, २, १, १०—ऐतरेय आरण्यक १, ३, ५

८. (क) 'प्रजायै त्वा नयामसि'—अथर्व०; ५, ५, २५

(ख) 'विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि'—वही; ३, ५, २३

(ग) 'प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे—ऋग्वेद; १०, १२, १८४

से पूर्व विवाह नहीं करते थे। यद्यपि आर्यों में विधवाएँ बहुत कम होती थीं, तथापि समाज द्वारा पुनर्विवाह (विधवा-विवाह) की स्वीकृति थी। ऋग्वेद के दाह-संस्कार सम्बन्धी सूक्त में भी इस प्रथा का उल्लेख है। वह मनुष्य जिसने विधवा से विवाह किया हो 'दिधिषु', जिस स्त्री ने दूसरे पति से विवाह किया हो वह 'परपूर्वा' और स्त्री का दूसरे पति से उत्पन्न पुत्र 'पौनर्भव' कहलाता था।[1]

इस काल के ऋषियों ने पुत्रहीन स्त्रियों को आदेश दिया था कि वे किसी अन्य पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कराकर सुखमय जीवन व्यतीत करें। 'नियोग' द्वारा उत्पन्न पुत्र परिवार का ही एक अंग बन जाता था, अतएव सन्तान-हीन स्त्री को 'नियोग' द्वारा पुत्र उत्पन्न कराने की बात कही गयी है।[2] ऋग्वेद में नियोग करने वाले पुरुषों को पृथक सर्वनामों से पुकारा गया है।[3] 'नियोग' की पद्धति वेद-पूर्व काल से प्रचलित है। जिस समय विवाह से प्राप्त कन्या पर अपने कुल का अधिकार स्थापित होता था, उसी समय नियोग पद्धति का जन्म हुआ। 'नियोग' का अर्थ है आज्ञा; गुरु की अथवा कुल के अधिपति की आज्ञा। जिस लड़के के लिए कन्या को ब्याह करके कुल में लाया गया, वह यदि पुत्रहीन अवस्था में मर जाता था तो कुल के बड़े व्यक्ति उसकी विधवा से उसके 'देवर' अर्थात् पति के भाई, अन्य सजातीय पुरुष, उच्च वर्णीय पुरुष या पुरोहित की सहायता से सन्तति का निर्माण कर लेते थे।[4]

यद्यपि ऋग्वेद में एक पत्नी की प्रथा पर विशेष बल दिया गया है,[5] तथापि वैदिक-आर्य एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता था।[6] बहु-विवाह की प्रथा क्षत्रिय राजा और पुरोहितों में अधिक प्रचलित थी। राजा पुरुरवा के अनेक स्त्रियाँ थीं। ऋषि कक्षिवन की दो पत्नियाँ और च्यवन ऋषि की कई पत्नियाँ थीं। वेदों में 'महिषी' पटरानी शब्द का प्रयोग सिद्ध करता है कि तब क्षत्रिय राजा कई रानियाँ रखते थे।[7]

---

१. ऋग्वेद; १०, १०-१०, ४०, २-१०, १८, ८

२. वही; ७, ५, ७

३. 'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः,
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।'—वही; १०, ८५, ४०

४. 'वैदिक संस्कृति का विकास'—श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी; पृ० ११६

५. ऋग्वेद; १०, ८५, ४२

६. वही; १, ६२, ११-१, ७१, १-१, १८६, ७-६-५३, ४-१०-१०१, ११

७. वही; १, १२६, ३-१, ११६, १०-५, २, २

ऋग्वैदिक-भारत में बाल-विवाह की प्रथा का, जो कालान्तर में इतनी अधिक प्रचलित हो गयी, प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।[1] तब अन्तर्जातीय विवाहों पर भी प्रतिबन्ध न था। बहुपतित्व की प्रथा का ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तो भी अवैध-प्रेम सम्बन्धों,[2] गुप्त रूप से गर्भस्राव कराने वाली असती पत्नियों[3] और सहपत्नी[4] का उल्लेख मिलता है। भ्रातृहीन युवतियों के वेश्या बनने का वर्णन भी पाया जाता है।[5] वेश्या को समाज में 'साधारणी', 'पुंश्चली' और 'महानग्नी' कहा गया है।[6] किन्तु इस काल में जो स्त्रियाँ पथभ्रष्ट हो जाती थीं, वे यदि अपनी भूल स्वीकार लेती थीं तो उन्हें धार्मिक-कार्यों में सम्मिलित होने की अनुमति पुनः प्राप्त हो जाती थी।[7]

अनार्यों के विरुद्ध युद्धों में सामान्यतया आदिवासी स्त्रियाँ ही दासी बनायी जाती थीं, क्योंकि युद्ध में उनके पतियों का वध हो जाने पर उन्हें स्वभावतः सेविकाओं के रूप में रख लिया जाता था। उन्हें भैंस, घोड़े, ऊँट, गायों की भाँति दहेज में भी दासी के रूप में दिया जाता था।[8]

ऋग्वेद में सती-प्रथा का उल्लेख नहीं है क्योंकि पुनर्विवाह के अवकाश होने के कारण सहमरण की प्रथा का जन्म नहीं हुआ था। पति की मृत्यु के समय कभी-कभी विधवा पत्नी स्वयं अग्नि में जल जाती थी अथवा उसके सम्बन्धीजन ही उसे जला देते थे।[9] यह प्रथा केवल क्षत्रिय परिवारों तक ही सीमित थी। उस समय ऐसी विधवाओं का अस्तित्व था जो पुनर्विवाहित की जा सकती थीं, अतएव इस प्रथा को वैदिकयुग में अपेक्षाकृत विलम्ब से उत्पन्न हुई माना जा सकता है।

इस काल में नारी को वेदों के अध्ययन-अध्यापन का अधिकार प्राप्त था क्योंकि उस युग की अनेक मंत्रद्रष्टा नारियों, ब्रह्मवादिनी और ऋषिकाओं—मैत्रेयी,

---

१. द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया—ए० बी० कीथ–भाग १; पृ० ८८
२. ऋग्वेद; ३, ५३, ८-८, १७, ७
३. वही; २, २६,१-१०, ३४, ४
४. वही; ३, १, १०-३, ६, ४-३, ३३, २
५. वही; १, १२४, ७-४, ५, ५
६. वही, १, १६७, ४ अथर्व०—१४, १, ३६
७. शतपथ ब्राह्मण; २, ५, २, २०
८. ऋग्वेद; ६, २७, ८-८, ६८, १७
९. अथर्व-वेद; १८, ३, १

जाने लगी।[1] छन्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषदों में विशेषकर सत्यकाम, जाबाल और गार्गी-याज्ञवल्क्य संवादों में—नारी के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गयी है। वहाँ पुरुष, नारी के बिना, आधा पुरुष माना गया है।[2] उपनिषदों के अनुसार लोक संचालन की प्रक्रिया का भार नर-नारी दोनों पर था। वहाँ इस समस्त विश्व को परब्रह्म की यज्ञशाला माना गया है। तब नर होता और नारी अग्नि; नर को संचायक और नारी विभाजक है। इस उपनिषद्-काल में नारी का वह आदर-सम्मान और अधिकारों की दृष्टि से वह महत्व न रहा जो उसे वैदिक-काल में प्राप्त था। अतएव भारतीय नारी की अधोगति का प्रारम्भ यहीं से मानना समीचीन जान पड़ता है।

पौराणिक-काल—हमारे धार्मिक-साहित्य में पुराणों का बड़ा महत्व है। इसी कारण कौटिल्य ने राजकुमारों के लिये पुराण-साहित्य का अध्ययन आवश्यक माना था। इन अठारह-ब्रह्म, पद्म, वैष्णव, शैव, भागवत्, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, भविष्यत्, ब्रह्मवैवर्त, लैंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कौर्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रह्माण्ड—पुराणों का विषयक्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। ज्ञान-विज्ञान की कोई ऐसी शाखा नहीं है जिसका विवेचन पुराणों में न हो और जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिसका उल्लेख इन पुराणों में न पाया जाता हो।

इन पुराणों में वर्णित विदुषी महिलाओं की चर्चाएँ हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती हैं कि इस काल में स्त्रियों के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था थी। शिव-पुराण में एक महिला अपने आचार्य से 'प्रणव' का अर्थ स्पष्ट करने की प्रार्थना करती है।[4] देवी-भागवत् की एक बारह वर्षीय कन्या को नीतिशास्त्र और अर्थ-विज्ञान का अच्छा ज्ञान है। वहीं एक अन्य स्त्री को भी विद्या और सद्गुण-सम्पन्न बताया गया है।[5] इस काल में 'स्वयंवर' की प्रथा का अधिक प्रचार था। इसी कारण विभिन्न पुराणों में इस प्रथा की विस्तृत चर्चा की गयी है। यह स्वयंवर तीन प्रकार का बतलाया गया है—इच्छा-स्वयंवर, प्रण-स्वयंवर और शौर्य-शुल्क-स्वयंवर।[6]

---

१. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—डॉ० बेनी प्रसाद; पृ० ७३-७४
२. वृहदारण्यक उपनिषद्; १, ४, १७
३. 'कल्याण' मासिक—नारी विशेषांक; पृ० ११०
४. शिव पुराण—कै० स० ६, अ० २, श्लोक २१-२२
५. देवी-भागवत—स्कन्ध ५, अ० २७, श्लोक ५४–स्कन्ध ६, अ० ४५ श्लोक ३
६. अग्नि-पुराण—१३, १४-२२७, ४१; ब्रह्म-पुराण–३५, १४-१६, ३६, ३, १; देवी-भागवत्; ६, १६, ६१

स्कन्द-पुराण में नारी-पातिव्रत्य के अनेक कर्तव्यों का वर्णन है।[१] पद्म-पुराण के अनुसार वही स्त्री पतिव्रता है जो दासी के समान गृहकार्य करे, वेश्या के समान रति-कला में प्रवीण हो, माता के समान परिवार का पालन-पोषण कर सके तथा जो विपत्ति-काल में एक मन्त्री की भाँति परामर्श दे सके।[२] भागवत-पुराण का कथन है कि जो पत्नी अपने पति को हरि मानती है, वह हरिलोक में अपने पति के साथ विलास करती हैं।[३] ब्रह्मवैवर्त-पुराण में सती नारी की बड़ी महिमा गायी गयी है एवम् विष्णु-पुराण में नारी को साधु एवम् धन्य कहा गया है।[४]

पुराण-साहित्य में पति-परित्याग और पत्नी-परित्याग का भी निषेध किया गया है।[५] यहाँ पति-सेवा और नारी के लिए पति को ही एकमात्र अपना गुरु मानकर उसकी आज्ञानुसार चलने की बात अनेक स्थानों पर कही गयी है।[६]

भागवत-पुराण (श्रीमद् भागवत) समस्त श्रुतियों एवम् उपनिषदों का सार, महाभारत का तात्पर्य-निर्णायक तथा ब्रह्मसूत्रों का भाष्य माना जाता है। विभिन्न परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले मानव-हृदय को उद्वेलित करने वाले भावों के चित्रण में यह एक अद्वितीय काव्य-ग्रन्थ है। श्रीमद् भागवत् में हृदय-पक्ष का प्राधान्य तो है ही, किन्तु कला-पक्ष भी बड़ा सुन्दर है। भगवत्तत्व ज्ञान के प्रकाशन के साथ-साथ ग्रन्थ में ग्रहस्थ-सम्बन्धी सदाचार (७.१४), शंकरजी का मोहिनी के प्रति आकर्षित होना (८.१२), वेणु-गीत (१०.२१), चीर-हरण (१०.२२), रास-लीला (१० २९), कृष्ण के वियोग में गोपियों की दशा, गोपिका-गीत (१०·३०. ३१) तथा रुक्मिणी-हरण (१०.५३) मोहिनी रूप (८.१२.२०.३०) आदि प्रसंगों में नारी-भावना और शृङ्गार-सौन्दर्य की सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है।

मथुरा नगरी में आनन्द-कन्द कृष्णचन्द्र के आगमन का समाचार सुनकर

---

१. स्कन्द-पुराण—ब्रह्मखण्ड-धर्मारण्य; अ० ७

२. पद्म-पुराण—सृष्टिखण्ड; अ० ४७, श्लोक २५

३. भागवत-पुराण; ७, ११, २९

४. विष्णु-पुराण; ६, २, २५, २९

५. अग्नि-पुराण; अ० २२७, ४२—पद्म-पुराण—उत्तरखण्ड; अ० ९६, १२६

६. 'भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्म तीर्थ व्रतानि च।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत् ॥'—स्कन्द पु०—काशी खंड; ४, ४८
'पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम् सर्वस्याभ्यागतो गुरुः'—ब्रह्म० पु० ८०, ४७
'भर्ता नार्या गतिर्भर्ता दैवतं गुरुरेव च'—ब्रह्मनारदीय पु०, उत्तर भाग; १४,४०

हड़बड़ाहट में शृङ्गार-भूषा कार्य को समाप्त किये बिना ही झरोकों से झांकने वाली ललित ललनाओं का बड़ा ही अनूठा वर्णन हुआ है। महाकवि कालीदास ने भी इसी वर्णन से प्रभावित होकर अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'कुमार सम्भवम्' में खिड़की की ओर हड़बड़ी में भाग रहीं, चाव से भरी नगर की उन सुन्दरियों का बड़ा ही आकर्षक चित्रण किया है जो महादेवजी के दर्शन के लिये बड़ी उत्कण्ठित हो रही हैं।[1] ग्रन्थ में सबसे अधिक सुन्दर चित्रण हुआ है गोपियों के कृष्णचंद्र के प्रति अगाध प्रेम का। 'गोपियों का हृदय अनिर्वचनीय है। वह प्रेममय है, अमृतमय है। उनका हृदय, उनका प्रेम, उनके भाव का अमृतमय स्रोत कभी-कभी स्वयं वाणी के द्वारा बाहर निकल आता है। वे जब बोलना चाहती हैं तब बोला नहीं जाता, जब मौन रहना चाहती हैं, तब बोल जाती हैं।[2] व्रज की ये गोपिकाएँ कृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पित करने वाली भगवन्निष्ठ प्रेमिकाएँ हैं। उनकी संयोग-वियोग सम्बन्धी भावनाओं के वर्णन में काव्यकार ने गंभीर मनोवैज्ञानिक भाव-विश्लेषण तथा अद्भुत अनुभूति का परिचय दिया है। यही कारण है कि दशम् स्कन्ध के वेणु-गीत, गोपी-गीत, युगल-गीत, महिषी-गीत आदि प्रसंगों में नारी के अन्तरतम भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। कृष्ण के वियोग में अत्यन्त व्यथित महिषीजनों का यह उपालम्भ—'अरी कुररी, इस सन्नाटे की रात्रि में जब स्वयं भगवान अपना अखंड बोध छिपाकर सो रहे हैं तब तुझे नींद क्यों नहीं आती? तू रात-रात भर जागकर क्यों विलाप कर रही है? कहीं कमलनयन कृष्ण के मधुर हास्य और लीलापूर्ण मधुर चितवन से तेरा हृदय भी हमारी भांति कहीं बिंध तो नहीं गया है[3]—कितना मर्मस्पर्शी है। श्रीकृष्ण के वियोग में प्रेम की मतवाली व्रज-युवतियाँ श्रीकृष्णमय हो गयी हैं और श्रीकृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं का अनुकरण करते हुए[4] वन के बड़े-बड़े वृक्षों से, स्त्री-जाति के पौधों से तथा हिरनियों से श्यामसुन्दर के सम्बन्ध में पूछती हैं।[5] वे विरहावेश में मतवाली-सी होकर, अपनी सुध-बुध खोकर वन में जगह-जगह भटकते हुए गीत गाने लगती हैं। कि हमारे प्यारे

---

१. 'कुमार संभवम्'; १०, ४१, २५-२६-७, ५६-६६
२. 'संस्कृत-सुकवि-समीक्षा—डा० बलदेव उपाध्याय; पृ० ४०
३. श्रीमद् भागवत; १०, ९०, १५
४. वही; १०, ३०; २
५. वही; १०, ३०, ११

सखा ! हमसे रूठो मत, प्रेम करो, हम तो तुम्हारी दासी हैं।[1] श्रीमद् भागवत् के अनुसार श्रीकृष्ण के विना गोपियों के लिये एक क्षण भी सैकड़ों युग के समान हो जाता है, पलक गिरने का व्यवधान भी उन्हें असह्य था। फिर भी, वे विरह में जीवित रहीं इसका कारण प्रेम की पूर्णता ही है।

श्रीकृष्ण के व्रजवास-जीवन में चार प्रकार की स्त्रियाँ सम्पर्क में आती हैं—(१) गुणातीत श्रेणी की स्त्रियाँ—यशोदा, राधा आदि एवं कुछ गोपियाँ, (२) मथुरा की रहने वाली यज्ञपत्नियाँ जो श्रीकृष्ण से प्रेम भी करती हैं जिनके चित्त में कुल-परिवार के प्रति असक्ति भी है, (३) व्रज के वनों में रहने वाली राजसिक स्त्रियाँ—भीलिनें। वे श्रीकृष्ण के प्रति विशेष आकृष्ट हैं किन्तु संकोच, भय और अपनी हीनता के बोध के कारण अपनी कामना प्रकट नहीं कर पातीं और (४) कुब्जा, जो तामसिक प्रकृति की हैं।

महाकाव्य-काल—रामायण (वाल्मीकि रामायण) तथा महाभारत लौकिक-संस्कृत साहित्य की आदिम रचनाएँ हैं। रामायण तो भारतीय परम्परा में 'आदि-काव्य' कहा ही जाता है, क्योंकि इसमें सर्वप्रथम मानव-चरित्र का अंकन पाया जाता है।............निषाद के वाण से विद्ध क्रौंच मिथुन में से नर पक्षी को देखकर द्रवीभूत आदि-कवि का शोक जिस रूप में प्रभावित हुआ, वह लौकिक काव्य-साहित्य की पहली धारा है। रामायण तथा महाभारत दोनों महाप्रवन्ध-काव्य कहलाते हैं। दोनों काव्य केवल काव्य न होकर भारतीय संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के सर्वांगीण आकर ग्रन्थ हैं।[4] वास्तव में तत्कालीन नारी-भावना और नारी-स्थिति का वास्तविक परिचय प्राप्त करने के लिए इन दोनों ग्रन्थों का महत्व असाधारण और निर्विवाद है।

रामायण करुण-रस का एक महाप्रवन्ध-काव्य है। महर्षि वाल्मीकि के कथनानुसार उनका यह महाकाव्य एक नारी का—इस युग की आदर्शभूत महानारी (सीता) का ही—चरित्र-चित्रण है। सीता को 'पति सम्मानिता'[5] कहा गया है। सीता के अभाव में राम को अश्वमेध-यज्ञ में अपनी पत्नी की सुवर्ण-प्रतिमा रखनी

---

१. श्रीमद्भागवत; १०, ३१, ६
२. वही; ७, ११, २५-२६-७, १४, १२-१३
३. वही; ८, १२, २०-३२
४. 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास'(ना० प्र० सभा)-प्रथम भाग-पृ० २०२-३
५. वाल्मीकि रामायण-३, १६, २

गार्गी, घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, जुहू, अदिति, इन्द्राणी, इन्द्रमातरः, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, यमी, शश्वती, सार्पराज्ञी, वाक्, श्रद्धा, दक्षिणा, रात्रि, सूर्या, सावित्री, शची, सिकता निवावरी, शक्ति आदि का उल्लेख हमें प्राप्त होता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के अनेक सूत्रों का आविष्कार नारियों द्वारा ही हुआ है। घोषा वैदिक-संस्कृत में लिखने वाली विश्व की सर्वप्रथम सूत्र-लेखिका थी। इनके अतिरिक्त धन की लक्ष्मी, शक्ति की दुर्गा और विद्या की सरस्वती देवी हैं। इन वैदिक-देवियों को कहीं देव-माता और कहीं देव-कन्या बताया गया है। सबसे अधिक उल्लेख उदिति देवी का है जिन्हें सर्वशक्तिमती, विश्वहितैषिणी और स्वाधीन माना गया है। सीता की स्तुति भी देवी कहकर की गयी है। 'सौभाग्यवती सीता हम तुम्हारी स्तुति करते हैं, तुम हमें धन और सुन्दर फल दो'।[1] सीता की स्तुति के साथ ऋग्वेद में उषा का देवी-रूप में स्तवन किया गया है। उन्हें सत्यमनोदिणी, दीप्तिमती, नित्य यौवन-सम्पन्ना, शुभ्रवसना और धन-अधीश्वरी बतलाया गया है। इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी (शची) भारतीय पत्नी की प्रतीक मानी गयी है। वह गृह की एकछत्रस्वामिनी, पति में शक्ति का संचार करने वाली और प्रेम की अधीश्वरी है। वेदों की ये देवियाँ महाशक्तिशालिनी, दिव्य तथा वन्दना की अधिकारिणी हैं।

इस युग में स्त्रियों को युद्ध-विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी और अनेक महिलाएँ समरभूमि में रथ हांकतीं तथा साहस और पराक्रम के कई कार्य करती थीं। अगस्त के पुरोहित ऋषि की पत्नी विश्पला अपने पति के साथ युद्ध में भाग लेने गयी थी और मुद्गल ऋषि की पत्नी इन्द्रसेना शत्रुओं से युद्ध कर एक सहस्र गायें जीतकर लाई थी। दास-नायुचि ने स्त्री-सेना तैयार की थी और वृत्रासुर की माता दानु का इन्द्र ने युद्ध में वध किया था।[2]

वेदमन्त्रों से यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक-काल की स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र धारण करतीं और आयुध, माला, हार, वलय आदि सुवर्ण के आभूषण पहनती थीं। उन्हें अपने शरीर को व्यवस्थित रूप से ढंकने का आदेश था।[3] स्त्रियाँ भेड़ की खाल के वस्त्र[4] और रेशमी, सुनहरी वस्त्र[5] भी धारण करती थीं। बाहर जाने पर

---

१. 'अवार्ची सुभगे भव वंदामहे त्वा।
यथा नः सुभगासि यथा सुफलासि॥'—ऋग्वेद; ४, ५७

२. वही; १, ११२, १०-१, ११८, ८-१०, १०२, २-१०, १०२, २-११

३. वही; ८, ४३, १६

४. ऋग्वेद; १, ४०, ६-१, १६२, १६-१०, ५, ४

५. अथर्ववेद; १, १६६, १०-५, ७, १०

अधिवास पहनतीं और केशों को सुन्दर ढंग से अलंकृत करती थीं। उनका साधारण वस्त्र अन्तरीय अर्थात् साड़ी थी, जो आधी पहनी और आधी ओढ़ी जाती थी। वे नाचने के समय लहंगे जैसा जरी के काम का वस्त्र पहनती थीं जिसे 'पेशस' कहते थे।[1]

इस प्रकार हमें सम्पूर्ण वैदिक-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक-काल के सामाजिक-जीवन में नारी की स्थिति जितनी ऊँची थी, उतनी बाद में कभी नहीं रही। स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर वेद-शास्त्रों में प्रवीण होती थीं। घरेलू और सामाजिक कार्यों में पति-पत्नी का पद समान था। कोई भी यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था। स्त्री परिवार में 'गृह-लक्ष्मी' मानी जाती थी और परिवार के सभी सदस्य उसका बड़ा सम्मान करते थे। उस समय पर्दे की और स्त्रियों को सामाजिक समारोहों से दूर रखने की प्रथा नहीं थी। 'अन्य जातियों के इतिहास में हम जितना पीछे की ओर लौटते हैं, स्त्रियों की स्थिति उतनी ही गिरी हुई दिखाई देती है। यह बड़ी विलक्षण बात है कि भारत में वस्तु-स्थिति सर्वथा विपरीत है'।[2] 'भारतीय-सभ्यता के इतिहास में एक विचित्र बात पायी जाती है। ज्यों-ज्यों हम पूर्व जीवन की ओर बढ़ते जाते हैं, स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक अवस्थाओं में क्रमशः अच्छाई मिलती रहती है; किन्तु अन्य सभ्य देशों के इतिहास में इस परम्परा का विरोध पाया जाता है"।[3]

उत्तर-वैदिक-काल—ऋग्वेद के अनुसार वैदिक-काल में, जीवन के सभी क्षेत्रों में, स्त्रियों को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था,[4] किन्तु जब प्रधानता का केन्द्र नारी-जगत् से हटकर पुरुष-जगत् की ओर खिसकने लगा तब मानव-समाज के नियमों में अनेक परिवर्तन हुए। उनमें सबसे प्रधान परिवर्तन था विवाहानन्तर वधू का पितृगृह छोड़-कर पतिगृह जाना। अथर्व-वेद के विवाह-सूक्तों में इस प्रकार के कई मंत्र पाये जातेहैं।

---

१. ऋग्वेद; १, १४०, ६-१०, ११४, ३-२, ३, ६

२. 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास'—श्री हरिदत्त वेदालंकार; पृ० ५१

३. 'आदि-भारत'—प्रो० अर्जुन चौबे; पृ० ६३

4. 'The womanhood in the Vedic period had its heights and depths, its brighter and darkaspects. Woman was regarded with due respect in every sphere of life, and she was not subject to any of the merciless laws of an unsympathetic society'
'Woman in the Vedic Age'—
Shakuntala Rao Shastri Page 35.

इन्ही मंत्रों से हमें ज्ञात होता है कि उत्तर-वैदिक-काल में स्त्री-पद का पतन होने लगा था और उसकी स्थिति में धीरे-धीरे अपकर्ष आने लगा था। इस काल में मनुष्यों का ध्यान जीवन के आनन्दों से हटकर तपस्या की ओर अधिक लगने लगा था और तपस्या के कार्य में सबसे बड़ी बाधा थी नारी। अतएव अब नारी को अनादर की दृष्टि से देखा जाने लगा और काम-प्रवृत्ति की निन्दा के साथ-साथ नारी की निन्दा भी की जाने लगी। नारी की निन्दा हमें उर्वशी-सूक्त में पढ़ने को मिलती है।

साहित्य की दृष्टि से वेदों के उपरान्त ब्राह्मण-ग्रन्थ बड़े आदरणीय माने जाते हैं। ये हिन्दू धर्म के आदि स्रोत और धर्म के अति प्राचीन व्याख्यान होने के कारण मानव जाति के सर्व प्रथम धर्म-ग्रन्थ भी हैं।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में नारी को एक भारी अनर्थ की जड़ और कन्या का जन्म संकट उत्पन्न करने वाला[2] माना गया है। मैत्रायणी-संहिता में नारी को मदिरा और जुआ के साथ तीन प्रधान दोषों के अन्तर्गत गिनाया गया है।[3] यह संहिता नारी को अनृत मानती है और उसका सम्बन्ध निर्ऋति (आपत्ति) से जोड़ती है। तैत्तिरीय-संहिता में नारी को एक बुरे शूद्र से भी नीचा बतलाया गया है।[4] शतपथ-ब्राह्मण ने नारी को एक बुरे आदमी से भी हीन कहा है।[5]

इस उत्तर-वैदिक-काल में वर्ण-व्यवस्था के परिणामस्वरूप और अनार्यों के सम्पर्क के कारण स्त्रियाँ, पुरुषों से उतनी स्वतन्त्रता के साथ नहीं मिलती थीं जिस प्रकार कि ऋग्वेद-काल में। वे पुरुषों की गोष्ठियों से भी कुछ अलग रहने लगी थीं, अतएव उनका ज्ञान और अनुभव कम होने लगा था और उसके साथ आदर भी। विवाह सम्बन्धी स्वातंत्र्य भी अब कम हो गया था और प्रायः माता-पिता के द्वारा ही विवाह का प्रबन्ध किया जाने लगा।[6] बहु-विवाह की प्रथा अब अधिक प्रचलित हो गयी थी, अतएव सौतों के झगड़े भी पर्याप्त मात्रा में होने लगे थे। मैत्रायणी-संहिता में मनु की दस पत्नियों का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार एक पुरुष

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—वाचस्पति गैरोला; पृ० १२३
२. ऐतरेय ब्राह्मण; ७, १५
३. मैत्रायिणी संहिता; १, १०, ११-३, ६, ३
४. तैत्तिरीय संहिता; ६, ५, ८, २
५. शतपथ ब्राह्मण; १, ३, १, ६
६. 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—डा० बेनी प्रसाद; पृ० १०१

कई पत्नियाँ रख सकता था किन्तु एक स्त्री एक ही समय में कई पति नहीं रख सकती थी।[1] इस काल में भी पत्नी का कुटुम्ब में प्रभाव था किन्तु अब कुटुम्बों की शान्ति भी धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी तभी तो अथर्व-वेद में कौटुम्बिक शान्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गयी हैं।[2] ब्राह्मण-ग्रन्थों के पश्चात् आरण्यक-ग्रन्थों का स्थान आता है। वनवासी वान प्रस्थियों के यज्ञ-यागादि विधानों को सम्पन्न करने वाले ग्रन्थ ही आरण्यकों के नाम से प्रसिद्ध हुए। उपनिषद् ग्रन्थों में जिस विस्तृत ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन है, उसका मूलाधार ये आरण्यक-ग्रन्थ ही हैं।

उपनिषद्-युग—प्राचीन-काल में आचार्य द्वारा शिष्यों को जो अध्यात्म-विद्या और दर्शन-सम्बन्धी उपदेश तथा वार्तालाप होते थे, वे उपनिषद्-ग्रन्थों के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस काल में भी विदुषी नारियों—मैत्रेयी, गार्गी आदि–का समाज में बड़ा आदर था। वैदेह जनक की राजसभा में ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का भी एक दल था। कुमारी गन्धर्व गृहीता परमविदुषी और वक्तृता में अत्यन्त चतुर थी। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'—इस प्राचीन श्रुति के अनुसार कन्याएँ भी युवा पति को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन विताती थीं और इस समय का उपयोग ज्ञानार्जन के लिए करती थीं। इस समय दो प्रकार की छात्राएँ होती थीं–(१)ब्रह्म-वादिनी–जो जीवन-भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर अविवाहित रहतीं और धर्मस्शात्र के अध्ययन में ही अपना अधिक समय व्यतीत करती थीं, तथा (२) सद्योद्वाह–ये कन्याएँ आठ-नौ वर्ष तक निरन्त शास्त्रों का अध्ययन, संस्कारों की विधि और शुद्ध मंत्रोच्चारण सीख कर गृहस्थ-धर्म प्रविष्ट में होती थीं।

इस युग में कर्म-काण्ड की जटिलता वढ़ने के कारण स्त्रियाँ पतियों के साथ वैठ-कर पूरी यज्ञ-क्रिया नहीं कर सकती थीं। अनार्य स्त्रियाँ भी यज्ञ-कार्य को ठीक तरह सम्पादित नहीं कर सकती थीं। जब शास्त्रकारों ने उन्हें शूद्र के समान वेदों का अनाधि-कारी बताया तो स्त्रियों का वैदिक-अध्ययन वन्द हो गया और अध्ययन के अभाव में उनमें बाल-विवाह भी होने लगा।[4] अनुलोम-प्रथा से भी स्त्रियों के गौरवपूर्ण पद को हानि पहुँची तथा तपस्या की प्रवृत्ति वढ़ने के कारण जब संसार-त्याग एक आदर्श माना जाने लगा तो स्त्री, जो इस त्याग में सबसे बड़ी बाधा है, अनादर की दृष्टि से देखी

१. ऐतरेय ब्राह्मण, ३, २३
२. अथर्व-वेद; ३, ३०, १, ३
३. संस्कृति-साहित्य का इतिहास—वाचस्पति गैरोला; पृ० १७८
४. 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास'—डा० हरिदत्त वेदालंकार; पृ० ५४-५५

पड़ी थी।[1] एक स्थान पर सीता कहती हैं कि हे लक्ष्मण, श्री रामचन्द्र के बिना मैं गोदावरी में डूब मरूँगी, गले में फांसी लगाकर मर जाऊँगी, किसी ऊँचे स्थान से गिरकर प्राण दे दूँगी, हलाहल विष पी लूँगी, अग्नि में कूदकर भस्म हो जाऊँगी, किन्तु पर-पुरुष का स्पर्श मैं कदापि न करूँगी। कारण स्त्री के लिए पति ही देवता, पति ही बन्धु और पति ही गुरु है। अतएव स्त्री को प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने पति को प्रसन्न रखना चाहिए।[2] इसी प्रकार की उक्ति सीता ने हनुमानजी के साथ वार्तालाप करते हुए प्रकट की है, जो निःसन्देह विशुद्धि के चरम उत्कर्ष की सूचिका है। सीता के हृदय में राम सदैव विराजमान रहते थे।[3] वास्तव में सीता, पति की दासी, सहधर्मिणी और पति की इच्छा पर अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तत्पर एक आदर्श भारतीय नारी है। इस काव्य में जानकी का शील वाल्मीकि की प्रतिभा का विलास है, पातिव्रत-धर्म का उत्कर्ष है, तथा आर्य-ललना की विशुद्धि का प्रतीक है'।[4]

वास्तव में प्रेम और सौन्दर्य के इस आदि कवि ने सीता की प्रेम-भावना, आध्यात्मिक सौन्दर्य और रूप-लावण्य के चित्रण में अपनी समस्त प्रतिभा ही अर्पित करदी है। इसी से वह विश्व साहित्य की एक अद्भुत वस्तु बन गई है। इस ग्रन्थ में पग-पग पर पातिव्रत्य-धर्म की महिमा गायी गयी है। राम अपनी माता से वार्तालाप करते हुए कहते हैं कि जब तक स्त्री जीवित रहे, तब तक उचित है कि वह अपने पति ही को अपना देवता और स्वामी माने।[5] जनककुमारी सीता अपने पति से वन जाने की प्रार्थना करती हुई कहती हैं कि जैसे बिना तार के वीणा व्यर्थ है और बिना पहिये के रथ, उसी प्रकार बिना पति के स्त्री को सुख नहीं मिल सकता।[6] नारी के लिए इहलोक और परलोक में एकमात्र पति ही सदा आश्रय देने वाला है। पति ही गति और पति ही धर्म है; पति ही देवता और पति ही प्रभु है; पति ही गुरु और पति ही सर्वस्व है।[7] अनुसूयाजी ने सीता को सान्त्वना देते हुए जिस

१. वाल्मीकि रामायण; ७, ६१, २५
२. वही—अरण्यकाण्ड; ४५, ३७-३८—७, ४८, १७
३. वही—सुन्दरकाण्ड; ३७, ६२-१, ७७, २६
४. 'आलोचना'—काव्यालोचन विशेषांक (जनवरी, १६५६)—आचार्य बलदेव उपाध्याय; पृ० ३७
५. रामायण—अयोध्याकाण्ड; २४, १२, २१
६. वही—सर्ग; २६
७. वही—अयोध्याकाण्ड; २७, ६-२, २१, ६०-२, २४, २१-२, ११८, २

प्रकार सती-धर्म का महत्व दिखलाया है, वह भी प्रत्येक नारी के लिए अनुकरणीय है।[१]

रामायण में पारस्परिक-अनुराग को ही महत्व दिया गया है। पति द्वारा पत्नी के प्रति अनेक प्रकार के उदात्त सम्बोधन—देवि, मनस्विनि, भद्रे, कल्याणि, चारुस्मिते, विलासिनि, मदिरेक्षणे, ललने आदि प्रयुक्त होते थे जिन्हें हमें प्रेमी के अलौकिक अनुराग का द्योतक ही मानना चाहिए। बाले, भीरू, प्रिये आदि सम्बोधन पत्नी के सुकुमार भावों के व्यंजक हैं। पत्नी को उसके पिता, कुल अथवा जन्म-स्थान से सम्बद्ध सम्बोधनों—जनकनंदिनि, मैथिलि, जनकात्मजे, जानकि, वैदेहि आदि—से भी बुलाया जाता था।[२]

वाल्मीकि के रामराज्य में कन्या, परिवार में उपेक्षा का विषय नहीं थी। अविवाहित कन्याओं को मांगलिक तथा उनकी उपस्थिति को शुभ माना जाता था।[३] उन्हें व्यावहारिक और नैतिक शिक्षा दी जाती थी। अनेक कन्याएँ नृत्य-गीत विशारदा तथा वाद्ययंत्रों के प्रयोग में प्रवीण होती थीं।[४] उन्हें पति-वरण में स्वतंत्रता न थी, वे 'पितृवशा' थीं।[५] राजकुमारियाँ बहुधा स्वयंवर करती थीं, पर पिता की शर्त कभी-कभी इतनी कठोर होती थी कि उन्हें स्वयंवर का चुनाव करने की स्वतंत्रता नहीं रहती थी।

इस काल में स्त्रियों को बाहर आने-जाने की स्वतन्त्रता थी। सीता अयोध्या के राजमार्ग से जब अपने पति के साथ वन को गयी थीं, तब जनता ने उन्हें देखा था। युद्धकाण्ड में कथन है कि विपत्तिकाल, युद्ध, स्वयंवर और यज्ञों के अवसरों पर नारियों को देखना दोष नहीं है।[६] महर्षि वाल्मीकि ने सीताजी के सन्ध्या करने एवम् माता कौशल्या के अग्निहोत्र करने का भी वर्णन किया है।[७]

वाल्मीकि-रामायण में अनेक स्थानों पर सजी-धजी नारियों का भी वर्णन प्राप्त होता है। अप्सराओं को विचित्र वेश और प्रेम-वशा नारियों को आकर्षक वस्त्रों

१. वही—अयोध्याकाण्ड, ११७, २३-२४
२. 'रामायणकालीन संस्कृति'—डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास; पृ० १६
३. वाल्मीकि रामायण; ६, १२८, ३८-६, १२८, ६२-२, ४३, १५
४. वही; १, ३२, १३-४, ५१, १७
५. वही; १, ३२, २२-१, ३३, १०-७, ८०, ६-१२
६. वही; २, ३८, ८-६, ११४, २८
७. वही; ५, १५, ४८-२, २०, १५

में चित्रित किया गया है। कवि की दृष्टि में आभूषणों से अलंकृत रमणी कल्पना अथवा उत्प्रेक्षा का परम स्वाभाविक विषय है, तभी तो मनोहर प्राकृतिक दृश्यों की उपमा प्रायः अलंकृत रमणियों से दी गयी है।[1] नारी-सौंदर्य का भारतीय-आदर्श रामायण में स्थल-स्थल पर चित्रित है। सौन्दर्य को अधिक मोहक बनाने के लिए बाह्य साधनों का प्रयोग भी उन दिनों प्रचलित था।[2] नारियाँ शरीर को विविध आभूषणों, पुष्पों और मालाओं से अलंकृत करती थीं।[3]

इस काल में यद्यपि स्त्री के लिए वैधव्य घोरतम विपत्ति मानी जाती थी[4] तथापि विधवाएँ अनादर की पात्र नहीं थीं। राजा दशरथ की विधवा रानियाँ सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करती थीं। शूर्पणखा के विधवा हो जाने पर रावण ने उसे बहुत ढाढ़स बँधाया था और उसके अनादर का प्रतिकार करने के लिए ही उसने सीता का अपहरण किया था। नारी के सौंदर्य चित्रण में सीता, मन्दोदरी, शूर्पणखा, मन्थरा, अंजना और रावण के राजमहल में रहने वाली अनेक सुन्दरियों का वर्णन है।

वाल्मीकि-रामायण में कैकेयी का चित्र भी सर्वांगपूर्ण है। वह सुन्दरी, युवती, पतिपरायणा और राजा की प्राणप्यारी है। दशरथ उसके सौंदर्य पर ही मुग्ध नहीं, उसकी सेवा के भी वशीभूत हैं। इसी सेवा के पुरस्कार-स्वरूप ही उन्होंने स्वेच्छा से दो वरदान दिये थे। कैकेयी के स्त्री-स्वभाव-सुलभ हठ और दर्प का चित्रण भी वाल्मीकि ने अनेक अवसरों पर किया है। कैकेयी अभिमाननी थी, हठी थी, स्वार्थांध थी किन्तु वह माता भी थी और जो कुछ भी उसने किया अपने पुत्र के अनिष्ट की आशंका और भावी हित के लिए किया।

इस प्रकार इस ग्रन्थ द्वारा हमें राम-राज्य की कन्याओं की स्थिति, शिक्षा-दीक्षा, विवाह, दहेज-प्रथा, नारियों की वेशभूषा, परदा प्रथा, प्रेम का आदर्श, नारी-धर्म और नारी-सम्मान के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है।

महा-भारत—महर्षि वेदव्यास का यह काव्य-ग्रन्थ धर्म, नीति, समाज

---

१. वही; २, ५०, २३-३, ४०, ३०-४६-४, २७, १६-५, १४, १३
२. वही; २, ३३, १-२, ३७, ३५-२, ६०, १८-३; ६३, ८-४, १, १०६-४, ३०, ५५
३. वही; २ ५०, २३-३, १६, १७-५, ४, ११-६, १२८, २२-७, २६, १५
४. वही; ७, २५, ४३

सिद्धान्त और अनेक कथाओं का भंडार है। कहा जाता है कि जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं नहीं है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी इन महाकाव्यों की तुलना होमर के महाकाव्य से कर[1] भारतीय नारी के चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[2] 'महाभारत सच्चे अर्थों में प्राचीन भारतवर्ष का विश्वकोश है। इसकी तुलना में यूनान के इलियड और ओडेसी अथवा आइसलैंड और स्कैंडेनेविया के प्राचीन एड्डा और सागा वहुत पीछे छूट जाते हैं।[3]

महाभारत-काल में भी, वैदिक-काल की भाँति, पातिव्रत-धर्म पर विशेष वल दिया गया है, तभी तो पातिव्रत्य-धर्म-परायणा सावित्री ने अपने पिता द्वारा दूसरा वर खोजने की वात सुनकर कहा था कि उसने जिसे वरण किया है, वह दीर्घायु हो अथवा अल्पायु, गुणवान हो अथवा गुणहीन, वही उसका पति होगा, वह किसी अन्य पुरुष को नहीं वर सकती।[4] महाभारत के वनपर्व में पतिव्रता-महात्म्य-पर्व भी है। वहाँ कहा गया है कि नारी पति-सेवा द्वारा ही स्वर्ग-लोक पर विजय प्राप्त कर सकती है।[5] आश्वमेधिक-पर्व में श्रीकृष्ण कहते हैं कि उनके राज्य की समस्त नारियाँ पतिव्रता, रूपवती, आभूषणों से विभूषित और शास्त्रोक्त सदाचार में सम्पन्न और अपने उत्तम गुणों द्वारा पति की प्रसन्नता को वढ़ाने में कारण होती थीं।[6] तपस्विनी महाभाग शाण्डिली देवी ने देव-लोक में सुमना को पातिव्रत्य-धर्म का उपदेश दिया है।[7] इस काल में नारी का मातृ-रूप सवसे अधिक आदरणीय और महत्व का माना

---

1. Indian Epic Poetry—Prof. Monier Williams. Page 4.
2. 'In the delineation of women, Hindu poet throws aside all exaggerated colouring and draws everything from nature. कैकेयी, मन्दोदरी, कौशल्या and even मंथरा all are drawn to the very life. सीता, दमयन्ती and द्रौपदी engage our affections for more than Helen or even than Penelope. Indeed, Hindu wives are generally perfect pattern of conjugal fidelity.'
   'Theogony of the Hindus'—Count Bjornst Jerna. P. 82
३. कला और संस्कृति—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; पृ० ३०
४. महाभारत वनपर्व; २६४, २७
५. वही; २०५, २२
६. वही—वैष्णवधर्मपर्व; २६
७. वही—अनुशासनपर्व; १२३

जाता था एवं माता बनने में ही नारी की सार्थकता समझी जाती थी।[1]

इस काल में भी 'नियोग' की प्रथा प्रचलित थी। पति की मृत्यु अथवा दीर्घकाल तक उसके न होने पर स्त्री अपने देवर अथवा पति के किसी अन्य गोत्रज से सन्तान उत्पन्न करा सकती थी।[2] पति भी चाहे तो अपनी पत्नी के गर्भ से अन्य पुरुषों के नियोग द्वारा अधिक पुत्र उत्पन्न करा सकता था। इस प्रकार का आदेश पाण्डु द्वारा कुन्ती को दिया गया था।[3] निःसन्तान अवस्था में अथवा पति के सन्तानोत्पादन में अक्षम होने पर भी स्त्री को अन्य पुरुष के सहयोग से सन्तान उत्पन्न कराने का अधिकार प्राप्त था। आदिपर्व में सत्यवती ने अपने पुत्र को बिना सन्तान मृत्यु हो जाने पर उसके भाई भीष्म को उसकी स्त्रियों से नियोग करने का आदेश दिया है। यहीं राजा बलि की धर्मपत्नी रानी सुदेष्णा के साथ ऋषि दीर्घतमा द्वारा किये नियोग का वर्णन है। विचित्रवीर्य की धर्मपत्नियों ने भी महर्षि व्यास के साथ नियोग किया था जिससे पाण्डु आदि तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे।

समाज में विधवा-विवाह, बहु-विवाह तथा बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। ऐक्ष्वाकव राजा दशरथ के तीन रानियाँ थीं। राजा विदुर ने शूद्र कन्याओं से विवाह किया था।[4] राजा शान्तनु ने गंगा की मृत्यु हो जाने पर एक मछुए की कन्या सत्यवती से विवाह किया था।[5] क्षत्रियों में राक्षस-विवाह (कन्या का बल-पूर्वक हरण) बहुतायत से होने लगे थे। अर्जुन का सुभद्रा-हरण, कृष्ण का रुक्मिणी-हरण और दुर्योधन का कलिंग-राजपुत्री का हरण इसके उदाहरण हैं। भीष्म राक्षसों को हराकर काशिराज की तीन कन्याओं को बाहुबल द्वारा हरण कर लाये थे।[6] द्रौपदी के पाँच पति होना यह सिद्ध करता है कि उन दिनों कुछ वंशों और जातियों

---

१. 'नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया॥'—वही—शांतिपर्व; २६७, ३१
....
'नास्ति सत्यात्परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः'—वही; ३४३, १८

२. 'नारी तु पत्यभावे वै देवरं वृणुते पतिम्'।—वही १३, १२, १६—अनुशासन-पर्व; ४४, ५१

३. वही; १, १३२, ६३-६४

४. वही—आदिपर्व; ११४, १२, १३

५. वही; २६, ६७

६. वही—उद्योगपर्व १७३, २

में बहुपति-विवाह की प्रथा भी विद्यमान थी। अभिमन्यु का विवाह सोलह वर्ष की आयु में हुआ था। अनुशासन-पर्व में भीष्म ने व्यवस्था दी है कि तीस वर्ष की आयु का पुरुष दस वर्ष की कन्या से और इक्कीस वर्ष का पुरुष सात वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है।[१]

इस काल में स्त्रियों में अनेक अनुचित प्रथाएँ और भ्रममूलक विश्वास प्रचलित थे। नारियाँ अपने पति को छल-कपट, जादू-टोने आदि द्वारा वश में करने का प्रयत्न किया करती थीं। वनपर्व में सत्यभामा, द्रौपदी से प्रश्न करती है कि तूने अपने पतियों को किस प्रकार वश में किया है? कर्णपर्व के अध्ययन से मालूम होता है कि राजघरानों की स्त्रियों में जल-विहार की प्रथा प्रचलित थी और स्त्रियों में व्यभिचार की भी वृद्धि हो रही थी। उस काल में दासी-प्रथा भी थी और परदे का रिवाज भी आरम्भ हो गया था।[२]

महाभारत में हम नारी के दो रूप पाते हैं। प्रथम रूप में वह गौरवमयी, सम्मान की पात्री एवम् लक्ष्मी-स्वरूपिणी है और दूसरे रूप में वह समस्त दोषों की मूल, पापिनी और व्यभिचारिणी मानी गयी है। अनुशासन-पर्व में कहा गया है कि स्त्रियाँ ही घर की लक्ष्मी हैं। उन्नति चाहने वाले पुरुष को उनका भलीभाँति सत्कार कर उन्हें अपने वश में रखना चाहिए। उनका पालन करने से स्त्री श्री (लक्ष्मी) का स्वरूप ब1न जाती है।[३] महाभारत के आदिपर्व, वनपर्व तथा स्त्री-पर्व में नारी जाति के प्रति बड़ा सम्मान व्यक्त किया गया है। नारी प्रशंसा में कहा गया है कि स्त्री ही घर है; जिस घर में स्त्री नहीं, वह घर नहीं है।[४] शकुन्तला दुष्यन्त से कहती है कि स्त्री-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल है, वह सबसे बड़ी मित्र है।[५] भीष्म ने

---

१. महाभारत—अनुशासनपर्व; ४४, १२
२. वही—विराट-पर्व; १६, ८
३. वही—अनुशासनपर्व, ४६, १५
४. 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते'—शांति-पर्व; १४४, ६६
....
'सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥'—वही; १४४, १२. १७
५. 'अर्धभार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥—आदिपर्व; ७४, ४०

सत्रह श्लोकों में नारी की बड़ी प्रशंसा की है—नारी प्रशंसा सम्बन्धी वे सूक्तियाँ बड़ी ही प्रसिद्ध हैं। राजा नल और महाराज युधिष्ठिर[1] ने भी भार्या की बड़ी प्रशंसा की है।

इसके विपरीत महाभारत के पंचचूडा और नारद-संवाद में स्त्री की निन्दा करते हुए कहा गया है कि स्त्री सबसे अधिक पापी, माया, आग, साँप, विष, झूठी, मक्कार, चंचल, दुश्चरित्र और कृतघ्न है। स्त्री को कदापि स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए। स्त्रियाँ प्रकृति के तुल्य हैं, अतः क्षेत्र स्वरूपा हैं और पुरुष क्षेत्रज्ञ रूप हैं (जैसे प्रकृति अज्ञानी पुरुष को बांधती है, उसी भाँति ये स्त्रियाँ पुरुषों को अपने मोह-जाल में बाँध लेती हैं), अतएव सामान्यतः प्रत्येक पुरुष को विशेष प्रयत्नपूर्वक स्त्री के संसर्ग से दूर रहना चाहिए।

इस प्रकार इन महाकाव्यों में चित्रित नारियाँ—द्रौपदी, दमयन्ती, कुन्ती, सावित्री, सीता तथा कैकेयी अपनी स्थिति और युग की नारी-भावना को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। विशेषकर महाभारत की 'द्रौपदी का चरित्र नारी-जीवन की परिसीमाओं तथा शक्तियों का प्रतीक है। उसका अस्तित्व पुरुष के अस्तित्व में विलीन नारीत्व नहीं, भावनाओं, विचारों, तर्कों तथा अन्य प्रत्येक क्षेत्र में शक्तिशाली स्त्रीत्व है।........................मातृत्व, पत्नीत्व, प्रेयसी रूप उसके व्यक्तित्व में साकार हैं।[2]

भारतीय विद्या भवन, बम्बई की प्राध्यापिका डा० (कुमारी) शालिनी जोशी ने अपने शोध-प्रबन्ध "वीमैन इन दा महाभारत" (महाभारत के नारी-पात्र) में

---

१. 'नास्ति भार्या समं किञ्चिन्नरस्यार्तस्य भेषजम्'
....
'नास्ति भार्या समोबंधुर्नास्ति भार्या समागतिः'
....
'यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥'—आपद्धर्म पर्व; ७, १६-१७
'नास्ति भार्या समं मित्रं नरस्यार्तस्य भेषजम्'—नलोपाख्यान, ६१, ३०
'पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या देवकृतस्सखा'—वही; ६१
अनुशासन पर्व ३८–वही २०, १४–वही शान्तिपर्व; २१३, ८

२. 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—डा० सावित्री सिन्हा पृ०; १५-१६

महाभारत के १६० नारी-पात्रों की विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने इन नारी-पात्रों को पांच वर्गों में-राजपरिवार की महिलाएँ दरबारी महिलाएँ, दासियाँ, अप्सरा और राक्षसी विभाजित किया है। लेखिका के अनुसार महाभारत-काल में नारी प्रशंसा की पात्र थी।[१]

जैन और बौद्ध काल—जैनधर्म में नारी के मातृ रूप, पातिव्रत धर्म और सतीत्व धर्म पर अधिक बल दिया है। उस युग की नारी में कर्तव्य-पालन और त्याग की भावना विद्यमान थी एवम् स्त्रियाँ शासन सम्बन्धी प्रबन्ध करने में भी कुशल थीं। चालूक्य वंशीय विजय भट्टारिका, लक्ष्मीदेवी, अन्मादेवी, मलयादेवी राज्य-शासन और युद्ध कला में प्रवीण थीं। राजशेखर की पत्नी एक कवयित्री-आलोचिका और शील भट्टारिका एक अच्छी साहित्यकार थी। मंडन मिश्र की पत्नी उभय भारती को श्री शंकराचार्य और मंडन मिश्र के शास्त्रार्थ की मध्यस्था बनाया गया था।[२]

अन्य धर्मों की भांति इस धर्म ने भी काम और वासना से दूर रहने पर अधिक बल दिया है और काम का साधन तथा वासना का मूल मानकर नारी को त्याज्य बतलाया है। अतएव ईसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल से ही नारी की मान और मर्यादा नष्ट होने लगी थी और सम्राटों तथा राजाओं के अन्तःपुर में रूपवती कोमलांगी स्त्रियों की संख्या वृद्धि पर थी। दिगम्बर-सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि नारियों का भिक्षुणी बनना व्यर्थ है। उनके-लिए तो सीमित धर्म का पालन ही श्रेयस्कर है, जिससे वे पुरुष का जन्म प्राप्त कर सकें, क्योंकि मुक्ति तो पुरुष-जन्म में ही संभव है।[३] जैन-आचारांग-सूत्र (१, २, ४, ३) में नारी-निन्दा करते हुए बतलाया गया है कि पुरुष स्त्रियों को सुख का साधन मानते हैं किन्तु वे तो वास्तव में अज्ञान, दुःख, मृत्यु और नरक का द्वार हैं। वे पुरुष के सिद्धि-मार्ग की सबसे बड़ी बाधा, माया-रूप मरीचिका तथा मृत्युपाश हैं। 'स्त्रियाँ

---

२ 'A good wife is highly praised in Mahabharat. To protect and feed her was the duty of her husband............... The Epic husband had high regard for his wife. Due respect was given to her owing to her virtues'.

—Woman in Mahabharat–Miss S. N. Joshi
Bombay Sept. 1958. Page 338

२. ग्रेट वीमेंन ऑफ इंडिया—डा० ए० एस० अल्तेकर; पृ० ४२-४३

३. 'संस्कृति के चार अध्याय'—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'; पृ० १४१

वाणी में अमृत रखती हैं किन्तु उनके हृदय में विष भरा हुआ है। वे स्वभाव से ही कुटिल हैं। स्त्री पुरुषों को वज्राग्नि की ज्वाला के समान और सांप की दाढ़ के समान भय और सन्ताप देने वाली है।[1] एक अन्य आचार्य ने भी नारी को मागा, अस्थिर मना, अपकारी, असत्य भाषण में चतुरा तथा कुल को कलंकित करने वाली कहा है।[2]

जैन-साहित्य के विद्वान और सुप्रसिद्ध शोधकर्ता श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'सभा शृंगार' में नायिकाओं के अंगों का विस्तृत वर्णन किया गया है और नारी के चालीस प्रकार—श्यामा, नवांगी, नवयौवना, पीनस्तनी, हस्तमुखी, चकोराक्षी, चित्तहरिणी, चन्द्रमुखी आदि—बतलाये गये हैं।

हमारे देश में बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति और विकास के पूर्व वैदिक-धर्म का बोलवाला था। इस धर्म की नारी अन्यायों के भार से दबी जा रही थी। शास्त्रकारों ने उसे व्यक्तिगत उपासना और आराधना के अधिकार से भी वंचित कर दिया था। उसी पीड़ित नारी को बौद्ध-धर्म द्वारा सहानुभूति प्राप्त हुई क्योंकि यह विवाहित-अविवाहित, विधवा,वन्ध्या,वेश्या, पतिता सभी को अंगीकार करता था। इस धर्म द्वारा धार्मिक कार्यों में समान रूप से सम्मिलित होने का अधिकार मात्र पुत्रवती सधवा नारियों को न देकर अन्य सभी प्रकार की नारियों को भी प्राप्त हुआ।

बौद्ध-साहित्य में जातकों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन ५४७ जातकों में गौतम बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओं के साथ दाम्पत्य-जीवन सम्बन्धी कई कहानियाँ हैं। इनसे ज्ञात होता है कि उस काल में भारतीय नारियों की स्थिति पहले जैसी न थी। उन दिनों आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे किन्तु प्रजापत्य, स्वयंवर और गन्धर्व का ही बौद्ध-साहित्य में विशेष उल्लेख पाया जाता है। इस काल में बहुविवाह की प्रथा थी। राजा लोग, अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करके, उनमें से जिन्हें भी चाहें, शीघ्र त्याग दिया करते थे और यह केवल उनकी इच्छा पर ही निर्भर रहता था।[3] तब विधवा-विवाह की प्रथा भी थी। यदि किसी स्त्री का पति अयोग्य होता है तो वह उसका तलाक दे न्यायालय में पति के विरोध में न्याय की अपेक्षा कर सकती थी। उन दिनों परदे की प्रथा का प्रचलन बड़े-बड़े घरों में पाया जाता था। सन्यासिनी (परिव्राजिका) एवम् बौद्ध-भिक्षुणी (थेरी) को समाज में अधिक स्वतंत्रता

---

१. ज्ञानार्णव—श्री शुभचन्द आचार्य; १२, २-३
२. सुभाषित-रत्न-संदोह-श्री अमितगति आचार्य; ११६
३. बौद्ध-साहित्य की सांस्कृतिक झलक-श्री परशुराम चतुर्वेदी; पृ० ५४

थी। कुछ असभ्य जातियों में स्त्री-विक्रय की प्रथा भी थी। कुस-जातक से विदित होता है कि तब 'नियोग' की प्रथा भी प्रचलित थी। रानियाँ एक पति का त्याग कर दूसरा पति कर सकती थीं। एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ आपस में झगड़ती रहती थीं। नारियों को पति के साथ उत्सवों में जाकर सबसे मिलने की स्वतंत्रता थी। भगवान बुद्ध के निर्वाण का समाचार पाकर मल्लकुल के स्त्री-पुरुष और बालक कुशीनगर गये थे।

कुरुधम्म जातक के अनुसार इस काल में वारांगनाओं की भी धूम थी। ये आधुनिक वेश्याओं की भाँति समाज में पुरुषों की वासनापूर्ति का ही कार्य नहीं करती थीं, अपितु उन्हें उच्च कोटि की अनेक कलाओं का समुचित ज्ञान रहता था। वेश्या-प्रसंग की लत सेठ-पुत्रों, कर्मचारियों और पुरोहितों तक में देखने को मिलती है। वे राज्य में भी प्रमुख स्थान रखती थीं। रूप और लावण्य की साकार प्रतिमा आम्रपाली, वैशाली की प्रधान गणिका थी। मदन सेनिका, पुष्पदासी, पराक्रमिका, रामदासी, मयूर सेना, कावेरिका आदि अनेक गणिकाएँ नगरों में सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं।

इस युग में बाल-विवाह का अभाव था और क्षत्रियों में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। गुप्त-युग में लिखे गये महाकवि कालीदास, भारवि तथा दण्डिन के महाकाव्यों और मौर्य-कालीन अशोक के लेखों से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

यद्यपि सिद्धान्त से बौद्धकाल में नारी की स्थिति में सुधार किया गया और नारी के प्रति आदर-भाव भी प्रकट किया गया है,[1] तथापि भिक्षु-संस्थाओं में नारी का स्थान अपेक्षाकृत हेय ही रहा, कारण कि यह धर्म वैराग्य-प्रधान था और नारी से दूर रखने के लिए उसके प्रति घृणा और विरक्ति का भाव उत्पन्न करना एवम् सौंदर्य को नश्वर और भ्रांतिपूर्ण मानना आवश्यक था। बंधन-मोक्ख, धम्मद्ध, पब्बत् पत्थर, महापदुम, असात मंत्र और अंडभूत जातकों में नारी की निंदा करते हुए कहा गया है कि स्त्रियाँ पापिनी और असाध्वी होती हैं, उनमें काय प्रगल्भता, वाक् प्रगल्भता और मन प्रगल्भता होती है। स्त्रीत्व को बौद्ध-लोग हीनत्व का सूचक मानते थे तभी तो 'शिक्षा-समुच्चय' में स्त्रियों को पुरुष बनने के लिए शुभाशंसा है। स्त्रियाँ पुरुष बनकर ही शूर, वीर, पंडित बन सकती थीं तथा छः पारमिताओं का अभ्यास कर सकती थीं।[2] बौद्ध-ग्रन्थ 'चूल वग्ग' के अनुसार बुद्ध की माता महाप्रजापति गौतमी

---

१. अंगुत्तर निकाय; पृ० १, २, १-७

२. बौद्ध-दर्शन मीमांसा-डा० बलदेव उपाध्याय; पृ० २२

को भी तीन बार संघ में प्रवेश पाने की आज्ञा नहीं मिलती थी किन्तु अन्त में आठ कठोर नियम बन जाने पर ही वे प्रवेश पा सकीं।

जातक-युग में यद्यपि स्त्री-जाति, समाज के एक गलित अंग की भाँति समझी जाती थी और वह अपना पूर्ण सम्मान भी बहुत कुछ खो चुकी थी तथापि हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि 'भगवान बुद्ध ही सर्वप्रथम ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने इस युग की करुणा-पात्र नारी को घर के संकुचित वृत्त से बाहर संसार की सेवा और शान्ति के निमित्त संन्यास की अनुमति देकर एक नया मार्ग खोला।'[1] भगवान आरम्भ में स्त्रियों को भिक्खुनी बनाने के पक्ष में नहीं थे, किन्तु बाद में उन्होंने अपने परम-प्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह पर उन्हें भिक्खुनी बनाना स्वीकार कर आध्यात्मिक-जीवन का मार्ग खोला। आगे चलकर भगवान बुद्ध अपने कार्य पर पश्चाताप करते हुए अपने शिष्य आनन्द को बतलाते हैं कि जहाँ संघ पहले दीर्घजीवी होता और एक हजार वर्ष तक रहता वहाँ वह (स्त्रियों को दीक्षित कर लेने के परिणामस्वरूप) अब पांच सौ वर्ष चलेगा, अधिक टिकाऊ नहीं रहेगा।[2]

भिक्षुणी संघ में गौतमी के बाद उनकी पुत्री नंदा और भद्दा कच्चाना (बुद्ध पत्नी यशोधरा) भी संघ में प्रविष्ट हुईं। थेरी-गाथा में भिक्षुणियों के नाम उल्लखित हैं जिनमें १२ प्रसिद्ध और ऐतिहासिक हैं।[3]

भगवान बुद्ध ने सुजाता-जातक (२६९) में एक धनवान सेठ 'अनाथ पिंडका' की बहू को उपदेश देते हुए संसार में सात प्रकार की पत्नियां बतलायी हैं :–

१. वधक-भार्या—जो दुष्ट चित्तवाली, दयारहित, अन्य पुरुषों को चाहने वाली तथा अपने पति के साथ विश्वासघात करती है।
२. चोर-भार्या—जो सदा अपनी आवश्यकताओं और सुख की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहती है और अपने पति का धन चुराती है।
३. आर्या-भार्या—जो आलसी, कटुभाषिणी और अपने पति को सेवक की भाँति समझती है।
४. माता-भार्या—जो अपने पति के साथ ऐसा दयापूर्ण उचित व्यवहार करती है जैसे माता अपने पुत्र से।
५. भगिनी-भार्या—जो लज्जा और प्रेम के साथ अपने पति की सेवा करती है।

---

१. प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ; पृ० ६७२
२. हिन्दू सभ्यता-डा० राधाकुमुद मुकर्जी; पृ० २५८
३. ,, ,, ,,

६. सखी-भार्या—जो पतिव्रता, कुलशीलवाली और मित्र-का-सा व्यवहार करती है एवम् अपने पति के सुख-दुःख में साथ देती है।
७. दासी-भार्या—जो अपने पति को कभी दुःख नहीं देती, शान्त स्वभाव वाली, सहनशील और जीवन-पर्यन्त पति सेवा ही अपना धर्म मानती है।

वीतराग भिक्षु-भिक्षुणियों के गीतों से भी हमें साध्वी, नगरवधू, महिषी, क्रीतसेविका आदि का परिचय प्राप्त होता है। थेरी-गाथाओं में भिक्षुणी बनी राजकुमारियों, सामन्तों की कन्याओं, ब्राह्मण-कन्या, बढ़ई की पुत्री शुभा, बहेलिया की पुत्री चापा और अम्बपाली गणिका का वर्णन है। भगवान बुद्ध ने श्रावस्ती की पटाचारा, कृशा गौतमी, दंतिका, पूर्णिका और कोसल जनपद की मुक्ता, सुमंगल माता का जीवन सुधारा था। ध्रुव-स्वामिनी, राज्यश्री, महाश्वेता और कादम्बरी के चरित्रों द्वारा इस युग की नारी-भावना का सहज ही मूल्यांकन किया जा सकता है।

स्मृति-काल—हमारे देश में छठी शताब्दी के लगभग नारद और बृहस्पति ने स्मृतियों की रचना की थी–फिर अत्रि, हरित, उशनस, अंगिरस, याज्ञवल्क्य, यम, समव्रत, कात्यायन, पाराशर, वशिष्ठ, व्यास, सरतापत, काश्यप, गार्ग्य, प्रचेता आदि ने स्मृतियाँ लिखीं। इन स्मृतियों में वर्णाश्रम-धर्म, राजा के कर्तव्य तथा अन्य राजनीतिक सिद्धान्तों के साथ-साथ नारी-धर्म पर भी विस्तृत चर्चा की गई है। इन स्मृतियों ने बिखरे हुए वैदिक-सिद्धान्त और उपदेश संग्रह किए हैं (वेद तुल्या हि स्मृतिः), आर्यों के लिए श्रुति और स्मृति यही दो मुख्य प्रमाण माने गये हैं।

कृष्ण-यजुर्वेद की तैतिरीय-शाखा की आवान्तर मानवीय शाखा एवं मानव-गृह सूत्र और सौत्र-सूत्र के रचयिता मनु महर्षि ही मनु स्मृतिकार हैं। ये अपने को 'मनु-स्मृति' लिखते समय मनु प्रजापति के रूप में देखते हुए वहीं से मनुस्मृति आरम्भ करते हैं।

मनुस्मृति द्वारा तत्कालीन नारी की स्थिति का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। उन्होंने अनेक स्थलों पर नारी-प्रशंसा के गीत गाये हैं और यहाँ तक लिख डाला है कि जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, उस घर में किये गये सम्पूर्ण कार्य निष्फल हो जाते हैं।[1] जिस कुल में पुत्री, बहिन, पत्नी, पुत्रवधू, भ्रातृवधू, देवरानी, सास, ननद, जेठानी, भौजाई आदि सम्बन्धी स्त्रियाँ (दुःख के कारण) शोक करती हैं, उस कुल का शीघ्र ही नाश हो जाता है और जिस कुल में ये स्त्रियाँ शोक

---

१. 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥'-मनुस्मृति-३।५७

नहीं करतीं; वह कुल सदा उन्नत होता रहता है।[1] जिस कुल में पति सदैव स्त्री से सन्तुष्ट और पति से स्त्री प्रसन्न रहती है वहां निश्चय ही अचल कल्याण होता है।[2] स्त्री की प्रसन्नता में ही कुल प्रसन्न होता है और उसकी अप्रसन्नता में सभी दुःख-दायक बन जाता है।[3] मनु ने इस ग्रन्थ के पांचवें, नवें तथा ग्यारहवें अध्याय में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी अनेक नियमों को सविस्तार लिखा है। उन्होंने हिन्दू सामाजिक सिद्धान्त का जो रूप प्रतिपादित किया है, वह आज तक चल रहा है। उन्होंने स्त्री-पुरुष के नियम, स्त्री-रक्षा के नियम, स्त्री आपद्धर्म, परदेश जाने वाले की स्त्री का धर्म और स्त्री-धन का विस्तार से वर्णन किया है।[4] वे घर को नहीं, नारी को ही घर मानते थे और गृहस्थ-धर्म के पालन में नारी को ही प्रधानता समझते थे।[5] उनका कथन है कि पिता, भाई, पति आदि सबको स्त्रियों का आदर करना चाहिए और उत्सवों पर भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि भेंट कर उनका सम्मान करना चाहिए।[6] उन्होंने नारी के जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक नारी की रक्षा करने की बात कही है और नारी तथा पुरुष के पद को समान माना है। वे पुत्र के समान ही पुत्री को अथवा पुत्री के पुत्र को मानते हैं।[7]

मनु ने नारियों के धर्म तथा विधवा स्त्री के कर्तव्यों का भी सविस्तार वर्णन किया है।[8] उन्होंने पति-सेवा को अधिक महत्व देते हुए बतलाया है कि शीलहीन, स्वेच्छाचारी एवम् गुणहीन पति भी साध्वी स्त्री के लिए देवता के समान पूजनीय है। स्त्री का पति ही देवता है और उसी की सेवा से वह स्वर्ग में पूजी जाती है।[9]

---

१. 'शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥'—वही; ३।५८

२. 'संतुष्टो भार्यया भर्ता, भर्ता भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥'—वही; ३।४४

३. वही; ३।६०-६२

४. वही; ९।१, ९-१०।१३-१८।१८।२९-४२।४४-११२-११६

५. वही; ९।२६

६. वही; २।५०-५८-३।५६, ५६

७. वही; ९।५२-९।१३०-१३९

८. वही; ५।५४-५९-१५७-१५८, १६०

९. वही; ५।१५४, १५५

मनु ने माता का पद परिवार में सर्वोच्च माना है[1] और पुत्र की मृत्यु हो जाने पर सम्पत्ति का अधिकार माता को प्रदान किया जाता है। यदि माता न हो तो पिता की माता (दादी) को यह अधिकार प्राप्त है।[2]

मनुस्मृति के अनुसार इस काल में आठ प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध होते थे जिनमें प्रथम चार (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य) श्रेष्ठ और अन्तिम चार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पिशाच) कुत्सित माने जाते थे।[3] कन्या विक्रय के कार्य का मनुजी ने बड़ा विरोध किया है।[4] यद्यपि मनु ने नारी की सदैव रक्षा करते हुए भी उसे कभी स्वतंत्रता न देना ही श्रेयस्कर माना है[5] तथापि उन्होंने लिखा है कि यदि माता-पिता / अभिभावक विवाह योग्य अवस्था हो जाने पर भी उसके विवाह की व्यवस्था नहीं करते तो स्वयम् कन्या को अपना पति चुन लेना चाहिए। उनके अनुसार कन्या को अतिरिक्त अंगों से रहित, सुन्दर नामवाली, हंस और हाथी की भाँति गंभीर चाल वाली, छोटे रोएं, केश और दाँत वाली और कोमल शरीर वाली होनी चाहिए।[6]

वैदिक कालीन 'नियोग' सम्बन्धी व्यवस्था को भी आगे बढ़ाने का मनु ने प्रयत्न किया है। उन्होंने विधवा द्वारा देवर से पुत्र उत्पन्न कराने की बात कही है, + और देवर के अभाव में यह कार्य किसी उच्च-कुलीन पुरुष द्वारा सम्पन्न कराया जा सकता है। यहाँ तक कि यदि पति धार्मिक कार्य से परदेश गया हो तो आठ वर्ष तक, विद्या-प्राप्ति के लिए परदेश गया हो तो छः वर्ष तक तथा धन कमाने परदेश गया हो तो तीन वर्ष तक स्त्री उसकी प्रतिक्षा करे—फिर वह अन्य पुरुष से सन्तान उत्पन्न करा सकती है[7]।

मनुस्मृति की नारी-भावना के सम्बन्ध में यूरोप के महान दार्शनिक विद्वान नीत्शे ने लिखा है कि मनुस्मृति को छोड़ कर मेरे देखने में ऐसी कोई दूसरी पुस्तक

---

१. 'उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणाति रिच्यते॥'—वही; २।१४५-४६

२. वही; ९, २१७

३. वही; ३, २१-२, ३९-४१

४. वही, ९।९८, १०२

५. वही; ९, ३-५, १४८

६. वही; ३, १०

७. वही; ९, ६९-९, ५८।५९।१५९-९, ६०, ७६

नहीं आई, जिसमें स्त्रियों के प्रति इतने अधिक ममतापूर्ण तथा दयापूर्ण उद्‌गार हों। इन श्वेत जटाधारी ऋषि-मुनियों का नारी के प्रति सम्मान का कुछ ऐसा ढंग है कि उसका कदाचित् अतिक्रमण नहीं हो सकता।[1] मनुस्मृति के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मतों पर विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनु के उपदेश प्रारम्भ में गाथा-रूप में थे, फिर मानव-धर्मसूत्र रूप में, फिर भृगुजी द्वारा उन्हें श्लोकों के रूप में परिवर्तित किया गया और बाद में उनमें समय-समय पर अनेक क्षेपक मिला दिये गये।

मनुस्मृति के अतिरिक्त आर्य-पाराशर, व्यास, याज्ञवल्क्य, नारद और सांख्य-स्मृति में भी नारी सम्बन्धी कर्तव्यों के सम्बन्ध में निर्देश प्राप्त होते हैं। पाराशर स्मृति में बतलाया गया है कि जो स्त्री सती हो जाती है, वह करोड़ वर्ष स्वर्ग में निवास करती है और पति की आत्मा को भी अपने समीप खींच लेती है। जो विधवा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करती है, वह भी स्वर्ग पाती है।[2] इस स्मृति के अनुसार कन्याओं का विवाह बारह वर्ष के पूर्व ही कर देना चाहिए। नारदस्मृतिकार का कथन है कि स्त्रियों की सृष्टि अपत्य (सन्तान) के लिए हुई है। स्त्री क्षेत्र है और नर बीजी है। क्षेत्र बीजवान को देना चाहिए, अबीजी को क्षेत्र देना उचित नहीं।[3] इन स्मृतियों ने पत्नी के दो फल कहे हैं—रति और पुत्र (रति पुत्र फला दाराः)—रति को भी पुत्र के समान फल मान लेने के कारण स्मृतिकाल में नारी का भोग्य रूप कुछ अधिक सामने आ गया है। इस काल में पाँच प्रकार की कन्याएँ विवाह योग्य मानी गई हैं—नग्निका (वस्त्रहीन होने पर लज्जा रहित), गौरी (अष्टवर्षीया), रोहिणी (नव वर्षीया), कन्या (दस वर्षीया) और रजस्वला (जिसका रजोधर्म प्रारम्भ हो गया हो)—याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी सविस्तार उत्तम लक्षण की कन्या, विवाह-प्रकार, विवाह योग्य कन्या, स्त्री-कर्तव्य, स्त्री-धन का वर्णन किया गया है। यह स्मृति भी स्त्री की स्वतंत्रता किसी भी अवस्था में ठीक नहीं मानती।[4] पंचतंत्र के 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते' भाव को इस स्मृति में

1. 'I know of no book in which so many delicate and kindly things are said of the woman as in the Law Book of Manu; these old grey-heads and saints have a manner of being gallant to woman which perhaps cannot be surpassed'—
'Anti-Christ'—P. 214-15.
२. पाराशर-स्मृति; ४, २-१५, ४, २७-२६
३. नारद-स्मृति—स्त्री पुंयोग; १२-१६, १५, ४५-५३
४. याज्ञवल्क्य-स्मृति—विवाह प्रकरणम्—श्लोक; ८५

भी प्रदर्शित किया गया है।[1] इन स्मृतिकारों विशेषकर बृहस्पति, प्रजापति, वशिष्ठ, विष्णु, व्यास ने विधवा के उत्तराधिकार का समर्थन किया है और स्त्री-धन के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करने का प्रयत्न कर स्त्रियों के साथ काफी उदारता का परिचय दिया है।

इस प्रकार हमें स्मृति-काल में नारी के विविध धर्मों, कर्तव्यों तथा अधिकारों का सविस्तार उल्लेख प्राप्त होता है जिसकी सहायता से हम तत्कालीन नारी की और समाज में उसके स्थान का सहज ही निर्णय कर सकते हैं।

नीति-काव्य और नारी—नीति-काव्य की परम्परा अत्यंत प्राचीन और विशाल है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में नीतिपरक सूक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। 'नीति' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत की 'णीय' धातु से है, जिसका अर्थ 'लेजाना' या 'पथ प्रदर्शन करना' होता है..............समाज को स्वस्थ्य एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति करने के लिए जिन विधि-निषेधमूलक सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आदि नियमों का विधान देश, काल और पात्र के संदर्भ में किया जाता है, उसे 'नीति' शब्द से अभिहित करते हैं।[2] नीति-मंजरी संस्कृत ग्रन्थ के रचयिता के अनुसार जो कर्तव्य और अकर्तव्य को स्पष्ट करे, वही नीति है।[3] संस्कृत साहित्य की धौम्य-नीति, विदुर-नीति, शुक्र-नीति, चाणक्य-नीति, नीति-शतक (भर्तृहरि) और कामन्दक-नीति प्रसिद्ध हैं।

शुक्र-नीति आर्थिक मामलों में स्त्रियों को बिलकुल पराधीन मानती है। उसके अनुसार स्त्रियां स्वभाव से ही पाप करने वाली और झूठ बोलने वाली होती हैं, अतः उनकी साक्षी नहीं लेनी चाहिए।[4] स्त्री में आठ स्वाभाविक दुर्गुण और दोष होते हैं।[5] हितोपदेश के अन्तर्गत मित्रलाभ, सुहृद-भेद, विग्रह और संधि प्रकरण में अनेक कथाओं द्वारा नारी-जाति के चरित्र पर आपेक्ष किये

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति; १, ८२
२. 'हिन्दी साहित्य कोश'; पृ० ४२०
३. 'एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमित्यात्मको यो धर्मः सा नीतिः।"
४. शुक्र-नीति; १६१
५. 'अनृतं साहसं माया मूर्खत्वं अति लोभिता।
अशौचं निर्दया दर्पः स्त्रीणामष्टौ स्वदुर्गुणः॥'-वही; ११६४

गये हैं।[1] महाराज भर्तृहरि ने अपने 'शृंगार शतकम्' में स्त्री को माया की डिबिया और जीवों को फँसाने का एक बन्धन बतलाया है।[2]

गृह्यसूत्र और कामशास्त्र—प्राचीन युग में हमारे ऋषि-मुनियों को अपने श्रौत-कर्मों के अतिरिक्त प्रजा के गार्हस्थ-जीवन और तत्सम्बन्धी कर्तव्यों को अलग व्यवस्थित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी और इसी कारण उन्होंने गृह्यसूत्रों तथा कामशास्त्र की रचना की थी।

गृह्यसूत्रों में गृहस्थ-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले उन समस्त कृत्यों और कर्तव्यों का सूत्र-रूप में वर्णन है जो एक मनुष्य को अपने जन्म से मृत्यु तक करने पड़ते हैं और जिनको किये बिना वह संस्कारहीन समझा जाता था। पृथक्-पृथक् वैदिक-संहिताओं से सम्बन्ध रखने वाले गृह्यसूत्र भी पृथक्-पृथक् हैं। ऋग्वेद से सम्बन्धित शांखायन, आश्वलायन और भारद्वाज गृह्यसूत्र, सामवेद से सम्बन्धित गोभिल, खादिर और जैमिनीय गृह्य-सूत्र, यजुर्वेद से सम्बन्धित पारस्कर, बोधायन, हिरण्यकेशी और आपस्तम्ब गृह्य-सूत्र एवं अथर्ववेद से सम्बन्धित कौशिक गृह्यसूत्र उपलब्ध हुए हैं। इन सूत्रों में दैनिक जीवन सम्बन्धी बातों, विवाह का समय, विवाह-योग्य कन्या,[3] विवाह के विविध प्रकार,[4] कन्या की योग्यता,[5] विवाहेतर सम्बन्ध, बहु-

---

१. (क) 'विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च'
   (ख) 'स्त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम्
   देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।'

२. स्त्री यन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिलोकस्य पाशः।'-शृंगार शतकम्; ४५

३. (क) 'नग्निका तु श्रेष्ठा'-गोभिल गृ० सू०; ३, ४, ६
   (ख) ताभ्यामनुज्ञातो भार्यामुपयच्छेत्सजातां नग्निकां
   ब्रह्मचारिणीमसगोत्राम्'-हिरण्यकेशी गृ० सू०; १६, १९, २
   (ग) "ताभ्यामनुज्ञातो जायां विन्देताग्निकां समान जातीयामसगोत्रां
   मातुरसपिण्डाम्—जैमिनीय गृ० सू०; २०, ३

४. दैव, ब्राह्म, प्रजापत्य, आर्ष, गन्धर्व, आसुर, पैशाच और और राक्षस—इन आठ प्रकार में दैव और ब्राह्म उत्तम माने जाते थे—अलंकृत्य कन्यामुदकपूर्वां दद्यादेष ब्राह्मः" आश्वलायन, गृ० सू०; १, ६, १

५. (क) व्यक्तिगत योग्यता पर अधिक बल····वही; १, ५
   (ख) वित्त, रूप, प्रज्ञा, और बांधव पर अधिक बल······
   'चत्वारि विवाह करणानि वित्तं रूपं प्रज्ञा बांधवमिति—भारद्वाज गृ० सू० १, ६
   (ग) "यस्यां मनोनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते तां
   विन्द्यात्पुण्य लक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यति।"—वही; १ १२

विवाह, पूर्वानुराग, विवाहोपयुक्त समय, विवाह की पद्धति, विवाह-कर्म, विवाहोत्तर क्रियाओं[1] और विवाहोपरान्त सहवास के नियमों का सविस्तार वर्णन किया है।

गृह्यसूत्रों के अनुसार केवल स्नातक ही विवाह का अधिकारी माना गया है। इन दिनों कन्याएँ आपेक्षित दृष्टि से कम अवस्था में व्याही जाती थीं और नग्निका (अनागतार्तवा नग्निका-अमरकोष) तथा ब्रह्मचारिणी कन्या विवाह के लिए सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। ऐसा जान पड़ता है कि इस कम आयु वाली कन्या को विवाह के लिए श्रेष्ठ वतलाने में उन महर्षियों का ध्यान कन्यावरण के समय पर ही रहा होगा। इस समय में भी आठ प्रकार के विवाह—दैव, ब्राह्म, प्रजापत्य, आर्ष, गन्धर्व, आसुर, पैशाच, राक्षस—का उल्लेख पाया जाता है यद्यपि प्रथम चार प्रकार के विवाह ही समाज में प्रतिष्ठित और ग्राह्य समझे जाते थे। कन्या के वरण में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि किसी हीन चरित्र, प्राग्विवाहिता अथवा क्षता कन्या से विवाह न हो जावे। इससे विधवा-विवाह की प्रथा का भी वहुत कुछ निराकरण हो जाता है। गृह्य-सूत्रों ने कुछ शर्तों के साथ पुरुष द्वारा वहुविवाह करने की भी अनुमति दी है। एक पुरुष अपने से उच्च-वर्ण को छोड़कर प्रत्येक वर्ण में से एक-एक पत्नी ग्रहण कर सकता था—किन्तु यह सुविधा केवल ऋषियों को ही थी।

गृह्यसूत्रों में गर्भाधान-संस्कार के वर्णन में 'नियोग' की प्रथा का उल्लेख नहीं है। स्त्रियों को नियोग वरण के लिए तव स्वतंत्रता प्राप्त न थी। बोधायन-धर्मशास्त्र के अनुसार विधवा के लिए पति की मृत्यु के एक वर्ष वाद तक मधु, माँस, लवण आदि का प्रयोग वर्जित था और उसे भूमि-शयन का ही निर्देश था। फिर केवल निःसन्तान होने की स्थिति में वह अपने 'वड़ों' की अनुमति प्राप्त कर अपने देवर द्वारा पुत्रोत्पत्ति करा सकती थी,[2] यद्यपि यह प्रथा राजघरानों में ही पायी जाती थी।

पिछले पृष्ठों में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हमारे ऋषियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुपार्थों को प्राप्त करने के लिए ईश्वरीय ज्ञान पवित्र वेदों की शरण ली थी और उन्हीं से समस्त रहस्य जानकर जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न किया था। ये वेद हमारे कामशास्त्र के भी आदि-स्रोत हैं और उन्हीं में कामशास्त्र के मूल प्राप्त होते हैं।[3] मुनि वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में कई

---

१. शांखायन—१, १५, १-७-१, १५, ८ आपस्तम्व; २, ५, २१
गोभिल—२, २, १६-२, ३, १० खादिर; १, ४, ४-१, ६, १-४

२. 'कला और सौंदर्य'—श्री रामकृष्ण शुक्ल; पृ० १११

३. ऋग्वेद; १०, १०, ७-१०, ८५, ३७-१०, ८५, ४२

कामशास्त्रकारों का उल्लेख किया है किन्तु उन आचार्यों के बहुत ही थोड़े ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं।

ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के आसपास रचित यह कामसूत्र एक आधि-कारिक ग्रन्थ माना गया है। इसमें कुल सात अधिकरण—साधारण, सांप्रयोगिक, कन्या सम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक, औपनिषदिक हैं। अन्तिम प्रकरण में तो औषधि और मन्त्र-तन्त्र आदि का संक्षिप्त निरूपण है किन्तु प्रथम छः प्रकरणों में योग्य-अयोग्य स्त्री का निर्णय, स्त्री के भेद, कन्या को वश में करने के उपाय, स्त्रियों के आन्तरिक और बाह्य भावों के प्रकट करने का वर्णन (३, ३, १०-१५), भार्या के कर्तव्य, परदारा-भाव, स्त्रियों का पुरुषों के फन्दे में फंसने के कारण, दूती-कार्य, वेश्याओं पुनर्भू और स्वैरिणी के प्रकार, स्नानागार, शयन-कक्ष, उद्यान-यात्रा, हिंडोल विलास, और वाद्यधुनियों एवम् चित्रादिकलाओं का सविस्तार विवेचन किया गया है। कामशास्त्र में कामिनी-लक्षण और कन्या-विस्रम्भण पर अधिक ध्यान दिया गया है। कामिनी लक्षण के कार्य में सामुद्रिक-शास्त्र के आचार्यों ने भी हाथ बँटाया। हिन्दू, जैन और बौद्ध तीनों ही मत के आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से सामुद्रिक-शास्त्र लिखे। नारी के नखशिख-सौंदर्य के प्रायः सभी लक्षण इन्हीं शास्त्रों के आधार पर तैयार किये गये। पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी तथा देवसत्वा, गंधर्वसत्वा, यक्षसत्वा, मनुष्य-सत्वा आदि नारियों के भेद और लक्षण सामुद्रिक और कामशास्त्रों में प्रायः समान हैं। कन्या-विस्रम्भण प्रकरण के अन्तर्गत नारी-सौंदर्य की प्रशंसा, प्रणयोपचार आदि की विधियों का वर्णन किया गया है। वात्स्यायन ने जिन कलाओं को गिनाया है उनका उद्देश्य दैनिक प्रयोजनों की पूर्ति, मनोविनोद और नायक-नायिकाओं की विलास-क्रीड़ा में सहायता प्रदान करना है।

हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रकार और ऋषि प्रजनन-विद्या को अपनी आध्यात्म-विद्या का अंग तथा कामशास्त्र के सिद्धान्तों को मोक्ष-शास्त्र का एक अंग मानते थे। इसी कारण वे आदर्श निर्दोष पुरुष और स्त्री का होना भी आवश्यक मानते थे। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वात्स्यायन मुनि ने इस शास्त्र के सिद्धान्तों का संग्रह अपने कामसूत्र में किया है। अतएव गार्हस्थ्य-धर्म को सुचारु रूप से निभाने की उपयोगी शिक्षा देने वाला यह महनीय ग्रन्थ रत्न है।

कालान्तर में कामसूत्र के विषय को लेकर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है, जिनमें पद्मश्री रचित 'नागर सर्वस्व', कल्याणमल्ल रचित 'अनंग-रंग', कोक

रचित 'रति-रहस्य', कुचिमार का 'कुचिमार-तंत्र', कविशेखर ज्योतिरीश्वर का 'पंच-सायक' आदि प्रधान ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त हरिहर की 'शृंगार-दीपिका', राजा प्रौढ़देव की 'रतिरत्न-प्रदीपिका', तंजौर के राजा शाहणी की 'शृङ्गार-मंजरी', अनन्त की 'काम-सुधा,' मीननाथ की 'स्मर-दीपिका,' चित्रधर का 'शृंगार-सार,' आदि ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में भी विद्यमान हैं। इनमें भी नारी-भेद और काम सम्बन्धी समस्याओं का विवेचन विस्तृत रूप से किया गया है।

संस्कृत-काव्य में नारी-चित्रण—वैदिक-साहित्य जनभाषा का साहित्य है, लौकिक संस्कृत-साहित्य उच्च-वर्ग की साहित्यिक भाषा का साहित्य है, मानवी साहित्य है, नागरिक-संस्कृति का साहित्य है।[1] इस अलौकिक संस्कृत की राष्ट्रीय भारती वह सबसे बड़ी कड़ी है, जो प्रागैतिहासिक-काल के वैदिक-साहित्य से आज के साहित्य की कड़ियों को जोड़ती है। ....हिन्दी-साहित्य को अपने पूर्वजों से जो दाय मिला, उसमें सबसे बड़ा अंग संस्कृत-साहित्य का ही है, चाहे वह वीर गाथाकालीन चरित-काव्यों की परम्परा हो, या सगुण-भक्ति की ऐश्वर्यवादी धारा, या माधुर्यवादी रसस्यन्दिनी सरिता या शृंगार-सूक्तियों की रीतिकालीन अठखेलियाँ।[2] अनेक प्रकार के उत्थान-पतन के भीतर यह साहित्य हजारों वर्षों से जन-मानस को अपूर्व जीवनी-शक्ति आनन्द और प्रेरणा प्रदान करता आया है। उसका भंडार अमूल्य एवं अनुपम है और भारतीय-साहित्य तथा संस्कृति उससे पूर्णरूपेण अनुप्राणित है।

संस्कृत-काव्य के रचयिताओं में सर्वप्रथम **अश्वघोष** का नाम लिया जाता है। वे सम्राट कनिष्क के गुरु और महायान सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। उनका समय ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी माना जाता है। अभी तक वे अपनी दार्शनिक कृतियों तथा बौद्ध-आचार्य होने के नाते जाने जाते थे किन्तु नवीन खोजों से उनका नाम संस्कृत-साहित्य के महाकवियों में भी हो गया है। उनकी दो रचनाएँ—'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरानन्द' उपलब्ध हैं।

'बुद्ध-चरित' महाकाव्य में भगवान बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धान्तों के वर्णन के साथ कामनिंदा और स्त्री-निवारण का वर्णन भी है। रचना का शृंगार-वर्णन वास्तव में सरस, भावमय और प्रभावोत्पादक है।[3] महाकाव्य में यशोधरा का

---

१. संस्कृत-कवि-दर्शन—डॉ० भोलाशंकर व्यास; पृ० ६

२. वही—आमुख; पृ० ३

३. बुद्ध-चरित—अश्वघोष; ४, ३३

विलाप बड़ा ही कारुणिक और हृदयद्रावक है। राजकुमार को देखने के लिए लाला-यित ललनाओं का चित्रण भी बड़ा आकर्षक बन पड़ा है।[1]

'सौन्दरानन्द' में कवि ने नन्द सुन्दरी की प्रेमकथा के माध्यम तथा उपमा और रूपकों की सहायता से नारी-सौंदर्य का अच्छा चित्रण किया है। सुन्दरी अपने प्रियतम के वियोग में अकेली बैठी है। पल्लव के रंग की भाँति ताम्रवर्ण वाले कर पर कमल की शोभा धारण करने वाला मुख रखा हुआ है। जान पड़ता है कि जल में प्रतिबिम्बित कमल के ऊपर झुका हुआ कोई अन्य कमल हो।[2] वह सुन्दरी नन्द के साथ अत्यन्त सुशोभित होती थी। वह स्त्री-पद्मिनी नन्द-रूपी सूर्य से, जो अपने कुल में उदित हुआ था, बारम्बार विकसित की जाती थी। सुन्दरी-रूपी कमलिनी का हास (हँसी) हंस था; नेत्र भौंरे थे, मोटे स्तन पद्मकोष थे; इस प्रकार वह सुन्दरी एक सुन्दर पद्मिनी थी, जिसने नन्द-रूपी सूर्य से विकास पाया था।[3] अश्वघोष ने महाकाव्य के दशमसर्ग में जहाँ अप्सराओं और किन्नरियों का सौन्दर्य वर्णन किया है,[4] वहाँ उनका एक भिक्षु, नारी-सौंदर्य की वीभत्सता का वर्णन करते हुए नन्द से कहता है कि यदि तुम्हारे सम्मुख तुम्हारी सुन्दरी को मलपंक से युक्त वस्त्रहीन, लम्बे नख, दाँत और बालों वाली दशा में रख दिया जावे, तो वह तुम्हारे लिए सुन्दर न रहेगी।[5] इस प्रकार 'अश्वघोष ने नारी के सौन्दर्य को शान्त वैराग्यशील भिक्षु की निगाह से ही नहीं देखा है अपितु उसे सरस लौकिक दृष्टि से भी देखा है। जहाँ वे शान्त-रस के प्रवाह में बहते हैं, नारी उनके लिए 'जर्जर भाण्ड के समान' दूषित, कलुषित एवम् कुरूप हो जाती है।[6] वास्तव में इस बौद्ध कवि ने नारी को वैराग्य मार्ग की एक बाधा के रूप में ही स्वीकार किया है।

संस्कृत-साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्रों में वाल्मीकि, व्यास तथा कालि-दास भारतीय-संस्कृति के प्रतिनिधि-त्रय हैं। महर्षि वाल्मीकि और व्यास की महान् रचनाओं पर तो हम पिछले पृष्ठों में विचार कर चुके हैं। कविकुल-कुमुद-कलाधर कालिदास भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के श्रेष्ठ महाकवियों में अग्रणी हैं।

१. बुद्ध-चरित—अश्वघोष; ३, १२-२४
२. सौन्दरानन्द—अश्वघोष; ६, ११
३. वही; ४, ४०
४. वही; १०, ३८
५. वही; ८, ५१-५२
६. संस्कृत-कवि-दर्शन—डा० भोलाशंकर व्यास; पृ० ६१

उनकी कविता-कामिनी की कमनीय कान्ति किस सहृदय रसिक के हृदय को आकर्षित नहीं करती ?

महाकवि कालिदास की अमर कृतियों—'कुमार संभव', 'रघुवंश' और 'मेघ-दूत' (काव्यत्रय) एवं 'मालविकाग्नि-मित्र' 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' (नाटकत्रय) में प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन ऐसे सुन्दर ढंग से किया गया है कि उनकी नारियाँ अपनी तपस्या से पुरुष से अधिक आकर्षक बनकर विश्वव्यापी-प्रकृति की दिव्यमूर्तियाँ बन गयी हैं। प्रकृति के नाना प्रकार के कष्टों को सहकर पार्वती ने एकाग्र चित्त से तप करके अपनी अभिलाषा की पूर्ति की इच्छा की। तप के बिना पति का अत्युत्कृष्ट प्रेम तथा शिव जैसे पति, दोनों कैसे प्राप्त हो सकते थे ?[1] महाकवि ने 'तथाविधं प्रेम' और 'तादृशः पतिः' कहकर एक अलौकिक अर्थ की व्यंजना की है। उमा ने अपने स्वरूप की निन्दा कर (निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती) तप के प्रभाव को अत्यधिक बनाने के उद्देश्य से क्रमश' पत्ते खाने भी छोड़ दिये थे, तभी उमा की उग्र तपस्या को जानकर और सप्तर्षियों के मध्य पतिव्रता अरुन्धती के दर्शन पाते ही शिव को विवाह-कार्य में रुचि उत्पन्न हुई और ज्ञात हुआ कि समस्त धर्मकार्यों का मूल कारण पत्नी ही है।[2] विवाह के अवसर पर उमा महादेव को भूदेवी की भाँति दीख पड़ी और वे उसके क्रीतदास हो गये।[3] इस प्रकार 'कुमार-संभव' की नायिका पार्वती में नारी-चरित्र के सामूहिक गुणों-दृढ़ता, आत्मभिमान, शील, विनय, त्याग आदि—का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। उसका व्यवहार, प्रेम और विरह मानवी होने पर भी एक अलौकिक महिमा से दीप्त है। यही कारण है कि हमारी कन्याओं के सम्मुख एक ही महान आदर्श है और वह है महासती पार्वती का।

कवि कुल गुरु कालिदास की इस अमर कृति में रति-विलाप का भी अत्यन्त कारुणिक दृश्य उपस्थित किया गया है। रति के स्वर में स्वर मिलाकर गिरि-कानन का चप्पा-चप्पा फूट-फूटकर रो रहा है। रति के पृथ्वी पर लोट जाने के कारण नारीत्व और मातृत्व के बहुमूल्य प्रतिष्ठा प्राप्त प्रतीक स्तनद्वय धूलिधूसर हो गये और केशपास बिखर गये। रति, अरण्यभूमि को अपनी भाँति व्यथाविद्ध कर, भयंकर विलाप करने लगी।[4] पति के भस्मीभूत शरीर को देखकर रति कहती है कि चन्द्रमा

---

१. कुमार-सम्भव—कालिदास; ५, २
२. वही; ५, २८-६, १३
३. वही; ७, ११-५, ८६
४. वही; ४ ४

के अस्त होने पर उसकी चाँदनी भी अस्त हो जाती है, मेघ के साथ बिजली भी विलीन हो जाती है, स्त्रियाँ अपने पति का सदा अनुसरण करती हैं। इसकी पुष्टि अचेतन जीवों के व्यवहार से भी हो रही है, चेतन प्राणियों की बात ही न्यारी है। प्रमदा सदा पति की अनुगामिनी होती है।[1] 'कुमार संभव' के रति-विलाप की भाँति 'रघुवंश' के अजविलाप में भी करुण रस का प्रवाह दर्शनीय है।[2]

नारी-गौरव की गाथा से गुंफित अपने कीर्ति-स्तम्भ 'रघुवंश' में कालिदास ने भारतीय आदर्शमयी पत्नी और माता के रूप में नारी के मनोहारी चित्र अंकित किये हैं। रानी सुदक्षिणा और महाराजा दिलीप में प्रेम की पूर्णता मातृत्व और पितृत्व में पूर्णरूपेण उपलब्ध होती है क्योंकि जिस प्रकार शिव और उमा कुमार के जन्म से, इन्द्र और शची जयन्त के जन्म से प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार दिलीप और सुदक्षिणा भी प्रभु के जन्म से प्रसन्न हुए।[3] जिस समय राजा दिलीप पुत्र प्राप्ति के हेतु वशिष्ठ के आश्रम में जाते हैं उस समय उनकी धर्म पत्नी भी साथ रहकर नन्दिनी की सेवा करती है। अतएव स्पष्ट है कि आदर्श नारी से ही घर की शोभा होती है।

महाकवि ने आदर्शमयी और त्यागमयी पत्नी के रूप में सीता का जो पवित्रतम चरित्र अभिव्यक्त किया है, उसमें मानव-चित्त को विकसित तथा विस्मयान्वित कर देने की अद्‌भुत क्षमता है। सीता को गर्भिणी जान जब राम अत्यधिक आनन्द का अनुभव करते हुए पत्नी के मनोरथों की पूर्ति कर देने का वचन देते हैं तब सात्विक-भावों की अनुपम दिव्यमूर्ति सीता मनोकामना करती हैं कि 'मेरा मन गंगा तट पर बने हुए उन कुशाओं वाले तपोवनों में निवास करने का आग्रह करता है जहाँ हिंसक प्राणी भी वनस्पति खाकर आनन्दित होते हैं और तपस्वियों की कन्याओं से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित होता है। घनघोर अरण्य में जब लक्ष्मण भगवती जानकी को छोड़कर लौटते हैं तब जानकी कहती हैं कि 'मेरी ओर से राजा से निवेदन करना कि मेरे साथ आपने जो कुछ किया है, उसमें मैं अकल्याण की आशंका क्यों करूँ? यह असत्य वज्रपात मेरे ही जन्मान्तर पातकों का फल है। किन्तु तत्काल ही वे चेत जाती हैं और कहती हैं कि राम तो कल्याण-बुद्धि ठहरे, वे मेरे अकल्याण की इच्छा

---

१. 'शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदा पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि॥'—वही; ४, ३३

२. रघुवंश; ८, ४४-७४

३. रघुवंश—कालिदास; ३, २३

नहीं कर सकते ।[1] अतः उनसे कहना कि सामान्य प्रजा की दृष्टि से ही वे मेरा ध्यान रखें क्योंकि पति के कल्याण और मंगल के निमित्त आत्मनिषेध करना ही नारीत्व है। मैं तो आपके द्वारा परित्यक्ता होने पर इस जीवन को ही समाप्त कर देती, किन्तु मेरे गर्भ में आपका जो तेज विद्यमान है, वह मुझे ऐसा कार्य करने से रोकता है। मैं सन्तान के जन्म लेने तक सूर्य में चित्त लगा कर तप करती रहूँगी जिससे दूसरे जन्म में भी आप ही मेरे पति बनें और तब वियोग भी न सहना पड़े—राम भी राजा बने रहें और मैं भी जीवित रहूँ ।[2] सीता के इस सन्देश में करुण-रस की पराकाष्ठा है। उसका पातिव्रत-धर्म कितनी उच्च कोटि का है। वह अपने पति पर त्याग का दोष न मढ़ कर उसे अपने ही पापों का परिणाम समझ रही है। सतीत्व का ऐसा महान् आदर्श शायद ही किसी देश के साहित्य में मिलेगा। महाकवि भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में भी राम गर्भ-भार से आक्रान्त सीता का त्याग करने के पूर्व कहते हैं कि—अरी भोली सीते, अपूर्व कर्म करने से चण्डाल मुझको छोड़ो अर्थात् मुझ चण्डाल को स्पर्श मत करो, तुम एक देवी और पवित्र भारतीय नारी हो।'[3]

महाकवि ने नारी-सौंदर्य का केवल स्निग्ध एवम् शृंगारिक रूप ही चित्रित नहीं किया है, वे उसके स्वाभिमान की भी सगर्व रक्षा करते जान पड़ते हैं। सीता के निर्वासन के पश्चात् सीता का जो स्वरूप 'रघुवंश' के पन्द्रहवें सर्ग में प्रगट हुआ है, वह सब इस प्रकार से अपनी उपमा आप हैं ।[4]

पति-पत्नी की पारस्परिक मनोदशा का स्वाभाविक वर्णन कालिदास की कीर्ति के मेरुदण्ड रूप 'मेघदूत' में एक निर्वासित विरही यक्ष और उसकी प्रेयसी यक्षिणी की विरहावस्था द्वारा किया गया है। यक्ष, मेघ से कहता है कि तुम अपनी उस पतिव्रता भावी को अवश्य ही पा जाओगे, जो बैठी-बैठी मेरे लौटने के दिन गिन रही होगी, क्योंकि प्रेमियों का फूल जैसा कोमल हृदय मिलन की आशा पर ही अटका रहता है, वही आशा उन स्त्रियों को जीवित रखती है ।[5] महाकवि ने अपनी रमणीय रचनाओं में तत्कालीन सामन्ती-समाज के भी अनेक ज्वलन्त चित्र प्रस्तुत किये हैं। प्रिया से

---

१. रघुवंश; १४, २८-१४, ६२
२. वही; १४, ६५-६६
३. 'उत्तर रामचरित'—भवभूति; १, ४६
४. संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा—आलोचना ४; पृ० १३
५. मेघदूत (पूर्वार्द्ध); ६

'विप्रयुक्त' मेघदूत का नायक उत्कंठा से प्लावित हो मेघ द्वारा सन्देश भेजता है कि हे मानिनी ! मैं यहाँ बैठा, प्रियंगु की लता में तुम्हारा शरीर, भयभीत हरिणी के नेत्रों में तुम्हारी चितवन, चन्द्रमा में तुम्हारा मुख, मयूर पंखों में तुम्हारे केश और नदी की लघु लहरियों में तुम्हारी कटीली भौंहें देखा करता हूँ तथापि हे चण्डी, मुझे दुःख है कि इनमें से कोई एक भी पूर्ण रूप से तुम्हारी समानता नहीं कर पाता।[1] इससे विदित है कि नारी की उपमा अन्य वस्तुओं में नहीं पायी जाती। पद्य के चतुर्थ चरण में 'चण्डि' सम्बोधन रखकर कवि ने नारी-गौरव में और भी वृद्धि कर दी है। नायक अपनी प्रिया के सौन्दर्य की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि 'वहाँ जो दुबली-पतली, नन्हे-नन्हे दाँतों वाली, पके हुए बिम्बाफल के समान लाल ओठों वाली, पतली कमर वाली, डरी हुई हरिणी के समान आँखों वाली, गहरी नाभिवाली, नितम्बों के भार से धीरे-धीरे चलने वाली, और स्तनों के बोझ से कुछ आगे की ओर झुकी हुई युवती दिखायी दे, वही मेरी पत्नी होगी। उसके अनुपम सौन्दर्य को देख कर यही जान पड़ेगा कि ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठ कला वही है।[2]

सामन्ती-समाज की एक कन्या अपने पितृगृह को छोड़कर एक नवीन वातावरण में जाती है जिसे उसने पहले कभी नहीं देखा। अचानक उसके सभी स्नेह-सूत्र टूटे दिखलाई पड़ते हैं। अपने प्रिय निवास-स्थान को छोड़ते हुए शकुन्तला का हृदय जब अपनी पाली-पोसी लताओं और मृग के प्रति उमड़ पड़ता है तब वह करुण दृश्य कवि के हृदय को बरबस स्पर्श कर देता है।[1] यहीं भारतीय सभ्यता के अनुरूप कण्व ऋषि द्वारा भारतीय नारी को सुन्दर उपदेश दिया गया है—'गुरुजनों की सेवा करना अपनी सौतों के प्रति सखी-सा व्यवहार करना; पति यदि अपमान भी करे तो क्रुद्ध हो उसके प्रतिकूल मत होना; अपने दास दासियों को बड़े प्रेम से रखना और भोग-विलास आदि में आसक्त हो कभी भी अभिमान न करना। जो इस प्रकार कुल-वधू का धर्म पालन करती है, वह गृहिणी पद प्राप्त करती है और जो नहीं करती, वह कुल-कलंकिनी बन जाती है।[3] कण्व के उपदेश को सुनकर स्वाभाविक स्नेहाभिभूत शकुन्तला ने आदर्श कन्या होने के कारण उनके चरण-कमलों में नत-मस्तक होकर प्रणाम किया।

जिस प्रकार 'मेघदूत' में कल्पना एवं वास्तविकता के बल पर नारी को एक शक्ति माना गया है, उसी प्रकार महाकवि ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में भी नारी का

---

१. मेघदूत ; २२
२. अभिज्ञान-शाकुन्तल; ४, ६
३. वही; ४, १८

एक दर्शनीय चित्र प्रस्तुत किया है। कवि की 'अव्याज मनोहरं वपुः' वाली शकुन्तला में नारी-सुलभ जो स्वाभाविक लज्जा है, उसे वह अपनी प्रिय सखियों एवं अपने 'प्रिय' के सम्मुख भी परित्याग करने में स्वयं को असमर्थ पाती है। 'तपस्विनी होकर भी वह गृहस्थ है, ऋषि-कन्या होकर भी प्रेमिका है, शान्ति की गोद में पालित होने पर भी वह चपल है।' वह एक नारी है और नारी-हृदय के प्रेम, उमंग और उच्छ-वास की उसमें पर्याप्त मात्रा है।' नाटक के सातवें अंक में हम उसे विरहणी की अवस्था में पाते हैं।[1] किन्तु वह सदैव अपने पति का चिन्तन करती रहती है। अपने समस्त स्नेह-दुलार को उसने अपने प्रिय-पुत्र में संचित कर लिया है।

कालिदास नारी-सौन्दर्य के प्रेमी हैं और शृंगार के आलम्वन विभाव के अन्तर्गत नारी के सौंदर्य-चित्रण में वे अत्यन्त सिद्धहस्त हैं। उन्होंने भिन्न-भिन्न और प्रेमिल स्वभाव वाली तेरह नारी-पात्रों (सीता, शकुन्तला, पार्वती, उर्वशी, इन्दुमती, इरावती, सुदक्षिणा, औशिनरी, धारिणी, मालविका, अनुसूया, प्रियंवदा तथा यक्ष-पत्नी) का चित्रण किया है। साथ ही उन्होंने नारीत्व की महिमा को भी सदैव अखंडित बनाये रखने का प्रयत्न किया है। पार्वती (कुमार-सम्भव). सीता (रघुवंश), शकुन्तला (अभिज्ञान शाकुन्तल), यक्ष-प्रिया (मेघदूत) और उर्वशी (विक्रमोर्वशीय) विना किसी शृङ्गार के अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में हैं और उनका सौन्दर्य नैसर्गिक रूप से उनके यौवन का साथी है। पार्वती[2] और शकुन्तला[3] के अपूर्व सौन्दर्य का चित्रण करते हुए महाकवि का कथन है कि इन सुन्दरियों को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि संसार का निर्माण करने वाले ब्रह्माजी पृथ्वी पर समस्त सौन्दर्य एक साथ देखना चाहते हैं।

'ऋतु संहार' में विभिन्न ऋतुओं के माध्यम से महाकवि ने नारी की भाव-नाओं का बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है। कालिदास ग्रीष्म से पीड़ित प्रेमियों की तपन मिटाने के लिए प्रेमिकाओं के नितम्ब, चन्दन पुते स्तनों, हारों और पुष्पों से अलंकृत जूड़ों में शरण प्राप्त कर[4] और वसन्त में रमणियों के नेत्रों में चंचलता, चाल में मस्ती, स्तनों में कठोरता और नितम्बों के मोटापे द्वारा[5] कामदेव को जगाने का प्रयत्न करता है। वर्षा-वर्णन में उसकी विरहिणी नारियाँ अपने विंवाफल जैसे लाल

१. अभिज्ञान-शाकुन्तल; ७, २१
२. कुमार'सम्भव, १, ३२-४६, ३, ५३-५४, ७, ११-२२
३, अभिज्ञान-शाकुन्तल; १-१६-२०-२८, २, १०
४. ऋतु-संहार; १, ४, ८
५. वही; ६, १२-१७

और नवीन कोपलों जैसे कमल ओठों पर अपने कमल-नेत्रों से अश्रु बहाती हुई, अपनी माला, आभूषण, तेल-फुलेल, उबटन आदि सभी शृङ्गार उपकरणों का त्याग कर अपने गालों पर हाथ धरे बैठी हैं।[1] कवि ने अपने 'शृङ्गार-तिलकम्' के प्रथम श्लोक में भी बतलाया है कि ब्रह्मा ने कामदेव के बाणों की ज्वालाओं से जलने वाले पुरुषों के स्नान करने निमित्त स्त्री देह-रूप सुन्दर सरोवर का निर्माण किया है। स्त्री की दोनों भुजाएँ कमल-दण्डी हैं, मुख कमल है, लावण्य का विलास जल है, कमर उतरने की सीढ़ी हैं, नेत्र मछलियाँ है, बंधे हुए केश सिवार हैं और स्तनद्वय चक्रवाक-युगल है।[2]

नाटकत्रय में 'मालविकाग्नि मित्र' का कालिदास की कृतियों में सर्वप्रथम स्थान है। इसमें अन्तःपुर में पनपने वाली यौवन सुलभ कामवासना का अभिराम चित्रण हुआ है। रानी धारिणी, जो अपने नाम के अनुरूप सबको धारण करती रही, मानिनी भी थी और सहनशीलता की साकार प्रतिमा भी। अपने पति की दृष्टि नाच-कूदने वाली मालविका पर लग जाने पर[3], उन्हें उचित मार्ग पर लाने के लिए उसने उपहास किया कि यदि यही दृष्टि राज्य के शासन पर पड़े तो कितना भला हो। धारिणी की श्रद्धा-भक्ति पति के प्रति समान ही रही, तभी तो उसके प्रति परिव्राजिका की धारणा थी कि कुमार्ग का अवलम्बन करने वाले पति को स्त्रियाँ बचाती हैं और उनके हृदय में अपनी अमिट छाप जमा देती हैं।

'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में उर्वशी के अलौकिक सौन्दर्य को देखकर राजा मन-ही-मन विचार करने लगता है कि इस प्रकार के रूप का निर्माण रमणीय कान्ति वाले चन्द्रमा ने किया होगा अथवा शृंगार-रस के देवता कामदेव ने अथवा स्वयं सुकुमार वसन्त ने निरन्तर वेदों का अध्ययन करते रहने के कारण शुष्क हृदय और सांसारिक विषय-वासनाओं से उदासीन बूढ़े ऋषि ऐसे मनोहर रूप का निर्माण कैसे कर सकते हैं।[4]

कालिदास के नारी-पात्र प्रायः ऐसे संयोग की उत्पत्ति हैं जो प्रचलित सामाजिक नियमों का अनुसरण नहीं करती। शकुन्तला, मेनका की पुत्री है; उर्वशी एक अप्सरा है; इन्दुमती भी पूर्वजन्म में एक अप्सरा थी। उन्हें प्रेम, श्राप के कारण एक दण्ड बन जन जाता है। शकुन्तला, दुष्यन्त द्वारा परित्यक्त होने पर भी अपनी माँ की गोद

१. ऋतु-संहार; ३, १२
२. शृंगार-तिलकः—श्लोक; १
३. मालविकाग्निमित्रम्; २, ३, ६, १३, ३, ८, ५, ६
४. विक्रमोर्वशीयम्; १, १०

में शरण पाती है। महाकवि ने प्रेम की नैसर्गिक परिणिति मातृत्व में की है, तभी तो अनेक स्थलों पर उन्होंने गर्भवती नारी के सौन्दर्य एवम् गौरव का वर्णन कर नारी-जाति के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित किया है। उनके अमर-साहित्य में काल और दिशाव्यापिनी कला (सौंदर्य). आचार-शास्त्र (शिवं) तथा धर्म (सत्यं) का जो समन्वय हुआ है, वह आज के युग में भी माननीय है। हम आज भी उनके इस कथन को कि जो सुहागिन स्त्री अपने पिता के घर रहती है, वह चाहे कितनी भी पतिव्रता हो उसके सम्बन्ध में लोग उल्टी-सीधी बातें उड़ा देते हैं, अतएव युवती अपने पति के साथ रहकर ही भाई-बन्धुओं की दुलारी बनती है।[१] प्रत्येक काल और समाज में घटित एक समस्या ही मानते हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास की नारी अपने स्वरूप में साध्वी, श्रद्धामयी, मूर्तिमयी तथा सत्क्रिया स्वरूपा है। गृहिणी के रूप में वह अपार गर्व-रहित, पूर्ण समर्पित तथा विश्व-मैत्री की सन्देश-वाहिका रही है। युग के अनुसार उसमें सपत्नीक भावना का अभाव भी है और वह केवल प्रेम करने की सुविधा भी चाहती है। कवि स्त्री-पुरुष के प्रथम दृष्टि के प्रेम पर विश्वास करता है, नारी की स्वतंत्रता का भी वह हामी है किन्तु स्वच्छन्दता, जो नैतिक नियमों का उल्लंघन करने को तत्पर होती है, उसे मान्य नहीं। साथ ही, वह नारी के शारीरिक आकर्षण की अपेक्षा उसके आत्मिक-सौंदर्य को अधिक महत्व देता है।[२] रस, अलंकार, गुण, भाव और चमत्कार आदि द्वारा इस महान् कवि ने नारी के विभिन्न रूपों का जो चित्रण किया है, वह सभी देशों के काव्य-रसिकों को सदैव आकृष्ट करता रहा है और भविष्य में भी करता रहेगा।

संस्कृत-साहित्य के महारथियों में महाकवि-भारवि राजनीति-शास्त्र के महान् ज्ञाता, एक अनुपम शैली के आविर्भावक और अपने अर्थ गौरवपूर्ण काव्य (भारवेअर्थ गौरवम्) के कारण सुविख्यात हैं। उनकी अमर-कीर्ति उनके एक मात्र उपलब्ध महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' पर अवलम्बित है। इनमें उनकी काव्य-कला अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ साकार हुई है। अठारह सर्ग वाले इस महाकाव्य की कथा महाभारत और शिव-पुराण से ली गयी है जिसमें पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए अर्जुन की तपस्या का वर्णन है। कवि ने जल-क्रीड़ा, रतिलीला, युवति प्रस्थान, सुरांगना विहार, सुर-सुन्दरी संभोग के वर्णन के अतिरिक्त ऋतुओं (विशेपकर शरद ऋतु) और चन्द्रोदय आदि का वर्णन भी बड़ी ही अलंकृत भाषा में किया है। नायक

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ५, १७

२. प्रसाद के नारी-चरित्र—डा० देवेश ठाकुर; पृ० २८३

पुष्प-चयन कर नायिका को दे रहा है, किन्तु इस कार्य के करते समय उसके मुँह से भूल से एक अन्य नायिका का नाम निकल जाता है। नायिका तत्काल समझ जाती है कि वह नायक की कनिष्ठा प्रिया हैं, अतएव मान करने के उद्देश्य से वह नेत्रों में अश्रु भरकर पैर के अंगूठे से पृथ्वी को खुरचना आरम्भ करती है।[1] यहाँ सुरांगनाओं के विभिन्न अंगों का चित्रण भी रूप के मादव प्रभाव को प्रगट करने वाला है।[2]

इस महाकाव्य में राजनीति में भाग लेने वाली भारतीय नारियों का भी अपूर्व चित्रण किया गया है। द्रौपदी, युधिष्ठिर से कहती है कि यद्यपि स्त्री का कथन पुरुषों के लिए अनादर-सा होता है तथापि क्या करूँ मेरी आन्तरिक व्यथा मुझे कुछ कहने को विवश कर रही है-आप लोग शान्ति छोड़कर अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए अपना प्राचीन तेज पुनः धारण करें।[3] इस प्रकार अनेक स्थलों पर द्रौपदी के वचन प्रेरणा और नव-चेतना प्रदान करने वाले हैं। कवि ने इस रचना का आरम्भ 'श्री' शब्द से और सर्ग के अन्तिम श्लोक का अन्त मंगलार्थक 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग कर किया है।

कवि-शिरोमणि माघ अपनी एकमात्र सुन्दर रचना 'शिशुपाल-वध' के कारण प्रसिद्ध हैं। इस महाकाव्य में हमें कवि की महान कवित्व-शक्ति और अगाध पांडित्य के दर्शन होते हैं, तभी तो वे पंडित-समाज में अपनी उपमा, अर्थ-गौरव और पद-लालित्य के कारण (माघे सन्ति त्रयो गुणाः) स्मरण किये जाते हैं। माघ का कवि शृंगार के आलम्बन विभाव तथा अनुभाव का सफल चित्रकार है। 'शिशुपाल-वध' में षट्ऋतु वर्णन, दम्पतियों का विलासपूर्ण वन-विहार, जलक्रीड़ा, दूती-कर्म, रति-वर्णन, सुरा एवं सुन्दरी के सेवन का अत्यन्त विलासपूर्ण ढंग से वर्णन किया गया है। जिसने बहुमूल्य हार को आलिंगन-काल में तोड़ दिया है और समस्त शरीर को शिथिल कर दिया है, ऐसे पति के गमन की बात पूछने पर भी उनकी स्त्रियाँ नवीन मोतियों की भाँति अश्रु बहाने लगती हैं। तब ऐसा प्रतीत होता है कि उनके दोनों स्तन भी सहानुभूति में रो रहे हैं।[4] इस महाकाव्य में नारी और अप्सराओं की एकता व्यक्त करते हुए द्वारकापुरी की स्त्रियों में देवत्व लाने का प्रयत्न किया गया है।

---

१. किरातार्जुनीयम्—भारवि; ८, १४
२. वही; ८, १७,-१८
३. वही; २, २,-३
४. 'शिशुपाल-वध'—माघ; ११, ३८

वहाँ की स्त्रियों और स्वर्गीय अप्सराओं में केवल यही भेद विदित होता है कि इन अंगनाओं का निमेष (पलक) गिरता था और अप्सराओं के पलक नहीं गिरते थे। शेष सौन्दर्य आदि निखिल गुणों में वहाँ की स्त्रियाँ अप्सराओं की भाँति ही हैं।[1] अतएव ब्रह्मा ने सर्वप्रथम सर्वांग सुन्दरी लक्ष्मीजी की रचना की। ऐसी परम सुन्दरी की रचना करने पर वे अन्य सुन्दरी की रचना न कर सके। तब लोक में इसको निन्दनीय जानकर ब्रह्माजी ने पुनः द्वारकापुरी में अनेक सुंदर स्त्रियों का निर्माण किया।[2]

कवि ने एक स्थान पर बड़ी सुन्दर कल्पना की है कि एक स्त्री नवीन पल्लव की कान्ति के समान ही नवीन कान्ति युक्त अपने एक कर-कमल से मुख को ढँक कर हँस रही है और उसकी अंगुलियों के छिद्र में से दशन-ज्योति निकल रही है और उस ज्योति के पड़ने से मानो दूसरी स्त्री जंभाई ले रही है।[3] कवि ने यादवांगनाओं के अंगों और रूप का जो चित्रण किया है वह वासना-व्यंजक हो गया है।

संस्कृत-साहित्य के नृपति-कवियों में शूद्रक का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है और 'मृच्छकटिक' उनकी सुप्रसिद्ध कृति है। दस अंक वाले इस रूपक में तत्कालीन सामाजिक अवस्था के सुन्दर चित्रण के साथ-साथ उज्जयिनी की प्रसिद्ध वेश्या वसन्तसेना और उसकी ग्रहदासी मदनिका का अच्छा चित्रण हुआ है। नायिका वसन्तसेना के चरित्र में हम अनेक स्त्री-सुलभगुणों का सन्निवेश पाते हैं। वेश्या होने पर भी वह सच्चे प्रेम का मूल्य जानती है, माता के आग्रह करने पर भी वह शकार की संगति नहीं चाहती और विरोध करने पर भी सदाचारी आर्य चारुदत्त की प्रेमपात्री बनने के लिए वह सतत उद्योग करती है। उसका हृदय अत्यन्त कोमल है। सेवकों पर दया करना उसका स्वभाव है।[4] उसमें अनेक नारी-सुलभ गुण विद्यमान हैं। धूता एक आदर्श पतिव्रता हिन्दू नारी है जो अपने को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने को सहर्ष तैयार हो जाती है। सचमुच 'इस नाटक में स्थान-स्थान पर नारी के सम्बन्ध में ऐसे-ऐसे निष्कर्ष-वचन पढ़ने को मिलते हैं जिन्हें देखकर ऐसा प्रतिभासित होता है कि शूद्रक नारी-मनोविज्ञान का बड़ा पंडित था'।[5]

अलंकृत शैली के सर्वश्रेष्ठ काव्य-रचियता महाकवि श्रीहर्ष (१२ वीं शती)

---

१. शिशुपाल-वध २, ४२
२. वही; ३, ५८
३. 'शिशुपाल-वध'—माघ; १३, ४३
४. संस्कृत-सुकवि-समीक्षा—डा० बलदेव उपाध्याय; पृ० १६३
५. 'नारी तेरे रूप अनेक' की भूमिका में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० ३६

का 'नैषधीयचरित' माघोत्तर-काल के महाकाव्यों में मूर्धन्य है और उसमें पद-लालित्य का अपूर्व निर्वाह देखा जाता है। यह नैषध काव्य एक विशाल सुसज्जित प्रासाद के समान है जिसमें सब वस्तुऐं यथास्थान सुचारू रूप से अलंकृत कर रखी गयी हैं तथा जिनके चुनाव तथा रमणीयता में सर्वत्र सुसस्कृति तथा नागरिकता झलकती है।[1] श्रीहर्ष ने शृङ्गार के संयोग तथा वियोग उभय पक्षों का चित्रण बड़े घटाटोप के साथ किया है। उनका आदर्श पत्नी का चित्रण भी अलौकिक है जो संस्कृत-महाकाव्य के लिए अद्वितीय है क्योंकि वास्तविक पत्नी होने का हृदय कौन नारी रख सकती है? कवि नारी रूप के वर्णन में भी वह प्रवीण है। 'नैषधीय चरित' में दमयन्ती की मनोदशा का जो चित्र अंकित किया गया है, वह बड़ा ही मनोहारी है। कवि के अनुसार दमयन्ती के सुख की रचना करने के लिए ब्रह्मा ने चन्द्र मंडल के सारभाग को काट लिया है। अतः चन्द्रमा के मध्य में जो छिद्र बन गया है, उसी के द्वारा आकाश की नीलिमा दीख पड़ रही है। ये कलंक क्या हैं? नभोमंडल की नीलिमा दिखाने वाले बिल हैं।[2] अलौकिक सौन्दर्य से परिपूर्ण दमयन्ती, जिस पर मुनि-लोग भी मोहित हो रहे हैं,[3] ने अपने मन में नल के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को पति रूप में स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, वह नल को छोड़कर किसी अन्य का नाम भी सुनना नहीं चाहती थी।[4] वह सदैव पति रूप से स्वीकृत नल का ही गुण सुनना चाहती थी और स्वेच्छा से पति-रूप में अंगीकृत नल को प्रत्येक रात्रि में निद्रावस्था में भी देखती थी।[5] दमयन्ती की यह उक्ति भी बड़ी चमत्कारपूर्ण है जिसमें वियोगी वधुओं के मारने के कारण अपराधी चन्द्रमा घुमा कर आकाश से कृष्ण रात्रि रूपी पत्थर के ऊपर पटका जाता है जिससे तारा रूपी छोटे-छोटे सफेद टुकड़े आकाश में उड़कर चले गये हैं।[6] इस प्रकार इस रचना में महाकवि ने नल-दमयन्ती की प्रेमगाथा, हंस द्वारा दमयन्ती सौन्दर्य-वर्णन, दमयन्ती वियोग, दमयन्ती का नखशिख चित्र, दमयन्ती शृंगार-वर्णन आदि का बड़ा ही

---

१. संस्कृत-साहित्य का इतिहास-डा० बलदेव उपाध्याय (पंचम् संस्करण); पृ० २७१
२. नैषध चरित—महाकवि श्रीहर्ष; २, २५
३. वही; ७, ६६
४. वही; १, ३४
५. वही; १, ३५-३, ३६
६. वही; ४, ४६

रुचिर चित्रण किया है। रचना में उस काल के विलासी जीवन के चित्र भी अंकित किये गये हैं और एकादश सर्ग का पद-लालित्य (नैपधे पदलालित्यं) भी अपनी अद्भुत छटा से काव्य-सौन्दर्य को द्विगुणित किये हुए हैं।

संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध नाटककार भास के नाटकों का प्राचीनकाल में बड़ा प्रचार था। भास, कालिदास से पूर्ववर्ती न टककारों में मुख्य थे और शृंगार और वीर-रस की अभिव्यंजना करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। उनके उपलब्ध तेरह रूपकों में 'प्रतिमा', 'कर्णभार' और 'स्वप्नवासवदत्त' विशेष लोकप्रिय नाटक हैं। 'स्वप्नवासवदत्त' में 'वासवदता के औदार्य का चित्रण पतिव्रता के आदर्श रूप की झाँकी है। वह अपनी वास्तविकता को छिपाकर अपने पतिदेव के कल्याण के निमित्त अपूर्व त्याग का परिचय देती है। पद्मावती के साथ रहने पर उससे किसी प्रकार सपत्नी-द्वेष नहीं करती, प्रत्युत वह स्वयं पद्मावती के साथ उदयन का विवाह होने देती है।'[1] वास्तव में नारी-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक संस्कृत-साहित्य का एक जाज्वल्यमान रत्न है। भास के 'दरिद्र चारुदत्त' में भी एक निर्धन किन्तु चरित्रवान ब्राह्मण चारुदत्त और गुणग्राहिणी वारवनिता वसन्तसेना के आदर्श प्रेम का सुन्दर वर्णन हुआ है।

सम्राट हर्षवर्धन केवल विद्वानों एवम् कवियों के ही आश्रयदाता और गुणग्राही नहीं थे; अपितु स्वयं भी संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ एवम् कवि थे, तभी तो महाकवि पीयूप-वर्षी जयदेव ने अपने 'प्रसन्न राघव' नाटक में उन्हें कविता-कामिनी का हर्ष (हर्षो हर्षः) कहा है। श्रीहर्ष अपने तीन ग्रन्थों—प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द—की रचना के कारण विशेष प्रसिद्ध हैं। 'प्रियदर्शिका' चार अंकों की एक प्रणय नाटिका है। 'रत्नावली में भी चार अंक हैं। इस रचना की प्रसिद्धि प्राचीन-काल से ही चली आ रही है क्योंकि धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में इसकी कथा वस्तु का विस्तृत विश्लेपण किया है। काश्मीर के आनन्दवर्धमानाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' और दामोदर गुप्त ने अपने 'कुट्टनी मतम्' में इसका उल्लेख किया है। 'रत्नावली के पश्चात् अपने अर्थ-चमत्कार और रमणीयता के कारण रसिकजनों का अत्यन्त प्रिय नाटक 'नागानन्द' है। इसकी सरस कथा वस्तु प्राणिमात्र के कल्याणार्थ उत्कृष्ट परोपकार व्रत की कथा से सम्पन्न है इस नाटक की नायिका मलयवती एक आदर्श हिन्दू नारी है। वह सुन्दरी है तथा सौन्दर्य की दृष्टि से उसकी शोभा अनुपम है। वह संगीत में बड़ी प्रवीण है और गौरी की उपासिका है। सास तथा ससुर की सेवा में

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—डा० बलदेव उपाध्याय; पृ० ५०६

वह अपना समय बिताती है और नायक से सच्चा प्रेम करती है। जब उसे उसकी अस्वीकृति का पता चलता है तो वह अपना जीवन ही समाप्त करने पर उतारू हो जाती है।[1]

संस्कृत-साहित्य में **बाणभट्ट और दण्डी** के काव्य-ग्रन्थों का अच्छा सम्मान है। रसिक हृदय को मत्त कर देने वाली 'कादम्बरी' बाणभट्ट की सर्वोत्तम रचना है। इसमें गन्धर्वराज कन्या कादम्बरी की प्रेममयी कथा का बड़ा ही आकर्षक वर्णन संभोग श्रृङ्गार का वैभव दिखलाते हुए किया गया है। साथ ही महाश्वेता की मनोहर मूर्ति का चित्रण भी अत्यन्त मनोहारी बन पड़ा है। दण्डी के 'दशकुमार चरित' में भी, कुछ अश्लील स्थानों को छोड़कर, श्रृंगार-रस के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं, तभी तो विद्वानों ने दण्डी के पद-लालित्य की बड़ी प्रशंसा की है। बाणभट्ट और दण्डी की भाँति महाकवि सुबन्धु (५०० ई० पू०) भी उन सौंदर्यशास्त्रियों में गिने जाते हैं जिन्होंने नारी-सौंदर्य की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति की है। 'वासवदत्ता' उनकी अमर रचना है जो गद्यमय होते हुए भी सौन्दर्योपासक साहित्यकार के लिए मधुर काव्य-सा रस प्रदान करती है। नायिका वासवदत्ता के नख-शिख सम्बन्धी कुछ चित्ताकर्षक वर्णन आगे दिये गये हैं।

संस्कृत के अन्य नाटककार **भट्टनारायन** के 'वेणी-संहार' नाटक में भी द्रौपदी और भानुमती के चरित्रों का अच्छा वर्णन हुआ है। 'भानुमती का चरित्र बड़ा कोमल है। पतिव्रता की साक्षात् प्रतिमा भानुमती स्वप्न में दृष्ट घटना से भी अपने पतिदेव दुर्योधन के भावी अमंगल की कल्पना से बेचैन हो जाती है और उसे दूर करने के लिए देवताओं की सहायता के लिए अर्चना का विधान करती है। उनके चरित्र में जितना लालित्य है, उतना ही औदात्य है द्रौपदी के चरित्र में। द्रौपदी भरी सभा में पराक्रमी पतियों की आँखों के सामने अपमानिता, तिरस्कृता तथा विदलिता नारी की प्रतिमूर्ति है। उसमें क्रोध का तीव्र आवेग होना स्वाभाविक है। वह अपनी प्रतिज्ञा से टस-से-मस नहीं होती। स्त्री होते हुए भी वह पौरुष से मंडित है।............... वह पूर्ण भारतीय नारी है।[2]

संस्कृत के अग्रगण्य साहित्य-महारथियों में कविवर कालिदास के पश्चात् महाकवि **भवभूति** का सर्वोच्च स्थान है। वास्तव में भवभूति ने प्रधान-रूप से करुण-रस की मंदाकिनी प्रवाहित कर नाट्य-साहित्य को एक नवीन दिशा प्रदान की है और उनका यह मर्मस्पर्शी करुण पाषाणों को भी पिघलाने वाला और वज्र के हृदय को

---

१. संस्कृत-सुकवि-समीक्षा—डा० बलदेव उपाध्याय; पृ० २५७
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास—डा० बलदेव उपाध्याय; ५५७-५८

भी विदीर्ण करने वाला है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयं'। कवि की प्रतिभा का विकास हमें उनके तीन नाटकों—महावीर चरित, मालती-माधव और उत्तर-रामचरित में स्पष्ट दीख पड़ता है। 'उत्तर रामचरित' उनकी अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ कृति है और उसके हृदयस्पर्शी वर्णन में कई स्थानों में वे महाकवि कालिदास से भी आगे बढ़ गये हैं; तभी तो यह कहा गया है कि 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'। कवि की प्रतिभा और पाण्डित्य का मणिकांचन सयोग इसी रचना में देखने को मिलता है।

'उत्तर-रामचरित' में कवि ने दाम्पत्य-प्रेम का जो चित्रण किया है, वह अकलुष, गंगाजी के जल की भांति पावन और सस्कृत-साहित्य में अत्यन्त दुर्लभ है। कवि के अनुसार जो (दाम्पत्य भाव) सुख और दुःख में समान रहता है, सभी अवस्थाओं में अनुसरण करता है, जिसमें परितप्त हृदय को सान्त्वना मिलती है, जो लज्जा-संकोचादि रूप आवरण के हट जाने से परिपक्व प्रेम के उत्कृष्ट भाग में अवस्थित हो जाता है, उस दाम्पत्य का वह मुख्य अविच्छेद रूप कल्याण सभी प्रकार से प्रार्थनीय है।[1] भवभूति के पात्र कहीं भी 'स्वच्छन्द' प्रेम के पक्षपाती नहीं हैं किन्तु समाज के द्वारा अभिनन्दित प्रणय-मार्ग के पथिक हैं। कवि सच्चे प्रेम को दैवी वरदान मानता है और बतलाता है कि प्रीति निश्चित रूप से बाहरी सम्पर्कों की अपेक्षा नहीं करती, किन्तु कोई अन्तर्वर्ती कारण पदार्थों को परस्पर मिलाता है क्योंकि सूर्योदय पर कमल खिलता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्तमणि पिघलता है।[2] 'मालती माधव' में कवि ने मालती और माधव को उनके विवाह के अवसर पर जो उपदेश दिया है, वह पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम को समझने के लिए बड़ा ही उपयोगी है। भवभूति ने जिस प्रकार मालती के सौंदर्य के सम्बन्ध में कहा है कि यह मालती सौन्दर्य-सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी है, इसके समीप सौन्दर्य की कमी की संभावना नहीं है और यह सौंदर्य का जो आन्तर-रस (Essence) होता है, उसके निधि का भांडागार-सी मालूम होती है, इसको निर्माण करने में निश्चित रूप से इन्दु, सुधा, मृणाल, ज्योत्स्ना, कमल आदि सौन्दर्य की वस्तुओं का उपयोग किया गया होगा, सौन्दर्य का परमोच्च आदर्श मदन ही इसका निर्माता है। उसी प्रकार उन्होंने मर्यादा का पालन करते हुए राम द्वारा कहलाया है कि यह जानकी घर की लक्ष्मी है, नेत्रों की अमृतशलाका है, इसका स्पर्श देह पर प्रचुर चन्दन का द्रव है और यह गले में अर्पित भुजा शीतल एवं मृदुल मुक्ताहार है। इसकी कौन-सी वस्तु प्रिय

१. उत्तर रामचरित—भवभूति; १, ३९
२. वही; ६. १२

नहीं है ? (अर्थात् सभी हैं) परन्तु इसका वियोग तो बड़ा ही असहनीय है।[1] राम के इस कथन में सीता के त्याग के समय भारतीय नारी के गौरव, मर्यादा और महान् त्याग का ज्वलन्त उदाहरण भी स्पष्ट हो जाता है। गर्भभार से आक्रान्त सीता को वन में छोड़ने के पूर्व राम का यह कथन कि अरी भोली सीते ! अपूर्व कर्म करने से चाण्डाल मुझको स्पर्श मत करो—तुम तो एक देवी और आदर्श भारतीय नारी हो', बड़ा ही भावपूर्ण है। जब वे सीता को वन में छोड़ देते हैं तब भी भारतीय सभ्यता के अनुसार वे अश्वमेघ यज्ञ में सीता के स्थान पर एक स्वर्णप्रतिमा स्थापित कर यज्ञ सम्पन्न करते हैं।[3]

भवभूति जहाँ आदर्श दाम्पत्य-प्रणय के सफल चित्रकार हैं, वहाँ वे नारी का आदर्श सुन्दर ढंग से व्यक्त करने में भी सिद्धहस्त हैं। 'उत्तर-रामचरित' में कवि ने 'प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति' कथन द्वारा यह स्पष्ट किया है कि नारी के बिना पुरुष का जीवन अधूरा है और पुरुष बिना नारी के सहयोग के पुरुषार्थ में कृतकार्य नहीं हो सकता। नारी पशु-प्रवृत्ति की प्रतीक नहीं है। वह तो पुरुष-जीवन में दिव्य-गुणों की प्रतिमा है अतएव उसके अभाव में पुरुष के लिए समस्त संसार अरण्य के समान है।[4]

इस प्रकार भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' में सीता, नारी का एक नवीन आदर्श उपस्थित करती है। वहाँ उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। वह पूर्ण आत्म-समर्पिता है। राम का सुख उसका ध्येय है.................उसके प्रणय में निष्काम भावना का चरम उत्कर्ष परिलक्षित होता है।.................वह कोमल, भावुक और सम्वेदनशील है तथा स्वभाव से ही प्रेम करने वाली है।[5]

इन सुप्रसिद्ध महाकवियों एवं नाटककारों के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य को अलंकृत करने में अनेक मुक्तक (नीति, स्त्रोत, शृङ्गार) कवियों—अमरुक, जयदेव, पंडितराज जगन्नाथ, भल्लट, भर्तृहरि, कवियत्री विज्जिका आदि—ने बड़ा योगदान किया है। आगे के पृष्ठों में हम इन कवियों की श्रेष्ठ रचनाओं के कुछ सुन्दर उदाहरण विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करेंगे:—

---

१. उत्तर रामचरित—भवभूति; १, ३८
२. वही; १. ४६
३. वही; ७, २०
४. वही; ६, ३०
५. प्रसाद के नारी-चरित्र—डा० देवेश ठाकुर; पृ० २८४

नारी-सौंदर्य—नारी का सौन्दर्य-चित्रण करना कवियों को सर्वदा अत्यन्त प्रिय रहा है। विश्व की अनेक सम्पन्न भाषाओं की भाँति संस्कृत-भाषा में भी नारी-सौंदर्य का अत्यन्त मनोहारी चित्रण हुआ है। इन कवियों ने नारी के आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्य को बहुत ही मनोयोग पूर्वक देखा है। कविकुल-कुमुद-कलाधर कालिदास की कल्पना में तो सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में नारी-सौंदर्य मूर्तमान हो रहा है। सुप्रसिद्ध नाटककार और कवि भारवि तो नारी के मुख पर देवताओं द्वारा निकाली गयी समस्त वस्तुओं को देखते हैं। नारी की साँस में स्वर्गीय वृक्षों के पुष्पों की महक, कपोलों में चन्द्रमा की शोभा, अधर में अमृत का स्वाद और तिरछे नेत्रों में विष का-सा प्रभाव है:—

यद्यपि विबुधैःसिन्धोरन्तः कथंचित् उपार्जितम् ।
तदपि सकलं चारु स्त्रीणाम् मुखे च विलोक्यते ।
सुर सुमनः श्वासामोदे शशी च कपोलयोः
अमृतमधरे तिर्यग्भूते विषं च विलोचने ।।'—इसी से मिलते-जुलते

भाव को लेकर एक अन्य कवि एक स्त्री से कहता है कि हे सुन्दरी, अब चन्द्रमा को ग्रहण लगने वाला है अतएव शीघ्र घर के भीतर चली जाओ, बाहर खड़ी न रहो अन्यथा मुझे आशंका है कि तुम्हारे निष्कलंक मुख को देखकर राहू, पूर्णमासी के चन्द्रमा को छोड़कर, कहीं तुम्हारे मुखचन्द्र को न ग्रस ले—

'प्रविश झटिति गेहं मा वहिस्तिष्ठ कान्ते ।
ग्रहण समय वेला वर्तते शीतरश्मेः ।
तव मुखमकलंकं वीक्ष्य नूनं स राहुः
ग्रसति तव मुखेन्दु पूर्णचन्द्रं विहाय ।।'

महाकवि सुवन्धु (५०० ई० पू०) भारत के एक ऐसे सौन्दर्य-शास्त्री थे जिन्होंने नारी-सौंदर्य की अभिव्यक्ति को चरम सीमा तक ले जाने पर भी अपनी कला को पुण्यसलिला गंगा के समान निर्मल रखा है।' अपनी सुविख्यात रचना 'वासवदत्ता' में उन्होंने कामिनियों की रतिक्रीड़ा से सम्वन्धित आभूषणों एवम् नखशिख का जो वर्णन किया है, वह बड़ा ही मनोहारी है। 'वासवदत्ता' के सौन्दर्य-चित्रण में भी काम एवं सौन्दर्य का जो सामंजस्य उपस्थित किया है, वह संस्कृत-साहित्य में अनूठा है।

शृङ्गार-प्रधान सुमधुर भावों के रस से छलकती गीति-रचना 'गीत-गोविन्द' के अमर-गायक महाकवि जयदेव ने कलात्मक दृष्टि से नारी के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए नारी के मुखचन्द्र की तुलना में वास्तविक चन्द्र को क्षीरसागर की

बूंद के समान माना है।[1] संस्कृत-साहित्य की प्रतिभाशालिनी **कवियित्री विज्जका** ने कमल-विजयीमुख की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि हे मुग्धे ! कमल ने बड़ी-बड़ी तैयारियाँ करके तुम्हारे मुख पर धावा बोल दिया। किन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ और वह अपना विषण्ण वदन लेकर चुपचाप बैठ गया। खिला हुआ कोश उसका खजाना(कोष है); चारों ओर फैले हुए पत्ते पत्र (वाहन) हैं; जल दुर्गम (किला) है; उवल मैत्र-मंडल (सूर्य मंडल) उसका मित्र है। कंटकों को भी उसने नीचे कर दिया है। इतना ही नहीं, उसने शिलीमुख (वाण तथा भ्रमर) को भी खींच रखा है। इतना सब कुछ होते हुए भी वह इस मुख को नहीं जीत सका है।[2]

पंडितराज जगन्नाथ ने नारी के लावण्य का वर्णन हेतूत्प्रेक्षा द्वारा इस प्रकार किया है कि उसे पढ़कर अरसिकों का भी हृदय द्रवीभूत हो जाता है। हे तन्वि, लावण्य-धन्ये ! तुम्हारे कपोल देश को ही मैं उत्तर दिशा मानता हूँ। जिस कपोल के आसपास केशपाश लटक रहा है, उसमें तुम्हारे कर्णों की शोभा अवर्णनीय है। वह ऐसा लगता है मानो उत्तर दिशा में कुबेर की अलकापुरी नगरी में सुन्दर सम्पत्ति शोभायमान हो रही है।[3] इसके बाद एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि हे सखि, तुम कस्तूरी का तिलक लगाकर शाम को हंसती हुई प्रासाद पर शीघ्र जाओ जिससे तुम्हारे मुखचन्द्र को देखकर कुमुदिनी विकसित हो और चारों दिशाएं

---

१. 'तन्वि त्वद् वदनस्य विभ्रमलवं लावण्यवासां निधे—
रिन्दुः सुन्दरि ! दुग्ध सिन्धु लहरी बिन्दुः कथं विन्दतु।
उत्कल्लोल विलोचने, क्षणमग्रं शीतांशुरालम्बता—
मुन्मीलन्नवनील नीरजवनी खेल-मरालश्रियम् ॥'—जयदेव; गीत गोविन्द

२. 'कोषः स्फीततरः स्थिलानि परितः पत्राणि दुर्गं जलं
मैत्रं मण्डलमुज्ज्वलं चिरमधो नीतास्तथा कण्टकाः।
इत्याकृष्ट शिलीमुखेन रचनां कृत्वा तदप्यद्भुतं
यत्पद्मेन जिगीषुणापि न जितं मुग्धे त्वदीयं मुखम् ॥'
संस्कृत सुकवि समीक्षा—डा० बलदेव उपाध्याय; पृ० ३४८

३. 'कपोलपालीं तव तन्वि मन्ये
लावण्यधन्ये दिशमुत्तराख्याम्।
आभाति यस्यां ललितालकायां
मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः ॥'
—भामिनी विलास—पंडितराज जगन्नाथ; २, १०

भी शोभायमान हों।[१] बाणभट्ट ने भी 'पार्वती परिणय' में नारी को वश में करने का मदन का सम्मोहक अस्त्र बताया है। 'जिसको देखने से तृप्ति नहीं होती, शरीर की लक्ष्मी स्वरूप तथा अन्तरात्मा को वश में करने वाली हिमालय की पुत्री पार्वती मदन का सम्मोहन अस्त्र ही है।[२] जिस प्रकार संस्कृत के महारथियों ने नारी के सौन्दर्य का वर्णन किया है, उसी प्रकार धारेश्वर श्रीभोजदेव ने विशेषोक्ति अलंकार में नारी के हाव-भाव या अन्य कटाक्षों का मार्मिक वर्णन कर सांसारिक अन्य वस्तुओं की अनुपयोगिता सिद्ध कर दी है। रथ, हाथी, घोड़े और सैन्य के अभाव में भी कामदेव केवल स्त्री के अपांगादि कटाक्षों द्वारा तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करता है।[३] राजेश्वर विरचित 'काव्य मीमांसा' में केवल-कामिनियों का कमनीय वर्णन है। मूल से लेकर गूँथे हुए केशों का सुन्दर बन्धन, घुँघराली लटों से ललित ललाट और भुजाओं के नीचे से कसकर बाँधी हुई साड़ियाँ—इस प्रकार का यह कामिनियों का कमनीय वेश असाधारण शोभा वाला विदित होता है।[४] इस पद्य में बतलाया गया है कि ललकते हुए लावण्य की लहरों से ललित कश्मीरी कामिनियों के शरीर में मानो विशुद्ध स्वर्ण को गलाकर लेपन किया गया हो।[५] महाराज भर्तृहरि ने अपने 'श्रृङ्गार शतकम्' में नारी के सुन्दर अंगों को ही उसके स्वाभाविक भूषण बतलाया है। चन्द्रमा के समान विकसित होने वाले अर्थात् सुन्दर मुख, कमलों की हंसी करने में अर्थात् लजाने वाले दोनों नयन, सुवर्ण को निंदित करने वाला अर्थात्

१, 'कस्तूरिकातिलकमालि विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।
प्रौढि भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा—
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि॥'—वही; २, ४

२, 'आसेचनकतनुश्रीरन्तः करणस्य किमपि संवननम्
सा खलु गिरिराजसुता सम्मोहनमस्त्रमेव पुष्पेषोः॥'—'पार्वती परिणय'; २, ६

३. 'न रथा न च मातंगा न हया न च पत्तयः।
स्त्रीणामपांगदृष्ट्यैव जीयते जगतां त्रयम्॥'—'सरस्वती-कण्ठाभरणम्'; ४, १६८

४. 'आमूलतो वलितकुन्तलचारुचूड-
श्चूर्णालकप्रचयलांछितभालभागः।
कक्षानिवेशनिविडीकृतनीविरेष
वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम्॥—'काव्य-मीमांसा'; ३ काव्यपुरुषोत्पत्ति

५. 'काश्मीरी गात्र लेखासु लोल लावण्य वीचिषु।
द्रावयित्वेव विन्यस्तं स्वर्णं षोडशवर्णकम्॥'—वही; १७ (देश विभाग)

उसकी अपेक्षा भी रुचिर वर्ण (अंग कान्ति), भ्रमरियों को जीतने वाला अर्थात् उससे अधिक काले केश, हाथी के गंडस्थल की शोभा को हरने वाला अर्थात् पुष्ट एवं उन्नत उभय कुच, गुरु अर्थात् दुःख से वहन करने योग्य नितम्ब, मधुर और कोमल वाणी विलास अर्थात् मीठी वाणी—ये सब युवतियों के स्वाभाविक भूषण हैं।[1] कवि को हरिण के बच्चे के समान चंचल नेत्र वाली सुन्दरी के बिना यह जगत अंधकारमय जान पड़ता है।[2] इसी प्रकार का भाव प्रदर्शित करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने बतलाया है कि जहाँ मृगलोचनी गृहिणी दृष्टिगोचर नहीं होती, वह घर सम्पूर्ण सम्पत्ति-वैभव होते हुए भी वन के समान है।[3]

'महामोद' ग्रन्थ के रचयिता गणपति अंधकार के सम्बन्ध में विचित्र कल्पना करते हुए लिखते हैं कि कृष्ण पक्ष की रात्रि के एकान्त वातावरण में एकाकिनी रूपवती नारी को देखकर अचेतन अंधकार भी सचेतन पुरुष की भाँति उसके अनिन्द्य सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होकर नारी के अंग स्पर्श की इच्छा करे, तो कौन आश्चर्य की बात है।[4] इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में नारी-सौंदर्य का वर्णन शब्द-शब्द में झलकता हुआ पाया जाता है।

नारी-आदर्श—अपूर्व सौंदर्य एवं आकर्षण की खान नारी अपने आदर्श एव महान् पातिव्रत धर्म के बल पर ही श्रेष्ठ मानी गयी है। महाकवि कालिदास ने आदर्शमयी पत्नी के रूप में सीता के पवित्र चरित्र का सुन्दर चित्रण किया है और अपने 'कुमार सम्भवम्' में 'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूल कारणम्'—कह कर पतिव्रता पत्नी का गौरव प्रदर्शित किया है। महाकवि भवभूति ने अपने 'उत्तर रामचरित' में 'प्रिया नाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति 'कह कर अत्यन्त सुन्दर ढंग से भारतीय नारी का आदर्श व्यक्त किया है। महाकवि हर्ष ने भी अपनी अलंकृत शैली द्वारा आदर्श पत्नी का अपूर्व चित्रण किया है।

---

१. शृङ्गार शतकम्—भर्तृहरि श्लोक; ५
२. वही—श्लोक; १४
३. 'हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते।
सेवितं सर्वसंपद्भिरपि तद् भवनं वनम्॥'—भामिनी विलासः; २, १५६
४. 'उत्सारितो हसति दीधितिभिः कपोला—
देकावली भिरवधूत इव स्तनेभ्यः।
अंगेष्वलब्ध परिभोग सुखोन्धकारो,
गृह्णाति केशरचनासु रुषैव नारीः॥'—'कल्पना'-सितम्बर, १९५२; पृ० ६०

भारतीय नारी प्राणों के रहते सतीत्व पर आँच नहीं आने देती। इसी आदर्श को लेकर जयदेव कवि ने अपने 'प्रसन्न राघवम्' में बड़े ही मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित किये हैं। 'वाण के बाहुओं से आहत शिव-धनुष तनिक भी हिलता नहीं है। कामातुर व्यक्ति की सैकड़ों प्रार्थनाओं से भी स्वभाव से सुन्दर सतियों का हृदय नहीं डिगता।[1] यहाँ कवि ने नारी की उत्कृष्टता बताते हुए चतुर्थ चरण में 'मनः सतीनाम्' शब्द रख कर नारी के सभी सद्गुणों और रूपों का एक समन्वय कर दिया है। उसने नारी को शीर्ष-स्थान पर रख कर उसे सन्मार्ग पर ले जाने वाली शक्ति बताया है। वही नारी इस संसार में अपना आदर्श स्थापित कर सकती है, जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर अपने पति पर निर्मल प्रीति रखती हो तथा पति की इच्छानुसार चलकर उसकी आज्ञा का पालन करती हो। एक अन्य स्थान पर इसी आदर्श का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'निवास-स्थान के समीप आ जाने पर सीता शीघ्र ही सामने जाकर रामचन्द्र के कर-कमलों से धनुप लेकर उन्हें थका देख नवीन पत्रों के व्यंजन से हवा करके उचित व्यवहार का आदर्श उपस्थित करती है।[2] स्वयं दुःख या कष्ट को सहती हुई नारी यहाँ पति सेवा करती हुई एक आदर्श नारी का गौरव उपस्थित करती है। कवि भास ने भी अपने 'प्रतिमा' नाटक में 'भर्तृनाथा हि नार्यः, कहकर नारी आदर्श की स्थापना की है।[3]

नारी-प्रशंसा—संस्कृत के कवियों ने नारी-आदर्श के साथ नारी की प्रशंसा में भी हृदय खोलकर लिखा है। आचार्य वराहमिहिर का कथन है कि ब्रह्माजी ने स्त्री के सिवाय कोई अन्य बहुमूल्य रत्न संसार में ऐसा निर्मित नहीं किया जो श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट और स्मृत होते ही आह्लाद उत्पन्न कर सके। स्त्री के कारण ही घर में अर्थ है, धर्म है, पुत्र-सुख है। जो लोग वैराग्य का मान कर स्त्री की निन्दा किया करते

---

१. 'वाणस्य वाहुशिखरैः परिपीड्यमानं
नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दु मौलेः।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानै-
रभ्यर्थितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम्।।'—'प्रसन्न राघवम्'; १, ५६

२. 'प्रत्यासन्ने भवति निलये सम्प्रयाता पुरस्तात्-
तूर्णं क्षिप्तैः कतिपय पदैश्चापमादाय हस्तात्।
श्रान्तं कान्तं नवकिसलयैः सानुजं वीजयन्ती
जाता सीता समुचितविधि प्रक्रिया वैजयन्ती।।'—वही; ५, २६

३. 'प्रतिमा नाटक'—भास; १, २५

हैं, वे इन गृह-लक्ष्मियों के गुणों को भूल जाया करते हैं और स्त्री की निन्दा करते हुए 'उलटा चोर कोतवाल को डांटे' की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं।[1]

'शक्ति-संगम तंत्र' के 'ताराखण्ड' में भी शिवजी ने नारी को त्रैलोक्य की माता और त्रिभुवन का आधार माना है।[2] नारी की प्रशंसा में शिवजी बतलाते हैं कि नारी के समान न सुख है, न गति है, न भाग्य है, न राज्य है, न तप है न तीर्थ है, न योग है, न जप है, न मन्त्र हैं और न धन है। वही इस संसार की सर्वाधिक पूजनीय देवता है क्योंकि वह पार्वती का रूप है। उसके समान न कुछ था, न है और न होगा।[3] महाराज भर्तृहरि के अनुसार नारी केवल गुणों से पुरुष से चित्त को वेध लेती है।[4]

नारी-निन्दा—श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि हिन्दू शास्त्रों से लेकर वर्तमान समय तक के सन्त-महात्माओं की पावन, मधुर वाणी में भी जहाँ विविध सद्गुणों की मूर्ति, ब्रह्मवादिनी, विदुषी, माता, पत्नी, सती और पतिव्रता आदि के रूप में नारी की अत्यधिक प्रशंसा पायी जाती है, उसकी महिमा के अमित गुण गाये गये हैं, वहाँ उन्हीं ग्रन्थों में नारी की निन्दा भी की गयी है और नारी से बचे रहने के लिए सावधान किया गया है। यद्यपि नारी की निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा अधिक पायी जाती है, तथापि सन्तों की वाणी में कांचन के साथ गिनी जाने वाली विषय-स्वरूपा-कामिनी की निन्दा भी की गयी है। नारी-निन्दा को लेकर ऐसा कहा जा सकता है कि शास्त्रों की रचना पुरुषों द्वारा हुई है और उन्होंने जान-बूझकर नारी के

---

१. अहो धाष्ठ्यमसाधूनां निन्दतामनधाः स्त्रियः
मुंचतामिव चौराणां तिष्ठ चौरेति जल्पताम्।'—'बृहद्-संहिता'; ७४, १५

२. 'नारी त्रिलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी॥';(१३-४४)

३. 'न च नारीसमं सौख्यं न च नारी समा गतिः।
न नारी सदृशं भाग्यं न भूतं न भविष्यति॥
न नारी सदृशं राज्यं न नारी सदृशं तपः।
न नारी सदृशं तीर्थं न भूतं न भविष्यति॥
न नारी सदृशो योगो न नारी सदृशो जपः।
न नारी सदृशो योगो न भूतं न भविष्यति॥
न नारी सदृशो मंत्रः न नारी सदृशं तपः।
न नारी सदृशं वित्तं न भूतो न भविष्यति॥'। (१३, ४६-४९)

४. 'शृङ्गार शतकम्'—श्लोक; १३

प्रति अन्याय किया है। किन्तु यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो शास्त्रकारों ने आवश्यकतानुसार उसकी बड़ी प्रशंसा भी की है एवं निन्दा भी।

महाभारत के अनुशासन-पर्व (३८, १२, २६), रामायण के अरण्यकाण्ड (४५, २६-३०), मनुस्मृति (६, १४-१५) तथा जैनाचार्य हेमचन्द्र (योगशास्त्र २, ८७) में नारी के संबंध में अनेक अनुदार वक्तव्य पाये जाते हैं। महाकवि अश्वघोष-कृत 'सौन्दरानन्द' महाकाव्य का अष्टम सर्ग, आचार्य शंकर के नाम से प्रसिद्ध शत-श्लोकी शंकरदिग्विजय का मण्डन मिश्र एवं आचार्य शंकर का शास्त्रार्थ का अष्टम सर्ग, कुछ बौद्ध एवं जैन साहित्य (धार्मिक तथा अन्य कथा-साहित्य) में नारी के लिए घृणा उत्पन्न करने वाले दृष्टिकोणों की भरमार है। उसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि वैराग्य उत्पन्न होने के लिए जो अनेक युक्तियाँ व साधन काम में लाये जाते हैं, उनमें से स्त्री के प्रति घृणा उत्पन्न करना मुख्य कारण है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने नरक का एकमात्र द्वार नारी को ही माना है—'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी'—'रम्भाशुक संवाद' में भी नारी के अग-प्रत्यंगों के प्रति शुकदेवजी द्वारा घृणा प्रकट की गयी है। अश्वघोप का कथन है कि जिस प्रकार विषैली लताओं का आश्रय लेने से दुःख होता है, जैसे सांप वाली गुफाओं में प्रवेश करने से विपत्ति आती है, जैसे म्यान के बाहर चमकती तलवार के स्पर्श से सङ्कट उत्पन्न होता है उसी प्रकार नारी का परिणाम सदैव कष्टमय हुआ करता है।[1]

महाकवि भर्तृहरि अपने तीन शतक—नीति, शृङ्गार, वैराग्य—के लिए प्रसिद्ध हैं। वे वहाँ स्त्री को पुरुषों की खान, सहस्त्रों दोप होने पर भी अच्छी, पत्थर होने पर भी रत्न, विप होने पर भी अमृत, सर्वदा सेवनीय,[2] शून्य घर में दीपक के समान[3] बतलाते हैं, वहां वे ही उसे सबला (अवला नहीं)[4] कठिन भवसागर को पार करने की

---

१. अश्वघोप—संस्कृत सुकवि समीक्षा; पृ० १३

२. 'अभिनव मदलीला लालसं सुन्दरीणां।
स्तनभर परिखिन्नं यौवनं वा वनं वा ॥'—'शृङ्गार शतकम्'; १६

३. 'नाभ्यस्ता भुवि वादिवृन्ददमनी विद्याविनीतोचिता,
खड्गाग्रैः करि कुम्भपीठ दलनैर्नाकं न नीतं यशः।
कांता कोमल पल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये,
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ॥'—वैराग्य शतकम्; ८७

४. 'नूनं हि ते कविवरा विपरीत बोधा, ये नित्यमाहुरबला इति कामनीनाम्।
याभिर्विलोलतरतारक दृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबला- कथंताः ॥'
—'शृङ्गार शतकम्'; ५३

बाधा[1] तथा छुरी की धार[2] बतलाते हैं। भर्तृहरि के मत में नारी के स्तन वास्तविक रूप से मांस के ग्रन्थी रूप हैं परन्तु कवियों ने उन्हें स्वर्ण-कलश के समान माना है, कफ की खान आनन को चन्द्रमा से तुलना दी है, गन्दी जंघा को श्रेष्ठतम हाथी की सूड़ के समान माना है। जहाँ अन्य कवियों ने नारी के रूप तथा उसके शारीरिक अवयवों को श्रेष्ठ माना है, वहाँ उन्होंने 'स्तनौ मांसग्रन्थी', 'मुखं श्लेष्मागारम्' आदि-आदि शब्दों द्वारा नारी के रूप की खुलकर निन्दा की है और उसे घृणा-योग्य बताया है।[3]

स्त्री, क्रोध और विषय—ये तीनों ही विपत्ति की जड़ और नाश की निशानी हैं। श्री शङ्कराचार्य-कृत 'प्रश्नोत्तर माला' के अनुसार संसार में वही सबसे बड़ा शूरवीर है जो काम-बाणों से पीड़ित न हो और वही प्राज्ञ, धीर और समदर्शी है जिसे स्त्री के कटाक्ष से मोह न हो।[4] भर्तृहरि के अनुसार नारी के कटाक्ष-रूपी बाण जिसके हृदय को नहीं वेधते, वह धीर पुरुष तीनों लोक को वश कर लेता है।[5]

---

१. 'संसारोदधि निस्तार पदवी न दवीयसी।
अंतरा दुस्तरानस्युर्यदिरे मदिरेक्षणाः ॥'—वही; ३८

१. 'जात्यंधाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलांगायच,
ग्रामीणाय च दुःकुलायच गलतकुष्ठाभि भूतायच
यच्छंतीषु मनोहरम् निजवपुर्लक्ष्मी लवस्पर्द्धया,
पण्यस्त्रीषु विवेक कल्पलतिका शस्त्रीषुरज्येतकः ॥'—वही; ४३

३. 'स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ,
मुखंश्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम्।
स्त्रवंमूत्र विलन्नं कविवर करस्पर्धि जघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजन विशेषैर्गुरू कृतम् ॥'—वैराग्य शतकम्; १६

४. 'शूरान्महाशूरमो स्ति को वा?
मनोज वाणैर्व्यथितो न यस्तु।
प्राज्ञो ति धीरश्च शमो स्ति को वा?
प्राप्तो न मोहं ललना कटाक्षैः ॥'

५. 'कान्ता कटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य—
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षयन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशै,
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥'—नीतिशतक; १०७

नायिका-भेद—शृंगार-रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेद काव्य शास्त्र का एक उपांग माना गया है और उसकी परम्परा काव्यशास्त्र की परम्परा के साथ ही प्रारम्भ होती है। इसका सर्वप्रथम वर्णन हमें भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्त होता है। वहाँ मनोवैज्ञानिक स्थिति एवम् अवस्था के अनुसार आठ प्रकार की नायिकाओं का वर्णन अभिनय के सम्बन्ध में ही किया गया है और प्रकृति के विचार से नायिकाओं के तीन भेद—उत्तमा, मध्यमा, अधमा—किये गये हैं।[1] फिर व्यासदेव-कृत 'अग्नि पुराण' में इसका थोड़ा वर्णन पाया जाता है। इसके उपरान्त आचार्य-धनंजय (११ वीं सदी विक्रम) ने अपने 'दश रूपक' में अष्ट नायिकाओं के अतिरिक्त मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तथा उनके उपभेदों का वर्णन किया है। भानुदत्त (१४ वीं सदी) की 'रसमंजरी' नायिका-भेद वर्णन का एक आधार ग्रन्थ माना जाता है। इसमें रति, यौवन और लज्जा के आधार पर नायिका के तीन भेद—स्वकीया, परकीया, सामान्या—किये गये हैं। आचार्य विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' और रुद्रभट्ट के 'शृंगार तिलक' में भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। 'शृंगार तिलक' तो नायिका-भेद परिपाटी का प्रारम्भिक ग्रन्थ माना जाता है।

संस्कृत के अधिकांश कवि रसवादी होने के कारण शृंगार की विभिन्न स्थितियों के चित्रण में अत्यन्त कुशल थे। इसी कारण उन्होंने नायिकाओं तथा उनकी विविध दशाओं के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं, वे भी अनुपम हैं। यहाँ हम कुछ नायिकाओं के चित्र उपस्थित कर रहे हैं जिनसे हमारे उक्त कथन की पुष्टि भली भाँति हो सकेगी—

कवि अमरुक की भावी प्रोषित पतिका अपने जीवन से कह रही है कि जब मेरे प्रियतम ने गमन का निश्चय किया, तब दुर्बलता के कारण मेरे हाथ के आभूषण गिर पड़े, प्रियतम अश्रु भी जाने लगे। केवल जाने की खबर सुनकर नेत्रों से निरन्तर धारा बहने लगी—सन्तोष एक क्षण भी न टिका; मन तो पहले ही जाने के लिए तैयार हो गया—एक सब एक साथ ही चलने को तैयार हो गये। हे प्राण! तुम्हें भी तो एक दिन जाना ही है तो अपने मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो? प्राणप्यारे के जाने की खबर सुन तुम भी क्यों नहीं चल बसते।[2] उनकी एक मानिनी की प्रधान सखी मान छोड़ने के सम्बन्ध में कह रही है कि हे कठोर हृदयवाली! बस, अब मान छोड़ो। देखो, तुम्हारे प्राण प्यारे की कैसी बुरी दशा है। बेचारा मस्तक झुकाए

---

१. नाट्यशास्त्र-भरत मुनि; २४. २३३-२३४

२. संस्कृत सुकवि समीक्षा; पृ० ३४३

बाहर बैठा पागलों की भांति पृथ्वी को खरोंच रहा है, प्यारी सखियों ने भोजन करना बन्द कर दिया है। दिन-रात रोने से उनके नेत्र सूज गये हैं, पिंजड़े के सुग्गों ने शोक के मारे हंसना और पढ़ना छोड़ दिया है, भला तुम्हें दया नहीं आती। अतएव शीघ्र मान छोड़ो।[१] पति के घर नई आयी मुग्धा नायिका की लज्जाशीलता का चित्रण भी बड़ा ही स्वाभाविक है।[२] कश्मीरी कवि भल्लट की प्रोषित पतिका का पति परदेश में है, अतएव वह कान्त-वियोग में कामाग्नि से जल रही है। वह कहती है कि कदम्ब के पराग से सना हुआ पवन बहे, घनघमण्ड को देखकर मोर नाचें और जल बरसावें, मेरा इन सबसे कुछ भी उलाहना नहीं है, क्योंकि भला पुरुषों को भी कभी दया आती है? वायु, मयूर और मेघ सब पुरुष हैं, किन्तु हे निर्दयी दामिनी! तुम भी मेरे समान नारी हो, फिर भी दया और सहानुभूति को तिलाँजलि देकर क्यों चमक रही हो?[३] बिजली के प्रति यह उलाहना वास्तव में बड़ा ही युक्तियुक्त है। एक विरहणी नायिका काजल से मलिन जल-भार (अश्रुधार) को वहन करती हुई तथा काले बादल के समान श्याम कुन्तलों से सुशोभित मुख-मंडल वाली नववधू पति से उत्पन्न वियोग के समय में घनघोर बादलों से ढंके आकाश मंडल को नहीं देखती, क्योंकि ऐसा करने पर अधिक दुःख होने की आशंका है।[४] कवि की कलहान्तरिता नायिका कह रही है कि धीरे-धीरे मेरे पास प्रियतम आये भी, किन्तु में लोक-लज्जावश उनकी ओर देख भी न सकी। मैंने बड़ा अपराध किया है। मेरी सखियां मुझे क्या कहेंगी? आलिंगन करते हुए भी प्रियतम का मैंने निर्दयतापूर्वक तिरस्कार कर दिया है। अब यह कामाग्नि मुझे अत्यधिक संताप दे रही है।[५]

जयदेव का गीत 'गोविन्द' संस्कृत-साहित्य-सागर का अनमोल रत्न है। बारहवीं सदी की इस रसमयी कृति में भक्ति और शृंगार का मधुर सम्मिश्रण हृदयोल्लास कारक है। दूती नायक-नायिका की विरह-पीड़ा एक-दूसरे से निवेदित करती

---

१. वही; पृ० ३४४

२. 'पटालग्ने पत्यौ नमयतिमुखं जातविनया,
हठाश्लेषं वाँछत्यप हरति गात्राणि निभृतम्।
न शक्नोत्याखयातुं स्मित मुख सखी दत्त नयना,
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथम परिहासे नववधूः॥'

३. वही पृ० ३५८

४. 'साहित्य-वैभवम्'; भट्ट श्रीमथरानाथ शास्त्री; पृ० ४७

५. वही; पृ० ७६

है और अन्त में उसका मिलन करा देती है। जयदेव की राधा कभी मानिनी, कभी वासकसज्जा, कभी विप्रलब्धा, कभी खंडिता और कभी अभिसारिका के रूप में खिल उठती है।[1] राधा के रूप चित्रण में रूप का मादक और मारक प्रभाव दर्शनीय है। भाव जगत का यह उदाहरण कितना हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी है कि 'हे कृशांगी, ईर्ष्या के मारे तेरा हृदय जल रहा होगा किन्तु मैं क्या करूँ? न जाने तुम रुष्ट होकर कहाँ चली गयी हो। आँखों के समक्ष ही तुम घूम-फिर रही हो, फिर भी न जाने क्यों तुम मुझे अपने हृदय से नहीं लगाती हो? वस्तुतः राधा-कृष्ण की केलि-कथाएं, उनकी अभिसार लीलाएं, आशा, निराशा, उत्कण्ठा, मिलन-प्रेम की विविध दशाओं के चित्रण, छदों का नाद सौन्दर्य और कोमल-कान्त-पदावली ने गीत-गोविन्द को एक अनुपम गीत-काव्य बना दिया है।

बंगाल के अन्तिम राजा लक्ष्मण सेन की सभा के सम्माननीय कवि श्री गोवर्धनाचार्य शृंगार-रस के आचार्य हैं। कवि को संयोग-वियोग के समय कामिनियों के हृदय में जो कल्पनाएं उठती हैं, उनकी अच्छी परख है उनकी 'आर्या सप्तशती' में एक बड़ी ही सुन्दर कल्पना की गयी है। कवि एक ग्रामीण नारी को सम्बोधित कर कहता है कि हे भोजन-कर्म में निपुण सुन्दरी! अग्नि के न जलने पर क्रोध न करो। तुम्हारे लाल-लाल होठों से जो हवा निकलती है, उसे पीकर अग्नि धुआँ देने लगी है और जल नहीं रही। यदि वह जल उठी तो फिर उसे तुम्हारे मुख की सुगन्धी कैसे प्राप्त हो सकेगी?

नख-शिख वर्णन—संस्कृत-साहित्य के अनेक सुविख्यात कवियों ने जहाँ नारी-सौन्दर्य और नारी की विविध मनोदशा तथा विरह-व्यथा का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है, वहाँ उन्होंने उसके अंग-प्रत्यंग और अलंकारों का भी मनोहारी वर्णन किया है। नारी-सौन्दर्य का चित्रण उन्होंने समष्टि और व्यष्टि दोनों रूपों से किया है, अर्थात् समस्त शरीर का वर्णन भी और अंग-प्रत्यंग का पृथक-पृथक भी। अंग विशेष के सौन्दर्य का व्यष्टि रूप से क्रमबद्ध वर्णन ही नखशिख वर्णन कहलाता है। कवियों के लिए यह वर्णन सदैव ही एक रुचिकर विषय रहा है।

महाकवि कालिदास ने अपने 'कुमार-संभव' में पार्वती का, भवभूति ने 'मालती माधव' में मालती का और श्रीहर्ष ने 'नैषध' में दमयन्ती का जो सुन्दर नख-शिख वर्णन किया है, वह बेजोड़ है। एक कवि ने नारी के शरीर की तुलना एक सुन्दर सरोवर से की है जिसे ब्रह्माजी ने सन्तप्त मनुष्यों को शान्तचित बनाने के

---

१. 'गीत-गोविंद की भूमिका; डा० विनयमोहन शर्मा; पृ० २०

उद्देश्य से निर्मित किया है।[1] पंडितराज का कथन है कि चंचल अलक पंक्ति और चपल कमल-नयनों की लीला से मनुष्यों के नेत्रों को वश करने वाली, सायंकाल प्रियतम के गृह को गमन करने वाली कामिनी की गति किसके मन को हरण नहीं करती।[2] कवि एक बाला की मुस्कान के सम्बन्ध में कहता है कि हे बाले ! जब तू अपने वदन-कमल में लेशमात्र मुसिकान की शोभा को धारण करती है, तभी मैं यह जानता हूँ कि इस जगत को पंचसायक (कामदेव) ने विजय किया है।[3] कवि ने पार्वती के नख (१.३३) जंघा (१.३६) श्रेणी (१.३७) उरोज (१.४०) भुजा (१.४१) वाणी (१.४५) भौंह (१.४७) आदि का वर्णन किया है। पार्वती की मुसकराहट का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि यदि उज्ज्वल पुष्प ईपद्रक्त नवीन पल्लव पर रखा जावे, यदि मोती, लाल-लाल मूंगों पर निहित हो, तभी ये दोनों सुमन तथा मोती पार्वती की लाल-लाल होठों पर फैली हुई कमनीय मुस्कराहट की समता पा सकते हैं, अन्यथा नहीं।[4] एक नायिका की अलकों के सम्वन्ध में कविवर जगन्नाथ कहते हैं कि कुटिल अलक, कपोल से कुच मंडल के ऊपर गिर, चन्द्र विम्ब से सुमेरू पर्वत पर लम्बायमान सर्प के समान शोभा देती है।[5] पीन और उन्नत स्थिति को प्राप्त हो रहे नायिका के कुचों को देखकर कवि कह उठा कि हे नील कमल-लोचने जंवीर नीबू की शोभा को उल्लंघन करके निज लीला से सुन्दर हेमरूपी कुंभों (घटों) को जीतने वाले तेरे कुच अब इस समय में सुमेरू पर्वत के साथ ईर्ष्या करते हैं।[6] 'सुभाषित-रत्नाकर'[7] तथा कुवलयानन्द[8] में भी इन लावण्यपूर्ण स्तनों का

---

१. 'बाहूद्वौच मृणालमास्य कमलं लावण्य लीलाजलं
श्रोणी तीर्थशिला च नेत्र शफरी धम्मिल्ल शैवालकं ॥

काँतायास्तन चक्रवाक युगलं कंदर्प बाणा नलै,
र्दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्यं सरो निर्मित ॥
'सुभाषित रत्नाकरः' ; नवरसा: ८

२. भामिनी विलास; २-१५७
३. वही; २-११६
४. कुमार सम्भव; १.४४
५. भामिनी विलास; २. ३०६
६. वही; २. ६
७. कंदौ वाहु मृणालिका युगलयोर्लीला लता सत्फले,
नव्यौ रत्न समुद्गकौ बहति सा लावण्य पूर्णो स्तनौ।
८. स्वकीय हृदय भित्वा निर्गतौ यौ पयोधरौ
अन्य दीयस्य हृदयस्य भेदने का कृपा तयोः ॥'

मनोहारी वर्णन हुआ है। नारी की पतली कटि के कारण उसकी कृशता पर आशंका प्रकट की जा रही है और निर्माता को उलाहना भी कि यदि हवा लगने के कारण नायिका का मध्यम भाग टूट जावे तो उसे पुन: कैसे तैयार किया जा सकेगा।[1]

कश्मीरी कवि रत्नाकर कल्पना करते हैं कि करधनी से जघनों की शोभा बढ़ाई गयी, स्तनों को हार पहनाया गया, पर कटि के लिए कोई आभूषण नहीं दिया गया—इसी दु:ख के कारण दु:खी कटि का मध्य भाग दुर्बल हो गया है।[2] सभी सौन्दर्य शास्त्रियों ने पतली कमर का वर्णन किया है किन्तु कवि सुबन्धु की कल्पना में वासवदत्ता की कमर दु:ख और चिन्ता के कारण क्षीण हो गयी है। दु:ख इस कारण कि कमर विशाल तथा उन्नत स्तनों के कारण मेघ सदृश बालों में छिपे हुए चन्द्रमुख को नहीं देख पा रही हैं और कमर पर ऊपर से घट-तुल्य स्तनों का भार एवम् नीचे से भारी नितम्बों का दबाव पड़ रहा है। कमर को चिन्ता यह है कि कहीं इतने विशाल स्तन-रूपी कलश मेरे ही ऊपर न गिर पड़ें। ऐसी स्थिति में वासवदता की कटि का क्षीण हो जाना स्वाभाविक है।

आचार्य विश्वेश्वर नारी की रोमलता को जंजीर मान कर कहते हैं कि हे सुन्दरि, स्तन-रूपी पर्वत के आसपास घूमते रहने से उत्पन्न थकावट को स्नान द्वारा दूर करने के लिए नाभि-रूपी सरोवर में उतरने के इच्छुक तरुणों के मदोन्मत गजराज की भाँति अजेय मन को बाँधने के लिए तुम्हारी रोमलता जंजीर की भाँति है।[3] 'कुमार संभवम्' में भी पार्वती के सम्बन्ध में कालिदास का कथन है कि नाड़े के ऊपर

---

१. 'अहो प्रमादी भगवान्प्रजापतिः
कृशाति मध्या घटिता मृगेक्षणा।
यदि प्रमादादनिलेन भज्यते
कथं पुन: शक्ष्यति कर्तुमीदृशम्॥'

२. 'कांचीगुणैर्विरचिता जघनेषु लक्ष्मी
र्लब्धा स्थिति: स्तनतटेषु च रम्यहारैः।
नौ भूषिता वयमितीव नितम्बिनीनां
कार्श्यं निरर्गलमधार्यत मध्यभागैः॥'

३. 'वक्षोज पर्वत तटीषु कृताटनानां
नाभी सरः समवगाहितु मुत्सुकानाम्।
यूनां मनोमद कलद्विपनायकानां
बन्धाय रोमलतिका तव शृंखलेयम्॥"

गहरी नाभि तक पहुँची हुई और नवीन यौवन के आगमन के कारण बालों की जो नई उगी पतली रेखा बन गयी थी, वह ऐसी जान पड़ती थी मानो नाड़े के ऊपर बंधी हुई तगड़ी के मध्य जड़ा नीलम चमक उठा हो, पेट पर की तीन सिकुड़न रेखाएं मानो स्तन तक पहुँचने को कामदेव की सीढ़ी हो; लम्बी और मनोहर भौंहें ऐसी लगती थीं मानो किसी ने तूलिका से बनाई हों; केश-राशि इतनी सुन्दर थी कि अपने बालों पर इतराने वाली चौंरी हिरणियां भी उनके बाल देखकर अपने चंवरों पर इठलाना भूल जातीं ।[१]

संस्कृत के अलंकारिकों ने जिन-चार उद्दीपन-विभावों का वर्णन किया है, अलंकृति उनमें से एक है ।[२] नारी की अलंकृति के लिए जिस प्रकार अलंकार उपयोगी हैं, उसी प्रकार उसका सरल स्वाभाविक सौन्दर्य भी । महाराज भर्तृहरि ने चन्द्रमा के समान विकसित होने वाले सुन्दर मुख, कमलों को लज्जित करने वाले दोनों नेत्र, सुवर्ण को निन्दित करने वाला रुचिर वर्ण, भ्रमरियों को जीतने वाले काले केश, गज-राज के गंडस्थल की शोभा को हरने वाले उन्नत उभय कुच, दुःख से वहन करने योग्य नितम्ब, मधुर और कोमल वाणी—इन सबको युवतियों के स्वाभाविक भूषण माना है ।[३] बाणभट्ट ने 'पार्वती-परिणय' में लिखा है कि पार्वती का अंग सौन्दर्य आभूषणों को शोभन बनाता है ।[४] महाकवि भवभूति ने भी मालती के लिए[५] और हर्ष ने नागानंद की नायिका[६] के लिए यही लिखा है कि 'तुम अपने अंगों की शोभा से ही सुशोभित हो' । कालिदास ने उर्वशी की प्रशंसा में कहा है कि उसका शरीर आभूषण है और शृंगार की सामग्रियों का भी शृंगार है ।[७] फिर भी कवियों ने अपनी नायिका के आभूषणों का वर्णन सौन्दर्य की अभिवृद्धि, एक मादक वातावरण उपस्थित करने तथा प्रेम को उद्दीप्त करने के लिए किया है । महाकवि कालिदास का यह कथन

---

१. 'कुमार संभवम्; १. ३८-४८
२. उद्दीपनं चतुर्धा स्यादालम्बन समाश्रयम् ।
गुण चेष्टालङ्कृत यस्तटस्थाश्चेति भेदतः ।।;
रसार्णव; श्रीगणपति शास्त्री; १. १६२
३. शृंगार शतकम् ; ५
४. पार्वती परिणय ; पृ० ३६
५. मालती-माधव ; ६. १. ६१
६. नागानंद ; ३. ३७
७. विक्रमोर्वशीयम् ; २. ३

उचित ही है कि जिस प्रकार पुष्पों के आने पर लताएं स्वयं खिल उठती हैं, तारों के आगमन से रात्रि जगमगाने लगती है, रंग-विरंगे पक्षियों से नदी सुहावनी हो जाती है, उसी प्रकार मणियों, मोतियों और स्वर्ण-आभूषण पहना दिये जाने पर पार्वतीजी (स्त्रियों) का प्राकृतिक-सौन्दर्य ओर भी निखर उठता है।[1] अपने 'ऋतु संहार' में शरद् का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि आजकल स्त्रियाँ अपनी घनी घुंघराली काली लटों में नवीन मालती के पुष्प गूंथ रही हैं और अपने जिन कानों में वे स्वर्ण कुंडल धारण करती थीं, उनमें उन्होंने नील-कमल लटका लिये हैं वे स्त्रियाँ वड़ी उमंग से स्तनों पर मोतियों के हार पहनती और चन्दन पोतती हैं, अपने भारी-भारी नितम्बों पर करधनी बाँधती हैं और अपने कमल जैसे कोमल और सुन्दर पैरों में छमछम बजने वाले बिछुए पहनती हैं।[2] कटि प्रदेश की करधनी की 'काँची' मणि-रश्मियों की छाया प्राप्त कर नितम्ब प्रदेश को किस प्रकार गुरु और पीन वना देती है, इसे भारवि ने अत्यन्त विदग्धतापूर्ण ढंग से अंकित किया है।[3]

नायिकाओं के अलंकारों की झंकृति उनके प्रेमियों के ध्यान को स्वभावतः आकृष्ट करती है। तभी तो माघ कवि ने रैवतक पर्वत पर वन-विहार के लिए जाती हुई यादव तरुणियों के अलंकारों का वड़ा ही एंद्रिय वर्णन किया है।[4] चूड़ियों, कंकड़ मेखला और नूपुरों की ध्वनि द्वारा नारियाँ पुरुषों के मन को मोह लेती हैं, इसे महा-राज भर्तृहरि ने अपने 'शृंगार शतक' में सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है।[5]

नारी-सौन्दर्य, नायिका-भेद, जल-विहार, षड्ऋतु-वर्णन तथा नखशिख सम्बन्धी इन कतिपय उदाहरणों से हम सहज ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि नारी सदा से ही मानव-हृदय की रागात्मक वृत्तियों की प्रेरणा-स्रोत रही है। परिणाम स्वरूप संस्कृत के पंडित तथा कवियों ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से नारी-सौन्दर्य का निरीक्षण कर अपनी रचनाओं में उसकी सफल अभिव्यंजना की है।

इन कवियों के अतिरिक्त प्राकृत-अपभ्रंश की तत्कालीन शृंगार प्रधान रचनायें अत्यधिक लोकप्रिय रही हैं। हाल (सात वाहन) ने अपनी रुचि की सात

१. कुमार संभवम् ; ७. २१
२. 'ऋतु संहारम्' ; ३. १६-२०
३. 'किरातार्जुनीय' ; ८ २३
४. 'शिशुपाल-वध'; ७. ५
५. 'शृंगार शतक' ; ८. ६

सौ सुन्दर रचनाओं का संग्रह 'गाथा-सप्तशती' में किया था। इस रचना में 'मानव-हृदय की आशा निराशा, सुख-दुख, हास-रुदन आदि स्वाभाविक भावनाओं का ही चित्रण है। गाँव की मुग्धा नायिका ही प्रधान है। मुग्धाओं के चित्र सबसे अधिक मार्मिक व मोहक हैं।'[९] इसी प्रकार की प्रेम परम्परा अपभ्रंश की सरस रचनाओं में भी पाई जाती है। वहाँ स्वकीया एवं परकीया दोनों प्रकार की नायिकाओं की झाँकी देखने को मिलती है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (हिन्दी साहित्य की भूमिका) तथा डॉ० नगेन्द्र (रीति काव्य की भूमिका) हिन्दी साहित्य को संस्कृत एवं प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य का ही स्वाभाविक विकास मानते हैं—और उनका यह कथन पूर्णतया सत्य भी है। इन कवियों की शृंगार प्रधान रचनाओं का हिन्दी के रीतिकालीन कवियों-आचार्यों पर भी सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है।

निष्कर्ष

यदि हम मानव-जाति के प्रारम्भिक काल से नारी-भावना के सम्बन्ध में विचार करने बैठें तो हमें ज्ञात होता है कि आदिम-युग से ही नारी, पुरुष के आकर्षण और प्रेरणा की वस्तु रही है। उसने सभ्यता के मौलिक तत्त्वों को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से कृषि-कर्म का आविष्कार किया, बर्तन बनाये और गृह-निर्माण कार्य भी किया। जबकि उसका साथी पुरुष जंगलों में पर्वतों के ऊपर, समुद्र के किनारे भटक कर शिकार की खोज किया करता था। वह दिन-भर जंगली जानवरों का शिकार कर अपना और अपने परिवार का पेट भरता था। किन्तु धीरे-धीरे नारी ने खेतों में अनाज उत्पन्न करना सीख लिया और धनुष-बाण के आविष्कार के साथ दो अरणियों की रगड़ से अग्नि उत्पन्न करना और हल का भी आविष्कार कर लिया। आदिम-कालीन सभ्यता के इस मातृ-सत्ताप्रधान युग में स्त्रियाँ ही खेती करतीं, कपड़ा बुनतीं, बर्तन बनातीं और घर की समस्त देख-भाल करतीं थीं। किन्तु धीरे-धीरे आदिम-युग के अन्तिम दौर में आर्थिक विकास और नारी से अधिक बलवान होने के कारण पुरुष ने स्त्रियों के अधिकारों को स्वयं प्राप्त करना आरम्भ किया। स्त्री से विवाह करने का उद्देश्य नारी सम्पत्ति और अधिकार को छीन लेना-मात्र था। इसका परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में समाज में एक अद्भुत परिवर्तन हुआ और मातृसत्ताक

---

९. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य—
डा. रामेश्वरलाल खंडेलवाल ; पृ० ५६

समाज, पितृसत्ताक समाज में वदल गया। माता के समस्त अधिकार पिता को प्राप्त हो गये और वेचारी नारी पुरुष की सम्पत्ति और दासी वन गयी।

हमारी भारतीय-सभ्यता का प्राचीनतम समय वैदिक-युग ही माना जाता है और मानव-सभ्यता के इस स्वर्ण-विहान में नारी-जीवन के सभी क्षेत्रों में सुख और शान्ति का आलोक विखरा हुआ था। विकास की कोई भी ऐसी शृङ्खला न थी जिस पर नारी अपने चरण रखने से वंचित रह सकी हो। वास्तव में जितनी श्रेष्ठ स्थिति नारी की वैदिक समाज में थी, वैसी फिर कभी नहीं हुई। वैदिक आर्य-जीवन के किसी भी अंश की सफल कल्पना नारी को विलग रख कर नहीं की जा सकती थी। प्रत्येक आर्य के लिए यज्ञ कार्य में सहचरी का सम्मिलित करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था। और यज्ञ के विना पुरुष का एक पग भी आगे चलना संभव न था।

वेदों में हमें नारी के कन्या, पत्नी, माता और ऋषि-रूप में दर्शन होते हैं। इस काल की 'कन्या कुटुम्व के स्नेह का धन थी, परिवार के कल्याण और सौख्य की अधिष्ठात्री, पिता के दोनों इहलोक तथा परलोक की आज्ञा, जननी की सहज अनुगता सहचरी, भाई के पौरुष की मर्यादा, वहिनों की प्रिय सखा और समस्त परिवार की पावन-ज्योति थी।' तव कन्याओं का उपनयन होता था और ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी कुमारियाँ हवन और वेदाध्ययन करती थीं। उसके अनन्तर पूर्ण युवती होने पर ही वे स्वेच्छापूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं। विवाह-योग्य कुमारी को अपनी अवस्था के युवकों से मिलने और उनसे घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने की स्वतन्त्रता दी जाती थी। तव देहेज की प्रथा न थी।

कन्या के वधू वनने पर उसकी तुलना गौरवमयी उदारहृदया-सम्राज्ञी से की जाती थी। पति के माता-पिता उसके माता-पिता वन जाते थे और वे अपने पुत्र के समान ही समस्त गृह-भार उसे सौंप निश्चिन्त हो जाया करते थे। एक पत्नी-व्रत ही वैदिक-काल का साधारण नियम था, यद्यपि वहु-विवाह भी होते थे किन्तु विशेष परिस्थिति में वे अपवाद स्वरूप थे। उस युग में विधवाओं की समस्या नहीं थी। सती की प्रथा ऋग्वैदिक-काल से पूर्व भले ही रही हो, पर वैदिक-काल में सहमरण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस युग में 'पुनर्भू' पत्नी का समाज में किसी प्रकार से भी कम मान नहीं था, यद्यपि आगे चलकर वधू को दिये गये वहुत-से अधिकार धीरे-धीरे उसके हाथ से निकल गये और वहु-विवाह की प्रथा के कारण गृहस्थ-जीवन में अनेक प्रकार के सङ्कट उत्पन्न होने लगे। पत्नीत्व की चरम सार्थकता मातृत्व में ही समझी जाती थी। जननी से वढ़कर आशा, विश्वास, क्षमा और औदार्य का दूसरा केन्द्र वैदिक-काल के जीवन में नहीं है।

इस काल में नारी को शिक्षा प्राप्त करने की भी सुविधा थी। घोषा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला, सुलभा, रोमशा, सूर्या, पौलोमी, शची आदि अनेक विदुषी सत्य-अन्वेषिणी ब्रह्मवादिनियों के मंत्र संकलन से ऋग्वेद समृद्ध हुआ है। वे संगीत एवं नृत्य-कला में भी पारंगत होती थीं और उन्हें भी पुरुषों की भाँति युद्ध में भाग लेकर अपना पराक्रम प्रदर्शित करने की स्वतंत्रता थी।

उत्तर-वैदिकाल में इतिहास की प्रगति के साथ नारी पद के पतन के स्पष्ट चिह्न दिखायी देने लगे और नारी के प्रति भी दृष्टिकोण बदला। धार्मिक और बौद्धिक क्षेत्र में पहले नारी को समान अधिकार और अनिवार्य स्थान प्राप्त था किन्तु अब केवल जननी-रूप ही पूजनीय समझा जाने लगा। समाज में कन्या का जन्म दुर्भाग्यपूर्ण माना जाने लगा और बाल-विवाह की प्रथा भी प्रारम्भ हो गयी। विधवा को पुनर्विवाह की आज्ञा न थी किन्तु वह 'नियोग' द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सकती थी। वर्ण-व्यवस्था के आरम्भ हो जाने तथा अनार्यों की उपस्थिति के कारण नारी का पुरुषों के साथ मिलना-जुलना कम होने लगा और पुरुषों की गोष्ठियों से स्त्रियाँ अलग रहने लगीं। परिणामस्वरूप उनका ज्ञान एवं अनुभव अब सीमित हो गया।

आगे चलकर **ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं संहिताओं** में नारी का सामाजिक-जीवन सीमित हो गया, कारण अनार्य स्त्रियाँ संस्कृत-भाषा के न जानने के कारण धार्मिक-प्रक्रियाओं में भाग लेने में असमर्थ थीं। कर्मकाण्ड की जटिलता के बढ़ने के कारण स्त्रियाँ अब अपने पति के साथ बैठकर समूची यज्ञ-क्रिया नहीं कर सकती थीं, उनकी कुछ क्रियाएँ पुरोहित करने लगे। इस पार्थक्य के कारण नारी का ज्ञान तथा अनुभव भी परिमित हो गया और समाज में अब उनका वह आदर तथा उच्च स्थान न रहा जो वैदिक-काल में था। जीवन में भौतिक-आनन्द का महत्व कम हो जाने, तपस्या की प्रवृत्ति और संन्यास का प्रचार बढ़ने से भी नारी की महत्ता समाज में कम हो गयी; केवल कम ही न हुई, अब उसकी निन्दा भी की जाने लगी क्योंकि नारी ही विरक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा समझी जाती थी। ऐतरेय-ब्राह्मण और मैत्रायणी-संहिता (४, ७६) में नारी, समाज में अनर्थ की जड़ मानी गयी और उसे जुआ और मदिरा की कोटि में रखा जाने लगा। तैत्तिरीय-संहिता में तो उसे एक बुरे शूद्र से भी नीच माना गया है। उपनिषदों मुख्यतः छन्दोग्य और बृहदारण्यक-उपनिषद् में यत्र-तत्र नारी सम्बन्धी चित्रण पाया जाता है। इस युग में स्त्री-शिक्षा के साथ सह-शिक्षा का भी प्रचार हुआ। उस समय दो प्रकार की छात्राएँ होती थीं .... ब्रह्मवादिनी (वे जो जीवन पर्यन्त अविवाहित रहकर शास्त्र-अध्ययन करतीं) और सद्योद्वाह (जो कुछ वर्ष अध्ययन कर गृहस्थ में प्रविष्ट होती थीं) स्त्रियों के ज्ञान तथा विद्या की उत्कृष्टता का परिचय हमें उपनिषदों से ही प्राप्त होता

है। याज्ञवल्क्य ऋषि के साथ शास्त्रार्थ करने वाली ब्रह्मवादिनी गार्गी, वैदेह जनक की राजसभा की प्रमुख थी। कुमारी गन्धर्व गृहीता परम विदुषी एवं वक्तृता में अत्यन्त चतुर थी।

धार्मिक-साहित्य पुराणों में भी नारी के पातिव्रत और सतीत्व धर्म पर अधिक बल दिया गया है और नारी-महिमा के गीत गाये गये हैं। मार्कण्डेय-पुराण में वर्णित 'दुर्गा सप्तशती' में शक्ति-उपासना के बीज उपलब्ध होते हैं। यह शक्ति ही पृथ्वी रूप से जगत का आधार और जल-रूप से सम्पूर्ण विश्व को तृप्त करने वाली और जगत के समस्त प्राणियों में अनेक रूपों में विराजमान है। दुर्गा-सप्तशती में शक्ति का चरित्र तीन रूपों—महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती—में चित्रित किया गया है। पुराण-साहित्य विशेष कर ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण और श्रीमद् भागवत पुराण का हिन्दी भक्ति-काव्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के कृष्णभक्ति-काव्य के अन्तर्गत सूरदास के सूर-सागर का मूल आधार श्रीमद् भागवत ही है। कृष्ण-भक्त नन्ददास के काव्य पर भी सबसे अधिक पौराणिक काव्य का प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य पौराणिक परम्परा का ही साहित्य है।

रामायण तथा महाभारत दोनों महाकाव्य वस्तुतः वैदिक-साहित्य और साहित्यिक-सस्कृत के बीच की कड़ी है। महाकाव्यों के युग में समय के करवट बदलने के साथ-साथ नारी के भाग्याभियान ने भी करवट बदली। जो नारी स्वतंत्रता के समीरण में श्वास लेती थी, वही नियंत्रण की कारा में बन्दिनी बना दी गयी। महाभारत के नारी पात्रों द्वारा हमें नारी-भावना के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक रूप तो वह है जिसमें नारी को समाज में महान आदर और गौरव की दृष्टि से देखा जाता था (अम्बा, अम्बालिका, अम्बिका, चित्रांगदा, दमयन्ती, गांधारी, द्रौपदी, कैकेयी, कुन्ती, लोपामुद्रा, रुक्मिणी, सत्यवती, सावित्री, सीता, सुभद्रा, उत्तरा, आदि) और दूसरा रूप वह है जिसमें नारी को झूठी, मक्कार, विचारहीन, चंचल, दुश्चरित्र, आग, माया, सांप और पापिनी कहा गया है। महाभारत में द्रौपदी का चरित्र नारी जीवन के परिसीमाओं तथा शक्तियों का प्रतीक है और उसके व्यक्तित्व से मातृत्व, पत्नीत्व और प्रेयसी रूप साकार हो गया है। इसके अतिरिक्त कुन्ती की मातृशक्ति और गान्धारी के पातिव्रत-धर्म में हम उस युग की नारी की छाया भलीभाँति देख सकते हैं।

इस युग के ऋषियों का ध्यान पुत्रहीन विधवा स्त्रियों की ओर गया और उन्होंने एक विधान का एक निर्माण किया जिसके अन्तर्गत विधवाएं किसी अन्य पुरुष से शारीरिक

सम्बन्ध स्थापित कर पुत्र उत्पन्न करा सकती थीं और पुत्र के भाग की सहायता से सुखमय जीवन व्यतीत कर सकती थीं—यही प्रथा 'नियोग' कहलायी। ऋग्वेद ने (न शेषो अग्ने अन्य जातमस्ति–इमां त्वमिंद्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभेगां कृणु–अन्यमिच्छस्व सुभगे पति मत ···· ····) नियोग-प्रथा का समर्थन किया और बतलाया कि पुरुष यदि अपनी पत्नी के गर्भ से सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ हो, तो वह स्वयं अपनी पत्नी को अन्य पुरुष से पुत्र उत्पन्न कराने का आदेश दे। मनु ने विधवा को अपने देवर (देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते) से और यदि देवर न हो तो अपने पति के कुल के किसी उच्च कुलीन व्यक्ति से 'नियोग' द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की अनुमति दी। महाभारत के अनुसार स्त्री अपने देवर द्वारा पुत्र उत्पन्न करा सकती है (नारी तु पत्यभावे वै देवरं कृणुते पतिम्) — महाभारत के अनुसार राजा व्युशिताश्व की रानी ने नियोग द्वारा सात पुत्र, राजा बलि ने छः सन्तान, राजा पाण्डु की रानियों (कुन्ती और माद्री ने ऋषियों द्वारा कई संतानें उत्पन्न करायी थीं (महाभारत–१. १३२. ६३—६४) जान पड़ता है कि निरन्तर युद्ध की स्थिति में पुत्र-जन्म की आवश्यकता, पितरों को प्रसन्न करने, राज्य-सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाने, राज्य की सुरक्षा कराने और परिवार की वृद्धि के पवित्र उद्देश्य से ही 'नियोग' की प्रथा धार्मिक स्तर पर स्वीकृत की गयी थी, किन्तु कालान्तर में इसके द्वारा शीलहरण, व्यभिचार और वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

इस युग में नारी को तभी व्यभिचारिणी कहा जाता था जब वह काम-वासना अथवा अनुचित प्रेम के वशीभूत हो अन्य पुरुष से विवाह कर लेती थी। पति की मृत्यु हो जाने, दूर देश चले जाने, चरित्र भ्रष्ट होने, नपुंसक होने पर स्त्री को किसी अन्य पुरुष से विवाह करने का अधिकार था। इस युग में यद्यपि काम-भाव से प्रेरित हो अन्य पत्नी रखना समाज में हेय समझा जाता था तथापि राजकुलों और धनिक-वर्ग में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। परिणामस्वरूप सपत्नियों और सौतेले पुत्रों के कारण परिवार और राज्यों में लड़ाई-झगड़े होते रहते थे।

हम आरम्भ में स्पष्ट कर चुके हैं कि आदिम युग में परिवार मातृसत्तात्मक था, अतएव स्त्री को यौन-सम्बन्ध के बारे में पूर्ण स्वतंत्रता थी-किन्तु वैदिक-संहिताओं के युग तक यह प्रथा बन्द होगयी थी। ऐतरेय-ब्राह्मण (१२, ११) में उल्लेख है कि एक पुरुष की कई स्त्रियां होती हैं किन्तु एक स्त्री के कई पति नहीं होते। इसी कारण द्रौपदी के बहुपतित्व के उदाहरण को महाभारत (आदिपर्व–१९७, २७-२९) में बुरा माना गया है। महाभारत (अनुशासन-पर्व) में पाँच प्रकार के विवाह–ब्राह्म, क्षात्र,

गांधर्व, आसुर, राक्षस-का उल्लेख है। युवतियाँ पूर्ण वयस्क होने पर ही विवाहित जीवन में प्रवेश करती थीं।

महाभारत की अपेक्षा **वाल्मीकि-रामायण** में हमें नारीत्व की सीमा कुछ संकुचित जान पड़ती है। रामायण में जनक-नन्दिनी सीता का व्यक्तित्व आदर्शों के पोषण की दृष्टि से भले ही महान और पवित्र हो, किन्तु उसमें नारी की विवशता और समर्पण की चरमावस्था के साथ-साथ शक्ति की उपेक्षा भी है। समाज में नारी के समर्पण, पातिव्रधर्म सेवा और त्याग पर इतना अधिक बल दिया गया कि बेचारी नारी को पुरुषों के अनाचार और अन्याय के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा।

जैनधर्म में पवित्र और संयमी जीवन पर अधिक बल दिया गया है तथा स्त्री को चंचल, मायावी, कृतघ्न, काम से जलती अग्नि, नरक की खान, विष की बेल आदि संबोधनों से पुकारा गया है और श्रमणों के लिये नारी-सम्पर्क का पूर्ण निषेध किया गया है। इस युग में सम्राटों और राजाओं के अन्तःपुर में कामवासना की मूर्ति, कोमलांगी और रूपवती नारियों की संख्या यद्यपि वृद्धि पर थी, तथापि समाज में अनेक विदुषी, राज्य-शासन करने में निपुण नारियाँ, भिक्षुणियों और उपासिकाएँ भी थीं। तब नारी का मातृ-रूप भी अधिक आदरणीय था।

ब्राह्मण-धर्म की ऊँच-नीच, बाह्य आडम्बर, नियंत्रण की पराकाष्ठा और भेद-भाव की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप **बौद्ध-काल** में पीड़ित नारी को सम्वेदना का सदेश प्राप्त हुआ और इसी कारण समाज के विभिन्न वर्गों की स्त्रियों ने बौद्धधर्म की दीक्षा ली। इस धर्म में विवाहिता, अविवाहिता, विधवा, वन्ध्या, पतिता-वेश्या सभी को अंगीकार किया गया और सभी प्रकार की नारियों को धार्मिक-कार्यों में समान रूप से भाग लेने का अधिकार प्राप्त हुआ। मठों, संघारामों और विहारों में नारी ने भिक्षुणी का परिधान पहनकर अपनी चिरन्तन जागरूकता का कायाकल्प किया। महा-प्रजापति गौतमी अभिरूप नंदा, मित्ता; तिस्सा, आदि भिक्षुणियाँ सुप्रसिद्ध थीं। इस युग की नारी-भावना का अधिकांश मूल्यांकन बिम्बसार की पत्नी खेमा, श्रावस्ती की कृपा गोतमी, ध्रुवस्वामिनी, राज्यश्री, महाश्वेता तथा कादम्बरी आदि के चरित्रों की सहायता से किया जा सकता है।

भारत की प्राचीन संस्कृति के अनुसार राष्ट्र एवम् समाज को उन्नत बनाने का ज्ञान प्रदान करने वाला शास्त्र स्मृति-शास्त्र कहलाता है। इस शास्त्र द्वारा मनु, पाराशर, व्यास, अंगिरस, बृहस्पति, विष्णु आदि विद्वान महर्षियों ने नारी की स्थिति और आदर्श पर अधिक प्रकाश डालने के लिए विधानों से जकड़ दिया।

मनुजी जहाँ—

> 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः
> यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।।'

कहकर नारी-समाज के प्रति सर्वाधिक सम्मान प्रदर्शित करते हैं, वहाँ उन्होंने यह भी कहा है कि स्त्री, जीवन में स्वतन्त्रतापूर्वक अकेली नहीं चल सकती (न स्त्री स्वातंत्र्य-मर्हति), अतएव उसे पति, पुत्र अथवा पिता के आश्रय की आवश्यकता है। उन्होंने स्त्री-धन के उत्तराधिकार में दुहिता को प्राथमिकता देने और पति की सेवा करने पर विशेष बल दिया है। पातिव्रत धर्म की उच्चता स्थापित करने के उद्देश्य से ही मनु ने पति को देववत् (मनु० ५, १५४) कहा है।

प्राचीन युग में 'पति और पत्नी के बीच अविच्छेद सम्बन्ध और धर्म के प्रति दृढ़ रहकर अपनी कीर्ति द्वारा लोक में चिरस्मरणीय (अमर) रहने वाली स्त्री को सती कहते थे।' वेदों में सती-प्रथा अथवा आत्मबलि का सीधा संकेत नहीं मिलता, केवल राज-परिवार में ही यह प्रथा थी किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में इसके लिए सहमरण (साथ मरना), सहगमन (साथ जाना), अनुमरण (पति की मृत्यु हो जाने पर मरना) और अन्वारोहण (साथ चिता पर चढ़ना) शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्राचीन गृह्यसूत्रों तथा धर्म-सूत्रों में (विष्णु धर्मसूत्र के अतिरिक्त) भी सती-प्रथा का संकेत नहीं मिलता, किन्तु शंख, अंगिरस, हारीत आदि स्मृतिकारों ने पति की मृत्यु पर चिता में भस्म होने वाली स्त्री की बड़ी प्रशंसा की है। मनु (५, १६०) का भी कथन है कि जो स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् सतीत्व के व्रत का पालन करती है, वह सीधी स्वर्ग जाती है। आगे चलकर यह प्रथा लोकप्रिय बनी, क्योंकि कालिदास के 'कुमार सम्भव' (४, ३४), गाथा सप्तशती (७, ३३), वात्स्यायन के कामसूत्र (६, ३, ५३) और वराह मिहिर की वृहत्संहिता (७४, १६) में इसका उल्लेख पाया जाता है।

मानव-समाज में विवाह-संस्था के भलीभाँति विकसित होने पर पुनर्विवाह की समस्या सदैव रही है। ऋग्वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु वहाँ एक मंत्र (१०, ४०, २) में अपत्यरहित पुरुष की विधवा पत्नी का देवर के साथ विवाह कहा गया है। वशिष्ठ (१७, ६६) और बोधायन (२, २, ४७) ने केवल बाल-विधवा को पुनर्विवाह करने की अनुमति दी थी। तैत्तिरीय-संहिता (६, ६, ४) और ऐतरेय ब्राह्मण (३, १२) ने किसी स्त्री के दो पति होना अवांछनीय माना था। आपस्तम्ब (२, ६, १३, ४) के अनुसार यदि कोई पुरुष एक बार पहले विवाहित स्त्री के साथ अथवा अपने से भिन्न जाति की स्त्री के साथ रहेगा, तो वे दोनों पाप के भागी होंगे। यद्यपि

विधवाओं की कठिनाइयों को स्मृतिकारों द्वारा प्रतिपादित (मनु० ९, ६९) 'नियोग' सम्बन्धी व्यवस्था ने बहुत कुछ कम कर दिया था तथापि स्मृति-ग्रन्थों में पुनर्विवाह का विरोध पाया जाता है।

आदिम-युग में परिवार मातृ-सत्तात्मक था और स्त्री को यौन-सम्बन्ध के बारे में पूर्ण स्वतन्त्रता थी, किन्तु वैदिक-संहिताओं के युग तक यह प्रथा बन्द हो गयी। ऋग्वेद में सूर्य की कन्या के विवाह का जो विस्तृत विवरण प्राप्त होता है, उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पितृ-सत्ता की स्थापना होने पर विवाह-संस्था की धीरे-धीरे स्थापना हो रही थी और वैदिक-युग में सर्वप्रथम श्वेतकेतु ने विवाह को संगठित रूप दिया। गृह्यसूत्रों और मनुस्मृति में आठ प्रकार—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गधर्व, राक्षस और पैशाच—के विवाहों का उल्लेख है। इनमें ब्राह्म विवाह सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। अन्तिम चार विवाह निकृष्ट कोटि के समझे जाते थे क्योंकि वे बिना किसी प्रकार के धार्मिक-विधान और माता-पिता की आज्ञा के किये जाते थे। इन स्मृतिकारों ने विवाह सम्बन्धी सभी आवश्यक बातों के सम्बन्ध में सविस्तार निर्देश दिये हैं।

आचार्य वात्स्यायन ने ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के लगभग जिस 'काम-सूत्र' ग्रन्थ की रचना की, उसमें कन्या-विस्रम्भण और कामिनी लक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया है। कन्या-विस्रंभण प्रकरण में नारी-रूप प्रशंसा, प्रणयोपचार आदि की विधियों का वर्णन है तथा कामिनी-लक्षण के अन्तर्गत हिन्दू, जैन और बौद्ध आचार्यों द्वारा निर्मित सामुद्रिक-शास्त्र के आधार पर नारियों के भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी और देवसत्वा, गंधर्वसत्वा, यक्षसत्वा, मनुष्यसत्वा—तथा लक्षण बतलाये गये हैं। वात्स्यायन ने नारी का जो स्वरूप उपस्थित किया है, वह केवल कामशास्त्रीय नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक भी है। यौन-मनोविज्ञान की दृष्टि से ही उन्होंने तीन नायिकाओं—मृगी, वड़वा, हस्तिनी—के रूप को देखा है (२, १, १)।

गार्हस्थ-धर्म को सुचारु-रूपेण निभाने की उपयोगी शिक्षा देने वाले वात्स्यायन के इस ग्रन्थ का चिरस्थायी प्रभाव भारतीय कला, साहित्य और समाज पर पड़ा। अजंता, एलोरा, खजुराहो, कोणार्क और जगन्नाथपुरी के मंदिरों की चित्रकला और मूर्तिकला पर यह प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' (श्लोक ३) में भी सर्वप्रथम काम-कला और हरि-स्मरण को एकत्र कर दिया गया। दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, राधा, गौरी आदि देवियों की स्तुति में जिस सौन्दर्य का चित्रण किया गया है वह बहुत कुछ कामशास्त्र के लक्षणों पर आधारित है। हिन्दी के 'आदि

युग' से लेकर 'रीति (शृङ्गार)—युग' की अनेक रचनाओं में वर्णित नारी-सौंदर्य, नायिका-भेद, नखशिख और षट्ऋतु वर्णन में कामशास्त्र के लक्षण ही मूलाधार हैं। हिन्दी के सभी शृंगारी-कवियों द्वारा चित्रित रति-केलि के प्रकार, नायक-नायिकाओं की चेष्टाएँ और हाव-भाव कामशास्त्र के प्रभाव से अछूती नहीं मानी जा सकतीं। कामशास्त्र के रतिभाव पर आधारित होने के कारण, समाज में नारी-भर्त्सना का प्रारम्भ हुआ, नारी का जीवन बन्धनों से जकड़ दिया गया और विधवाओं का अपने समाज में जीवन बिताना कठिन कार्य हो गया।

भारतीय संस्कृत-साहित्य में महाकवि कालिदास के नाटक तथा काव्यग्रन्थों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। महामना कालिदास मानव-हृदय एवं संस्कृति के मर्मज्ञ और सौंदर्योपासक तो थे ही, किन्तु शिव की उपेक्षा भी वे नहीं करना चाहते थे। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध रचनाओं में नारी के विविध रूपों का चित्रण कहीं सौंदर्य को और कहीं शिवत्व को मुखरित कर किया है। 'कुमार संभव' काव्य में नारी के दो रूप हैं—प्रथम रूप कामदेव की सहचरी रति है जो चित्त की चंचलता है और द्वितीय रूप पार्वती है जो सेवा, त्याग और तपस्या की ज्वलन्त प्रतिमा है। महाकवि ने पार्वती के रूप-चित्रण में बाल्य, किशोर, यौवनावस्था के साथ ही दाम्पत्य अवस्था में रूप सौन्दर्य का निरूपण किया है।

कालिदास के अनुसार पुरुष अर्थ है तो नारी वाणी, पुरुष शिव है तो नारी शक्ति, क्योंकि पुरुष के गुणों की अभिव्यक्ति नारी के बिना सम्भव नहीं। नारी के मानवीय रूप के दर्शन हमें दिलीप की सहयोगिनी तथा पत्नी सुदक्षिणा, अज की पत्नी इन्दुमती एवं दशरथनंदन राम की पत्नी सीता में प्राप्त होते हैं। 'मेघदूत' की नायिका यक्ष पत्नी अपने पति के प्रेम में एक दिव्य-रूप प्राप्त कर लेती है। 'विक्रमोर्वशीय' की नायिका उर्वशी और राजा पुरुरवा के प्रेम, वियोग तथा मिलन की व्याख्या भी आत्मा-परमात्मा के मिलन और वियोग के रूप में की जा सकती है। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' की नायिका शकुन्तला एक सरल, सुन्दर, अवला नारी का सजीव चित्र है। इस प्रकार कालिदास के ग्रन्थों में नारी के अर्चिता, पूजिता, परम आदरणीया, गृह-कार्य में मंत्रिणी, एकान्त में मित्र और ललित-कलाओं में प्रिया शिष्या (गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ—रघुवंश—८, ६७) रूपों के साथ-साथ शृङ्गारिक और अन्य स्वरूपों के भी दर्शन होते हैं।

कालिदास के अतिरिक्त अश्वघोष, भास, भारवि, हर्ष-वर्धन, दण्डी, माघ, भवभूति, श्रीहर्ष आदि सुविख्यात महाकवि और नाटककार एवम् भर्तृहरि, अमरूक,

भल्लट, जयदेव, पंडितराज जगन्नाथ आदि मुक्तक काव्यकारों ने अपनी विलक्षण काव्य-प्रतिभा, पांडित्य, कल्पना की ऊँची उड़ान और अलंकारपूर्ण भाषा-शैली द्वारा रसराज-श्रृंगार के उभय पक्ष के जो हृदयहारी चित्र प्रस्तुत किये हैं, वे बड़े ही लालित्यपूर्ण हैं। साथ ही इन श्रृङ्गार कवियों ने अपनी रचनाओं में दाम्पत्य-प्रेम, नायिका-भेद, नखशिख, षट्ऋतु सम्बन्धी जो वर्णन किये हैं, वे भी बड़े सरस और मार्मिक हैं।

इन कवियों की सरस कविताओं के साथ ही हमें संस्कृत की कुछ कवयित्रियों (विज्जका, सुभद्रा, फल्गुहस्तिनी, मोरिका, इन्दुलेखा, मारुला, विकटनितम्बा, शीला-भट्टारिका आदि) के विभिन्न सूक्ति-संग्रहों में संग्रहीत, जो श्रृंगार-रसपूर्ण कविताएँ पढ़ने को मिलती हैं, उनसे इन स्त्री-कवियों की अद्भुत प्रतिभा की सहज ही कल्पना की जा सकती है।

संस्कृत साहित्य में नारी का कार्य क्षेत्र कई भागों में विभाजित किया जा सकता है। तपोवन में रहने वाली कन्याओं को प्रायः मुनि-कन्या कहा गया है। उन्हें अनेक प्रकार की शिक्षा दी जाती थी और वे कई कलाओं में कुशल होती थीं। आश्रम में वे वृक्ष-सिंचन का कार्य करतीं, स्थण्डिल (भूमि) शायिनी रहकर ब्रह्मचारियों के समान वल्कल, मेखली (मौंजी), अक्ष (रुद्राक्ष) माला, उपवीत धारण करतीं और नीवार तथा श्यामाक (सवां) खिलाकर हरिणों एवं अन्य पशुओं को विश्वस्त कर लेती थीं। नगर-ग्रामवासिनी कन्याएँ—ललित-कलाओं में निपुण होती थीं। सम्पन्न परि-वार की कन्याएँ गले में स्वर्णहार पहनतीं, विविध प्रकार की वेणियों से केश-विन्यास करतीं, अपने वस्त्रों को अनेक प्रकार से रंगतीं (कुमार संभव), ओष्ठों को लाल बनातीं और झूला, पुष्पमंजिका, कन्दुक आदि से क्रीड़ाएँ करती थीं। अन्तःपुर की कुमारियों को अनेक प्रकार की कलाएँ सिखाई जाती थीं। वे विवाहिता वधुओं की अपेक्षा अधिक कला प्रवीण होती थीं। वे वंशी, वीणा आदि वाद्य बजाने और गान-विद्या में दक्षता प्राप्त करती थीं। द्यूतक्रीड़ा की अनुरागिनी, अष्टापद (पासा) की जानकार और सुन्दर श्लोकों का भी वे पाठ कर सकती थीं।

अन्तःपुर (शुद्धान्त, अवरोध) की वधुएँ परदे में रहती थीं और उनके सिर पर रेशमी अवगुंठन रहता था। इस प्रकार की परदा-प्रथा (अवगुंठन) का उल्लेख हमें वैदिक-काल में प्राप्त नहीं होता, क्योंकि तब तो विवाह के उपरान्त कन्या को देखने और आशीर्वाद देने की बात कही गयी है (ऋग्वेद—१०, ८५, ३३) फिर इस युग में स्त्रियाँ विदथ (सभा) और समन (उत्सव-मेला) में स्वतंत्रतापूर्व आ-जा सकती

थीं। धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में भी इस प्रथा का कहीं उल्लेख नहीं है। स्मृतिकारों ने राजवंश की स्त्रियों के लिए अवश्य ही 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' कहा है। महाकाव्य-युग में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि स्त्रियाँ सामान्य रूप से अलग रहती थीं। सीता की अग्नि-परीक्षा के अवसर पर राम का कथन है कि संकट, यज्ञ और विवाह के अवसर पर नारी का दर्शन आपत्तिजनक नहीं है। भास के 'प्रतिमा-नाटक' में सीता, स्वप्नवासवदत्ता में पद्मावती, मृच्छकटिक में वसन्तसेना, कालिदास के नाटकों की नायिकाएं, कादम्बरी में कादम्बरी और महाश्वेता तथा भवभूति के नाटकों की नारियाँ परदा नहीं करती थीं। हाँ, शकुन्तला को दुष्यन्त की सभा में (५, १३) और मृच्छ-कटिक नाटक की मदनिका को विवाह के उपरान्त घूंघट करते हुए हम अवश्य पाते हैं। अतएव इस प्रथा का अधिक प्रचार मुस्लिम आक्रमण के पश्चात् ही आरंभ हुआ, क्योंकि कुल-वधुएं लज्जा की रक्षा के लिए ही अवगुंठन धारण करती थीं (लज्जा रक्षनार्थं मुखावगुंठनम्—मल्लिनाथ, रघुवंश १३, ८)।

अन्तःपुर की ये वधुएं यद्यपि अवरोध में रहती थीं (कादम्बरी) किन्तु पूजा-पाठ अथवा अन्य मांगल्य अनुष्ठानों के अवसर पर वे रथ (स्यन्दन), चतुरस्त्रयान अथवा कर्णीरथ में बैठकर बाहर निकल सकती थीं। उन्हें यज्ञ, विवाह, विपत्ति, वन-गमन के अतिरिक्त अन्य किसी समय कोई नहीं देख सकता था। प्राजापत्य-विवाह के अवसर पर वधू को अलंकृत किया जाता था। अविधवा स्त्रियाँ उनके केशों में दूर्वा खोंसकर उसके शरीर पर चन्दन और कायेलक को लेप करती थीं तथा लोध का चूर्ण छिड़कती थीं। वधू के कपोलों पर गोरोचन से पत्र लेखन किया जाता, कानों पर जव के अंकुर रखे जाते, ओंठ और पैरों को रंगा जाता, नेत्रों में अंजन लगाया जाता था।

गृहणी-नारियाँ अंगरागादि से शरीर को ऊबटकर पुष्पों वाले जल में स्नान करतीं; स्नान करते समय कई प्रकार की क्रीड़ाएं करतीं; कुन्तलों को अनेक भांति गूंथती, विशेषक (पत्र-रचना) और भक्ति (तिलक) से मुख-मंडल को सजातीं, ओलते से होठों को लाल बना उन पर लोध का श्वेत चूर्ण छिड़कतीं तथा पैर और नखों को भी सुन्दर ढंग से रंगती थीं।

परिचारिकाओं (सेविकाओं) तथा वारविलासिनिओं (गणिकाओं) का भी संस्कृत के कई ग्रन्थों—रघुवंश, हर्षचरित, कादम्बरी आदि—में उल्लेख प्राप्त होता है। अन्तःपुर और राजकुल की परिचारिकाएं अपनी स्वामिनी के कार्यों में उनकी नित्य सहायता करतीं, उन्हें अलंकृत करतीं, सन्देश-वाहक का कार्य करती और विशेष उत्सवों पर हाथ में आम्र-मंजरी लिये हुए गायन और नृत्य द्वारा उत्सव की शोभा बढ़ाने में सहायक होती थीं।

आदिम-युग में नारी अनावृत (अनियंत्रित) तथा विवाह की प्रथा के पूर्व स्वैरिणी (स्वतः पुरुष के समीप जाने वाली) थी। विवाह-प्रथा के प्रचलित होने पर वह स्वयंवरा अथवा स्वयंदत्ता होती थी। सामान्यतः विवाह के अन्तर्गत ही स्त्री-पुरुष का यौन सम्बन्ध उचित माना जाता था यद्यपि विवाह के बाहर यह सम्बन्ध सम्भव था। मनुष्य की काम-वासना और सौन्दर्य प्रियता पर आधारित वेश्यावृत्ति किसी-न-किसी रूप में प्राचीन काल से संसार के सभी देशों में प्रचलित रही है। भारत में इस वेश्यावृत्ति का इतिहास भारतीय धर्म और दर्शन के ही समानान्तर चलता है। जान पड़ता है कि विवाह-प्रथा के प्रारम्भ होने के उपरान्त बन्धन रहित सहवास-मनोरंजन के लिये ही समाज में इस वेश्यावृत्ति का जन्म हुआ।

वेदों में वेश्या के अस्तित्व का उल्लेख पाया जाता है (ऋग्वेद-१,१६७, ४-२.२६.१)यद्यपि वह समाज में एक पतिता समझी जाती थी। आज से लगभग २३०० वर्ष पूर्व लिखे कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अनुसार वेश्या राजदरबार की शोभा और गान, अभिनय, लेखन, वीणावादन, वंशी-वादन, मृदंग-वादन और पुष्पहार बनाने में प्रवीण होती थीं। 'स्मृति' के अनुसार ये नगर वधु समाज की सम्मानित सदस्या मानी जाती थीं। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' (२४. १०६—१३) में गणिका के गुणों का वर्णन है तथा प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन की 'गाथा सप्तशती' में नारी चरित के विविध रूप और नगर वधुओं, गायिकाओं, कुट्टिनियों के सरस आख्यान हैं। आठवीं शताब्दी के कश्मीरी पंडित दामोदर गुप्त के 'कुट्टनी मतम्', क्षेमेन्द्र, के 'कला विलास' और 'समय मातृका', तथा भोजदेव की 'शृंगार मंजरी' द्वारा तत्कालीन वेश्यावृत्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

ऊपर हमने आठवीं शताब्दी के कवि दामोदर गुप्त की जिस रचना 'कुट्टनी मतम्' का उल्लेख किया है उसमें पर पुरुष के साथ शील हरण कराने वाली दूतियों का सविस्तार वर्णन है। इस ग्रन्थ में वेश्या-वृत्ति द्वारा धन कमाने वाली वेश्याओं के कई नाम—रण्डी, वार वनिता, गणिका, क्षुद्रा, शूला, लज्जिका, भोग्या, कुम्भा, वारवधू, नगर वधू, बन्धुरा, शालभंजिका, स्मर वीथिका, कामलेखा, वार विलासिनी, पण्यांगना, भण्डहासिनी आदि—गिनाये गये हैं।

बौद्ध-युग में नगर की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी को गणिका के पद पर अभिषिक्त किया जाता था। महान रूपवती आम्रपाली वैशाली की प्रधान नगर वधु (गणिका) थी। इसके अतिरिक्त वसन्तसेना (मृच्छकटिक), मदन-सेनिका, पुष्पदासी, रामदासी, मयूर-सेना, कावेरिका, पिंगला आदि कई गणिकाएं और वेश्याएं साहित्य में प्रसिद्ध हैं।

धर्मसूत्रों, महाकाव्यों और स्मृतियों में भी वेश्याओं का उल्लेख है। 'ललित-विस्तर' ग्रन्थ में गणिका को शास्त्र की जानकार और कवित्व की रसिका कहा गया है।

संगीत, शृंगार और कामुक विलासिता के कारण मध्य-युग के सामन्ती वातावरण में इस प्रथा को अधिक प्रोत्साहन मिला। संस्कृत-कवियों ने राजमहलों और अन्तःपुर में काम करने वाली दासियों के साथ वेश्याओं का भी उल्लेख किया है। इन वेश्याओं के पास उच्च परिवार की तरुणियाँ भी विभिन्न कलाओं का ज्ञान प्राप्त करने आती थीं। वात्स्यायन के 'कामशास्त्र' के अनुसार (१. ४. ३४) नागरिक के लिए वेश्या-गमन बुरा नहीं माना जाता था। वेश्या-प्रणाली के कार्य में भिक्षुणियाँ, कला विदग्धा मुंडाए, पुंश्चलियाँ और कुट्टनियाँ (वृद्ध गणिकाएँ) सहायता करती थीं। वात्स्यायन के अनुसार 'वेश्या' शब्द 'विषय' से और 'गणिका' शब्द 'गण' से बना है। गणिका संगीत और नृत्य संबंधी कार्य से ही पुरुषों को आनंदित करती थी, जबकि वेश्या शारीरिक सुख-प्राप्ति का भी एक साधन थी।

गणिकाएं अपनी कला, विद्या और रसिकता के कारण सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं। याज्ञवल्क्य ने इनके दो स्वरूपों का वर्णन किया है—अवरुद्ध और भुजिषा। वे नागरिकों के निवास-स्थान पर होने वाले उत्सवों एवं गोष्ठियों में निमंत्रित होकर नृत्य-गीत आदि के अतिरिक्त नाटक, आख्यान और रसालाप से भी नागरिकों का मनोविनोद किया करती थीं। राजमहलों और अन्तःपुरों में वे प्रायः छत्रधारिणी, स्वर्णकलशधारिणी होती थीं और उन्हें भंडार, स्नानागार और पाकशाला सम्बन्धी काम करने पड़ते थे। गणराज्यों के उठ जाने के पश्चात् वार-वनिताओं का बहुत कम उल्लेख पाया जाता है—जान पड़ता है कि तब उनका वह पूर्व-सम्मान भी बहुत कुछ समाप्त हो चुका था।

संस्कृत-महाकाव्यों एवं नाटकों में राजमहलों और अन्तःपुरों का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है। राजमहलों के इन अन्तःपुर की पुष्पवाटिकाओं और धारायंत्रों-वारियंत्रों (फव्वारों) के आसपास अन्तःपुरिकाएं विविध क्रीड़ाएं करती रहती थीं और यहीं उनका श्यामा, श्येन, शशघ्न, वंजुल, श्रीकर्ण, चक्रवाक, चाष, भाण्डीरक, खंजन, काक, कपोत, भारद्वाज, कुलाल, खर, पूर्णकूट, चटक, कुक्कुट, कुरक, कपिंजल, लावक, वार्तिक, चकोर, हारीत, कोकिल आदि पक्षियों की ध्वनि और शुक-सारिका के संभाषण से मनोविनोद हुआ करता था। इस प्रकार ये अन्तःपुर विविध सुकुमार कला और विद्या के आश्रय-स्थान थे।

वात्स्यायन और संस्कृत के कवियों ने अपनी रचनाओं में प्राचीन भारत के

मणिकुण्डल आदि; (२) **निवन्धनीय** (वाहुमूल में पहने जाने वाले तथा केशपाश के आभूपण)—अंगद (भुजवन्द), श्रोणीसूत्र (करधनी), मणिमेखला, चूड़ा मणि, कांची, किंकिणी, रशना, रत्नजाल आदि, (३) **प्रक्षेप्य** (पाहुंच में पहने जाने वाले)—कटक, मंजीर (नूपुर), ऊर्मिका, वलय (कंकण), अंगुलीयक (अंगूठी) आदि तथा (४) **आरोप्य** (जो शरीर पर आरोपित किये जाते हैं)—हार, माला, चूड़ामणि, रत्नजाल, नक्षत्र-मालिका आदि ।

इनके अतिरिक्त नारियाँ शरीर की दुर्गन्ध को दूर करने और विशेष आकर्षक वनाने की दृष्टि से कस्तूरी, कुंकुम, श्वेत रक्त चन्दन, केशर, गोरोचन, कुलक, इत्र आदि पदार्थ और विविध पुष्पों की मालाओं से अपने को अलंकृत करती थीं। सौभाग्य-चिन्ह के रूप में सिर पर माँग भरने, भिन्न-भिन्न आकृति की विन्दी लगाने, नेत्रों को काजल, अंजन, सुरमा से अलंकृत करने, होठों पर लाली लगाने, कपोलों को चन्दन की बुंदकियों से विचित्र करने और हथेली और पैर पर मेंहदी, महावर से सुन्दर चित्र-रचना करने का रिवाज था।

वैदिक-काल की नारियाँ वालों की नाना प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करने में प्रवीण थीं। केशपाश रचना के कुछ प्रकार—ओपश, कुरीर, कुम्ब (ऋग्वेद १०-८५. ८ में) वर्णित हैं। नारियाँ कपर्द (जटाजूट-जूड़े) भी धारण करती थीं (ऋग्वेद—१०. ११४. ३)—सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अवशेषों से ज्ञात होता है कि तव स्त्रियाँ वेणी और जूड़ा वांधती थीं। उनकी शिरोभूपा पंखे के आकार की होती थी और वे सिर पर स्वर्ण, चाँदी, ताँवे घोंघे के शंकु आकार के आभूषण धारण करती थीं। कालिदास ने अपने 'मेघदूत' (२.२) में अलक, सीमंत और चूड़ापाश (जूड़ा) इन तीन प्रकार के केश-विन्यास का वर्णन किया है। रघुवंश (१७.२३) में उन्होंने मौलि (वालों का जूड़ा) का वर्णन किया है—'मुक्ता गुणोन्नद्ध अंतर्गतस्रजमोलि' अमरकोपकार ने वाँधे हुए केशों को 'धम्मिल' कहा है—'धम्मिलाः संयता कचाः'। इसी कारण 'हर्पचरित' (१. १५) में भी पुरंध्रि स्त्रियों के धम्मिलों में मल्लिका पुष्प की माला गूँथे जाने का चित्रण है। उन दिनों धूप से केशों को धूपित करने की क्रिया स्त्रियों में अधिक प्रचलित थी। वे सुगंधित द्रव्यों को जलाकर उनकी गर्मी से अपने केश सुखातीं और उन्हें मोती तथा रत्नों से अलंकृत करती थीं।

इस प्रकार प्राचीन-काल के अधिकांश कवियों ने अपनी सुविख्यात रचनाओं में स्त्रियों को काव्य, संगीत, नृत्य और विविध कलाओं में प्रवीण दिखाते हुए उनका सविस्तार रूप-वर्णन किया है। साथ ही उन्होंने अपने काव्य-ग्रन्थों और नाटकों में

नारी को कोमलांगी, सुकुमार तथा सेवा, त्याग और सहनशीलता आदि गुणों से युक्त भी चित्रण किया है। उस युग में जन-साधारण की धारणा यही थी कि नारी गृहलक्ष्मी है, नारी-विहीन गृह की कल्पना नहीं की जा सकती, किन्तु वह स्वामिनी कदापि नहीं है। उसके लिए पिता, पति और पुत्र की छाया में रहना ही श्रेयस्कर है। अतः उन कवियों की दृष्टि नारी के गृहिणी तथा मातृरूप के विकास पर ही अधिक केन्द्रित हुई है।

विश्व के अन्य देशों के क्लासीकल (Classical) साहित्य की भाँति हमारे प्राचीन-साहित्य विशेषकर संस्कृत-साहित्य में भी कई आदर्श नारी-चरित्रों का मार्मिक चित्रण हुआ है। दुर्लभ राज्यश्री और सांसारिक सुखों को तृण की भाँति त्याग कर अपने पति के साथ निर्जन वन के कंटकाकीर्ण मार्गों पर सहर्ष चलने वाली, कोमलता एवम् सौन्दर्य की साकार और पति-परायणा **सीता**, शिव की प्राप्ति के लिए लता के समान कोमल शरीर को कठोर तपस्या द्वारा क्षीण करने वाली अपर्णा **पार्वती**, भारतीय नारियों में अत्यन्त साहसी और अपने कुल की आन पर मर मिटने वाली दिव्य नायिका द्रौपदी, अपने महान पतिव्रत-धर्म से अपने पतिको जीवन-दान दिलाने वाली परम धैर्यवान **सावित्री** एवम् महर्षि कण्व के आश्रम में पशु-पक्षियों के बीच पालित-पोषित, क्षमा, त्याग और सहनशीलता की प्रतीक मातृपरित्यक्ता **शकुन्तला** किसी भी उन्नतशीला देश के साहित्य के लिए गौरव की वस्तु मानी जा सकती हैं।

निःसन्देह महाकवि अश्वघोष से लेकर श्रीहर्ष अथवा जयदेव तक का लगभग बारह सौ वर्षों का संस्कृत-साहित्य 'वह अमूल्य साहित्य हैं जिस पर भारतीय-संस्कृति और साहित्य की अट्टालिका खड़ी होकर आकाश को अपनी गुरुता और महता से चुनौती दे रही है'। इन सैकड़ों वर्षों के राजनीतिक तथा सामाजिक उत्थान-पतन के पश्चात् भी अपनी प्रौढ़ता, रसात्मकता एवं जन-मानस को उद्वेलित और प्रेरित करने वाला यह साहित्य, विश्व-साहित्य में वेजोड़ है।

जैनों, बौद्धों और बाद के निर्गुण-सन्तों का प्राकृत, अपभ्रंश और देशभाषा का साहित्य, हिन्दी साहित्य के वीरगाथा-कालीन चरित-काव्य और एश्वर्यवादी सगुण-भक्ति का साहित्य और माधुर्यवादी शृंगार सूक्तियों का रीतिकालीन साहित्य सभी संस्कृत-साहित्य के महान् ऋणी हैं। इस साहित्य के पौराणिक तथा ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा का निर्वाह हिन्दी के कवि सैकड़ों वर्षों से करते आये हैं।

संस्कृत-साहित्य के परवर्ती-काल में जो राधाकृष्ण-परक शृंगारी कविता चली, उसे भी हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों ने अंगीकार कर निखारा। कवि

अमरुक, जयदेव, गोवर्धन आदि की शृंगारी मुक्तक परम्परा को रीति (शृंगार) युग के कवि बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर आदि ने ग्रहण किया तथा संस्कृत के छन्द, काव्य रूढ़ियों, अप्रस्तुतों, सर्गवद्धता और काव्यशास्त्र की परम्परा का निर्वाह आज भी किया जा रहा है। देश में राष्ट्रीय एकता और सामाजिक संगठन स्थापित करने तथा हमारी प्राचीन सभ्यता-संस्कृति और परम्पराओं का ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से भी संस्कृत का यह अमर काव्य अत्यन्त उपयोगी है।



पुष्प तृतीय

आदि-युग की नारी-भावना

१. युग का नामकरण एवं काल-निर्धारण,

२. तत्कालीन परिस्थितियाँ-राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक,

३. अपभ्रंश की रचनाओं में हिन्दी का प्रारम्भिक रूप,

४. अपभ्रंश-साहित्य की नारी-भावना,

५. सिद्ध-साहित्य में नारी की स्थिति,

६. नाथ-सन्तों का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण,

७. डिंगल की रचनाओं में चित्रित नारी का रूप,

८. रासो-ग्रन्थ में वर्णित नारी का रूप-सौन्दर्य, नायिका-भेद, वियोग-वर्णन, नखशिख तथा षड्ऋतु वर्णन,

९. अमीर खुसरो द्वारा नारी का चित्रण,

१०. विद्यापति ठक्कर के पदों में नारी का शृंगारी रूप,

११. निष्कर्ष,



पुष्प : तृतीय

आदि-युग की नारी-भावना

हिन्दी-साहित्य का आदि-युग एक ऐसा युग है जिसका नामकरण तथा काल-निर्धारण आज भी हिन्दी-साहित्य के विद्वानों के सम्मुख प्रश्नसूचक चिन्ह (?) बनकर खड़ा है, ऐसा चिन्ह जिसके न आदि का अभी तक निर्णय हो पाया और न अन्त का ही। इसके नामकरण तथा काल-निर्धारण की नौकाएँ भी विद्वानों के तर्क-वितर्क के सागर में अभी डगमगा रही हैं। इसे किस नाम से पुकारा जाय कि इसके वास्तविक स्वरूप का परिचय मिल सके, यही प्रमुख समस्या है जिसे सुलझाने के प्रयत्न में हिन्दी साहित्य के कई विद्वानों ने अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं। डॉ० नगेन्द्र ने इस काल के स्वरूप की सत्यता के सम्बन्ध में लिखा है कि—'वास्तव में हमारे साहित्य का आदिकाल इतना तमसाच्छन्न है कि उसमें प्रवेश करना साधारणतः संभव नहीं है उसके ऊपर ऐतिहासिक भ्रान्तियों तथा भाषा-विज्ञान सम्वन्धी उलझनों का ऐसा भयंकर आवरण छाया हुआ है कि सत्य की खोज करना अत्यन्त दुस्साध्य हो जाता है।'[१]

युग का नामकरण—इस युग के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों ने अपने अपने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[२] ने इस युग में वीरगाथाओं की प्रमुखता के कारण इसे 'वीरगाथा-काल' तथा डा० रामकुमार वर्मा[३] ने चारण कवियों की अधिकता के कारण इसे 'चारण-काल' कहा है। साथ ही डा० वर्मा ने इस काल को ऐसा स्थल भी माना है जहाँ दो भाषा एवं दो शैलियों की सन्धि होती है इसलिए इसे 'सन्धि-काल'[४] कहकर पुकारा है।

महा पंडित राहुल सांकृत्यायन[५] ने इसे 'सिद्ध-सामन्त-युग' के नाम से अभिहित किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस काल में धर्म और दर्शनशास्त्र के महान

---

१. 'विचार और विश्लेषण'—हि० सा० का आदिकाल—डा० नगेन्द्र; पृ० १६३
२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल; पृ० ४
३. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डा० रामकुमार वर्मा; पृ० १७७-७८
४. वही; पृ० ५०
५. 'हिन्दी काव्य-धारा'—श्री राहुल सांकृत्यायन, पृ० १३

पंडितों का आविर्भाव तथा निरक्षर सन्तों के ज्ञान का वीज वपन मानकर इसे 'वीज-वपनकाल' कहा है। इन्हीं मतभेदों के कारण आपने इसे भारतीय विचारों का 'मंथन-काल' कहकर अत्यंत महत्वपूर्ण वताया है।[1] प्रो० शिवकुमार शर्मा[2] तथा डा० गणपति चन्द्र गुप्त[3] ने इन भ्रान्तियों से वचने के लिए इसे 'प्रारम्भिक-काल' अथवा 'आविर्भाव-काल' के नाम से पुकारना ही उचित समझा है। किन्तु आधुनिकतम तर्क-वितर्कों के पश्चात मेरी नम्र सम्मति में इस काल का नाम 'आदि-काल' अथवा 'आदि-युग' समीचीन जान पड़ता है।

काल-निर्धारण—नामकरण की भाँति इस युग का काल-निर्धारण भी एक समस्या ही है। इस समस्या को सुलझाने लिए विद्वानों ने अपनी खोज, कल्पना एवं तर्क-वितर्क द्वारा इस काल को विभिन्न सीमाओं के अन्दर वाँधने का प्रयास किया है किन्तु इसके आदि और अन्त दोनों पर आज भी मतभेद दिखायी पड़ते हैं। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल की सीमा १०५० ई० से १३७५ ई० मानी है। जवकि महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने आठवीं शती (७६० ई०) के अपभ्रंशों को 'पुरानी हिन्दी' कहकर अपने 'सिद्ध-सामन्त-युग' का आरम्भ इसी काल से माना है। इस दृष्टि-कोण से राहुलजी ने सरहपा, स्वयंभू, कण्हपा, पुष्पदत्त, जोइंदु, कनकामर, हेमचन्द आदि को भी हिन्दी के प्राचीन-कवियों में मानकर काल की अपर सीमा १३ वीं शती (१३०० ई०) मानी है।[4] पर 'अपभ्रंश' को 'पुरानी हिन्दी' मान लेना भी उचित नहीं हैं, क्योंकि अपभ्रंश की रचनाएँ तो आठवीं शती के पूर्व भी तथा तेरहवीं शती के वाद भी हुई हैं।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' इस काल का आरम्भ ईसा की आठवीं शताब्दी से, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एवं डा० रामकुमार वर्मा सन् एक हजार से और डा० सूर्यकान्त शास्त्री संवत् १२०७ से मानते हैं। मिश्र-वन्धुओं ने तो हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति संवत् ७०० के आसपास, जव पुण्ड़ अथवा पुण्य नामक हिन्दी का पहला कवि (सं० ७७० में) हुआ, मानी है।[5] किन्तु इस कवि की कोई भी रचना प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो सकी है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० ५३
२. 'हिन्दी साहित्य-युग और प्रवृत्तियाँ'—प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० ४
३. 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त; पृ० ६१
४. 'हिन्दी काव्य-धारा' (अवतरणिका)—श्री राहुल सांकृत्यायन; पृ० १
५. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डा० रामकुमार वर्मा; पृ० ४६

कथन है कि 'सुविधा तथा विकास की गति के निर्धारण के लिए यदि हिन्दी साहित्य का आरम्भ एक सहस्र वैक्रम से माना जाय तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।[1]

नवीन अनुसंधानों के आधार पर डा० गणपतिचन्द्र गुप्त का यह कथन ठीक ही है कि—'अपने वैयक्तिक पूर्वाग्रहों या दुराग्रहों को त्याग कर शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक की दृष्टि से पहले इस बात का निर्णय करें कि हिन्दी का उद्भव कब से होता है तथा फिर वे कौन-कौन-सी प्रामाणिक रचनाएँ हैं जो भाषा की दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी के अन्तर्गत रखी जा सकतीं हैं। इन रचनाओं के रचना-काल एवं उन प्रवृत्तियों के आधार पर ही इस काल की सीमा एवं नामकरण का निर्णय किया जा सकता है।[2]

नवीनतम संशोधित रूप—अपने प्रामाणिक तर्कों के आधार पर ही डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने जैन कवियों के कुछ रास-काव्यों की प्रामाणिकता को असंदिग्ध बतलाया है। इन रचनाओं में काल-क्रम तथा भाषा के विकास की दृष्टि से शालिभद्र सूर-कृत 'भरतेश्वर बाहुबली रास' (११८४ ई०–१२४१ वि०) को सर्वप्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ माना है।[3] डॉ० हरीश ने भी इसी को हिन्दी जैन-साहित्य की रास परम्परा का सर्वप्रथम काव्य माना है, जबकि मिश्र-बन्धुओं ने पुष्य (पुष्यदन्त), शुक्लजी ने 'देवसेन' (नवीं, दशवीं शती), डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'सरहपा' (८१७ वि०) तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'संदेश-रासक' (११ वीं शती) जिसके कवि अब्दुल-रहमान हैं, को प्रथम रचना माना है। कुछ विद्वानों ने 'संदेश-रासक' को अपभ्रंश की रचना मानकर इसे अर्ध-प्रामाणिक माना है। हम तो डा० गुप्त के तर्क से ही अधिक सहमत हैं क्योंकि काव्य की विषय-वस्तु एवं काव्य-प्रवृत्तियों को देखते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहास को 'प्राचीन-काल' अथवा 'पूर्व आधुनिक-काल' (११८४-१८५७) और 'आधुनिक-काल' (१८५७-१९७०) इन दो भागों में विभाजित करना उचित है। साथ ही प्राचीन-काल (प्रथम उत्थान-काल) को भी दो भागों में विभाजित करना समीचीन जान पड़ता है। प्रथम खण्ड को 'प्रारम्भिक-काल' अथवा 'उन्मेष-काल' (सन् ११८४-१३५० ई०) तथा दूसरे को 'मध्य-काल' अथवा 'विकास-काल' (१३५१ ई० १८५७ ई०) कहा जा सकता है। 'विकास-काल' को भी 'उत्कर्ष-काल' (१३५०-१५०० ई०), 'चर्मोत्कर्ष-काल' (१५००-१६००) तथा 'अपकर्ष-काल' (१६००-१८५७ ई०) इन तीन भागों में विभक्ति किया जा सकता है।[4] इस प्रकार

१. अवन्तिका वर्ष १ अंक १—'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'; पृ० ४५
२. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ—प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० ११
३- हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त; पृ० १०६
४. वही; पृ० १२१

'आदिकाल' को भी 'प्रारम्भिक-काल' का नाम देना तथा ११८४ से १३५० ई० तक, इसका काल-निर्धारण करना अधिक समीचीन जान पड़ता है, यद्यपि हम इसे अन्तिम निर्णय नहीं मान सकते क्योंकि भविष्य में इस युग-विशेप पर और अधिक शोध की सम्भावना है।

तत्कालीन-परिस्थितियां—नारी अनन्त-काल से ही समाज की मुख्य शक्ति तथा साहित्य का मुख्य प्राण रही है। समाज के बदलते हुए मापदण्ड, विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं का विकास तथा नवीन आदर्शों की स्थापना नारी-स्थिति के उत्थान-पतन के लिए उत्तरदायी रहे हैं। साहित्यकार सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हो साहित्य-सृजन करता है। नारी उसके काव्य का मेरुदण्ड होती है, अतः उसकी नारी सम्बन्धी अनुरागात्मक अथवा घृणात्मक भावना तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर बनती है, या यों कहना चाहिए कि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारणों से समाज में जो अवस्था नारी की होती है, प्रायः उसी का प्रतिबिम्ब कवि की नारी-भावना होती है।[1]

राजनीतिक स्थिति—हिन्दी साहित्य के इतिहास के 'आदि-युग' की राजनीतिक स्थिति सम्राट हर्षवर्धन के निधन (६४७ ई०) के उपरान्त विश्रृंखल हो गयी थी। बाहर से विदेशी आक्रमणों एवं भीतर से रजवाड़ों की परस्पर फूट ने देश को बुरी तरह से खोखला बना दिया था।[2] राज्य-सत्ता अनियंत्रित हो गयी और अनेक छोटे-छोटे राज्य-वंश—तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य, चन्देल आदि—आपस में लड़-भिड़कर अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे। दिन-पर-दिन कलह बढ़ती ही गयी। इसी समय भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर ६३६ ई० में खलीफा उमर के समय से भारत पर बराबर मुसलमानों के आक्रमण होते रहते थे।[3] सन् ७१०-११ के आसपास सिंध के राजा 'दाहिर' ने भी मुहम्मद बिन कासिम से खूब डटकर लोहा लिया, किन्तु फिर भी इस युद्ध में 'दाहिर' की करारी हार हुई, क्योंकि प्रजा ने असन्तुष्ट होने के कारण उसका साथ नहीं दिया अपितु उल्टे आक्रमणकारियों की सहायता की। इस तरह हम देखते हैं कि विदेशी आक्रमण के समय भी रजवाड़े अपने पड़ोसी राज्य से उदासीन रहा करते थे। प्रजा और राज्य दोनों में ही राष्ट्रीय भवना की कमी थी।

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना'—डॉ० शैलकुमारी-पृ० १
२. 'हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां—प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० १४
३. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; पृ० ६३

ऐसी घटनाओं से जनता की शासन के प्रति उदासीनता और राजनीतिक चेतना के ह्रास का पता चलता है।[1] दसवीं शती के अन्त में महमूद गजनवी ने पंजाब की ओर भारत पर आक्रमण किया और क्रमशः कांगड़ा, मथुरा, कन्नौज, ग्वालियर, कालिंजर सौराष्ट्र, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और बंगाल तक को जीत लिया। इधर शहाबुद्दीन गौरी ने भारत पर आक्रमण कर दिया। कई बार हार जाने पर भी उसने अजमेर के शक्तिशाली राजा पृथ्वीराज चौहान को कन्नौज के राजा जयचन्द के षड्यंत्र की सहायता से पराजित किया। इस तरह से दिल्ली में तुर्क सल्तनत स्थापित हो गयी। स्पष्ट है कि आदि-युग की राजनीतिक परिस्थिति में सामन्तवाद का स्वर सबसे ऊँचा सुनायी पड़ता है। प्रजा से लेकर राज्य के छोटे-मोटे कर्मचारियों में राष्ट्रभक्ति नाम की कोई चीज नहीं दिखायी देती। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय भावना अथवा देशभक्ति के स्थान पर प्रजा में राजभक्ति की भावना ही प्रबल रही, फिर चाहे कोई भी स्वदेशी या विदेशी शासक राजपद पर आसीन रहा हो।[2] राजनीतिक रूप से अनभिज्ञ होते हुए भी इन रजवाड़ों के राजपूत बड़े ही स्वाभिमानी और बहादुर होते थे। इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि यह काल युद्धों का काल था। 'जर, जोरू और जमीन' के आधार को लेकर युद्ध होते थे, समाज में अशान्ति थी और जन-जीवन अस्तव्यस्त था। भारत के सामाजिक, पारिवारिक एवं दाम्पत्य जीवन के माधुर्य का ह्रास बहुत कुछ नारी की हीन दशा एवं परकीय-प्रेम के विकास के कारण १० वीं शताब्दी से पूर्व ही हो चुका था। किन्तु फिर भी १० वीं शताब्दी तक उच्च वर्ग के परिवारों में नारी की स्थिति बहुत कुछ ठीक थी—इन्दुलेखा, मारूला, मोरिका, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, पद्मश्री, मदालसा जैसी कवयित्रियाँ, लीलावती जैसी गणितज्ञा, अवन्ति सुन्दरी जैसी कला मर्मज्ञा इस युग में हुई थीं।[3] किन्तु मुस्लिम आक्रमण के उपरान्त नारी की स्थिति दयनीय हो गयी।

सामाजिक-स्थिति—इस युग में सामन्ती वीरता और वंश-कुलीनता का बोलबाला था। धर्म का कोई निश्चित रूप न होने के कारण सामाजिक जीवन अव्यवस्थित था। समाज में छुआ-छूत का प्रचार था। जाति व्यवस्था अब मात्र वर्ण के आधार पर टिकी हुई थी। गुण और कर्म का जाति से अब कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। समाज में सनातनियों का प्रभाव था। जनता इतनी अशिक्षित

---

१. 'हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां'—प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० १२-१३
२. 'ज्ञानोदय'—(अपभ्रंश-काल) — डा० जगदीशचन्द्र जैन; पृ० ५७
३. मध्य कालीन भारतीय संस्कृति—डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा; पृ० ५२

थी कि सामन्तों को परमेश्वर की भाँति सर्व-शक्तिमान समझकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की जाती थी। अतुल धन सम्पति के स्वामी सामन्त लोग काम-भोगों का यथेष्ट सेवन करते थे। रनिवास में एक-से-एक बढ़कर सुन्दरियाँ रहती थीं। राजमहल मणिमय कलशों से सुशोभित रहते थे। राज-परिवार के मनोरंजन के लिए पुष्प-वाटिका क्रीड़ा-शैल, प्रमद वन, माधवी मंडप, यंत्र-चालित जलाशय आदि रहते थे। सामन्त-परिवार अपने भोजन, पान, वस्त्राभूषण, सुगंधित द्रव्य तथा प्रसाधन की वस्तुओं पर अपार धन व्यय करता था। स्त्रियाँ अपने-आप को मात्र पुरुषों की मनोरंजन सामग्री के अतिरिक्त कुछ न समझती थी, जैसा कि स्वयम्भू के 'पउमचरिय' (५०–११) तथा धन या रत्न के 'भविसयत कहा' (१२, ३) ज्योतिरीश्वर एवं वर्ण रत्नाकर (पृ० ६३) के उल्लेखों से स्पष्ट है।

राजपूत ऐसे अस्त-व्यस्त समाज में भी वीरता एवं आत्म-बलिदान के लिए प्रख्यात दृष्टिगोचर होते हैं। कभी-कभी स्वयंवर जैसे पवित्र धार्मिक कार्य पर भी रक्तपात हो जाता था। राजपूत बहादुर होते हुए भी कूटनीतिज्ञ एवं दूरदर्शी न थे, जहाँ उनमें युद्ध के प्रति रुचि थी, वहाँ उनमें भोग-विलास के प्रति भी आसक्ति थी। साथ ही साथ जन-सामान्य में मनोबल की बहुत कमी थी।[1] 'स्वयंवर' मात्र सामन्तों तक ही सीमित था किन्तु जन-सामान्य के जीवन में सामाजिक रूढ़ियाँ ही शासन करती थीं।

यदि राजपूत नरेशों के लिए स्त्री विलास की वस्तु थी, तो अन्य जातियों के लिए वह त्याग तथा पवित्र प्रेम की प्रतिमा थी। परन्तु भोग-विलास के वातावरण में रहते हुए भी राजपूतनियों ने आत्म-समर्पण के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। उच्च-वर्ग में स्त्रियों का सम्मान भी था और उनके कुछ अधिकार भी थे, यद्यपि आज वे हमें धुंधले दिखायी पड़ते हैं। पर्दे का अभी चलन न था। राजाओं की स्त्रियाँ दरबारों में आती थीं। यात्री अबूजैद ने इस प्रचलन की ओर संकेत किया है। शस्त्र धारण करके राजपूतनियाँ रणक्षेत्र में घोड़ों पर सवार होकर सेना का संचालन करती थीं। इतिहासकार ईसामी ने अलाउद्दीन के प्रथम दक्षिण-आक्रमण का वर्णन करते हुए लिखा है कि तुर्की सेना का एक स्थान पर पुरुष वेश धारण किये हुए स्त्रियों ने विरोध किया और वे इतने साहस तथा वीरता से लड़ीं कि उन्होंने शत्रु के दांत खट्टे कर दिए। अलाउद्दीन को यह कहना पड़ा कि यदि इस देश की स्त्रियाँ इतनी वीर और लड़ने वाली हैं तो फिर पुरुषों का क्या

---

१. 'ज्ञानोदय'–(अपभ्रंश साहित्य)—डा० जगदीश चन्द्र जैन पृ० ५७

ठिकाना। स्त्रियों का यह कोई नवीन संस्कार न था, यह परम्परा तो राजपूत-काल से बराबर चली आ रही थी।[१] यद्यपि तत्कालीन राजपूत घरानों का इतिहास देखने से प्रतीत होता है कि अन्तःपुर में भी नारी की सत्ता थी, जौहर उसके शौर्य, ओज और गरिमा को प्रकट करता है पर इन्हें नारी के अपने व्यक्तिगत गुण कहा जा सकता है। नारी समाज की व्यवस्था दयनीय थी। मध्ययुगीन चरम पतन का प्रारम्भ नारी के लिये राजपूत-काल से ही प्रारम्भ हो गया था।[२]

आर्थिक स्थिति—राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारणों से समाज में जो अवस्था नारी की होती है, प्रायः उसी का प्रतिबिम्ब कवि की नारी-भावना होती है। आदि-युग की व्यवस्था पूर्णतया सामन्तों के हाथ में थी। वे अपने मनोरंजन, देहरंजन, एवं बुद्धिरंजन के लिए नाना प्रकार की ऐश्वर्यशाली सामग्री जुटाने में व्यस्त रहा करते थे। शासक-वर्ग के व्यक्ति घुड़सवारी, तलवार तथा भाला चलाना और इसी प्रकार के अन्य व्यायाम किया करते थे। रथों की दौड़ के लिए सुन्दर बलिष्ठ घोड़ों और बैलों को रंग-बिरंगे वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित किया जाता था। अतुल धन-सम्पत्ति के स्वामी सामन्त लोग काम-भोगों का यथेष्ठ सेवन करते थे। राज-प्रासादों में नाना प्रकार की खाद्य सामग्रियों, प्रसाधनों एवं देश-देश की सुन्दरियों पर अपार धनराशि व्यय की जाती थी। इस आर्थिक ढाँचे में नारी-मात्र एक सुन्दर मनोरंजन की सामग्री-भर समझी जाती थी। आर्थिक परतंत्रता बनाकर उसे पांचों इंद्रियों की मनोरंजक तुला पर तौला गया, समाज उसके लिए एक 'नाचघर' सा बन गया। इस युग में नारी को केवल सजी-सजायी युवती के रूप में देखना पसन्द किया जाता था। नारी के अन्य रूपों एवं उद्दात्त तत्वों की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। सामन्त लोग अपने ही 'ऐश और आराम' के नशे में चूर रहते थे, सामान्य जनता की चिन्ता उनसे कोसों दूर थी। इसी कारण कुछ इतिहासकारों का मत है कि यदि राजपूत नरेशों ने अपना समय तथा धन-कवियों के आदर करने और कविता की रचना करने में न गंवाया होता तो सम्भव है उनका अधःपतन इतनी शीघ्रता से न होता।[३]

४. 'हिन्दी साहित्य'—द्वितीय खण्ड—सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा; पृ० ४३-४४

१. हिन्दी महाकाव्यों में नारी-चित्रण-डॉ० श्यामसुन्दर व्यास; पृ० २६-२७

२. 'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खण्ड)—सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा; पृ० ४४

धार्मिक स्थिति—धार्मिक परिस्थिति की दृष्टि से देश में इस समय बौद्ध-धर्म का ह्रास हो रहा था और भारतीय धर्म साधना में उथल-पुथल मची हुई थी। एक ओर बौद्धधर्म अपने वास्तविक रूप में पृथक होकर मंत्र-तत्र और टोने-टोटकों की ओर अग्रसर हो रहा था तो दूसरी ओर इस्लाम धर्मानुयायियों का भारत में प्रवेश हो रहा था।[1]

बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण वैदिक और पौराणिक धर्म को आघात पहुँचा। आगे चलकर बौद्धधर्म और जैनधर्म भी अपने वास्तविक आदर्शों से दूर हट गये। शंकराचार्य (वि० ८४५-८७७) के प्रबल प्रहारों से बौद्धधर्म को अत्यधिक आघात पहुँचा और वह जन्य, मन्य, तन्य की सिद्धियों के चक्र में पड़कर रह गया।[2] बौद्ध-धर्म ने आगे चलकर महायान, वज्रयान, सहजयान और मन्य आन आदि कई रूप धारण कर लिये। इन सम्प्रदायों में सिद्धि-लाभ के लिए गुप्त मंत्रों का जाप, आचार-विहीन गुप्त क्रियाएं, विशेषकर निम्न-वर्ग की नारियों से भोग आदि को अपनाया गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस समय मुसलमान भारत में आये, उस समय देश के पूर्वी भागों में (बिहार, बंगाल, उड़ीसा) धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।[3] जैन सम्प्रदाय में भी तांत्रिक वामाचार का प्रचार हो रहा था। इस प्रकार से धर्म के नाम पर निम्नवर्ग की स्त्रियों के साथ कामाचार बढ़ता गया और उन्हें मात्र भोग की सामग्री करार दिया गया। नाथ-पंथियों ने संयम और आचार पर बल देकर नारी का कुछ अंश में उद्धार करने का प्रयत्न अवश्य किया। इसी प्रकार तामिलनाद के वैंष्णव-भक्त आलवार और शैव-भक्त नायन्मार भक्ति के लोक-हितकारी रूप को लेकर आगे बढ़े। समष्टि रूप से इस काल में 'पुरोहित–भावना' की प्रधानता थी।

इन बातों का परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण धर्म दो प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलों के रूप है विभाजित हो गया और अनेक भारतीय सम्प्रदायों को दोनों में से एक को चुनना पड़ा। अधिकाँश लोग वेद-विहित और ब्राह्मण-धर्म में मिल गये, कुछ लोग इस्लाम-धर्म के अनुयायी हो गये और कुछ लोग ऐसे थे जो दोनों में से किसी के साथ सामंजस्य स्थापित न कर सके। नाथपंथ ने अपने योगमार्ग द्वारा अन्तिम प्रकार के अनेक सम्प्रदायों का संघटन करना प्रारम्भ कर दिया।[4]

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; पृ० ६३-६४
२. 'हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ'—प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० १४
३. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० ११
४. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; पृ० ६४-६५

सांस्कृतिक-अवस्था—प्राचीन परम्परा के अनुसार कला धर्म-केंद्रित थी। शक्ति सम्प्रदाय के विलासमय पहलू को कलाकारों ने पत्थर के माध्यम से न केवल चित्रित करके चिरस्थायी बना दिया है, बल्कि कोणार्क, भुवनेश्वर और खजुराहो के भग्नावशेषों को देखकर समसामयिक धार्मिक प्रवृत्तियों का यथार्थ बोध हो जाता है। शृङ्गार-रस तथा वामाचार के सम्मिश्रण ने कला के क्षेत्र में एक विशेष सौन्दर्य तथा आकर्षण का संचार कर दिया।[1]

तत्कालीन प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर चित्रों का वर्णन बड़ी रमणीय रीति से किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि उस समय चित्राधारों के बनवाने की भी रीति थी और चित्रकारों का समाज में आदर था। भीतों की सजावट चित्रों ही द्वारा होती थी और वास्तु-विद्या के अन्तर्गत यह एक मुख्य कला मानी जाती थी।[2]

इस युग में संगीत की ओर भी ध्यान दिया गया था। आजकल की कितनी ही राग-रागनियों का वर्गीकरण और नामकरण अपभ्रंश-साहित्य के प्रारम्भ के साथ होता है। नृत्य और संगीत की ओर यद्यपि सामन्त-वर्ग बहुत ध्यान देता था और सामन्त-कन्याओं की शिक्षा में वह अनिवार्य विषय था; लेकिन अब राजकुमारियाँ दण्डी के समय की तरह अपने कौशल का प्रदर्शन खुले आम नहीं कर सकती थीं। खुले आम नृत्य-संगीत की जिम्मेवारी अब केवल वेश्याओं पर रह गयी थी।

राज-दरबारों में लोक भाषा या डिंगल के कवि भी जो चारण या भाट कहलाते थे—अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से अपने आश्रयदाता की वीरता अथवा प्रेम का वर्णन करते थे। इस युग का प्रधान रस वीर था और उसका सहायक रस था शृङ्गार।

सामन्तों की विलासिता ने कुछ नवीन कलाओं की भी सृष्टि की थी। उस समय सामन्तों के स्नान कुण्ड, स्नान-मंडप, उसके खम्भे और दीवारों के अलंकृत करने में जंगम और स्थावर रत्नों का व्यय दिल खोलकर किया जाता था। इन सामंतों की कला का प्रधान उद्देश्य था कामोद्दीपन। धर्म दर्शन आदि सभी उसके लिए दिखावे और जब तब मन-बहलाव की चीज थे।[3]

---

१. 'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खण्ड)—डा० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० ४५
२. 'हिन्दी साहित्य'—डा० श्यामसुन्दर दास; पृ० ७०
३. 'हिन्दी काव्य-धारा'—महापंडित राहुल साँकृत्यायन; पृ० ४५

अपभ्रंश और हिन्दी का प्राचीन रूप—यद्यपि यहाँ विस्तृत विवेचन उचित नहीं किन्तु संक्षेप में यह अवश्य स्पष्ट करना चाहते हैं कि हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग—नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी) लिखने वाले विद्वानों ने बतलाया है कि विक्रम की पहली शती से ही प्राकृत भाषा साहित्यिक रूप धारण करने लग गयी थी। ज्यों-ज्यों यह साहित्यिक भाषा परिनिष्ठित स्वरूप का आश्रय लेने लगी, त्यों-त्यों देशी भाषा के स्वरूप से दूर हटती गयी और जब देशी भाषा तथा प्राकृत में अधिक भेद दिखलायी देने लगा तब उसे अलग अपभ्रंश अथवा अपभ्रष्ट (बिगड़ी हुई, अशुद्ध) संज्ञा, देनी पड़ी। इसी शब्द के प्राकृत रूप 'अवहंस', 'अवब्भंश', 'अवहट्ट''अवहत्थ' आदि भी मिलते हैं।[1]

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार अपभ्रंश इसे इसलिए कहते हैं कि इसमें संस्कृत शब्दों के रूप भ्रष्ट नहीं, अपभ्रष्ट—बहुत ही भ्रष्ट—हैं, इसलिए संस्कृत-पंडितों को ये जाति भ्रष्ट शब्द बुरे लगते होंगे। लेकिन शब्दों का रूप बदलते-बदलते नया रूप लेना—अपभ्रष्ट होना—दूषण नहीं, भूषण है'।[2] अपभ्रंश-साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० नामवरसिंह इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'भारतीय आर्य भाषा के विकास की जो अवस्था 'अपभ्रंश' नाम से जानी जाती है, उसके लिए प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में अपभ्रष्ट और अपभ्रंश तथा प्राकृत अपभ्रंश-ग्रन्थों में अवब्भंस, अवहंस, अवहत्थ, अवहठ, अवहट आदि नाम मिलते हैं। संस्कृत में प्रायः अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग किया गया है, अपभ्रष्ट शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है।' पाश्चात्य विद्वान पिशेल (Pischel) और डॉ ग्रियर्सन (Dr. G. Grierson) मानते हैं कि अपभ्रंश शब्द से अभिप्राय, साहित्यिक प्राकृतों से विपरीत, वास्तविक जन-साधारण की बोलियों से है।[3]

भामह तथा दण्डी के समय तक यह अपभ्रंश भाषा एक साहित्यिक रूप धारण कर चुकी थी। भामह ने इसे एक भाषा-शैली तथा दण्डी ने इसे आभीरादि की विभाषा के रूप से माना है। अतएव जान पड़ता है कि विक्रम की सातवीं शती तक यह अशिष्ट लोगों की ही बोली मानी जाती थी, कारण शिष्ट समाज तो तब प्राकृत अथवा संस्कृत का ही प्रयोग करता था। आगे चलकर संस्कृत के आलंकारिक इस

---

१. 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास'—(प्रथम भाग)—सम्पा० डा० राजबली पाण्डेय; पृ० ३१२

२. 'हिन्दी काव्य-धारा'—श्री राहुल सांकृत्यायन; पृ० ५

३. 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग'—डा० नामवर सिंह; पृ० १६

अपभ्रंश भाषा का भी उल्लेख करने लगे। राजशेखर ने अपभ्रंश के कवियों का भी वर्णन किया है, स्वयंभू ने अपभ्रंश काव्य-रचना की तुलना एक नदी से की है जो संस्कृत और प्राकृत के दोनों तटों का स्पर्श करती, घनपद-संगठना की चट्टानों से टकराती बहा करती है।[1] ११वीं शती में पुरुषोत्तम ने इसे शिष्ट प्रयोग की भाषा माना है, नमि साधु ने प्राकृत और अपभ्रंश का भेद स्पष्ट किया है। फिर हेमचन्द्र और उसके पश्चात् पर्याप्त समय तक अपभ्रंश साहित्य की भाषा बनी रही। प्रारम्भिक हिन्दी की रचनाएँ भी अपभ्रंशाभास का रूप लेकर आती देखी जाती हैं। फिर संस्कृत के पंडित इसे देसी-भाषा के नाम से पुकारने लगे। इसी देसी अथवा 'देसिल बअना' को विद्यापति ने अपनी 'कीर्तिलता' में एक मीठी भाषा कहा है।[2] फिर वैयाकरणों द्वारा भी इस अपभ्रंश के तीन रूपों—नागर, व्राचड उपनागर—का उल्लेख किया जाने लगा। डा० टगारे ने उसके तीन भेद—दक्षिणी, पश्चिमी, पूर्वी अपभ्रंश किये हैं। इस भाषा की रचनाएँ सातवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक प्राप्त होती हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने सर्वप्रथम अपभ्रंश की रचनाओं को 'पुरानी-हिन्दी' नाम दिया।[3] किन्तु कुछ आलोचक विद्वानों का कथन है कि यदि अपभ्रंश को पुरानी-हिन्दी कहें तो संस्कृत-पालि, प्राकृत को भी ऐसा ही क्यों न कहें? और जब उसी अपभ्रंश से अनेक पश्चिमी भाषाओं का विकास हुआ है तो केवल हिन्दी का ही उस पर अधिकार क्यों है? इन आपत्तियों का निराकरण करते हुए डा० नामवर सिंह ने कहा—'बंगला आदि के लिए नागर-अपभ्रश राष्ट्रभाषा थी जबकि हिन्दी के लिए वह मात्र भाषा भी थी। वैसे उसका सम्बन्ध किसी भी प्रान्तीय भाषा से दिखलाया जा सकता है किन्तु व्यावहारिक और राष्ट्रभाषा की परम्परा का ध्यान रखते हुए अपभ्रंश को पुरानी-हिन्दी कहना अनुचित

---

१. 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास'—(प्रथम भाग); पृ० ३१४

२. 'सक्कय वाणी बहुअ (न) भावइ।
पाअउ रस को मरम न पावइ।
देसिल बअना सब सञ्ञ मिट्ठा।
तं तेसन जप्पिञ्ञ अवहट्ठा॥' —'कीर्तिलता'—विद्यापति; पृ० ६

३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—अंक १—भाग २—'पुरानी हिन्दी—श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'—

नहीं है'।[1] महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी इसी बात के समर्थन में लिखा था–'वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ १२वीं-१३वीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं'।[2] और इसी बात को डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—'इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी-हिन्दी[3]। वे भाषा की दृष्टि से इसे 'अपभ्रंश-काल' कहना ही उचित समझते हैं। वास्तव में यह युग हमारे सम्मुख अनेक समस्याएँ उपस्थित करता है जिनका समाधान तभी सम्भव होगा जब प्राकृत, अपभ्रंश एवम् राजस्थानी भाषा की रचनाओं पर पर्याप्त शोध-कार्य होगा।

हिन्दी साहित्य और अपभ्रंश—अब हमें देखना है कि साहित्य पर अपभ्रंश का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है। विद्वानों ने 'अपभ्रंश' को तीन भागों में विभक्त किया है—

(क) जैनधर्म से सम्बद्ध काव्य-कृतियाँ,
(ख) सिद्धों और नाथ-पंथियों का साहित्य,
(ग) फुटकर ग्रन्थ, सन्देश रासक, कीर्तिलता और कीर्ति-पताका, आदि।

हिन्दी साहित्य का केवल बाह्य रूप में ही नहीं अपितु अपभ्रंश से निकट का सम्बन्ध रहा है। यदि हम इस पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि हमारे साहित्य के चारण-काव्यों—हम्मीर, खुमान, पृथ्वीराज आदि रासो ग्रन्थों-की रचना पर अपभ्रंशों के परवर्ती चरित काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है। रासो-ग्रन्थों में वीर और शृंगार रस का मिश्रण होता है और यही प्रवृत्ति अपभ्रंश महाकाव्यों में भी पायी जाती है।[4] अपभ्रंशों का प्रभाव उस युग के लोकगीत तथा विरह काव्यों पर भी पड़ा है। 'सन्देश-रासक' तथा 'वीसलदेवरासो' तो लोक-जीवन के रंग में रंगे हुए काव्य माने गये हैं। इतना ही नहीं, बल्कि लोक-कथाओं, भक्तिकाल के कवियों, सूफी-सन्तों,

---

१. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग'—(प्रथम संस्करण)—श्री नामवरसिंह; पृ० ८०
२. 'हिन्दी काव्य-धारा'—श्री राहुल सांकृत्यायन; पृ० ११-१२
३. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २२
४. 'हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ'—प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० २६

जैन-साहित्य तथा रीतिकालीन साहित्य पर भी अपभ्रंश की प्रवृत्तियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार सामान्य रूप से अपभ्रंश का विकास ईसा की छठी शती से लेकर दसवीं शती तक माना जाता है यद्यपि अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ इससे पूर्व भी पाई जाती थीं और जैन विद्वान तो सोलहवीं-सत्रहवीं शती तक इसमें रचना करते रहे।

जैन-साहित्य की रचनाओं में पुरानी-हिन्दी का रूप—हिन्दी-साहित्य के 'आदि-युग' की रचनाओं को हम तीन प्रकार से सुरक्षित पाते हैं—

(१) राज्याश्रय पाकर,
(२) धर्म सम्प्रदाय का आश्रय पाकर,
(३) जनता का प्रेम पाकर।

मूल रूप में हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरम्भ भी किसी हिन्दी-प्रदेश से न होकर गुर्जर-भूमि के जैन-कवियों की रचनाओं से होता है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग की पूरी अवधि में हिन्दी की केवल एक ही काव्य-परम्परा मिलती है—रासो काव्य परम्परा, जो गुजरात एवं पश्चिमी राजस्थान में विकसित हुई। हिन्दी काव्य के उद्घोष करने का श्रम सर्वप्रथम जैन काव्य रचयिताओं को दिया जा सकता है।[1] इसी परम्परा में स्वर्गीय श्री राहुल सांकृत्यायन ने उच्छवसित भाव से घोषित किया है 'स्वयंभू का रामायण हिन्दी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम काव्य है।' प्रायः इन धर्मग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का विकास हुआ है।[2] उदाहरण के लिए जैन-कवि श्री हरिभद्र सूरि का निम्नोक्त वर्षा-वर्णन उपन्यस्त किया जा सकता है जिसमें हम वर्तमान हिन्दी की स्पष्ट झलक पा सकते हैं—(ये बादल झिरमिर झिरमिर बरस रहे हैं। ये नाले खल-खल शब्द करते बह रहे हैं। बिजली झबझब, झब-झब चमक रही है और विरहिणी का मन थरहर-थरहर काँप रहा है।)

'झिरमिर झिरमिर झिरमिर ए मेहा वरिसंति।
खलहल खलहल खलहल ए बादल वहंति।

---

१. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त; पृ० १२७-२८
२. 'आलोचना' (इतिहास अंक)—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ; पृ० ३३

झवझव, झवझव झवझव वीजुलिय झवक्कई ।
थरहर थरहर थरहर ए विरहिनि मन कंपइ ।'[1]

अन्य जैन-कवि श्री रामसिंह ने कई स्थान पर पाखण्ड की निन्दा की है। इनकी भाषा भी हिन्दी से बहुत ही समीप लगती है—(अरे मूढ़ तूने बहुत पढ़ा, जिससे तेरा तालु सूख गया। अरे तू उस एक अक्षर को क्यों नहीं पढ़ता जिसके अनुशीलन से व्यक्ति मोक्ष-शिव पुरी–प्राप्त करता है।)—

"वहुवह पढियइ मूढ पर तालु सुक्खइ जेण ।
एक्कु जि अक्खरन तं पढहु सिवपुरी गम्मइ जेपा ॥[2]

इसके साथ सिद्धों के दोहों एवं पदों में हिन्दी का पर्याप्त अंकुरित रूप हमें मिलता है। सिद्ध कवि सरह ने 'मूर्ख' पंडित की अज्ञता प्रदर्शित करते हुए लिखा है—(मूर्ख पंडित जो सारे शास्त्रों की व्याख्या करने का दावा करता है पर अपने ही शरीर में स्थित आत्मा -बुद्ध- को नहीं जानता। उसने अपने जन्म-मरण को भी नहीं रोका है, पर फिर भी निर्लज्ज घमण्ड करता है और अपने आपको पंडित घोषित करता है।)

'पंडिअ सअल सत्य वक्खाणइ
देहहिं बुद्ध वसंत ण जाणइ ।
गमणागमण ण तेण विखंडिअ
तोवि णिलज्ज मणइ हउ पंडिअ' ॥[3] —सरह ७०

इस प्रकार इन रचनाओं में हिन्दी का प्रत्यक्ष रूप दिखलायी पड़ता है।

अपभ्रंश की रचनाओं में नारी—रासो काव्य-परम्परा के अनुसार डा० दशरथ शर्मा तथा डा० हरीश ने 'रिपुदारण रास' (६६२ विक्रमी) को अपभ्रंश की प्राचीनतम रचना माना है। इसमें अभिनय, नृत्य और गान ये तीनों तत्व मिश्रित हैं। इसकी भाषा संस्कृत है। इसके दो सौ वर्षों वाद जिनदत्त सूरि द्वारा रचित 'उपदेश रसायन सार' (१११४ ई०) को उपलब्ध जैन रासो-काव्य में प्रथम स्थान दिया जाता है। यह धार्मिक ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में है।[4]

अपभ्रंश में रामकाव्य के प्रथम कवि 'स्वयंभू' (आठवीं शताब्दी ईसवी) हैं

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास ; पृ० ४०३
२. वही ; पृ० ३४८
३. वही ; पृ० ३५२
४. 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ; पृ० १३५

और उनकी सर्वाधिक ख्याति की रचना है 'पउमचरिउ'-पद्मचरित अथवा रामचरित। पाँच काण्ड और तिरासी संधियों वाला यह विशाल महाकाव्य अपभ्रंश का आदि काव्य माना जाता है। प्राकृत और अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध विद्वान वम्बई निवासी डा० भायाणी ने स्वयम्भू को 'अपभ्रंश का कालिदास' कहा है।

नारी के प्रति पुरुष-मात्र का उस युग में कैसा दृष्टिकोण था, यह 'अग्नि-परीक्षा' सम्वन्धी प्रसंग में स्वयंभू ने बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। सीता पुष्पक विमान पर चढ़ाकर अयोध्या लायी जाती है किन्तु कोशल नगरी में इसे राज-महल में स्थान नहीं, क्योंकि अपने प्रियतम द्वारा वह निर्वासित की जा चुकी है। सीता को देख कर राम विहंस कर नारी-जाति के प्रति धिक्कारपूर्ण शब्द कहते हैं—महिलाएँ अशुद्ध होती है, निर्लज्ज होती हैं, मलिन-मति होती हैं, वहिर्घष्टा होने पर टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं और इस तरह हीन हो जाती हैं। वे त्रिभुवन में अपने कुल को मलिन कर अयश फैलाती हैं—

महिलउ होंति असुद्ध णिलज्जउ
दर-दाविय कडक्ख—विक्खेवउ—

सीता यह सब सुन असंयत नहीं होतीं—वे तो नर-नारी का अन्तर बतलाते हुए यही कहती हैं कि नारी मरने पर भी वल्ली तरुवर को नहीं छोड़ती।

स्वयम्भू जीवन के करुण प्रसंगों के भी सच्चे पारखी थे। माता कौशल्या राम के वियोग में विलाप करती है, उस चित्रण में (२, २३, ४) अनूठी मार्मिकता है। इसी प्रकार राजवधू जानकी जब महल से निकलती है तव कवि कहता है कि जानकी अपने मंदिर से क्या निकली' मानो हिमवान से गंगा, छंदस से गायत्री और शब्द से विभक्ति निकल पड़ी—(२, २३, ६)

स्वयम्भू का नारी-जाति के प्रति वड़ा सम्मान था तभी तो उन्होंने कीचक द्वारा अपमानित द्रौपदी के भीम के प्रति ये शब्द—कि ऐसे ऐसे शूरवीर और सुधी पतियों के रहते हुए भी द्रौपदी ने अब तक क्या सुख जाना? सुख पाना तो दूर, उल्टे वह इस तरह अपमानित हो रही है, यदि इसी का नाम जीवन है तो फिर मरण क्या है—ध्यान देने योग्य है।

सन्देश-रासक—दूसरा उपलब्ध रासक काव्य अब्दुर्रहमान द्वारा रचित 'सन्देश-रासक' (११ वीं शती) माना जाता है, यद्यपि इसकी रचना-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे १२ वीं-१३ वीं शताब्दी की रचना माना है,[1] महापंडित राहुल साँकृत्यायन ने अपनी काव्यधारा में इसके

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ; पृ० ४०

रचियता अहहमाण को 11 वीं शती का कवि माना है।[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'संदेश-रासक शृंगार प्रधान रासक काव्यों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है.......इसकी भाषा हिन्दी की पूर्ववर्ती अपभ्रंश है.......विरह प्रधान काव्य होने के कारण इसमें विरह-वर्णन की प्रधानता है। इस विषय में रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, विरह-वर्णन और ऋतु-वर्णन सबमें अहहमाण ने काव्य परम्परा का पालन किया है।[2]

विवाह एवं ऋतु वर्णन—'सन्देश-रासक' का प्रमुख विषय विरह-वर्णन है। इसमें कवि ने ऋतु-वर्णन की परम्परा का उपयोग नायिका के विरह को अधिक तीव्र बनाने के उद्देश्य से किया है। इसमें नायिका अपने विरह का सन्देश एक पथिक द्वारा अपने पति के पास भेजती है। इस विरहिणी की सभी उक्तियाँ भोली-भाली ग्राम्य वधुओं के समान प्रतीत होती हैं।

अभी तक संस्कृत एवं प्राचीन काव्यों में नायक एवं नायिका दोनों एक-दूसरे के प्रेम में उन्मत प्रतीत होते थे। जहाँ नायिका अपने पति के वियोग में जर्जर, क्षीण एवं विक्षिप्त-सी जान पड़ती थी, वहाँ नायक भी कहीं अपनी प्रेमिका के विरह में आँसू बहाता, और दौड़ता नजर आता था। किन्तु 'सन्देश-रासक' में नायिका के ही विरह-पक्ष का विशेष चित्रण मिलता है जोकि एक प्रोषित-पतिका है।[3]

नायिका, वियोग में इतनी व्याकुल हो उठी है कि उसका शरीर काला पड़ गया है मानो चन्द्रमा को राहु ने पूर्ण रूप से ग्रस लिया है। उसके केश बिखरे हुए हैं, अंगों में मरोड़ हो रहे हैं, विरहाग्नि से संतप्त वह लम्बी साँसें लेती हुई अपनी अंगुलियों को तोड़ रही है।[4] मार्ग में जाते हुए पथिक को देख उसे अपने पति की याद आती है और वह समझती है कि हो सकता है मेरे पति की भाँति ही वह (पथिक) भी अपनी पत्नी को घर में छोड़कर मेरे पति के पास ही जा रहा हो। ऐसा जानकर वह अपने प्रिय को सन्देश देने के लिए इतनी तीव्र गति से चलती है कि उसके चंचल रमण भार से करधनी टूटकर गिर पड़ी और किंकिणियों का स्वर फैल गया। बेचारी

---

१. 'हिन्दी काव्य-धारा'—महापंडित राहुल सांकृत्यायन; पृ० २६२
२. 'सन्देश-रासक'—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा श्री विश्वनाथ-त्रिपाठी; पृ० ८४-८५
३. अब्दुर्रहमान-कृत 'सन्देश रासक'—आचार्य द्विवेदी तथा श्री त्रिपाठी; पृ० ७१
४. वही; पृ० २।२४-२५

किसी प्रकार मुक्ताओं को शीघ्रता में समेट कर जब आगे बढ़ती है तब उसके चरणों की दुर्बलता के कारण नूपुर ही निकल जाता है।[1]

कवि ने सन्देश प्रोषण के माध्यम से विरहिणी के हृदय की अनुभूतियों को सहज भाव से व्यक्त किया है। नायिका पथिक से सन्देश देने के विषय में सोचती है और अपने मन को कोसती है कि पति के जाते ही यह निष्ठुर मन विरह की दावाग्नि में जल क्यों न गया, अब सन्देश भेजते लज्जा क्यों नहीं आती।[2] यहाँ रचनाकार, अन्योक्तियों का सहारा न लेकर, एक ओर तो नायिका द्वारा अपने पति के प्रति अगाध प्रेम का प्रदर्शन कराता है और दूसरी ओर पति का पत्नी के प्रति उत्तरदायित्व भी बतलाता है। प्रेमिका अपने पति को छोड़कर विरह-दुःख से मुक्त होने के लिए मरकर स्वर्ग भी जाने को तैयार नहीं है।[3] दूसरी ओर पति को उसके मान, पौरुष और संरक्षण-कर्तव्य का ध्यान दिलाती हुई कहती है कि प्रिय तुम हमारे हृदय में स्थित हो और तुम्हारे रहते हुए भी यदि विरह कष्ट मुझे देता है तो यह तुम्हारे लिए कितनी लज्जा की बात है।[4] वह यह भी कहती है कि मेरे जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया था, उन्हें अब विरह ने जला डाला है।[5] वह अपने पति को कापाली, निशाचर निर्दय आदि शब्दों से सम्बोधित करती है जो उसके उत्कट प्रेम का प्रतीक है। वह कहती है कि उस कापालिक के विरह ने मुझे कापालिनी बना दिया है, मेरे शरीर का तेज समाप्त हो गया है, अंग सूख गये हैं, मैं दुर्बलता के कारण चलने में डगमगाती हूँ, मेरी गति विपरीत हो गयी है, उस निशाचर के विरह में मैं निशाचरी हो गयी हूँ।[6] कहीं-कहीं पर कवि ने विरह का वर्णन रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उसने नायिका के मन की व्यथा की उपमा स्वर्णकार के आभूषण से दी है। जिस प्रकार सुनार अपने आभूषणों को लम्बा, पतला अथवा गोल बनाने के लिए अग्नि में

---

१. वही; पृ० २१२६-२७

२. 'जसु णिग्गमि रेणुक्करडि, कीअ ण विरहदणेग
किम दिज्जइ संदेसउउ, तसु णिट्ठुरइ मणेन।'—वही; २१६६

३. 'पिऊ विरहानल संतविअ, जइ वच्चइ सुरलोइ।
तुम छड्डिवि हिय अट्ठियह, तं पोरवाडि ण होइ॥'—वही; २१७५

४. वही; २-७६

५. 'गरुअउ परिहबु किन सहउ, पइ पोरिस निलए ण।
जिहि अंगिहि तूं विलसियउ, ते दद्धा विरहेण॥'—वही; २१७७

६. वही; २१८६-८७

गरम करता है और फिर पानी में ठण्डा करता है, उसी प्रकार नायिका कहती है कि मेरा मन सुनार के समान है पहले वह उत्कंठा उत्पन्न करके मुझे विरह में जलाता है और फिर आशा के जल से उसे ठण्डा करता है—

'सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उंकिकरव करेई,
विरह हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेई।'

षट्ऋतु-वर्णन—पूर्व परम्परा के अनुसार कवि ने विरह-गाथा का वर्णन षट्ऋतुओं की अनुभूति के साथ कराया है। 'विरहिणी का पति ग्रीष्म में गया है, अतः उसने ग्रीष्म से क्रमशः वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त में अनुभूत अपने विरह का वर्णन किया है।[1] ऋतु-वर्णन की परम्परा का उपयोग कवि ने नायिका के विरह को अधिक प्रगाढ़ बनाने के लिए किया है।'[2] उसके पति ने ग्रीष्म में ही प्रयाण किया था इसीलिए ग्रामीण स्त्रियों की भाँति ही वह उस ग्रीष्मानल को जल जाने और मलय पवन को सूख जाने का शाप देकर ग्रीष्म-वर्णन प्रारम्भ करती है।[3] वह विरहाग्नि से इतनी जलने लगती है कि वह रात्रि में जब सुखद कमलदल की शैया पर लेटती है तो भी उसका उद्वेग दूना हो जाता है और रात-भर वह विरह के गीत गाती रहती है।[4]

वर्षा-काल में प्रकृति की छटा को देखकर पति की अनुस्थिति में उसका मन उद्विग्न हो उठता है और वह कातर स्वर में पथिक से पूछती है कि हे पथिक, तुम्हीं कहो कि आम्रतरु शिखरासीन कोकिल की मनोहर ध्वनि इस ऋतु में कैसे सहूँ ?[5] ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है उसका विरह और भी प्रगाढ़ होता जाता है और शरद की चाँदनी में सूर्योदय के समय की पुष्पों की सुगन्ध, हंस और कोयल की ध्वनि जब वह सुनती है तो उसे यही लगता है कि उसका पति ही नीरस है अन्यथा भला ऐसे मौसम में क्या वह घर न आता। हेमन्त-ऋतु के छोटे दिन भी उस विरहिणी को ब्रह्मा के एक-एक युग के समान प्रतीत होते हैं।[6] अन्त में वसन्त आते-आते उसकी

१. अब्दुर्रहमान-कृत 'संदेश रासक'—श्री ह० प्र० द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी; पृ० ७६-८०
२. वही; पृ० ८१
३. 'सन्देश रासक'; २, १२६
४. वही; २, १३६
५. वही; १, १४८
६. वही; २, १८७

उन्मत्तता इतनी बढ़ जाती है कि वह काँटों में विकसित पुष्पों से भ्रमरों को रस चूसते हुए देख कहती है कि 'रस-लोभी रस के लिए शरीर तक दे देते हैं, काँटों की परवाह नहीं करते। इधर कामदेव गर्जन कर रहा है, मैं विरह-समुद्र में डूब रही हूँ उधर मेरे पति को कोई चिन्ता नहीं। वे अपने व्यापार में संलग्न हैं।'[1]

इस प्रकार ग्रन्थ के तृतीय प्रक्रम में छहों ऋतुओं का और प्रत्येक ऋतु में अनुभूत विरह-दुःख का विस्तृत वर्णन कर नायिका पथिक को जाने की अनुमति देती है उस स्थान से वह अपने घर की ओर मुड़ी ही थी कि उसका पति आता दिखायी देता है। दोनों का सुखद मिलन दिखाकर रासक-कार पाठकों से विदा लेता है। वास्तव में यह लोकप्रवृत्ति है जिसका 'सन्देश-रासक' पर गहरा प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

सम्पूर्ण काव्य के अध्ययन के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि का प्रयोजन कथा के वर्णन से कम है। वह तो साभोर नगर के जीवन, प्रकृति तथा षट्ऋतु वर्णन के साथ प्रोषित-पतिका नायिका की विरह वेदना के वर्णन में अधिक रस लेता जान पड़ता है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—'कवि ने सभी वस्तुओं का वर्णन उसमें अपनी आत्मा का रस घोल के किया है।[2] उसके सन्देश कथन में नारी हृदय की परवशता, आकुलता और विदग्धता एक साथ मुखरित हो उठी हैं।[3] पंडित परशुराम चतुर्वेदी नायिका के विशुद्ध प्रेम की गवाही देते हुए लिखते हैं कि—'लौकिक प्रेम के विशुद्ध उदाहरणों के लिए हम उन कवियों की ही रचनाएँ दे सकते हैं जिन्होंने उनमें किसी भी प्रकार की धार्मिक मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया है। कवि अब्दुर्रहमान भी ऐसे ही व्यक्तियों में था।[4]

भरतेश्वर बाहुबलि-रास—नवीन खोज के अनुसार अपभ्रंश के काव्यों में जो असंदिग्ध रूप से प्रमाणित सिद्ध हुआ है, वह है मुनि जिन विनय का 'भरतेश्वर बाहुबलि-रास' इसका रचना-काल डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने संवत् १२४१ वि० माना है। उन्होंने हिन्दी के अन्य कतिपय रासो ग्रन्थों के विपरीत इसे अप्रमाणिकता के आक्षेप से मुक्त कहा है।[5] इसमें कथा का आधार पुष्पदत्त के 'महापुराण' में सोलह से

---

१. 'सन्देश-रासक'; २, २०८

अब्दुर्रहमान-कृत 'सन्देश-रासक'—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी; पृ० ८५

३. 'हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ'—प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० ६८

४. 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह'—श्री परशुराम चतुर्वेदी; पृ० २०

५. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास—डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त; पृ० १३७

अट्ठारह संधियों तक के वर्णन से लिया गया है। 'सन्देश-रासक' में जहाँ पर संदेश-वाहक पथिक द्वारा नायक-नायिका के प्रेम की कथा का वर्णन किया गया है, वहाँ इस काव्य में दूत ही संदेश-वाहक का कार्य करता है। कवि इस काव्य में नारी-पात्रों एवं उनके चरित्रों के प्रति उदासीन मालूम पड़ता है। उसनेपति-पत्नी, नायिक-नायिका एवं प्रेमी-प्रेमिका की कथाओं के स्थान पर दो भाइयों के वीच उत्पन्न कलह, आत्म-ग्लानि और भाई-भाई के प्रेम का वर्णन किया है।

चन्दन-वाला-रास—वारहवीं शती के अन्तिम रास-काव्यों में कवि 'आसगु' का 'चन्दन-वाला-रास' एवं 'जीव-दया-रास' विशेष उल्लेखनीय है। उसमें नायिका चन्दन वाला के चरित्र की पवित्रता एवं धार्मिक साधना का चित्रण करते हुए जैन-धर्म की महत्ता का वर्णन किया गया है। काव्य में नारी-सौंदर्य, नायिका की चेष्टाओं, रति, करुणा, उत्साह आदि भावों की व्यंजना पूर्ण सरसता से की गयी है। कवि ने चन्दन-वाला की माँ धारिणी के नख-शिख का भी अच्छा चित्रण किया है।[1]

भविस्स-यत्त-कहा—जैन-कवि धनपाल-रचित 'भविस्स-यत्त-कहा' (१० शताब्दी ई०) अपभ्रंश साहित्य का कथा-काव्य है। डॉ० नामवर सिंह इसे अपभ्रश का पहला प्रवन्ध-काव्य मानते हैं, जिसने विद्वानों के सम्मुख इस अपभ्रंश-साहित्य के सौंदर्य और गौरव की स्थापना की। इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त रस की प्रधानता है। नारी के रूप वर्णन का चित्र उपस्थित करते हुए कवि लिखता है—'णं वम्मह भल्लि विधण सील जुवाण जणि।' ग्रन्थ में कहीं-कहीं पर मुहावरों और लोकोक्तियों के भी सुन्दर प्रयोग मिलते हैं।[2]

इसी प्रकार तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में अनेक अपभ्रंश काव्यों की रचनाएँ हुई, जिनमें 'स्थूलि भद्र-रास' (जिनधर्म सूरि, १२०६ ई०), 'रेवन्त-गिरि-रास' (विजय सेन सूरि, १२३१ ई०), 'नेमिनाथ-रास' (सुमति गुणि, १२३८ ई०) और 'पंच-पांडव चरित रास' (शालिभद्र सूरि, १३५३ ई०) विशेष उल्लेखनीय हैं किन्तु इनमें नारी-सम्वन्धी चित्रण वहुत ही कम मात्रा में प्राप्त होता है।

---

१. 'दधि वाहण गेहिणी सु पाहिणी, रूपवंत सा धारिणी राणी।
तुम पयोहर खीर सर कुडिल केस भुय नयंण सुचंगी।
हंस गमणि सा मृगं नयणि नव जोवण नव नेह सुरंगी।'—वही, पृ० १४२

२. 'कि घिउ होई विरोलिये पाणिए'—'हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ' —प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० ७०

स्थूलिभद्र-रास—इसमें जैन तपस्वी स्थूलिभद्र सूर की संयमशीलता का बड़े ही प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया गया है। मुनिराज अद्भुत सुन्दरी वेश्या कोशा के यहाँ ठहरते हैं जोकि उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है किन्तु वे अपने सयम पर अडिग रहते हैं। काव्य का मूल भाव निर्वेद ही है किन्तु वेश्या कोशा के प्रसंग में नारी-सौन्दर्य, हावभाव, प्रकृति के उद्दीपक रूप, काम-लालसा आदि की भी व्यंजना आकर्षक रूप में हुई है।[1] कोशा की काली वेणी कामदेव के श्याम खड्ग की भाँति लहलहा रही थी। उसकी तरल श्यामल रोमावली सुशोभित हो रही थी। उत्तुंग पयोधर ऐसे उल्लसित हो रहे थे जैसे शृङ्गार-रूपी पुष्पों के स्तवक हों अथवा कामदेव ने मानो अमृत के दो घड़े रखे हों। दोनों नेत्रों में काजल लगाकर माँग निकालकर, मस्तक पर बोरिया तथा पट्टी देकर उसने वक्षःस्थल में कंचुकी धारण की थी—(थूलि भद्द फागु ४, १०)

नेमिनाथ-रास—इस ग्रन्थ में मुनि सुमति गणि ने जैन तीर्थकर नेमिनाथ के चरित्र का संक्षिप्त चित्रण किया है। जब सुन्दरी 'राजुल' नेमिनाथ के द्वारा त्याग दी जाती है और वह दीन नारी की भाँति असहाय भटकने लगती है तब कवि उसके बाह्य सौन्दर्य एवं आन्तरिक भावों की बड़ी ही मार्मिक व्यंजना करता है। डा० हरीश के शब्दों में रूपवती राजमती की जीवन-भर की साधना व्यर्थ हो जाती है। राजमती का सारा शृंगार क्रन्दन में तिरोहित हो जाता है, उसकी काँति रुदन में बदल जाती है, तिस पर भी वह अपना धैर्य नहीं छोड़ती। 'ऐसे दिव्य पुरुष मुझ मूर्ख के वल्लभ कैसे हो सकते हैं'? वस्तुतः कवि ने इस प्रसंग में नारी-हृदय का अच्छा विश्लेषण किया है।

अपभ्रंश की यह प्रथम रचना है जिसमें हमें 'बारहमासा' प्राप्त होता है। नेमिनाथ के वैराग्य ले लेने पर उनकी पत्नी राजमती विलाप करती है, उसी प्रसंग में यह बारहमासा सावन से आरम्भ होकर आसाढ़ में समाप्त होता है—

> 'श्रावणि सरवणि कडुय मेहु
> गज्जइ, विरहिनि झिज्जइ देहु।
> बिज्जु झवक्कइ रक्खसि जेवं
> नेमिहि विणु सहि सहियइ केवं।
> भाद्रवि भरिया सर पिक्खेवि
> सकरुण रोअइ राजल देवि' ॥[2]

---

१. 'हिन्दी साहित्य' का वैज्ञानिक इतिहास'—डा० गणपतिचन्द्र गुप्त; पृ० १४३

२. 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग'—डा० नामवर सिंह; पृ० २०५

इस रचना में राजमती का नखशिख-वर्णन, शृंगार-सज्जा और विरह बड़ा ही अनूठा है।

पंच-पडव-चरित-रास—इसी प्रकार 'पंच-पांडव-चरित-रास' में द्रौपदी-चीरहरण का प्रसंग ही विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें कवि लिखता है—

> 'हारीयां ए हाथियं थाट भाईय हारीय राजि संउ ए,
> हारीय ए द्रुपदह धीय उदालिय सवि आधरण ए।'

इस प्रकार हम देखते हैं अपभ्रंश की प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इन जैन धर्मावलम्बी कवियों ने अपने प्रवन्ध काव्यों में नारी के सौन्दर्य एवम् विभिन्न देशों की स्त्रियों के अंग प्रत्यंगों का विस्तृत विवेचन किया है। अतएव अव हम इस साहित्य को सामान्य और महत्त्वहीन नहीं कह सकते।

अपभ्रंश साहित्य में नारी भावना—अपभ्रंश की रचनाएँ ७ वीं सदी से लेकर १६ वीं सदी तक प्राप्त हैं। अपभ्रंश-साहित्य के भीतर पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति नीतिमूलक फुटकल रचनाओं के साथ-साथ लोक-प्रचलित कथानक एवं शृंगारी काव्य का उल्लेख मिलता है। सभी रासो-काव्य के भीतर प्रेमाख्यानों की प्रवृत्ति है। सभी में कहीं-न-कहीं प्रेम की मीठी टीस है। प्रेम की यह टीस नारी-भावना पर प्रकाश डालती है। समाज का प्रत्येक अंग नारी से उपकृत होने पर भी नारी के मात्र भोग्या-रूप को महत्त्व देता है। अपभ्रंश साहित्य में नारी के इस 'भोग्या-रूप को दृष्टि में रखकर उसके अंग-अंग की सुन्दरता को सामने लाने के लिए रासो रचनाओं के कवियों ने नारी को शृंगार का खिलवाड़ वनाकर उसे अपने आश्रयदाता राजा के सम्मुख लाकर खड़ा कर दिया है। इस प्रकार अपभ्रंश-साहित्य में नारी, शृंगार की एक ऐसी मादक वस्तु है जिसके माध्यम से संसार के युद्ध-क्षेत्र से हारे हुए मन का एक मात्र मनोरंजन किया गया है। पुरुष के अहम् ने उसे जैसा चाहा, वैसा नचाया है और वह काम एवं रूप की एकमंजूपा वनी है।

अपभ्रंश साहित्य में किसी भी नारी को एक आदर्श घर-गृहस्थी का आंगन नहीं मिला है। प्रेमी-मात्र उसके तन की सुन्दरता से मोहित होकर उसे जंगल-जंगल दौड़ाता है। यदि किसी कवि को जंगल में उसका दौड़ना नहीं रुचा तो उसने अपने आश्रय-दाता राजा के दरवार में ही उसे ला खड़ा कर दिया। एक शरीरी काम-प्रधान प्रेम नारी के आसपास चक्कर लगाता है। मृगावती जैसी रचनाओं में तो कहीं-कहीं पुरुप ने अपने अहम् को सहलाने के लिए नारी को प्रवंचना और कुटिलता की खान

तक कह दिया है। इतने पर भी अपभ्रंश-काल की नारी सोचती है—

'सामि सरोसु सल्लज पिउ, सीमा संधिहि बासु,
पेक्खिवि बाहुबलल्लड़ा, धण मेल्लइ नीसासु ॥"

—अर्थात्, मालिक सरोष है, अदना-सी बातों पर लड़ पड़ने के लिए तैयार है, मेरा प्रिय सल्लज है और निवास देश की सीमा संधि पर है, जहाँ कभी भी तलवार वज सकती है। यह सब सोचकर और अपने पति के बाहुबल को देखकर यह धन्या चिन्तावश दीर्घ निःश्वास छोड़ा करती है।[1] उपेक्षित प्रिया अपने प्रेमी के मंगल के लिए सदा ईश्वर से प्रार्थना करती रहती है। इसी बात की पुष्टि में हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित दोहा देखिए—

'विप्पिय आरउ जइ वि तोवि तं आणहि अज्जु।
अग्गिण दट्ठा जइवि घरु तोवि तें अग्गि कज्जु ॥—

अर्थात् यद्यपि प्रिय अप्रिय काम करने वाला है तो भी (हे सखी) तू उसे ले आ। यद्यपि घर आग से जल गया है तो भी आग से काम तो पड़ता ही है।[2] यहाँ भी कवि चन्द की दृष्टि केवल नारी के बाह्य सौन्दर्य तक ही रह जाती है और वे कन्नौज में जयचन्द की दासियों को गंगा में जल भरते देख पृथ्वीराज और उनके साथी समेत नारी सौंदर्य के मोहक रूप को निहारने में अपना तन-मन भूल जाते हैं।[3]

अपभ्रश की मुक्तक रचनाओं में भी कवि की कुशलता के साथ-साथ हिन्दी का उगता हुआ रूप प्रत्यक्षगोचर हो जाता है। दोहों में पुरुषों के साथ-साथ रमणी का केवल विरह में कुम्हलाने वाला या संयोग की कसौटी पर कनक रेखा की तरह दिखायी देने वाला रूप ही नहीं मिलता अपितु उसका वह सगर्व रूप भी दिखायी देता है जहाँ वह प्रिय की वीरता से हर्षित होती चित्रित की गयी है। उसको इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं है कि उसका प्रियतम युद्ध जीतकर लौटे ही। हां, यदि वह हार जाता है तो अच्छा हो कि वहीं लड़कर कट मरे, ताकि उसे अपनी सखियों के सामने लज्जित होना न पड़े कि उसका पति कायर और देशद्रोही है—

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जं तु वअंसिहु जइ भग्गा घर सन्तु।'[4]

१, हिन्दी साहित्य का आदिकाल'—हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० ४७
२. वही; पृ० ५१
३. 'द्रिग चंचल, चंचल तरुनि, चितवत चित्त हरंति,
कंचन कलस झकोरि कैं सुन्दरि नीर भरंति।'—वही; पृ० ६२
४. 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' (भाग १); पृ० ३५५

अभी कुछ वर्षों पूर्व प्राकृत और अपभ्रंश के विद्वान डा० हरिवल्लभ भायाणी ने एक शिलांकित भाषा-काव्य की खोज की है जिसका नाम शिलालेख में 'राउलवेल' दिया गया है और जिसका रचयिता कोई रोडा नामक कवि है।[1] डा० माता प्रसाद गुप्त के अनुसार 'राउल वेल' राजकुल विलास है। यह एक ललित काव्य है जिसमें छः देशों की नायिकाओं का नखशिख वर्णन किया गया है। इसका लिपि-काल ईसा की ग्यारहवीं सदी माना जाता है।

अपभ्रंश की इन प्रारम्भिक जैन रचनाओं के संक्षिप्त परिचय से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—'हिन्दी का अपभ्रंश से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हिन्दी की साहित्यिक परम्परा भले ही पाणिनीय संस्कृत से अधिक प्रभावित हो किन्तु हिन्दी का ढांचा अपभ्रंश की देन है ....भाषा ही नहीं, अपभ्रंशकालीन साहित्य से भी हिन्दी को साहित्यिक विरासत प्राप्त हुई है'।[2]

सिद्ध-साहित्य—हमारे प्राचीन ग्रन्थों में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। 'अमर कोष' में सिद्ध नाम की किसी एक दिव्य जाति की चर्चा की गयी है जो यक्षों, गन्धर्वों, किन्नरों, गुह्यकों आदि जैसी है और जिसकी गणना देव-योनि में की जाती है। 'सिद्ध' शब्द का दूसरा अर्थ है जो योग और तप जैसी साधनाओं द्वारा सिद्ध प्राप्त कर अलौकिक शक्ति से सम्पन्न होकर मुक्त दशा को पहुँच गया हो।

हिन्दी-साहित्य के आचार्यों ने 'सरहपा' को सिद्ध-युग का प्रथम कवि और उनका आविर्भाव काल संवत् ८१७ विक्रमी माना है। अतः इस युग का प्रारम्भ भी आठवीं शती में ही माना गया है। भारतीय-साधना के इतिहास में आठवीं शती में सिद्धों की सत्ता स्पष्ट देखी जा सकती है। जब बौद्धधर्म में हीनयान, महायान, वज्रयान और सहजयान विभाग हुए तब धीरे-धीरे बौद्धधर्म अपनी पतनावस्था की ओर उन्मुख था। उसी समय यह धर्म जो सदाचार और सहानुभूति के मूल तत्वों पर आधारित था, जनता को अपने आश्रय में लाने के लिए तंत्र-मंत्र, मैथुन एवं अभिचार का आश्रय ले सदाचार से हाथ धो बैठा। धीरे-धीरे समाज के सामने एक विकृत अवस्था का चित्र आने लगा, उस समय मंत्रों द्वारा सिद्धि चाहने वाले सिद्ध कहलाये। इसीलिए डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार, 'सिद्ध-परम्परा को बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों की एक विकृति ही माननी चाहिए।'[3] ये सिद्ध एक नितान्त भिन्न प्रकार से चिन्तन

---

१. 'भारतीय विद्या', बम्बई—भाग १७–अंक ३, ४; पृ० १३०-१४०
२. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास'; पृ० ३२७
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा; पृ० ५१

करने वाले, नवीन ढंग की साधनाओं में प्रवृत्त रहने वाले और एक विचित्र प्रकार के रहन-सहन के साथ जीवन व्यतीत करने वाले ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनकी परम्परा का सम्बन्ध बौद्धधर्म और विशेषकर उसके महायान-सम्प्रदाय के साथ जुड़ा हुआ है और ये वज्रयान के अनुयायी एवं सहजयान के समर्थक थे।[१]

डॉ० धर्मवीर भारती ने सिद्ध-साहित्य की रचना-काल के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के तर्क देने के पश्चात् लिखा है कि—'सिद्धों के साहित्य का रचना-काल हमने नौवीं से तेरहवीं शती तक निश्चित किया है।'[२] इनमें उन्होंने सरहपा के दोहा-कोषों की प्राचीनतम उपलब्धि ११०१ ई० माना है और तिल्लोपा के दोहों का प्रतिलिपि-काल १३ वीं शती माना है। आपने डा० टीकमसिंह तोमर के मत का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया है कि छठीं शती, भामह और दण्डी के समय, तक अपभ्रंश में काव्य-रचना होने लगी थी और राजशेखर (८८०-९२० ई०) के समय तक अप-भ्रंश-काव्य राज-दरबारों, विद्वत् मंडलियों में सम्मान पाने लगा था।[३]

सिद्ध-साहित्य में हिन्दी का रूप—डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार—'सिद्धों की भाषा जन-समुदाय का आश्रय लेकर अपभ्रंश की उस अवस्था का संकेत करती है जिसमें आधुनिक भाषा के चिन्ह विकसित होने लगे थे..........इस भाषा को 'संध्या-भाषा' का नाम दिया गया है। इस संध्या-भाषा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बतलाया है कि—'मेरे विचार से संध्या-भाषा का साधा-सीदा अर्थ यही हैं कि वह भाषा जो अपभ्रंश के संध्याकाल अथवा समाप्त होने वाले काल में लिखी गयी। उन्हीं के अनुसार सिद्धों की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश के क्रोड़ से निकलती हुई जनता की आधुनिक भाषा के निर्माण में अग्रसर होती है।[४] डॉ० धर्मवीर भारती का मत है कि 'दोहा कोषों की भाषा अवधी की जननी हो या न हो, किन्तु पूर्वी प्रभावों और पश्चिमी मूल ढांचे के कारण वह पूर्वी हिन्दी के निकट अवश्य मानी जायगी।[५]

नारी-सम्बन्धी विचार—आधुनिक मान्यताओं को देखते हुए सिद्धों की नारी

१. सम्मेलन पत्रिका—भाग ४१ सं० २; ६६
२. सिद्ध-साहित्य—डॉ० धर्मवीर भारती; पृ० २८७-८८
३. वही; पृ० २८८
४. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ० ६५-६७
५. 'सिद्ध-साहित्य'—डॉ० धर्मवीर भारती; पृ० १९२-९३

सम्बन्धी उक्तियों में कुछ विचित्रता का आभास अवश्य प्रतीत होता है। यद्यपि वज्रयान में सहचर्या के लिए मद्य, माँस, अभिचार, स्त्री आदि का उपयोग बुरा नहीं समझा जाता था किन्तु कहा जाता है कि जब वे जौ पर्वत से नालन्दा और विक्रमशिला में लौटे तब तक यह प्रवृत्ति बिलकुल कम हो गयी। किन्तु कुछ सिद्धों ने वामाचार के अनुसार भी स्त्री की चर्चा की है। उन्होंने जीवन को प्राकृतिक रूप से गार्हस्थ्य जीवन में व्यतीत करने पर जोर दिया है, उनके अनुसार संसार-रूपी विष से निवृत्ति पाने के लिए स्त्री-रूपी विष ही की आवश्यकता है।[1] इस प्रकार भोग में निर्वाण की भावना सिद्ध-साहित्य में हमें विशेष देखने को मिलती है।[2] वास्तव में बौद्धों की महायान शाखा आठवीं शताब्दि के अन्त में अपना बिगड़ा रूप धारण कर 'वज्रयान' नामक नये सम्प्रदाय के रूप में बदल चुकी थी। वज्रयानियों (६ वीं से १२ वीं सदी) के अनुसार सिद्धत्व मात्र कठोर नियम के पालन से नहीं मिलता, प्रत्युत सारी उपभोग्य वस्तुओं के सेवन से भी प्राप्त होता है।[3]

सिद्धों ने अपनी प्रमुख साधनाओं के अन्तर्गत विविध प्रकार की स्त्रियों को महामुद्रा बनाने का भी आयोजन किया था। उनका कहना था कि ऐसा करते समय किसी साधक को स्त्रियों के कुल, जाति अथवा उनके साथ अपने निजी सम्बन्ध तक का विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रज्ञापारमिता वास्तव में ललना का रूप धारण कर सर्वत्र एक समान वर्तमान समझी जाती है और जुगुप्सित अर्थात् निन्द्यकुल में उत्पन्न स्त्री का इसके लिए स्वीकार करना कुछ अधिक महत्व रखता है, उसके द्वारा कुछ और भी शीघ्रता के साथ सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।[4] इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ करने वाले सरहपाद ने जो कमल-कुलिश साधना का प्रचार किया था

---

१. 'जिमि विस मक्खइ विसहि पलुचा। जिमि भव भुंजइ भवनि न जुचा।
खण आनन्द भेउ जो जाणइ। सो इह जम्महि जोइ भणिज्जइ॥'—
कोप-निलोपा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० वर्मा; पृ० ५६

२. 'खाते पीते सुखहि रमन्ते। नित्य पूर्ण चक्रहू भरन्ते॥
अइस धर्म सिध्यइ परलोका। नाथ पाइ दलिया ममलोका॥'
—हिन्दी काव्य-धारा'—सरहपा (भोग में निर्वाण)

३. 'दुष्करैं र्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्धयति।
सर्व कामोप भोगैस्तु, सेवयश्चाशु सिद्धयति॥'—गुह्य समाज तंत्र (सप्तम पटल); पृ० २७

४. 'सम्मेलन पत्रिका'—भाग ४१ संख्या २; पृ० ७०–७१

वह महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार स्त्री के गुप्तांग (कमल) और पुरुषेन्द्रिय (कुलिश) का प्रतीक मात्र है।

सिद्धों के वामाचार में पाँच मकारों का विधान किया गया है—'मद्यं मांसं-स्तथा मत्स्यं मुद्राभिर्मैथुनैरपि'—इन्हीं के आधार पर भैरवी चक्रों की नियोजना होती थी। इन चक्रों में स्त्री और पुरुष साधिका और साधक के रूप में एक स्थान पर एकत्रित होते, मद्यपान करते और फिर 'मनोरथ सुखों की परस्पर पूर्ति' होती थी। इस प्रकार चक्रों में वर्ण अथवा जाति सम्बन्धी किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखा जाता था क्योंकि जिस प्रकार गंगाजी के जल में मिलकर बाहरी जल अथवा दूध एकात्म हो जाता है, उसी प्रकार भैरवी-चक्र में सभी उच्च वर्ण के हो जाते हैं—'प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णाः द्विजातयः'—

इन चक्रों के तीन भेद—वीर, राज, देव—होते हैं। चित्त-वज्र-प्रज्ञोपाय योग से जो महाराग द्वारा विराग का दमन किया जाता है, उसे वीर कहते हैं; राजचक्र में यामिनी, योगिनी, रजकी, श्वपची, कैवर्तक नारी—ये पाँच शक्ति-रूप में व्यहृत होती हैं; देवचक्र में राजवेश्या, नागरी, गुप्तवेश्या, देववेश्या तथा ब्रह्मवेश्या—ये पाँच शक्तियां सम्मिलित होती हैं। नागरी में कोई भी रजस्वला कन्या परिगणित है।[1]

सिद्धों के सिद्धान्तों के अनुसार चार आनन्दों—प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द—की प्राप्ति स्त्री द्वारा ही संभव है। बौद्ध तंत्रों के मण्डल चक्र और मुद्रा मैथुन में स्त्रियों का उपभोग आवश्यक अनुष्ठान माना जाता था। किन्तु वे प्रज्ञा को परमार्थ रूप में नैरात्म ज्ञान मानते थे और सम्वृत्ति रूप में देहधारी नारी रूप। अतः प्रज्ञा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले नारी-रूपिणी सम्वृत्त-प्रज्ञा, देहधारिणी प्रज्ञा का उपभोग करना आवश्यक है।[2]

नर-नारी-तत्व के विद्वान विचारकों के अनुसार जब नर और नारी दोनों को प्रजनन का समान कारण मान लिया गया तब अनेक देशों में पहले पुरुष चिन्ह और बाद में नारी चिन्ह की उपासना आरम्भ हुई। शक्ति, शैव, वज्रयानी, सहजयानी, वैष्णव सहजिया, कृष्णभक्त आदि सभी सम्प्रदायों में स्त्री-पुरुष-तत्व ही साधना का आकर्षण केन्द्र है। आगे चलकर कापालिक साधना में स्त्री-पुरुष के स्थूल दैहिक मिलन सुख को ही समरसता माना गया।

---

१. 'सिद्ध-साहित्य'—डॉ० धर्मवीर भारती; पृ० १२६
२. वही; पृ० २१६-२०

इन सिद्धों की रचनाओं में शान्त और शृंगार रस उपलब्ध होते हैं जिनमें आलौकिक आनन्द और आत्मतोष अवश्य होता है। डॉ० धर्मवीर भारती के अनुसार, 'भाव साधना के वास्तविक नायक और नायिका तो तथागत और उनकी भगवती नैरात्मा है। उसी विश्वव्याप्त प्रणय केलि को साधक, वोधि-चित्त को नायक और नैरात्म्य-ज्ञान को नायिका मानकर अपने चित्त में आयोजित करता है।'[१]

लौकिक काव्यशास्त्र की दृष्टि से सिद्धों ने चर्यापदों में नायिका को स्वकीया, परकीया, सामान्या, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा एवं अभिसारिका आदि रूपों में चित्रित किया है—

(१) स्वकीया, परकीया एवं सामान्या—सिद्धों ने नायिका को गृहिणी, वधू आदि शब्दों द्वारा सम्वोधित किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जैसे नमक पानी में घुल जाता है, उसी प्रकार अपनी गृहिणी को अपने चित्त में धारण करो।[२] इसी प्रकार जहाँ अनुराग की अभिव्यक्ति करते हैं वहाँ भी अनूढ़ा परकीया ही प्रतीत होती है।[३] दो चर्यापदों में शुंडिनी तथा मातङ्गी का ऐसा वर्णन है कि वे वहुत कुछ सामान्य कोटि में रखी जा सकती हैं।[४]

(२) मुग्धा, मध्या एवं प्रौढ़ा—काम चेष्टा की दृष्टि से सिद्धों के पदों में नायिकाओं में मुग्धात्व, मध्यात्व तथा प्रौढ़ात्व तीनों ही प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

मुग्धावस्था का वर्णन करते हुए कवि ने शवरपा की शवरी का अवोध प्रकृति की वालिका की भाँति जो वर्णन किया है, वह वालिका शवरी की मुग्धावस्था प्रकट करता है। वह ऊँचे पर्वत पर मोर पंखों से शृङ्गार किये हुए सहज सुन्दरी की भाँति दिखायी पड़ती है।[५] कुक्कुरोपा की चर्या में वर्णित वधू, जो दिन में काग से भय खाती है और रात को सास के सोने पर प्रिय से मिलने काम-रूप जाती है, काम और लज्जा दोनों की स्थिति के कारण नायिका मानी जा सकती है।

---

१. 'सिद्ध-साहित्य'—डॉ० धर्मवीर भारती; पृ० २४६
२. वागची दोहा कोष; पृ० ४६
३. चर्यापद—२८ तथा टीका, वौद्ध गान ओ दोहा
४. 'सिद्ध-साहित्य'—डॉ० धर्मवीर भारती; पृ० २४७
५. 'उन्मत्त शवरा गुरुआ रोषें गिरिवर-शिखरे सांधी।
पइठल शवरहिं लोटाइव कैसे॥'—हिन्दी काव्यधारा—श्री राहुल सांकृत्यायन; २१ (शवरपा-चर्या पद २८)

गुराडुरीपा कुन्दरू वीर के रूप में योगिनी-सी त्रिनाड़ियों को दवाकर एक भरपूर आलिगन देने का आग्रह करते हैं। फिर उस आलिगन के उपरान्त वे योगिनी में चरम अनुरक्त होकर यह प्रकट करते हैं कि वे एक क्षण भी उसके बिना जीवित नहीं रह सकते तब स्पष्ट हो जाता है कि महामुद्रा रति-प्रिया प्रौढ़ा है, जिसे संभोग प्रिय है और जो नायक को पूर्णतया आनन्द दे सकने में समर्थ है।[१]

(३) अभिसारिका दूती तथा नायिका-रब्ध—कुछ स्थलों पर नायिकाओं का वर्णन नैरात्मा की अभिसारिका दूती शृंगार के संभोग तथा विप्रलम्भ दोनों के नायिका-रब्ध रूप में मिलता है। कवि ने गुराडुरीपा की चर्या में लिखा है कि वे योगिनी का चुम्बन कर कमल-रस पीते हैं और उनके हृदय पर योगिनी का इतना अधिकार है कि उसके बिना वे एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। इस परिस्थिति में योगिनी नैरात्मा स्वाधीनपतिका नायिका है।[२]

नायक और नायिका के मिलन में अद्वयवज्र ने गुरु को दूती रूप में चित्रित किया है। जहाँ नायिका को मातंगी मानकर नौका-बालिका के रूप में चित्रित किया गया है, वहाँ बिना गुरु की प्रसन्नता के नौका जिनपुर नहीं जा सकती।[३] स्वयंभू ने राष्ट्रकूटों के रनिवास और उनके आमोद-प्रमोद को समीप से देखा था। उसी सौन्दर्य को उसने रावण और अयोध्या के रनिवासों के सौन्दर्य के रूप में चित्रित किया है।[४]

वज्रयानियों के अनुसार सिद्धत्व कहीं दुष्कर अथवा कठोर नियमों के पालन से नहीं मिलता, प्रत्युत सारी उपभोग वस्तुओं के सेवन से ही उपलब्ध होता है।[५] महामुद्रा साधना में निष्णात होने पर ही किसी की गणना सिद्धाचार्यों में होती थी—अतएव प्रसिद्ध है कि चौरासी सिद्धों में प्रायः सभी ने अधिकतर अन्त्यजों की कन्याओं को ही महामुद्रा बनाकर अपनी साधना की थी जो योगिनियों के रूप में उनके साथ रहा करती थीं।[६]

---

१. सिद्ध-साहित्य—डॉ० धर्मवीर भारती ; पृ० २४८
२. वही ; पृ० २४६
३. चर्यापद—१४ तथा टीका बौद्धगान औ दोहा।
४. हिन्दी काव्य-धारा—श्री राहुल सांकृत्यायन ; पृ० ५१
१. 'पुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, सेव्यमानो न सिद्धयति,
सर्वकामोपभोगैस्तु, सेवयश्चाशु सिद्धयति।' गुह्य समाज तंत्र
(सप्तम पटल, पृ० २७)
२. 'सम्मेलन पत्रिका'—चौरासी सिद्ध—भाग ४१—सं० २—श्री परशुराम चतुर्वेदी ; (सं० २०१२)

भारतीय रहस्य धर्म साधनाओं में गुरु का दूती रूप में बराबर चित्रण होता रहा है। अधिकांश स्थानों पर नायक-नायिका से प्रेम की प्रार्थना करता है और आलिंगन की भिक्षा मांगते हुए पाया जाता है किन्तु चर्या-पद दो में नायिका काम-पीड़ित होकर जागती है और अभिसार के लिए जाती है। चौथे चर्या-पद में गुराडुरीपा योगिनी का मुख चुम्बन कर कमल-रस पीता है और आलिंगन की भिक्षा माँगता है। दसवें चर्या-पद में काराहपा-डोम्बी से कपाली के रूप में प्रणय की कामना करता है। शबर भी शबरी से मिलने के लिए पर्वतों को पार करता है और उससे पूर्ण संभोग कर शून्य बालिका शबरपा नैरात्मा बालिका को कण्ठ से लगाकर सुहाग शयन करता है। विप्रलम्भ नायिका रुध का वर्णन एक ही चर्या-पद में मिलता है, जहाँ पर कुक्कुरीपा भगवती नैरात्मा को आसन्न-प्रसवा विहारिणी नायिका के रूप में चित्रित करता है जिसका पति शून्य चित्त होने के कारण अन्यमनस्क है और विरागी है।[1]

सिद्ध-साहित्य के चर्यापदों में हम शृंगार के दोनों पक्षों का चित्रण तथा निजी शृंगारिक क्रीड़ाओं एवम् प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति पाते हैं। संभोग शृंगार के अधिकतर स्थल नायिकारव्ध हैं और नायक को प्रणय-प्रार्थी के रूप में चित्रित किया गया है। इन नायक तथा नायिकाओं के रूप-वर्णन में सिद्धों ने प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लिया है। डा० धर्मवीर भारती के अनुसार नायिका पक्ष में चाँडाली, शवरी, सहज-सुन्दरी, वधू, गृहणी, योगिनी (नैरात्म और नैरामणि योगिनी), डोम्बी, मातंगी, कमलिनी, पद्मिनी आदि संकेतों का प्रयोग किया गया है।[2]

जान पड़ता है कि उस युग में सामन्तों को भोग के लिए पूरा मूल्य चुकाने को तैयार रहना पड़ता था। स्वयंभू और पुष्पदन्त ने सामन्त जीवन के इन दो पहलुओं—भोग तथा मृत्यु—का अच्छा चित्र खींचा है। निःसन्देह नायिका के सौन्दर्य चित्रण के साथ-साथ सामूहिक सौन्दर्य का वर्णन करने में भी स्वयम्भू सिद्ध हस्त हैं।

नाथ—सम्प्रदाय—वज्रयान की सहज साधना का ही विकसित रूप नाथ सम्प्रदाय माना जाता है। जीवन के कर्मकाण्डों की कठिनाइयों से बचने के लिए नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धों ने सहज-मार्ग अपनाया। सिद्धों की विचारधारा को लेकर इस सम्प्रदाय ने उसमें नवीन विचारों की प्राण प्रतिष्ठा की। आचार्य पं० परशुराम

---

३. 'सिद्ध साहित्य'—डॉ० धर्मवीर भारती ; पृ० २४६-५०
४. वही ; पृ० २७१—७६

चतुर्वेदी का कथन है कि 'नाथ योगी-सम्प्रदाय योग-मार्गी साधकों का एक समुदाय है जिसपर बौद्धधर्म एवं शैव-सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।'[१] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार सिद्ध कौल मत ही आगे चलकर नाथ-परम्परा के रूप में विकसित हुआ, सिद्ध-मार्ग नाथ-मत ही है।[२]

'नाथ' शब्द का प्रयोग 'रक्षक' अथवा 'शरणदाता' के अर्थ में अथर्ववेद और तैत्तिरीय-ब्राह्मण में मिलता है। महाभारत में इसका प्रयोग 'स्वामी' अथवा 'पति' के अर्थ में पाया जाता है। 'बोधिचर्यावतार' में भगवान बुद्ध के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है। जैनों और वैष्णवों में इसका व्यवहार सबसे बड़े देवता के अर्थ में पाया जाता है। परवर्ती-काल में 'नाथ' शब्द 'शिव' के अर्थ में प्रचलित हो गया।[३] राजगृह्य ग्रन्थ में 'ना' का अर्थ अनादि रूप और 'थ' का अर्थ (भुवन त्रय का) स्थापित होना बतलाया है। इस प्रकार नाथ-मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है।

'हठयोग-प्रदीपिका' के अनुसार आरम्भ में नौ मूलनाथ हुए हैं। इस सम्प्रदाय के साधक अपने नाम के आगे 'नाथ' जोड़ते हैं और इस सम्प्रदाय को सिद्ध-मत, सिद्ध-मार्ग, योग-मार्ग, अवधूत-सम्प्रदाय आदि के नाम से भी पुकारा जाता है। यह नाथ-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और किसी न किसी रूप में पाशुपत लाकुलीश मत से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।[४] गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरक्षनाथ अथवा गोरख-नाथ इस मत के सबसे बड़े पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। योग-दर्शन पर इस सम्प्रदाय ने बहुत अधिक कार्य किया है, कुण्डलिक, योगचक्र, पद्मनाड़ी-ज्ञान, वलि, तंत्र-देवियों की उपासना, शक्ति-पूजा, श्मशान का महत्व, सिद्धि के प्रयत्न और योनि-पूजा का प्राधान्य भी वहाँ मिलता है।[५]

नाथ-साहित्य—गुरु गोरखनाथ की चालीस छोटी-मोटी रचनाओं का संग्रह 'गोरखवानी' नाम से स्व० डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने किया है। हाल ही में श्री प्रबोधचन्द्र बागची ने मत्स्येन्द्र नाथ रचित 'कौलज्ञाननिर्णय' का सम्पादन किया

---

१. उत्तरी-भारत की सन्त-परम्परा—पं० परशुराम चतुर्वेदी ; पृ० ५७
२. नाथ-सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ; पृ० २–३
३. 'हिन्दी साहित्य कोश'—डा० धीरेन्द्र वर्मा ; पृ० ३८९
४. 'सिद्ध-साहित्य'—डॉ० धर्मवीर भारती ; पृ० ३२३
५. 'गोरखनाथ और उनका युग'—डॉ० रांगेय राघव—भूमिका ; पृ० (ट)

है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'अकुल वीर-तंत्र' नाम से प्राप्त हुआ है। गोरखनाथ के नाम पर लगभग तीस संस्कृत पुस्तकें प्राप्त हुई हैं, जिनमें गोरख-संहिता, योग-मार्तण्ड, योग-बीज, विवेक-मार्तण्ड, हठ-संहिता, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति प्रमुख हैं। डा० रामकुमार वर्मा का मत है कि 'गोरखनाथ ने नाथ-सम्प्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया है, वह भारतीय मनोवृति के सर्वथा अनुकुल सिद्ध हुआ.......जीवन के अधिक-से-अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरखनाथ ने किया।[1]

गुरु गोरखनाथ के बाद और अनेक सिद्धों की वाणियाँ पायी जाती हैं जिनमें योग, ज्ञान, वैराग्य, आत्मज्ञान, शील, सन्तोष और सहज जीवन चित्रण किया गया है। इससे परवर्ती सन्तों के लिए सदाचार प्राधान्य धर्म की पृष्ठभूमि तैयार हो गई।

नाथ--सम्प्रदाय में नारी–भावना—नाथ-सम्प्रदाय के सन्तों में वैराग्य की भावना अधिकांश पायी जाती है। अतएव उन लोगों का ध्यान इंद्रिय निग्रह, प्राण-एवम् मन-साधना की ओर अधिक गया है। इंद्रिय-सुख के लिए उन लोगों ने सबसे बड़ा आकर्षण नारी को ही समझा है। गुरु गोरखनाथ ने इस पर विशेष बल इस कारण दिया कि उनके पूर्व बौद्ध-विहारों में उन्होंने भिक्षु-भिक्षुणियों के (वज्रयान में) भैरवी और योगिनी रूप में नारियों की पतनावस्था का पूर्ण अनुभव कर लिया था। उन्होंने समझ लिया था कि इस भौतिक संसार में इंद्रियों पर अधिकार पाना और प्रवृत्ति में लीन होकर निवृत्ति की ओर बढ़ना बड़ा ही कठिन कार्य है। सभी साधकों में इतनी क्षमता नहीं कि सुन्दरी को देखकर उसका स्पर्श पाकर, उसका निकटतम साहचर्य पाकर उसके भीतर कंकाल का रूप देख सकें। इसीलिए उन्होंने नारी को जीवन-साधना में बाधक समझा, जबकि कौल-मार्ग में स्त्री को अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं, 'नियम पुरुष के लिए है—स्त्री के लिए नहीं।[2]

कौल सम्प्रदाय में तो यहाँ तक कहा गया है कि सिद्धि प्राप्ति के लिए स्त्रियों को न्यास, ध्यान और पूजा आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं, उन्हें केवल मंत्र के जाप मात्र से ही सिद्धि मिल जाती है। सैकड़ों अपराध करने के बाद भी स्त्रियों

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ० १०६–११

२. 'नियमः पुरुषं ज्ञेयो न योषित्सु कदाचन्।' —'गोरखनाथ और उनका युग' डा० रांगेय राघव; पृ० १११

को पुष्प से भी नहीं मारना चाहिए, उनके दोष न देखकर केवल उनके गुण की ही प्रशंसा करनी चाहिए। उन्होंने स्त्री को पूजनीय माना है। अतएव इस सम्प्रदाय में स्त्रियों की मर्यादा की रक्षा का विशेष ध्यान रखा गया है। कन्या, कुमारी, नग्न और उन्मत स्त्री को देखकर भी न उसकी निन्दा करें, न जुगुप्सा, न हंसें और न अपमानित करें। वृक्ष, श्मशान अथवा समूह में स्त्रियों को देखकर चाहे वह रिक्त-वसना ही क्यों न हो, भक्ति से उसकी वन्दना करें।[1] इस प्रकार उन्होंने एक ओर नारी को देवी-रूप में माना है और दूसरी ओर उन्हें उसकी हाड़-माँस की देह से विशेष अनुरक्ति है। राजा भर्तृहरि ने भी इसी प्रकार के गीत लिखे हैं जिन्हें नाथ-पंथी स्त्री-पुरुष बड़ी तल्लीनता के साथ देश के गांव-गांव में घूमकर गाते फिरते हैं।

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल द्वारा संग्रहीत 'गोरख-बानी' में गुरु गोरक्षनाथ ने कनक और कामिनी का त्याग करने का उपदेश दिया है।[2] प्रसिद्ध योगी चरपट-नाथ ने भी स्त्री में आसक्त सिद्धों को खूब फटकारा है।[3] गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि जो जननेंद्रिय के सम्बन्ध में असंयत और ढीले-ढाले हैं, वे प्रत्यक्ष भंगी हैं[4] क्योंकि

---

१. कन्या कुमारिका नग्ना उन्मत्ता अपि योषितः।
न निंदेत जुगुप्सेत् न हसेन्नावमानयेत्।
एक वृक्षं श्मशानांच समूह योषितामपि।
नारींच रिक्त वसनाम् दृष्टा वन्देत भक्तितः'।—गोरखनाथ और उनका युग'
डा० रांगेय राघव ; पृ० १११

२. 'जोगी सो जे मन जोगवै, बिल बिलाइत राज भोगवै।
कनक कामिनी त्यागै दोइ, सो जोगेस्वर निरभै होइ॥" —गोरख-बानी ;
पृ० १०२-३५

....

'कामिनी वहता जोग न होई'

....

"वन्दे न सोभै सुन्दरी, सनकादिक के साथि।
जब जब कलंक लगाइसी, काली हांडी हाथि।' —गोरखबानी

३. 'धाकर धूकर की डगरू हाथि, वाली मोती तरुणी साथि।
दिन करि भिच्छ्या रात्यूं भोग, चरपट कहै बिगोवै जोग॥'हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त-काव्य'—डॉ० प्रभाकर माचवे ; पृ० २२६

४. यंद्री का लड़बड़ा—गोरखबानी —१५२ ; पृ० ५२

स्त्री के साथ से शान्ति नहीं रहती।[1] फिर साधना की अपरिपक्व अवस्था में साधक नारी का संसर्ग करेगा तो उचित नहीं।[2] उन्होंने विन्दु (वीर्य) रक्षा पर विशेष वल दिया [3] और वतलाया है कि जो योगी विधवा नारी की संगति करेगा, वह नरक में पड़ेगा।[4] गुरुजी ने नारी को केवल माता रूप में ही देखा था क्योंकि वासना नहीं रहती और वह स्नेह से पुत्र का पालन पोषण करती है।

नाथ-पंथियों की महामुद्रा की साधना में चार प्रकार की स्त्रियों की प्रधानता मानी गयी है—

(१) डाकिनी (डाइणि)–वह तांत्रिक साधिका जिसके मारण, मोहन, ऊच्चाटन के कारण समाज उससे भयभीत रहता था।

(२) राक्षसी—नारी (भग) को राक्षसी कहा गया है क्योंकि वह विना दांत के संसार को खा गयी,—

(३) यक्षिणी (जाखिनी)—जो सिद्धि होने पर साधक को अलौकिक शक्तियाँ प्रदान करती थी, तथा

(४) योगिनी (जोइणि)–वह स्त्री साधिका जिसके साथ महामुद्रा की साधना की जाती थी—ये ६४ प्रकार की मानी गयी थीं।

नाथ-सम्प्रदाय के योगियों ने काव्य को एक उच्च कला के रूप में नहीं माना है और न उनकी दृष्टि में काव्य का कोई महत्व ही था तथापि हम देखते हैं कि इन नाथ-कवियों की रचनाओं का पर्याप्त प्रभाव कवीर की वानियों और अन्य सन्तों पर पड़ा है। गोरखवानी की अनेक पंक्तियों और वाक्यांशों को कवीर ने अपनी अभिव्यक्ति का साधन वनाया है।

चारण काव्य (वीररस काव्य)—पिछले पृष्ठों में हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि

---

१. त्रिया न सांति'—वही—२१०—पृ० ६६ ....

२. 'पासि वैठी सोभै नहीं साथि रमाई मुंडि।
गोरख कहै असतरी कहा सलह कह मुंडि॥ — वही ; पृ० ७८

३. गुरुजी ऐसा काम न कीजै तायें अमी महारस छीजै।
नदि तीरे विरिखा, नारी संगे पुरखा, अलप जीवन की आस।"
—हिन्दी और मराठी सन्त-काव्य- डॉ० माचवे ; पृ० २५०
"मूल म हारौ म्हारा भाई।" — वही — पद टेक ; पृ० ८५
"भोग करंतां जे व्यंद रावै ते गोरख का गुरु भाई।" — वही–१४१; पृ० ४६

४. "विधवा नारी नौ संग करेस्यो,
तो रोमि-रोमि नरक पड़ीस्यौ रे।"—वही ; पृ० १५२

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ का काल राजपूतों के उत्कर्ष का काल था। उन दिनों बाहुबल के पराक्रमों को ही सर्वमान्यता दी जाती थी। छोटे-छोटे राज्यों के क्षत्रिय राजा साधारण-सी बातों पर युद्ध करने को तैयार हो जाते थे। इन क्षत्रिय नरेशों के आश्रय में जो कविगण (चारण) रहा करते थे, उनकी काव्य-प्रतिभा परम्परागत और स्वाभाविक होती थी। वे अपनी कविता को लिखते कम थे और अपना नाम भी प्रायः बहुत कम देते थे—अतएव बहुत से चारणों की रचनाएँ विस्मृति के गर्त में चली गयीं और जो उपलब्ध हैं, उनमें कई रचनाओं के रचयिता का पता ही नहीं चला है।

इस देश में सातवीं-आठवीं सदी से इन चारणों द्वारा ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा चली। ये चारण-कवि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक तो अपभ्रंश में ही लिखते थे क्योंकि उस समय तक वही लोकभाषा थी, फिर १३वीं सदी के पश्चात् उन्होंने डिंगल भाषा (जो अपभ्रंश से निकली है) को कविता का माध्यम बनाया। यद्यपि 'डिंगल' के नामकरण की समस्या अद्यावधि विवाद का ही विषय है और इस सम्बन्ध में डॉ० ग्रियर्सन, डॉ० एल० पी० टैसीटरी, डॉ० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या डॉ० श्यामसुन्दर दास, सर्वश्री मोतीलाल मेनारिया, पुरुषोत्तमदास स्वामी, गजराज ओझा, सूर्यकरण पारीक, रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रकट किये हैं किन्तु अब अधिकांश विद्वान 'डिंगल' को प्राचीन राजस्थानी भाषा के रूप में स्वीकार कर चुके हैं। श्री पुरुषोत्तम मेनारिया ने प्रमाणित किया है कि राजस्थान की प्रमुख साहित्यिक भाषा का नाम प्राचीन काल में मरुभाषा था, वही मध्यकाल में 'डिंगल' कहलाई।[१]

इस 'डिंगल' भाषा में लिखे गये प्रबन्ध-काव्यों के लिए 'रासो' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का यह कथन उचित ही है कि 'रासा' नाम 'रासक' से बना है जिसका अर्थ 'काव्य' है, यह 'रासक' शब्द अपभ्रंश-काल में काव्य के अर्थ में प्रचलित था। इस शब्द के भाषा-भेद से तीन रूप प्रचलित थे-रासा, रासौ, रास। 'रासा' खड़ी-बोली की प्रवृत्ति के अनुकूल 'रासौ' ब्रजभाषा पद्धति के अनुरूप और 'रास' अवधी के चलन के अनुसार था। जो ग्रन्थ इस नाम से राजस्थान में बने उनका नाम 'रासौ' ही होना चाहिए।[२] इसी सम्बन्ध में

१. राजस्थानी भाषा की रूपरेखा'—श्री पुरुषोत्तम मेनारिया ; पृ० १७
२. अवन्तिका' (अंक-वर्ष १)-हिन्दी साहित्य का आदिकाल—श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; पृ० ४५

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि हमारे साहित्य में रासो की दो अलग-अलग परम्पराएँ अपभ्रंश-काल से ही मिलने लगती हैं। इनमें से एक परम्परा तो नृत्य-गीत-परक रासो की और दूसरी छन्द-वैविध्य-परक रासो की है।[1]

इन रासो-ग्रन्थों में हमें नारी के विभिन्न रूपों का समुचित चित्रण मिलता है। विस्तार भय से हम प्रमुख रूप से पृथ्वीराज-रासो, हम्मीर-रासो, वीसलदेव-रासो, खुम्माण-रासो (आल्हा-खण्ड) में चित्रित नारी-भावना पर ही यहाँ संक्षेप में विचार करेंगे।

'पृथ्वीराज-रासो'—इस ग्रन्थ को कुछ विद्वान प्रामाणिक, कुछ अप्रामाणिक और कुछ अर्द्ध-प्रामाणिक मानते हैं क्योंकि गजनी जाते समय चन्द ने अपने पुत्र जल्हन (झल्ल) को पूरा करने का आदेश देते हुए लिखा था—'पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज'। इसी कारण 'पृथ्वीराज-रासो' न तो प्रामाणिक काव्य माना जाता है और न हिन्दी-साहित्य का आदि-काव्य ही, फिर भी उसकी प्रतिष्ठा हिन्दी-समाज में एक आदि-महाकाव्य के रूप में होती है और हृदय से वह प्रामाणिक भी माना जाता है, चाहे बुद्धि हृदय का समर्थन न करे।

रस की दृष्टि से विवेचन किया जावे तो इस काव्य में वीर-रस की प्रधानता के साथ-साथ शृङ्गार-रस की भी कमी नहीं है; अतएव इस काव्य में विवाह, नख-शिख, संयोग, वियोग आदि पक्षों का विविध चित्रण मिलता है। हिन्दी भाषा के आदि-कवि चन्द वरदायी द्वारा रचित यह ग्रन्थ संवाद रूप में है। महाकवि की पत्नी प्रश्न करती है और कवि उसका उत्तर देता है।

नारी-चित्रण—नारी के रूप वर्णन में कवि ने जो चित्र खींचे हैं, वे अद्वितीय हैं। उनमें रूपकों की छटा बड़ी ही निराली और मनोहारी है।[2]

वास्तव में 'पृथ्वीराज रासो' की संयोगिता हिन्दी-काव्य के इतिहास में ऐसी प्रथम नायिका है जिसके रूप-गुण-शील का वर्णन करने के साथ-साथ कवि ने उसके हृदय में पृथ्वीराज के प्रति अनुराग जागृत किया। एक निष्ठ प्रेम की दृष्टि से संयोगिता

---

१. 'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खण्ड)—सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० ९९
२. 'नयननि कज्जल रेख तिक्ख तिक्खन छवि धरिय।
श्रवननि सहज कटाच्छ चित्तकर्षन ठान ठरिय ॥
भुज मृणाल कर कमल उरज अम्बुज कालिय-दल। 'पृथ्वीराज-रासो'—चन्दवरदाई
जंघ रंभ कटि स्पंग गमन दुति हंस करि दल ॥'—पद्मावती समय; पृ० २८

हिन्दी काव्य में वर्णित नारियों का सही प्रतिनिधित्व करती है।[1] रूप-गुण-सम्पन्ना संयोगिता का पृथ्वीराज के प्रति निरन्तर बढ़ता प्रेम अवरोधों के होते हुए भी अधिकाधिक मुखर हो उठता है। उसमें हम जहाँ नारी सुलभ दुर्बलताओं को पाते हैं वहाँ स्वाभिमान और क्षात्र-धर्म से ओत प्रोत इस नारी के दुर्गा-स्वरूप के भी दर्शन हमें होते हैं। एक स्थान पर वह विचार करने लगती है कि लोग नारियों को न जाने क्यों नीच बुद्धि समझते हैं। वे यह नहीं जानते कि इस सृष्टि की रचना स्त्रियों से ही हुई है। जो नारी जीवन पर्यन्त दुःख सुख में हाथ बटाती है उसे तुच्छ मानना नारी के प्रति अन्याय नहीं तो और क्या है ?[2]

कवि ने इस ग्रन्थ में नारी के रूप-वर्णन के साथ-ही-साथ षट्ऋतुओं का वर्णन (छ० ६-७२) भी किया है। "इन वर्णनों में हमें ऋतुओं की विशेषता के साथ इसका उल्लेख मिलता है कि संयोगिनें क्यों सुखी हैं और वियोगिनें क्यों दुःखी। पृथ्वीराज की प्रत्येक नारी उन्हें अपना वियोग कष्ट सूचित कर रति के लिए आह्वान करती हैं और ऋतु का वर्णन तो एक मिस मात्र है। षट्ऋतुओं का समूचा प्रकरण कामोद्दीपन भावना से ओतप्रोत है।[3] ऋतुओं का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वसन्त-ऋतु में जब कोयल कूकती है तो मुकुलों में कामोद्दीपन हो जाता है। ऐसे मतवाले वसन्त में पृथ्वीराज-संयोगिता के मिलन की बात बड़ी मादकतापूर्ण है।[4]

उस युग की परम्परा के अनुसार जब पृथ्वीराज ने संयोगिता को प्राप्त करने के लिए चढ़ाई की, उस समय वसन्त ऋतु में राजा ने बड़ी रानी इंछिनी के साथ पूरा समय बिताया, शेष अन्य पाँचों रानियों ने क्रमशः ग्रीष्म, पावस, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर में अपने यहाँ रोक रक्खा।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नारी-चित्रण के समय पृथ्वीराज के इंछिनी, शशिव्रता तथा संयोगिता के विवाह सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है—'नारी की वयः सन्धि शोभा कवियों के लिए सदैव आकर्षण की वस्तु रही है। इसके लिए नाना उपमाओं का जमघट लगाया गया है। रासो में इंछिनी और शशिव्रता की वयःसंधि

---

१. 'नारी तेरे रूप अनेक'—भूमिका में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० ५७

२. पृथ्वीराज-रासो—समय ६६—छन्द २६६-२६९

३. 'चन्द वरदायी और उनका काव्य'—डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी; पृ० १०७

४. 'कंठी कंठ कुलाहले मुकलया कामस्य उद्दीपनो।
रत्ते रत्त वसंत मत्त सरसा संजोगि भोगयिते॥'—'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खण्ड)—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० १२१

का वर्णन अतुलनीय है। शशिव्रता के रूप का वर्णन करते हुए कवि ने उसे 'शृङ्गार का सुमेरु' कहा है।[1] इसी प्रकार उसने शशिव्रता के यौवन के आगमन की वसन्त से उपमा दी है।[2] बड़ी रानी इंछिनी जब नववधू के रूप में आई थी और सर्वप्रथम जब वह डरती हुई राजा के पास शृंगार करके पहुँचती है तब वह एक मन्द-मन्द पवन से काँपती हुई लता के समान चित्रित की गयी है।[3] कवि का सौन्दर्य-चित्रण उस समय पर अपनी परकाष्ठा पर पहुँचता है जब वह सौभाग्यवती इंछिनी का नख-शिख वर्णन करते हुए उनकी मंगलमूर्ति का परिचय देता है।[4]

कवि ने इस प्रकार शरद्, हेमन्त तथा शिशिर में विरह का वर्णन करते हुए पृथ्वीराज की विलासिता का वर्णन किया है।

इस प्रकार पद्मावती के सौन्दर्य-चित्रण में भी नारी-शृंगार-रस की छटा निखर आई है।[5] कवि चन्द ने नारी-सौन्दर्य के वर्णन में शृंगार-रस के अन्य अंगों 'वयःसन्धि, यौवनागमन, अनुराग, प्रथम मिलन और व्रीड़ा आदि का भी सुन्दर वर्णन किया है। शृंगार-वर्णन के अन्तर्गत स्नान से लेकर पुष्पों, वस्त्रों और आभूषणों द्वारा अलंकरण का विवरण दिया गया है, जिसके अन्तर्गत नखशिख भी है।

अपने समय की अनन्य रूपवती और सर्वांग सुन्दरी संयोगिता का शृंगार-मिश्रित नखशिख वर्णन करते हुए (छं० १०६-१२४) कवि कहता है कि उसकी कटि इतनी पतली है कि मुट्ठी में आ जाती है।[6] वह जाँघों की उपमा कदली और हाथी

१- 'राका अरु सूरज्ज विच उदै अस्त दुहुं बेर।
वर शशिवृत्ता सो भई, मनो शृङ्गार सुमेर॥'—'संक्षिप्त पृथ्वीराज-रासो—श्री द्विवेदी, श्री नामवरसिंह; पृ० १८४

२. 'बढ़ै न सीत कटि, छीन ह्वे लज्ज मानं ढंकनि फिरै।
ढंकै न पत्त ढंकै कहै, वन वसन्त मन्त जु करै॥'—वही; पृ० १८४

३. 'हलहलै लता कछु मंदवाय, नव वधू केलि भय कंप पाय।
उपमा उर कवि कहीय तांभ, जुव्वन तरंग अंगि श्रंगि कांम॥'—वही; पृ० १८४

४. 'आलोल नैंन गति वचन वहु, सपिन सोम मंडिय तनह।
फुल्ली सु सांझ कवि चंद कहि, मनहु वीजु घर की घनह॥'—वही; पृ० १८५

५. 'भर अनंग अथ्थिय महिल रत्ति वढ्ढिय घटि सार।
विपरित दिन ढिल्लिय सहर नृपति अलुझ्झिय मार॥'—'हिन्दी साहित्य'—द्वितीय खंड—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० १२३

६. 'कटि घाट निठ्ठ मुठ्ठिय समाइ, मनु ग्रहन धनुप मन्मथ्थ राय।'—छन्द १२३ सं०; २१

की सूड़ से देकर उन्हें कामदेव द्वारा खरीदा गया कहा गया है। गले की उपमा शंख और कपोत से देते हुए गले की त्रिवली की उपमा कृष्ण के पाँचजन्य पकड़ने से दी गयी है।[1] रासोकार ने स्त्री-भेद के अन्तर्गत स्त्रियों के चार भेदों-पद्मिनी, चित्रिनी, शंखिनी और हस्तिनी—का वर्णन किया है।[2] रासों में नायिका-भेद को सामने रख कर चित्रण नहीं किये हैं, परन्तु वर्णनों के बीच स्वाभाविक रूप से हमें अनेक नायिकाएँ दिखलायी पड़ जाती हैं।

कवि ने विप्रलंभ शृङ्गार के अन्तर्गत संयोगिता की विरह-दशा और व्यथा का बड़ा विशद और मार्मिक चित्र खींचा है। नृपति का पयान जान कर संयोगिता का एक घड़ी में ही साहस घट गया..........सहेलियाँ कई उपचार कर रही थीं, कष्ट के साथ दाँत वन्द हो पाते थे, शरीर थरथराता, हृदय धड़क रहा था। राजा के जाते ही संयोगिता पृथ्वी पर गिर पड़ी।[3]

अन्त में कवि ने वर्णन किया है कि युद्ध का दुःखद अन्त और महाराज पृथ्वीराज के बन्दी होने का समाचार सुनकर रानी संयोगिता के प्राण छूट गये, चौहान की अन्य रानियाँ सती हुई, युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले शूर सामन्तों की सुकुमार सुन्दरी ललनाएँ अन्य लोकों में अपने प्रियतमों का अनुसरण करने के लिए बड़े उत्साह, दृढ़ता और संकल्प के साथ सती होने के लिए चल दीं।[4] रासो में करुणरस को जागृत करने वाला सबसे प्रधान स्थल यही सती प्रसंग है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि 'पृथ्वीराज रासो' में राजपूत सामन्तों के अदम्य साहस, शूरता, प्रतिज्ञा-पालन के साथ-साथ वैभव-विलास, क्रीड़ा-विनोद तथा उनकी स्त्रियों की पवित्र धार्मिकता, पति-परायणता, उच्च कर्तव्य भावना और हँसते-हँसते ज्वालाओं का आलिंगन करने की उत्कट उत्सुकता के सजीव चित्र हमें मुग्ध कर लेते हैं।[5]

---

१. 'कल ग्रीव त्रिवल्लिय रेख बनं, सु ग्रह्यो मनु कन्हर पंचजनं।'—छन्द ७६—सं० २१
२. पृथ्वीराज रासो-स० २५—छन्द; १२४-१२६
३. वही स० ६१, छन्द; ६३३
४. वही; स० ६१ छन्द १६१८ से १६२४
५. 'हिन्दी के गौरव ग्रन्थ' (राजकमल प्रकाशन)-भूमिका में-डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा; पृ० ४

वीसल-देव रासो (सं० १२१२)—पृथ्वीराज-रासो की भाँति वीसलदेव-रासो में भी काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से ऋतु-वर्णन (वारहमासा), शृंगार-वर्णन (संयोग-वियोग), विवाह-वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन, चरित्र-चित्रण, रस, अलंकार तथा छंदों की विस्तृत योजना पायी जाती है। यहाँ वीसलदेव तथा राजमती के विवाह, राजमती के रूप-सौंदर्य, संयोग-शृंगार तथा ऋतु वर्णनों (वारहमासों) के माध्यम से उसके विरह का वर्णन विस्तृत एवं मार्मिक रूप में पाया जाता है। आर्य-संस्कृति की परम्पराओं का भी यहाँ यथेष्ट ध्यान रखा गया है।

नारी-चित्रण—कवि ने इस ग्रन्थ में राजमती और वीसलदेव के विवाह के वर्णन में हिन्दू जाति की परम्पराओं की विस्तृत व्याख्या की है। उसने कन्या के बढ़ते ही माता-पिता को उसके विवाह की चिन्ता (विशेपकर माता को, वर की खोज, ब्राह्मण द्वारा लग्न भेजना, तिलक, बारात की तैयारी तथा यात्रा, कन्या-दान, भांवरी, दान, दहेज और वधू की विदाई आदि का सुन्दर चित्रण किया है। विवाहोपरान्त जब वह नववधू के रूप में राजप्रासाद में आती है, उस समय उसमें एक नवयुवती का स्वाभिमान दृष्टिगोचर होता है। वह राजा की गर्वपूर्ण वातों को सहन नहीं कर पाती और राजा को ऐसा चुभता हुआ उत्तर देती है कि उसे राज्य छोड़कर विदेश जाने के लिए वाध्य होना पड़ता है।

राजमती की इसी प्रगल्भता से 'वीसलदेव-रासो' का प्रारम्भ होता है।[1] जहाँ उसमें एक राजकुमारी की प्रगल्भता है, वहीं अपने पति के प्रति एक पतिव्रता नारी की भाँति प्रेमयुक्त कोमल भावनाओं का संगम भी दीख पड़ता है। परदेश जाते समय वह पति से विनय करती है कि वे उसे यहाँ अकेली न छोड़े. क्योंकि एकाकी रहना उसके लिए दुर्लभ हो जायेगा।[2]

---

१. 'गरव कीजइ घणी संभरि वालि।
तुट्ठ समा छइ घणारि भूवाल ॥'–'वीसलदेव-रासो'—सम्पा० डॉ० तारकनाथ अग्रवाल; पृ० ७६

२. 'हउ न पतीजुं राजा याकी से वात।
साधाज चालिस्यइ राइ कइ साय ॥
वादड़ी हुइ करि वापरउं
पावत तार सिस्याउ ढोलिस्या वाइ ॥
उभी पहरइ जागिसिउ।
अण परि सेविस्यउ आपण्यउ राय ॥'—वही; पृ० ६३ पद-संख्या ६२

जहाँ पर कवि ने राजमती के संयोग-पक्ष तथा पति-प्रेम को इतना अधिक महत्त्व दिया है, वहाँ पति की अनुपस्थिति में उसके वियोग को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। राजा वीसलदेव के प्रवास-काल के पश्चात् से ही राजमती का विरह प्रारंभ हो जाता है। कवि ने षट्ऋतुओं के माध्यम से ही उसकी विरह-वेदना को व्यक्त किया है। उसका विरह उसे हर माह में सताता है। उसका शरीर क्षीण हो जाता है। माघ मास में भी उसकी वेदना इतनी प्रज्वलित होती है कि वन-खण्ड दग्ध हो जाता है और उसके साथ सारी दुनिया दग्ध दिखायी पड़ती है। माघ मास की भाँति ही उसे वर्ष के सभी महीने पीड़ा पहुँचाते हैं।[1] उसका विरह इस सीमा तक पहुँच जाता है कि वह विरहाग्नि में जल-जलकर छटपटाने लगती है। अन्त में वह ईश्वर से यही प्रार्थना करती है कि हे भगवान् ! अब तू मुझे 'उलगाँणा की नारी' (प्रवासी की पत्नी) को छोड़कर अन्य किसी भी रूप में सृजन करे।[2] यहाँ पर उसके हृदय की कसक, व्यथा एवं दर्द-भरा उलाहना सहज में ही पाठक को द्रवित कर देता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि जैसलमेर की गोरड़ी राजमती का चरित्र आदर्श नारी के गुणों से परिपूर्ण है। पति-विछोह के समय भी वह अपने भावी दुःखों की परवाह न करते हुए उड़ीसा-गमन के समय अपनी नीतिपूर्ण उदात्त चरित्र का परिचय देते हुए स्वयं राजा को शिक्षा देती है और पतिविहीन होकर भी आदर्श पतिव्रता हिन्दू नारी की भाँति विकट परिस्थितितों का सामना करती है और कुटनी द्वारा भ्रष्ट आचरण के प्रस्ताव को ठुकरा देती है।[3] वह पति के विरह में इतनी कृशगात हो गयी है कि उंगली की अंगूठी बाँह में चली जाती है। इससे अधिक मार्मिक विप्रलम्भ-शृंगार का उदाहरण और क्या दिया जा सकता है ? राजमती के सौन्दर्य की प्रशंसा में कवि नाल्ह का कथन है कि उसका मुख पूर्ण चन्द्रमा है। उसके मुख-रूपी चन्द्रमा

---

१. 'माह मास इसीय पड़इ ठंडार।
दाधा छइ वनखण्ड कीधा हो छार।
आप दहंतो जग दह्यउ।
म्हा की चोलीय माहि थी दाधउ छई गात्र।'—वही; पृ० ७३

२. अस्त्री जनक काई दीयउ रे महेश,
अवर जनम थारइ घणा रे नरेश।
भषती दाष विजोरडी
तइतउ काइ सिरजो उलगाणा की नारि॥'—वही; पृ० ७३

३. वही; पृ० ७८-७८

को राहु-रूपी सौन्दर्य-लोलुप खलजन कहीं ग्रस न लें अथवा उसके यौवन-रूपी दुग्ध का माजार्र-रूपी कामी पुरुष कहीं पान न कर जायें। क्योंकि उसका पति परदेश में है और उसका उन्मत यौवन छिपाये नहीं छिपता—इस कारण राजमती की सास वहू को घर में चले जाने को कहती है।[१] किन्तु कवि ने दूसरी ओर संयोग-श्रृंगार में भी अपने काव्य-कौशल का परिचय देने में कुछ भी नहीं उठा रक्खा। यद्यपि उसके पूर्व के काव्य कुछ नायिका-रब्ध और कुछ नायक-रब्ध रहे हैं किन्तु इस काव्य में नायिका-रब्ध संभोग-श्रृंगार का ही उदाहरण हमें अधिक मिलता है।

वारह वर्षों के पश्चात् जब वीसलदेव प्रवास से लौटता है और राजमती से उसकी भेंट होती है तब कवि ने नायिका-रब्ध संभोग-श्रृंगार का जो चित्रण किया है, वह बड़ा ही अनूठा है।[२] उड़ीसा जाते समय वीसलदेव राजमती द्वारा अनाद्रित होता है किन्तु राजमती के कामभाव प्रदर्शन के सामने वह जरा भी विचलित नहीं होता जबकि ऐसी स्थिति में मुनि-योगी और यति भी अपना संयम तोड़ देते हैं। उसके दृढ़ निश्चय एवं संयम के समक्ष राजमती की सारी वशीकरण की कलाएं निरर्थक हुईं।

इस प्रकार कवि ने राजमती के सन्ताप, सौन्दर्य, विरह, प्रतिभक्ति, प्रगल्भा, नीति-निपुण एवं पतिव्रत परायणा (प्रोपित-पतिका) नायिका का जो रूप काव्य में प्रस्तुत किया है, वही भावी युग के कवियों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ है। साथ ही हिन्दी-काव्य में षड्ऋतु-वर्णन की परम्परा का आरम्भ करने का श्रेय भी कवि नाल्ह को ही है।

हम्मीर-रासो—देशी-भाषा के वीरगाथात्मक इस काव्य-ग्रन्थ के रचियता शारंगधर शाकम्भरीश्वर माने जाते हैं और इसका रचना-काल चौदहवीं शताब्दी माना जाता है। श्री राहुल सांस्कृत्यायन ने जज्जल को इन छन्दों का रचियता

---

१. 'म्हासू कहइ वहु घरिमाहे आइ।
चंवरइ भोलइ गिलेसी राह.......॥१४१॥

२. "वारा वरसा घरि आवीयउ राउ।
हियडलइ हाथ गला माहे वाह।
अवली सवली चूंवणी।
अति रंग थी राजा लीयउ टीपि।
सही सहेली चमकउ हूवउ।
म्हांकइ भइरव कंचूउ भीनउ छइ पाक॥२३६॥"—वही ; पृ० ८१

माना है।[1] किन्तु इन छन्दों के अर्थ पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि जज्जल इनमें हम्मीर के वीर योद्धा मंत्री के रूप में आया है, कवि के रूप में नहीं।[2] जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जज्जल को एक पात्र मानते हैं। किन्तु उनके अनुसार यह रचना आज तक उपलब्ध नहीं हुई। आपका अनुमान है कि 'प्राकृत पिंगल-सूत्र' में कुछ पद्य असली हम्मीर रासो के हैं। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार इस ग्रन्थ की एक भी प्रति प्राप्त नहीं है। साथ ही आपका मत है कि जिस प्रति के आधार पर प्रकाशन हुआ है, वह असली नहीं हैं। उसकी भाषा से यह ज्ञात होता है कि किसी परवर्ती कवि ने उसकी रचना की है।[3]

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा जोधराज-कृत हम्मीर-रासो का प्रथम संस्करण सं० १९६५ में प्रकाशित हुआ था। उसमें मूल के अतिरिक्त पाद-टिप्पणी में पाठान्तर दिये गये थे। उसके सम्पादक स्व० बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने अपनी भूमिका में यह नहीं लिखा था कि ग्रन्थ किस हस्तलेख के आधार पर लिया गया है। सभा की खोज में हम्मीर-रासो का कोई हस्तलेख आज तक नहीं मिलता है।[4]

नारी-चित्रण—नागरी प्रचारिणी ग्रन्थ माला–११ द्वारा सम्पादित जोधराज-कृत हमीर रासो के अनुसार ग्रन्थ की मूलकथा अलाउद्दीन और हम्मीर के युद्ध की है जिसमें रूप-विचित्रा अलाउद्दीन की शाही-बेगम है। जब उसका अलाउद्दीन शाह के दरबारी महिमामीर से आकस्मिक मिलन होता है तब रूप-विचित्रा शीत से काँपते हुए अपने शरीर को महिमाशाह से आलिंगन-पाश में बाँध कर सन्तुष्ट करने की प्रार्थना करती है। किन्तु महिमाशाह उसे अपने स्वामी की पत्नी कहकर मातृवत व्यवहार करना चाहता है। रूप-विचित्रा के इस कथन 'अपने मुख से माँगती हुई स्त्री को रतिदान न देना भी एक ऐसा पाप है जिसका कोई प्रायश्चित है ही नहीं,' ने महिमा-शाह को बेगम की कोई इच्छा पूर्ण करने के लिए बाध्य कर दिया। किन्तु रूप-विचित्रा की महानता वहाँ पर दृष्टिगोचर होती है जहाँ वह, अलाउद्दीन द्वारा महिमाशाह को किसी भी प्रकार का दण्ड देने के पूर्व, स्वयं दण्ड भोगने के लिए तैयार

---

१. 'हिन्दी काव्य-धारा'—श्री राहुल सांकृत्यायन — पृ०; ४५२
२. 'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खण्ड) — डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० १२४
३. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' — डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ० १७६
४. 'हम्मीर रासो'—कवि जोधराज-कृत–सम्पा० श्यामसुन्दरदास–नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला -१८—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

हो जाती है। वह अपने प्रिय महिमाशाह पर जरा भी आँच नहीं आने देना चाहती।[1]

इस रचना में कवि ने ऋतुओं के वर्णन के साथ नारी का रूप-वर्णन भी बड़े अनोखे ढंग से किया है। शरद ऋतु में जलाशय में केलि करते हुए नारियों का रूप देखते ही बनता है—

> ऋपि पास त्रिया सर न्हान रच्यो।
> जल केलि अनेक प्रकार मच्यौ।
> विन चीर अधीर लखैं नर वैं।
> कुच पीन नितंव सुकमि तवैं।[2]

नारी का दूसरा चित्रण वहाँ मिलता है जहाँ पर चन्द्रकला नामक वेश्या राव हम्मीर के दरवार में नृत्य करती हुई अलाउद्दीन पर विलक्षण कटाक्ष करती है। दरवारी अलाउद्दीन पर हँसते है और अलाउद्दीन की आज्ञानुसार मीर भगरू द्वारा चन्द्रकला घायल हो जाती है।[3] कहीं-कहीं पर राजपूत स्त्रियों की वीरता का भी अद्भुत परिचय मिलता है। युद्ध में अपने पतियों की जीवन लीला समाप्त होने के साथ ही इन अवलाओं ने भी जौहर व्रत ले लिया।

> "पक्ख ऊजरों चैत्र सुदि; तिथि नौमी सनिवार।
> वीस सहस छत्री परे, अवला जरीं हजार॥[4]

महाराज हम्मीर के अधिकांश क्षत्रिय कुटुम्वी जव वीरगति को प्राप्त हो गये तो वे, निराश होकर अपने शरणागत महिमाशाह को अलाउद्दीन के हवाले करने की वात अपनी पत्नी से कहने लगे। तव उस समय उनकी रानी ने जिस साहस का परिचय दिया, वह दर्शनीय था। उसने एक वीरांगना क्षत्राणी की भाँति उत्तर दिया कि इस संसार में व्यक्ति के धन, राज्य एवं वैभव का कोई मूल्य नहीं है जव तक वह तन-मन-धन से अपने वचन का पालन न करें, इस संसार में सुजस ही स्थायी रूप से रह

---

१. "जहांपनाह क्या यह अन्याय न होगा कि एक निरपराध पुरुष दण्ड पाये और एक अपराधी को अपने गले लगाये।"—हम्मीर-रासो—जोधराज-कृत; पृ० १०
२. वही ; पृ० २२
३. वही ; पृ० २१
४. वही ; पृ० १०३

जाता है, शेष अनित्य है। इसलिए आप किसी भी मूल्य पर अपने वचन का पालन कर यश की प्राप्ति कीजिए।[1]

'तन धन भ्रात पुत्र अरु नारी,
हरि विधु त्यागि वचन प्रतिपारी।
राज पाट अनित्य सु जानो,
रहै नित्य इक सुजस बखानो॥'

खुमाण रासो—दलपत विजय द्वारा रचित यह एक ऐतिहासिक काव्य है जो आठ खण्डों से विभाजित है। दूहा, कवित्त और सवैया छन्दों (पांच हजार छन्दों) में लिखित इस ग्रन्थ में षटऋतु वर्णन, वियोग, नायिका-भेद का कलात्मक वर्णन है। इसकी एक हस्त-लिखित प्रति को इन पंक्तियों के लेखक को, पूना के भांडारकर अनु-संधान केन्द्र में देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। अब यह संवत् १७०० ई० के पूर्व की रचना नहीं मानी जाती क्योंकि श्री अगरचन्द नाहटा के एक लेख द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि दलपत विजय एक भाट नहीं अपितु तपागच्छ के जैन साधु थे।[2] यह ग्रन्थ सं० १७३० से १७६० के बीच लिखा गया है, अतएव अब यह रचना आदिकाल के अन्तर्गत विचारणीय नहीं है।

आल्ह-खण्ड—इस युग के बड़े-बड़े ग्रन्थों में 'आल्हा खण्ड' का एक विशिष्ट स्थान है। इसकी कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति नहीं मिली—स्थान-भेद से उसके कई रूपान्तर मिलते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोवे के दो सुप्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीर-चरित का विस्तृत विवरण एक वीर-गीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था।[3] यह वीरतापूर्ण काव्य-ग्रन्थ होने पर भी शृंगारिक छन्दों से भरा पड़ा है।

राजा परिमाल के व्याह के वर्णन में तिलना, मल्हना बेटियों के रूप-सौंदर्य और नखशिख के वर्णन में कवि कहता है—

"तिलना मल्हना ऐसी सुन्दरि, सूरज चंदा की अनुहारि।
तेज विराजे अंग अंग में, ऐसी कोई लखी न नारि।

---

१. हम्मीर-रासो-जोधराजकृत ; पृ० ११८
२. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका (अंक ४, वर्ष ४४)—श्री अगरचन्द नाहटा; पृ० ३८७-६८
३. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ; पृ० ५१

केहरि समता की कटि कहिये, कंठ कोकिला सम उच्चार।
चाल मराल नाक सुवनासी, नयना हिरना के अनुहार ॥[1]

....

"सजि के आई जब वेदी पर, मानो कामदेव की प्यारि।
हाथन मेंहदी पायं महावर, शोभा एक न वरणी जाय।
सब शृंगार और आभूषण, मानो इन्द्र अप्सरा आय ॥" [2]

आल्हाखण्ड में एक स्थल पर ऊदल पनघट पर पानी भरती पनिहारिनों के रूप-सौंदर्य को निरख अपनी प्यास की वात भी भूल वैठते हैं—

"गोरी-कारी गुदकरी कोऊ, कोऊ श्याम वरन सुकुमार।
वढ़ती जवानी नयी उमरिया रूपवती गुणशोभा नार।
चन्द्र वदन सम वदन चमक्कै, अंखिया देख हिरन शरमाय।
दोनों भौंहें इन्द्र-धनुष की, गुल-गुलाब से गाल दिखाय।"

कवि को कन्या-जन्म और विधवा के प्रति वड़ी सहानुभूति है ।[3] माड़ो की लड़ाई पर जाने से पूर्व माता ऊदनि से कहती है कि तुम्हें महिलाओं पर हाथ नहीं डालना चाहिए ।[4] इसी प्रकार के विचार वेला के गौने की लड़ाई के समय भी व्यक्त किये गये हैं ।[5] ऊदल का विवाह रचाने के लिए सुनवां, आल्हा से कहती है कि फुलवा के साथ विवाह की तैयारी करो, पर आल्हा घवराता है, तव सुनवाँ एक वीर क्षत्राणी की भाँति प्रेरणा देती है ।[6] सिंहल द्वीप की लड़ाई के अन्त में मल्हना रानी

---

१. आल्हखंड वड़ा (खेमराज श्रीकृष्णदास, वम्वई) ; पृ० १५
२. आल्हखंड वड़ा (खेमराज श्रीकृष्णदास, वम्वई) ; पृ० ४३
३. 'जन्मत वेटी जेहि मानुष के, ताकी लाज राम के हाथ'

....

'विधवा होवै जिसकी वेटी, सो तो महादुखी संसार' —वही ; पृ० ४१
४. 'हाथ न डरियो तुम तिरियन पर, इतनी मानो कही हमारि।' वही; पृ० १७१
५. तुम्हें मुनासिव यह नाहीं है, जो तिरिया पर डारौ हाथ ।'—वही ; पृ० ५१५
६. तुम धरि लेहु जनानो भेष।
चुरियां विछिया स्वामी पहिरौ, औ सव छोरि धरौ हथियार।
जाय विराजौ तुम पलका पर, हम ऊदनि करि लैहैं व्याहि।"—वहीं पृ० ३८२

भी सती हो जाती है, तभी कवि कहता है—'सती हो गई मल्हना रानी, महुवे दीपक गयो बुझाय' । युद्ध, विवाह और प्रेम-व्यापार के अतिरिक्त इस विकसनशील लोक महाकाव्य के नारी-पात्रों में चरित्र की विविधता और विशिष्टता दिखायी पड़ती है। मल्हना राजकाज में कुशल और पति को सुन्दर सलाह देने वाली रानी है। आल्हा की मां देवल देवी एक वीर क्षत्राणी और आदर्श माता है। उसमें स्वामिभक्ति और देशभक्ति की भावना कूट-कूटकर भरी है। राजकुमारियों को यहाँ अपने पिता-भाई का विरोध और भावी पतियों अथवा प्रेमियों की सहायता करते हुए दिखाया गया है। सोना और वेला तो अपने पतियों के कहने से अपने भाइयों से युद्ध करती और उनका मस्तक तक काट लेती हैं। वेला का पातिव्रत-धर्म अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का है। आल्हाखण्ड की स्त्रियों में विलासिता, भय और शृंगार प्रियता कहीं नहीं दिखायी पड़ती। इसके विपरीत वे अत्यन्त बुद्धिमती, कार्य-कुशला और साहसी दिखायी गयी हैं। उनमें से अधिकतर तंत्र-मंत्र जानने वाली भी हैं और युद्ध-भूमि में या पुरुषों का हरण करने के लिए उस विद्या का प्रयोग करती हैं।[१]

ढोला मारू रा दूहा—यह एक मुक्त-प्रबन्ध-काव्य है। जिसमें मारवणी और मालवणी के संयोग-वियोग के मार्मिक चित्र हैं। इसकी कथा सदियों से राजस्थान की एक प्रिय लोकगाथा (प्रेमगाथा) ही है। जान पड़ता है कि प्रारम्भ में यह सामूहिक लोकगीत रहा होगा, फिर बाद में चारण, भाट, ढोलीढाली, दमामी आदि पेशेवर गाने वालों ने इसे विकसित विवर्धित किया है। इसकी रचना मूल रूप में दोहों में संवत् १४५० से पूर्व हुई होगी। वर्तमान रूप में प्राप्त ढोला मारू रा दूहा, सामुदायिक कृतित्व है, किसी एक कवि की रचना नहीं है।[२] मूलतः यह ढोला द्वारा परित्यक्त मारवणी का विरह-गीत है जो वास्तव में बड़ा ही हृदयस्पर्शी है। इसके अतिरिक्त इसमें ऋतु-वर्णन, पावस-वर्णन और नखशिख वर्णन भी अच्छा है। तभी तो किसी ने कहा है—

> **"सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवणरी बात।**
> **जोबन-छाई घण भली, तारां छाई रात ॥"**

—इसे हम राजस्थान का एक जातीय काव्य भी कह सकते हैं, जो जनता में बड़ा ही लोकप्रिय रहा है।

---

१. 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास'—डॉ० शम्भूनाथ सिंह ; पृ० ३८७
२. वही ; पृ० २२४-२५

कल्लोल नामक कवि के इस चरित्र प्रधान काव्य की नायिका मारवणी है और मालव देश की राजकुमारी मालवणी इसकी उप-नायिका है। रचना में श्रृंगार के दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण है। मारवाणी के संयोग के वर्णन में कवि कहता है कि–'थांभा नाचइ घर हंसइ, खेलन लागी खाट'। राजा पिंगल और रानी उमादेवी की कन्या मारवणी का चरित्र एक मुग्धा नायिका के रूप में चित्रित किया गया है। वह अपूर्व रूपसी है। 'वीसू चारण के कथनानुसार मारवणी गति में गंगा, वुद्धि में सरस्वती और शीलस्वभाव में सीता है। भावुकता, धैर्य, कोमलता, गांभीर्य, आदि उसके विशेष गुण हैं–उसका पति में अनन्य प्रेम, श्रद्धा एवं विश्वास उसे भारत की अग्रगण्य नारियों में स्थान प्रदान करता है।[1]

वीसू चारण द्वारा उसके अन्तर तथा वाह्यसौन्दर्य का उल्लेख किया गया है।[2] कवि कहता है कि वह प्रेयसी इस प्रकार रखी जानी चाहिए जिस प्रकार शिवजी गंगाजी को मस्तक पर रखते हैं।[3] उसकी चाल हाथी-जैसी, जंघाएँ कदली गर्भ जैसी, कमर सिंह की-सी लचकीली, दाँत हीरो के समान, अधर मूंग के सदृश और भृकुटी चन्द्रमा जैसी टेढ़ी हैं।[4] इस नखशिख वर्णन में रूढ़िगत परम्परा के अनुसार प्राचीन और नवीन उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का सफल प्रयोग किया गया है।

मारवणी का विरह कवि ने वड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है। इसी कारण इस रचना के अनेक स्थल वड़े ही मार्मिक हैं। पति-वियोग की यातना के कारण मालवणी का महल श्मशान और शैया विपधर वन जाता है। वह काजल, तिलक तथा ताम्वूल आदि आलंकारिक उपकरणों को छोड़ देती है, पगली की भाँति विलाप करती हुई अपने शुक को मृत्यु के सन्देश-वाहक रूप में अपने पति के पास भेजती है।[5] उधर प्रेमिका मारवणी कहती है—

'राति जु सारस कुरलिया, गुंजि रहे सव ताल।
जिणकी जोड़ी वीछड़ी, तिणका कवण हवाल॥'

---

१. डिंगल साहित्य'—डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव; पृ० ८३
२. 'ढोला मारू रा दूहा'—छन्द सं०; ४५१-४८८
३. 'सा धण इण परि राखिजइ, जिम सिव-मस्तक गंग।'—वही; छ० ४५३
४. 'गति गयंद, जंघ केलि ग्रभ, केहरि जिम कटि लंक।
हीर डसण, विद्रम अधर, मारू-भृकुटि मयंक॥'—वही; छन्द ४५४
५. वही; छन्द ३९७-४०९

वह अपने पति को सन्देश भेजकर कहलाती है—'मैं चाहती हूँ कि इस शरीर को जलाकर भस्म कर दूँ और उसका धुआँ आकाश तक पहुँच जाय; फिर मेरा प्रियतम बादल बनकर बरसे और मेरी आग बुझा दे।'[1] नायिका की कल्पना कैसी अनूठी है ?

मारवणी जब ढोला के आने का समाचार सुनती है तब उसका हृदय हर्षोद्रेक ने हिमगिरि जैसा विशाल हो जाता है। वह अनुभव करती है कि वह अब तो पंजर में समायेगा ही नहीं।[2]

प्रस्तुत रचना शुद्ध प्रेमाख्यान काव्य के अन्तर्गत आती है। इस रचना में ढोला और मारवणी के संयोग और वियोग की विविध मनःस्थितियों का चित्रिण बड़ा ही मार्मिक और अनूठा है—विशेषकर विप्रलम्भ शृङ्गार की विविध मनोवैज्ञानिक दशाओं का स्फुरण तो बड़ा ही हृदय-हारी है। रचना के इस विप्रलम्भ शृंगार को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—मारवणी की वियोग अवस्था और मारवाणी का ढोला चले जाने के उपरान्त विरहजन्य चित्रण और ये दोनों ही चित्रण बड़े सरस बन पड़े हैं।

इस युग के इस्लामी-शासन के अध्ययन से हमें ज्ञान होता है कि 'मुस्लिम शासकों में ऐश्वर्य-वृद्धि, नारी-सौंदर्य के उपभोग एवं विलासिता की प्रवृत्ति असामान्य रूप से विकसित थी, जिसका प्रतिफलन उनके आश्रय में रचित साहित्य में भी हुआ।'[3]

विद्यापति से लगभग सौ वर्ष पूर्व बलख हजारा के अमीर सैफुद्दीन के पुत्र अमीर खुसरो का जन्म १३१० विक्रमी में भारत के पटियाली ग्राम में हुआ था। इनका जन्म-नाम तो अबुल हसन था किन्तु उपनाम 'खुसरो' इतना प्रचलित हो गया कि लोग असली नाम को ही भूल गये। ये बाल्यावस्था में ही सूफी सन्त निजामुद्दीन औलिया के शिष्य हो गये थे और बड़े होकर वे राजकवि बने। कहा जाता है कि

---

१. 'ढोला मारू रा दूहा'—दूहा० १८१ पृ० ५५

२. 'ढाढी, एक संदेसड़उ, प्रीतम कहिया जाइ।
साधण बलि कुइला भई भसम ढंढोलिसि आइ॥
ढाढी जे प्रीतम मिलई, यूं कहि दाख वियाह।
पंजर नही छई प्राणियउ, थां दिस झल रहियाह॥'—वही; पृ० ७३

३. 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'—डॉ० गणपतिचन्द्र; पृ० ३६४

उन्होंने अपने जीवन-काल में ग्यारह वादशाहों को दिल्ली के सिंहासन पर चढ़ते-उतरते देखा था। वे स्वयं भी सात वादशाहों के राज्याश्रय में रहे।

खड़ी-वोली हिन्दी के आदि-कवि खुसरो अरवी, फारसी और तुर्की तीनों भाषाओं के विद्वान थे। अपने 'पाँच दीवान' की भूमिका में उन्होंने स्थल-स्थल पर 'हिन्दुई' भाषा के प्रेम का उल्लेख किया है। आशिका में आप लिखते हैं—'तर्क हिन्दुस्तानी अम मन 'हिन्दुई' गोयम जवाव' अर्थात् मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ और मैं हिन्दुई (भाषा) में जवाव देता हूँ। फारसी के विद्वान होते हुए भी आपने जनसाधारण की खड़ी-वोली में रचनाएँ की हैं। 'खालिकवारी' कोश प्रसिद्ध है जिसमें फारसी, अरवी और हिन्दी के शब्दों का वाहुल्य है। 'खालिकवारी सिरजन हार वाहिद एक विदा कर्तार'—वया विरादर आवरे भाई। वनशान मादर वैठ री माई.......।' संभव है इसी खालिकवारी की भाषा से प्रभावित होकर स्वर्गीय पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपने कविता-कौमुदी (पहला भाग) में लिखा था—'हिन्दुओं को मुसलमानों की भाषा से और मुसलमानों को हिन्दुओं की भाषा से परिचित कराने का खुसरो ने यह सवसे पहला प्रयत्न किया था। खुसरों ने जिस हिन्दी में छन्द रचे हैं, वह अवश्य ही उनके समय की वोलचाल की भाषा होगी।'[1] हम उनके दोहों, तुकवन्दियों तथा पहेलियों को शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से उदात्त कोटि का नहीं मान सकते, क्योंकि इन कृतियों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का प्रश्न हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखकों के लिए आज भी एक समस्या वना हुआ है। हमें तो उनकी रचनाओं का एकमात्र लक्ष्य उस युग की वोलचाल की भाषा में विनोदपूर्ण उक्तियाँ लिखना मात्र जान पड़ता है।

उनके काव्य के प्राप्य रूप निम्न प्रकार हैं—(१) खालिकवारी, (२) चैस्तान (जिसमें सकारण और अकारण पहेलियाँ, कह मुकरनियाँ, दो सखुने ढकोसले आदि सम्मिलित हैं), (३) गज़ल (जिसमें एक पद फारसी और एक हिन्दी), (४) हिन्दी के दोहे, (५) कुछ गीत। उनकी पहेलियों में अपूर्व कौतूहल और विनोद है—

'श्याम वरन और दांत अनेक, लचकत जैसी नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे, और कहे तू आरी॥'[2] (आरी)
'एक नार तरवर से उतरी सर पर वाके पांव।
ऐसी नार कुनार को मैं ना देखन जांव॥'[3] (मैना)

---

१. कविता-कौमुदी (पहला भाग)—सम्पा० पं० रामनरेश त्रिपाठी—(सातवीं वार, १९४६ ई०); पृ० ६४
२. खुसरो की हिन्दी कविता—सम्पा० व्रजरत्न दास; पृ० १७
३. वही; पृ० २१

'एक नार दो को ले बैठी, टेढी होके बिल में पैठी।
जिसके बैठे उसे सुहाय, खुसरू उसके बलबल जाय ॥'[1] (पाजामा)
'बाल नुचे कपड़े फटे, मोती लिए उतार।
यह विपता कैसे बनी, जो नंगी कर दई नार ॥'[2] (भुट्टा)

दो सखुना फारसी और हिन्दी—

'दर जहनुम चीस्त, कामी को क्या चाहिए ?'[3] (नार)

ढकोसला—'गोरी के नैना ऐसे बड़े जैसे बैल के सींग'

चार बातों का एक साथ वर्णन—

'खीर पकाई जतन से; और चरखा दिया चलाय।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजाय।
ला पानी पिला।'[4]

दोहा—'गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुं देस ॥'[5]

कहा जाता है कि यह दोहा उन्होंने गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु पर बनाया था। इस प्रकार के दोहे और सैकड़ों पहेलियाँ खड़ी-बोली के प्रारम्भिक काव्य-साहित्य को अलंकृत कर रहे हैं। कह मुकरी अर्थात् 'कहकर मुकरना' निषेद के मिस वास्तविक उत्तर को छिपाने का कलात्मक ढंग है। जहाँ सखी ने कहा—'ऐ सखी साजन, वहीं चतुर नायिका समस्त उदाहरणों को किसी अन्य वस्तु पर आरोपित कर बच निकलती है; उदाहरण—

'बन ठन के सिंगार करे, धर मुंह पर मुंह प्यार करे।
प्यार से मो पै देत है जान, ए सखि साजन, ना सखि (पान) ॥
रात समय वह मेरे आवे, भोर भए वह घर उठ जावे।
यह अचरज है सबसे न्यारा, ऐ सखी साजन, ना सखी (तारा) ॥

इस प्रकार खुसरो की रचनाओं में हम मौलिकता, कल्पना की उदात्तता और

१. खुसरो की हिन्दी कविता—सम्पा० व्रजरत्न दास; पृ० २५
२. वही; पृ० ४६
३. वही; पृ० ६०
४. वही; पृ० ६१
५. वही; पृ० ६५

उक्ति का विविध चमत्कार पाते हैं। वे सुप्रसिद्ध गायक भी थे इस कारण उन्होंने भारतीय संगीत-कला और हिन्दी काव्य को एक नवीन मोड़ दिया।

मैथिल-कोकिल विद्यापति—नारी-सौंदर्य के पारखी और चतुरचितेरे महाकवि विद्यापति उन शृङ्गारिक कवियों में नहीं आते जिनका यह विश्वास है कि, 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान'—अथवा 'विरह प्रेम की जागृति गति है और सुपुप्ति मिलन है,' वरन् आप उन कवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके विचार अंग्रेज कवि बायरन की इस पंक्ति से मिलते हैं—'यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।'[1] इसी कारण डॉ० रामकुमार वर्मा को भी लिखना पड़ा कि 'विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदय ग्राही वर्णन नहीं किया जितना वहिर्जगत का।'[2] वे हिन्दी में गीति-काव्य परम्परा के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके 'गीत-कानन में पारिजात कली-सी सुकुमार मुग्धाओं की लाज लपटी गुलाबी मुस्क्यान भी चारों ओर छिटकी पड़ी है और पतझड़ पात-सी पीली विरहणियों के कपोलों पर आसुओं की ओस भी काँप रही है।.... .... विद्यापति की पीयूष-काकली से मिथिला की अमराइयों ही नहीं गूंज रही हैं, समस्त उत्तर भारत के असंख्य रसिकों, वैष्णव हृदयों और काव्य-व्यसनियों को इस पीयूषधारा ने अभिषिक्त किया है।'[3]

कवि ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का जो वर्णन किया है, उसमें संयोग-पक्ष के जितने स्फुट पद मिलते हैं उतने वियोग के नहीं। जान पड़ता है कि कवि स्थूल-सौंदर्य का जितना उन्मत्त गायक है, उतना विरह-वर्णन का अथवा उसकी अनुभूति का नहीं। वह तो रूप-सौंदर्य में विश्वास करता है हृदय की आन्तरिक वेदना को व्यक्त करने के लिए उसके पास अधिक समय नहीं। इसीलिए डा० वर्मा का तर्क है कि 'विद्यापति की वासना की उपासना है, उपासना की साधना नहीं।' किन्तु कुछ विद्वान इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'विद्यापति शृंगार-प्रधान भावुक भक्त कवि हैं। अन्तःसलिला-सरिता के शृंगार की वालुका राशि से आवृत्त रहने पर भी वे सर्वदा सुन्दर, सरस तथा शीतल हैं। उन्होंने शृंगार के केवल अलौकिक अर्थात् मानस रूप की ओर दृष्टिपात किया है, उसके लौकिक अर्थात् ऐंद्रिय रूप की ओर नहीं। जो कुछ भी हो, किन्तु इतना तो अवश्य ही मानना पड़ता है कि शृंगार के दोनों पक्षों में संयोग की

---

1. The days of youth are the days of glory—Byron
२. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ०
३. विद्यापति—डॉ० जयनाथ 'मिलन'; पृ० ३८

प्रधानता होते हुए भी दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। 'उनमें दोनों भाव धाराओं का समन्वय है।[1]

संयोग-शृंगार—संस्कृत और अपभ्रंश के कवियों की भाँति विद्यापति ने नारी-सौंदर्य के चित्रिण में सर्वाधिक रुचि दिखाते हुए सौंदर्य और प्रेम के आकर्षक रूप को ही नारी का पर्याय माना है।[2] उन्हें संयोग-पक्ष की ओर खींचने वालों में सबसे सशक्त बल उस युग के दरबारी-क्रिया-कलापों का ही था। जैसा कि डा० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा भी है कि 'वे एकाधिक रानियों, राजकुमारियों के सम्पर्क में आये जहाँ असली सौंदर्य उपेक्षित था, बाह्य रूप की पूजा होती थी। उन्होंने उस सौंदर्य को देखा जो दरबारों में एकत्र किया जाता था।[3] इसी कारण उन्होंने अपनी कीर्तिलता में दरबार, नगर तथा वेश्याओं का वर्णन अधिक विस्तार से किया है। दूसरा कारण यह भी था कि संयोग में सान्निध्य होता है और सान्निध्य में रूप का कायिक वर्णन ही प्रमुख होता है।

वियोगी कवियों की भाँति विद्यापति को अपने समस्त कार्य मन की उड़ान अथवा कल्पना के सहारे नहीं करने पड़े क्योंकि उनकी नायक-नायिका दूर-दूर नहीं थे जिनमें व्यग्रता और औत्सुक्य अधिक होता है। उनके कृष्ण और राधा इतने समीप हैं कि कभी राधा स्वयं में कृष्ण का दर्शन करती है तो कभी कृष्ण राधा का स्वयं में। कहने का भाव यह है कि विद्यापति के काव्य में पूर्वराग, मानजनित एवं प्रवास-जनित तीनों ही का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है जिसके कारण वे संयोग की ओर ही अधिक आकर्षित रहे हैं।

कहा जाता है कि विद्यापति ने जीवन की चढ़ती बेला से उसकी अंतिम परिणति तक की विकास-यात्रा को गहराई से देखा है और भोगा है। उनकी दृष्टि में जीवन-प्रेम ही इस यात्रा का मूल प्रेरक रहा है। प्रेम में तीन मनोवेग होते हैं जो जीवन के सर्वश्रेष्ठ स्वरूप के विकास के लिए आवश्यक हैं—ये तीनों मनोवेग हैं—काम, साहचर्य और सौंदर्य। इन्हीं से प्रेरित होकर उन्होंने वयःसंधि, नखशिख वर्णन,

---

१. 'विद्यापति'—डा० शिवप्रसाद सिंह ; पृ० १०

२. माधव की कहब सुन्दरि रूपे'— सजनी अपरूप पेखल रामा'—'नव जोवन अभिरामा'।

३. वही ; पृ० १०

सद्यःस्नान मिलन, प्रेम-प्रसंग, विदग्ध, विलास, अभिसार, प्रकृति तथा वसन्त विरह आदि का चित्रण किया है।[1]

कवि नारी के वाह्य रूप के चित्रण में इतना रम जाता है कि उसके सामने कला के अतिरिक्त और कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता। वह समझता है कि किशोरावस्था और युवावस्था दोनों ही सौंदर्य के संगम हैं। जहाँ एक की समाप्ति होती है, वही दूसरे का प्रारम्भ। हम रमणी को किशोर कहें या युवती, समझ में नहीं आता किन्तु विद्यापति ने दोनों में अन्तर दिखाने में अद्वितीय छटा प्रदर्शित की है।[2] यौवन के प्रारम्भ में एक नवीन परिवर्तन होता है। नायिका जब अपने अंगों को देखती है तो उसे यह आश्चर्य होता है कि वे इतने उभरते क्यों जा रहे हैं? फिर वह शरमाती है और उन्हें ढक लेती है। ऐसे स्थानों पर नायिका में आश्चर्य-मिश्रित लज्जा के भावों का चित्रण कवि की स्वयं की विशेषता है। शृंगार के अन्तर्गत आने वाले उद्दीपन विभावों तथा संचारी भावों का चित्रण भी कवि ने बड़ी ही सफलता के साथ किया है।

अभिसार के वर्णन में भी कवि ने उच्च कोटि का आदर्श प्रस्तुत किया है। उन्होंने कृष्णाभिसारिका, शुक्लाभिसारिका मध्यान्हाभिसारिका के रमणीय चित्र खींचे हैं। उनकी नायिका पुरुप वेप में आती है जिसे अभिसारिका के मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, ऐसी भयावनी स्थिति में भी वह तनिक विचलित नहीं होती। वह गरजती हुई आगे बढ़ती जाती है—

'रयनि काजर वम भीम भुजंगम, कुलिस परए दुरवार।
गरज तरज मन, रोस वरिसघन समय पड़े अभिसार॥'

सद्यः स्नान—इस सम्वन्ध के पद कवि की अमर विभूति है क्योंकि एक पद को सुनाकर कवि ने अपने आश्रयदाता शिवसिंह को दिल्ली के सुल्तान की कैद से छुड़ाया था। वात जनश्रुति हो या वास्तविक, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि

---

१. साहित्य-सन्देश—विद्यापति विशेषांक-जनवरी-फरवरी, १६६६

२. "सैसव जोवन दरसन मेल। दुहुं दल वले दंद परि गेल॥
कवहुंक वांधय कच कवहुं वियारि। कवहुंक छांपय अंग कवहुं उघारि॥
अति थिर नयन अथिर किछु भेल। उरज-उदल-थल लालिम देल॥
चंचल चरण चित चंचल भान। जागल मनसिज मुदित नयन॥' —पदावली—
श्री रामवृक्ष वेनीपुरी ; पद ४

ऐसे चमत्कार दिखाना उनके लिए कोई असंभव कार्य न था—

"कामिनी करये सनाने ।
हेरत हृदय हनये पंच बाने ॥
चिकुर गरये जलधारा । जनि मुख ससि डर रोअए अंधारा ॥
कुच जुग चारु चकेवा । निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा ॥
ते संका भुज पासे । बांधि घएल उड़ि जायेत अकासे ॥"

इन पंक्तियों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो मूर्तिकार ने नायिका को भावभंगिमाओं सहित साकार कर दिया है । स्नान करती हुई बालाओं का चित्र खींचते हुए भी कवि ने जहाँ तक हो सका नग्नता और अश्लीलता को दूरी पर ही रखा है ।

नखशिख वर्णन में कवि ने सुदीर्घ परम्परा के अनुसार नारी के अंग-प्रत्यंग का सविस्तार चित्रण किया है । उसके केशों, मुख, नयन, ध्वनि, पीन, स्वस्थ स्वरूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि नायिका के अनुपम मुख सौन्दर्य से लज्जित होकर चन्द्रमा आकाशवासी हो गया, आँखों के भय से हिरण, ध्वनि के भय से कोयल और चाल के भय से हाथी ने बनवास ले लिया । उसके स्वस्थ माँसल उरोजों का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि—

"कुच जुग परसि चिकुर फुजि परसल ता अरु झायल हारा ।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल-चाँद बिहुन सब तारा ॥'

नायिका के केश उसके वक्षस्थल पर फैल गये हैं । ग्रीवा में हार पड़ा है जो केशों में इस प्रकार उलझ गया है मानो समस्त तारे चन्द्रमा की अनुपस्थिति में सुमेरु पर उदित हुए हों ।

प्रेमोन्मत्तता की दशा में नायिका की चेष्टाएं देखते ही बनती है—

'गेलि कामिनि गजहु गामिनि विहसि पलटि निहारि ।
इन्द्रजालक कुसुम सायक कुहकि भेलि वर नारि ॥"

अचानक मार्ग में ही प्रिय के मिल जाने पर मुग्धा बाला की दशा द्रष्टव्य है ।[1]

एक दूती राधिका को देखकर 'खितितल लावनि सार' के रूप का वर्णन जब

---

१. आध वदन ससि विहंस देखा ओलि,
आध पीहलि निअ बाहु ।
किछु एक भाग बलाहक झांपल,
किछुक गरासल राहू ॥ पदावली—पद ४१

कृष्ण से करती हुई कहती है कि—

"ए कान्हु ए कान्हु तोर दोहाई
अति अपूरव देखल साई।"

तो इस 'अपूरव' का प्रभाव ही कृष्ण के ऊपर अपूर्व ही पड़ा—"एव सुनि कान्हु कयल गमने।"

कवि ने मानव-सौंदर्य के साथ प्रकृति-सौंदर्य का भी चित्रण किया है। इसलिए कहा जाता है कि कवि जड़ और चेतन के गर्भ में छिपे सौन्दर्य का उद्घाटन करने में निरन्तर प्रवृत रहा है। लोभी पुरुषों के लिए मानवीय अतृप्ति का संकेत करते हुए कवि लिखता है—

'जनम अवधि हम रुप निहारल
नयन न तिरपति भेल।

राधा और कृष्ण के इस रूप की यही विशेपता रही है कि उनके स्वरूप को देखते हुए मनुष्य थकता नहीं वल्कि विद्यापति कृष्ण या राधा के सौंदर्य को अनिर्वचनीय कहकर अन्य कवियों की भाँति कल्पना में थकते नहीं, रूप पर वलि-वलि नहीं जाते, वल्कि इस सौन्दर्य को नाना-रूपों में निरखते रहने की इच्छा से ही उसकी अर्चना किया करते हैं।

इस नखशिख-वर्णन में विद्यापति का कवि कला के लिए ही काव्य का सृजन करता है। कवि सौन्दर्यानुभूति पर अधिक वल देते हुए अपने काव्य में स्थूलता, मांसलता के रमणीय रूप की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करता है। कभी वह नायिका के केशों को चंवरि गाय के वालों से वढ़कर वताता है और कभी उन्हें राहु की संज्ञा देता है। उन्हें नायिका की चोटी भुजंगिनी के समान लहराती दिखायी देती है—

'कामिनि करए सनाने।
हेरितहि हृदय हनए पंचवाने
चिकुर गरए जल धारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अंधारा।"[1]

विद्यापति ने नायिका की मांग की उपमा वन्धूक पुष्प से दी है। भौंहों के लिए उन्होंने सर्पिणी को उपमान वनाया है जिसके क्रोड़ में खंजन पक्षी स्वरूप नेत्र

१. विद्यापति-पदावली—२३

अपने सौन्दर्य सहित क्रीड़ा कर रहे हैं। कामिनी के नेत्र बड़े बांके हैं जो तरुण पुरुष को सहज ही आकर्षित कर लेते हैं। एक नायिका के अंजन-रहित नेत्र ऐसे दिखायी पड़ते हैं जैसे कमल के पत्ते पर सिंदूर लगा दिया गया हो—

'नीर निरंजन लोचन राता।
सिन्दुर मंडित जनि पंकज पाता।[1]

उन्होंने भुज की उपमा कमलनाल से दी है जो हमारे देश की परम्परा के अनुकूल है। नायिका के उन्नत कुचों का वर्णन कवि ने वड़ी ही तन्मयता के साथ किया जान पड़ता है।[2] रोमावली का वर्णन भी दर्शनीय है।[3] नायिका की कटि क्षीणता की खानि है, वह क्षीणता अदृश्य हो जाना चाहती है, अतएव त्रिवली ने उसे अपने लपेटे में कर लिया है—कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा है।[4]

---

१. विद्यापति-पदावली—पद; २५. ८

२. "कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल ता अरुझाइल हारा।
जनु सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चांद बिहुन सब तारा।।" — वही; ११.६

....

'गिरवर गरुअ पयोधर-परसित गिम गज मोतिक हारा।
काम कंबु भरि कनक-संभु परि ढारत सुरसरि धारा।।' —वही; १८. ६

....

"पहिल बदरि कुच पुन नवरंग।
दिन दिन वाढ्य पिड़ए अनंग।।" — वहीं; ८.२

....

"कुच जुग-चारु चकेवा" —वही; २३

३. "नाभि विवर सयं लोम-लतावलि,
भुजगि निसास—पियासा।
नासा-खगपति-चंचु भरम – भय,
कुच – गिरि संधि निवासा।।" —वही; १५.६

४. "गुरु नितंब भरे चलए न पारए,
मांझ खानि खीनि निमाई।
भागि जाइत मनसिज धरि राखलि

विद्यापति ने रमणी के सम्पूर्ण शरीर के वर्णन में भी बहुत-सी अनूठी उक्तियाँ कही हैं—एक स्थान पर कवि कहता है कि पवन-स्पर्श के कारण अंचल के खिसक जाने से मैंने (उस) नायिका का शरीर देख लिया, जान पड़ता है, मानो जल से भरी हुई नवीन मेघमाला के नीचे कोई बिजली की रेखा संचरण कर रही हो; अथवा उसका शरीर ऐसा जान पड़ता है मानो सोने की कोई लता पृथ्वी पर बिना किसी सहारे के विचरण कर रही हो।[1] कुछ स्थानों पर व्यतिरेक द्वारा भी नायिका के अंगों का रूप चित्रण किया है। वेणी से भयभीत हो चामर (गील गाय की पूँछ) गिरि कन्दराओं में, मुख से डर कर चाँद आकाश में, नयनों के भय से मृग, स्वर से भयभीत हो कोयल, चाल के भय से हाथी वन में जा छिपे।[2]

नायिका-भेद—विद्यापति प्रेम के गीतिकार हैं और उन पर जयदेव और ज्योतिरीश्वर का गहरा प्रभाव है। कवि के सम्मुख संस्कृत के मुक्तक शृंगार-काव्य तथा आलंकारिकों के ग्रन्थ भी थे ही, अतः उनके काव्य पर इन ग्रंथों का प्रभाव न पड़ना ही अस्वाभाविक होता। फलतः विद्यापति का प्रेम-काव्य रीति-संकेतों से रिक्त नहीं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—'हिन्दी में वास्तव में सबसे पहले कवि विद्यापति हैं जिनमें रीति-संकेत असंदिग्ध रूप से मिलते हैं। जिनमें रीतिकाल की ऐंद्रिक शृंगारिकता का तो अपार वैभव ही है। उसकी रीतियों का भी उनको अत्यन्त मोह था। विद्यापति के शृंगार चित्र सभी अलंकृत हैं और प्रायः उन सभी के पीछे नायिका-भेद का पृष्ठाधार स्पष्ट है'।[3]

अवस्था-नायिकाओं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जिका, विरहोत्कंठिता, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहांतरिता, प्रोषितभर्तृका, अभिसारिका, उपेक्षिता आदि के चित्र विद्यापति के कई पदों में बार-बार देखने को मिलते हैं। इनके अतिरिक्त स्वाधीनपतिका, वक्रोक्तिगर्विता, रूपगर्विता और सौभाग्यगर्विता एवं परकीया के अन्तर्गत

---

१. 'ससन-परस खुसु अम्बर रे, देखल घनि देह।
नव जलधर-तर संचर रे जनि बिजुरी रेह।
कनक-लता जनि संचर रे, महि निर अवलंव।।'—वही; पृ० ४१

२. कवरी भये चामरी गिरि-कन्दरे,
मुख भये चांद अकासे।
हरिनि नयन भये स्वर भये कोकिल,
गति भये गज वनवासे।

३. 'रीतिकाव्य की भूमिका'—डॉ० नगेन्द्र; पृ० १८७

गुप्ता, वृत्तसुरत गोपना, स्वयंदूती-निपुणा, लक्षिता आदि श्रेणियों की नायिकाओं के चित्र कवि ने कई पदों में प्रस्तुत किये हैं।

वस्तुतः विद्यापति के गीति पदों में प्रेम का चाहे जो भी प्रसंग हो, नायिका अपनी कुछ विशेषताएँ लिए हुए मिलती हैं। शास्त्रीय दृष्टि से उनकी नायिका चाहे जिस श्रेणी में रखी जाय, पर उसमें कुछ बातें सामान्यतः एक समान मिलेंगी—ये मुख्यत: हैं पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव, सरलता, वदलती स्थिति से समझौता, अपने 'कुलमन्ती' होने की चेतना, प्रेम की निश्छलता, कृत्रिम हाव-भाव की नातिशयता, सजह स्वाभाविक ग्रामीण अकृत्रिमता तथा मन के साथ शरीर की आवश्यकताओं के प्रति सजगता'।[1] शृंगार-विवेचन करते हुए नायिका के जितने भी प्रकार—जाति, प्रकृति, धर्म, वय, परिस्थिति—हैं उन सभी के उदाहरण विद्यापति के पदों में प्राप्त हो जाते हैं। 'लगता है विद्यापति की पुतलियों के सामने नारी जीवन का सम्पूर्ण चित्र अपने समस्त रंगों के साथ लटक रहा है। विद्यापति को नारी जीवन के हर पहलू, परिस्थिति, स्वभाव, मनोविज्ञान, वय प्रधान मानसिक और दैहिक परिवर्तन का यथार्थ ज्ञान है।[2]

विद्यापति ने अपने पदों में अधिकांशतः शृंगार के संयोग-पक्ष का ही वर्णन किया है क्योंकि उन्हें स्थूल जगत के प्रति विशेष आस्था होने से अन्तर्जगत की वृत्तियाँ कम सूझी हैं। उन्होंने 'सैकड़ों प्रकार के रूप देखे। रानियाँ-राजकुमारियों के, नर्तकियों के, ग्रामवालाओं के, सद्यःस्नाता नारियों के, किन्तु इस रूप ने उनके मन में एक ऐसे रूप-दर्शन की प्यास जगायी जो भोक्ता की तरह मांसल रूप के सम्पर्क से, तृप्ति-लाभ नहीं चाहता वलिक एक ऐसी नैसर्गिक पीड़ा को जन्म देता है जो कवि के मन को व्याकुल कर देती है।'[3] फिर भी उनका विरह दो प्रकार से निरूपित हुआ। प्रथम, उनकी नायिकाएँ अपनी पीड़ा स्वयं व्यक्त करती हैं और उस पीड़ा-वेदना-दुःख के कारण को भी वे प्रकट करती हैं। उनकी प्रेम-विकलता और विह्वलता हम तीक्ष्ण आवेग रूप में देखते हैं। दूसरे-विद्यापति ने स्वयं अथवा सखियों द्वारा नायिकाओं तथा राधा की वियोग-दशा का वर्णन किया है। अतएव वियोग-वर्णन के प्रसंग में श्री रामवृक्ष शर्मा वेनीपुरी का यह कथन उचित ही है कि 'विद्यापति का विरह-वर्णन

---

१. 'विद्यापति' : युग और साहित्य'—डॉ० अरविन्द नारायण सिन्हा; पृ० १३१
२. 'विद्यापति'—डॉ० जयनाथ 'नलिन'; पृ० २५३
३. 'विद्यापति—डॉ० शिवप्रताप सिंह; पृ० १४

प्रेमिका के हृदय की तस्वीर है, उसमें वेदना है, व्याकुलता है, प्रियतम के प्रति तल्लीनता है, कोरी हाय-हाय वहाँ है नहीं।'[१] उनकी विरहणी नायिकाओं में नववयस्क तरुणियाँ भी हैं और प्रौढ़ायें भी। प्रथम में प्रणय जन्य पीड़ा की कमी है और दूसरी में प्रणय की गंभीरता है।

विरह-वर्णन—विद्यापति ने लोकगीतों की ध्वनि में भी बड़ी कुशलता से किया है। राधिका कहती है हे सखी, मेरे प्रिय (कृष्ण) हृदय के इतने कठोर हैं कि वे आज भी नहीं आये—

'सखि मोर पिया
अबहु न आओल कुलिस हिया।'

डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने विद्यापति की राधा के चरित्र का वर्णन करते हुए लिखा है कि, 'मैं नहीं जानता कि दूसरे कवि ने अपनी नायिका को एक साथ इतना मांसल, इतनी विदग्ध, इतनी सरल, सुन्दर नारीत्वपूर्ण कामिनी, सारे विक्षोभकारी सौंदर्य उपकरणों की मूर्ति, इतने स्पष्ट हृदय वाली दूध की तरह स्वच्छ और स्वस्थ, पृथ्वी की गन्ध की तरह मुग्ध करने वाली, विद्युत की तरह चंचल, धरती की तरह क्षमाशील, ग्रामीणा की सी निश्छल और साथ ही कीर्ति की तरह आकर्षक, शुभ्राज्योति की तरह शांतिदायिनी, विरह पीड़ित शची की तरह पवित्र और पार्वती की तरह साधनारत बनाया होगा'।[२] कवि ने विरह की ग्यारह दशाओं—चिन्ता, अभिलाषा, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा और मरण—के उदाहरण भी अपने पदों में प्रस्तुत किये हैं।

मैथिल-कोकिल विद्यापति की रचनाओं के इस संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यापति प्रमुख रूप से सौन्दर्य और स्वच्छन्द प्रेम के कवि हैं। वे प्रेम को संसार की सार वस्तु मानते हुए भी उसे धर्म और मर्यादाओं से उच्च स्थान प्रदान करते हैं। उन्होंने प्रेम और विरह की विभिन्न अनुभूतियों को बड़े ही स्वाभाविक रूप में चित्रित किया है। उनकी नायिकाएँ प्रत्येक परिस्थिति में अपने प्रेम पर दृढ़ रहकर अपने साहस का परिचय देती हैं। उनके 'पदों में संगीत है, सौंदर्य है और एक ऐसा अद्भुत माधुर्य है जिससे सहसा आकृष्ट होकर हम उनके द्वारा व्यक्त किये गये भावों को हृदयंगम करते समय उन्हें बार-बार

---

१. 'विद्यापति पदावली'—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी; पृ० ४७
२. 'विद्यापति'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह; पृ० १४८

दुहराने व गुनगुनाने से लगते हैं' ।[1] विद्यापति ने जिस गीति-परम्परा का विकास किया वह १६ वीं शताब्दी के अन्त तक लोकप्रिय बनी रही—

निष्कर्ष

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि वैदिक-काल में नारी को समाज में आदरणीय एवं अत्युच्च स्थान प्राप्त था। तब उसकी शिक्षा-दीक्षा का, उसके मस्तिष्क तथा हृदय की समुन्नति का पूरा-पूरा अवकाश था और सामाजिक जीवन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का उसे पूर्ण अधिकार था। धार्मिक क्षेत्र में वह न केवल यज्ञोपवीत धारण करने की प्रत्युत् वेदाध्ययन करने तथा यज्ञयागादि में सम्मिलित होने की अधिकारिणी भी थी। लोपामुद्रा, गार्गी, मैत्रेयी प्रभृति अनेक मन्त्रद्रष्टा देवियाँ इसी काल की उपज हैं जिनके द्वारा विरचित सूक्त और उनमें निहित महान उदात्त भाव आज भी भारत की चिन्तनशील नारी की महिमा का चिरन्तन उद्घोष करते हैं। पौराणिक-काल में नारी का सामूहिक व्यक्तित्व यद्यपि पर्याप्त रूप से आकर्षक तथा भव्य बना रहा किन्तु फिर भी इस काल में उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की उन्मुक्त उड़ान पर प्रतिबन्धों का श्रीगणेश हो गया। नारी के कोमल पंखों में पुरुष के संरक्षण के कठोर कंकड़ बंधना प्रारम्भ हो गये। मनुस्मृति में जहाँ नारी-पूजा में देवता के निवास के दर्शन वाले सुभाषित हैं, वहीं कौमार्य में पिता, यौवन में भर्ता तथा 'स्थविरे' पुत्र की रक्षा की व्यवस्था की जाकर स्त्री-जाति को स्वतंत्रता के लिए अनर्ह घोषित कर दिया गया। अस्तु—नारी, जीवन की डगर पर अकेली यात्रा करने के अयोग्य मानी गई और उसके अबलापन की रक्षा के लिए पुरुष का संरक्षण अनिवार्य हो गया।

हिन्दी-साहित्य का शैशव-काल (आदि-युग) राजनीतिक संघर्षों, सामाजिक उथल-पुथल एवं धार्मिक क्रान्ति का काल रहा है। इस काल की अधिकाँश रचनाएँ राजा-महाराजाओं के जीवन-चरित्र तथा उनकी वीरता और प्रेम से सम्बन्धित हैं। इन आश्रयदाताओं के कवियों—चारणों ने अपने स्वामी के गुणों का वर्णन अतिरंजनापूर्वक किया है। साथ ही रीतिकालीन कवियों की भाँति इन्होंने भी अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने की दृष्टि से नायिका-भेद और नखशिख वर्णन किया है। उस समय के बहुत से ग्रन्थ इधर-उधर बिखरे पड़े हैं जिनकी खोज करने के लिए बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। इसी कारण आज भी 'आदि-युग' के अधिकाँश साहित्य को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।

---

१. मध्य-कालीन शृङ्गारिक प्रवृत्तियाँ तथा नव निबन्ध—पं० परशुराम चतुर्वेदी; पृ० ४८

हिन्दी का आदिकालीन-साहित्य सिद्ध, नाथ और जैन सम्प्रदायों तथा राजस्थान की वीरगाथाओं के रूप में ही उपलब्ध होता है। आठवीं शताब्दी में बौद्धधर्म में तांत्रिक क्रियाएँ प्रचुर रूप से प्रविष्ट हो गयीं थीं, परिणामतः निवृत्ति-परायण बौद्धधर्म भी प्रवल प्रवृत्तिपरक हो गया। भले ही तात्विक दृष्टि से ये तांत्रिक क्रियाएँ निर्वाण की साधक रहीं हों, किन्तु 'सरहपा' ने तो स्पष्ट शब्दों में परलोक प्राप्ति के लिए खाने, पीने और सुख से रमण करके जीवन-यापन की व्यवस्था दे दी और ऐंद्रिय भोग के लिए गुह्य साधना प्रारम्भ हो गयी। वाम मार्गी साधना का प्रभाव न केवल धार्मिक रचनाओं में ही अपितु साहित्यिक रचनाओं में भी दिखलाई पड़ने लगा। मद्यपान और डोमनी, रजकी के साथ रमण के उपदेश सिद्ध लोग करने लगे। सिद्धों के प्रभाव से तत्कालीन नारियाँ पारिवारिक, लौकिक तथा विधि-निषेध के अतिक्रमण को तत्पर हो उठीं। हीनयान अर्थात् छोटी गाड़ी वालों की अवहेलना करके महायान अर्थात् वड़ी सवारी वाले सबको निर्वाण पद दिलाने का दावा करने लगे।

कालान्तर में महायान के अन्तर्गत ही वज्रयान तथा सहजयान की शाखाएँ हो गयीं। नवीं तथा दसवीं शताब्दी में नेपाल में शैवों तथा बौद्धों के मिश्रित प्रभाव से नाथपन्थ का उदय हुआ। सिद्धों की साधना की 'महामुद्रा' के प्रभाव से विशुद्ध वासना के गर्त में ही परिणति हुई। अतएव नाथ-सम्प्रदाय में मन के विकारों को जीतकर 'अंजन' के भीतर 'निरंजन' की प्राप्ति का उपदेश किया गया और सिद्धों के संयमरहित जीवन के स्थान पर कठोर शुद्ध आचरण तथा ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की गयी। किन्तु कामिनी की माया वड़ी ही अद्भुत है। किंवदन्ती है कि स्वयं गुरु मत्स्येन्द्रनाथ किसी नारी के मोह में आसक्त हो गये थे तव स्वयं उनके शिष्य गोरखनाथजी ने जाकर उन्हें मोहनिन्द्रा से जगाया था।

आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक उत्तर-भारत में यत्र-तत्र किन्तु विशेषकर गुजरात और काठियावाड़ में जैनियों का भी प्रावल्य रहा। इन जैन-साधुओं ने भी कष्ट सहिष्णुता तथा सदाचारी एवं विरक्त-जीवन के उपदेश दिये। नारी-जाति को साधना-पथ की वाधा मानने के कारण उसे मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया। उसे केवल जाग्रतिक जीवन में पुरुष की सेविका बनकर सहयोग करने और जन्मान्तर में पुरुष-योनि प्राप्त करके साधना द्वारा निर्वाण की आकांक्षा रखने की ही व्यवस्था दी गयी।

हिन्दी-साहित्य के 'आदि-युग' में नारी का वह गौरवपूर्ण स्थान नहीं रहा जो उसे वैदिक-काल में सहज प्राप्त था। सिद्धों ने तो उसे वासना की मंजूषा ही बना डाला और नाथ तथा जैन सम्प्रदायों में भी नारी को मोक्ष अथवा निर्वाण-पथ की

बाधा मानकर सदैव उसे तिरस्कृत व बहिष्कृत किया गया। साधना का यही ढंग शाक्त (वामचारी) शैव तथा गाणपत्य सम्प्रदायों ने अपने अपने रूप में स्वीकार किया और इस प्रकार धार्मिक चेतना में पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ छा गयी। समाज का अन्तर्मन भी इन धार्मिक-विचारों के प्रति आकर्षित हुआ। नवोदित इस्लाम की भोगपरक-वृत्ति ने अतिरिक्त धक्का दिया। हजारों हिन्दुओं ने इस्लाम-धर्म को अंगीकार कर लिया। स्त्रियों में परदे की प्रथा प्रचलित हो गयी और बाल-विवाह की प्रथा ने भी इसी काल में जन्म लिया।

इस विचारधारा से तत्कालीन साहित्य कैसे अप्रभावित और अछूता बच सकता था? डिंगल-काव्य की चारण-गाथाओं में नारी केवल वीर-भोग्या रह गयी। इस काल में हमें वीररसपूर्ण, युद्ध-शौण्डता का अतिरंजित वर्णन ही कवियों की रचनाओं में मिलता है। इन कवियों की रचनायें विशेषकर प्रेम तथा सौन्दर्य के चित्रण संस्कृत के कवियों की रचनाओं से प्रभावित हैं और उनमें भी परम्परा मुक्त उपमानों का प्रयोग किया गया है। उन दिनों आक्रामक विदेशियों से किंवा पारस्परिक क्षत्रिय राजाओं के युद्धों में स्त्रियों की प्राप्ति ही एक मात्र उत्तेजना रह गयी। कभी-कभी तो सुन्दरियों की प्राप्ति में विवाह की वेदी रक्त-रंजित हो जाया करती थी। रुक्मिणी हरण तथा उषा-हरण की पौराणिक कथाओं की परिपाटी पर इस युग में नारी केवल रनिवास की शोभा-मात्र बनी। रसों में केवल शृंगार प्रमुख बन गया, भले ही वह वीररस का प्रेरक बना रहा। ये काव्य, साहित्य में 'रासो' के नाम से अभिहित एवम् प्रसिद्ध हुए। दलपति के 'खुमान रासो', नल्लासिंह के 'विजयपाल रासो' भट्ट केदार रचित 'जयचन्द्र प्रकाश', मधुकर प्रणीत 'जयमयंक जसचन्द्रिका', कवि नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' तथा जज्जल का 'हम्मीर रासो'[३] एवं हिन्दी-साहित्य के मनीषी आलोचकों द्वारा सर्वाधिक शोधित तथा विवादग्रस्त कवि चन्द्र बरदाई प्रणीत 'पृथ्वीराज रासो' सभी हमारी उक्ति व तर्कों के समर्थक हैं।

परिणामतः इस काल के साहित्य में शक्तिशाली पुरुष की निजी सम्पत्ति के रूप में नारी केवल भोग्या प्रेमिका अथवा वीरता का पुरस्कार मात्र बनी रही। नारी रनिवास में 'बारह बरस की गोरड़ी' बनकर पति को अधिकाधिक भोग-सुख किस प्रकार प्रदान करे—इसी चिन्ता में रत रही। नारी का माता-रूप किंवा युद्ध क्षेत्र अथवा सामाजिक-जीवन में पति की सहधर्मिणी, सहकर्मिणी का रूप इस काल में हमें देखने को नहीं मिलता। पति के रणभूमि में मारे जाने का वृतान्त सुनकर सहेलियों में रण को पीठ दिखाकर भगोडे पति की लज्जा से

व्याज से नारी के वीरत्व तथा विसर्जनत्व का परिचय भले ही यत्रतत्र मिलता हो, किन्तु अधिकांश में इस युग की नारी-भावना 'रति' के केन्द्र पर ही घूमती रही। जीवन और समाज के नानाविध क्षेत्रों में पुरुप से सहयोग करने अथवा अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की अभिव्यंजना का द्वार नारी के लिए प्रायः अवरुद्ध रहा। अपने दैहिक-रूप-सौन्दर्य द्वारा वह कर्तव्य-परायण पुरुप के पैर की शृंखला बनी रही और अध्यात्म-जगत में माया-स्वरूपा होकर नारी को 'सर्पिणी', 'बाघिनी' के विशेषणों द्वारा साहित्य की वाटिका में 'विप की वेलि' के रूप में चित्रित किया गया। भले ही हम इसे तत्कालीन परिस्थितियों का संकोच अथवा आग्रह कह लें किन्तु यह तो निर्विवाद ही है कि नारी-भावना का यह क्षेत्र अत्यन्त ही संकुचित तथा अशोभन था।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'आदि-युग' के धूमिल पट पर नारी एक उज्ज्वल आभा-सी प्रतीत होती है, ऐसी आभा जो अतीत के रंगमंच पर अभिनय की नायिका की भाँति युगानुसार अपने स्वरूप एवं मुद्राओं को बदलती हुई नारी के तत्कालीन स्वरूपों का चित्र प्रस्तुत करती है हम उसे अपलक नेत्रों से देखते ही रह जाते हैं जब अंधेरे वातावरण में मंच के एक कोने से भयभीत वालिका की भांति एक-एक पग संभाल-संभाल कर रखती हुई, वह सामने आती है। कभी तो वह सिद्धों की साधना में इंद्रिय-सुख से चिपकती हुई, कभी नाथ-सन्तों के इन्द्रिय-निग्रह से ठुकराई हुई तो कभी रासो-ग्रन्थों की गोद में खेलती, इठलाती, मुग्धा, मध्य और प्रौढ़ा नायिका की भूमिका प्रस्तुत करती हुई दिखलाई पड़ती है।

फिर बौद्ध-धर्म के ढहते हुए खंडहरों के बीच से वही बालिका सदाचार से मुख मोड़े, अभिचार का आश्रय लिये, धीरे-धीरे बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की विकृत अवस्था का चित्र खींचती हुई दर्शकों के सामने उपस्थित होती है। उसमें मद्य की मादकता, यौवन का उपभोग और भोग में निर्वाण के भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे थे। यही आठवीं सदी के सिद्धों द्वारा स्त्रियों को महामुद्रा बनाने का प्रथम दृश्य था।

दूसरे दृश्य में सिद्धों की महामुद्रा बनाने वाली वही नायिका इन्द्रिय-निग्रह, प्राण-साधना तथा मन-साधना में रोड़ा बनकर नाथ-पंथियों की ठोकरों से पग-पग पर टकराती, गिरती, उठती, संभलती, समाज की उपेक्षिता नारी का अभिनय करती है किन्तु देखते ही देखते कौल-सम्प्रदाय में वही निन्दनीय नारी मंदिर की देवी का रूप धारण कर पुनः वंदनीय बन जाती है।

हमारी पलकें गिरती हैं। दो दृश्यों की धूमिल स्मृति हीनयान से वज्रयान, वज्रयान से महायान और सहजयान की ओर प्रयाण करती हुई नारी की छाया

रासो-ग्रन्थों की गोद में उस बालिका की भाँति सो जाती है जो 'सन्देश-रासक' की विरहिणी नायिका, 'वीसलदेव-रासो' की राजमती, 'हम्मीर रासो' की रूप-विचित्रा तथा 'पृथ्वीराज-रासो की शशिव्रता, इञ्छिनी तथा संयोगिता के रूप में भूमिका प्रस्तुत करती है। जहाँ वह रासो-ग्रन्थों की प्रेमिका, विरहणी, वीरांगना एवं प्रेषित-पतिका की भूमिका में नारी के विविध गुणों की प्रेरणा की स्रोत है, वहीं वह विद्यापति की सौंदर्य लसित-नायिका की जीती-जागती प्रतिमा बन जाती है जिसके अंग-प्रत्यंग से सौन्दर्य की किरणें प्रस्फुटित होती हुई दीख पड़ती है।

इस युग में जहाँ हमें वीरों की गाथाएँ प्राप्त होती हैं, वहाँ खड़ी-बोली के प्रथम कवि अमीर खुसरो की मनोरंजक मुकरियाँ और पहेलियाँ भी पढ़ने को मिलती हैं। साथ ही जयदेव की कोमल-कान्त-पदावली को अपनाकर विद्यापति ने संगीत को अपनी अभिव्यंजना का आधार बनाकर मुक्तक काव्य की परम्परा प्रारम्भ की। इसे परवर्ती कृष्ण भक्त कवियों विशेषकर सूरदास और अष्ट छाप के कवियों और रीति-कालीन शृंगारी कवियों ने आदर्श मानकर राधाकृष्ण के यौवन-विलासी और शृंगारी रूप और प्रेम का विस्तृत निरूपण अपनी रचनाओं में किया है।





पुष्प चतुर्थ

(निर्गुण-काव्यधारा के सन्तों एवं सूफी-कवियों का नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण)

तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ

(क) ज्ञानाश्रयी-काव्यधारा—

1. सन्त-काव्य की पृष्ठभूमि,
2. संत एवं नारी,
3. महात्मा कबीर और उनके समकालीन अन्य सन्त-कवियों के नारी-सम्बन्धी विचार,
4. निष्कर्ष.

(ख) प्रेमाश्रयी-काव्यधारा—

1. हिन्दी सूफ़ी-काव्य,
2. प्रेम-गाथाओं की परम्परा
3. सूफी प्रेम और जीवन-दर्शन,
4. मलिक मोहम्मद जायसी और अन्य सूफी-सन्तों की नारी,
5. निष्कर्ष.



पुष्प : चतुर्थ

निर्गुण-भक्ति की काव्यधारा में नारी

साहित्य और जीवन का सदा से शाश्वत सम्बन्ध रहा है, अतएव किसी भी देश के सामाजिक संगठन, राजनैतिक व्यवस्था और धार्मिक परिस्थिति की प्रतिच्छाया उसके साहित्य पर पड़े बिना नहीं रहती। यह भी सत्य है कि किसी युग-विशेष का साहित्य उस युग के सामाजिक, सांस्कृतिक-जीवन, राजनीतिक परिस्थितियों एवं धार्मिक वातावरण की ही उपज है। हिन्दी-साहित्य का भक्ति-काव्य भी अपने युग की विभिन्न परिस्थितियों का ही प्रतिफलन है। अतएव इस युग के साहित्यकारों की कृतियों का सम्यक अध्ययन करने हेतु तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन-मनन परमावश्यक है।

ईसा की १६ वीं शताब्दी में प्रत्येक सभ्यदेश, जीवन की एक नवीन धड़कन का अनुभव कर रहा था, भौतिक-जगत में नयी-नयी व्यवस्थाएँ बन रही थीं, फलतः शक्तिशाली राष्ट्रों और वंशों का प्रादुर्भाव हुआ। भारत में भी मुगलों का उत्थान हुआ और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नये-नये परिवर्तन हुए। धर्म, कला-कौशल एवं साहित्य आदि के क्षेत्रों में विशेष उन्नति हुई। धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध धर्म-संबंधी उदार और व्यापक भावना का जन्म हुआ। इंग्लैंड में रोमन-कैथोलिक धर्म के स्थान पर नवीन धर्म प्रोटेस्टेंट का प्रारम्भ हुआ। भारतवर्ष में सन्त-मत, सूफी-मत, तत्पश्चात् वैष्णव-धर्म का विशेष प्रचार और प्रसार हुआ। इन नये धर्मों के प्रचार से सैकड़ों वर्षों से चली आई अन्ध-परम्परा का विरोध हुआ और लोगों में जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण देखने को मिला। अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों के प्रति लोग उदार हुए और उनकी मानसिक संकीर्णता कुछ दूर हो चली। दलितों को समाज से अलग प्राणी समझने की भावना में परिवर्तन हुआ और सर्वसाधारण लोगों की भाँति उनको भी मानवता की दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया। 'भक्ति-मार्ग के पूर्व आचार्यों की अनुदारता के कारण अस्पृश्य जातियों को जो परमेश्वर की आराधना से वंचित किया गया था, रामानन्द के प्रभाव से साधु और संतों का एक नया ही दल देश में दिखायी पड़ा। इन्होंने अन्त्यज जातियों में अपूर्व आशा और उत्साह

की तरंगें लहराई और धर्म के मर्म को खोलकर सामने रखा तो उपासना में अन्त्यजों को भी स्थान मिला'।[1]

वास्तव में इस युग में शिल्प, वास्तु, चित्र, काव्य आदि अनेक कलाओं का अभ्युदय हुआ। यूरोप, भारतवर्ष और अन्य पूर्वी देशों में इन कलाओं को प्रश्रय मिला। इन देशों में शासकों के दरवारों में उच्च कोटि के कवि, लेखक और विद्वानों को सम्मान तथा प्रतिष्ठा का स्थान मिला। इंग्लैंड में शेक्सपियर, भारत में सूरदास एवं तुलसीदास, ईरान में मुमतशाम आदि महाकवि हुए। इन कवियों ने उस परिस्थिति में अपनी काव्य-प्रतिभा का विशेष परिचय दिया, जो आज भी कवि-वर्ग के लिए अनुकरणीय है। मानसिक शक्तियों एवं भावों की अभिव्यक्ति का विशद् रूप उन महाकवियों की रचनाओं में प्राप्त हुआ। यूनान और रोम की संस्कृति की नींव पर मध्ययुगीन यूरोप की कला, साहित्य और दर्शन की भीति खड़ी की गयी।

सामाजिक-स्थिति— समाज का सम्बन्ध एक ओर तो राजनीति से है, दूसरी ओर धर्म से। जब राजनीतिक परिस्थितियाँ अव्यवस्थित होती हैं, तो समाज के आचरण और व्यवहार में भी उच्छृङ्खलता आ जाती है। प्राण और धन-हानि की आशंका सिर के ऊपर झूलती हुई तलवार की भाँति जिस समाज के ऊपर हो, उसकी आचरण-प्रवणता कैसे सुरक्षित रह सकती है' ?[2]

आलोच्य-काल में हिन्दुओं पर मुस्लिम शासन द्वारा कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। उन्हें मुसलमानों की अपेक्षा कम सामाजिक अधिकार प्राप्त थे और सामाजिक रीति-नीति आदि के व्यवहार की भी उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी। 'हिन्दुओं का जान-माल सब अनिश्चित अवस्था में था, उनके साथ यवन शासकों की बिल्कुल सहानुभूति न थी'।[3] फिर भी हिन्दुओं में विलासता की कमी नहीं हो पायी थी जैसा कि इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि 'इन मुसलमान शासकों के समय में विलासता की वृद्धि हुई और मुसलमान तथा हिन्दू दोनों ही नैतिक दृष्टि से अधःपतित होने लगे। मदिरा का प्रचार व्यापक रूप में हो रहा था और बड़ी-बड़ी बुराइयाँ शीघ्रता से फैल रही थीं'।[4] बड़े घरानों की स्त्रियों में आभूषण और बनाव-शृङ्गार का पर्याप्त

---

१. 'हिन्दी-साहित्य'—डॉ० श्यामसुन्दर दास; पृ० ४२

१. 'हिन्दी-साहित्य'—द्वितीय खंड–सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० १६६

२. 'हिन्दी-साहित्य'—डॉ० श्यामसुन्दर दास; पृ० ३६

३. वही; पृ० ३५

प्रचलन था। मुखों पर केशर मिश्रित अंगराग और शरीर पर ठंडक के लिए केशर मिले हुए उवटन का प्रयोग होता था। हाथों में कंगन, गले में बड़े-बड़े मोतियों के हार और कानों में जवाहिरात पिरोई हुई बालियाँ, बालों और कानों की शोभा के लिए चम्पा की सुनहरी सुगंधित कलियाँ पहनी जाती थीं। वर्ण-व्यवस्था विश्रृङ्खल रूप में थी। ब्राह्मण समाज भी अपने स्तर से नीचे गिर रहा था। राजपूतों में भी वंश विभाजन हो गया था और वे केवल अपने वंश की प्रतिष्ठा और मानरक्षा में संकुचित विचारधारा के अनुगामी हो गये थे। अछूत सबसे निम्न कोटि के व्यक्ति समझे जाते थे। इस प्रकार हिन्दू समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—और तीन वर्गों धनिक, पंडित और साधारण जन-में विभाजित था।

इस युग की मुगलकालीन सामाजिक व्यवस्था का परिचय हमें सम्राट अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल का विवरण पढ़ने से प्राप्त होता है। वेनिस के यूरोपियन यात्री मनुविक ने मुगल बादशाहों के राजमहलों के जीवन पर बड़ा ही विस्तृत प्रकाश डाला है। उसके वर्णन से ज्ञात होता है कि इन बादशाहों के राजमहलों में लगभग दो हजार बेगमें, राजकुमारियाँ तथा रखैलियाँ थीं। इन राजमहलों में अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ होती रहती थीं और धार्मिक और नैतिक पुस्तकों के स्थान पर गुलिस्ताँ, बोस्ताँ और कामशास्त्र की पुस्तकें दिन-रात पढ़ी और सुनीं जाती थीं। विशेषकर अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का कला-प्रेम, शिल्प-कला, चित्रकला, संगीत सौन्दर्य-वैभव और विलास की अनेक बातें आज भी लोगों द्वारा बड़ी रुचि और प्रेम से पढ़ी सुनी जाती हैं। मुस्लिम स्त्रियों में भी नूरजहाँ, चाँदबीबी और रजिया बेगम बड़ी सुप्रसिद्ध वीर-नारियाँ हुई हैं। फारस के एक व्यापारी की पुत्री नूरजहाँ अपनी प्रत्युत्पन्नमति के कारण, अहमदनगर के हुसैनशाह की पुत्री चाँदबीबी अपनी वीरता के कारण और रजिया बेगम अपने कुशल शासन-प्रबन्ध के कारण प्रसिद्ध हुई। इस युग में पर्दे की प्रथा और छुआछूत की भावना पहले की भाँति चल रही थी तथा समाज में नैतिकता के मान (Standard) उपेक्ष-णीय हो रहे थे। नारी को भी सम्पत्ति के रूप में तथा भोग की सामग्री माना जाता था समाज में पर्दे और बालविवाह की प्रथा थी।

अमीर खुसरो ने तत्कालीन परिस्थिति का बड़ा ही चित्ताकर्षक चित्र खींचा है। जहाँ वह एक ओर उदारतापूर्ण अतिथि-सेवा, सजावट और सौंदर्य एवं ललित-कलाओं के प्रति अभिरुचि तथा विद्वानों और कलाविदों के आदर-मान का वर्णन करता है, वहीं दूसरी ओर उसने पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, अत्यन्त कठोर दण्ड-विधान,

सिंहासन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में विश्वास का अभाव, विषय-विलासता, मद्य-पान, भोग-विलास आदि के भी वर्णन किये हैं। अकबर के पश्चात् हिन्दुओं की और भी दयनीय दशा हो गयी। मुसलमान अपनी सत्ता के साथ धर्म पर भी हाथ बढ़ाने लगे। हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति न थी। इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं था। वे भक्तिमय हो गये। वीरगाथा-काल की रसमयी प्रवृत्ति धीरे-धीरे शांत और शृंगार-रस में परिणत होने लगी। धार्मिक विचारों में परिवर्तन होने का सूत्रपात एक ऐसे रूप में प्रारम्भ हुआ जिसने हमारे साहित्य में एक नवीन धारा की ही सृष्टि कर दी। यह नवीन धारा सन्त-काव्य के रूप में प्रवाहित हुई।[1] १३ वीं से लेकर १८वीं शताब्दी तक कई निर्गुण सन्त कवियों का आविर्भाव हुआ।

राजनीतिक परिस्थति—सन्त-साहित्य के निर्माण में राजनीतिक परिस्थितियों का भी विशेष योगदान रहा है। 'उत्तर-भारत में सन्त-सम्प्रदाय का आविर्भाव काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी है। उस समय उत्तरी भारत राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त अव्यवस्थित था। सन् १३९८ में तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की नीवें हिला दी थीं और समस्त राजनीतिक मान्यताएँ पंक के जल की भाँति मलीन हो गयी थीं। जो राजवंश दिल्ली में उठे, वे वर्षा-काल के बादलों की भाँति उठे, घुमड़े, गरजे और पानी-पानी होकर भूमि पर गिर पड़े। उनके कुछ काल तक घुमड़ने और गरजने में ही सारी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ अस्त-व्यस्त हुई और उनके रूपों में परिवर्तन हुए'।[2]

मुस्लिम-आक्रमण से पूर्व का समय घोर अशान्ति का काल था। हिन्दू-शासकों ने मुसलमानों की दिन-प्रति-दिन बढ़ रही शक्ति को रोकने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वे सफल न हो सके। मुहम्मद गौरी के आक्रमण के पश्चात भारत में मुस्लिम राज्य की नीव दृढ़ होती गयी। मुहम्मद गौरी के उपरान्त गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी राजवंशों ने कई सौ वर्षों तक शासन किया। अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल में चित्तौड़ पर जो चढ़ाइयाँ हुई, वे केवल अतुल सुन्दरी पद्मिनी की प्राप्ति के लिए ही हुई। अकबर का सुसंगठित शासन-काल ही साहित्य, कला-कौशल तथा धार्मिक समन्वय की दृष्टि से सुव्यवस्थित शासन का समय कहा जा सकता है।

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ० १९२-९३

२. 'हिन्दी-साहित्य'—द्वितीय खण्ड—सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा ; पृ० १९५-९६

अकबर की उदार नीति में दया, प्रेम और शान्ति काम कर रही थी । उसने 'दीन-इलाही' धर्म द्वारा सभी धर्मों के समन्वय करने का भी प्रयास किया ।

अकबर के शासन-काल के पश्चात जहाँगीर के शासन-काल में सम्राज्ञी नूरजहाँ ही शासन की समस्त बागडोर अपने हाथ में रखती थी और जहाँगीर तो केवल नाममात्र का शासक था । इस प्रकार अकबर के शासन-काल में राजीनीति में दृढ़ता आयी । आगे चलकर हम देखते हैं कि राजनीति में अनेक महिलाओं ने सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया । जीजाबाई इस युग की एक कुशल राजनीतिज्ञा और सफल शासिका थी । शिवाजी के पुत्र राजाराम की पत्नी ताराबाई ने राजनीति तथा युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया । गोड़वाना की स्वामिनी रानी दुर्गावती ने जननी जन्मभूमि के लिए जो आत्मोत्सर्ग किया, वह भारतीय इतिहास की एक चिरस्मरणीय घटना है । इसी प्रकार मेवाड़ की वीरांगना रानी कर्णवती और इन्दौर की महारानी अहिल्याबाई का शासनकाल और प्रबन्ध अन्य शासकों के लिए उदाहरण की वस्तु है ।

हिन्दी का आदियुग घोर अशान्ति का युग था । इस काल की राजनीतिक-स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था । हिन्दुओं के प्रयत्न करने पर भी मुसलमानों की बढ़ती हुई सत्ता को भारत में आने से न रोका जा सका । मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने हिन्दुओं के हृदय में भय की भावना उत्पन्न कर दी । वे लूट कर चले ही नहीं गये, बल्कि सत्ता और धर्म दोनों पर अधिकार समझने लगे ।[1]

"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया । उसके सामने ही उनके सामने ही उनके देव-मंदिर गिराये जाते थे, देव-मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य-पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे । ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे ही गा सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे । आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये । इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू-जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही । अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?[2] इसी कारण सन्त कवियों को अज्ञान रूपी अंधकार में भटक

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डा० रामकुमार वर्मा; पृ० १६२
२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ; पृ० ६२

रही जनता को ज्ञान ज्योति का प्रकाश देना आवश्यक जान पड़ा। उन्होंने धन और तृष्णा के त्याग, सन्तोष और ईश्वराधन पर विशेष बल दिया।

यद्यपि निरन्तर वाहरी आक्रमणों, समय-समय पर पड़ने वाले अकाल (तुलगक वंश में दो भारी अकाल पड़े) और मुस्लिम शासकों के अन्याय और पक्षपातपूर्ण शासन ने देश की आर्थिक स्थिति को अत्यन्त ही शोचनीय वना दिया था, तथापि राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन आने पर देश की सामान्य जीवन पर भी प्रभाव पड़ा और जन-जीवन की सुख-समृद्धि में भी परिवर्तन हुआ। देश ने युद्धों से छुटकारा पाया और शाँति तथा चैन का साम्राज्य विस्तृत हुआ।

सांस्कृतिक चेतना—समाज और संस्कृति का सदैव ही घनिष्ठ सम्वन्ध रहा है और संस्कृति जन-जीवन का परिष्कार करती है। इन दिनों हमारे देश में यद्यपि दो संस्कृतियाँ-हिन्दी-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति-समाज के परिष्कार का कार्य कर रही थी किन्तु आपसी फूट और वैमनस्य के कारण हिन्दू-संस्कृति में शिथिलता आ गयी थीं। राजनीतिक स्थितियों में उथल-पुथल होने के पश्चात देश की साँस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप पर्याप्त परिवर्तन हुए। यद्यपि अव तक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक-दूसरे के साथ रहने की स्थिति में आ गये थे, तथापि दोनों ही अंध-विश्वासों में पर्याप्त श्रद्धा रखने वाले थे। नैतिक दृष्टि से उनका काफी पतन हो चुका था। मुसलमान विजेता के रूप में यहाँ आये थे, इसीलिए हिन्दू जनता उन्हें तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखती थी किन्तु धीरे-धीरे इस विचारधारा में भी परिवर्तन आया। कुछ विचारकों ने सामाजिक शान्ति एवं सुख के लिए आवश्यक समझा कि हिन्दू और मुसलमान का भेदभाव मिटाया जाये। फलतः दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आईं। 'मुसलमानों ने हिन्दुओं को अपनी संस्कृति से दीक्षित करने का भी प्रयास किया।..............हिन्दुओं का राम और मुसलमानों का रहीम उसी प्रयास का प्रतीक है।[१]

धार्मिक-स्थिति—राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों के साथ-साथ देश की तत्कालीन धार्मिक स्थिति पर भी विचार करना आवश्यक है क्योंकि समाज, धर्म और साहित्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। हिन्दी का भक्ति-साहित्य तो एक ऐसा साहित्य है जिसपर धर्म का सवसे अधिक प्रभाव है। इस युग में मूर्ति-पूजक और मूर्ति-भंजकके संघर्ष चल रहे थे। धार्मिक क्षेत्र दक्षिण की भक्ति-भावना से अधिक प्रभावित

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'–डा० रामकुमार वर्मा; पृ० १६३

हुआ। इससे दो रूपों में आत्म-प्रकाश किया। पौराणिक अवतारों को केन्द्र करके सगुण उपासना के रूप में और निर्गुण-परब्रह्म जो योगियों का ध्येय था, उसे केन्द्र करके निर्गुण प्रेम-भक्ति की साधना के रूप में। पहली साधना ने हिन्दू-जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींच कर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का मार्ग अपनाया, दूसरी ने विद्रोह का, एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एक ने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को, एक ने सगुण भगवान को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था; सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनों को सम्मत नहीं थे, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को अभीष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी; बिना शर्त के भगवान के प्रति आत्म-समर्पण दोनों के प्रिय साधन थे'।[1]

श्री रामानुजाचार्य अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करने हेतु उत्तर-भारत में आये और उनके शिष्य रामानन्दजी ने काशी में रामभक्ति का तथा चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में और श्री वल्लभाचार्य ने व्रज में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। नाथों के सहज योग, वैष्णवों की सरसता, शंकर के मायावाद, सूफियों के प्रेमवाद आदि के मिश्रित प्रभाव का उद्धार किया। फिर मुसलमानों के भारत में आ बसने से परिस्थिति में बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया। हिन्दू जनता का नैराश्य दूर करने के लिए भक्ति का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों विरोधी जातियों को एक करने की आवश्यकता का भी अनुभव किया। इस अनुभव के मूल में एक ऐसे सामान्य भक्ति-मार्ग का विकास गर्भित था जिसमें परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन हो सकता और जिसका मूलाधार भारतीय ब्रह्मवाद तथा मुसलमानी खुदावाद की स्थूल समानता हुई। भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद के सूक्ष्म भेद की ओर ध्यान नहीं दिया गया और दोनों के एक विचित्र मिश्रण रूप में निर्गुण-भक्ति मार्ग चल पड़ा'।[2]

युद्ध के समय कवियों का वीरगाथाएं लिखना स्वाभाविक ही था किन्तु शांति के समय एक भिन्न प्रकार के काव्य की आवश्यकता थी। मुसलमान लोग युद्ध से थक चुके थे—वे अपने राज्य की नींव दृढ़ बनाने के लिए शान्ति और भारतीय जनता से निकट सम्पर्क स्थापित करना चाहते थे। हिन्दू भी चाहते थे कि उनका

---

१. 'कबीर'—डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ; पृ॰ १७५

२. 'कबीर-ग्रंथावली'—डॉ॰ श्यामसुन्दर दास ; पृ॰ १३

धर्म ऐसे रूप में हो कि मुसलमान उसका खंडन न कर सकें। अतएव तत्कालीन जनता में दोनों ओर से मिलन की प्रवृत्ति चल रही थी। कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो अपना स्वत्व और धार्मिक व्यक्तित्व अलग रखते हुए भक्ति द्वारा निर्जीव हिन्दू-जनता में एक नवीन जीवन का संचार करना चाहते थे। उनका कहना था कि अविद्या या ईश्वर विमुखता ही जीव के दुख का कारण है। वे सगुण ब्रह्म के उपासक थे। वे सगुण भक्ति को ही विश्व के लिए कल्याणकारी समझते थे।[1]

भारत में मुसलमानी राज्य स्थापित होने के पूर्व धार्मिक आन्दोलन दो वर्गों में बँटा हुआ था। एक था नाथ-पंथियों और वज्रयानी सिद्धों से प्रभावित नीची जातियों का जनसमूह और दूसरा था वैष्णव-धर्म से प्रभावित ऊँची जातियों का वर्ग। वैष्णव-धारा भक्तिकाल की सर्वप्रमुख धारा है। इसका विचार अचानक बिजली की तरह भारत में नहीं हुआ। यह भारतीय चिन्तनधारा का स्वाभाविक विकास था। यद्यपि लोगों को इस विकास पर आश्चर्य अवश्य हुआ, जैसा कि डॉ० ग्रियर्सन ने व्यक्त किया है—'हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्ध-धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है। यहाँ तक वि वह बौद्धधर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युग में धर्म-ज्ञान का नहीं, बल्कि भावावेश का विषय हो गया था'।[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्ट किया था कि मुसलमानों के आतंक से भयभीत, शक्तिहीन, आश्रयहीन, निराश जनता के सामने अपने धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त और दूसरा उपाय ही क्या था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी बतलाते हैं कि 'जो लोग इस युग के वास्तविक विकास को नहीं सोचते, उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया ?' स्वयं डॉ० ग्रियर्सन ने ही लिखा है कि 'बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त (धार्मिक मतों के) अंधकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी। कोई हिन्दू नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता'। इस प्रकार वैष्णव-धर्म का विकास भारत में अचानक किसी दबाव अथवा बिजली की चमक की भाँति नहीं हुआ, बल्कि उसके लिए सैकड़ों वर्षों से मेघखंड एकत्रित हो

---

१. 'शंकरदेव' तथा वैष्णव-धर्म'—हरमोहन दास; पृ० १०७
२. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० ४५

रहे थे। विचारणीय रह जाता है कि वे मेघखंड कब से और कैसे एकत्र होते रहे और उनका अचानक वरस पड़ना कैसे संभव हुआ ?

वैष्णव-धर्म के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में सन्त-साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'वैष्णव-धर्म' में पर्याप्त प्रकाश डाला है। वेदों में विष्णु और उनके अवतारों की बहुत थोड़ी चर्चा मिलती है। ऋग्वेद में विष्णु भगवान के वैभव का वर्णन है।[1] पुराणों में विष्णु की उपासना भक्ति का विशेष विकास हुआ। विष्णु-पुराण तथा श्रीमद्‌भागवत-पुराण में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ और विष्णु को 'सर्वशक्तिमयो विष्णुः' माना गया।[2] इन्हीं सर्वशक्तिमान विष्णु की उपासना धीरे-धीरे विकसित होकर भक्ति-धर्म में परिवर्तित हो गयी।

ब्राह्मण ग्रन्थों में त्रिविध निषेधात्मक कर्मकाण्ड का विधान है। उपनिषद् ग्रन्थों में तत्त्वचिन्तन का प्राधान्य है। वैष्णव-भक्ति का आधार वेदान्त-दर्शन है। वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है—वेदों का अन्त। वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद हैं। इनकी व्याख्याओं से आगे चलकर अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। वादरायण-कृत वेदान्त सूत्रों की व्याख्या अनेक प्रकार से आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार करके अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया। इन आचार्यों में शंकर और रामानुज को प्रमुख स्थान दिया जाता है। अद्वैतवाद के प्रवर्तक शंकराचार्यजी थे। शंकर का अद्वैतवाद वौद्धिक होने के कारण (उसमें स्थूल उपासना के लिए अवकाश न होने के कारण) केवल विशिष्ट चिन्तन समर्थ व्यक्तियों को ही सन्तोष प्रदान कर सका, लोक-धर्म की तरह व्यापक लोकप्रियता उसे न प्राप्त हो सकी। फलतः रामानुज, मध्व, निम्वार्क और विष्णु-दर्शन का सूत्रपात हुआ। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत—ये चारों सिद्धान्त कुछ अंशों में आधारभूत अद्वैत से मिलते हैं और कुछ अंशों में नहीं। किन्तु एक बात में सभी समान हैं, वह यह है कि ईश्वर निर्गुण भी है और कुछ सगुण भी सगुण रूप में ईश्वर अवतार धारण करता है और भक्ति तथा प्रेम का आलम्वन बनता है।[3]

जिस भक्ति-धर्म में एक विस्तृत जन-आन्दोलन का रूप धारण किया, वह भगवद्‌गीता का ज्ञान कर्म समन्वित भक्तियोग न था। वह नारद भक्ति-सूत्र तथा भागवत का विशुद्ध भक्ति-मार्ग था। इस विशुद्ध भक्ति-भावना का वास्तविक स्वरूप जिसने

---

१. ऋग्वेद; १, २२, १६-२१

२. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ० २०५

३. 'वैष्णव भक्ति का विकास और हिन्दी भक्त-कवि'–अवन्तिका (काव्यालोचनाङ्क)

सर्वप्रथम साधारण जनता को आकृष्ट किया, वह था आलवारवादियों का मधुर गान। तामिल प्राँत के इन वैष्णव गायकों की संख्या लगभग बारह थी। पायगेर, भूतातु, पेयार, तिरुमलि, साथी, शठकोप (नाम आलवार), कुलशेखर, पेरियर, अन्दल (एक महिला), तोंदरि पोधि, तिरुप्पनर और तिरुमंगाई। इन्हीं आलवारों के मधुर संगीत में भक्ति-भावना का विशुद्ध रूप प्रस्फुटित हुआ जिसने आगे चलकर शास्त्रज्ञ, विद्वानों तथा मनीषियों को भी आकृष्ट किया।

श्रीरामानुजाचार्य ने जन-समाज की सारी धार्मिक मान्यताओं को ग्रहण कर वैष्णव-धर्म का रूप व्यापक करने का प्रयत्न किया। उनके समय में धार्मिक क्षेत्रों में उच्छृङ्खलता फैली हुई थी। दार्शनिकों में शंकर के मायावाद का प्रचार था। शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना होती थी। मायावाद की आड़ में नाथ-सम्प्रदाय का योग-मार्ग प्रचार पा रहा था। पूर्व में वाममार्गी स्त्री-उपासक सहज मत का जन्म हो चुका था। त्रिपुर-सुन्दरी की पूजा प्रचलित थी। ऐसे समय में श्री रामानुजाचार्य ने विहित धर्म-सम्प्रदायों को एक करके उनका वैष्णव-धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया और वैष्णर्व-धर्म का एक नये प्रकार से संगठन किया। वह मुक्ति के लिए ज्ञान को उपादेय मानते थे किन्तु जो ज्ञानी नहीं थे, उनके लिए उन्होंने भक्ति की योजना की।

रामानुजाचार्य के पश्चात् बारहवीं शताब्दी में आन्ध्र में **निम्बार्क** का जन्म हुआ और उन्होंने रामानुजाचार्य की बतायी प्रपत्ति (सर्वथा ईश्वर पर आश्रित होकर अपने को विस्मरण कर देना) और भक्ति को एक माना और इसे एक मानते हुए भक्ति में कृष्ण (विष्णु के अवतार) के साथ राधा को भी महत्व दिया। इस प्रकार निम्बार्क ने पहली बार मधुरभाव की उपासना को जन्म दिया। इनके अनुयायी व्रज तथा बंगाल में अपना क्षेत्र बना बैठे और वहीं इस मधुर उपासना को अच्छा प्रसार मिला, क्योंकि बंगाल में शक्ति उपासना के कारण इस प्रकार की उपासना की पृष्ठ-भूमि बन चुकी थी और व्रज तो कृष्ण की लीला-भूमि थी ही।

रामानुजाचार्य के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् श्री **माधवाचार्य** ने वैराग्य तथा नवधा-भक्ति का प्रचार किया। तदन्तर **विष्णु-स्वामी** ने महाराष्ट्र में विष्णु की भक्ति विशेष रूप से प्रतिष्ठित की। इस प्रकार चार धार्मिक सम्प्रदाय भारत के धार्मिक क्षेत्र में आ गये। इनके आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से विष्णु के रूप की विवेचना की है—

(१) रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया। यह सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय कहलाया।

(२) विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया। यह सम्प्रदाय रुद्र-सम्प्रदाय कहलाया।

(३) निम्बार्क ने द्वैताद्वैत का प्रतिपादन किया और इनके द्वारा चालित सम्प्रदाय सनकादिसम्प्रदाय कहलाया।

(४) माधवाचार्य ने द्वैत-मत का प्रतिपादन किया और यह सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय कहलाया।[1] यहाँ हम वैष्णव-धर्म की केवल उन्हीं धाराओं पर विचार करेंगे जो हमारे भक्त-कवियों की नारी-भावना के विकास में विशेष महत्व रखती हैं।

भक्ति के क्षेत्र में वैष्णव-धर्म के साथ-साथ निर्गुण मत की ज्ञान-प्रधान-धारा भी चल रही थी। यह धारा सन्त-मत अथवा सहज-साधन-मत नाम से भी अभिहित की जाती है। इसमें उपनिषद् का निर्गुणवाद स्वीकृत है। ईश्वर (चरम सत्ता) निर्गुण है। उसकी प्राप्ति का मार्ग ज्ञान द्वारा हैं। यद्यपि ज्ञान के लिए आत्मशुद्धि की प्रतिष्ठा हो चुकी थी किन्तु वह मार्ग हठयोग का था जो सर्वसाधारण के लिए वहुत कठिन था। सन्त-मत में कष्टप्रद-साधन को स्थान मिला। बाद में भागवत सम्प्रदाय अथवा वासुदेव परम्परा ने इस निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना को सगुण अथवा साकार रूप प्रदान किया और उपनिषद्कालीन ज्ञानमार्ग ने भक्ति का रूप धारण किया। पहले ज्ञान की भाषा में जो कहा गया था, वह भक्ति की भाषा में कहा गया। नामरूपातीत ब्रह्म की उपासना नामरूपादि विशेषणों द्वारा की जाने लगी। वास्तव में सन्त-मत अनेक धार्मिक साधनाओं और विचारावलियों का सामंजस्य उपस्थित करता है।

इस काल में एक और प्रमुख धार्मिक हठयोग की धार्मिक धारा थी जिसे संत-मत के कवियों ने अपनी उपासना में आत्मसात् कर लिया। इस धारा में रमते कनफटे योगी घट के भीतर के चन्द्रों, सहस्र-दल-कमल, इड़ा, पिंगला, नाड़ियों इत्यादि की ओर संकेत करने वाली रहस्यमयी बानियाँ सुनाकर और करामात दिखाकर अपनी सिद्धाई की धाक जनता पर जमाये हुए थे।[2] ये लोग शास्त्र पढ़ना-पढ़ाना और बाहरी पूजा-अर्चना व्यर्थ मानते थे।

इसी धारा से मिलती-जुलती मुसलमानों की ऐश्वर्यवादी धारा ने इस धारा के विकास में और योग दिया और परिणामतः कुछ मुसलमान फकीर भी इस हठयोगी

१. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ० २०६

२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० ६३

धारा में सम्मिलित हुए। किन्तु एकेश्वरवादी धारा की नीरसता को मिटाने वाली प्रेम प्रधान-धारा सूफी-सन्तों की थी जो ज्ञान के स्थान पर प्रेम को लाकर उसके द्वारा परमात्मा तक पहुँचने का प्रयास कर रहे थे। प्रेम जैसी सरस भावना का समावेश करके इन सूफी सन्तों ने भक्ति के विकास में बड़ा योग दिया। ऐसे कवियों ने प्रेम-गाथाओं के द्वारा लौकिक प्रेम के चित्रण के माध्यम से अलौकिक प्रेम का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया। हिन्दू और मुसलमान दो विरोधी जातियों को एक करने की आवश्यकता पर कुछ लोगों ने विशेष बल दिया। इस भावना के मूल में एक ऐसे सामान्य भक्ति-मार्ग का विकास गर्भित था जिसमें परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन हो सकता और जिसके परिणामस्वरूप भारतीय ब्रह्मवाद तथा मुसलमानी खुदावाद की स्थूल समता स्थापित हो सकती। भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद में तात्विक भेद के रहते हुए भी दोनों की स्थूल समता के लिए निर्गुण मार्ग में जगह थी। अतः एकेश्वरवाद का जन्म हुआ।[१] हिन्दू और मुसलमानों में प्रेम-भाव एवं एकता की धारा को प्रवाहित करने वाले ये सूफी ही थे। इनमें बन्दे और खुदा का एकीकरण है। उसमें माया के लिए कोई स्थान नहीं है। खुदा से मिलने के लिए बन्दे को अपनी रुह का परिष्करण चार दशाओं में करने का विधान है, शरीयत, वरीकत, हकीकत और मारिकत।[२]

तत्पश्चात् सगुण की एक ऐसी सरस हिलोर उठी जो सम्पूर्ण भारत के मुखारविन्दों को चूमती हुई चली गयी। इस सगुण भक्ति में 'राम' को सगुण रूप में प्रतिष्ठित करने वाले **श्री गोस्वामी तुलसीदास** थे। इनकी भक्ति आगे चलकर 'राम-भक्ति' के नाम से प्रख्यात हुई और सगुण भक्ति की दूसरी धारा के प्रवर्तक थे **श्री वल्लभाचार्यजी**। उनकी मधुर कृष्णभक्तिधारा ने जनता को बड़ा प्रभावित और आकर्षित किया।

इस प्रकार भारत में प्रचलित तत्कालीन समस्त धर्म-सम्बन्धी विचारधाराओं से प्रभावित साहित्य मिलता है। एक ओर निर्गुण उपासना का रूप, तो दूसरी ओर सगुण उपासना का रूप। निर्गुण उपासना को सन्त-मत और मुसलमानी एकेश्वरवादी धारा के साथ-साथ प्रेममार्गी सूफी-धारा का योग मिला और सगुण उपासना को वैष्णवधर्म के विभिन्न आचार्यों और उनके सम्प्रदायों की पुष्टि। निर्गुण सम्प्रदाय में भी दो धाराएँ हो गयी। एक जो ज्ञान को प्रधानता देती है और दूसरी जो प्रेम को

---

१. 'हिन्दी-साहित्य'—डॉ० श्यामसुन्दरदास; पृ० १४६

२. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ० १६६

प्रधानता देते हुए दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करती है। ज्ञान-प्रधान धारा में कबीर, नानक, नामदेव, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास, चरनदास, रैदास आदि कवियों को लिया जाता है और प्रेम-प्रधान धारा में मुसलमानी सूफी—सम्प्रदाय के कवि जायसी (मलिक मुहम्मद), कुतुबन, मंझन और उस्मान आदि को सम्मिलित किया जाता है। इसी प्रकार सगुण धारा में एक धारा कृष्ण-भक्ति में लीन हो गयी और दूसरी धारा राम के लोक-नायक रूप की आराधना करने लगी। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि एक धारा रागानुगा-भक्ति लेकर चली तो दूसरी ने वैधी (विधि-विहित) भक्ति का सहारा लिया। रागानुगा-भक्ति के प्रमुख कवियों में सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवि सर्वश्री कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, नन्ददास, छीत-स्वामी, चतुर्भुजदास और मीरां, रसखान आदि कृष्ण-भक्त कवि आते हैं और वैधी-भक्ति में रामकाव्य धारा के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

पिछले पृष्ठों में हमने एक पृष्ठभूमि के रूप में भक्ति साहित्य के संदर्भ में भक्ति-आन्दोलनों और अन्य विचारधाराओं का संक्षिप्त विवेचन किया किन्तु इन विचार-धाराओं में नारी-विषयक विचारों की क्या स्थिति है, इसपर हमें अब अपना ध्यान केन्द्रित करना है।

(क) ज्ञानाश्रयी काव्यधारा

(१) **सन्त एवं संत-मत**—हिन्दी-साहित्य में सन्त-मत अपना एक पारिभाषिक अर्थ रखता है जिसके अनुसार यह उस व्यक्ति का बोध कराता है जिसने सत् रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। 'भारत के धार्मिक जगत के इतिहास में सन्त-मत का एक विशेष स्थान है—सन्त-मत उस प्रकार का सम्प्रदाय नहीं है जैसे कि वल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुष द्वारा प्रवर्तित दूसरे सम्प्रदाय हैं। वह एक धारा है जो आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अब तक बह रही है। इन सन्त कवियों की परम्परा यद्यपि सन्त जयदेव से प्रारम्भ होती है तथापि सबसे पहले उसके सम्बन्ध में कबीर साहब का नाम उल्लेख्य है—फिर नानक, दादू, दरिया, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पलटूदास, मलूकदास आदि ने अपने-अपने समय में इस धारा को पुष्ट किया'।[१] भारत में मुसलमानी शासन की स्थापना ने एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिन्दुओं का राज्य चला गया, उनका गौरव नष्ट

---

१. 'कल्याण'—(साधना अंक)—डॉ० सम्पूर्णानन्द ; पृ० ३७७

हो गया, विभूति लुट गयी, स्वाभिमान जाता रहा। विद्या और कला के लिए स्फूर्ति का द्वार बन्द हो गया। ....पर अभी हिन्दू जाति के दिन अच्छे थे, उसकी आत्मा की अमर ज्योति नष्ट नहीं हुई थी। उसमें से दो किरणें निकलीं, जिन्होंने अंधेरे घरों को फिर से प्रकाशित किया और मृतप्राय प्राणियों को अमृत मिलाकर पुनरुज्जीवित किया.......एक किरण तो भक्ति-मार्ग की थी। इस मार्ग को तुलसी, सूर, मीराँ आदि ने प्रशस्त किया। दुर्बलों से कहा गया कि हिम्मत मत हारो, तुम्हारा बल भगवान है। जाति की आत्मा से जो दूसरी किरण निकली, उसका ही नाम सन्त-मत है'।[1]

इसके अतिरिक्त यह शब्द अपने रूढ़िगत अर्थ में उन ज्ञानेश्वर आदि निर्गुण भक्तों के लिए भी प्रयुक्त होता आया है जो दक्षिण के विट्ठल या वारकरी सम्प्रदाय के प्रचारक थे और कदाचित् अनेक बातों में उन्हीं के समान होने के कारण उत्तरी भारत के कबीर आदि के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा।[2] सन्त-लोगों द्वारा प्रतिपादित सम्प्रदाय निर्गुण-सम्प्रदाय अथवा निर्गुण-मत के नाम से विख्यात हुआ क्योंकि ये सन्त अपनी निर्गुण-उपासना का उपदेश देते थे।

'सन्त' शब्द का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान, पवित्रात्मा, सज्जन, परोपकारी एवं सदाचारी व्यक्ति के लिए ही किया जाता है। इसका लोक-व्यवहारार्थ साधु, भक्त, महात्मा जैसे शब्दों के अर्थ में भी किया जाता है। कुछ इसे 'सत्य' शब्द का विकृत रूप समझते हैं और इसका अर्थ 'फलदाताओं में श्रेष्ठ' बतलाते हैं। अन्य मतानुसार इसका अर्थ 'लोकानुग्रहकारी' भी सिद्ध किया जाता है।[3] सन्त शब्द का सम्बन्ध संस्कृत की 'अस' धातु से है जिसका अर्थ है 'रहना', 'होना' अथवा अस्तित्व होना' आदि। विश्व में यथार्थ सत्ता केवल ब्रह्म की ही है कदाचित् इसी कारण वैदिक साहित्य में 'सन्त' शब्द 'ब्रह्म' का पर्याय है। महाकवि कालिदास ने उसे ही सन्त बतलाया है जो ठोक-बजाकर सत्य ग्रहण करे तथा परहित रहे—'सन्तः परीक्ष्यान्यतर—द्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः'—महात्मा भर्तृहरि ने भी प्रदर्शित किया है—'सन्त स्वयं परहिते विहिताभियोगाः।' जान पड़ता है कि इसी साहित्य से प्रभावित होकर ही गोस्वामी तुलसीदास को 'जानेसु संत अनंत समाना' और सन्त पलटू दास को 'सन्त और राम को एकै करि जानिये' कहना पड़ा। फिर इस शब्द के अर्थ में विकास

---

१. वही ; पृ० ३७८

२. 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा'—पं० परशुराम चतुर्वेदी ; पृ० ७

३. 'सन्त परम्परा की भूमिका' पं० परशुराम चतुर्वेदी ; पृ० ३

हुआ और सदाचारी, शान्त, पवित्रात्मा, परोपकारी आदि का वह वाचक हो गया। इन्हीं अर्थों में इस शब्द का प्रयोग 'धम्मपद', महाभारत तथा संस्कृत के महाकाव्यों में हुआ—फिर यह शब्द ब्रह्म की संज्ञा से साधु-सन्त महात्मा की संज्ञा हो गया। आज 'सन्त' शब्द के तीन अर्थ—निष्पक्ष सत्य आचरण वाले व्यक्ति, भक्त का समानार्थी, निर्गुणिये सन्त कवियों का समानार्थी—लिये जाते हैं।[1] हमारे देश में भगवान वेद व्यास, महर्षि वाल्मीकि, देवर्षि नारद, मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ, परमज्ञानी श्री शुकदेवजी जैसे महान सन्त हुए हैं। श्रीमद् भगवद्‌गीता के अनुसार, 'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है और जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है तथा जिनकी कामनायें पूर्ण रूप से नष्ट हो गयीं हैं, वे सुखःदुख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हुए वास्तविक संत रूप हैं।[2] इसी भावना को लेकर गोस्वामीजी ने दोहावली में कहा था—

'तुलसी या जग आय के, पांच रतन हैं सार ।
सन्त मिलन और हरि भजन दया, दीन, उपकार ॥'

और महात्मा कबीर ने भी कहा था—

'निरवैरी निह कामता सांई सैती नेह ।
विसिया सून्यारा रहे संतन को अंग एह ॥'

अर्थात् सन्तों को निर्वैरी, निष्काम, प्रभु-प्रेमी और विषय-विरक्त होना चाहिए। श्रीमद् भागवत के अनुसार [3] 'सन्त' शब्द का मौलिक शुद्ध अस्तित्व मात्र का ही बोधक है और इसका प्रयोग भी, इसी कारण, उस नित्य वस्तु व परम तत्त्व के लिए अपेक्षित होगा जिसका नाश कभी नहीं होता, जो सदा एक रस व अविकृत रूप में विद्यमान रहा करता है और जिसे 'सत्य' के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।[4] इसी कारण कुछ महात्माओं ने सन्त और ईश्वर में

---

१. 'कबीर और उनका काव्य'—डॉ० भोलानाथ तिवारी ; पृ० १३-१४

२. श्रीमद्भगवद्‌गीता ; १५.५

३. 'प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः—श्रीमद्भागवत, १. १६. ८

४. 'सन्त-परम्परा की भूमिका'—पं० परशुराम चतुर्वेदी ; पृ० ४

समानता देखने का प्रयत्न किया है।[1] स्व०डा० रांगेय राघव ने सन्तों का वर्गीकरण इस प्रकार किया था[2] —

१—ऋषि-सन्त—च्यवन, शांडिल्य, विश्वामित्र आदि

२—राजा-सन्त—भरत, प्रथु, शिव, हरिश्चन्द्र, भगीरथ आदि

३—ज्ञानी-सन्त—शुक्र, अगस्त्य, कपिल, दधीचि, वाल्मीकि, व्यास, आदि

४—देवकोटि के सन्त—राम और कृष्ण

५—साधारण सन्त—विदुर, रोमहर्षण आदि, जिन्होंने अपनी सीमा में रहकर पुण्य-अर्जन किया,

६—नारी-सन्त—सन्ध्या, अरुन्धती, मैत्रेयी, सावित्री आदि

७—पशु-पक्षी सन्त—काकभुशुण्डि, गजेंद्र, जटायु, हनुमान, जाम्ववान आदि।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भाव-पक्ष की दृष्टि से सन्त-कवियों को चार कोटियों में विभाजित किया है[3] —

१. तत्वदर्शी—कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, चरणदास, गरीबदास, तुलसी साहब आदि।

२. भावना-सम्पन्न—जगजीवनदास, गुलाल साहब, दूलनदास, दरिया साहब (बिहार वाले), यारी साहब, सहजोबाई, दयाबाई आदि।

३. स्वच्छन्द—मलूकदास, धरनीदास, दरिया साहब (मारवाड़), भीका साहब आदि।

४. सूफी-सन्त—बुल्लेशाह, पलटू साहब आदि।

यद्यपि भक्ति सम्बन्धी काव्य की रचना करने वाले सभी कवियों को 'सन्त' कहा जा सकता है तथापि सन्त-काव्य उन्हीं सन्तों की बानियों का नाम है जिन्होंने निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्य-रचना की है।[4]

---

१. 'जानेसु संत अनंत समाना।' –मानस–उत्तरकाँड–गोस्वामी तुलसीदास
'साँई सरीखे संत हैं या में मीन न मेख।' —गरीबदास की बानी ; पृ० ८७
'सन्त औ रामको एक कै जानिये।' –पलटू साहब की बानी; पृ० ८
'निर बैरी निहकामता, साँई सेती नेह।
बिषिया सूँ न्यारा रहै, संतनि का अंग एह॥'–कबीर-ग्रन्थावली ; पृ० ५

२. 'भारतीय सन्त-परम्परा और समाज'–डॉ० रांगेय राघव ; पृ० १५६

३. 'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खण्ड)—सम्पा० डा० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० २१६

४. वही; पृ० १८८

सन्त-काव्य की पृष्ठभूमि—हिन्दी-प्रदेश में सन्त-मत का पूर्ण उद्भव सन्त कबीर के समुदाय के साथ हुआ। कबीर ने एक नवीन साँस्कृतिक चेतना का पौरोहित्य किया। उस समय के धार्मिक आचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म हुआ। कबीर ने इस भावना में आत्म-विश्वास की दृढ़ता फूंक कर इसे संकीर्णता से मुक्त किया। कबीर के सम-सामयिक अन्य सन्तों—सेन, पीपा, रैदास, कमाल, धन्ना, नानक आदि की जीवन-साधना ने विशुद्ध मानवता के आधार पर एक नवीन संस्कृति एवं भावना को जन्म दिया। इन्हीं पर अनेक पंथों एवं सम्प्रदायों की नींव पड़ी जिसके फलस्वरूप कबीर पंथ, नानक पंथ, साध सम्प्रदाय, लाल पंथ, दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, बावरी पंथ, मलूक पंथ आदि अनेक सम्प्रदायों का जाल बिछ गया।

इन सन्तों के मतों की आधारशिला एकमात्र उनकी शुद्ध स्वानुभूति ही रही है, इसीलिए उनके ज्ञान को 'सहज ज्ञान' का नाम दिया गया है। उन्होंने किसी के कहने-सुनने पर विश्वास नहीं किया बल्कि अपने निजी अनुभवों द्वारा तर्क-वितर्क को प्रमाणित करने एवं हृदयंगम करने पर बल दिया। आगे चलकर पंद्रहवीं शताब्दी में उपरोक्त धारा ने ही सन्त-सम्प्रदाय का रूप धारण किया—'अनन्त और असीम, अनादि और अपार्थिव की साधना में रत भारतीय चिंता, आत्मा और परमात्मा की अभेदता का निदर्शन करती रही है। अवसर एवं स्थान के अनुकूल आध्यात्मिकता की यह धारा सतत प्रवाहित होती रही। पन्द्रहवीं शताब्दी में इस धारा ने जो रूप धारण किया, वह निर्गुण सन्त-सम्प्रदाय के नाम से अभिहित है'।[1]

सन्त-साहित्य में दार्शनिक और अलौकिक अनुभवों पर आश्रित जीवन्मुक्त की अवस्थाओं का स्पष्ट वर्णन तो है ही, इनके साथ-साथ उनमें निर्गुणोपासना एवं गुरुभक्तिपूर्ण पदों की प्रचुरता, विरक्तिपूर्ण उपदेशों का भांडार तथा दृष्टान्त, रूपक, उपमा, अन्योक्ति आदि कतिपय अलङ्कारों से सुसज्जति, शान्त, वीर, शृङ्गारादि रसों अनेक रसों से परिपूर्ण तथा प्राकृतिक वर्णनों से विशद् काव्य की एक विचित्र छटा भी देखने को मिलती है जिसके कारण यदि हम कहें कि सन्त-साहित्य में अपनी विशेषताओं के साथ-साथ हिन्दी साहित्य के अन्य मुख्य भावों की भी बातें एक अच्छे अंश में वर्तमान है तो कोई अत्युक्ति न होगी'।[2]

हिन्दी के सन्तकवियों की परम्परा बारहवीं शताब्दी से 'गीत गोविंद' के अमर रचयिता एवं कोमलकान्त-पदावली के गायक सन्त जयदेव से प्रारम्भ होती है। यह

१. 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय'—डॉ० पीताम्वर दत्त बड़थ्वाल; पृ० १
२. 'हिन्दुस्तानी'–भाग १–अंक ४; पृ० ४३३

परम्परा बड़ी महान और भव्य है तथा उसमें लोक-कल्याण की भावना ही प्रमुख है। 'गीत-गोविंद' अपने शब्द-सौंदर्य, पद-लालित्य और संगीत-माधुर्य के लिए अद्वितीय है। सन्त-साहित्य के विद्वान पंडित परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' में अनेक सम्प्रदाय और पन्थों की परम्परा और उनके प्रवर्तकों पर प्रकाश डालकर इस परम्परा को १३वीं शताब्दी के जयदेव से २०वीं शताब्दी के महात्मा गाँधी तक माना है। उस युग से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक अनेक सन्त-कवि हुए हैं जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ अब तक भी उपलब्ध नहीं हो सकीं, किन्तु उनमें कुछ ऐसे भी सन्त-कवि हुए हैं जिनकी प्राप्त रचनाओं के अनुसार उन्हें किसी भी श्रेष्ठ साहित्यिक कोटि में रखा जा सकता है। 'बारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक वह युग था जिसमें सन्त, साधना, वेणी, त्रिलोचन, नामदेव, रामानन्द, सेनानाई, कबीर, पीपा, रैदास, कमाल एवं धन्ना भगत नामक बहुत से सन्त-कवि हुए जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ अभी तक उपलब्ध नहीं हो पायी हैं।.......कुछ रचनाओं का स्तर साहित्यिक दृष्टि से भी अधिक नीचे नहीं रहा। इनमें नामदेव, कबीर एवं रैदास तीन ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं तथा जिनमें उन सभी गुणों का समावेश दीखता है जो किसी प्रतिभाशाली कवि की अकृत्रिम कृतियों में पाया जाता है'।[1]

हिन्दी काव्य-साहित्य के इन संत-कवियों ने न तो अपनी रचनाओं की भाषा को कोई काव्योचित रूप देने अथवा सुधारने का प्रयत्न किया है और न छंदशास्त्र के नियमों का ही पालन किया है। भाषा का खिचड़ीपन, शब्द और वाक्यों का अनगढ़ रूप, इनकी कृतियों में बहुतायत से पाया जाता है। उनमें न तो विषयगत आकर्षण ही है और न बाह्य दृश्यों अथवा सजीव चित्रण का। उनकी मुक्तक रचनाओं में यह संभव भी न था। इन संतों का लक्ष्य तो एकमात्र सत्य का प्रकाशन, असत्य का खण्डन और उपदेश मात्र रहा है।

सन्त और नारी—अन्य युग-पुरुषों की भाँति सन्त भी अपने युग की माँगों की उपेक्षा नहीं कर सके और उनके काव्यों में उनका युग समाया हुआ है। उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व के तीन रूप (साधक, सुधारक और धर्मगुरु) हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। बौद्धों के वासनाग्रस्त साधना के विरुद्ध मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथों ने साधना के क्षेत्र में संयम और ब्रह्मचर्य और अपनी साधना पर अधिक बल दिया।

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश'—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ; पृ० ७८६

इस युग के हिन्दू सम्राट और राजे-महाराजे बहुत कुछ पराजित हो चुके थे। उनके राजमहलों और रनवासों में रानियों और रखैलियों की संख्या द्रुतगति से बढ़ रही थी। मुसलमान सुल्तानों द्वारा कमला, पद्मिनी, कर्मवती जैसी सुन्दर नारियों के लिए होने वाले भीषण संग्राम जन-मानस को क्षुब्ध कर रहे थे। मध्ययुगीन समाज रूढ़िवादिता तथा अंधविश्वासों से अभिशप्त था। ये अंधविश्वास दोनों वर्गों को ग्रसित किये हुए थे। इस युग में नारी की दशा अत्यन्त हीन थी, 'उस समय अन्य वस्तुओं के सदृश नारी भी सम्पत्ति समझी जाती थी। उसे केवल भोग की सामग्री समझा जाता था। सुन्दर नारियों के लिए विकट युद्धों का आयोजन होता था। इसी कारण परदे तथा बाल-विवाह की प्रथाएं चल पड़ी। राजपूतों में तो कन्या की हत्या तक कर डालने की प्रथा थी। नारी का कामुक रूप ही मध्य-युग में देखा जाता था। इसी कारण उस समय के सन्त-कवियों ने इन्द्रियों को जीतने की प्रेरणा दी।[1]

हमारी भारतीय परम्परा में प्रेमिका पत्नी नहीं होती अपितु पत्नी प्रेमिका बनती है। स्नेहाकर्षण, रूपासक्ति, मिलन, विरह, निष्ठा, उत्सर्ग के प्रवेश की स्वीकृति पर सन्तों का काव्य मुहर लगाता है। जहाँ प्रियतम के मिलन का उद्‌घोष किया जाता है, वहीं रूप-दर्शन की स्वीकृति भी दी जाती है यद्यपि यह सब अलौकिक स्तर पर होता है।[2] अपने पिय (ब्रह्म) के विरह में भक्तों को उनकी राह देखते-देखते आँखों में झाँई पड़ गयी, नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये। दिन-रात उन्हें उसी की याद सताती है।[3] सन्त दादूदयाल को तो यही पछतावा रहा कि वे अपने 'पीव' को अपनी आँखों में नहीं रख पाये।[4]

सौंदर्य के प्रति भी संतों में उदासीनता नहीं रही, क्योंकि उनकी साधना में

---

१. 'हिन्दी सन्त-साहित्य'—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित; पृ० १५

२. नैनों की करि कोठरी, पुतली पलक बिछाय।
पलकों का चिक डारि कै, प्रिय को लिया रिझाय॥"—'कबीर'—डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी; पृ० ३२०-१७६

३. अंखियां तो झाईं परी, पंथ निहारि-निहारि।
जीहड़ियां छाला पड़्या, नाम पुकारि-पुकारि॥" —वही; पृ० ३३१-१७७

४. 'दादू जीवन मरण का मुझ पछितावा नाँहि।
मुझ पछितावा पीव का, रह्या न नैनहुँ माँहि॥' —दादूदयाल की बानी (१६—४१)

प्रेम-भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है।[१] नारी-निन्दा तो दूर रही, इन सन्तों को स्वयं 'नारी' बनकर ही मुक्ति का मार्ग मिला। ईश्वर ही उनके साजन, पिय, भरतार हुए तथा वे उनकी दासी, दुलहिन और बहुरिया।[२]

लौकिक धरातल पर जिसे प्रेम कहते हैं, अलौकिक धरातल पर उसे भक्ति कहते हैं। प्रेम का उत्कृष्ट स्वरूप भक्ति है। प्रेम दो अस्तित्वों के मध्य हुआ करता है। दो अस्तित्वों का जो सहजाकर्षण सम्बन्ध होता है, उसी को स्नेह कहते हैं। इसका साधन दर्शन है। सन्तों ने सौंदर्य के समूहगत रूप को स्वीकृति दी जो अरूप था जिसमें विविधता और नवीनता का प्रतिक्षण उन्मेष होता रहता है।[३] इसी भूख को सामने रखकर सन्त कबीर ने पुरुषों को भवसागर से पार जाने की सलाह दी है।[४]

संत कबीर---कबीर अपने समय की उपज, द्रष्टा और युग-प्रवर्तक थे। 'उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे, छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था; अलंकारों के पंडित नहीं थे, वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले, उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था जीवन की खुली पुस्तक।[५] कबीर ने धर्म के व्यापक रूप को सरल और सुबोध बनाने के उद्देश्य

१. 'कबीर जे को सुन्दरी, जाणि को विभंचार।
ताहि न कबहूं आदरै, प्रेम पुरिपु भरतार॥' —कबीर ग्रन्थावली ;
पृ० ८०-५२-२

२. 'चली में खोज में पिया की।
तलफै बिन बालम मोर जिया॥'

....

'अविनासी दुलहा कब मिलहौ।' —कबीर-ग्रन्थावली ; पृ० ३२८

३. 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयताः।' महाकवि कालिदास

४. 'दरिया पार हिंडोलनां, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारि सुलषणी, नित प्रति झूलण जाइ॥' —कबीर-ग्रन्थावली
पृ० ८१-५८-७६०

५. 'सन्त कबीर दर्शन'—श्री राजेन्द्रसिह गौड़ ; पृ० २२

से ही काव्य का नियोजन किया था। इसी कारण उनमें धार्मिक दृष्टिकोण ही प्रधान है, काव्यगत दृष्टिकोण गौण है। उन्होंने 'पुस्तक-ज्ञान' का तिरस्कार किया था, अतः उन्होंने स्वयं किसी ग्रन्थ-विशेष की रचना नहीं की। कबीर पंथ में पुस्तक का महत्व गुरु से अपेक्षाकृत कम माना गया है।

सन्त कबीर उस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें विलासिता अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। विलासिता की वस्तु थी नारी। बाह्य सौंदर्य ही नारी का सबसे बड़ा आकर्षण था। यही कारण था कि प्रेम ने वासना का रूप धारण कर लिया था। लोग सात्विक प्रेम को भूलकर विलासिता की ओर अग्रसर होने लगे थे। परायी बहू-बेटियों का अपहरण साधारण-सी बात हो गयी थी। ऐसी विषम परिस्थिति में तत्वज्ञानी कबीर के लिए नारी के बाह्य सौंदर्य की भर्त्सना एवं उपेक्षा के सिवा अन्य मार्ग न था। उन्होंने यह अनुभव किया कि बिना इसकी भर्त्सना के पुरुष की उच्छृंखल प्रवृत्ति को रोका नहीं जा सकता।

कबीर ने सच्चे आनन्द का रस पिया था। उन्होंने 'घूंघट का पट हटा कर' अपने 'पिऊ' का आलिंगन किया। मृत्यु के उस पार प्रेम, सौंदर्य और आनन्द की जो त्रिवेणी लहरा रही है, उसमें कबीर ने आत्मा को नहलाया। विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार जो सम्बन्ध रश्मि और प्रकाश में है, ज्योत्स्ना और चन्द्र में है, प्रभा और सूर्य में है, वही सम्बन्ध आत्मा (स्त्री) और परमात्मा (पुरुष) में है। निरुपाधिक आत्मा में जो प्रकृति (माया) का प्रगाढ़ आलिंगन है, वही स्त्री-रूप सोपाधिक आत्मा है। उन्होंने स्त्री-रूपिणी आत्मा के चार भेद माने हैं—

(१) कुमारी कन्या,
(२) सुन्दरी (विवाहिता),
(३) विरहिणी, और
(४) सती

(१) कुमारी कन्या—जब तक प्रीतम 'ब्रह्म' से परिचय नहीं होता, तब तक आत्मा (अपरिचित) कुमारी ही रहती है। इसी कुमारी कन्या का कबीर के 'परचा कौ अंग' में प्रीतम से परिचय हुआ है। प्रेम-रूपी बादल को वर्षा माना है।[1] इसी परिचय के पश्चात आत्मा 'प्रीतम' से मिलने के लिए तड़पने लगती है। यही तड़पन विरह की अभिव्यक्ति बनकर व्यक्त हुआ है। यह परिचय गुरु की कृपा से ही संतों

---

१. कबीर-ग्रन्थावली —'गुरुदेव को अंग'—पृ० ४ ; पृ० ३४-३ ५

को प्राप्त होता है। कबीर ने कन्या-रूप में नारी का चित्रण बहुत ही संक्षिप्त रूप में किया है।

(२) सुन्दरी (विवाहिता)—परिचय के पश्चात् उमंग, उत्साह से परिपूर्ण आत्मा (नारी) का प्रीतम (ब्रह्म) से पाणिग्रहण होता है। इसके पश्चात् तो आत्मा में मिलन की वह अधीरता उत्पन्न होती है जिसे सन्तों ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है तथा कहीं-कहीं प्रियतम के रूप में भी कवि ने अभिव्यक्ति की है।[1] यह भक्ति की चरमोपलब्धि है। जब भक्त और भगवान एकाकार हो जाते हैं, वहीं शंकर अद्वैत की 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना आ जाती है। इसी अवस्था में सुन्दरी (आत्मा) प्रीतम (ब्रह्म) में लीन हो जाती है और अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्द का अनुभव करती है।[2]

मिलन के रस को पान करने वाले के लिए प्रेमी कबीर ने एक आवश्यक रति निर्धारित की है। इसीलिए उन्होंने संसार को प्रेम का घर माना है। उनके प्रेम का सिद्धान्त ही ऐसा है जिसमें साधक को सर्वस्व त्याग और शीश समर्पण की बार-बार चेतावनी है।[3] प्रियतम के इस प्रेम-पन्थ के पथिक दीवाने होते हैं क्योंकि वे समस्त विश्व में अपने प्रियतम का ही दर्शन करने लगते हैं और उसी के प्रेम में ही निमज्जित हो जाते हैं। जिस लालिमा की खोज में निकले, उसी में स्वयं विलीन हो गये।[4] सन्त प्रीतम (ब्रह्म) से आत्मा (नारी) का विवाह कराता है। यौवन में मदमाती प्रियतमा को व्याहने के लिए राजा राम 'भरतार' बनकर आते हैं।[5] उनके प्रिय 'राम' हैं जो दाशरथी राम से भिन्न हैं। वे अपने राम की उपासना पति रूप में करते हैं और स्वयं को पत्नी मानते हैं। इसी प्रियतम रूपी परमात्मा से विवाह के आनन्द में

---

१. 'जब लगि पीव परचा नहीं, कन्या कुमारी जाणि।
हथलेवा हौंसे लिया, मुसकल पड़ी पिछाणि॥' —वही–परचा कौ अंग ; पृ० १२

२. 'कबीर देख्या एक अंग महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणी, नैनूं रहा समाइ॥' —वही–परचा कौ अंग ; पृ० १५-३८

३. 'यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइ धरै, तब पैठे घर माहिं॥' —कबीर-ग्रंथावली ; पृ० १२०

४. 'लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।' —वही–पृ० ३६

५. कबीर-ग्रंथावली ; पृ० ३८

मग्न सन्त-आत्मा (नारी) दीवानी हो जाती है।[1] प्रियतमा प्रिय के मिलन के लिए इतनी आतुर हो उठती है कि उसकी मदमाती पीर असह्य है। वह प्रियतम से क्षण-भर भी विलग नहीं रह सकती है।[2]

विरहिणी—आत्मा और परमात्मा एक साथ सायुजा और सखा के रूप में थे। सोपाधिक होने के कारण आत्मा परमात्मा से बिछुड़ गयी। यह वियोग मानो आत्मा की सुप्तावस्था है। जब जागरण होता है तब आत्मा का पुनः परमात्मा से परिचय होता है और वह उसकी प्राप्ति के लिए छटपटाने लगती है।[3] वह दर्शन के लिए व्यग्र हो उठती है और अपने 'प्रियतम' राम से कहती है—कि मरने के बाद दर्शन किस काम आयेगा।[4] विरह-वेदना की अभिव्यक्ति के प्रथम चरण में सर्प को पकड़ने की क्रिया से विरह की तुलना की गयी है। विरह के फलस्वरूप नेत्रों से अश्रु राशियाँ यों टपकती हैं मानो रहट लगी हो और शरीर को विरह-रूपी अग्नि से मुक्त दर्शाते हैं।[5] उन्होंने कहीं-कहीं दोनों नेत्रों को बिरह का वैरागी बना दिया है जो विरह का कमण्डल लिये प्रेम-पिपासा की शान्ति के लिए भ्रमण करते रहते हैं।[6] वे विरहिणी के लिए गीली लकड़ी की भी कल्पना करते हैं।[7] इस प्रकार हम देखते है कि निर्गुण-साधना में आध्यात्मिक शृंगार या माधुर्य भक्ति में आत्मा या प्रेम-साधक की विरह-कातरता, प्रिय-मिलन के लिए उसी चीत्कार भरी आकुलता, तन मन को मसल डालने वाली पीड़ा और असह्य शूल-दर्शन का वैसा वर्णन है, मिलन शृंगार का वैसा नहीं।[8]

---

१. कबीर–ग्रंथावली–लाँबि कौ अंग ; पृ० १२२
२. "कबीर सुंदरि यौं कहै, सुनि हो कंत सुजान।
   वेगि मिलौ तुम आइ करि, नाहित तजौ परान ॥' –वही—सुंदरि कौ अंग ; पृ० २७२
३. वही—विरह कौ अंग ; पृ० ७-३
४. 'विरहिन ऊठै भी पड़े दरसन कारनि राम।
   मूंवां पीछैं देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥' —वही ; पृ० ८-८
५. "नैना नीझर लाइया रहट वहै दिन जाम।
   पपीहा ज्यूं पीव पीव करौ, कबरु मिलेहुंगे राम ॥' –वही ; पृ० ६-२४
६. 'विरह कमंडल कर लिए, बैरागी दो नैन।
   मांगै दरस मधूकरी, छके रहै दिन रैन "
७. सन्त बानी संग्रह भाग १ ; पृ० १७-३०
८. भक्ति काव्य में माधुर्यभाव का स्वरूप—डा० जयनाथ 'नलिन' ; पृ० ८४

(४) सती-नारी—सती नारी के चित्रण में भी कवि की एकनिष्ठता दर्शनीय है। विह्वल आत्मा का सबसे बड़ा गुण है सतीत्व। सती को प्रिय की पीड़ा असहनीय होती है। आत्मा का तो यही प्रण रहता है कि वह सती हो जाय। सती में प्रियतम के रूप का नशा समाया हुआ है। उसमें पति-परायणता कूट-कूट कर भरी है। सती नारी पतिव्रता होती है, वह पति का वियोग सहन नहीं कर सकती, वह पति के मरने पर सती हो जाती है।[1] मनुष्य के इस अनुभव ने कि वह किसी व्यापक चेतना का अंश है—'पुरुष और स्त्री के आध्यात्मिक' सम्बन्ध को जन्म दिया। मध्ययुगीन समाजगत नियमों के अनुसार नारी पुरुष की प्रेम भिक्षा पाने और उसके चरणों में समस्त भावनाओं को समर्पित करने को लालायित रहती थी। दर्शन में यह रूपक सब प्रकार से समर्थ परमात्मा पुरुष और उसके आश्रित जगत को स्त्री अथवा उसका प्रकृति-स्वरूप मानकर प्रचलित हुआ। इसी कारण संतों ने अपने को 'राम की दुलहिन' कहा है।

सन्त कबीर ने भारतीय नारी की गंभीर सम्वेदना, अटूट विश्वास, चिर-स्थायी सम्बन्ध, कठोर पतिव्रता-धर्म, मृदु मुस्कान और अधीर किन्तु संयत हृदय की वेदना लेकर भक्त के अनोखे व्यक्तित्व का प्रदर्शन अपनी 'साखियों' में किया है। उनकी दृष्टि में प्रेम इस संसार में प्राप्त होने वाली कोई पार्थिव वस्तु नहीं है, वह तो स्वर्गीय है। राजा-प्रजा और ऊंच-नीच का यहाँ भेद नहीं। केवल जो अपने को भुलाकर जीवन में ही मृत्यु की अनुभूति कर लेता है, उसी के लिए प्रेम की राह सरल हो जाती है। 'कबीर, केवल प्रियतम का रूप-सौन्दर्य सुनकर ही आतुर नहीं हो गये। उन्होंने जोगी का वाह्य वेष भी धारण नहीं किया, सुदूर प्रदेश की दौड़ नहीं लगाई, किसी राजा-रानी के प्रेमगीत नहीं गाये, रूप और राज्य की कोई प्रेमगाथा नहीं गढ़ी, शृंगार के कामजनित चित्र भी नहीं खींचे। उनका प्रेम शुद्ध, अलौकिक और ज्ञान की डाल का मधुर फल है। उनके ज्ञान का परिणाम प्रेम है। वे ज्ञानमार्गी होते हुए भी शुद्ध प्रेममार्गी है'।[2]

महात्मा कबीर ने नारी के तीन रूपों—आराधिका प्रकृति, पतिव्रता गृहिणी और माया फैलाने वाली कामिनी - की चर्चा प्रमुख रूप से की है। उन्होंने नारी के

---

१. 'सती विचारी सत किया, कांटों सेज बिछाय।
ले सूती पिय आपना, चहुं दिसि अगिन लगाइ॥'
'सती न पीसै पीसना, जो पीसै सो रांड।
साधू भीख न मांगई, जो मांगै सो भांड॥' —वही ; पृ० ३३०-१७५

२. 'कबीर-वचनामृत'—डॉ० मुन्शीराम शर्मा ; पृ० ११७

'कामिनी' रूप की तो 'विष की वेल और 'महाठगनि' आदि कहकर बड़ी निन्दा की है तथा पतिव्रता को ही अपनी आराधना का आदर्श माना है। तभी तो पतिव्रता के धर्म पर उन्होंने लिखा है—

"पतिव्रता का एक पति, दूजा नाँहि सुहाय।
सिंघ सदा लंघन करे, तो भी घास न खाय॥
पतिव्रता मैली भली, काली कुचल कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप॥"

कबीर ने परमात्मा की भक्ति के लिए दाम्पत्य-प्रेम को प्रतीक मानकर उसमें पतिव्रता का रूपक बाँधा है। जिस प्रकार पतिव्रता नारी अपने ही पति पर अनन्य निष्ठा रखती है और अन्य पुरुष का स्वप्न में भी चिन्तन नहीं करती, उसी प्रकार उन्होंने पतिव्रता की भाँति केवल एक ही ब्रह्म की उपासना पर बल दिया है। बहु-देव की उपासना को तो वे असती नारी के आचरण की भाँति मानते थे।

कबीर ने प्रतीक-रूप में आत्मा को 'पत्नी' और परमपुरुष को 'पति' के रूप में मानकर दाम्पत्य-प्रेम का सुन्दर चित्रण किया है। पत्नी और पति का प्रेम ही भारतीय परम्परा के अनुसार आदर्श प्रेम है और कबीर ने इसी आदर्श प्रेम की अपने रहस्यवाद में प्रतिष्ठा की है। उनके इस प्रेम में पवित्रता, सात्त्विकता और आध्यात्मिकता है। उनकी रचनाओं में आत्मा कहीं 'विरहणी' का रूप धारण कर अपने प्रियतम के वियोग में छटपटाती है।[1] तो कहीं उसका सान्निध्य प्राप्त कर आनन्द में विभोर हो उठती है। कबीर एक सच्ची पतिव्रता नारी की भाँति अपने नेत्रों की कोठरी में पुतली का पलंग बिछाकर और उस कोठरी पर पलकों का चिक डालकर अपने प्रिय (परमात्मा) को प्रसन्न करना चाहते हैं—

"नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि कै, पिय को लिया रिझाय॥'

'कबीर ने आत्मा का वर्णन किया है, शरीर का नहीं। वे हृदय की सूक्ष्म

1. 'तलफै बिन बालम मोर जिया
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया तलफ तलफ कर भोर भया।'
—कबीर-वचनावली—पद १०६

"विरहिन देय संदेसरा, सुनो हमारे पीव।
जल विन मच्छी क्यों जिए, पानी में का जीव।" —वही; पद १४१

भावनाओं की तह तक पहुँच गये हैं। 'नखशिख' अथवा शरीर-सौन्दर्य के झमेले में नहीं पड़े।[1]

कबीर ने माया को नारी-रूप में चित्रित कर उसे जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालने वाली बतलाया है। वे उसे 'एक परम सुन्दरी', 'विश्व-मोहिनी', 'महाठगिन' आदि के रूप में चित्रित करते हैं।[2] वे उसे पापिनी और डाकिनी भी कहते हैं।[3] कनक और कामिनी को भी उन्होंने इसी माया का प्रतीक माना है, तभी तो वे कहते हैं—

'रमैया की दुलहिन ने लूटा बजार।'

तत्कालीन समाज में प्रमुख रूप से दो बुराइयाँ घर कर गयी थीं—कंचन और कामिनी। इनसे जन्य स्वार्थ, जड़ता और अनैतिकता का निवारण सन्त धर्म था। यह कर्तव्य सन्तों के व्यापक चरित्र का एक अंश मात्र है। इसकी सीमा उनके सुधारक रूप में निहित है। इसी कारण सन्तों की वाणी वासनाग्रस्त नारी अथवा पुरुष के विरुद्ध गूंज उठी और उन्होंने नारी को बहुत कुछ कह डाला।[4] उन्होंने

---

१. 'कबीर का रहस्यवाद'—डॉ० रामकुमार वर्मा ; पृ० ४

२. "कबीर माया मोहिनी जैसी मीठी खांड।" —वही—पृ० ३३
"कबीर माया मोहनी मोहे जांण सुजांण।"
"माया महाठगिन हम जानी।"

३. 'कबीर माया पापिणीं, हरि सूं करै हराम।" —वही–पृ० ३२
"कबीर माया डाकणीं, सब किसही कौं खाइ।" —वही ; पृ० ३४

४. 'एक कनक अरु कामिनी, दोऊ अगिन को झाल।
देखे ही तन पै जलें, परसा ह्वै पैमाल ॥'
'एक कनक अरु कामनी विषफल कीएउ पाई।
देखें ही थें विष चढ़े खायें सू मर जाई ॥'
'सुन्दरि थें सूली भली, बिरलौ बन्चैं कोइ।
लोह निहाला अगिन में, जलि बलि कोइला होइ।'
'नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते राम कौं, जे सुमिरें निहकाम ॥' —कबीर-ग्रंथावली ; पृ० ४०
'कांमणि काली नागणीं, तीन्यू लोक मंझारि'
'नारी नाहीं माहरी, करैं नैंन की चोट।
कोइ एक हरिजन ऊबरी, पार ब्रह्म की ओट ॥'
'नारी सेती नेह, बुधि विवेक सब ही हरैं।'
'नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग।'
'नारि नसावैं तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति जिन ग्यान मैं, पैंसि न सकई कोई ॥'-कबीर ग्रंथावली;पृ०३६-४७

परनारी सम्बन्ध की कड़ी भर्त्सना की है—

> पर-नारी पर-सुन्दरी, विरला बंचै कोइ ।
> खाता मीठी खाँड सी, अंति कालि विष होइ ॥'
> 'पर नारी पैनी छुरी मत कोई लागे अंग ।
> रावण के दस गिर गये पर नारी के संग ॥'

कबीर यद्यपि एक आत्म-तत्त्व ज्ञानी चिन्तक के रूप में देश को मिले किन्तु आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त उन्होंने अपनी आंखों से जो देखा था और उसमें जो उन्हें बुरा लगा, उसकी निन्दा भी समाज के कल्याण और निष्पक्ष भावना से की है ।

> 'कबिरा खड़ा बाजार में चाहत सब की खैर,
> ना काहू से दोस्ती ना काहूं से बैर ।"

इस सम्बन्ध में उचित मार्ग दिखाने का काम भी उन्होंने ही किया ।[1] कबीर की वाणी एक ऐसे व्यक्ति की वाणी है जिसने उस वाणी को किसी से उधार नहीं लिया । वास्तव में नारी रूप में उन्होंने परम पुरुष के प्रति जो अपने उद्‌गार व्यक्त किये हैं, वे उनकी भाव-विह्‌वलता और गभीर प्रेमानुभूति को यथार्थ रूप से प्रकट करने वाले हैं ।[2] दाम्पत्य भाव से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीकों—दूल्हा, दुलहिन, सेज, बालम, घूंघट, रंग महल, सगाई आदि—द्वारा लौकिक प्रेम को उन्होंने आध्यात्मिक धरातल तक पहुँचाया है ।

सन्त दादूदयाल—संतमार्गी-धारा में कबीर के पश्चात् अनेक सन्त-कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में नारी-भावना पर प्रकाश डाला है । प्रो० विल्सन के अनुसार 'दादू रामानन्द की शिष्य परम्परा में कबीर की छठवीं पीढ़ी में आते हैं ।[3] इन्होंने भी विरह, सुन्दरि, पतिव्रता, प्रेम, भेष, विभिचारिन, माया आदि नारी के अन्यान्य रूपों का वर्णन किया है ।

सुन्दरि—प्रियतम के प्रेम में प्रियतमा इस तरह निमग्न हो जाती है कि विलग

---

१. 'कबीर-ग्रंथावली ; पृ० ३६
२. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य—डॉ० रामेश्वर लाल ; पृ. ७२
३. 'हिन्दी सन्त काव्य का संग्रह'—श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी–दादू ;

नहीं हो पाती। वह इतनी दीवानी हो जाती है कि उसके रोम-रोम से पिव की ही ध्वनि निकलती है ।[1]

(१) विरहिणी—दादू की विरहिणी कोई सामान्य विरहिणी नहीं है। वह तो अपने 'पीव' के विरह में इतनी पागल-सी हो गयी है कि उसके बाल बिखर गये हैं। वह अपने को उस (विरह) की अग्नि में जला देना चाहती है, 'उसे नख-सिख सालै सीस', आँखों से आँसू नाले के समान बह रहे हैं, वह जीते-जी तो टेरती ही है 'मुवा भी टेरै सोई' ।[2]

उद्दीपन-रूप—संयोग-काल में प्रिय के सान्निध्य में सुख और आनन्द प्रदान करने वाली वस्तुएँ वियोग में दुःखद और कालसम प्रतीत होती हैं। वर्षाकाल में उमड़-घुमड़ दामिनी की दमक अत्यधिक वेदनाप्रद हो जाती है ।[3]

(२) विभिचारिन—अन्य सन्तों की भाँति दादू ने भी पतिव्रत धर्म पर पर्याप्त वल दिया है। उनके अनुसार नारी को अपने पति के साथ ही रहते हुए पति की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। उन्होंने विभिचारिन की निन्दा की है ।[4]

(३) पतिव्रता—जिस प्रकार कवि ने विभिचारिन का विश्लेषण किया है, उसी प्रकार पतिव्रता का भी सुन्दर चित्रण किया है। उसके अनुसार पतिव्रतानारी के लिए उसके 'प्रिय' के सिवा उसके हृदय में अन्य किसी के लिए भी स्थान नहीं है—'दूजा नाहीं और' ।[5] वे उस स्त्री का सौंदर्य व्यर्थ समझते हैं जिसके हृदय में अपने पति के प्रति प्रेम न हो, जो अपने 'पिय' के लिए तन-मन सब न्यौछावर करने को तैयार हो—'अपने पिव के कारणे 'दादू' तन-मन देइ' और पति के शरीर, मन यहाँ

---

१. 'प्रीति जो मेरे पीव की पैठी पिंजर मांहि।
रोम-रोम पिव-पिव करै 'दादू' दूसर नांहि ॥ —हिन्दी सन्त काव्य का संग्रह
श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी ; पृ० १५१ (प्रेम)

२. 'जे कबहूं विरहनि मरै, तौ सुरति विरहिनि होई।
दादू पिव-पिव जीवतां, मुवा भी टेरै सोइ।' —वही ; पृ० १४१

३. 'दादू दयाल की बानी'—पृ० ३६ ; दोहा ६४

४. 'पतिव्रता के एक है, विभिचारिणके दोइ।
पतिव्रता विभिचारिणी, मेला क्यों करि होइ ॥'—वही ; पृ० १५२
(विभिचारिन)

५. वही—पतिव्रता ; पृ० १४७

तक कि प्राण को भी जो अपना ही समझे—वही सच्ची पतिव्रता नारी है।[1] वे नीच और उच्च कुल एवं बाह्य सौन्दर्य को महत्त्व नहीं देते। उनके लिए पति सेवा ही सोहागिन की प्रमुख विशेषता है।[2]

भेष के सम्बन्ध में दादू का कथन है कि दुनिया रंग-बिरंगी है। पंडित, सोना (कनक), हीरा, आत्मा आदि के भिन्न रूप हैं किन्तु यह सारा रंग और रूप केवल एक की ही उपज है। अतः उसी रूप पर सबको मुग्ध होना चाहिए।[3]

सन्त चरणदास—ये एक ज्ञानी सन्त थे। उन्हें वन में शुकदेवजी से ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हुआ था।[4] इन्होंने भी कबीर की भाँति ही ढोंगियों, पाखंडियों, वेद, पुराण, स्मृति आदि की आलोचना की है। नारी के विभिन्न रूपों पर आपने भी प्रकाश डाला है।

स्वयं को नारी और ईश्वर को 'पीव' मानकर उन्होंने उपासना की है। उनके अनुसार प्रियतमा का कर्तव्य है कि वह पिव के रंग में रंगी रहे।[5] इन्द्रियों के दमन पर आपने अपने विचारों को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। परायी स्त्री के प्रति अपने भावों को कितने स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है—'अरे नरा परनारी मत तक रे'।

पतिव्रता—प्रियतमा को वे सन्देश देते हैं कि अपनी घर की सेविका बनो, क्योंकि अपना घर ही भला या बुरा सब-कुछ है।[6] चरणदासजी ने परस्त्री और

---

१. 'तन भी मेरा मन भी तेरा प्यंड परान।
सब कुछ तेरा, तू है मेरा, यहु दादू का ज्ञान॥' —वही-पतिव्रता ; पृ० १४७

२. वही—पतिव्रता ; पृ० १४७

३. (दादू) जग दिखलावै बावरी, षोडस करै सिंगार।
तहं न संवारै आप कूं, जंह भीतर भरतार॥' —वही ; पृ० १५१ (भेष)

४. 'रमते मिले शुकदेव नाम चर्णदास धरायौ।'
'जोग जुगति कर भक्ति कर ब्रह्मज्ञान दृढ़ कर गह्यौ।'
—वही ; पृ० २५५

५. 'पीव चहौ कै मत चहौ, वह तो पी की दास।
पिव के रंग राती रहै, जग सूं होय उदास॥' —'चरणदास की बानी' ; १५

६. 'अपने प्रिय कूं सेइये आन पुरुष तज देह।
'अपने घर का दुख भला पर घर का सुख छार।'
—चरणदास की बानी ; १०१०

अपनी स्त्री दोनों ही पर आपत्ति प्रकट की है। उनका कथन है कि कामिनी के मुग्ध-कारी स्वरूप ने सुर, असुर, यक्ष तथा गंधर्व सभी को वशीभूत कर लिया है। अपने प्रिय के विरह में उनका तन सूख गया है, वे मृत्यु के समीप हैं किन्तु उनके दर्शन की आस में जीवित हैं। दोनों आँखें दर्शन की प्यासी हैं—'नैना दरस पियासै'—'जीवित हूँ वोहि आसा हो'।[1] वे अपने प्रिय के प्रेम में इतने मतवाले हो गये हैं कि अपने गुरु से उस प्रेम की याचना करते हैं—'गुरु हमरे प्रेम पियायो हो'। वे अपने गुरु के ज्ञान-रूपी सेज पर अपने प्रीतम को देखना चाहते हैं।[2]

सन्त कवि सुन्दरदास—बाबा दादूदयाल के ५२ शिष्यों में आप प्रधान शिष्य थे। निर्गुणोपासक सन्त कवियों में एकमात्र आप ही शास्त्रज्ञ पंडित और भाषा-विज्ञ थे। आपका सबसे प्रधान ग्रन्थ 'सुन्दर-सार' या 'सुन्दर-विलास' है। उन्होंने नारी की मोहिनी शक्ति के कारण उसके रूप का निंद्य और भयंकर रूप उपस्थित किया है। नारी का नख-शिख जो शृङ्गारिक कवियों के लिए रति का उद्दीपक है, वही सुन्दरदास के लिए विरति का प्रेरक बन गया है।[3]

नारी निन्दा-भाव—सुन्दरदास के अनुसार नारी नरक का द्वार है। उसके साथ बैठने से लू लगती है। तनिक सटे कि जले। उसका शरीर उसके लिए एक ऐसा जंगल है कि जो अपने अंगों सहित पथिक को पथभ्रष्ट किये बिना नहीं रह सकता। उसका शरीर एक जंगल है जहाँ कोटि सिंह हैं, गति हाथी का प्रतीक है, लटें नागिनें हैं।[4] आप नारी को विष के अंकुर तथा फूलवाली विष की वेलि बताते हैं।[5] उनके अनुसार नारी के रूप और गुण की प्रशंसा करने वाले महा गंवार हैं। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि—आन्तरिक रूप से नारी अंगारयुक्त है, पर बाहर से कली-सी आभासित होती है।[6]

---

१. 'हिन्दी-सन्त-काव्य-संग्रह'—द्विवेदी तथा चतुर्वेदी ; पृ० २५७

२. वही-प्रेम ; पृ० २५७

३. साहित्य-सन्देश-संत साहित्य विशेषांक ; पृ० ५७

४. 'सुन्दर-ग्रंथावली'—सुन्दरदास ; पृ० ४३७

५. 'विष की भूमि माहि, विष ही के अंकुर भये,
नारी वेलि बढ़ी नख-शिख देखिए।' —वही—पृ० ४३८ ; पद २

६. 'सुन्दर कहत याहि देखि जनि भूलौ कोई।
भीतर अंगार भरी ऊपर तौ कली है।' —वही; पृ० ४३८

कामिनी-रूप में नारी—आपने रसिक व्यक्तियों के लिए नारी को मिष्ठान्न की उपमा देकर समझाया है। आपका कहना है कि जैसे मिठाई खाने से रोगी का रोग और बढ़ता जाता है; वैसे ही कामिनी के सम्पर्क से कामुकता और अधिक बढ़ती है।[1]

पतिव्रता-नारी—आप भी एक सच्ची पतिव्रता नारी की भाँति अपने पिय (प्रभु) के सिवा किसी को अपने हृदय में स्थान नहीं देना चाहते। उन्हें यह विश्वास है कि उसका ध्यान करने से चारों पदार्थ, आठों सिद्धि, नवों निधि मिलि जाती हैं।[2] वे पति से ही प्रेम करना चाहते हैं। नारी के लिये पति ही यज्ञ, तप, योग, दर्शन सब-कुछ है।[3]

विभिचारिन—पतिव्रता और विभिचारिणी में आपने अन्तर बताया है कि पतिव्रता अपने पति की ओर देखती है किन्तु विभिचारिन चारों तरफ देखती चलती है।[4]

वियोग-वर्णन—उनकी विरहिणी अपने प्रियतम का मार्ग देखते-देखते इतनी व्याकुल हो जाती है कि वह उसके बिना दिन-रात चैन नहीं पाती।[5] विरह से व्याकुल नारी सखी से कहती है कि मेरा प्रियतम मुझे बहुत प्रिय है। मेरे मन की आस कब तक पूरी हो सकेगी। उसे उसकी पीड़ा असह्य है। वह कभी सन्देसा सुन-कर उछल पड़ती है, तो 'कबहुंक रोइ-रोइ आसुंन बहाइये'।[6]

सन्त मलूकदास—अन्य सन्तों की भाँति आपके सम्बन्ध भी अनेक कहावतें प्रचलित हैं। आपकी दो पुस्तकें अधिक प्रसिद्ध हैं—रत्नखान और ज्ञानबोध।

---

१. 'हिन्दी सन्त-काव्य-संग्रह'—द्विवेदी तथा चतुर्वेदी; पृ० १७१-(कामिनी)
२. वही-पृ० ; १६८—(पतिव्रता)
३. 'पति बिनु पीव नाहिं, पति बिन गति नाहि।
सुन्दर सकल विधि एक पतिव्रत है।' —वही—
४. 'पतिबरता देखै नहीं आन पुरुष की ओर।
सुन्दर वह विभिचारिणी तकत फिरै ज्यों चोर ॥ ३० ॥'—सुन्दरदास ग्रंथावली ; पृ० ६६३
५. 'मारग जोवै विरहिनी चितवै पिय की ओर।
सुन्दर जियरे जक नहीं कल न परत निस-भोर ॥११॥' —वही; पृ० ६८१
६. 'हिन्दी सन्त-काव्य-संग्रह'—द्विवेदी तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी; पृ० १६६

हरिभजन ही इनका मूल उद्देश्य था। आपने भी यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार सुन्दरी (आत्मा) अपने प्रीतम (ब्रह्म) में लीन हो जाती है–जब दिल को दिल ढूंढ़ लेता है—'कहैं मलूक अब कजा न करिहौं, दिल ही सों दिल लाया'।[1]

वे अपने 'पीव' (हरि) के प्रेम में इतने मस्त हैं कि उन्हें हरि के प्रेम के प्याले की मस्ती अन्तिम सांस के साथ ही उतरेगी।[2] आपकी फकीरी की मस्ती देखते बनती है। वे अपने प्रिय के दर्शन न मिलने पर दुखी हैं तथा उसी दर्द के दीवाने भी हैं 'दर्द दिवाने बावरे, अलमस्त फकीरा'।[3]

सन्त धरनीदास—सन्त कवियों में आपके भावों में जो सौंदर्य एवं कोमलता देखने को मिलती है, कदाचित् किसी सन्त में नहीं है। यहाँ तक कि कोई-कोई समालोचक इनके भावों में स्त्रीत्व का प्राधान्य मानते हैं।[4] आपने वास्तव में नारी के विभिन्न रूपों पर जो प्रकाश डाला है, वह दर्शनीय है।

प्रियतमा बहुत दिनों से विदेश बसे हुए अपने प्रियतम के आगमन पर अपने को संभाल नहीं पाती। आनन्दविभोर हो उठती है और अपनी सखि से कह उठती है—जब मेरो यार मिले दिल जानी, होइ लवलीन करौं मेहमानी।' इतना ही नहीं, वह उन्हें पहले भोजन कराके जो बचेगा, वही जूठन खायेगी किन्तु उन्हें अपनी आँखों के सामने ही रखना चाहती है।[5]

बाबा धरनीदास (१६५६ ई०) नारी को बिजली एवं धन को फाँसी बताकर राम की कृपा से ही दोनों की रक्षा होना संभव बताते हैं।[6] साथ ही हरिजन स्नेही वेश्या को भी वे सामान्य स्त्रियों से श्रेष्ठ बताते हैं।[7]

सन्त सहजोबाई—सहजोबाई और दयाबाई बाबा चरणदास की दो प्रमुख शिष्याएं रही हैं। इनकी शिक्षा अधिक नहीं हुई थी। सत्संग अधिक न था। किन्तु

---

१. हिन्दी संत काव्य संग्रह; पृ० २७६
२. 'कठिन पियाला प्रेम का पियै जो हरि के हाथ।
बिन अमल माता रहै, उतरै जिय के साथ॥' —वही; पृ० २८०
३. वही; पृ० २७६
४. हिन्दी सन्त काव्य संग्रह ; पृ० १८७
५. 'धरनी इत उत फिरै न भोरे, सन्मुख रहहि दोऊ को जोरे।' —वही; १६६
६. धरनीदास की बानी संग्रह ; पृ० ११६
७. वही; पृ० ११७

विचार कबीरदास से मिलते-जुलते हैं। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'सहज-प्रकाश' प्राप्त है। इनके नारी-चित्रण में तत्कालीन युगीन नारी स्थिति का भी चित्रण मिलता है।

विरह-वर्णन—रात्रि-भर के वियोग के उपरान्त चकवी तो अपने प्रिय से मिल जाती है किन्तु राम से बिछुड़ी हुई आत्मा रात्रि के अनेक चक्रों के उपरान्त भी दर्शन-लाभ नहीं कर पाती। उस निष्ठुर प्रियतम को अपने प्रेमियों को तड़पाने में ही सुख मिलता है।[1] अन्य कवियों की तुलना में सहजोबाई ने न नारी की अति प्रशंसा ही की, न निन्दा ही।

अपने प्रियतम को प्राप्त करने के लिए प्रियतमा दक्षिण दिशा (नइहर), उत्तर (ससुराल) छोड़कर मानसरोवर में अपना श्रृंगार करने वाली है जहाँ उसे उनके दर्शन की आशा है। इतना ही नहीं, वह श्रृंगार करके चारों तरफ अपने पति को कैसे ढूँढ़ती है, इसका कितना सुन्दर चित्रण है।[2] प्रिय के प्रेम में दीवानों की दशा का वर्णन करते हुए आपने लिखा है कि 'प्रेम दिवाने जो भयो मत भयो चकनाचूर।'[3]

सन्त-दयाबाई—आप सहजोबाई की गुरु-बहिन थीं। नारी का यत्र-तत्र आपने जो चित्रण किया है, उसमें भी आत्मा (सुन्दरी) परमात्मा को प्राप्त करने के लिए उत्सुक एवं प्रेम में लीन दीख पड़ती है। आपका कथन है कि गुरु ही एक ऐसा मेरु-दण्ड है जो शिष्य को सर्वांगीण क्षेत्र में उन्नतिशील बना सकता है। उस युग में नारियों की गुरुभक्ति तथा गुरु में विश्वास प्रशंसनीय है। उन्हें यह पूर्ण विश्वास है कि—"बूढ़त लई निकास करि, गुरु गुन ज्ञान गहाय'।[4]

आत्मा का मिलन परमात्मा से वैसे ही होता है जैसे कि प्रियतमा का मिलन प्रियतम से होता है।[5]

नारी-हृदय का सान्निध्य पाकर सन्त कवयित्रियों के काव्य में विरहिणी का

---

१. 'बौरी है चितवत फिरूं, हरि आवै केहि ओर।
छिन उठूं छिन गिर परूं, रामदुखी मन मोर॥' —संतवानी संग्रह–
सहजोबाई–भाग १; पृ० १७१—दोहा ५

२. 'आतम नारि सुहागिनी, सुन्दर आपु संवारि।
प्रिय मिलने को उठि चली चौमुख दियना बारि॥' वही, (१६१३)

३. सहजोबाई–मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ ; पृ० ५५

४. दयाबाई की बानी–मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ; पृ० ५५

५. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ; पृ० ५५

हरिभजन ही इनका मूल उद्देश्य था। आपने भी यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार सुन्दरी (आत्मा) अपने प्रीतम (ब्रह्म) में लीन हो जाती है—जब दिल को दिल ढूंढ़ लेता है—'कहैं मलूक अब कजा न करिहौं, दिल ही सों दिल लाया'।[१]

वे अपने 'पीव' (हरि) के प्रेम में इतने मस्त हैं कि उन्हें हरि के प्रेम के प्याले की मस्ती अन्तिम सांस के साथ ही उतरेगी।[२] आपकी फकीरी की मस्ती देखते बनती है। वे अपने प्रिय के दर्शन न मिलने पर दुखी हैं तथा उसी दर्द के दीवाने भी हैं 'दर्द दिवाने बावरे, अलमस्त फकीरा'।[३]

सन्त धरनीदास—सन्त कवियों में आपके भावों में जो सौंदर्य एवं कोमलता देखने को मिलती है, कदाचित् किसी सन्त में नहीं है। यहाँ तक कि कोई-कोई समालोचक इनके भावों में स्त्रीत्व का प्राधान्य मानते हैं।[४] आपने वास्तव में नारी के विभिन्न रूपों पर जो प्रकाश डाला है, वह दर्शनीय है।

प्रियतमा बहुत दिनों से विदेश बसे हुए अपने प्रियतम के आगमन पर अपने को संभाल नहीं पाती। आनन्दविभोर हो उठती है और अपनी सखि से कह उठती है—जब मेरो यार मिले दिल जानी, होइ लवलीन करौं मेहमानी।' इतना ही नहीं, वह उन्हें पहले भोजन कराके जो बचेगा, वही जूठन खायेगी किन्तु उन्हें अपनी आँखों के सामने ही रखना चाहती है।[५]

बाबा धरनीदास (१६५६ ई०) नारी को बिजली एवं धन को फाँसी बताकर राम की कृपा से ही दोनों की रक्षा होना संभव बताते हैं।[६] साथ ही हरिजन स्नेही वेश्या को भी वे सामान्य स्त्रियों से श्रेष्ठ बताते हैं।[७]

सन्त सहजोबाई—सहजोबाई और दयाबाई बाबा चरणदास की दो प्रमुख शिष्याएं रही हैं। इनकी शिक्षा अधिक नहीं हुई थी। सत्संग अधिक न था। किन्तु

---

१. हिन्दी संत काव्य संग्रह; पृ० २७६
२. 'कठिन पियाला प्रेम का पियै जो हरि के हाथ।
बिन अमल माता रहै, उतरै जिय के साथ॥' —वही; पृ० २८०
३. वही; पृ० २७६
४. हिन्दी सन्त काव्य संग्रह; पृ० १८७
५. 'धरनी इत उत फिरै न भोरे, सन्मुख रहहि दोऊ को जोरे।' —वही; १९६
६. धरनीदास की बानी संग्रह; पृ० ११६
७. वही; पृ० ११७

विचार कबीरदास से मिलते-जुलते हैं। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'सहज-प्रकाश' प्राप्त है। इनके नारी-चित्रण में तत्कालीन युगीन नारी स्थिति का भी चित्रण मिलता है।

विरह-वर्णन—रात्रि-भर के वियोग के उपरान्त चकवी तो अपने प्रिय से मिल जाती है किन्तु राम से बिछुड़ी हुई आत्मा रात्रि के अनेक चक्रों के उपरान्त भी दर्शन-लाभ नहीं कर पाती। उस निष्ठुर प्रियतम को अपने प्रेमियों को तड़पाने में ही सुख मिलता है।[1] अन्य कवियों की तुलना में सहजोबाई ने न नारी की अति प्रशंसा ही की, न निन्दा ही।

अपने प्रियतम को प्राप्त करने के लिए प्रियतमा दक्षिण दिशा (नइहर), उत्तर (ससुराल) छोड़कर मानसरोवर में अपना शृंगार करने वाली है जहाँ उसे उनके दर्शन की आशा है। इतना ही नहीं, वह शृंगार करके चारों तरफ अपने पति को कैसे ढूँढ़ती है, इसका कितना सुन्दर चित्रण है।[2] प्रिय के प्रेम में दीवानों को दशा का वर्णन करते हुए आपने लिखा है कि 'प्रेम दिवाने जो भयो मत भयो चकनाचूर।'[3]

सन्त-दयाबाई—आप सहजोबाई की गुरु-बहिन थीं। नारी का यत्र-तत्र आपने जो चित्रण किया है, उसमें भी आत्मा (सुन्दरी) परमात्मा को प्राप्त करने के लिए उत्सुक एवं प्रेम में लीन दीख पड़ती है। आपका कथन है कि गुरु ही एक ऐसा मेरु-दण्ड है जो शिष्य को सर्वांगीण क्षेत्र में उन्नतिशील बना सकता है। उस युग में नारियों की गुरुभक्ति तथा गुरु में विश्वास प्रशंसनीय है। उन्हें यह पूर्ण विश्वास है कि—"बूढ़त लई निकास करि, गुरु गुन ज्ञान गहाय'।[4]

आत्मा का मिलन परमात्मा से वैसे ही होता है जैसे कि प्रियतमा का मिलन प्रियतम से होता है।[5]

नारी-हृदय का सान्निध्य पाकर सन्त कवयित्रियों के काव्य में विरहिणी का

---

१. 'बौरी है चितवत फिरूं, हरि आवैं केहि ओर।
छिन उठूं छिन गिर परूं, रामदुखी मन मोर ॥' —संतबानी संग्रह—
सहजोबाई—भाग १; पृ० १७१—दोहा ५

२. 'आतम नारि सुहागिनी, सुन्दर आपु संवारि।
प्रिय मिलने को उठि चली चौमुख दियना बारि ॥' वही, (१६१३)

३. सहजोबाई—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ ; पृ० ५५

४. दयाबाई की बानी—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ; पृ० ५५

५. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ; पृ० ५५

दुख और दैन्य और भी स्वाभाविक रूप में मूर्त हुआ है।[1] आपने प्रेम के पथ को बहुत ही अटपटा कहा है। उस मार्ग से कोई परिचित नहीं है। उसे ढूंढ़ने के लिए सबसे सरल मार्ग अपने मन की खोज ही है।[2]

सन्त पलटू साहब—आपके अनुसार प्रियतमा अपने प्रितयम को इस प्रकार आकर्पित कर लेती है कि वह उसके वश में हो जाता है।[3] जिस समय विधवा नारी अपने पति का पुकार करती है, उस समय पलटू साहब निन्दा करने से अछूते नहीं रहते।[4] ऐसी निन्दा अन्यत्र भी उन्होंने की है।

कामिनी—कामिनी के प्रेम में कामी अपना सर्वस्व भूल जाता है, वैसे ध्यान की कल्पना पलटू साहब ने भगवान के प्रति अपने मन में की।[5] कई स्थानों पर आपने कामिनी को ठगिनी, हस्ती तथा नागिन आदि कह कर निन्दा की है। एक स्थान पर उन्होंने कामिनी कीआँखों की उपमा शेर के पंजे से दी है।[6]

पतिव्रता—अन्य सन्तों की भाँति आपने भी सती नारी को पतिव्रता माना है। जो अपने पति की ही सेवा में लगी रहे, घोर विपत्ति में भी उसका साथ न छोड़े। वे कहते हैं—'सोई सती सराहिए, जरै पिया के साथ।'[7] प्रीति के सम्बन्ध में आपका कहना है कि प्रीति उस रंग के समान हो जो कपड़ा टुकड़े-टुकड़े होने पर भी साथ नहीं छोड़ता।[8]

विरह—विरह में पतंग जैसे अपने को जला देता है वैसे ही प्रियतमा अपने

---

१. 'काग उड़ावत कर थकै नैन निहारत बाट।
प्रेमसिंधु में परयो मन निकसत को घाट॥' —दयाबाई-सन्तबानी संग्रह;
२. वही; पद १३—दयाबोध; १६१८
३. पलटू साहब की बानी—भाग १, २, ३—बेलवेडियर प्रेस, १६२३-कुंडलियाँ १
४. 'पिसना पीसै रांड री पिव-पिव करै पुकार।
पलटू ऊपर से कहैं भीतर भरा विकार॥' —वही-कुंडलियाँ—३६
५. वही; कुंडलियां ६२
६. खरबूजा संसार है, नारी छूरी बैन।
पलटू पंजा सेर का, यों नारी का नैन।' —वही; १२६
७. पलटू साहब की बानी—१०८
८. वही; दोहा २४

प्रिय के प्रेम पर अपना प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहती है। वह अपने प्रिय की आस में 'आठ पहर निरखत रहे जैसे चन्द चकोर।'[1]

सन्त गरीबदास—अन्य संतों की भाँति सत्गुरु श्री गरीबदास में भी लोकोद्धार की भावना भरी थी। उस युग के सन्त कवियों में नारी चित्रण की भावना इस हेतु घर कर गयी थी कि लोग अति मायावी न हों बल्कि उद्धार की ओर बढ़ें। इसी भावना से प्रेरित होकर सन्त गरीबदास ने भी नारी-चित्रण की ओर ध्यान दिया।

पतिव्रता का अंग—आपने पतिव्रता नारी की यहाँ तक प्रशंसा की है कि उसके चरण की धूल सिर चढ़ाने योग्य होती है क्योंकि उसमें अहंकार नहीं, पतिपरायणता की भावना होती है।[2] माया के दो स्वरूपों को आपने मान्यता दी है। प्रथम, साँसारिक लौकिक नारी, जोकि मनुष्य को अवनति के गर्त में गिराती है और दूसरी, आदर्श नारी जो कि सन्तों को जन्म देती है। माता-रूप में नारी विशेषता की पात्र है।[3]

नारी निन्दा—आपने नारी की निन्दा भी की है किन्तु बहुत ही समुचित। आपने, माता, वेटी तथा वहन सभी को 'नागिन' कहा है। नारी सिंह न होकर बाघिनी के समान है। वुरी वला है, वह नागिन है, जिसने सारे संसार को डस लिया है—केवल मात्र सतगुरु ही सहायता कर सकता है।[4]

सन्त रैदास—आप आत्मा और परमात्मा में अन्तर नहीं मानते। दोनों को एक ही मानते हैं क्योंकि दोनों एकाकार होते हैं।[5] सन्त रविदास का कहना है कि वास्तविक परिचय प्राप्त करने का रहस्य केवल सच्ची 'सोहागिन' ही जानती है। जो अपना तन-मन सभी न्यौछावर कर देती और अहंकार का लेशमात्र भी अपने भीतर नहीं रखती। न कभी भेदभाव को ही प्रश्रय देती है। अपने पति के साथ

---

१. पलटू साहब की बानी; पृ० ५२३

२. 'गरीब पतिव्रता के चरण की, सिर पर रज ले राख।
पतिव्रता परब्रह्म है, सतगुरु बोले साख।।' —सद्गुरु गरीबदास महाराज की बानी; (१६२४)

३. गरीबदास की बानी—१६२४

४. 'नागिन सब जग डस लिया सत्गुरु करै सहाय।।' —वही; पृ० १०३-५३

५. 'तोही मोही, मोही तोही अन्तर कैसा।
कनक कटिक जल तरंग जैसा।।' —सन्त-काव्य; पृ० २१७

निरन्तर एक भाव से प्रेम न करने वाली स्त्री सदा दुःखिनी रहती है।[1] आपने मन की शुद्धि पर ही विशेष बल दिया है—'मन ही पूजा, मन ही धूप ही मन, सेंऊ सहज सरूप ॥[2]

निष्कर्ष—प्रस्तुत प्रबन्ध के पिछले पृष्ठों में हम इस बात पर विचार कर चुके हैं कि सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों के कारण नारी की जिस स्थिति तथा नारी के प्रति अनुरागात्मक अथवा विरागात्मक भावना का समाज में निर्माण और विकास होता है, प्रायः उसी का प्रतिबिम्ब युग के कवि और साहित्यकार की नारी-भावना पर पड़ता है।

सन्तों ने सदैव अपने भक्ति-मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाले अष्ट विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, कपट, आशा, तृष्ण) की निन्दा की है। इन विकारों में 'काम' सबसे भयंकर विकार है जिससे बचने के लिए सन्त और शास्त्र सदा से समझाते आये हैं। और काम का प्रमुख केन्द्र स्थान है नारी। अतएव इन ज्ञानमार्गी सन्तों ने नारी की निन्दा न कर नारी-रूपी काम की गर्हणा की है—

'नारी नसावै तीन सुख जो नर पासैं होय।
भगति, भुगति निज ज्ञान में बैठ न सकई कोय ॥'

सन्त दादूदयाल तो नारी के साथ-साथ पुरुष को भी काम का प्रतीक मानते थे, इसी कारण उन्होंने पुरुष को नारी का और नारी को पुरुष का वैरी माना है—

'नारी वैरिणि पुरख की पुरखा वैरी नार।
अंतकाल दून्यौ मुए दादू देखि विचार ॥
नारी पीवै पुरिख कूं पुरिख नारी कूं खाइ।
दादू गुरु के ज्ञान बिना दून्यों गए बिलाइ ॥

इन तथा पिछले पृष्ठों के नारी सम्बन्धी अनेक उदाहरणों के माध्यम से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि ये सन्त अपने काल की प्रमुख बुराई कामिनी और कंचन को मानते थे। उन्होंने अपनी आडम्बर हीन अटपटी बानी (मुक्तक रूप में) द्वारा मानव की राग-भावना को सदाचार और संयम की ओर प्रेरित किया। वे तो ब्रह्म के साधक थे अतएव उन्होंने कविता करने की दृष्टि से काव्य की साधना नहीं की।

---

१. 'उत्तरी-भारत की सन्त-परम्परा'—परशुराम चतुर्वेदी; पृ० २४४
२. 'हिन्दी सन्त-काव्य संग्रह'—द्विवेदी तथा परशुराम चतुर्वेदी; पृ० २७३

तत्कालीन समाज में नारी अनैतिकता का केन्द्र हो गई थी। ऐसी स्थिति में सन्तों को नारी का कामिनी रूप असह्य हो उठा था। वे नारी के प्रति लोगों में त्याग की भावना उत्पन्न कर शोषित नारी को मुक्ति दिलाना चाहते थे। इन सन्तों ने नारी को घृणा की दृष्टि से कहीं भी नहीं कोसा है, वे तो सदैव नारी के कन्या-रूप, पत्नी-रूप, जननी-रूप, के प्रशंसक थे। उन्होंने हर स्थान पर सती और पतिव्रता का सम्मान किया है और साधना के क्षेत्र में भी उसे अपनाया है। कबीर, दादू और चरण दास की शिष्याएं थीं।

ये सन्त निराकार अरूप के प्यासे थे। रूप का आकर्षण उनकी साधना मार्ग में बाधा उपस्थित करता था, इसी कारण मानव-जीवन के बाह्य सौन्दर्य का चित्रण करने में उनकी कोई रुचि न थी। उन्होंने नारी का स्वरूपगत चित्रण न कर मात्र स्वभावगत चित्रण पर ही ध्यान दिया है और उसी में नारी-विषयक भावनाएं प्रकट की हैं। नारी के माध्यम से उन्होंने प्रबल विषय-भोगकी भर्त्सना भी की है।

कबीर आदि सन्तों ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह आध्यात्मिक और अलौकिक प्रेम है और उसमें कहीं भी सांसारिक वासना के दर्शन नहीं होते। इन सन्तों के प्रेम-मार्ग में कोई भेद-विभेद न था। वहाँ तो कहा जाता था कि 'हरि को भजै सो हरि का होई'। उनकी कविता में प्रयुक्त दाम्पत्य-प्रेम से सम्बन्धित कई शब्द—दूल्हा, दुलहिन, बालम, सेज, भरतार, घूंघट, रंगमहल आदि—प्रेम के सुन्दर प्रतीक माने जाते हैं। इन सन्तों की रचनाओं में दाम्पत्य-जीवन की पवित्रता पर अधिक बल दिया गया है।

भारतीय परम्परा के अनुसार इन सन्तों ने अपने आपको पत्नी रूप में ही मानना अधिक उपयुक्त समझा है क्योंकि पत्नी (नारी) ही प्रेम की भिखारिणी होती आई है, पति (पुरुष) नहीं। उन्होंने आत्मा को स्वकीया नायिका माना है और विरह वर्णन में विरहिणी की मानसिक तथा शारीरिक दशा का चित्रण और प्रेम की तीव्र व्याकुलता भी व्यंजित की है। प्राचीन एवम् मध्य-युग के सन्धि-काल में जन्म लेने वाले इस सन्त-साहित्य में जैसी भाव विह्वलता, तटस्थता, निष्पक्षता, स्वच्छन्दता, समन्वय की भावना तथा प्रेम सम्बन्धी विकलता और विदग्धता देखी है वैसी अन्यत्र पाना कठिन है। इसी कारण इन सन्तों की काव्य-कल्पना ने शिक्षित-अशिक्षित सभी को अपनी ओर अकर्षित और प्रभावित किया है।

(ख) प्रेमाश्रयी धारा

(१) हिन्दी सूफी-काव्य—सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि इस शब्द की उत्पत्ति 'सफा' शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'पतिव्रता', स्वच्छता है। इसीलिए सूफी कहलाने के अधिकारी वे ही हो सकते हैं जो मन, वचन तथा कर्म तीनों से शुद्ध हों। 'सफा' शब्द का व्यवहार निष्कपटता के लिए भी होता है, इसीलिए कहा गया है कि सूफी परमात्मा तथा सूक्ष्म प्राणियों के प्रति निष्कपट होते है। तीसरे मत के अनुसार इसका प्रादुर्भाव 'सोफिया' (ज्ञानी) शब्द से माना जाता है अर्थात् सूफियों को हम परम-ज्ञानी समझ सकते हैं, 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सफ़' शब्द से हुई है जिसका तात्पर्य 'प्रथम श्रेणी' से ही लिया जाता है। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति 'सूफ' शब्द से मानते हैं जिसका तात्पर्य ऊन है अर्थात् जो पहनावे में मोटे वस्त्रों का प्रयोग करते थे। कुछ लोग इसका सम्बन्ध 'सुफ़्फा' अर्थात् मदीना की मसजिद के सामने के चबूतरे से जोड़ते हैं कि सर्वप्रथम उस पर बैठने वालों को ही सूफी कहा जाता था।

एक शब्द 'सूफ' ऊन शब्द से बना है और सर्वप्रथम वे ही फकीर (विरक्त) सूफी कहलाये, जो ऊनी कम्बल ओढ़कर घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार करते थे। श्री बाँकेबिहारी ने भी अपने ग्रन्थ 'ईरान के सूफी कवि' में बतलाया है कि यह फिर्का कम्बल (सूफ़) पहनता था, इस कारण सूफ़ी कहलाया। इनके पूर्वज अहले सुफ्फाह (हज़रत साहब) के साथी थे, इस कारण ये सूफ़ी कहलाये। इस शब्द 'सूफ़ी का उद्गम फैल सूफ़ (Philosophy) है जिसका मूल अर्थ ज्ञान है। इस सम्बन्ध में डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का कथन है कि इस सम्बन्ध में 'हम चाहे जो भी परिभाषा उपयुक्त समझें, एक सत्य निर्विवाद रूप से स्वीकार करेंगे कि यह एक सन्त-सम्प्रदाय था जिसमें सरलता, सादगी, संन्यास, साधना और पवित्रता की विशेष मान्यता थी।[1] इन कथनों का तात्पर्य हमारे विचार से यही है कि सूफ़ी वे सन्त कहलाये जो सीधे-सादे, मनोविकारों का दमन कर, विचार-शुद्धि से युक्त एवं आध्यात्मिक साधनाओं में ही दिन-रात डूबे रहकर घूमते फिरते अपने ज्ञान और मत का प्रचार करते थे।

'सूफ़ी' शब्द का व्यवहार किसी व्यक्ति के नाम के साथ उपाधि रूप में जुड़ा हुआ कब से मिलता है, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। लेकिन कुशैरी के अनुसार इस शब्द का प्रचलन ईसा की नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बहुत अधिक हो गया

१. 'जायसी का पद्मावत'—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत—काव्य और दर्शन; पृ० ११८

था ।[1] पण्डित परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि एक प्राचीन परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि 'सूफ़ी' नाम सर्वप्रथम शेख अबू हाशिम को दिया गया था ।[2] अब्बासी खलीफ़ों के शासन काल में मुस्लिम रहस्यवादी साधकों के लिए 'सूफ़ी' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा था ।

सूफ़ी काव्य के दिग्दर्शन से हमें शुद्ध भारतीय प्रेमाख्यान तथा चरित काव्यों की परम्पराओं का ज्ञान होता है । यद्यपि इस युग के सभी कवि मुसलमान थे, तथापि उन्होंने बड़े ही कलापूर्ण ढंग से फ़ारसी और भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का समन्वय प्रदर्शित किया है । इन कवियों की लेखनी से रचित सम्पूर्ण कथानक भारतीय साहित्य का अनुगमन करता है ।

सूफ़ी कवियों ने अपने अलौकिक प्रेम को प्रकट करने के उद्देश्य से अपने प्रेमाख्यानों की रचना मसनवी (द्विपदी) पद्धति में की । सूफियों ने ही यहाँ पर पहले-पहल इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम) और इश्क हकीकी (अलौकिक प्रेम) की सात्त्विक एकता का आदर्श सबके सामने रखा । उन्होंने अपनी प्रेमगाथा शैली के सहारे यह सिद्ध किया कि पार्थिव प्रेम ईश्वरीय बन सकता है । स्वकीया और परकीया दोनों के प्रेम को उन्होंने समान महत्त्व प्रदान किया है । भारतीय संतों ने भी इनका अनुसरण अन्यान्य क्षेत्रों में किया है ।

हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में मुस्लिम जनता तथा संस्कृति का प्रभाव हिन्दू-धर्म पर पूर्ण रूप से पड़ा । इस कारण उस काल में दोनों जातियों में मतभेद को समाप्त करने के लिए सन्त महात्मा पैदा हुए । मुसलमानों में यही 'सूफी' संज्ञा से विभूषित हुए । लौकिक-प्रेम में जो दशा एक प्रेमी की अपने प्रिय को पाने के लिए होती है, वही दशा सूफी की अपने प्रिय परमात्मा को प्राप्त करने की होती है । आदि-युग (वीरगाथा-काल) में सूफी फकीर मुल्ला दाऊद ने 'नूरक और चंदा' की प्रेम-कहानी लिखी । यद्यपि इनकी वर्णन-शैली फारसी की मसनवी शैली पर आधारित है तथापि इनके चित्रण का आधार प्रेम ही है तथा आत्मा और परमात्मा का मिलन किस प्रकार होता है, यह उन्होंने दिखलाया है । सूफ़ी फकीर परमात्मा को अपने प्रियतम के रूप में मानकर उपासना पद्धति में अग्रसर हुए ।

हिन्दी की सूफ़ी प्रेमगाथाओं का प्रादुर्भाव कब हुआ यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है, केवल जायसी के 'पद्मावत' में पूर्ण रूप से हिन्दी का अनुगमन मिलता है ।

---

१. 'सूफी-मत'–साधना और साहित्य–श्री रामपूजन तिवारी; पृ० १७३
२. 'सूफी काव्य संग्रह'—परशुराम चतुर्वेदी; पृ० २०

इसके पहले जो कुछ प्रचलित था उसमें वैभिन्नता का समावेश मिलता है। यद्यपि इस काव्य-धारा के विकास के पूर्व साहित्य के क्षेत्र में तथा वर्णन में राधा-कृष्ण, नल-दमयन्ती और ऊषा-अनिरुद्ध मिलते हैं पर सूफी काव्य में जो भी उल्लिखित विशेषताएँ हैं वे इनसे भिन्न हैं। ऐतिहासिक आधारों का अनुगमन सूफ़ी-काव्य में अत्यधिक किया गया है। 'पद्मावती' में काल्पनिक अप्सराओं का जो चित्रण किया गया है, वह फ़ारसी की मसनवी शैली का ही अनुगमन है। सूफ़ी काव्य में ईश्वर की उपासना प्रियतम के रूप में की गयी है, उसमें हिन्दू संस्कृति का भी पूर्ण अनुसरण दर्शनीय है।

(२) **प्रेमगाथाओं की परम्परा**—जिस प्रकार 'सूफ़ी' शब्द 'सूफ़ी-मत' तथा सूफ़ी-काव्यों के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं, उसी प्रकार सूफी प्रेमाख्यान काव्यों की रचनाओं के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ विद्वान प्रेम-काव्यों की रचना का प्रारम्भ चौदहवीं शताब्दी मानते हैं और कुछ सोलहवीं शताब्दी। 'हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की एक लम्बी परम्परा रही है। हिन्दी का प्रथम उपलब्ध सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य मौलाना दाऊद लिखित 'चन्दावन' या 'चन्दायन' है। वैसे सम्पूर्ण काव्य अभी तक उपलब्ध नहीं है, फिर भी हाल ही में डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त द्वारा सम्पादित इसका एक अच्छा संस्करण, जो अपूर्ण ही है, प्रकाशित हुआ है। हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई द्वारा सन् १९६४ में प्रकाशित यह रचना प्रेमाख्यानक काव्यों के अध्ययन की दृष्टि से बड़ी ही महत्वपूर्ण है। यह ईसवी सन् की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना है। इसी प्रकार अभी तक हिन्दी के जिन प्रेमाख्यानकों का पता चला है उनमें शेख रहीम का 'भाषा प्रेम-रस' अन्तिम प्रतिनिधि रचना है। इसका रचना-काल सन् १९१५ ई० है। अतएव हम सहज ही देख सकते हैं कि इस विशिष्ट काव्यधारा का इतिहास लगभग छः सौ वर्षों का है'।[1]

काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के अनुसार भी प्रेम-काव्यों के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के अनेक प्राप्त हुए हैं। '१९०२ के 'हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज-विवरण' में जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है, एक सूचना (नो० ३७) 'मैना-सत' के सम्बन्ध में दी हुई है। जिसके लेखक का नाम अणत कहा गया है। इसका विस्तार १८० श्लोकों का बताया गया है। विज्ञप्ति प्रति पूर्ण, किन्तु अशुद्ध पाठ की, देवनागरी लिपि में लिखी बतायी गयी है। इसकी प्राप्ति का स्थान राजकीय पुस्तकालय, जोधपुर दिया गया है।………पुस्तक के विषय के

१. 'जायसी'—श्री रामपूजन तिवारी; पृ० ९

सम्वन्ध में इतना ही कहा गया है कि उसमें मैंना नामक एक स्त्री की कथा है। जिसने सतीत्व का निर्वाह किया, यद्यपि उसको अनेक प्रलोभन उसके सत्य-पथ से विचलित करने के लिए दिये गये। सूचना में पुस्तक के सूचना-काल के सम्वन्ध में कुछ नहीं कहा गया है।[1] लेखक ने इसी संदर्भ में पटना विश्वविद्यालय के इतिहास के प्रोफेसर एस० एच० अस्करी के 'ए न्यूली डिस्कवर्ड वाल्यूम आफ अवधी वर्क्स' नामक लेख के उस गुटके की चर्चा भी की है जो फारसी में लिखा है। "जिसमें संकलित कुछ प्रतिलिपियाँ ६११ हिजरी (सं० १५६१) की प्रतियों से की गयी हैं। प्राध्यापक श्री असकरी के अनुसार इसका प्रतिलिपि-काल शाहजहाँ का शासन-काल होना चाहिए क्योंकि उसके एक ऊपरी पृष्ठ पर कुछ छंदों में शाहजहाँ तथा उसके सामन्तों की प्रशंसा की गयी है।[2] इसके अनुसार 'मैना' एक अवधी की कहानी है।

इन सूफी-सन्त-कवियों कुतवन, जायसी, मंझन, उसमान, नूर मुहम्मद, शेख-नवी, कासिमशाह आलम, शेख निसार, रहीम, नजीर आदि ने अवधी में प्रेम-काव्यों की रचना की है। श्री अख्तर हुसेन निजामी ने अपने प्रेम-चिनगारी नामक लेख में लिखा है—'सोलहवीं शताब्दी में सूफियों ने अवधी में मसनवी (काव्य) लिखना आरम्भ किया और उनके प्रेम-काव्यों की परम्परा तब से लेकर वीसवीं शताब्दी तक चली आयी है। मुहम्मद नसीर गाजीपुरी का 'प्रेम-दरपन' उर्फ 'यूसुफ-जुलेखा' कानपुर के मजीदे छापेखाने से हिजरी सन् १३३१ (वि० १६७४) में प्रकाशित हुआ था। 'प्रेम-चिनगारी' नामक मसनवी एकमात्र ज्ञात हस्तलिखित प्रति फारसी अक्षरों में है।'[3] इसके रचयिता शाह नजफअली सलोनी है जिन्होंने इसे अपनी मातृभाषा अवधी में लिखा है। हाफिज नजफशाह ने 'प्रेम-चिनगारी' में रूमी की मसनवी की दो कथाओं का अनुवाद अवधी भाषा में दोहे-चौपाइयों में किया है, जिसका समाप्ति-काल १२६१ हि० (वि० १६०२) है। पुस्तक ईश-वन्दना से प्रारम्भ होती है।

'सुमिरौ आदि अलख कर नाऊं। जाकर राजपाट सब ठाऊं॥

इसके वाद मुहम्मद का नाम-स्मरण है—

'गुपुत भेद परगट दिखलावा। रचा मुहम्मद नाम सुहावा॥'

---

१. 'अवन्तिका' (जुलाई, १६६४)—सम्पा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पटना-विचार-संचय-साधन का 'मैना-सत'; पृ० ७८

२. विहार रिसर्च सोसायटी जर्नल (मार्च-जून, १६५३); पृ० १०

३. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—(वर्ष ५७, सं० २००६); पृ० ४६

मौलाना रूमी की पहली हिकायत (कथा) में मानव को बाँसुरी मानकर सूफी अद्वैत को समझा गया है। शाह साहा बाँसुरी के बड़े प्रेमी थे। इसीलिए उन्होंने बाँसुरी की कथा बड़ी रुचि से लिखी है। चिश्तिया फकीर बड़े संगीत-प्रेमी होते हैं। रीवाँ मुहल्ला घोघर (तुर्कहटी) में सुमानी नामक एक सज्जन बाँसुरी पर बघेली के ये बोल फूँकते थे—

'मितऊ हो काहे सुध विसराइया हमार।
जब हिन कह्या तई ओरा निवहबई।
छांड़िऊ दिह्या मंझधार॥ मितऊ हो.......[1]

सूफी प्रेमाख्यानों की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि वे लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम को प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहे। 'सूफियों के मतानुसार लौकिक प्रेम (इश्क मिजाज़ी) तथा अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यदि पहला वास्तविक और शुद्ध है तो उसका दूसरे में भी परिवर्तित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है और इस कारण हम चाहें तो पहले को दूसरे की पूर्ण परिणति का एक दृढ़ साधन भी बना सकते हैं।'[2] अपनी इन प्रेम-कथाओं में इन कवियों ने आध्यात्मिक ढंग से व्याख्या की है किन्तु समस्त कथाओं की लेखन पद्धति लगभग एक-सी ही दीख पड़ती है।

इन प्रेम-कथाओं में मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' (सं० १४३६) शेख कुतबन रचित 'मिरगावति' जिसका रचना-काल हिजरी ६०६ अर्थात् (सं. १५६०)हुआ है, हिन्दी की सूफी प्रेमगाथाओं में सर्वप्रथम रचनाएं मानी जाती है। 'मिरगावती' में 'चन्द्रगिरी' के राजा गणपति देव का पुत्र तथा कंचन नगर के राजा रूपमुरारी की पुत्री मृगावती की प्रेम कथा है। इसके उपरान्त जायसी की 'पद्मावत' है जिसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन तथा सिंहल द्वीप के राजा गंधर्वसेन की पुत्री नागमती के अनुराग एवं विराग की कथा है। इसके पश्चात् मंझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली', मुल्ला गवासी, जो 'मलिकुल शुअरा' कहलाये, उनकी 'बदरूल जमाल व सैफुल मुल्क' जो फारसी से अनुवादित मसनवी ग्रन्थ है, विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त उन्हीं की 'तूतीनीम' (शुक संतति),कासिम शाह की 'हंस जवाहिर', शेरा निसार की 'यूसुफ और जुलेखा', मुल्ला वजही की 'सबरस' दखिनी हिन्दी की उल्लेखनीय कहानी हैं। इसी

---

१. वही; पृ० ५०
२. 'भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा'—पं० परशुराम चतुर्वेदी ; पृ० ८७

प्रकार नूर मुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' की कथा काफी उच्च कोटि की मानी जाती है।

(३) सूफी जीवन-दर्शन—यद्यपि सूफी कवियों ने इस्लाम को मान्यता दी है परन्तु इनके सिद्धान्त इस्लाम से भिन्न हैं। धार्मिक कृत्य आदि पर ये विशेष बल नहीं देते। बाह्याचार को इन लोगों ने आडम्बर कहा है। सूफी वही हो सकता है जो तृष्णा, काम, क्रोध आदि मनोविकारों का दमन कर डाले।

सूफी मतावलम्बी अपने खुदा को हृदय से मानते हैं। प्रेम और अनुराग ही उनका जीवन है। लौकिक प्रेम को वे अपने लक्ष्य तक पहुंचने का साधन मानते हैं। यही कारण है कि सूफी कहते हैं कि--इश्कमजाजी इश्क हकीकी की सीढ़ी है, उसी के द्वारा इन्सान खुदा को भेंटकर खुदा बन सकता है।'[1] सन्त कवियों की भाँति इन्होंने भी प्रेम को बहुत अधिक महत्व दिया है। उनकी आस्था एक मात्र प्रेम पर अवलम्बित थी उनके अनुसार प्रेम में मरने वाला अमर हो जाता है।[2] कवि इन्द्रावती के प्रेम की भिक्षा पाने पर ही कहता है—'होई दयाल अलख मोहि जवही।' कवि प्रेम के प्याले को ही जोग का प्याला मानता है।[3]

सूफी-मत में सर्वात्मवाद पर अधिक बल दिया गया है। हर एक वस्तु में वे अपने उपास्य का ही नूर तथा अप्रतिम सौंदर्य देखते हैं। उनका ख्याल था कि वियोग मानव को अमरत्व प्रदान करता है। उनके अनुसार—'जिहि तन, मन विरहारा संचरै, सो जिउ जीवै जीवै नहि पुनि मरै।'[4]

सूफी कवियों ने अपने उत्कट प्रेम की अभिव्यक्ति दाम्पत्य-भाव के प्रतीक द्वारा की है। इसमें उन्होंने परमात्मा को स्त्री और आत्मा को पुरुष माना है। इब्नुल

---

१. तसव्वुफ या सूफी-मत—चन्द्रवली पाण्डेय; पृ० ११–दि० स० १९४८
२. 'इन्द्रावती–नूर मुहम्मद—हिन्दी के कवि और काव्य; पृ० ७८–भाग ३
३. 'हौं इन्द्रावति जोगी, जोग पियाला हाथ।
दरसन भिक्षा मांगऊं, मन लागा तेहि साथ॥' —कवि नूर मुहम्मद-कृत
'इंद्रावती - भाग प्रथम–श्यामसुन्दर दास
दर्शन खंड; पृ० ८०—दो० ६
४. 'आलम माधवानल'–काम कन्दक–हिन्दी के कवि और काव्य—(भाग ३); पृ० २०३

अरवी के अनुसार ईश्वर को स्त्री रूप में मानकर उपासना करना ही श्रेष्ठ है।[1] उनके अनुसार 'प्रेम का मूल कारण सौन्दर्य ही है। और सौंदर्य की प्रशंसा के लिए जो प्रेम किया जाता है यथार्थ में उसी में रति की सार्थकता है। इसलिए साँसारिक सौन्दर्य की प्रशंसा प्रेम के परिपाक का कारण होती है। यही साँसारिक प्रेम अलौकिक प्रेम का निमित्त हो जाता है।'[2] आगे चलकर महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने गोपी वनना मानव जीवन का लक्ष्य माना है।[3]

फारसी काव्य में परम्परानुसार विरह वेदना में पुरुष अधिक व्यग्र होता है। इसलिए सूफी कवियों ने आत्मा को पुरुष माना है। उनका विचार था कि विश्व की सृष्टि के पहले आत्मा परमात्मा के पास थी। उसका यह पार्थिव अस्तित्व निर्वासन-सा है और उसकी वियोग-भावना घर की याद-सी है।[4] सूफियों ने मृत्यु को महामिलन माना है। मृत्यु के बाद जीवात्मा चिरकालीन विरह वेदना को झेलकर असीम अनन्त में मिल जाती है। यही उनका काव्य एकता के वैवाहिक मंडप में परमात्मा के साथ रहस्यमय विवाह है।[5]

प्रेम-कथाओं में पुरुष में ही प्रेम का उत्कर्ष अधिक दिखाया गया है। विरह-वेदना पुरुष में ही अधिक है। इन कवियों ने लौकिक प्रेम-कथाओं द्वारा आध्यात्मिक विचार प्रकट किये हैं। इनके कथनानुसार नायिका का वास-स्थान अगम्य है। वहाँ पहुँचने पर मानव को अनन्त सुख व शान्ति प्राप्त होती है। वह फिर सांसारिक संतापों को सहने नहीं आता है।[6] सूफी-काव्यों में आध्यात्मिक संकेत के विषय में मतभेद है। अन्य कवियों के वर्णन में नखशिख वर्णन का ही आधिक्य है। 'इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस प्रेम तत्त्व का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर में मिलने वाला है।[7]

---

१. 'स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टिसिज्म'—निकल्सन; पृ० १६१
२. सूफी कवियों की सौन्दर्यानुभूति—श्री उदयशंकर शास्त्री (समालोचक का सौंदर्य शास्त्र विशेषांक)
३. 'यच्च दुःख यशोदायां नन्दादीनां च गोकुले।
   गोपिकानां च यद् दुःखं तद्दुःखं स्यान्‌ मम् क्वचित॥'—षोडश ग्रंथ; पृ० २
४. 'मिस्टिक्स आफ इस्लाम'—निकल्सन; पृ० ११६
५. वही; ११६
६. जायसी—जायसी-ग्रंथावली—माताप्रसाद गुप्त; पृ० १३८
७. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल; पृ० ७१—सं० २०१२

डा० रामकुमार वर्मा ने इन प्रेम-गाथाओं का प्रारम्भ मुल्ला दाऊद की 'नूरक और चन्दा' से माना है—'धार्मिक काल के प्रेम-काव्य का आदि 'इन्द्रावत' या 'चन्द्रावत' से ही मानना चाहिए। यद्यपि इस प्रेम-कथा की परम्परा बहुत बाद में आरम्भ हुई, पर उसका श्रीगणेश मुल्ला दाऊद ने कर दिया'।[1] जायसी के दिये हुए प्रसंग में से उनके पूर्व की केवल मृगावती और मधुमालती प्राप्य हैं, शेष अप्राप्य हैं।

मृगावती	....कुतबन	....१५५८ सं०	....१५०१ ई०
मधुमालती	....मंझन	....१५५० सं०	....६५ सं० का मध्यकाल (१४६३-१५३८ के मध्य)
पद्मावती	....जायसी	....१५६७ सं०	....१५४० ई०
चित्रावली	....उस्मान	....१६७० सं०	....१६१३ ई०
माधवानल / काम कन्दला	....आलम	....१६६७ सं०	....१६४० ई०
इन्द्रावती	....नूर मुहम्मद	....१८०१ सं०	....१७४४ ई०

आदि युग (वीरगाथा-काल) की संध्या से आरम्भ होकर सूफी काव्य रचना आधुनिक-काल तक चलती रही। रीतिकालीन काव्य-चमत्कार, विविध छंद रचना, नायक-नायिका भेद, रस एवं रीति चर्चा पाण्डित्य प्रदर्शन, इन सभी विशेषताओं का सर्वाधिक प्रभाव 'जान' कवि पर ज्ञात होता है। अकेले उन्होंने ही ७१ ग्रन्थों की रचना की।

(४) **सूफी साधना में प्रेम**—प्रेम एक अनिवर्चनीय वस्तु है। प्रेम का साधारण अर्थ उस आनन्दमयी अनुभूति से है जो किसी व्यक्ति के गुण सौन्दर्य आदि के सान्निध्य से प्रेमी को प्राप्त होती है। प्रेम सर्वदा सम्मानित होता आया है जबकि काम का उल्लेख एक वासना के रूप में ही होता रहा है। वासना की तृप्ति होने के पश्चात् व्यक्ति विशेष का महत्व कम हो जाता है किन्तु प्रेम दिन-प्रति-दिन विकसित और गम्भीर होता जाता है। काम स्वार्थपरक होता है जबकि प्रेम हृदय-परक अथवा

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डा० रामकुमार वर्मा; पृ० ४३६

मानसिक। तभी तो प्रेम की प्रशंसा में सूफी कवियों ने प्रशंसा के पुल बांधे हैं[1] और प्रेम को भगवान का रूप दिखाने वाला कहा है।"[2]

इन सूफी कवियों ने कहीं भी सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध प्रेम की व्यंजना नहीं की है क्योंकि किसी भी नायक का सम्बन्ध परस्त्री से नहीं दिखाया गया है। यदि कहीं किसी नायक का परिचय किसी सुन्दरी से होता है तो वह उसे तिरस्कृत कर देता है अथवा उसे बहिन नाम से सम्बोधित करता है। इसी प्रकार इन कवियों ने पत्नियों द्वारा पति की श्रेष्ठता को महत्व प्रदान कराया है। उनकी पत्नी अपना पृथक अस्तित्व न बनाकर पति की, अथवा पति के लिए ही हो जाना चाहती है। सूफी कवियों ने नारी की पति-भक्ति सौतों से ईर्ष्या-द्वेष न रखना, पति को सन्तुष्ट रखने के लिए स्वयं कष्ट उठाना, दूतियों से दूर रहना, पति के न रहने पर जीवन त्याग देना और पति के न रहने पर शृंगार न करना आदि नारी के प्राचीन आदर्शों का भी सुन्दर चित्रण किया है।[3]

---

१. (क) 'प्रेम आग के बाढ़े, मेघा भयो मलीन।'—नूर मुहम्मद—इन्द्रावती

(ख) "भूला सबै जगत का धंधा, पड़ा जो आन प्रेम का फंदा।'—कासिम शाह-हंस-जवाहिर'—पृ० ७२

(ग) प्रेम पीर जो भीतर होइ, सुमिरि-सुमिरि सो निशि-दिन रोई।
—शेख रहीम-प्रेम-रस

(घ) 'नाहीं सरग क चाहीं राज,
ना मोहि नरक सेंवत किछु काजू।
चाहों ओहि कर दरसन पावा,
जेई मोहि आनि प्रेमपथ लावा॥'—जायसी–'पद्‌मावत'

२. प्रेम ज्ञान हरि रूप देखावै।'   —शेख रहीम–प्रेम–रस

३. (क) 'औ चित लाइ करव पिउ सेवा, एकं पीउ दोउ जगसुत देवा।
मंत्र तंत्र साधव जनि कोई, सेवा एक पीउ वस होई।
सो वस होई तो गरव न करिये, आपु अधीन होई मन हरिये।
सौतिन कर इरसा नहि करना, साई संग सदा जिय डरना।
अलप मान सेवा अधिक, रिसि राखव जिउ मारि।
जेहि घर मंह ये तीन गुन, सोइ सोहागिन नारि॥'—चित्रावली-उस्मान; पृ० २२३-२४

(ख) 'धन सो धन जेहि बिरह वियोगू।
प्रीतम लागि तजै सुख भोगू॥'   —'ज्ञानदीप' —शेखनवी

सूफी-प्रेमाख्यानों के कवियों ने प्रेमपात्र का स्थान प्रधानतः नारी ही को दिया है और नारी ही के माध्यम से उन्होंने उस परमात्मा-तत्त्व का भी प्रतिनिधित्व किया है जो उनके ईश्वरीय प्रेम का लक्ष्य है।[1] इन रचनाओं में नारी ही उस 'नूर' का प्रतीक है जो समस्त सृष्टि का मूल स्रोत है और वही उस पूरक का भी काम करती है जिसके अभाव में समस्त मानव-जीवन ही सूना है। इन प्रेमाख्यानों में हमें ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ स्वयं नारियों ने पुरुषों ही के प्रति प्रेमासक्ति का भाव, सर्वप्रथम, प्रदर्शित किया है। इनमें कभी-कभी ऐसी पत्नियाँ भी मिल जाती हैं जो अपने पति के विरह में विभिन्न प्रकार की यातनाएँ भोगा करती हैं।

'सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपने प्रेम-साधना के साध्य-रूप में स्वीकार किया है जिस कारण वह उनके यहाँ किसी प्रेमी के अलौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती। वह उस प्रकार की साधन-सामग्री भी नहीं कहला सकती जिस रूप में उसे बौद्ध-सहजयानियों ने महामुद्रा नाम देकर सहज-साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधकों की दृष्टि में स्वयं एक सिद्धि बनकर आती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्रायः अलौकिक गुणों से युक्त भी बतलाया जाता है'।[2]

इन सूफी कवियों ने इसी कारण नारी को अपनी रचनाओं में बहुत कुछ स्वतंत्र रूप देकर चित्रित किया है और उसे वैवाहिक जीवन के प्रभावों से मुक्त ठहराया है। इन सूफी कवियों की रचनाओं में 'परकीया' नायिकाओं का भी अभाव

---

१. 'नर नारिन के अंग मा वहै नूर परकास।
सब जग मोहेउ नूर वह बनिकै लोहू मास॥
कहियो रूप नर के संग रहई।
नारी निरखि प्रेम बस दहई।
जस यूसुफ के रूप जुलेखा।
प्रेम के बस होइकै दुख देखा।
कहियो नारि के अंग बिराजे।
नर लोभाय प्रेम वहु ताजे।
जस मंजनू लैला पर सोहा।
नल दमयन्त रूप जस सोहा।
शीरीं सर फरहाद लोभाना।
प्रेम पंथ जिउ लोभ न माना।' —शेख रहीम—प्रेम रस में

२. हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खण्ड)—सम्पा० डा० धीरेन्द्र वर्मा पृ० २६२

नहीं जान पड़ता। नारी यद्यपि पुरुष के लिए जीवन का लक्ष्य नहीं बनाती किन्तु वह सुन्दर पुरुष के प्रति आकृष्ट तो होती है।[1]

(५) **सूफी कवियों का नारी-चित्रण**—हम पिछले पृष्ठों में बतला आये हैं कि सूफी-दर्शन में प्रेम का बड़ा महत्व है। इन सूफी संतों ने नारी को प्रेम और उपासना की वस्तु समझ उसे त्याग और उत्सर्ग प्राप्त करने की बात कही है। नारी पर बल प्रयोग अथवा कृपाण की धारा द्वारा उस पर अधिकार नहीं किया जा सकता। सूफी-कवियों ने नारी को कल्याण तथा सत् की विधायिका माना है। सन्त कवियों की तरह नारी को असत्य का प्रतीक, नरक का द्वार, तप के लिए बाधा नहीं माना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सूफी कवियों का दृष्टिकोण नारी के प्रति बहुत ही भव्य था क्योंकि उन्होंने नारी को अनन्त का प्रतीक माना है।

कथानकों के मध्य में इन कवियों ने भी नारी की दुर्बलताओं और दुर्गुणों का उल्लेख कर उसकी व्याख्या की है, उसे मतिहीन और भोग की ओर उन्मुख करने वाली कहा है। इन कवियों के अनुसार नारी का प्रेम और अनुराग पुरुष के लिए काव्य है। नारी के विमोहक सौन्दर्य पर वह मुग्ध हो जाता है और प्रेम का भिखारी बनकर दर-दर की फेरी लगाने लगता है।[2] वह नारी के ऊपर दीपशिखा पर शलभ के समान बलि होने को तैयार हो जाता है।[3] अन्योक्ति सम्बन्धी विवाद यदि अलग कर दिया जाय तो भी सूफी काव्य में नारी के दो रूप परिलक्षित होते हैं। पद्मावती चित्रावती, तथा मृगावती आदि सामान्य नायिका मात्र ही नहीं हैं अपितु दिव्य-शक्ति की प्रतीक भी हैं। उनके अनुसार प्रेमी अथवा आत्मा साधक है और प्रेमिका ईश्वर अथवा दिव्य-शक्ति है।

सूफी-काव्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि नारी-चित्रण में लौकिक तथा अलौकिक दोनों रूप साथ-साथ चलते हैं और दोनों का अपना महत्व होता है।[4] अलौकिक रूप में नारी परमशक्ति, ज्योति, साधक की साधना, और भक्ति की पात्र है तथा लौकिक रूप में वह पुरुष की प्रेयसी और पत्नी है।

अलौकिक रूप—नारी परम-शक्ति की प्रतीक है। वह अपने अलौकिक व

---

१. हिन्दी साहित्य (द्वि० खं०) पृ० २६३
२. 'पद्मावती राजा की वारी, हां जोगी तेहि लागि भिखारी।' —जायसी—जायसी ग्रंथावली-डॉ० माताप्रसाद गुप्त; पृ० २६७
३. वही; पृ० ३२८
४. 'भारती हिन्दी प्रेमाख्यान'—श्री हरिकान्त श्रीवास्तव; पृ० ५७

दिव्य स्वरूप से विश्व को विमोहित कर लेती है। उस्मान की 'चित्रावली' संसार की मणि है, उसके तेज-पुंज के समक्ष देवगण भी नतमस्तक हो जाते हैं। ब्रह्मा के सदृश वह विरोधी गुणों से पूर्ण है। प्रगट होते हुए भी वह साधारण मनुष्य की दृष्टि से परे है। पद्मावती के तेजपुंज की वंदना देवगण तक करने को उत्कण्ठित रहते हैं। उसके पायलो के नूपुर में चन्द्र तथा सूर्य की दीप्ति रहती है। नक्षत्र उसके पैरों के आभूषण हैं।[1] नारी के अलौकिक रूप के दर्शन के समय या दिव्यशक्ति के साक्षात्कार होने पर पुरुष वेसुध हो जाता है। इस प्रकार अलौकिक नारी की आकाँक्षा करने वाले व्यक्ति को स्वर्ग की इच्छा नहीं रह जाती।[2]—

'हौं कविलास काहलै करऊं, सोइ कविलास लागि ओहि मरऊं।
ओहि के वार जीवनहि वारौं, सिर उतारि निछावरि डारौं।

इसलिए इसी दिव्य-ज्योति पर सारा संसार पतंग के समान जलने को तैयार रहता है।[3]

उसके मोहक रूप तथा तेजोमय सौन्दर्य देखने के बाद साधक में दृढ़ता तथा साहस आ जाता है और उसके चरणों पर वह अपने प्राण-पुष्प भी चढ़ा देने को तैयार हो जाता है।[4]

लौकिक-रूप—कुछ विशेष स्थलों को छोड़कर सूफी-कवियों की नारी सामान्य हो जाती है। नारी के लौकिक रूप में प्रेयसी के रूप की ही प्रधानता है। उनकी प्रेमिका प्रेमोन्मत्त रह सामाजिक बंधनों को तुच्छ समझती है। फारसी भावना की विलास-प्रियता तथा तत्कालीन विलासप्रिय सामाजिक परिस्थितियों के कारण सूफी कवियों का दृष्टिकोण इसी क्षेत्र में केन्द्रित हुआ। इसीलिए सभी कवियों की नायिका विलास में पत्नी सुकुमारी हैं। सभी सूफी नायिकाएं ऐश्वर्यमयी एवं वैभवशालिनी हैं। यौवन-काल प्रारम्भ होते ही कन्त की चाह उनके हृदय को गुदगुदाने लगती है।[5]

---

१. 'देवता हाथ-हाथ पगु लेहीं, पगुपर जहां सीस तहं देहीं।
.... —'जायसी-ग्रंथावली'; पृ० १६६

२. 'हौं कविलास काह लै करऊं..........।' —वही; पृ० २६२

३. 'है वह रूप दीप उजियारा, है पतंग तापर संसारा।' –इन्द्रावती–नूर मुहम्मद सम्पा० डॉ० श्यामसुन्दर दास; पृ० ७६

४. जायसी-ग्रंथावली—डॉ० माताप्रसाद गुप्त; पृ० २८५

५. 'सुन हीरामन कहौं बुझाई, दिन-दिन मदन सतावै आई।
जोवन मोर भयो जस अंगा, देह-देह हम्ह लाग अनंगा॥'—'जायसी-ग्रंथावली'
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० २६

सूफी-कवियों का दृष्टिकोण शृंगारी रहा है। इसी कारण से इनके काव्यों में नारी के नख-शिख का वर्णन है। पद्मावत और चित्रावली में नायिकाओं के जातिगत भेदों का चित्रण तथा उनके लक्षणों का चित्रण हुआ है।[1] विविध जाति की नारियों के वर्णन में नायिका-भेद की परम्परा का आभास प्राप्त होता है जिसमें छत्तीस जाति की नारियों का उल्लेख है।[2]

सूफी-कवियों की नायिकाएँ राजकुमारियाँ ही हैं—सूफी काव्य-प्रबन्धों में स्वकीया, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, उत्तमा, पद्मिनी एवं प्रोषित-पतिका, रूपगर्विता, प्रवत्स्य-पतिका, स्वकीया, अभिसारिका के वर्णन प्रचुरता से उपलब्ध हैं :

रूपगर्विता—'अति स्वरूप रानी सुन्दरी; धरती पर अपछर औतरी।
छवि सों धन रिझवारि भई, पियहिं रिझाई जीउ जमि गई ॥'

स्वकीया—'लाजवन्ति सुन्दर रही, पियहिं न बरजा जात।
धीरज हिरदै मों धरा, कछु न सुनायहु बात।'—'इन्द्रावती'; पृ० २६

आगतपतिका—'इन्द्रावति मन मों हुलसानी, हुलसे कुच कंचुक सकरानी।
मुख पर छवि बाढ़ी अधिकाई, गइ पियराइ भई ललताई।
भयेउ परमदा परमद भेषा, गै दुख भै सुख जै मुख देखा।
'—इन्द्रावती'; पृ० १६३

कृष्णाभिसारिका—'आगे भइ सुरज्ञानी बोली, काढहु ललित रंगीली चोली।
खोलहु सुरंग छबीली सारी, नील बसन पहिरहु तन बाही ॥
बिछिया बजनी काढ़ि के, छुद्र घंटिका खोलु।
कंगन टांउ छिपाइ लेउ, रसना नेकु न बोलु ॥
चरन आपि कछु सकुचन आनी, अंग अंग ढांपि चली देव जानी।
तनिक सो तन जहं होइ उघारी, चन्द्र जुगुनि प्रगटै उजियारी।'
—शेखनबी ज्ञानदीप

---

१. 'नारी भेद वर्णन- राघव चेतन द्वारा तथा नख-शिख वर्णन–'जायसी-ग्रंथावली' डॉ० माताप्रसाद गुप्त; पृ० ४२६, ४३४ से ४४४ तक

२. 'जहलो नारि छतीसो जाती, चढ़ बिवान आई रंग राती।
चली मान सो ब्राह्मन बारी, बनियाइन नाइन पटहारी।
चली सेनारनि कंचन बरनी रजपूती खतरिन मनहरनी।
लोनी तन हलवाइन चली, अधर मिठाई बांटत चली।'—'इन्द्रावती'–नूर-मुहम्मद; पृ० ५३

वासकसज्जा—'कंत बचा परतीति पर, सौरह साजि सिंगार ।
वासक सेजा होइ रही, लाइ नैन दुइ बार ।'–उस्मान–चित्रावली;
पृ० ३२८

इनके अतिरिक्त स्त्री भेद वर्णन खण्ड (४०) में जायसी ने पद्मिनी, चित्रणी, हस्तिनी और शंखिनी नारियों का सौन्दर्य चित्रण कामशास्त्र के अनुसार किया है।

नख-शिख वर्णन—सूफी-कवियों की नायिकाएँ राजकुमारियाँ ही हैं। सूफी काव्य-प्रबन्धों में स्वकीया,[1] मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, उत्तमा, पद्मिनी एवं प्रोषितपतिका, रूपगर्विता,[2] प्रवत्स्यपतिका, कृष्णाभिसारिका[3] तथा वासकसज्जा[4] के वर्णन प्रचुरता से उपलब्ध हैं।

सूफी-कवियों ने 'विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है' को स्वीकार करते हुए 'प्रेम की पीर' अथवा विरह में ही मग्न रहना अधिक अच्छा माना है। नूर मुहम्मद ने इन्द्रावती में विरह का महत्व स्वीकार करते हुए बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है।[5] कवि मंझन की 'मधुमालती' अपने प्रेमी मनोहर का बिछोह न सह सकी। वह लज्जा और मर्यादा का ध्यान रखते हुए कहती है—

'मधुमालत जो सोवत जागी विरह अगिन नखशिख तन लागी।'

यहाँ तक कि—

'कनक देह सब मिलि गइ माटी, नैन नीर धोयत बुध पाती।'

सभी सूफी-प्रेमाख्यानों में रूप-सौन्दर्य की चर्चा प्रचुरता से मिलती है। इस

---

१. 'लाजवन्ति सुन्दर रही, पियहिं न बरजा जात।
धीरज हुरदै मों धरा, कछु न सुनायहु बात ॥'—इन्द्रावती; पृ० २६

२. 'अति स्वरूप रानी सुन्दरी, धरती पर अपछर औतरी।
छवि सों घन रिझवारि भई, पियहि रिझाई जीउ जभि गई ॥'–वही पृ० ६

३. 'चरन चापि कछु सकुचन आनी, अंग-अंग ढांपि चली देवजानी।
तनिक सो तन जहं होइ उघारी. चन्द्र जुगुन प्रगटै उजियारी ॥'
—'ज्ञानदीप'–शेखनबी

४. 'कन्त बचा परतीति पर, सोरह साजि सिंगार।
वासक सेजा होइ रही, लाइ नैन दुइ बार ॥'–चित्रावली'–उस्मान; पृ० ३२८

५. 'नूर मुहम्मद जगत में, जो नहिं होत वियोग।
तो पहिचान न जात, यह सिंगार संजोग ॥' —इन्द्रावती

रूप-वर्णन में नखशिख की परिपाटी का सहारा प्रायः सभी कवियों ने लिया है तथा उपमानों की योजना भी काव्य-रूढ़ियों के अनुसार ही हुई है।

कवि उस्मान ने बड़े विस्तारपूर्वक नखशिख वर्णन किया है। उन्होंने बरौनी, दांत, जीभ तथा ठोढ़ी के गड्ढे तक की चर्चा बड़े ही सुन्दर ढंग से की है।[1]

'अनुराग-बांसुरी' में कवि ने सरमंगला का जो रूप-वर्णन किया है, वह देखते ही बनता है यद्यपि उसे नग्न-चित्रण की कोटि में रखा जा सकता है।[2] युसुफ जुलेखा में कवि शेख निसार ने जुलेखा का रूप-वर्णन करते हुए उसके नयनों की ओर संकेत किया है—

'सेत साम अरु अरुन सोहावा, बिख अमिरत मधु घोर दिखावा ॥'

सुन्दर कपोलों पर तिल की रचना उसे कुदृष्टि से बचने के लिए बताया है—

'बिसुकरमै लकि सुघर कपोला, दीठि परै तिल दीन्ह अमोला।'

उसकी मुस्कान का वर्णन करते हुए कहते हैं—

'जो वह अधर मधुर मुसकाई,
तो मिरतक कह देत जियाई।'

कवि नसीर ने नयनों का वर्णन करते हुए अपने 'प्रेम-दर्शन' में उन्हें कटारी[4] और केशों को नागिन कहा है—

'केश रही अस नागिन कारी, तेहि कर डस नहीं जाये झारी।
दोइ लट मांझ जोत उजियारा, जमुना मांझ भई गंगधारा ॥'

कवि नूर मुहम्मद ने जायसी के पश्चात् नायिका सर्ग में मंगला के रूप तथा

---

१. 'आंब सूल सम ठोड़ी भई, वह आमिल यह अमिरित भई।
तेहि तर गाड़ अपूरब जोवा, पाक आंब जनु अंगुरी टोवा ॥
स्तन जमल दाड़िम फल सोहै, कै बुल्ला गंगाजल को है।' —वही; पृ० ७३

२. 'कटि अति सात चिहुर की नाई, नाहीं है कीन्हा जग साई।
जो कोउ नाहीं देखन चहै, ता कटि देखै नाहि अहै।
उरु जमल कनक के खम्भा, कै पद वारिज ऊपर रम्भा।
रंभा कंज ऊपर कित होई, इहां देखिए लागा सोई।'—अनुराग-बांसुरी; पृ० ६८

३. 'खरग कटारी विष भरे, सेत श्याम रतनार।
वह व्यक्ती नहि बचत, जेहि चितवत एक बार ॥'—कवि निसार-प्रेम-दर्पन

'नायिका-भेद'[1] का जो वर्णन किया है, वह बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। नायिकाओं के अधरों की प्रशंसा में कवि लिखता है कि—

'ता अधरन के पाइ मिठाइ, रीझि रहा यह जग हलुआई।
सखी संग जब बात निसारै, मानहु मिसरी चीनी झारै॥'

नारी का आदर्श रूप—इन रचनाओं में आदर्श तथा उत्सर्गमयी नारी का चित्रण भी यत्र तत्र पाया जाता है। पतिव्रता नारी जीवन-पर्यन्त पतिधर्म का पालन करती है और पति की मृत्यु के पश्चात् स्वयं चिता में जलकर भस्म हो जाती है। इनमें हिन्दू-गृहिणी के सात्विक एवं मर्यादापूर्ण जीवन का आभास मिलता है। पति तक पहुँचने के लिए नारी अपना अस्तित्व तक मिटाकर मार्ग की धूलि तक होने को तैयार है जिससे वह उड़कर पति के मार्ग में पहुँच जाय।[2] चित्तौड़ की पद्मावती का चित्रण एक कुशल दूरदर्शी गृहिणी के रूप में हुआ है। दूसरी ओर कुमुदनी द्वारा दिये गये प्रलोभन के उत्तर में हमें उसके सतीत्व, दृढ़ पति-भक्ति, तथा एक-निष्ठा का आभास मिलता है।[3] किन्तु इसके पूर्व वह प्रेम के लिए सर्वस्व अर्पण करने वाली एक प्रेमिका है।[4]

'जोरे जियहिं मिलि केलि करहिं, मरहिं तो एकहि होउ।
तुम्ह पै जिय जिन होऊ कछू, मोहि जिय होउ सो होउ॥'

जब नागमती विरह में अपने अस्तित्व को भूल जाती है तो वह अपनी व्यथा काले भौंरे और काग से रतनसेन से कहने के लिए सन्देश भेजती है—

'पिऊसौं कहेउ संदेसड़ा,
हे भौंरा हे काग,
सोधिन विरहै जरि मुई,
तिहिक धुंआ हम्ह लाग।'

---

१. जो स्वाधीन भर्तिका रही, दिन औ राति प्रेम मों वही;
रूप गर्व राखै धनि जोई, जानहु रूपगर्विता सोई॥'—अनुराग-बांसुरी;
नूर मुहम्मद

२. 'यह तन जारों छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहं पाउ॥'—जायसी-ग्रंथावली—
माताप्रसाद गुप्त; पृ० ३६०

३. वही; पृ० ५१७

४. वही; पृ० २६४

फिर नागमती को अपनी सौत पद्मावती से किसी प्रकार की शिकायत अथवा ईर्ष्या नहीं है। उसके सन्देश में तनिक भी उलाहना नहीं है। वह नम्रतापूर्वक केवल इतना ही कहती है—

'हमहु बिआही संग ओहि पीऊ।
आपुहि पाइ जानि पर जीऊ॥'

अन्त में वह पद्मावती को अपने समान ही उसे एक विवाहिता नारी मान लेती है और नम्र निवेदन करती है कि वह अपने प्रेम और मन की पीर के समान ही दूसरे के प्रेम और मन को भी समझे।

रतनसेन के परमगति प्राप्त करने पर वे वेदना एवं दुःख का अनुभव नहीं करतीं। अपितु दोनों प्रेममयी आत्माएँ अनल के क्रोड़ में वैवाहिक सम्बन्ध की अविच्छिन्नता को सिद्ध करती हुई अक्षय शृंगार एवं विलास में लीन हो, दोनों सती हो जाती हैं।[1] इन कवियों का नारी-आदर्श पतिव्रता ही है। उन्होंने नारी की परम-गति पति की सेवा ही माना है।[2] यही त्याग, सहिष्णुता और आज्ञा-पालन भारतीय नारियों का आदर्श रहा है।

सूफी प्रेमाख्यानों में जहाँ नारी के सत्-असत्, लौकिक तथा पारलौकिक आदि रूपों के प्रचुरता से वर्णन मिलते हैं, वहाँ नारी के प्रति सामाजिक बंधनों की भी कमी नहीं दीख पड़ती। ऐसे स्थलों पर इन सूफी-सन्त-कवियों की नारी के प्रति उदार भावनाओं का अभाव प्रतीत होता है। इन कवियों ने नारी को घर की चहारदीवारी के भीतर की वस्तु माना है।[3] वे उन्हें घर से बाहर नहीं देखना चाहते।[4] वे माता-पिता, पुत्री के पति सम्बन्धी स्वतंत्र चुनाव को कुल-कलंक समझते थे और उसके प्रेम की सूचना पाकर अपयश के डर से या तो उसे महल में बन्द कर देते थे अथवा विशेष परिस्थिति में उसके जीवन का भी अन्त कर डालते थे।[5]

---

१. जायसी ग्रंथावली; पृ० ५५३

२. 'सोई पियारी पियहि पिरीती, रहे जो सेवा आयसु जीती।'
—वही; पृ० ३७७

३. 'तब लगि तिरिया नीके अहई, जब लगि मंदिर भीतर रहइ।
जब मंदिर सों बाहर कढ़ई, कुल की लाज खोय सब गई॥'—कवि जान

४. 'दारा लजवन्ती जो होइ, रहे सलज मंदिर मां सोइ।'—अनुराग-बांसुरी—नूर मुहम्मद

५. 'पिता जो सुनै मार जिउ डारै,
माता सुनै घोर विष मारै।'—कासिमशाह-हंस जवाहर; पृ० ३६

नारी का असत्-रूप—सूफ़ी काव्यों में नारी का असत् रूप भी मिलता है जैसे बादल की पत्नी क्षणिक दुर्बलता के कारण आदर्श से विमुख हो जाती है। इसी प्रकार कुमुदिनी तथा देवपाल की दूती कपट तथा पाखण्ड की प्रतीक है। वे अपने टोने से असम्भव को सम्भव करने की क्षमता दिखाती है।[1]

मौलाना दाऊद दलमई की 'चन्दायन'—इस सूफी-कवि का प्रथम परिचय सर्वप्रथम १६२८ ई० में मिश्रवन्धुओं द्वारा दिया गया था और उसका कविता-काल सं० १३८५ के लगभग वतलाया था। वतलाया जाता है कि इस चिर-प्रतीक्षित काव्य की रचना १३५० ई० के लगभग हुई। इसकी जो प्रति प्राप्त हुई है, वह खण्डित है—अनुमान है कि पूरी प्रति में ४७३ कड़वक होंगे। दाऊद ने अपनी 'चन्दायन' का प्रारम्भ फारसी के मसनवियों की परम्परा के अनुसार ही किया है। सहदेव (राय महर) गोवर का निवासी था जहाँ चाँद ने जन्म धारण किया। उसका विवाह वावन के साथ हुआ था किन्तु वह बारह वर्ष उसके पास नहीं आया—इधर चाँद पूर्ण युवती हो गयी—वह निराश हो अपने घर चली गयी। प्रस्तुत रचना में चाँद अपनी सखी-सहेलियों से अपनी काम-व्यथा सुनाती है। कवि ने यहाँ (५२-६५ तक) बारहमासा का वर्णन किया है। वाजिर ने राजा रूपचन्द से सविस्तार (७३-६५) चाँद का रूप-वर्णन किया। लोरक रूपचन्द से युद्ध करने आया और उसको हरा दिया। लोरक को देखकर चाँद मूर्छित हो गयी।

'चन्दायन' की यह कथा अपने आप में अनूठी है क्योंकि वह नायिका-प्रधान है और कथा का विकास नायिका के जीवन की घटनाओं को लेकर ही हुआ है। रचना के समस्त पात्र नायिका चाँद को केन्द्र वनाकर ही हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। नायिका चाँद ही, सामान्य नायिकाओं के सामान्य स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल चेष्टाएँ करती है और आकर्षण के नवीन-नवीन मार्ग खोज निकालती है। प्रेमी के कार्यों की सूत्रधार भी चाँद ही है।

इस रचना की विचित्र वात यह है कि 'चन्दायन' के नायक, नायिका और उपनायिका—तीनों ही विवाहित हैं। भारतीय साहित्य में ऐसी कोई कहानी नहीं मिलती, जहाँ एक विवाहित नायिका एक अन्य विवाहित पुरुष को प्राप्त करने की चेष्टा करती है। विरह का भार उपनायिका मैंना पर पड़ा है। नायिका चाँद को

---

१. 'कुमुदनी कहा देखु मैं सौं हो मानुस काह देवता मोहों।
जस कावल चमारी कोन, वंधरा पाढ़ित औ टोना ॥'—जायसी-ग्रन्थावली; पृ० ५१०

तो लोरक के प्राप्त होने तक ही प्रेम-व्यथा सहन करनी पड़ती है। 'चन्दायन' लोक-कथा पर आश्रित प्रेम-मिश्रित चरित-काव्य है। उसका उद्देश्य केवल चाँद और लोरक के रूपाकर्षण की चरम परिणति दिखाना है।

'चन्दायन' में कवि ने वाजिर रूपचन्द द्वारा चन्दा की माँग, केश, ललाट, भौंह, नेत्र नासिका, ओष्ठ, दन्त, रसना, कर्ण, तिल, ग्रीवा, भुजा, कुच, पेट, पीठ, जानु, चाल, पग और गति, आकार, वस्त्र, आभूषण, रूप का वर्णन किया है।[1] कवि नायिका के कुच-वर्णन करते हुए लिखता है—

'सोन थार हीयें चुन धरे। रतक पदारथ मानिक भरे॥
सहज सिंधोरा सेंदुर भरे। थनहर फेर कंदीरें धरे॥
नारंग थनहर उठहिं अमोला। सूर न देखी पवन न डोला॥
समुन्द भरा जनु लहरें दिये। पुरइन क रस जस भंवरें लिये॥
अंवरित हिरदेऊ वेल उपाने। साज कचोरा हिरदेउ ताने॥
कुसुम चीर तर देखेउ, फरे वेल इह भांत।
राजा खाइ विसर गै, सुन अस्थन भइ सांत॥'

कवि ने मैंना की अवस्था का चित्रण वारहमासा-वर्णन के माध्यम से किया है।[2]

'सावन मास नैन झर लाये। अखरन नांह दिन एको पाये॥
वरसि भरे भुई खार खंदोला। भियें न सूकै चीर अमोला॥
चख काजर चख रहै न पावा। खिन खिन मैंना रोइ चहावा॥'

समस्त रचना में नारी-चित्रण की दृष्टि से तीन प्रसंग—क्लीव पति को छोड़ पर-पुरुष के साथ भागना, नायिका-अपहरण और पत्नी के सतीत्व की परीक्षा—बड़े महत्वपूर्ण हैं।

कुतबन—सूफी-कवियों में अब द्वितीय स्थान कुतवन को ही दिया जाता है क्योंकि आपकी रचनाएँ अन्य सन्तों से पूर्व की मानी जाती हैं। 'जिन सूफी कवियों की प्रेम-गाथाएँ अभी तक किसी-न-किसी रूप में मिल सकी हैं, उनमें पहला नाम

१. 'चन्दायन'—मौलाना दाऊद—सम्पा० डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त; पृ० ११७-३२
२. वही; पृ० ३०४

कुतवन का आता है।[1] आपकी प्रतिनिधि रचना 'मृगावती'[2] की रचना-काल तथा उपलब्धि के आधारों से ही इनका विशेष परिचय मिलता है। 'ये सूफी थे। हिन्दी कविता करते समय उन्होंने अपना नाम 'रज्जन' रखा था। उन्होंने 'पेमवन जोव निरंजन' के नाम की कोई हिन्दी रचना भी लिखी थी।[3] मृगावती की कथा में भारतीय संस्कृति के वातावरण में पिरोने के कारण हम कुतवन को सूफी-कवियों का मार्गदर्शक कह सकते हैं।

नारी के विषय में वियोग पर आपने भी बल दिया है।[4] कवि कुतवन ने मृगावती के सौन्दर्य का जहाँ निरूपण किया है, वहाँ उसके शृङ्गार को अछूता नहीं छोड़ा।[5] राजकुमार और मृगावती के मिलन का वर्णन करते हुए आपने मृगावती को पतिव्रता और अपने पति की दासी-रूप में दिखाया है।[6] अन्त में कवि ने मृगावती को एक आदर्श भारतीय रमणी के रूप में चित्रित किया है। जहाँ पर कि वह अपने पति की मृत्यु के साथ स्वयं भी 'पतिव्रता नारी' के रूप में चिता में जलकर पतिव्रता धर्म की मर्यादा को रक्षा की। जोकि एक भारतीय नारी के त्याग की परकाष्ठा कही जा सकती है।[7]

मलिक मुहम्मद जायसी—प्रेमाश्रयी सूफी-कवियों में पद्मावत के अमर कवि जायसी का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। नारी-सौंदर्य के चित्रण में उन्होंने वस्तु-वर्णन कौशल एवम् सहृदयता का बड़ा ही अच्छा परिचय दिया। पद्मावत में नारी-चित्रण की दृष्टि से पद्मावती-नागमती रूप चर्चा, स्त्री-भेद वर्णन, पद्मावती-नागवती वियोग वर्णन, षट्ऋतु वर्णन और नखशिख खण्ड सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सुन्दर बन पड़े

---

१. 'सूफी-काव्य-संग्रह'—पं० परशुराम चतुर्वेदी; पृ० ११०
२. 'मृगावती' की एक पूरी प्रति ग्वालियर से प्रकाशित होने जा रही है। डा० मोहनसिंह—'कबीर एण्ड दी भक्ति मूवमेंट'—भाग १; पृ० ६३
३. 'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास'—ब्रजरत्न दास; पृ० ६२
४. 'कीगरी लिहे वियोग बजावइ, सभही सुन बोही देखइ आनइ ॥'—सूफी-काव्य-संग्रह—पं० परशुराम चतुर्वेदी; पृ० ११४
५. 'मृगावती सिङ्गार जे ठयऊ, सोलह अभरन पहिरै लयेऊ ॥ वही; पृ० ११५
६. 'राजपाट जहां लगी, अहौं दासी तुम्हारि।
चलहु सेज पर बैसहु, तुम्ह पुरुष मैं नारि ॥'—वही; पृ० ११६, २६
७. 'मिरगावति औ रुकमिनि लेकै, जरि कुंवर के साथ।
भसम भइ जर तिल येक, चिन्ह न रहा गात ॥'—वही; पृ० ११७

हैं। इनके अतिरिक्त गन्धर्वसेन की पटरानी चम्पावती, राजा रत्नसेन की १६०० सुन्दरी दासियों, बादल की नव विवाहिता पत्नी तथा सिंहलगढ़ की पनिहारिनों और 'सिंगार हट' में बैठी वेश्याओं के सौन्दर्य-चित्रण भी अनूठे हैं।

पद्मावत में प्रेम-पद्धति—जायसी की प्रेम-भावना का सम्बन्ध हृदय-पक्ष से अधिक और वाह्यपक्ष से कम है। उन्होंने पद्मावती के लौकिक-प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही 'पद्मावत' की रचना की। 'प्रेम के क्षेत्र में वे लौकिक प्रेम से अलौकिक तक, इश्क मजाजी से इश्क हकीकी तक पहुँचते हैं और सौंदर्य में हुस्न मजाजी से पारलौकिक या हुस्न हकीकी का आभास देते हैं। पद्मावती के लौकिक सौंदर्य के द्वारा वे अलौकिक सौंदर्य को प्रतिभासित करते हैं।'[1] जायसी में प्रेम की तीन कोटियाँ स्पष्टतः प्रतीत होती हैं—रूप-लोभ, रूप-निष्ठ और आध्यात्मिक प्रेम की अत्यन्त उच्च स्थिति।[2] वैसे आपने शृङ्गार-रस के दोनों पक्षों का वर्णन किया है किन्तु संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ ही प्रधान है। अन्य कवियों की भाँति जायसी ने भी ऊहात्मक पद्धति का आश्रय लेकर, अधिकतर विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की व्यंजना पर ही ध्यान दिया है। पद्मावत में लौकिक-पक्ष में शान्त-रस लिया गया है। इस महाकाव्य में रति-भाव के तीन भेदों–पुत्र-विषयक, कान्ता—विपयक तथा भगवद्-विपयक रति–में से केवल कान्ता-विपयक रति ही अधिक पायी जाती है।

पद्मावती—लौकिक रूप में पद्मावती का चित्रण प्रेमिका के रूप में किया गया है। वियोग खण्ड में उसकी काम-पीड़ितावस्था की अतिशयता का वर्णन कर तत्कालीन प्रचलित कथाओं की परिपाटी को कवि ने निवाहा है। यद्यपि पद्मावती के सहज चरित्र विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। तोते के मुख से रत्नसेन की प्रशंसा, उसका त्याग और उसके प्रेम को सुनकर ही उसमें वस्तुतः पूर्व-राग का प्रादुर्भाव होता है। जोगी के दर्शन से उसकी परिपुष्टि और रत्नसेन को सूली दी जाने के अवसर पर उसका प्रेम पूर्ण विकास को प्राप्त होता है। किन्तु वह सहज लज्जा और सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती। उसका व्यवहार नारी-जाति के सहज स्वभावानुकूल है।[3]

१. 'सरस्वती-संवाद'–(अगस्त, १९६१)–सूफी कवि जायसी एक : दृष्टि में; पृ० १६
२. वही; पृ० १६
३. 'अनचिन्ह पिउ कापौं मनमाहा।
कासँ कहव गहव जौ बांहा॥'—जायसी-ग्रन्थावली; पृ० १४३

उसके पश्चात् अन्य गुणों का विकास होता है—दूरदर्शिता और बुद्धिमता उसमें यत्र-तत्र पायी जाती है। सती होने का दृश्य तो वह पुनीत दृश्य है जिसमें पद्मावती के प्रेम, विवेक. शुद्ध आचरण तथा धर्मपरायणता का पूर्ण प्रकाश है।

पद्मावती के रूप का चित्र खींचते समय कवि ने फूली हुई लता, वेणी-नाग, भाल-दूज का चन्द्र, भ्रू-धनुष, वरुनी-सर, नयन-मृग, नासिका-कीर, मुख-कमल, अधर-मणिद्वय, दशन-हीरा, कुच-कनक जंभीर, कटि-केहरि लंक, गति-मत्त गजराज आदि को बड़ी ही कुशलता के साथ एकत्रित किया है—

'भै उनन्त पद्मावति बारी, रचि रचि बिधि सब कला सँवारी।
बेनी नाग मलय गिरि पैठी, ससि माथे दूइज होइ बैठी।
भौंह धनुक साधें सर केरें, नयन कुरंग भूलि जनु हेरें।
नासिक कीर कँवल मुख सोहा, पद्मिनि रूप देखि जग मोहा।
मानिक अधर दसन जनु हीरा, हिय हुलसे कुच कनक जँभीरा।
केहरि लंक गवन गज हारे, सुर नर देखि माथ भुईं धारे।'

जायसी ने पद्मावत के द्वितीय खण्ड में यह लिख कर—'जेहि के अस पनि-हारी, सो रानी केहि रूप' पद्मावती के लोकोत्तर सौन्दर्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर दिया है। 'नख-शिख-वर्णन' के प्रारम्भ में भी हीरामन कहता है—

'का सिंगार ओहि वरनौं राजा, ओहिक सिंगार ओहि पै छाजा।'

चित्तौड़गढ़ वर्णन खण्ड में कवि ने परम्परा से चले आ रहे उपमानों के आधार पर ही पद्मावती का सौन्दर्य-चित्रण किया है—

मांग वर्णन—'बरनौं मांग सीस उपराही,
सेंदुर अबहि चढ़ा जेहि नाहीं।'
कंचन रेख कसौटी कसी, जनु घन मँह दामिनि परगसी।
सूरुज किरिन जुनु गगन बिसेखी, जमुना माँह सुरसती देखी।

भौंहों की तुलना—

भौंहें स्याम धनुक जनु ताना, जा सहुँ हेर-मार विष-बाना।
ओहि धनुक बेधाहुत राहू, मारा ओहि सहस्त्रा बाहू।।
उन भौंहनि सरि केउ न जीता, अछरी छपीं, छपीं गोपीता।

नेत्र वर्णन—नैन चित्र एहि रूप चितेरा, कँवल-पत्र मधुकर फेरा।
समुद-तरंग उठंहि जनु राते, डोलहि और घूमहि रस-माते।
सरद-चन्द मँह खंजन जोरी, फिरि फिरि लरें, बहोरि बहोरी।।

पद्मावती के सुन्दर अधरों की लालिमा से लज्जित होकर विम्वाफल जंगल में फरने लगे हैं। उसके हीरों जैसे दाँत जव दिखलाई पड़ते हैं तव ऐसी चमक दिखलाई पड़ती है मानों भाद्र मास में विजली की चमक हो। उसकी भुजाऐं कनक दंड से वनी हुई हैं और पयोधर हृदय रूपी थाली में रखे हुए सोने के लड्डू अथवा कटोरे हैं—

'हिया थार कुच कंचन लारू, कनक कचोर उठे जनु चारू।'

उसकी कटि केहरि को भी लज्जित करने वाली है। यहाँ तक कि वह महान सुन्दरी जिस-जिस स्थान पर अपने चरण रखती है, उस-उस स्थान पर देवता अपना मस्तक रखते हैं—

'देवता हाथ हाथ पगु लेहीं, जहँ पगु धरे सीस तहँ देहीं।'

पद्मावती का यह सौन्दर्य-चित्रण पाठक एवं श्रोता को अपूर्व कल्पना लोक में विचरण करने को प्रेरित करता है। पद्मावत में हमें पद्मावती की प्रेम-भावना का क्रमिक विकास देखने को मिलता है। 'परिस्थितियों के अनुसार उसमें प्रेम, कामुकता और रसिकता की सीमा को पार कर अपने विशुद्ध एवं गंभीर स्वरूप को प्राप्त कर लेता है जो मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से वहुत संगत है। अपने विकास की चरमावस्था में आदर्श प्रेम और यथार्थ प्रेम दोनों एक स्तर पर पहुँच जाते है।[1]

पद्मावती का आध्यात्मिक रूप—सूफी कवियों ने नारी सौंदर्य चित्रण के भीतर भी उसी एक परमतत्त्व की झांकी देखी है जिसे विद्वानों ने 'अनिर्वचनीय' कहा है। जायसी ने पद्मावती के जिस आध्यात्मिक रूप का चित्रण किया है, उसमें उन्होंने पद्मावती को 'वुद्धि' और रत्नसेन को 'मन' के रूप में चित्रित किया है।[2] क्योंकि 'कहा गया है कि 'वुद्धि' 'अहं' का विषय है और जव तक इस 'अहं' पर विजय प्राप्त न कर ली जाय, जव तक सूफी-साधना सफल नहीं हो पाती। इस अहं पर विजय प्राप्त करने के लिए सूफी 'प्रेम की साधना' पर ही वल देते हैं'।[3] प्रायः

---

१. हिन्दी काव्य में श्रृंगार परम्परा और महाकवि विहारी—
डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—पृ० १६२

२. "तन चित उर मान राजा कीन्हा, हिय सिंहल वुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरु सुवा जेइ पंथ देखावा, विनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनियां धन्धा, वांचा सोइ न एहि चित वधा ॥
राघव दूत सोइ सैतानू, माया अलाउद्दी सुलतानू ॥
प्रेम कथा एहि भांति विचारहु, वूझि लेहु जो वूझै पारहु ॥'—जायसी; पद्मावत

३. 'जायसी'; श्री रामपूजन तिवारी; पृ० ५७

सभी सूफी-सन्तों ने परमात्मा को प्रेम-साधना का केन्द्र माना है। इसीलिए उन्होंने प्रेम के मार्ग पर चलकर, अपने परम लक्ष्य परमात्मा तक पहुँचने का प्रयास किया है। इस सम्प्रदाय में साधक प्रेमी तथा परमात्मा को प्रेमिका के रूप में चित्रित किया गया है। कुछ लोगों का विचार है कि पद्मावती बुद्धि-स्वरूपा आत्मा के रूप में चित्रित की गयी है। किन्तु शुद्ध बुद्धिस्वरूपा आत्मा की साधना से जायसी प्रभावित थे, ऐसा कहना ठीक नहीं जंचता।

कुछ स्थलों पर तो पद्मावती का चित्रण परमतत्त्व के रूप में किया गया है और कुछ स्थलों पर पद्मावती के मुँह से राजा रत्नसेन का परमतत्त्व के रूप में वर्णन कराया गया है। मानसरोदक खण्ड में पद्मावती परम-सत्ता तथा परम-सौंदर्य के रूप में चित्रित की गयी है।[1] उस परम सत्ता के रूप-सौन्दर्य के चराचर व्यापी प्रभाव एवं उसकी अलौकिक शोभा के द्वारा उस परम प्रियतम का साक्षात्कार सम्भव है। उस सौंदर्य की प्राप्ति के लिए जोगी, यति, तथा सन्यासी भी आकाश में नेत्र लगाये हुए तपस्या करते हैं।[2]

कुछ स्थलों पर पद्मावती ने राजा रत्नसेन को परम प्रियतम (परम तत्त्व) के रूप में देखा है। जिस समय उसकी सखियाँ रत्नसेन की आज्ञानुसार उसे बुलाने आती है, उस समय वह अपने तन-मन-यौवन सजाकर प्रियतम के चरणों में अर्पित करने चलती है।[3] जहाँ पर उसे 'परम सत्ता' के रूप में देखा है, वहाँ पर 'नैनन्ह मांह तो उहै समाना' के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता।[4]

---

१. "कहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहां लगि आई॥
भा निरमर तेन्ह पायन परसें। पावा रूप रूप के दरसें॥" —पद्मावत; मानसरोदक (४ ; ६५)
"रवि ससि नखत दीन्ह ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहं-जहं बिहंसि सुभावहिं हंसी। तंह-तंह छिटकि जोति परगसी॥" —वहीं; (१० ; १०७)

२. "जग कोइ दिस्टि न आवे आछहि नैंक अकास।
जोगी जती सन्यासी तप साधहि तेहि आस॥"–पद्मावत; जन्म; खण्ड (३;५५)

३. "साजन लेइ पठाइया आएसु जेहिक अमेंट।
तन-मन-जोबन साजि सब देइ चलिअ लै भेंट॥"—वहीं; (२७ ; ३०१)

४. "जो जिउ महं तौ उहै पियारा। तन महं सोइ न हो निनारा॥
नैनन्ह मांह तौ उहै समाना। देखउ जहाँ न देखउं आना॥"–वहीं; (२७;३२५)

भारतीय आदर्श को सामने रखकर जब उसकी सखियाँ पद्मावती को समझाती हैं कि पुत्री का विवाह करके माता-पिता तो निश्चिन्त हो जाते हैं किन्तु सम्पूर्ण जीवन तो पति के साथ ही निर्वाह होता है।[1] इसी आदर्श को सम्मुख रखकर पति को सन्तुष्ट रखने में ही पद्मावती आनन्द का अनुभव करती है।[2] इसीलिए उस परम सौन्दर्य की प्राप्ति की आशा लगाये रखने वाले राजा रत्नसेन को भी पूर्ण तृप्ति का अनुभव प्राप्त हुआ।[3]

नागमती—यदि पद्मावती राजा रत्नसेन के लिये चरम-लक्ष्य की प्राप्ति थी तो 'नागमती' 'दुनियाँ धन्धा'। किन्तु नागमती को 'दुनियाँ-धन्धा' कहने की बात अधिक युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि चरम-लक्ष्य की प्राप्ति के पश्चात् नागमती के दुनियाँ-धन्धे में फंसने का प्रश्न ही नहीं उठता और बाद में तो दोनों ही आपस में प्रेम से राजा की पत्नी के रूप में प्रेम से रहने लगती हैं—'पद्मावती की प्राप्ति साधक रत्नसेन के लिए चरम-लक्ष्य की प्राप्ति है। वहाँ पहुँचने पर साधक के फिर से दुनियाँ-धन्धा के फंदे में फँसने की बात युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती।'[4] इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों एक-दूसरे की पूरक के रूप में अवश्य चित्रित की गयी हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि पद्मावत में संयोग तथा वियोग दोनों श्रृंगारों का सम्यक रूप से वर्णन किया गया है किन्तु विप्रलम्भ की प्रधानता मानी गयी है। इसलिए नागमती के विरह को ही प्रधान रूप में हमें लेना चाहिए।

नागमती का वियोग-वर्णन—विरह-वर्णन की उत्कृष्टता की कसौटी उसकी हृदयता एवं मानसिकता है। जितना ही अधिक कवि विरहिणी का हृदय खोलकर दिखा सकेगा, उतना ही अधिक उत्कृष्ट कोटि का विरह-वर्णन होगा। कवि ने नागमती के विरह का वर्णन यद्यपि अधिक अत्युक्तिपूर्ण ढंग से किया है किन्तु वह परिहास की सीमा तक नहीं पहुँचा है, फिर भी अत्युक्तियों की कमी नहीं है। पति विछोह उनके

---

१. "माता-पिता बियाही सोई। जनम निवाह पियहि सो होई॥"
—वही; (२७; ३०१)

२. 'जो तुम्ह चाहहु सो करहु नहि जानहु भल मन्द।
जो भावै सो होई मोहि तुम्हहि पै चहौं अनन्द॥' —वही; (२७; ३१६)

३. "हौं अस जोगि जान सब कोऊ। वीर सिंगार जिते मैं दोऊ॥"
—वही, (२६; ३३४)

४. 'जायसी'; रामपूजन तिवारी—पृ० ६०

लिए मरण के समान मालूम पड़ता है। जायसी हिन्दी के श्रेष्ठ शृंगारी कवि हैं, अतएव शृंगारी साहित्य में प्रचलित परम्पराओं के अनुसार उन्होंने नागमती वियोग खण्ड में वारहमासा का भी अवतरण किया है।

नागमती के विरह के सन्देश में ही कितनी ज्वाला है, इस बात को प्रकट करने के लिए कवि ने अत्युक्ति से काम लिया है। यहाँ पर अत्युक्ति ऊहा से प्रेरित अधिक होती है और भाव से प्रेरित कम। कवि कहता है कि सन्देश लेकर जब पक्षी चला तो ऐसी ज्वाला उठी कि सिंहलगढ़ विनष्ट होने लगा, उससे धुएं के बवण्डर उठने लगे और वादल काले हो गये। उससे ऐसी लूकें छूटीं कि सारा आकाश भर गया। वे सब लूकें पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ गिरीं, वहाँ पृथ्वी जल गयी और मिट्टी बन गयी। ईश्वर न करे कि कोई विरह से प्रताड़ित हो।[1]

कवि जायसी ने लिखा है कि नागमती कोयल की भाँति कुहक-कुहक कर रोयी। रक्त के आँसुओं से मानो उसने घुँघचियाँ वन में बो दीं, उसका मुँह बुझकर काला हो गया, पर नेत्र और शरीर लाल अंगारे की तरह दहकते रहे। उसके दुःख से जलकर पलाश बिना पत्ते के हो गये। उसकी सहानुभूति में परवल पककर पीला हो गया और गेहूँ का हृदय फट गया।[2] जायसी की सभी नायिकाएँ प्रेमिका रूप में चतुर, निर्भीक तथा प्रेम पन्थ में सर्वस्व त्याग करने वाली हैं। उनका वियोगिनी रूप वास्तव में हृदय द्रावक है—तभी तो नागमती का क्रन्दन समस्त सृष्टि को भिगो देता है। उसके रुदन की ध्वनि आज तक सुनायी देती है। उसका विरह एक हिन्दू ललना का आदर्श है। वह अपनी खाल तक खिचवा सकती है, शरीर भस्म कर सकती है, यदि कोई उसे उसके प्रियतम से मिला देवे। इसीलिए वह पंछी-दूत द्वारा सन्देश भेजती है।[3] जब राजा रत्नसेन नागमती को छोड़कर जाने लगते हैं तो वह उनसे साथ चलने का अनुरोध करती है—

'अब को हमहि करहि भोगिनी, हमहूँ साथ बनब जोगिनी।'

इतना ही नहीं, वह आगे कहती है—

'की हम्ह लावहु अपने साथा, की अब मारि चलहु एहि हाथा॥'

साथ ही वह उनके समक्ष श्रीराम का उदाहरण रखती है कि जहाँ राम जाते

---

१. 'जायसी का पद्मावत'—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ४३३

२. वही; पृ० २६१

३. 'हाड़ भये सब किंकरी, नसैं भई सब ताँति।
रोवँ-रोवँ ते धुनि उठै, कहौं विथा केहि भाँति॥' —पद्मावत; सम्पा० वासुदेव शरण अग्रवाल; पृ ३६३

हैं, वहीं सीता भी रहती हैं। तुम चित्तौड़ में ही राज्य करो, ऐसा अनुरोध भी करती है ताकि जब तक जीऊँ साथ रहूँ और चरणों की सेवा कर सकूँ।[1] किन्तु रत्नसेन की तर्कधारा के सामने उसका तर्क वह जाता है—

'राघव जो सीता संघ लाई, रावन हरी कवन सिधि पाई ।।'

पद्मिनी के प्रेम पास में बँध जाने के पश्चात् भी वह उससे घृणा अथवा ईर्ष्या नहीं करती। किन्तु प्रथम विवाहिता होने का गर्व उसे अवश्य होता है। फिर अपनी सौत (पद्मावती) से वह कितनी विनम्रता-भरी वेदना प्रगट करती है—

'सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पांय मोर माथ ।।'

जब वह प्रेमाग्नि में जलने लगती है तो वह अपना सन्देश भौंरा और काग से भेजती है—

'पिय सौं कहहु सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !
सो धनि विरह सो जरि मुई, तेहिक धुँआ हम्म लाग ।।'

यहाँ तक कि मरणोपरान्त भी धूल बनकर पति के चरण-स्पर्श में ही अपनी सार्थकता समझती है—

'यह तन जारौ छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकतेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जेहि पांव ।।'

वास्तव में सूफी विरही में जो आत्मलीनता है, उसकी वाणी में पाषाण-हृदय-द्रावक चीत्कार है, उसकी धड़कनों में जो शूल-दंशन-सी छटपटाहट है, उसके आहत उच्छ्वासों में जो आकाश-कम्पी और लोक-हृदय-वेधक तीक्ष्णता है, उसकी अनुनय में जो काम-कातरता और करुणा का उद्वेग है, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।[2]

अन्त में कवि ने वहाँ पर प्रेम-पराकाष्ठा की है जहाँ पर दोनों रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् अपने सतीत्व की मर्यादा की रक्षा में चिता में जलकर पतिव्रत-धर्म

---

१. "तुम अस विछुरे पीउ पिरीता, जहवाँ राम तहाँ सँग सीता।
जौ लहि जिउ सँग छाँड़ न काया, करिहौं सेव पखारिहौं पाया ।।"

....

"राज करहु चितउर गढ़ राखहु पिय अहि बात।"—पद्मावत; नखशिख खंड—दो० ६; पृ० ५५

२. भक्ति काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप—डॉ० जयनाथ 'नलिन'; पृ० १३६

को रंचमात्र में आँच नहीं आने देतीं। सती होने में उन्हें गर्व था और उनका उल्लास उमड़ रहा था।[1]

चित्ररेखा—यह एक लघु प्रेमाख्यानक काव्य है 'चित्ररेखा' में भी जायसी ने विरह को ही प्रधानता दी है क्योंकि उन्होंने प्रेम की निष्पति विरह में ही मानी है[2]—इसीलिए कवि ने 'चित्ररेखा' नामक रचना का प्रारम्भ सृष्टि की उत्पत्ति से करते हुए चन्द्रभानु और चित्ररेखा के प्रेमाख्यान में परिवर्तित कर दिया। इसमें चित्ररेखा के विप्रलम्भ प्रेम को ही प्रधानता दी गई है।

कवि को यह विश्वास है कि जिसके प्रति हृदय में सच्चा वियोग होता है, उसे वह अवश्य मिलता है।[3] अपने पतिव्रत-धर्म के पालन में चित्ररेखा का संकल्प है कि यदि उसका प्रियतम उसे भुला देता है तो वह भी जलकर उसके तत्व में मिल जायेगी। कितना ऊँचा है यह त्याग।[4] इस प्रकार चित्ररेखा आदि से अन्त तक एक सुन्दर प्रेम-काव्य है यद्यपि रूप-सौन्दर्य का चित्रण उसमें अधिक विस्तृत रूप में नहीं है क्योंकि उसकी रचना जायसी की वृद्धावस्था में की गई थी।

मंझन—सूफी कवियों में शेख मंझन के जीवन से भी सम्बन्धित बहुत-सी बातें विवादग्रस्त हैं किन्तु मधुमालती के सम्बन्ध में इतना अवश्य निश्चय हो चुका है कि मलिक मंझन ने इसकी रचना हिजरी सन् ९५२ में की थी, उस समय शाह सलीम राजा था और कवि के पीर शेख बदी, शेख मुहम्मद आदि थे'।[5]

---

१. 'नागवती पद्मावति रानी, दुवौ महासत सती बखानी।
दुवौ सवति चढ़ि खाट बईठीं। औ सिवलोक परा तिन्ह दीठी॥
आजु सूरदिन अथवा, आजु रैनि ससि बूढ़।
आजु नाचि जिउ दो-जिए, आजु आगि हम्ह जूड़॥' —वही; नगमती; सती खंड; ५७ ; २

२. 'जब लगि विरह न होइ तन, हिये न उपजइ प्रेम।
तब लगि हाथ न आव तप-करम-धरम-सत नेम।'—चित्ररेखा; डॉ० शिवसहाय पाठक; पृ० ७०

३. 'अवस ते मिलैं बिछोही,
जिन्ह हिय होइ वियोग।' —वही; पृ० १११

४. 'जौं तुम पिउ हौ असि बिसारी।
आपुहि जारि मिलौं तो नारी॥' —वही; पृ० १०१ ; ११५ ; १६

५. 'सूफी काव्य संग्रह'—पं० परशुराम चतुर्वेदी; पृ० १३४

'मधुमालती' आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। सूफी प्रेम-गाथाओं में इसका महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इस रचना में कवि ने 'सरव सार जग प्रेम' का आदर्श अपनाया है। इसीलिए कवि ने इसमें कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर और महारस नगर की राजकुमारी 'मधुमालती' के प्रेम की पराकाष्ठा दिखलाई है—

'प्रेम अमिय जे पाइय वासा, सेस काल तेहि आव न साँसा।'

इसी प्रकार ताराचन्द और प्रेमा का विवाह कराकर दोनों के सुखमय जीवन का चित्रण भी किया गया है। विवाह के उपरान्त मधुमालती, मनोहर के साथ और प्रेमा ताराचन्द्र के साथ राजा चित्रसेन से विदा लेते हैं तो अन्तःपुर में शोक छा जाता है। मधुमालती के माता-पिता दुःख से विह्वल हो जाते हैं—विशेषकर माँ की वेदनामय वाणी प्रस्फुटित हो उठती है।

इस विछोह में तो कुछ स्वाभाविकता भी थी किन्तु जब चारों, कुछ दूर जाने पर अलग होने लगे, उस समय का दृश्य तो अत्यन्त ही हृदय-विदारक है। अन्त में प्रेम की प्रशस्ति करते हुए कवि ने 'मधु-मालती' का उपसंहार किया है।

मंझन ने 'मधुमालती' को कहीं-कहीं परम सत्ता में छिपी ज्योति के रूप में भी चित्रित किया है।[1] उनका यह विश्वास है कि ईश्वर का विरह साधक की प्रधान सम्पत्ति है[2]। इस प्रकार कवि देखता है कि जिसके हृदय में विरह है, उसके लिए यह संसार दर्पण के समान प्रतीत होता है। इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यवहार उसी का विरह प्रगट कर रहे हैं।[3] इसीलिए मंझन ने प्रेम को ही अमर कहा है, उनका तर्क है कि जायसी, कुतवन आदि सन्तों की नायिकाओं की तरह 'मधुमालती' को सती होने की क्या आवश्यकता है? कलि में प्राणी नाशवान है ही। अतः मधुमालती को सती होते हुए क्यों चित्रित करूँ? वह तो मर जायगी, किन्तु सत्य और प्रेम अनादि और अनन्त हैं[4]—

'उतपति जग जेती चलि आई। पुरुष मारि व्रज सती कराई।
मैं छोहन एहि मार न पारेउ, सही मरिहि जो कलि औतारेउ।
सती सुनौ संसार सुभाऊ, जो मरि जिए सो मरे न काऊ॥'

---

१. 'एही रूप वुत अहै छपना, एही रूप रव सिष्टि समाना।'

२. 'प्रेम दीप जाके हिय वारा, ते सब आदि अंत उजियारा।' —मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य—डॉ० शिवसहाय पाठक; पृ० ४६५

३. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० ६७ ; ६८

४. 'मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य'—डॉ० शिवसहाय पाठक; पृ० ४६५

अन्त में वे वतलाते हैं कि दुनियाँ में एक मात्र प्रेम ही आधार है।[1]

उसमान—कवि उसमान की प्रतिनिधि रचना 'चित्रावली' है जिसे उन्होंने काल्पनिक कहते हुए भी वतलाया है कि 'मैंने इसे अपने कलेजे के रक्त को पानी में परिणत करके रचा है। इसका प्रत्येक वचन मोती के समान है'।[2]

इस कहानी का आधार निश्चय ही लोकवार्त्ता है।[3] इसके मूलस्रोत तथा कथा-विधान में दैवी तत्व, (शिव-पार्वती का चित्रण आदि), अद्भुत विलक्षण तत्व (अजगर का लीलना, हाथी का पकड़ना, अंधी माता को पुनः दृष्टि), चित्र-दर्शन द्वारा प्रेम, मिलन और विवाह में विविध वाधाएँ, आदि तत्वों की संयोजकता मिलती है।[4]

उन्होंने नारी के विषय में लिखा है कि उस युग में नारी को लोग सहधर्मिनी न मान एक दासी मानते थे।[5] उनके अनुसार नारी की सद्चरित्रता पर अधिक वल दिया जाता था।[6] उन्होंने प्रेमपथ को एक दुर्गम पथ माना है।[7] उसमान ने नारी को प्रेमपूर्वक पति-भक्ति में अनुरक्त रहना, सौतों से ईर्ष्या-द्वेष न रखना, स्वयं को कष्ट में रखकर अपने पति को प्रसन्न रखना, पति के लिए ही शृङ्गार करना और उनकी अनुपस्थिति में शृङ्गार न करना, दूतियों से दूर रहना और पति के जीवित न रहने पर अपना जीवन भी त्याग देना आदि नारी सम्बन्धी आदर्शों[8] का सुन्दर चित्रण किया है।

---

१. "जेहिंमा प्रेम अमीरस परचै, काल करै का पार।
उदधि सकल काल कै, तरिअहि प्रेम अधार ॥"—सूफी-काव्य-संग्रह—
पं० परशुराम चतुर्वेदी; पृ० १४१

२. 'सूफी काव्य संग्रह—पं० परशुराम चतुर्वेदी; पृ० १४२

३. 'मध्ययुगीन हिन्दी का लोक तात्विक अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र; पृ० २०१

४. मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य—डॉ० शिवसहाय पाठक; पृ० ४७०

५. 'कहेसि लेहु यह चेरी जानी, मैं संकल्प दै कुशपानी।'—उसमान—चित्रावली; पृ० १५४

६. वही; पृ० १८८

७. 'गिरिवर प्रेम विकट अति ऊँचा, धाइ चढ़ा सो तहाँ पहूंचा।'—वही; पृ० ४४

८. 'औ चित वाइ करहु पिउ सेवा, एक पीउ दोऊ जग सुत देवा।
मंत्र-तंत्र साधौ जनि कोई, सेवा एक पीउ वस होई।
जो वल होइ तो गरव न करिये, आप अधीन होइ मन हरिये।
सौतिन कर इरशा नहिं करना, साई संग-संग सदा जिय डरना ॥'—वही; पृ० २२३

नूर मुहम्मद—कवि नूर मुहम्मद की सर्वश्रेष्ठ रचना 'इन्द्रावति' है। आप 'कामयाव' उपनाम से फारसी में कविता करते थे।[१]

स्त्री के विषय में आपका तर्क है कि तत्कालीन युग में स्त्री का स्तर गिरा हुआ था। कहते हैं, उस युग में कन्या माता-पिता की चिन्ता का कारण हो जाती थी, क्योंकि उस युग में विवाह आदि के नियम कठोर थे। कन्या-दान वहुत ही पुनीत समझा जाता था। इस दान से माँ-बाप अपना उद्धार समझते थे।[२] प्रेम को अग्नि के समान उष्ण माना है।[३] नारी का सौंदर्य, उसकी स्वाभाविक लज्जा होते हुए भी उन्हें बुराइयों से परे रहने की वात कही गयी है।[४] तपी गुरुनाथ राजा से इन्द्रावति के रूप की प्रशंसा करता है।[५] कवि के अनुसार नारी को चहारदीवारी के भीतर ही रहना चाहिए, वाहर नहीं।[६] नारी के प्रेम को आप अत्यन्त पवित्र मानते हैं।[७]

---

१. सूफी-काव्य संग्रह; पृ० १८१

२. 'आत्मजा जो होत एक होत सदन उजियार,
कन्यादान दिहे ते हो तो मुकत हमार ॥'—नूर मुहम्मद—इंद्रावती-हिंदी के कवि और काव्य; पृ० ८३

३. 'प्रेम आग के वढ़े, मेघा होय मलीन,
सूर किरन के आगे, है मयंक दुति हीन ॥'—नूर मुहम्मद—इंद्रावती

४. 'लाज नहीं जेहि आखिन माही, है वह पशु है मानुष नाहीं।
औ धन ऊँची सवदन वोले, सुनत विराने को मन डोलै।
हो प्यारी जव पहिरहु गहना, पुरुष विराने सो छिप रहना ॥'—वही; पृ० ५०

५. 'है वह दीप शिखा उंजियारी, आपन जोत सखिन मों डारी।
है वह रतन खान आभा को, जोत सरूप रूप है ताको।
है आनन्द वदन वह प्यारी, छवि तापर है लट सटकारी।
इन्द्रावति है पदुमिनी, रम्भा तुलै न ताहि।
एक जीभ सों कित मैं, ताको सकों सराहि ॥'—इन्द्रावती-कवि नूर मुहम्मद-सम्पा० डॉ० श्यामसुन्दर दास; पृ० १९ दो० ३३

६. 'दारा लजवन्ती जो होई, रहे सलज मंदिर मां सोई।'—अनुराग-वांसुरी—नूर मुहम्मद; पृ० १२५

७. 'प्रीति पियारी नारि, गई रूप के ठाउँ।
आपन वास वतायउ, निर्मलता पुर गांउ ॥'—सूफी-काव्य-संग्रह; पृ० १८७

अपनी 'अनुराग-बाँसुरी' में कवि ने प्रेमी और प्रेमिका की भावनाओं का अत्यन्त ही हृदय-स्पर्शी चित्रण किया है।[1] उसे एक के मिलने से ही सब कुछ मिलने के समान है।[2]

कवि ने 'इन्द्रावति' के प्रेम को ही परम सत्ता का द्योतक माना है। उसके अतिरिक्त संसार में उसे और कुछ नहीं चाहिए—

'इंद्रावति के मिलन हैं, उत्तम भीख हमार।
जग में दूसर भक्ति को, अहों न चाहनहार॥

यहाँ तक कि वह अपने जोग पियाले को उसी पर न्यौछावर करना चाहता है।[3] यही कारण है कि उसके प्रेम पर स्वयं 'इन्द्रावति' मुग्ध है। वह पति के वियोग में अपनी वेदना को प्रगट करती हुई कहती है—

'धन सो धन जेहि विरह वियोगू। प्रीतम लाग तजै सुख भोगू॥'

पति के प्रेम पर ही वह अपना सुख-भोग न्यौछावर करने को तैयार है।

इन सूफी प्रेमाख्यानों के अध्ययन के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के प्रत्येक कवि के हृदय में एक नायिका छलछलाये लोचन लिये बैठी है और उसी की आँखों से आंसू ढुलक कर काव्य का रूप धारण कर लेता है,[4] उसी प्रकार सूफी-कवियों के हृदय में भी नागमती, पद्मावती, इन्द्रावती मधुमालती, चित्ररेखा, चित्रावली एवं प्रेमा के रूप ने अपने प्रिय के विरह में हृदय और नेत्रों से आँसू ढुलका कर इस तृषित-विश्व-वाटिका को प्रेमधाराओं से सिंचित किया है। सूफी-कवियों ने प्रेम को ही जग का सार माना है। उनका 'एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास' प्रेम ही है। अल्फरावी में कहा है—

---

१. 'चित नैं मो रहेउ समाई, ओहि सुन्दरि की सुन्दरताई।'—वही-

२. 'तन औ मन मां, औरे भाव।
एक चाव मिलवे को है सो चाव॥—सूफी-काव्य-संग्रह—अनुराग-बांसुरी पृ० १६४-६

३. 'हौं इन्द्रावति जोगी, जोग पियाला हाथ।
दरसन भिख्या मांगउँ, मान लागा तेहि साथ॥'—इन्द्रावति–डा० श्यामसुन्दर दास—भाग १, पृ० –०-६

४. सरस्वती संवाद–नववर्षाङ्क–अगस्त, १६५५–वर्ष ४–अंक

'ईश्वर स्वयं प्रेम है। सृष्टि का कारण भी प्रेम है। प्रेम के माध्यम से सृष्टि की इकाइयाँ जो प्रेम के महास्रोत में, जो पूर्ण सौन्दर्य और सर्वोत्तम भी हैं, निमग्न हो जाने के लिए जुड़ी हुई है'।[1] वास्तव में मानव स्वयं परमात्मा का अंश है। उसमें प्रेम भी दिव्य स्रोत से ही आया है और वह दैवी विभूति स्वयं प्रेम-रूप है। इन सन्तों का तो यहाँ तक तर्क है कि ईश्वर ने अपने ही सौन्दर्य को देखने के लिए दर्पण-रूपी विश्व का निर्माण किया है—

'आपु-आपु चाहत चाहसि जो देखा। जगत साजि दरपन कै लेखा॥
घट-घट जस दरपन परछाहीं। नान्हें मिला दूर फुनि नाहीं॥'

यही कारण है कि सूफी कवि चाहे जिस किसी को भी प्रेम का पात्र कहें, किन्तु उनका प्रियतम परमात्मा ही है। उसी प्रियतम को वे अपने प्रेम का आलम्बन मानते हैं। 'प्रेम ही उनका अमोघ अस्त्र है, वही उनका परम साधन है, प्रेम के पुल पर चलकर ही सूफी साधक भवसागर पार करते हैं।'[2]

सूफी-कवियों ने प्रेम के दोनों रूपों में अलौकिक प्रेम को ही प्रधान माना है। किन्तु लौकिक पक्ष का भी समुचित चित्रण हुआ है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि उन्होंने लौकिक प्रेम तक पहुँचने का सफल प्रयास किया है। क्योंकि 'इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम) को ही उन्होने 'इश्क हकीकी' का सोपान माना है। रूमी का कथन है कि—'इश्क का मजहव सभी मजहव से अलग है, खुदा के आशिकों के लिए खुदा के अलावा कोई मजहव नहीं'।[3]

अव प्रश्न यह उठता है कि उनके हृदय में इस प्रेम की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस सम्वन्ध में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि—'जव लगि विरह न होइ तन, हिये न उपजइ प्रेम' अर्थात् विना विरह के व्यक्ति के हृदय में प्रेम उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। इसलिए वे अपने 'विरह का प्याला' हमेशा अपने साथ रखते थे—यहाँ तक कि शेख वुरहान महदी ने जिस 'प्रेम-प्याला' पंथ को जायसी को दिखाया था, उसी के सम्वन्ध में जायसी ने लिखा है—

'प्रेम पियाला पंथ लखावा, आपु चाखि मोहि बूंद चखावा।'

---

१. 'स्टडीज इन अरली मिस्टीसिजम इन दी नियर एण्ड मिडिल ईस्ट'; पृ० २०३
२. 'पद्मावत का काव्य-सौंदर्य; पृ० २२१
३. 'रूमी पोस्ट एण्ड मिस्टिक'—ए० निकल्सन; पृ० १७१

इसी प्याले की मादकता में उन्होंने प्रेम-प्रीति का अन्त तक निर्वाह किया—

'हाथ पियाला साथ सुराही, प्रेम पीति लइ ओर निबाही।'

अपनी प्रेम-गाथाओं में इन सन्तों ने प्रेम-पात्र का स्थान प्रधानतः नारी को ही दिखलाया है, जो उनके ईश्वरीय प्रेम का लक्ष्य है। 'नारी ही यहाँ उस नूर का प्रतीक है जो समस्त विश्व का स्रोत है और वही यहाँ वस्तुतः उस पूरक का काम करती है जिसके अभाव में सारा मानव जीवन ही सूना है'।[1] इसलिए इन प्रेमाख्यानों में स्वयं नारियों ने ही पुरुषों के प्रति प्रेमासक्ति का भाव प्रदर्शित किया है। उन्होंने विरह से अनेक यातनाएँ भी भोगी हैं। विरह में उनकी नायिकाओं के 'रक्त न रहा, विरह तन जरा, रति-रति होइ नेनन्द द्वारा' और आगे उनकी दशा यहाँ तक पहुँच जाती है कि—

'हाड़ भये सब किंगरी, नसें भई सब ताँति,
रोंव रोंव सों धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति।'

दूसरी ओर इनके प्रेमियों ने भी अपनी प्रेमिकाओं को प्राप्त करने में हीं संसार का समस्त सुख और आनन्द न्यौछावर कर दिया है। उनकी प्राप्ति के उपरान्त उन्हें और किसी अन्य वस्तु की चाह नहीं रह जाती।[2]

सूफी-कवियों ने अपनी नायिकाओं का विवाह-कार्य भी परम्परागत ढंग से कराया है और उन्हें आदर्श भारतीय गृहणी के रूप में भी चित्रित किया है। जायसी की नागमती एक आदर्श पतिव्रता नारी है और पद्मावती एक आदर्श प्रेयसी। इन दोनों के माध्यम से कवि ने भारतीय नारी के अपने प्रियतम के प्रति अनन्य प्रेम की भावना को अभिव्यक्ति दी है।[3] जायसी की सबसे अधिक भावुकता उस स्थान पर दर्शनीय है जहाँ उनकी नागमती एक रानी न रहकर सामान्य भारतीय नारी के रूप में कहने लगती है—

'पुष्य नखत सिर ऊपर आवा,
हौं बिनु नाह मंदिर को छावा।'

तभी तो आचार्य शुक्लजी को भी इस सम्बन्ध में यह कहना पड़ा कि 'यह

---

१. 'मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य'—डॉ० शिवसहाय पाठक; पृ० ५११
२. 'सरस्वती संवाद'—नववर्षांक—वर्ष ४—अंक १; पृ० ७३
३. 'मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य'—डॉ० शिवसहाय पाठक; पृ० ५१२

आशिक माशूकों का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है, यह हिन्दू गृहणी की विरह-वाणी है, इसका सात्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।[1]

अन्य कवियों की भाँति इन कवियों ने भी 'नायिकाओं का भेद', 'नखशिख वर्णन' तथा उनके विरह का चित्रण बारहमासों में किया है। साथ ही सूफी प्रेमाख्यानों में विरहाग्नि से उत्पन्न प्रेम की अविरल धारा ने नारी के लौकिक दोषों को धोकर उसके स्वरूप को इतना निर्मल बना दिया है कि उसमें प्रत्येक भारतीय अपने व्यक्तित्व को आँक सकता है और भारतीय नारी के आदर्शों के स्पष्ट दर्शन कर सकता है। कि बहुना इन सूफी कवियों की प्रेममय धारा का स्रोत इतना स्वच्छ एवं शाश्वत है कि उसकी एक-एक बूँद काव्य-रसिकों के मानस को सदैव आत्म-विभोर कर प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।

निष्कर्ष—

परब्रह्म की प्राप्ति के लिए 'पंचमकार' की साधना तथा सहजयानी सिद्धों की गुह्य साधना पद्धति पर हम सविस्तार यथा-स्थान अन्यत्र इस प्रबन्ध में विचार कर चुके हैं। यह पद्धति प्रायः अनाचार-प्रधान हो गयी थी जिसकी प्रतिक्रिया हमें नाथ-सम्प्रदाय में देखने को मिलती है। ब्रह्म की साधना के लिए इस सम्प्रदाय ने हठयोग की क्रियाओं का अवलम्ब ग्रहण किया। इस्लाम की आँधी भी इसी काल में इतने तीव्र आवेग से बहने लगी कि तत्कालीन जनमानस विकंपित हो गया, किन्तु इस्लाम का एकेश्वरवाद भारत की भूमि में एक नवीन विचार के रूप में अभिनन्दित नहीं हो सका। भारत में तो उपनिषद्-काल में ही चिन्तन की अत्युच्च शृंगों पर विहार किया जा चुका था, अतएव इस देश के चिन्तनशील व्यक्तियों के लिए एकेश्वरवाद में कण-भर भी नवीनता के दर्शन नहीं हुए। निर्गुण निराकार ब्रह्म की मान्यता यहाँ तो पर्याप्त प्राचीन थी किन्तु इस्लाम की समानता का भाव अवश्य ही विचार की वस्तु बना। इस्लाम में ऊँच-नीच का कोई भेद न था और एक विलक्षण व्यावहारिकता इस धर्म में जनता को—विशेषकर हिन्दू जाति के शोषित और त्रासित निम्न-वर्ग के समाज को—आकृष्ट करने लगी। अस्तु, इन समस्त चिन्तन-धाराओं का समन्वय करते हुए इस युग की भक्तिधारा एक नवीन दिशा की ओर प्रवाहित होने के लिए मुड़ उठी।

'निर्गुण-धारा' की ज्ञान मार्गी शाखा के सन्तों ने भगवत्-प्राप्ति के लिए अनाचार पूर्ण गुह्य साधना-पद्धति की तीव्र शब्दों में निर्भीक भर्त्सना की। उन्होंने वेदशास्त्र के ज्ञान को अनावश्यक ठहरा कर उपासना की रीति-नीति को

---

१. मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य—डॉ० शिवसहाय पाठक; पृ० ७६

व्यर्थ विभ्रम बताया और शरीर-मन की शुद्धि के पश्चात मन के अन्तर्तम प्रकोष्ठों में आत्मा का परमात्मा के साथ संयोग का सन्देश दिया। इन सन्तों ने लौकिक दृष्टि से सामान्य खान-पान, जाति-पाँति के कृत्रिम प्रतिबन्धों को आडम्बर घोषित करते हुए, सद्गुरु की कृपा से अपने हृदय में ही 'राम की बहुरिया' बनकर ईश-चिन्तन और ईश-साक्षात्कार किया। संसार की अनित्यता, असारता और विषय-सुखों की व्यर्थता को अपने उपदेशों तथा रचनाओं की वस्तु बनाकर शुष्क ब्रह्म-चिन्तन में इन सन्तों ने भगवन्-प्रेम के रस की फुहियाँ बरसा दीं। जन-साधारण एक विचित्र व्याकुलता के साथ सन्त-मत की शरण में दौड़ पड़ा और इन सन्त निर्गुणियों ने भटकी जनता को एक नवीन दिशा और नवीन-चेतना प्रदान की।

ऐसे अस्त-व्यस्त धार्मिक, सामाजिक जीवन के क्षणों में नारी-भावना सम्बन्धी भावों को उदात्त करने लिए कोई क्षेत्र ही न था। नारी को लगभग ये सभी धार्मिक सम्प्रदाय तथा मतवाद ईश-साक्षात्कार के मार्ग की चट्टान मानते थे, अतएव इस काल के साहित्य में इन 'निर्गुनियों' ने अपनी रचनाओं में नारी के रूप-लावण्य की निन्दा करके सदा उससे बचते रहने का उपदेश दिया। यह सही है कि ऐसा उन्होंने केवल लौकिक तथा व्यावहारिक-पक्ष में ही किया हैं। अलौकिक-पक्ष में उन्होंने प्रतीक रूप में आत्मा को विरह विह्वल पतिप्राणा नारी रूप में प्रियतम परमात्मा के मिलन के लिए तत्पर रखने का सुष्ठु प्रयास किया है। उनका प्रेमवर्णन अत्यन्त सूक्ष्म तथा संकेतात्मक है। स्पष्ट है कि लोक-जीवन पर केवल व्यवहार पक्ष में अभिव्यक्त भावों का ही अधिक प्रभाव पड़ता है और इस दृष्टि से निश्चय ही इस युग में नारी-भावना का केन्द्र-बिन्दु केवल उसका मादक अतएव निन्दनीय, 'कामिनी' रूप ही रहा। अलौकिक अथवा पारमार्थिक क्षेत्र में नारी-सम्बन्धी भावों की प्रतीकात्मक उदारता इन महानुभावों की निजगत साधना के अनिवार्य आग्रह के कारण ही संभव हुई है।

इस सन्त-मत के निर्गुण निराकारवादियों में सबसे अधिक प्रभाव सन्त कबीरदास का है। कबीर इस विचार-पद्धति के आधिवक्ता हैं। उनके अतिरिक्त गुरु नानक, संत दादूयाल, रैदास, मलूकदास, आदि ने व उनके शिष्यों ने अलग-अलग पन्थ चलाये व रचनाएँ कीं, किन्तु नारी के सम्बन्ध में सबका उपदेश और सब की मान्यता एक-सी ही रही। इन सब सम्प्रदायों ने मूलतः वैराग्यमूलक होने के कारण नारी की उपेक्षा की और सब ने उसका 'दुर्गुणों की खान' के रूप में बखान किया।

प्रेममार्गी सूफी मुसलमान साधक अधिक शास्त्राचार-परायण न थे और ईश्वर सम्बन्धी उनकी चिन्ता हिन्दुओं के विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियों के अधिक समीप थी। वेदान्त का भी इन सूफियों पर प्रभाव था। सूफी-साधकों में इस्लाम की कट्टरता न

होने के कारण ये लोग हिन्दू और मुसलमान दोनों के समान भाव से श्रद्धाभ
हुए। सन्त मुइनुद्दीन, कुतुबुद्दीन और सलीम चिश्ती आदि साधक उस युग में तो स
दृत हुए ही, आज भी उनकी समाधियों पर हिन्दू और मुसलमान समान रूप से श्र
नतमस्तक होते हैं।

किन्तु सूफी साधकों में जिन कवियों ने हिन्दी-साहित्य की वेदी पर अ
सुमनांजलि अर्पित कीं, वे सभी इस्लाम की शास्त्रीय मर्यादा के विश्वासी थे। सभ
अपने ग्रन्थों में सृष्टि-क्रम वर्णन में इस्लामी संस्कृति का दिग्दर्शन कराते हुए मुह
साहब का स्तवन किया है। उस्मान की 'चित्रावली', कुतवन की 'मृगावती',
मुहम्मद की 'इन्द्रावती', मंझन की 'मधु मालती', कासिम शाह का 'हंस-जवाहर',
नबी का 'ज्ञान-प्रदीप' समस्त प्रेमाख्यान हमारे इस कथन का समर्थन करते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रेम की पीर से बावले इन सूफियों ने का
साधना में प्रेम की जिस उत्कट तन्मयता की अभिव्यक्ति की वह साहित्य-जगत में
अभिनव देन थी। हिन्दुओं के पुराणों व इतिहास से प्रेमाख्यानों को लेकर अ
कल्पना व प्रतिभा के बल पर जिस सहृदयता से इन सज्जनों ने काव्य-सृजन कि
उसमें हृदय के समस्त रागात्मक भावों को झंकृत करने की अपूर्व क्षमता थी। इ
अपने धार्मिक सिद्धान्तों को व्यक्त करने के उद्देश्य से भारतीय लोकजीवन से स
न्धित कई प्रेम कथाओं को अपनी मसनवी काव्य-शैली में हमारे समक्ष प्रस्तुत कि
अन्योक्ति तथा रूपक-शैली में लौकिक प्रेम के अवलम्ब से उन्होंने पारलौकिक प्रेम
साधना की तथा अपने पूर्ववर्ती कवियों के शृंगार की प्रमुख प्रवृत्तियों को पय
विकसित किया। यदि भारतीय सन्तों में ज्ञाता और ज्ञेय की चरम परिणति ज्ञान
है तो सूफी-सन्तों में प्रेमी और प्रिय की चरम परिणति प्रेममय है। सूफी-मत में
ही प्रधान है, प्रेम ही कर्म है और प्रेम ही धर्म है, यद्यपि सूफी काव्य में कही
सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध प्रेम की व्यंजना नहीं है। ईश्वर को प्रतिमा के रू
कल्पित करके सूफियों की साधक-आत्मा, मार्ग की विविध बाधाओं का अतिक्र
करती हुई उसके साक्षात्कार को अग्रसर होती है। इन सूफी साधकों ने नारी को
का प्रतीक मान कर ही बत्तीसों लक्षणों से परिपूर्ण नारी का पूर्ण चित्रण किया
और उसी नारी के रूप-सौन्दर्य के भीतर उसी एक परमतत्व की झाँकी पाने का प्र
किया है इसी दृष्टि से इस काव्य में नारी को प्रतीक रूप में ईश्वर के समकक्ष
आसीन कर दिया गया, किन्तु यह सब विशुद्ध आध्यात्मिक क्षेत्र में हुआ। नारी
व्यावहारिक जीवन में विविध रूपों में क्रिया-कलाप की ओर इन कलाकारों

ध्यान नहीं गया। साधना के लिए सरल सात्विक जीवन के प्रति इनका भी आग्रह कबीर आदि सन्तों के समान रहा और इसीलिए माया-स्वरूपा नारी-रूप से इन्होंने भी बचने का ही उपदेश दिया।

हाँ, प्रबन्ध-काव्यों के कथानकों में जहाँ-जहाँ हिन्दू गार्हस्थिक दाम्पत्य की झाँकियाँ दिखायी गयीं, वहाँ सामान्य पतिपरायणा नारी का निखरा रूप अवश्य ही चित्रित हुआ है। सूफी साधकों ने विरह-साधना को अपनी भक्ति का प्रमुख अंग और प्रेम की कसौटी माना है। इसी कारण 'पद्मावत' में नागमती का विरह-वर्णन, विरह काव्य की चिरन्तन धरोहर बन गई है। नागमती विरह-व्यथा में अपने में तथा एक सामान्य गृहणी में कोई अन्तर अनुभव नहीं कर पाती। विरह की यह मनोदशा मानव को मानव के कितना समीप लाकर बैठा देती है, यह साहित्य के सहृदय मर्मज्ञों से छिपी नहीं है।

इस युग का परम्परागत सौन्दर्य-चित्रण एवम् नारी चित्रण लौकिक-पक्ष में केवल नायक के लिए अश्रुपात करने वाली साधारण अबला के रूप में ही केन्द्रित रहा। कभी-कभी नायक के निधन पर ज्वालाओं का शृंगार भी प्रेमाख्यानक काव्यों की नायिकाओं ने किया। 'जौहर' के वर्णन में नारी के सर्वोत्तम समर्पण तथा विसर्जन के चमत्कार के दर्शन भी होते हैं। किन्तु नारी, जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में साहस के साथ अग्रसर न हो सकी। वह महलों की बंदिनी बनकर मिलन में आनन्द-विभोर, विरह में बावली और पुनर्मिलन में पुनः हर्षित अथवा चिर-विरह में 'जौहर' की गोद में क्रीड़ा करती रही। अस्तु, केवल एक ही भाव, एक ही संकुचित क्षेत्र में आलोड़न विलोड़न होता रहा। नारी-भावना इस संकोचमय नीड़ से झाँकने की भी चेष्टा न कर सकी, उसके लिए अभी भी समय एवम् परिस्थितियों की बाट जोहनी थी।





सगुण-भक्तिधारा में नारी की स्थिति

१. तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ,
२. सगुण-भक्तिधारा का विकास–

(क) राम-काव्य—

१. रामकथा का विकास,
२. राम-काव्य में नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण,
३. गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में नारी के विविध रूप—
    (क) नारी का आदर्श रूप,
    (ख) नारी का पतिव्रता-रूप,
    (ग) नारी का इष्ट सम्बन्धी रूप,
    (घ) नारी-सौन्दर्य-चित्रण,
    (ङ) नारी का दाम्पत्य-भाव,
    (च) नारी, प्रकृति चित्रण में,
    (छ) मानस की नायिका सीता,
    (ज) मानस की उप-नायिकाएँ (पार्वती, कैकेयी, कौशल्या, सुनयना, मैना, सुमित्रा, मंथरा, शवरी आदि)
    (झ) मानस की दनुज नारियाँ (मन्दोदरी, सुलोचना, त्रिजटा, सूर्पणखा, लंकिनी आदि)
    (ञ) नारी निन्दा—

पुष्प | पंचम

सगुण-भक्तिधारा में नारी की स्थिति

१. तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ,

२. सगुण-भक्तिधारा का विकास-

(क) राम-काव्य—

१. राम कथा का विकास,

२. राम-काव्य में नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण,

३. गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में नारी के विविध रूप—

(क) नारी का आदर्श रूप,

(ख) नारी का पतिव्रता-रूप,

(ग) नारी का इष्ट सम्बन्धी रूप,

(घ) नारी-सौन्दर्य-चित्रण,

(ङ) नारी का दाम्पत्य-भाव,

(च) नारी, प्रकृति चित्रण में,

(छ) मानस की नायिका सीता,

(ज) मानस की उप-नायिकाएँ (पार्वती, कैकेयी, कौशल्या, सुनयना, मैना, सुमित्रा, मंथरा, शवरी आदि)

(झ) मानस की दनुज नारियाँ (मन्दोदरी, सुलोचना, त्रिजटा सूर्पणखा, लंकिनी, आदि)

(ञ) नारी निन्दा—



४. केशवदास तथा अन्य रामभक्त-कवियों द्वारा शृंगार-वर्णन तथा नारी-पात्रों का चित्रण,

(ख) कृष्ण-काव्य—

१. कृष्णभक्ति-काव्य की परम्परा,
२. कृष्ण-काव्य की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि,
३. कृष्णभक्त कवि और नारी,
४. राधा की भावना का क्रमिक विकास
५. कृष्ण-काव्य की गोपी-सखी-भावना,
६. महात्मा सूरदास की राधा, गोपियाँ, यशोदा, कुब्जा और नायिका-भेद,
७. 'अष्ट-छाप' के अन्य कवियों के शृंगार वर्णन में राधा, गोपियाँ और नायिका-भेद,
८. भक्त मीरांबाई और चन्द्रसखी की नारी-भावना,
९. तत्कालीन मुसलमान कृष्ण-भक्तों (रसखान, रहीम आदि) की रचनाओं में निरूपित नारी,
१०. निष्कर्ष.



पुष्प : पंचम्

सगुण-काव्य में नारी की स्थिति :

पन्द्रहवीं शताब्दी से सम्बन्धित भारतीय इतिहास के अध्ययन-मनन से ज्ञात होता है कि विदेशीय, विजातीय एवं परधर्मी यवनों के अनवरत दुर्दान्त एवं कठोर आक्रमणों से भारतीय नरेशों का क्षत्रित्व दलित व निष्प्राण-प्राय हो चुका था। उनका स्वाभिमान, उनकी परम्परागत गौरव-गरिमा निःशेष सी हो चुकी थी। उनका ओज, उनकी ऊर्जा किंवहुना उनकी सम्पूर्ण प्राणवत्ता जड़वत् हो चुकी थी। अतः ऐसे भग्नावशिष्ट वर्ग से हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दू देश समृद्धि की कहाँ तक अपेक्षा रख सकता था। तत्कालीन कतिपय मुस्लिम शासक गैर-मुस्लिम प्रजा को 'इस्लाम अथवा मृत्यु' में से एक को स्वीकार करने के लिए बाध्य करते रहते थे। संसार के इतिहास में बहुत कम ऐसे प्रमाण मिलेंगे जहाँ किसी भी शासक वर्ग ने अपनी ही प्रजा के धर्म को नष्ट करने के लिए उस पर इतने नृशंस अत्याचार किये हों।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—यवनों के ये आक्रमण सैनिक किंवा राजनीतिक मात्र ही न थे, अपितु उनका आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व भी कम न था। अर्थ एवं रक्त पिपासु मुगल-सेना ने अपनी सफलता हेतु स्थानीय दुर्बल परिस्थिति से पूर्ण लाभ लिया, आक्रमण किए तथा गंगा की घाटी में दो दूरस्थ तथा विषम संस्कृतियों का अवांछनीय संगम हुआ। भारतीय पराभव के सर्व-विदित परिणाम के उपरान्त क्षुधित यवन सेना मंथर गति से दक्षिण भारत की ओर अग्रसर होती ही गई।

भारतीय-नरेश पराजित हो जाने पर भी सामान्यतः विदेशी शासन को स्वीकार नहीं कर रहे थे। इब्नबतूता के मतानुसार पराजित शासकों में भी देश-हित की महती भावना विद्यमान थी। इसी भावना से अनुप्राणित होकर राजपूत जाति ने गंगा की घाटी को प्राप्त करने के लिए जौहरयुक्त अनेक प्रयास किए किन्तु सफलता का सेहरा उनके सिर पर न बँध सका। राजसत्ता मुगलों के करगत हो गई। सामान्यतः यह मान्य सिद्धान्त है कि किसी देश अथवा राष्ट्र के उत्कर्षापकर्ष का प्रमुख दायित्व वहाँ की राजसत्ता पर ही निर्भर होता है।

प्रकृति से मुगल शासन सैनिक था। विश्व के अन्य अनेक देशों की भाँति यहाँ भी केन्द्रीय एकतन्त्र शासन प्रणाली थी। देश की प्रगति के किसी भी क्षेत्र के लिए राजा उत्तरदायी न होता था। उसकी ऐसी पराङ्मुखता के परिणाम स्वरूप समाज को ही अपने चरम् और परम उत्कर्ष हेतु साध्य की आराधना करनी होती थी। राजा का उद्देश्य तो नितांत संकीर्ण तथा भौतिक होता था। स्थानीय वातावरण से भिन्न मुगल शासन-प्रणाली का आदर्श सुदूर अरब तथा फारस के आदर्शों पर आधारित था। उसके सभी कल पुर्जे उसी में ढले थे। अर्थ-संचय में अवश्यमेव यह राज सत्ता पूर्ण निष्णात थी। देश के अधिकांश यंत्रालयों पर सत्ता का ही अधिकार था और यह सत्ता भी व्यक्ति विशेष के हाथों में ही समाहित थी।[1] यातायात, न्याय, कृषि-सुरक्षा का भी कोई उत्तम प्रबन्ध राज्य की ओर से न था।

कोई भी साहित्य युग परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है किन्तु भक्ति-कालीन साहित्य इस बात का अपवाद है। भक्ति-काल के प्रमुख चार कवियों कबीर, जायसी, तुलसी और सूर की वर्ण्य सामग्री युग के राजनीतिक वातावरण के ठीक प्रतिकूल है। उन्हें न तो सीकरी से काम था और न प्राकृत जन-गुणगान से।[2]

सामाजिक परिस्थितियाँ—वर्तमान काल में भारतीय समाज की जो व्यवस्था आज विद्यमान है उसका रूप एक प्रकार से इसी काल में स्थिर हो चुका था। विदेशियों के निरन्तर सम्पर्क एवं संसर्ग से हिन्दुओं में विवाह, खानपान, रीतिनीति आदि विषयक असहिष्णुभाव प्रविष्ट हो चुका था। नारियों के अवगुंठनवती स्वरूप का अभ्युदय भी प्रमुखतः इसी काल की देन है।

वर्गभेद की यत्किंचिदपि कठोरता आज तक परिलक्षित होती रही, वह मुगलों की विभाजक एवं विच्छेदक नीति का ही दुष्परिणाम कहा जा सकता है। यद्यपि रामानुजाचार्य जैसे सर्वजनश्रद्धेय आचार्य ने तथाकथित नीच जातियों में प्रचलित एकान्तिक भक्ति धर्म को बहुमान दिया, धार्मिक दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं रखा किन्तु सामाजिक व्यवहार में जाति-भेद की मर्यादाएँ बनी ही रहीं।[3]

मन्दिरों में भी जो कुछ अन्ध विश्वास, रूढ़िवादिता पाखंड और कुल मिलाकर मिथ्या औपचारिकता का अतिरेक दृष्टिगोचर हुआ वह भी परोक्षतः मुगल सभ्यता और संस्कृति के सान्निध्य का ही फलरूप कहा जाएगा। प्रायः देवदासियाँ,

---

१. मुगल ऐडीमनिस्ट्रेशन—डॉ० ईश्वरीप्रसाद; पृ० ५-६
२. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ—प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० ६१
३. हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) डॉ० ह० प्र० द्विवेदी; पृ० ८६

नर्तिकाएं एवं वीरांगनाएं विभिन्न कामोद्दीपक भाव भंगिमाएं प्रदर्शित कर नर्तन करतीं, देवालयों की सम्पत्ति कहलातीं और उन्हें वासनास्थल बनाए रखती थीं। सामाजिक कुप्रथाएं यथा बाल विवाह, सती प्रथा, शिशु वध, अस्पृश्यता आदि अन्ध-विश्वास जनित कुरीतियाँ भी प्रचलित थीं।

समाज की यह विगलित स्थिति मुख्यतः उस युग विशेष तक रही जब वह मुगल साम्राज्य के पूर्ववर्ती मुसलमानी शासन (सल्तनत-काल) के अनुदार और अत्याचार पूर्ण प्रशासन रूपी प्रभंजन से प्रताड़ित होता रहा और तज्जनित दुःखपूर्ण अवस्थिति में भी साँस भर लेता रहा। हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मन्दिरों को ध्वंस किया जाता, मूर्तियों को ठुकराया जाता और पूज्य पुरुषों का अपमान किया जाता था। वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे।[१] मुगल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् उन्हें कुछ सुख एवं शान्ति का अनुभव हुआ।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ—परिवर्तन के झंझावात में सभी कुछ अस्तव्यस्त हुआ। आर्य संस्कृति का आदर्श भी इस काल में धराशायी हो चुका था। अनादिकाल से चले आ रहे वैदिक सनातन धर्म के पथ में भारत पर अनेकदा विभिन्न मतों, सम्प्रदायों तथा संस्कृतियों के प्रचण्ड एवं प्रबल प्रहार हुए (यथा जैन, बौद्ध आदि द्वारा) किन्तु वैदिक धर्म के क्षीण प्रायः आलोक को कुमारिक भट्ट व आचार्य शंकर ने पुनः देदीप्य कर वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की किन्तु कुछ वर्षों के उपरान्त पूर्व से चले आ रहे शैव एवं वैष्णव संप्रदायों के शत-शत खंड हो गए। वैदिक धर्म विरोधिनी ये शाखा प्रशाखाएँ कबीर, दादू, रैदास, नानक आदि के पंथों से प्रस्फुटित हुई। इस नवीन जागृति में लोक समन्वय की प्रवृत्ति का निश्चित रूप से अभाव था। 'अतएव इसने—वर्णाश्रम धर्म ने बाह्य एवं आन्तरिक दोनों स्वरूपों पर बुरा प्रभाव डाला।'[२]

इधर जन सामान्य के खोखले, रूढ़िवादी एवं अंधविश्वासपूर्ण विचारों के कारण इन सन्तों की वाणियों का समुचित आदर एवं अनुसरण भी न हो पाया।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल (सं० २०१४) पृ० ५६
२. तुलसीदास और उनका युग—राजपति दीक्षित; पृ० १६

तत्कालीन नरेशों का जीवन भी पंक संकुल हो रहा था। वे अपना प्रमुख जीवन-व्यापार आत्म प्रशस्ति श्रवण में तथा कामिनी कल्पना लोक में विचरण मात्र तक सीमित रखते थे। उनकी सम्पूर्ण धार्मिक प्रवृत्तियों में विराम लग चुका था।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है इस समय वैदिक धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा था। बौद्धकालीन सदाचार-भाव के बदले भक्तिभाव महत्त्व पा रहा था। वैष्णवता विभिन्न रूपों में पल्लवित हो रही थी। जनता के प्रधान आराध्यदेव राम और कृष्ण थे।

डॉ० ग्रियर्सन, आचार्य शुक्ल एवं बाबू गुलाबराय की यह सम्मति कि 'अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था, पूर्णतः उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि 'इस्लाम के संघर्ष ने भारतीय धर्म प्रचारकों को पराजित एवं निराश नहीं किया अपितु उन्हें नयी चेतना, नयी स्फूर्ति एवं नया कार्यक्षेत्र प्रदान किया'। वास्तविकता यह है कि इस्लाम की तलवार ने भले ही हिन्दुओं को सत्ताहीन कर दिया हो, या उसके नेताओं के शरीर को छीन लिया हो, किन्तु इससे उनकी मानसिक चेतना नैतिक बल एवं धर्मपरायणता ने पराजय स्वीकार नहीं की थी, अपितु वह और अधिक संगठित एवं सबल रूप में उद्‌बुद्ध एवं जागृत हो उठी थी'।[1]

आठवीं सदी से लेकर सोलहवीं सदी तक भारतीय धर्म के क्षेत्र में जिन महापुरुषों ने कार्य किया उनमें दक्षिण में जन्मे श्री शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्क, मध्व, सायण, वल्लभ आदि ने समस्त भारत की हिन्दू जनता को एक नवीन धार्मिक नेतृत्व प्रदान किया।

इस युग का भक्ति-काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहाँ उसमें उच्चकोटि के काव्य के दर्शन होते हैं। इसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन स्रोत रस है, उसका शरीर मानवीय है। यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है।[2]

सगुण-भक्तिधारा का विकास—धर्म के क्षेत्र में भारतीय सदैव स्वतन्त्र रहे हैं। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि सन्त और महात्मा सदैव ईश्वर प्राप्ति के लिए निरंतर

---

१. 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'—डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त; पृ० १५६-५७

२. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ—प्रो० शिवकुमार; पृ० ९५

प्रयत्न करते रहे हैं। भक्ति, कीर्तन तथा गेय काव्य की परम्परा भी अत्यधिक प्राचीन है। वेद, उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्यानुसार ईश्वर प्राप्ति के तीन मार्ग-भक्ति, ज्ञान और कर्म—माने गए हैं। किसी ने ब्रह्म-दर्शन के लिए भक्ति को प्रधान माना, तो किसी ने ज्ञान को अथवा कर्म को। इन्हें क्रमशः भक्ति योग, ज्ञान-योग और कर्म-योग की भी संज्ञा दी गई है। वेदों के युग में यह धर्म भागवत् धर्म के नाम से विख्यात रहा और देवर्षि नारद इस धर्म के मुख्य आचार्य माने गए। उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी। फिर बौद्धधर्म के उदय होने पर धर्म की कठोर शृंखलाएँ लोगों को बन्धन में जकड़ने लगीं और कर्मकाण्ड का प्रबल प्रचार हुआ। ईश्वर प्राप्ति के लिए कर्मकाण्ड ही सर्वप्रधान साधन बने। इन्हीं दिनों शंकराचार्यजी ने इस कर्मकाण्ड की कटु आलोचना की और उसके स्थान पर उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' का प्रतिपादन किया। तत्पश्चात् देश में श्री रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'विशिष्टाद्वैत'—मत चला पड़ा। रामानुजाचार्यजी ने यहाँ कर्म की अपेक्षा भक्ति पर अधिक बल देकर 'नारायण' की उपासना को श्रेष्ठ बतलाया है।

राम-भक्ति—रामानुजाचार्यजी के पश्चात् उनके शिष्य महात्मा रामानन्दजी ने भक्ति का द्वार जो अभी तक सर्वसाधारण के लिए बन्द था, सबके लिए खोल दिया। उनके 'वैष्णव-धर्म' को क्या निर्गुणोपासक और क्या सगुणोपासक सभी ने अंगीकार किया। महात्मा रामानन्दजी ने लोगों को राममन्त्र से दीक्षित कर उन्हें रामभक्त बनाया।

रामानन्दजी ने उपासना के क्षेत्र में सबको समानाधिकार दिए तथा विभिन्न जातियों के लोगों को राम नाम की महिमा सुनाई। द्रविण देश में उत्पन्न भक्ति को उत्तर-भारत में लाने का श्रेय स्वामी रामानन्दजी को ही है—तभी तो यह प्रसिद्ध है कि—

'भक्ती द्रविड़ ऊपजी, लाए परमानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखण्ड॥"

हमारे गोस्वामी तुलसीदासजी भी इन्हीं रामानन्दजी के प्रमुख शिष्य और राम-काव्य के अमर गायक थे।

कृष्ण-भक्ति—हम ऊपर यह भली भाँति स्पष्ट कर आए हैं कि १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का प्रबल प्रचार था, गोस्वामी तुलसीदास इस धर्म के पक्के अनुयायी थे। इसी सम्प्रदाय में नाभादासजी भी हुए जिन्होंने 'भक्तमाल' की रचना की, तदनन्तर 'मध्व' आए जो पहले शैव थे बाद में वैष्णव हुए। इनका

सिद्धान्त था कि जीव ब्रह्म से उत्पन्न है परन्तु परतन्त्र है और ब्रह्म स्वतन्त्र है। कृष्ण ही 'परब्रह्म' हैं और भक्ति ही ब्रह्म प्राप्ति का एकान्त साधन। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत राधा मान्य नहीं है। चैतन्य सर्वप्रथम इसी संप्रदाय में दीक्षित हुए बाद में उनका गौड़ीय वैष्णव मत प्रवर्तित हुआ। चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त जीव गोस्वामी से ही मीरा ने सर्वप्रथम दीक्षा ली थी बाद में रैदास भक्त से।

उधर दक्षिण में श्री विष्णुस्वामी 'अद्वैतवाद' के स्थान पर 'शुद्धाद्वैतवाद' की प्रतिष्ठा कर रहे थे। उन्होंने कृष्ण के साथ राधा को भी मान्यता प्रदान की तथा वेदांत सूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् पुराण पर भाष्य लिखे। उनकी शिष्य परम्परा में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी प्रधान थे। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित और 'शुद्धाद्वैतवादी' थे। उन्होंने भी भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बतलाया है। इन महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय का भी पर्याप्त प्रचार हुआ और उनके अनेक शिष्य बने। भक्त प्रवर महात्मा सूरदास और अष्टछाप के कवि उनके प्रमुख शिष्य थे।

वैष्णव धर्म का प्रचार पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी में हुआ। मध्ययुग के कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत संयोग सुख की लीला को को ही प्रश्रय दिया गया है वियोग को नहीं। यह सम्प्रदाय माधुर्यभक्ति का पोषक है। तत्कालीन कवियों ने भी तद्नुसार राधा कृष्ण की कुंज-क्रीड़ा एवं सुख विलास मात्र का ही माधुर्यपूर्ण चित्रण किया है। यह सम्प्रदाय 'वल्लभ मत' भी कहलाता है। श्रीवल्लभाचार्य जी ने श्रीमद्भागवत के 'पोषणं तदनुग्रहाय' (२:१०) के आधार पर भगवद्नुग्रह के अर्थ में ही 'पुष्टि' शब्द का प्रयोग किया है। पुष्टि मार्ग एक मात्र ईश्वरानुकम्पा पर निर्भर है तथा उनकी यह अनुकम्पा भी लीलामात्र ही है। इस सम्प्रदाय में वात्सल्य, दास्य, सख्य और माधुर्य चारों प्रकार की रति भक्ति पद्धति में समाविष्ट है। इस सम्प्रदाय के अनुसार परकीया एवं स्वकीया दोनों ही अपूर्णभाव है क्योंकि स्वकीया में विरह का अभाव तथा परकीया में पूर्ण मिलन के आनन्द का अभाव होता है। पुष्टिमार्ग में सखीभाव का भी विधान है। वे जीव के तीन स्वरूप मानते हैं—पुष्टि जीव, मर्यादा जीव तथा प्रवाह जीव। पुष्टि मार्गीय उपासना पद्धति में भोग, राग तथा विलास की सामग्री का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है।

भक्ति-काल में कृष्ण भक्ति का ही प्राधान्य पाया जाता है। भक्तहित साधनार्थ इनके आराध्य यत्र-तत्र मधुर लीलाएँ करते हैं। गोलोक इसी लीला व्यापी वैकुण्ठ

का एक खंड है जिसमें नित्यरूप में यमुना, निकुन्ज, वृन्दावन आदि हैं। इस सम्प्रदाय ने 'प्रेम' को भक्ति का सर्वोच्च साधन माना है। आचार्य वल्लभ के शिष्यों तथा अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की लीलाओं, क्रीड़ाओं व रूप सिद्धान्तों का यथा स्वरूप वर्णन किया है। भक्त कवि सूरदास तथा परमानन्द दास में सख्य एवं कान्ता-रति का विस्तृत वर्णन प्राप्य है। इनका प्रमुख वर्ण्य विषय राधाकृष्ण की प्रणय-क्रीड़ा रही। यह धारा इतनी प्रबल एवं व्यापक रही कि अन्य सभी धाराएँ इसी में सहगमन कर प्रवाहित होने लगीं। वैष्णव धर्म का प्रभाव भारतीय साहित्य पर गंभीर व अगाध रूप से पड़ा।

पिछले 'पुष्प' में हम यह भी बतला आए हैं कि ज्ञानाश्रयी निर्गुण-धारा के सन्तों एवम् प्रेम की पीर लेकर चलने वाले सूफी-कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को कुछ अंश तक दूर करने का अवश्य प्रयत्न किया था किन्तु वे जनता के हृदय में नव-चेतना और सरसता की सुन्दर धारा प्रवाहित कर उनके जीवन में आनन्द का संचार न कर सके। फिर निर्गुणशाखा विराग को लेकर चली थी 'ब्रह्मज्ञान बिन नारि नर, कहहिं न दूसरि बात'—उसमें उच्च श्रेणी की व्यक्तिगत साधना की आवश्यकता थी जो सबके लिए सम्भव नहीं। सन्तों ने वर्णाश्रम और वेद-पुराणों की निन्दा की और धीरे-धीरे वे वास्तविक भक्ति से दूर होते गए। अतएव असहिष्णु यवनों के घोर अत्याचार, अन्याय से पीड़ित जनता में तुलसी और सूर ने क्रमशः रामभक्ति और कृष्णभक्ति द्वारा वह आशा प्रदीप्त की जिसके द्वारा वे परमात्मा को पाप का भार उतारने और धर्म प्रसार करने के लिए पृथ्वी पर चलता-फिरता, खेलता-कूदता, खाता-पीता देख सकें। जनता ने यह सुन रक्खा था कि परमात्मा गज को ग्राह से बचाने के लिए नंगे पैर दौड़ पड़े थे तथा उन्होंने द्रौपदी की लाज की रक्षा की थी। परमात्मा के इस भक्त वत्सल और लोक रक्षक स्वरूप का स्मरण कर ही उसे धैर्य्य और शान्ति मिली। जो अधिक भावुक और कोमल स्वभाव वाले थे उन्हें कठोर व्रती राम के बदले भागवत् के लीलाप्रिय, गोपीजन-वल्लभ, 'पूंजीभूतं प्रेम गोपांगनानां' कृष्ण का रूप अधिक प्रिय लगा।

(क) राम-काव्य—

१. राम-कथा का विकास—राम-भावना के क्रमिक एवं शृंखलाबद्ध विकास का परिचय देते हुए डा० गार्गी गुप्त ने बताया है कि राम-काव्य की परम्परा का इतिहास इसी समय से आरम्भ होता है जब से विष्णु के अस्तित्व को मान्यता प्राप्त हुई, वैष्णवों ने विष्णु के विष्णुत्त्व की साकार कल्पना राम के पार्थिव व्यक्तित्व में

की तथा राम के ऐहिक व्यक्तित्व का सामंजस्य विष्णु के समस्त नैसर्गिक गुणों के साथ हुआ। इसी सम्बन्ध में आगे चलकर उन्होंने स्पष्ट किया है कि विष्णु की प्रसिद्धि जब राम और कृष्ण के अवतारों के रूप में होने लगी तब साधारण जनता उनके मूल रूप विष्णु को भूल गई एवं उनके मनन के आधार केवल यह दोनों अवतार ही रह गए....जनता के साहित्य तथा धर्म दोनों के नायक राम अथवा कृष्ण बन गए और विष्णु की स्मृति उत्तरोत्तर धूमिल होती गई।[1]

२—**राम-काव्य में नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण**—राम-काव्य के सभी कवियों ने राम के लोक संग्रहकारी रूप के आलोक में श्रुति-सम्मत मार्ग दिखलाने का प्रयत्न किया है। जहाँ लोक धर्म और व्यक्ति धर्म का विरोध पाया गया वहाँ उन्होंने कर्म-मार्गी गृहस्थों के लिए लोक-धर्म का ही अवलंबन श्रेष्ठ बतलाया है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि धर्म दिव्य और अलौकिक है तथा सत्य, शील, कर्तव्य परायणता, अहिंसा आदि उसके नाना रूप हैं—अतएव मानव के लिए धर्म-पथ का ही अनुसरण श्रेष्ठ है चाहे उसमें उन्हें अनेक संकटों का ही सामना क्यों न करना पड़े।

तुलसी के युग में नारी अपनी विशिष्टता तथा मान से वंचित हो चुकी थी, उसका जीवन परतन्त्रता का दुखद इतिहास था। विवशता, आत्म-दमन, बलिदान और दासता में ही उसका जीवन व्यतीत होता था। उसका जीवन और व्यवहार के लिए आचार शास्त्र नियत था। नारी चारों ओर से वन्दिनी थी। नारी भी भोग की अन्य वस्तुओं में परिगणित की जाने लगी थी। तत्कालीन अतिशय विलास के युग में नारी पुरुष की सहचरी और सहधर्मिणी न थी, प्रत्युत जीवन में आनन्द एवं सौख्य का उद्रेक करने वाली विलास एवं भोग की वस्तुओं में एक थी।[2]

३—गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में नारी के विविध रूप—

(क) **नारी का आदर्श रूप**—गोस्वामी जी के 'रामचरित मानस' का अध्ययन करने के उपरान्त हमें आभास होता है कि नारियाँ सहिष्णुता तथा धीरता की मूर्त रूप हैं। उनमें गंभीर गूढ़तम आघात सहकर भी अपनी विवेक बुद्धि को अविकार रखने की महान क्षमता होती है। तुलसी की नारी सभी प्रकार के कष्टों को सहन करती हुई पारिवारिक जीवन की सात्विक मर्यादा का सदैव ध्यान रखती है। सीताजी

---

१. 'रामकाव्य की परम्परा में रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन'
—डॉ० गार्गी गुप्त; पृ० २७

२. तुलसी; सम्पा०—डॉ० उदयभानु सिंह, पृ० १५६

अपने पति श्रीराम से वात करने के पूर्व अपनी सास का सर्व प्रथम चरण-स्पर्श करने की आज्ञा प्राप्त करना चाहती हैं।[1]

गोस्वामी जी अपने कर्तव्य परायण एवं धर्म निष्ठ नारी पर अटूट विश्वास रखते हैं। यदि नारी-समाज कल्याण के भावों से परिपूर्ण है तो निश्चय ही उसमें नारी का सत् दृष्टिगोचर होगा। हिन्दू समाज की नारी की पूरी परिणति सीता के चरित्र में हो जाती है।[2] सीता में सतीत्व की भावना स्थान-स्थान पर स्पष्ट होती मयी है। सुमित्रा के चरित्र में भी स्थित-प्रज्ञता यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है। पर माता कौशल्या कुटिलता से रहित हैं। साथ ही उनमें भरत के प्रति भी राम की भाँति हार्दिक प्रेम की भावना विद्यमान है। माँ कौशल्या वन-गमन के समय पिता की आज्ञा-पालन का उपदेश देती हैं और दुःख के समय विवेक से काम लेती हैं। पुत्र के समक्ष नारी के त्याग का यह आदर्श रखते हुये उनका सत् रूप निखर उठता है।

(ख) **नारी का पतिव्रता रूप**—गोस्वामी जी की नारी ने सभी प्रकार के कष्टों को सहन करना स्वीकार किया परन्तु पारिवारिक जीवन की सात्विक मर्यादा का कहीं उल्लंघन नहीं किया। तत्कालीन युग में नारियाँ लोभी न थीं इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि रावण द्वारा वैभव और विलास के अप्रतिम प्रलोभनों के समक्ष सीता जी उत्तर देती हैं कि या तो राम के भुजदण्ड मेरे कण्ठ को घेरेंगे अथवा तेरी तलवार।[3]

त्रिजटा से वार्ता करते समय भी जनक नन्दिनी सीता का चरित्र पतिव्रत धर्म से ओत-प्रोत है।[4]

मर्यादा पुरुषोत्तम राम जव माता सीता को घर रहने का उपदेश देते हैं तो पति के वचन सुनते ही उनके नेत्र सजल हो जाते हैं। उनकी सीख सीताजी के लिये दाहक प्रतीक होती है।[5] सीताजी अपने सरल शब्दों में उत्तर देती हैं कि प्रियतम विहीना नारी के लिये सम्पूर्ण सुख नरक के समान है। उसका सारा सुख पतिव्रत धर्म में ही निहित होता है।[6] अत्रि ऋषि के आश्रम में सती अनसुइया ने सीताजी

१. तुलसी ग्रन्थावली; प्रथम भाग; पृ० १७६ ; ८०
२. 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नरनारी ॥'—वालकाण्ड; पृ० २५६
३. तुलसी ग्रन्थावली; पृ० ३४६
४. रामचरित मानस; सुन्दरकाण्ड; पृ० ८०६
५. वही; अयोध्याकाण्ड; पृ० ४३२
६. वही; पृ० ४३२

को वहुत आदर के साथ वैठाया और समाजोपयोगी शिक्षायें दीं। उन्होंने अपनी मधुर वाणी में कहा है कि हे राजकुमारी। उस संसार में माता, पिता, भाई और मित्र समस्त लोग सुख प्रदान करने के एक मात्र अधिकारी हैं।[1] वास्तविक रूप में यदि नारी जगत् का अवलोकन किया जाए तो स्त्री को अनन्त सुख प्रदान करने वाला पति ही होता है तथा इससे विपरीत रहने वाली नारी अधम नारी की कोटि में आती है। धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री की वास्तविक परीक्षा आपत्तिकाल में ही होती है।[२] अन्यान्य रोगों से ग्रसित पति का भी अनादर करने वाली नारी घोर घोर नरक भाजन होती है। यम लोक में उसे नाना प्रकार के कष्टों को सहन करना पड़ता है।[3] अतः नारी जीवन की सार्थकता का एक मात्र आधार पति की सेवा ही है। उसे मनसा, वाचा, कर्मणा पति के चरणों में प्रेम करना चाहिये।

जगत् में वेद, पुराण तथा संतों के कथनानुसार पतिव्रता स्त्रियों के चार प्रकार किये गये हैं। १. उत्तम २. मध्यम ३. नीच ४. लघु। इन्हीं चार प्रकार की नारियों के विषय में सती अनसुइया ने सीताजी से उल्लेख किया है।[४] उत्तम पतिव्रत नारियों के मन में यह धारणा विद्यमान रहती है कि अपने पति के अतिरिक्त स्वप्न में भी दूसरे पुरुष की कल्पना नहीं करतीं किन्तु मध्यम कोटि की नारियाँ पराये पतियों को भाई, पिता तथा पुत्र के समान समझती हैं।[५] वेदों के अनुसार कहा गया है कि जो स्त्री अपने धर्म का विचार करके अपने कुल में रह जाती है वह निकृष्ट नारी की कोटि में आ जाती है किन्तु जो कर्तव्यच्युत होने का अवसर न पाकर कुल और गुरुजनों के भय से धर्मशील होती हैं उनकी गणना अधम नारियों में की जाती है।[६] इतना ही नहीं वल्कि जो अपने पति को ठगकर पति पुरुष से प्रेम करती हैं वह सौ कल्प तक नरकवास करती हैं। इस प्रकार जो क्षणिक सुख के समक्ष सौ करोड़ जन्म तक के दुःखों की ओर ध्यान नहीं देती उमसे वढ़कर इस संसार में अधम और कौन हो सकता है?[७] अनसुइया ने माता वैदेही को यह भी अवगत कराया है कि विना श्रम के यदि नारी पतिव्रत धर्म का पालन करती है तो

१. वही; अरण्यकाण्ड; पृ० ६६२

२. वही, पृ० ६६२

३. वही; पृ० ४, ८, ६

४. वही; पृ० ६६२

५. अरण्यकाण्ड; पृ० ६६२

६. वही, ७, ४, ८, १, २, ३

७. वही; पृ० ६६३

उसे भी स्वर्ग की प्राप्ति होगी किन्तु जो स्त्री पति के प्रतिकूल जाती है उसे पुनः जन्म ग्रहण करने पर तरुणाई में ही विधवा होना पड़ता है।[1]

यदि अपवित्र नारी भी पति की सेवा में लीन रहती है तो वह सहज में ही शुभ गति को प्राप्त करती है। उसका यशोगान चारों वेद एवं गोस्वामीजी ने किया है।[2] उन्होंने सीता जी से यह भी कहा कि तुम्हारे नाम का स्मरण करके अन्य स्त्रियाँ अपने पतिव्रत धर्म का पालन करेंगी क्योंकि राम तुम्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। यह कथा मैं संसार के निमित्त कह रही हूँ।[3] तुलसीदास ने बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में कई स्थानों पर पातिव्रत धर्म पर बड़ा बल दिया है। उन्होंने शिव के धनुष से सतियों के मन की तुलना करके भारतीय ललनाओं के समक्ष पातिव्रत धर्म का बड़ा ही उच्च आदर्श स्थापित किया है।[4]

(ग) नारी का इष्ट सम्बन्धी रूप—गोस्वामी तुलसीदास उसी को आदर्श और श्रेष्ठ नारी मानते हैं जो उनके उपास्य इष्ट राम के प्रति आनुकूल्य प्रदर्शित करने वाली हो तथा राम की भक्त हो। भौतिक रूप से सीता राजा जनक की पुत्री हैं और उन्हीं के लिए राजा जनक ने स्वयंवर रचा था किन्तु रामचरित मानस के अध्ययन से हमें यह भी ज्ञात होता है कि सीता का वास्तविक रूप तो कुछ और ही है वह तो विश्व को उत्पन्न करने वाली आदि शक्ति हैं।[5] और यही शक्ति छवि की निधि तथा विश्व की मूल हैं। उन्हीं के भृकुटि विलास से इस समस्त जगत की सृष्टि होती है।[6] यही आदि शक्ति राम की माया है, वही सीता है।[7] गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम को मर्यादा का पालक और वैदेही को जगदीश की माया बतला कर यह स्पष्ट किया है कि यही माया इस विश्व का सृजन, पालन और संहार करती है। कवि ने सीता को परमशक्ति के अतिरिक्त कहीं कहीं लक्ष्मी भी कहा है और बतलाया है कि यह सीता,

---

१. वही; ७, १, २, ३, ४—पृ० ६६३
२. अरण्य कांड पृ० ६६२
३. वही; पृ० ६६३
४. डगइ न संभु सरासनु कैसे।
   कामी वचन सती मन जैसे। —बालकाण्ड; पृ० २५६
५. वही—बालकाण्ड; पृ० २
६. 'भृकुटि विलास जासु जग होई।
   रामवाम दिसि सीता सोई ॥'—बाल काण्ड; पृ० १४०
७. वही; पृ० १५२

उमा, रमा और ब्रह्माणि द्वारा वन्दित है।[1] महाकवि तुलसीदासजी ने सीता के द्वारा गौरी पूजन के समय बड़े सुन्दर वाक्य सीता के मुख से कहलाये हैं।[2]

इतिहास के प्रथम सोपान से वर्तमान युग तक जगदम्बा भवानी की उपासना बड़े उत्साह और आदर के साथ चली आ रही है। नारी धर्म को उत्पन्न करने वाली शंकर की प्रिया पार्वती का परिचय महात्मा तुलसीदास ने बड़े सुन्दर ढंग से देते हुए उन्हें अनादि शक्ति, अविनाशिनी आदि नामों से पुकारा है।[3] पार्वती के विवाह के समय कवि ने उनकी छवि का भी 'मानस' में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है और उन्हें समस्त देवताओं द्वारा वन्दित कराया है।[4] पाणिग्रहण के अनन्तर जब पार्वती शिव के निवास स्थान पर पहुँचती हैं तो वहाँ के सभी सुन्दर और मनोहर लता-पुष्प (मन्दार, पारिजात, तमाल, नींव, चम्पा मौलश्री, कुब्जक, मालती आदि) उनसे प्रेरणा प्राप्त करने लगे तद्नन्तर नित नव विहार करके अपने प्रभु शंकर को प्रसन्न करती हुई, अनन्त प्रेरणा की श्रोत बनकर उन्हें सृजन कार्य की ओर आकर्षित किया। षट्वदन कुमार की उत्पत्ति से समस्त देव लोक में प्रसन्नता छा गई और वे माता भगवती की अनेक प्रकार से उपासना करने लगे।

---

१. वही; उत्तर काण्ड

२. 'जय जय जय गिरिराज किशोरी।
जय महेश मुख चन्द्र चकोरी।।
जय गज वदन षडानन माता।
विश्व जननि दामिनि द्युति गाता।' —बालकाण्ड; पृ० २४३

३. 'अजा अनादि शक्ति अविनासिन।
सदा शंभु अरधंग निवासिनि।।
जग संभव पालन लय कारिनि।
निज इच्छा लीला वपु धारिनि।'—शिव विवाह के समय नारद वचन—
बाल काण्ड; पृ० १११

४. 'जगदम्बिका जानि भव भामा।
सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा।।
सुन्दरता मरजाद भवानी।
जाई न कोटहुँ बदन बखानी।।'—पार्वतीजी के सौन्दर्य का वर्णन—बालकाण्ड;
पृ० ११३

(घ) **नारी का सौन्दर्य चित्रण**—सौन्दर्य, आदि काल से ही संसार की सबसे अधिक आकर्षक भावना मानी गई है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें क्षण क्षण में नवीनता दिखलाई पड़ती है। (क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपम् रमणीयताया:) तुलसी का रूप सौन्दर्य वर्णन अत्यंत संयत सीमा के भीतर ही हुआ है। उन्होंने कुछ आदर्श नारी पात्रों-सीता और पार्वती के सौंदर्य चित्रण में तो अपने को असमर्थ पाया है क्योंकि उन नारी पात्रों के सौन्दर्य वर्णन में उन्हें कोई उपयुक्त उपमान नहीं दिखाई पड़ता तभी उन्हें यह कहना पड़ा कि 'सिय सोभा नहि जाय बखानी' और 'सुन्दरता मरजाद भवानी जाइ न कोटिन्ह बदन बखानी' तथा 'जगत मातु-पितु संभु भवानी तेहि सिंगारू न कहउँ बखानी'। वन गमन के समय सीता की कोमलता का सजीव चित्रण करते हुये गोस्वामीजी ने कवितावली में बड़ा ही हृदयग्राही चित्र उपस्थित किया है।[1] मानस में भी वह उनके सौन्दर्य वर्णन में अपने को असमर्थ पाते हैं और कह देते हैं कि 'सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई, छवि गृह दीप सिखा जनु बरई'।

जनक की पुष्प वाटिका में राम के चित्त में सीता के सौंदर्य का चित्र अंकित हो गया था। वे सायंकाल के चन्द्रमा के व्याज से सीता सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। एक अन्य स्थान पर तुलसी ने सीता के मुख की उपमा किसी अन्य वस्तु से प्रदान करना असंभव सा ही समझा है। (सीय वदन सम हिमकर नाहीं'—'सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो रंक) अतः जनक दुलारी सीता तथा अन्य नारी पात्रों के रूप सौन्दर्य का वर्णन एवं नख-शिख का अंकन गोस्वामीजी ने बड़ी संयत सीमा के भीतर ही रह कर किया है। सीता हरण के पश्चात् विरह से आकुल के राम के प्रलाप में सीता का नख-शिख वर्णन नारी-सौन्दर्य का एक उत्कृष्ट नमूना है। उसमें शिष्टता की मर्यादा का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है।[2] सीता की अलौकिक शोभा का वर्णन बाल काण्ड के प्रसंग में भी बड़े सुन्दर रूप में हुआ है।[3] कवितावली में गोस्वामीजी ने सावरे राम और गोरे लक्ष्मण के बीच में सीताजी को सुन्दर बिजली के रूप में देखा है जिनके

---

१. 'पुरते निकसी रघुवीर वधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधरवै।
'कवितावली' (अयोध्या काण्ड)

२. 'हे खग मृग हे मधुकर सेनी।
तुम देखी सीता मृग नैनी ॥ —वही; अरण्य काण्ड पृ० ७३२

२. बाल काण्ड; पृ० २४६, १-८ और २४७, १-४

अंग अंग में अपूर्व सौन्दर्य झलक रहा है ।[1] वन जाते समय मार्ग में ग्रामीण स्त्रियों के पूछने पर, अपने पति तथा देवर का परिचय संकेत द्वारा दिये जाने पर सीताजी के मुख मण्डल की कान्ति स्वाभाविक लज्जा में विलीन होती हुई अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। उस समय गोस्वामीजी कहते है कि लोचन के लाहु रूप श्रीराम को देखती हुई वे सब सखियाँ ऐसी सुशोभित हो रही हैं मानो सूर्य के उदय हो जाने से प्रेम रूपी तालाव कमलों की मनोहर कलियाँ खिल गई हैं ।[2]

(ङ) **नारी का दाम्पत्य भाव**–एक भारतीय ललना के हृदय में अपने पति के प्रति और एक कुल पुरुष के उर में अपनी धर्म पत्नी के प्रति जो प्रेम-भाव विद्यमान रहते हैं उन्हीं पारस्परिक भावों को दाम्पत्य भाव कहते हैं। दाम्पत्य गृहस्थ जीवन का प्राण है। रामचरित में राम-सीता, शिव-पार्वती, अनसूइया-अत्रि और अनेक नर-नारियों के दाम्पत्य जीवन की अपूर्व झाँकी उपलब्ध होती है ।

भगवती सीता, माता कौशल्या और श्रीरामचन्द्र के बार-बार समझाने पर भी भयानक जंगल और निर्जन स्थानों में अपना निवास-स्थान बनाना इस कारण अंगीकार करती हैं कि वे अपने प्राणनाथ को छोड़ अन्यत्र कहीं सुख नही देखतीं (प्रिय वियोग सम दुख जग नाहीं) । पति के प्रति सीता के हृदय में कितना गहन प्रेम भरा हुआ है कि वह उनके बिना स्वर्ग को भी नरक के समान समझती हैं ।[3] वन गमन के समय मार्ग में पति के चरणों से अंकित चिन्हों पर पैर रखने में भय खाती हैं ।[4] जब भगवान राम का विरह उन्हें असह्य हो गया तब वह त्रिजटा से अपने भावों को व्यक्त करती हुई कहती हैं कि वियोग का यह दारुणदुःख अब मुझसे सहा नहीं जाता । मैं अपने शरीर का त्याग करना चाहती हूँ ।[5] ऐसी परिस्थिति में

---

१. 'सांवरे गोरे के बीच भामिनी सुदामिनी सी,' तथा
'साथ निसि नाथ मुखी पाय नाथ नंदिनी सी'
'आनन्द उमंग मन, जोवन उमंग तन
रूप की उमंग उमगत अंग अंग है' । कवितावली--अयोध्या काण्ड; १४-१५ ।

२. 'कवितावली'—अयोध्या काण्ड; २२ ।

३. 'तुम विनु रघुकुल कुमुद-विधु,
सुर पुर नरक समान ।—'अयोध्या कान्ड'; पृ० ४३२

४. 'प्रभु पद रेख बीच बिच सीता,
धरति चरन मगु चलति सभीता ।'—वही; पृ० ४८८

५. 'तजो देह करु वेगि उपाई, दुःसह विरह अब सहा न जाई ।'—सुन्दरकान्ड; पृ० ८०६

वैदेही को वृक्षों की नवीन कोपलें भी अग्नि के समान मालूम होती हैं। जैसा कि गोस्वामी जी ने एक स्थल पर कहा है कि 'नूतन किसलय अनल समाना'। वह श्रीराम के प्रेम में इतनी व्याकुल हो उठती हैं कि उन्हें यह सन्देह होने लगता है कि क्या सेवकों को सुख प्रदान करने वाले पुरुषोत्तम राम उनकी सुधि लेते हैं अथवा नहीं। वह उनके श्यामल वदन को देखकर अपने नेत्र शीतल करना चाहती हैं।[१] सीताजी का श्रीराम में इतना गाढ़ प्रेम है और वे उनके लिये इतनी व्याकुल थीं कि उसके कारण सर्वथा निस्पृह श्रीराम को भी वैसा ही वर्ताव करना पड़ा।

(च) **प्रकृति-चित्रण में नारी**—प्रकृति मानव की वास्तविक सहचरी है। प्रकृति मानवीय भावनाओं की ही आधार शिला है। वास्तविक रूप से गोस्वामीजी ने अपने रामचरित मानस में प्रकृति के माध्यम से नारी के अनेक मनोहारी चित्र प्रस्तुत किए हैं। रामचरित मानस के प्रकृति चित्रण में नारी का उल्लेख बहुत ही कलापूर्ण ढँग से किया गया है। मानस की मुख्य नायिका सीता का प्रकृति से सम्बन्धित चित्रण गोस्वामी जी ने पुष्प वाटिका में किया है। वाटिका में श्रीराम की छबि को देखकर वैदेही हृदयंगम करती हुई कहती हैं 'धरि बड़ि धीर राम उर आने'। वैदेही ने राम को लताओं के ओट से प्रकट होते हुये देखा। उसमें उन्हें प्रकृति का एक अलौकिक रूप दृष्टिगोचर हुआ।[२]

यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि 'प्रिय के सामीप्य का सुख अनिर्वचनीय होता है। प्रिय सहवास में समस्त कष्ट सरल हो जाते हैं और दुःख सुख में परिवर्तित हो जाता है। संयोग सुख की आनन्दानुभूति और हार्दिक उल्लास से पूर्ण मानव कष्ट-कंटकों को हसते-हसते पार कर देते हैं। उस आन्तरिक सुख में प्रकृति का दुःखद वातावरण भी सुखद ही प्रतीत होता है।'[३] राम के संयोग में सीता के लिये वन के पशु पक्षी परिवार के प्राणी के समान, वन नगर के समान, वल्कल रेशमी वस्त्र के समान तथा पर्णकुटी महल के समान सुखप्रद है।[४]

विरहाधिक्य में वियोगिनी सीता को चाँदनी में भी उष्ण धूप का पूर्ण रूपेण भ्रम होता है। सम्पूर्ण संसार उन्हें जलता हुआ प्रतीत होता है।[५] शीतलता प्रदान

---

१. 'सहज वानि सेवक .... निरखि श्याम मृदु गाता।—सुन्दरकाण्ड; पृ० ८०६
२. 'लता ओट तब सखिन लखाये।
   श्यामल गौर किसोर सुहाये॥' मानस—बालकाण्ड; पृ० २४०
३. हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण—डॉ० किरण कुमारी गुप्ता; पृ० ११६
४. गीतावली; पृ० ७५
५. वरवैरामायण; ३६

करने वाली चाँदनी भी वैदेही के हृदय को दग्ध कर रही है। वह तीव्र धूप के सदृश्य कष्ट प्रद है। गोस्वामीजी ने सीताजी के अङ्गों की उपमा धनुप, हाथी, केले और हंस से दी है। ये प्राकृतिक चिह्न श्रीराम को व्यग्र बनाने में समर्थशाली सिद्ध होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने सीताजी के मुख के सौंदर्य को चन्द्रमा से भी सर्वोपरि माना है और वे चन्द्रमा पर दोपारोपण भी करते हैं।[1] कवि ने वर्षा-वर्णन में एक स्थल पर कहा है कि वियोग के कारण मन की अव्यवस्थित दशा में मेघगर्जन राम के हृदय में भय का संचार कर देता है।[2] इस प्रकार तुलसी के प्रकृति चित्रण में नारी का उल्लेख बहुत ही अलौकिक ढंग से किया गया है। प्रकृति-चित्रण के माध्यम से गोस्वामी जी ने अपनी नायिका के सौंदर्य में निखार उत्पन्न कर दिया है।

(छ) **मानस की नायिका सीता**—किसी भी ग्रन्थ का वास्तविक दिग्दर्शन नायक और नायिकाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। प्रत्येक ग्रन्थ नायक-नायिका का ही आधारशिला होता है। मानस की प्रमुख नायिका सीता का चित्रण सात्विक और आदर्श रूप में किया गया है। सीता का चरित्र भारतीय नारी के आदर्श को सम्मुख रखकर, सात्विकता की भाव भूमि पर अंकित किया गया है। 'नारीत्व की समस्त गरिमा, समस्त महिमा, अक्षुण्ण सुपमाशील और सुकुमारता तुलसी ने सीता में प्रतिष्ठित करदी है। क्या दैहिक और क्या आन्तरिक दोनों ही सौन्दर्य का चरम है भगवती सीता।······सुपमासार लक्ष्मी भी अखण्ड सुपमा की प्रतिमा सीता की तुलना में पूरी तरह नहीं आती (बालकाण्ड-दोहा ४१)—सीता का रूप सिंगारने में ब्रह्मा ने अपनी कला-कुशलता, सुपमा सम्पत्ति की सीमा बाँध दी। ·········आन्तरिक शील, की वह अक्षय राशि है'।[3] सीता के व्यक्तित्व के तीन प्रधान रूप हैं—आदर्श पुत्री, आदर्श कुल-वधू और आदर्श पत्नी।[4] सीता के सौन्दर्य में राम के परम पुनीत मन को क्षुब्ध करने की अलौकिक शक्ति विद्यमान है। भारतीय पुत्री का आदर्श सीता में पूर्णरूप से परिलक्षित होता है। आदर्श कुल वधू का रूप उस समय उपस्थिति होता है जब कि राम वनवास का समाचार सुनते ही माँ कौशल्या के समीप बैठकर भावी चिन्ता में वह भूमि कुरेदने लगती हैं।

---

१. जनम सिन्धु पुनि बन्धु विप दिन मलीन सकलंकु।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द्र बापुरो रंकु॥'

२. 'घन-घमंड नभ गर्जत घोरा,
प्रिया हीन डरपत मन मोरा।'—वही–किष्किन्धा कांड; पृ० ७७२

३. हिन्दी महाकाव्यों में नारी-चित्रण–डॉ० श्यामसुन्दर व्यास; पृ० ६७

४. भक्ति-काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप—डॉ० 'नलिन'; पृ० २२१

वास्तव में गोस्वामीजी के द्वारा वैदेही का चित्रण बहुत ही सावधानी और मर्यादित ढंग से किया गया है। किसी भी ग्रन्थकार को अपनी नायिका के चित्रण में कौन कौन से गुण परिलक्षित करने चाहिए जिससे उस पर दोषारोपण न किया जा सके, वे सभी प्रयास गोस्वामी जी ने सीताजी के चित्रण में सम्यक रूप से किये हैं सीता में कुल वधू की मर्यादा, आदर्श पत्नी एवं उसकी स्वभावगत लज्जा सभी गुण पूर्ण रूप से निहित हैं। सीता के आदर्श गृहणी का स्वरूप केवट को उतराई के लिए अपनी मणि मुंदरी देते समय दृष्टिगोचर होता है।[1] सीता में एक भारतीय नारी के सभी आदर्श गुण और संस्कार विद्यमान हैं। वह अपनी अग्नि परीक्षा के अवसर पर भी किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं करती। उसका अग्नि में समाकर प्रतिविम्ब ग्रहण करना उस प्रखरता का प्रतीक है जो भारतीय नारी के चरित्र का सर्वोच्च शिखर है। निःसन्देह तुलसी की रचनाओं में जनकतनया सीता का चरित्र भारतीय संस्कृति-सभ्यता की कई विशेषताओं से ओत प्रोत है।

(ज) **मानस की उपनायिकाएँ**—कथा के समुचित विस्तार की दृष्टि से रचना में नायिका के साथ उप-नायिका का होना आवश्यक माना गया है। गोस्वामीजी के 'मानस' की उपनायिकाओं में पार्वती, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा और मन्दोदरी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पार्वती—रामचरित मानस की कथा में प्रासंगिक रूप से अवतरित होने पर भी पार्वती का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पार्वती द्वारा उत्पन्न शंकाएँ कथा के विकास में नवीन जीवन की जागृति और उसे एक नवीन रूप प्रदान करती हैं। पार्वती के कहने पर ही शिवजी ने रामकथा कही है—सती, उमा अथवा पार्वती का व्यक्तित्व प्रधानतः तीन रूपों—संयमशील नारी, पश्चात्ताप विदग्ध नारी और अटल अनुरागिका, पति-परायण तपस्विनी—में प्रस्तुत किया गया है।[2] पार्वती, शिव द्वारा स्वयं सच्चिदानंद एवम् मोक्षलाभ कहने पर स्वयमेव संशय का समाधान करने के लिए सीता का वेश धारण करती हैं।

मानस के वाल-काण्ड में ही कवि ने राम नाम की महिमा का वर्णन करते समय कहा है शिवजी ने स्त्रियों के भूपण रूप (पतिव्रताओं में शिरोमणि) पार्वती जी

---

१. 'प्रिय हिय की सिय जाननिहारी। मणि मुंदरी मन मुदित उतारी॥'—
वही—अयोध्या काण्ड; पृ० ४६७

२. 'हिन्दी महाकाव्यों में नारी-चित्रण'—डॉ० श्यामसुन्दर व्यास; पृ० १२६

को अपना भूषण बना लिया है।[1] तुलसीदास भवानी और शंकर का स्मरण कर—'सुमिरि भवानी संकरहि' उन्हें श्रद्धा और विश्वास का रूप मानते हैं।[2] कवि पार्वती के पातिव्रत धर्म की महान प्रशंसा करता है।[3] तभी तो वे शंकर के लिए सर्वदा प्रिय है[4] और सीता जी भी उनकी स्तुति करती है।[5] गोस्वामीजी कहते हैं कि पार्वती का सौन्दर्य करोड़ मुखों से भी वर्णन नहीं किया जा सकता।[6]

सती कपट के चित्रण में गोस्वामीजी की नारी के चरित्र में शंका की भावना विद्यमान है[7] और सती के सिय वेश धारण करने पर ही शिव ने उनका त्याग किया था।[8] फिर भी सती ने मरते समय यही वर माँगा कि उन्हें जन्मांतर तक शिवजी के चरणों में ही शरण प्राप्त हो[9]—पातिव्रत धर्म की कितनी ऊँची भावना यहाँ विद्यमान है। इस प्रकार सती मोह के चित्रण द्वारा कवि ने नारी-सुलभ दुर्बलताओं

---

१. मानस–बाल कांड; पृ० २६

२. वही; पृ० ५७ (भवानी शंकरी वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणी)

३. 'एहि कर नामु सुमिरि संसारा।
त्रिय चढ़िहहि पतिव्रत असिधारा॥'—बाल कांड; पृ० ७६
....
'अति सुकुमार न तनु तप जोगू।
पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू॥' —वही; पृ० ८५

४. 'गिरिजा सर्वदा शंकर प्रिया'—वही; पृ० ११०

५. 'पति देवता सुतीय महुं मातु प्रथम तव रेख'—
'जय जय गिरिवर राज किसोरी।
जय महेस मुखचन्द चकोरी॥
नहि तव आदि मध्य अवसाना.........वही; पृ० २४३

६. 'सुन्दरता मरजाद भवानी।
जाइ न कोटिहुं बदन बखानी। —वही; पृ० ११३

७. 'सती कीन्ह चह तहंहु दुराऊ।
देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ॥' —वही पृ० ६७
....
'नारि सहज जड़ अज्ञ'—वही; पृ० ७१

८. 'सती मरत हरि सन बरु मांगा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥'
—वही; पृ० ७८

९. 'सिय वेश सती जो कीन्ह, तेहि अपराध शंकर परिहरी'॥–वही; पृ० ११०

का सहज चित्रण किया है। सती के मोह के लिए तुलसी ने राम माया को ही मूल कारण बताया है।

कैकेयी—कुटिल, कुबुद्धि, कठोर, अभागी कैकेयी चरित्र-सृष्टि कथा में एक खल-नायिका के रूप में चित्रित की गई है क्योंकि कैकेयी की कुमति रूपी काई घोर विपत्तियों की जनक है।[1] इस भरतमाता कैकेयी को ही रामायण के इतने बड़े काण्ड का उत्तरदायी माना गया है। यद्यपि कैकेयी को भड़काने की पूरी जिम्मेवारी मन्थरा पर डाली जा सकती है और उस मंथरा की मति का हरण तो देवताओं की प्रार्थना पर सरस्वती ने किया था। कैकेयी के चरित्र में सत्-असत् दोनों रूप विद्यमान हैं कोपागार में जाने की बात सुनते ही राजा दशरथ सूख जाते हैं और उनका मन कैकेयी के मुखरूपी चन्द्र का चकोर बन जाता है।[2] पर रानी कैकेयी दो वरदान माँग ही लेती है।[3] कैकेयी को राम प्राणों से भी अधिक प्रिय थे तभी तो वह राम-सा पुत्र और सीता-सी पुत्र बधू की कामना करती है—

जों विधि जनमु देइ करि छोहू।
होंहु राम सिय पूत पतोहू॥

उसकी कुटिलता, कठोरता और कुबुद्धि के कारण ही राम-परिवार में महान अनर्थ उत्पन्न होता है। भरत जी के शब्दों में वह कुल का नाश करने वाली पापिन है। मानस की चरित्र-भूमि में कैकेयी की चरित्र-सृष्टि एवं मनोभावों के अन्तर्गत उसके स्वरूप की व्यंजना उसी के अनुरूप है।'[4] गोस्वामीजी ने गुरु वशिष्ठ, नगर निवासी तथा आत्मज भरत द्वारा निंदित 'कुटिल रानी' कैकेयी के चरित्र को 'विधाता की गति' बतलाकर परिष्कृत करने का प्रयत्न किया है।

कौशल्या—पतिव्रता शिरोमणि, त्यागमूर्ति माता कौशल्या का चरित्र नारी की उदारता, त्याग, आदर्श, मातृत्व की महत्ता और वात्सल्य-प्रेम से ओत प्रोत है। उनकी भावनाएं सदैव विवेक द्वारा अनुशासित हैं। राम-जन्म के समय वे परम सुख की प्राप्ति के लिए कामना करती हुई प्रार्थना करती हैं—

---

१. मानस—बालकांड; पृ० ५७
२. 'जानति मोर स्वभाव बरोरू।
मनु तव आनन चन्द्र चकोरू॥' —अयोध्याकांड; पृ० ३९६
३. 'सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का, देहु एक वर भरतहि टीका।
मांगउं दूसरा बर कर जोरी, पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥' वही; पृ० १९९
४. हिन्दी महाकाव्यों में नारी-चित्रण—डॉ० श्याम सुन्दर व्यास; पृ० १३१

'माता पुनि बोली, सो मति डोली, तजहु तात यह रूपा ।
कीजिअ सिसु लीला अति प्रिय सीला, यह सुख परम अनूपा ।।
....
'भए प्रगट कृपाला परम दयाला कौशल्या हितकारी'—

बाल्यावस्था में राम का लालन-पोषण, मुख चुम्बन, प्रेम विह्वलता में स्तन से पय का टपकना तथा अश्रुकणों से नेत्रों का सजल रहना माता के वास्तविक वात्सल्य-भाव का प्रतीक है । वन-गमन के समय अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को पिता की आज्ञा-पालन का उपदेश देकर[1] कौशल्या ने समाज के सम्मुख त्याग का जो उच्च आदर्श प्रस्तुत किया वह अन्यत्र कम मिलता है ।

धर्म परायण माता कौशल्या भरत को भी राम की भाँति स्नेह करती हैं—
'राम भरत दोउ सुत सम जानी ।'

भरत जब ननिहाल से आए तो कौशल्या ने उन्हें हृदय से लगाया और अश्रु मोचन करने लगीं तथा भरत को धैर्य धारण करने को कहा—

'माता भरतु गोद बैठारे, आंसु पोंछि मृदु वचन उचारे ।
अजहुं बच्छ बलि धीरज धरहू, कुसमउ समुझि सोक परिहरहू ।।'

गोस्वामी जी ने अपनी 'गीतावली' में माता की उत्कंठा और विरह का बहुत विस्तार से वर्णन किया है । माता कौशल्या कहती हैं—

'राघो एक बार फिर आओ ।
ये वर बाजि विलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधाओ ।[2]
....
'जिनके विरह विषाद बंटावन खग मृग जीव दुखारी ।
मोहि कहा सजनी समुझावति हों तिनकी महतारी ।।[3]

राम और लक्ष्मण जब विश्वामित्र के साथ चले जाते हैं तब और चित्रकूट से लौटने पर वह बहुत ही व्यथित होती है ।[4] वनवास की अवधि समाप्त होने पर भी उनकी दयनीय दशा अवलोकनीय है ।[5] कौशल्या का अपनी पुत्र वधू के प्रति स्नेहपूर्ण

---

१. मानस—अयोध्याकांड; ४-५७
२. गीतावली—अयोध्या कांड; ४-५७
३. वही; ८५
४. बालकांड; ९७, ९८, ९९
५. अयोध्या कांड; ८४-८७

व्यवहार भी प्रशंसनीय है—

'नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहि लाई।

इस प्रकार तुलसी की कौशल्या में हम कर्तव्य-वुद्धि, धर्म बुद्धि और विवेक का उत्कृष्ट उदाहरण पाते हैं। पूर्ववर्ती सभी रामकथा कृतियों में विशेषकर अध्यात्म रामायण और वाल्मीकि रामायण में कौशल्या में हम अपने पति द्वारा उचित सम्मान से वंचिता और इसीलिए क्षीण काया, खिन्नमना, उपवासादिपरा, परक्षमाशीला, त्याग शीला, सौम्य, विनीत, गंभीर, प्रशाँत, विशाल हृदया तथा पति सेवा परायणा आदर्श महिला का चित्र पाते हैं जो अपने निरपराध पुत्र के निर्वासित होने पर इन सद्गुणों का और भी विकास करती हुई देखी जाती हैं।[1] वह एक मानवी है किन्तु तुलसी की रामायण में वह एक देवी है। तुलसी ने ही उसे मानवी से देवी बनाकर नारी-हृदय की विशालता की ओर संकेत किया है।

सुमित्रा—सुमित्रा के चरित्र का अध्ययन हम अयोध्याकाँड की सुमित्रा लक्ष्मण की विदा और उत्तरकाण्ड की सुमित्रा लक्ष्मण की भेंट के प्रसंग में भली भाँति कर सकते हैं। रामायण में सुमित्रा का स्थान राजा दशरथ की कनिष्ठा रानी और लक्ष्मण की माता के रूप में उपस्थित हुआ है। वे कर्तव्य को ही प्रधान मानने वाली एक आदर्श माता हैं।

विमाता कैकेयी ने भरत को अयोध्या का राज्य दिलाने के उद्देश्य से राम को चौदह वर्षों के लिए वन भेजा तो सुमित्रा ने अपने पुत्र लक्ष्मण को बड़े भाई राम की सेवा के लिए वन में भेजकर अपने असीम त्याग प्रीति और समर्पण का महान आदर्श उपस्थिति किया है। लक्ष्मण की विदाई के समय उनका उपदेश संसार की सभी माताओं के लिए अनुकरणीय है—

'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही।
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँह दिवस जहँ भानु प्रकासू॥'

सुमित्रा की दृष्टि में राम की सेवा जीवन का परम लाभ है और वही युवती स्त्री पुत्रवती है जिसका पुत्र राम का भक्त हो—

'पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई।'

इसी कारण उन्होंने लक्ष्मण को राम की निष्काम सेवाधर्म का उपदेश दिया था—

---

१. लंका कांड; १७-२०

२. तुलसीदास—डॉ० माता प्रसाद गुप्त; पृ० २६१

'तुम्ह कहुँ वन सब भाँति सुवासू। संग पितु मातु राम सिय जासू।
जेहि न राम वन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥'

इस प्रकार सुमित्रा ने धर्म-प्रेम की प्रतिष्ठा की है। उनका विवेक और धैर्य भी प्रशंसनीय है। 'गीतावली' में सुमित्रा एक वीर माता है क्योंकि वह शत्रुघ्न को भी राम-रावण युद्ध में जाने का आदेश देती है। वास्तव में उनका चरित्र सर्वथा अनुपम है और उनकी समकक्षता में किसी भी नारी पात्र को नहीं रखा जा सकता।

महारानी सुनयना—अत्यन्त उदार और सरल भाव वाली सुनयना विदेहराज जनक की धर्मपत्नी हैं। वे सीता के जन्म से ही उसकी सुख-चिन्ता में डूबी रहती हैं। सीता स्वयंवर के अवसर पर वे राम-लक्ष्मण की सुन्दर जोड़ी को देखकर उनके प्रति हार्दिक स्नेह करने लगती हैं और राम द्वारा धनुष भंग कर देने पर अत्यधिक प्रसन्न होती है। फिर दोनों कन्याओं का विवाह राम और लक्ष्मण के साथ तथा अपने देवर की कन्याओं मांडवी और श्रुतकीर्ति का भरत और शत्रुघ्न के साथ करके वे आनन्द विभोर हो जाती हैं।

अपने पति के साथ चित्रकूट में पहुँचकर सुनयना ने माता कौशल्या को बड़ा ही धैर्य बँधाया और अपनी कन्या जानकी को भी समयानुकूल पति सेवा सम्बन्धी मार्मिक उपदेश दिया हैं। वास्तव में सुनयना एक सद्धर्म परायण और बुद्धिमती महारानी और कठोर से कठोर संकट में धैर्य्य धारण करने वाली एक आदर्श माता है।

मैना—रामायण की एक सहृदया माता है। उसमें सुता हितकारिणी, शुद्ध स्वभाव और स्नेहमयी माता का व्यक्तित्व निखर उठा है। उसमें मातृ सुलभ विशेषताओं के साथ नारी सुलभ दुर्बलताएँ भी है। वह अपनी पुत्री पार्वती को धैर्य बँधाते हुए कहती है—'कत विधि सृजी नारि जग मांहीं, पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'। यह समस्त संसार के नारी हृदय की वास्तविक वेदना है। मानस की इस सुप्रसिद्ध चौपाई के साथ साथ तुलसी ने 'पार्वती मंगल' में भी मैना के मुख से—'नारि जनमु जग जाय'—कहलाकर नारी की पराधीनता एवं हीनता का वास्तविक चित्र अंकित कर दिया है।

शवरी—तुलसी के रामचरित मानस में शवरी को राम की एक अनन्यभक्ता के रूप में अंकित किया गया है। गीध, अजामिल और अहिल्या की गणना जिस प्रकार राम द्वारा उद्धारित भक्तों में की जाती है, उसी प्रकार शवरी का नाम भी सुविख्यात है। उसका राम के प्रति इतना अधिक अनुराग है कि वह उन्हें बिना चखे कोई भी वस्तु भेंट नहीं करना चाहती। तभी तो वह स्वादिष्ट कन्द मूल फल

(वेर इत्यादि) लाकर उन्हें भेंट करती है। शवरी की नम्रता और दीनता से प्रभावित होकर ही राम ने उसे नवधा भक्ति ग्रहण करने का सदुपदेश दिया। मानस में शवरी का चरित्र यही वतलाता है कि भक्ति के अधिकारी सभी हैं, चाहे वे किसी भी जाति, वय और वर्ण के क्यों न हों—फिर प्रभु राम सच्चे प्रेम के भूखे हैं केवल वाहरी दिखावे के नहीं।

(क्ष) **मानस की दनुज-नारियाँ**—मानस के उपरोक्त नारी पात्रों के अतिरिक्त भी अनेक नारियाँ है जिनकी चर्चा स्थान-स्थान पर करते हुए कथा आगे बढ़ती गई है। इनमें मन्दोदरी, त्रिजटा, सूर्पनखा, लंकिनी शतरूपा, मंथरा अत्रिपत्नी अनुसूया, अहिल्या आदि उल्लेखनीय हैं। **सूर्पणखा** का चित्रण मानस में एक भामिनी के रूप में किया गया है। यह नागिन के समान विषैली है। छलिया बनकर पंचवटी में आती है। राम और लक्ष्मण के स्वरूप को देखकर कामातुर हो उठती है। स्वभाव की कुटिलता, एवम् दुष्टता के कारण नासिका और कर्णविहीन हो जाती है। रोष तथा अपने मायात्मक स्वभाव के फलस्वरूप ही उसने रावण को सीता-हरण करने के लिए प्रेरित किया था। उसी के कारण रावण मरकर परम धाम पा सका। **मंथरा** मानस में गृह-विदारक एवं कुटनी के रूप में आती है। अपनी कुचाल से इसने कैकेयी की वुद्धि को फेर दिया और अपने प्रभाव जमाने के लिए 'कोउ नृप होहि, हमें का हानी' का सहारा लेती रही। इस प्रकार वह अमृत में विष मिलाने वाली मायाविनी का रूप धारण कर लेती है। यद्यपि तुलसी ने 'गई गिरा मति फेर' कहकर उसे निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया है। **सुलोचना** को गोस्वामी जी ने उर्मिला की भाँति उपेक्षा की ही दृष्टि से देखा है। किन्तु स्मरण रहे कि वह मेघनाद की पत्नी के रूप में कोई साधारण नारी नहीं थी। वह अत्यन्त पतिपरायण, सचरित्रा, एवं धार्मिक विचारों वाली रमणी थी। पति की मृत्यु के पश्चात् उसने जीने की अपेक्षा मरना श्रेयस्कर समझा और सती हो गई। इससे वढ़कर उसके सतीत्व का प्रमाण और क्या हो सकता है? आज के कुछ लेखकों और कवियों की लेखनी इस सती के गुणगान में प्रवाहित हो चली है। त्रिजटा रावण के अन्तःपुर में रहने वाली एक रामभक्त राक्षसी थी। एक ही चौपाई से उसका परिचय गोस्वामी जी ने दे दिया।[1] उसके पति का कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु उसमें कुछ अलौकिक गुण विद्यमान थे। लंका-दहन, रावण तथा राक्षसों का वध, विभीषण को राज्य, सीता का वापस जाने की सारी वातें अपने

---

१. 'त्रिजटा नाम राक्षसी एका, राम चरन रति निपुन विवेका।' सुन्दर काण्ड पृ० ८०५

स्वप्न के वर्णन में उसने सीता से पहले ही कह दी थीं जो अक्षरशः सत्य निकलीं। उसी ने सीता को धैर्य और सान्त्वना दी। कवितावली में त्रिजटा राम के भावी कार्य-क्रम का संकेत जानकी को देती है।[1] सीता ने उसे अपनी विपत्ति में संगिनी होने वाली माँ कहकर सम्बोधित किया है।[2]

जब सीता जी वियोग जनित कष्टों से मुक्ति पाने के लिए चिता का प्रबन्ध करने के लिए उससे कहती हैं तब भी वह प्रभु के ऐश्वर्य का ध्यान करने के लिए कहती है। इस पर भी वह हठ कर बैठती हैं तो वह केवल इतना ही कह कर चल देती है–'निसि न अनल मिल सुन सुकुमारी, अस कहि सो निज भवन सिधारी।[3] मन्दोदरी दनुज नारियों में मय की पुत्री तथा रावण की बुद्धिमती पत्नी मन्दोदरी लंका पुरी में रहते हुए भी एक राम भक्त नारी है। वह सदैव इस बात का प्रयत्न करती रहती है कि उसका पति राम के साथ विरोध करना छोड़ दे —किन्तु जब पति उसकी सभी बातों की अवहेलना करता है तब वह इसे कालविवश मानकर सन्तोष कर लेती है—

'काल विवस पति कहा न माना। अग जग नाथु मनुज कर जाना।'

तथा

'मन्दोदरी हृदय असजाना। काल वस्य उपजा अभिमाना'—

वह अन्त तक लंकेश और लंका निवासियों को समझाते ही अपने व्यक्तित्व, सतीत्व एवं आदर्श पर डटी रहती है। उसका व्यक्तित्व महान है और चरित्र एक जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाँति है क्योंकि उसने सदैव अपने पति का हित चिन्तन किया। पति की मृत्यु पर उसे दुःख तो है किन्तु यह सन्तोष भी कि कृपाल रामचन्द्र ने उसे अपने परमधाम में स्थान प्रदान कर दिया—

'तुम्हहू दियो निजधाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं'।

---

१. 'त्रिजटा कहत बार बार तुलसीस्वरी सों,
राघौ बान एक ही समुद्र सातों सोषि हैं।
सकुल संघारि जातुधान-धारि जम्बकादि
जोगिनी जमाति कालिका-कलाप तोषि है॥

२. 'त्रिजटा सन बोली कर जोरी।
मातु बिपति संगनि तैं मोरी॥ सुन्दरकाण्ड; पृ० ८०६

३. 'नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुध बल सकिय जीत जाही सों॥
लंका काण्ड; पृ० ८६६

लंकिनी—लंकापुरी के द्वार की रक्षिका है वह इतनी वीरांगना है कि बड़े-बड़े शत्रु से रक्षा करने में पूर्ण समर्थ है। किन्तु जब हनुमानजी लंकापुरी में प्रवेश करने लगते हैं तब उन्हीं से वह परास्त होती है उनको राम का दूत पहिचानकर कृतार्थ हो जाती और स्वर्ग का सुख प्राप्त करती है।[1]

इनके अतिरिक्त भी मानस में अनेक राक्षस पत्नियों तथा नारियों का उल्लेख है किन्तु उनका कोई विशेष स्थान नहीं है। उपरोक्त सभी नारियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे भविष्य में आने वाले सभी संकट से अवगत हो जाती हैं और उससे छुटकारा पाने का उपाय सोचती हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने उन्हें विभिन्न गुणों की प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया है। उनके माध्यम से कवि ने किसी न किसी आदर्श की प्रतिष्ठा की है।

(ञ) नारी की निन्दा—मानस के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नारी का सत रूप समाज के समक्ष इतना न निखर पाता यदि गोस्वामी जी ने नारी के असत रूप का सृजन उपयुक्त स्थानों पर न किया होता। इन असत रूप के नारी पात्रों में कैकेयी और मंथरा आदि नारियाँ आती हैं। इन्होंने पारिवारिक जीवन की सात्विक मर्यादा का उल्लंघन करने में तथा कुछ भी नहीं उठा रखा। वास्तव में देखा जावे तो मानस में पग पग पर समस्या उत्पन्न करने में तथा अपनी गृह-विदारक नीति में ये अपना चमत्कार दिखाती रही हैं। पुरुष इनकी बातों में पड़ कर हत बुद्ध से होते रहे हैं। इसीलिये विष्णु पुराण में कहा गया है कि बुद्धिमान पुरुष स्त्रियों का न अपमान करें और न उनका विश्वास ही[2] क्योंकि यह उनका दोष नहीं बल्कि उनके स्वभाव का दोष होता है। 'स्त्रियाँ स्वभाव ही से विलासिनी होती हैं। उन्हें कौन नियंत्रण में रख सकता है?[3] यहाँ तक कि श्रीराम के वन जाते समय अयोध्या की नारियों ने कैकेयी का हठ देखकर स्वयं स्त्री स्वभाव की कड़ी आलोचना की है।[4] इनके स्वभाव से सांसारिक पुरुष ही नहीं बल्कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने भी स्त्री

---

१. 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥' सुन्दरकाण्ड, पृ० ७६६

२. योषितो नावमन्येत न चासां विश्वसेद् बुधः।' —विष्णुपुराण

३. 'निसर्ग सरलानार्यः को नियचार्यु तु क्षमः। —विष्णुपुराण

४. 'सत्य कहहि कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगह अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥
—अयोध्याकांड पृ० ४१६

जाति की स्वेच्छाचारिता, स्वतंत्रता एवं स्वच्छन्दता की आलोचना की है।[1] सामाजिक नियमों तथा मर्यादा का उल्लंघन करने वाली एवं कुटिला स्त्रियों को ही गोस्वामी जी ने असत रूप प्रदान किया है और कहा है कि नारी के छल प्रवंचनामय हृदय के रहस्य को समझाने में मानव ही नहीं अपितु विधाता तक असमर्थ है।[2]

अपने महाकाव्य रामचरित मानस में स्थान स्थान पर नारी जाति पर गोस्वामी जी ने आरोप लगाने में भी संकोच नहीं किया है। जहाँ पर उन्होंने नारी को आराध्य और आदर्श मान कर पूजनीय प्रतिमा का रूप प्रदान किया है वहाँ अवसर आने पर उन्होंने निन्दा भी की है। वे नारी को जप, तप, संयम और नियम में बाधक समझते हैं।[3] नारी मानव मुक्ति मार्ग में बाधक है तथा समस्त दोषों एवं दुर्गुणों की केन्द्र है। उससे दूर रहने में ही कल्याण है। गोस्वामी जी नारी को आठ अवगुणों से पूर्ण मानते हैं।[4] नारी इतनी हठी एवं निष्ठुर होती है कि वह अवसर आने पर प्रिय पति के प्राण की ओर भी ध्यान नहीं देती। इसका ज्वलंत प्रमाण मानस के उस स्थल पर मिलता है जब कैकेयी के राजा दशरथ से प्राण घातिक वरदान मांगने में तनिक भी संकोच नहीं होता है। राजा के अनुनय, विनय करने पर

---

१. 'राखिय नारि जदपि उर मांही। जुवती शास्त्र नृपति बस नाहीं॥

—अरण्यकाण्ड; पृ० ७४२

२. 'विधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।

तुलसी ग्रन्थावली—भाग १—पृ० २२०

३. 'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह के धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥' अरण्यकांड–दोह ४३;
पृ० ७४६

....

"सुनि मुनि कह पुरान श्रुति संता, मोह विपिन कहुँ नारि वसंता।
जप तप नेम जलाश्रय झारी, होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।
पाप उलूक निकर सुखकारी, नारि निविड़ रजनी अँधिआरी।
बुधि बल सील सत्य सब मीना, बनसी सम त्रिय कहहिं प्रवीना।'

अरण्यकांड; पृ० ७५०

४. नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।

—लंका कांड पृ० ८७७

भी वह इस प्रकार की बातें करती हैं[1] पति के प्राणान्त होने पर जब सम्पूर्ण परिवार शोकातुर हो उठता है ऐसे दुःखद समय में कैकेयी पति वियोग से पीड़ित न होकर भरत के आगमन पर हर्षित होती है।[2] इससे महान नारी हृदय की निष्ठुरता का प्रमाण क्या हो सकता है ? यह असामयिक हर्ष भरत जैसे ज्ञानी पुरुष के हृदय को विचलित किये बिना न रह सका। उन्होंने नारी की निन्दा करने में तनिक भी संकोच नहीं किया और न तो माता की ही परवाह की।[3]

गोस्वामी जी ने लौकिक रूप से तो नारी विशेष की स्थान स्थान पर निन्दा की है किन्तु गंभीरता पूर्वक विचार करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने नारी विशेष की निन्दा न करके नारी जाति की ही निन्दा की है। जैसा कि भवानी पार्वती को जब अन्तर्यामी शिव के समक्ष राम की श्रेष्ठता में संदेह हुआ तब उन्होंने परीक्षा ली तब भी संशय दूर न होने पर शिवजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह तुम्हारा दोष नहीं अपितु नारी स्वभाव का ही दोष है।[4] इतना ही नहीं बल्कि भवानी पार्वती को अपने पति शिव जी से वास्तविकता को छिपाने पर स्वाभाविक दुःख और ग्लानि होती है। इसे गोस्वामी जी ने स्वयं उन्हीं के मुख से स्त्री जाति की मूर्खता एवं अज्ञानता को स्वीकार कराया है।[5]

गोस्वामी जी ने नारी को अपावन माना है जैसा कि युगों तक पाषाण रूप में पड़ी रहने वाली अहिल्या श्रीराम के चरण स्पर्श से पुनः जन्म प्राप्त करके प्रार्थना में स्वयं अपने को नारि अपावन कहती है।[6] स्वयं कैकेयी जब शान्त भाव में होती है तब अपनी दासी को कोसती हुई नारि जाति की भर्त्सना करती है और उसकी

---

१. 'कहइ करहुँ किन कोटि उपाया। इहाँ न लागहि राउर माया।
देहु किलेहु अजसु करि नाहीं। मोहिन बहुत प्रपंच सोहाही॥
—अयोध्याकांड; पृ० ४०३

२. कैकेई हरषित एहि भाती। मनहु मुदित दवलाह किराती॥
—अयोध्या कांड; पृ० १५६

३. मानस; अयोध्या कांड १६१

४. 'सुनहु सती तव नारि सुभाऊ, संसय अस न धरिय उर काऊ'।
—बालकांड ७३-३

५. 'कीन्ह कपटु मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अज्ञ।'—वही; पृ०

६. वही—छन्द; २४३ छन्द।

कुटिलता पर मुस्कराती है।[१] मन्थरा के पूणरूपेण वश में आने पर कैकेयी राजा दशरथ को वशीभूत कर लेती है इस पर तुलसीदास जी ने स्वयं आलोचना की है।[२] नारी जाति की निन्दा में स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने नारद मुनि से कहा है कि 'स्त्रियाँ अवगुणों की जड़, पीड़ा देने वाली तथा समस्त दुःखों की खान हैं'।[३] गोस्वामी जी ने अपनी 'दोहावली' में भी युवती नारी के शरीर को दीपशिखा की उपमा देकर[४] उसे झगड़े और मृत्यु की जड़[५] तथा 'सहज अपावनि' कहा है।[६]

गोस्वामी तुलसीदास की नारी-विषयक अनेक धारणाओं और उक्तियों की तीव्र आलोचना और प्रत्यालोचना की गई है। आधुनिक-युग की कुछ समाज सुधारक एवं नवीन सभ्यता में पली और पाश्चात्य शिक्षा में शिक्षित महिलाओं ने तथा कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने आन्दोलन और प्रचार भी किये कि तुलसीदास नारी-जाति के कट्टर शत्रु और घोर निन्दक थे। इस सम्वन्ध में हमारा तो यही मत है कि—१–तुलसी ने नारी की निन्दा तभी की है जव वह अपने धर्म को तिलाँजलि दे विपरीत आचरण करने लगती है क्योंकि तुलसी को भारतीय परिवार के आदर्श और शील शिष्टाचार की चिन्ता सदैव रहती थी। २–तुलसी की वे समस्त नारी निन्दा सम्बन्धी उक्तियाँ '(ढोल गँवार शूद्र पशु नारी'–'नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं'–'विधिहु न नारि हृदय गति जानी'–'अधम ते अधम अति नारी' आदि) विपम परिस्थिति में पड़े हुए पात्रों की है, तुलसी की नहीं, ३–तुलसी ने नारि जाति के प्रति महान आदर प्रकट कर लोक-मर्यादा का पालन करने वाली अनेक आदर्श नारी पात्रों की सृष्टि की है, ४–तुलसी हिन्दू जाति का उद्धार और जातीय गुणों एवं संस्कृति का पुनरुथान कर लोक, वेद और नीति की वातें कह, जनता को सन्मार्ग दिखाने वाले थे, तथा ५–तुलसी ने प्रायः उन्हीं कुलटा स्त्रियों की कटु भर्त्सना की है जो अपनी दूपित आन्तरिक वृत्ति अथवा वाह्य क्रियाओं से पुरुप को कलंकित कर अपने परिवार की भलाई न सोच मर्यादा-विरोधी आचरण करती थी। हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि 'तुलसीदास के 'रामचरितमानस' तथा अन्य ग्रन्थों में,

१. वही; अयोध्याकाण्ड; २५
२. 'यद्यपि नीति निपुन नर नाहू। नारि चरित जल निधि अवगाहू॥'–वही २७,४
३. वही; अरण्यकाण्ड; ७७
४. 'दीपसिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।'—दोहावली; २६९
५. 'जनम पत्रिका वरति के, देखहु मनहिं विचारि।
दारुन वैरी मीचु के, वीच विराजति नारि॥'—वही; २६८
६. 'सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।'—वही; ५४२

विभिन्न प्रसंगों में, ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं, जो किसी भी देश-काल की नारी के प्रति, किसी भी रूप में न्याय नहीं करतीं।'—(तुलसी और नारी)

डॉ० रामरतन भटनागर का यह कथन हमें समीचीन ही जान पड़ता है कि 'पुरुष के लिए एक नारी-व्रत, स्त्री के लिए उच्च कोटि का सतीत्व, स्त्री पुरुष की सहकारिता एवं गृहस्थ धर्म के पालन में सहयोग, स्त्री की पवित्रता के लिए उद्योग, अपने सहज स्वभाव के कारण नारी की पुरुष से श्रेष्ठता, भक्ति पथ में पुरुष और नारी का समान अधिकार—यह है नारी के लिए वह व्यवस्था जिसको तुलसी ने आदर्श रूप में स्वीकार किया है, परन्तु तुलसी अपने समय के स्त्री-संसार से भी परिचित थे। उस समय स्त्रियों की दशा अत्यन्त गिरी हुई थी, वह चरित्र की दुर्बलताओं से दूपित थीं इसीलिए तुलसी उनके लिए कठोर शब्द कह गये'।[1] तभी तो राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था कि 'गोस्वामी जी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया है।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का इस प्रसंग में मत है कि तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' में नाना पुराणों और वेदों के सार को ही अपनी भाषा में बाँधा है, इसलिए नारी के सम्बन्ध में ऐसी जो भी उक्तियाँ उसमें यत्र-तत्र आ गई हैं, वे सब उसी का प्रभाव है, अन्यथा तुलसी —जैसे भक्त कवि से नारी समाज के प्रति ऐसी कटूक्तियों की आशा कदापि नहीं की जा सकती।'[2] तुलसी-साहित्य के सुपरिचित विद्वान डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी लिखा है कि 'नारी विषयक उनकी अनुदारता एक ऐसा तथ्य है जिसको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।[3]'

गोस्वामी तुलसीदास जी ने जहाँ रामकाव्य से सम्बन्धित कई ग्रन्थों की

---

१. 'तुलसी-साहित्य की भूमिका'—डॉ० रामरतन भटनागर; पृ० १८०-८१

२. 'माता, उछंग गोविन्द लै मुख बारबार निरखे।
पुलकित तन आनन्द घन छिन छिन मन हरखे।
....
'तुलसी प्रभु प्रेम विवस, मनुज रूप धारी।
बाल केलि-लीला-रस, ब्रज जन हितकारी॥'
....
तोहि स्याम की सौंह जसोदा आइ देखि घर मेरे।
कैसो हाल करयौ तो ढोठा, छोटे, निपट अनेरे॥'
....
'तुलसीदास' प्रभु, कहाँ वे बातें, जो कहि भजे सबेरे॥' —पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ; पृ० १८६

३. नारी तेरे रूप अनेक—भूमिका में—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० ५६

रचना की वहाँ उन्होंने अपनी 'कृष्ण-गीतावली' में कृष्ण भक्ति सम्बन्धी कुछ सुन्दर पद भी लिखे हैं।[१] इनसे ज्ञात होता है कि उनका व्रजभाषा पर भी पूरा अधिकार था। उनके कुछ पदों में 'सूर' जैसा ही श्रेष्ठ वात्सल्य-भाव का निरूपण हुआ है। गोपियों का विरह-वर्णन कर उन्होंने उद्धवजी के ज्ञान का अत्यन्त दीनता एवं उदारता से खंडन किया है। तुलसी की गोपियाँ सरल तथा विश्वासमयी भक्त-नारियाँ हैं। उनमें जो झिझक है, लज्जा है और है उदारता वह हमें बरबस आकर्षित करती है।

राम भक्ति शाखा के कवियों में कवि सम्राट तुलसी के बाद कवि केशव जी का प्रमुख स्थान है। रामचन्द्रिका के निर्माण के फलस्वरूप इनकी महत्ता इस शाखा में हुई। ये तुलसी जी के समकालीन थे। कवि वेणीमाधवदास जी के अनुसार गोस्वामी जी तथा केशवदास जी की दो बार भेंट हुई। केशवदास जी का राम भक्ति सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थ रामचन्द्रिका है।

केशव दास की नारी भावना—तत्कालीन समाज में नारीत्व का सर्वोच्च आदर्श पतिव्रत ही था। केशवदास ने भी कहा है कि पति सेवा ही नारी को सभी फल प्रदान करने वाला होता है[२] तथा उन्होंने नारी के सती होने को आदर्श माना है। केशव जी ने भी नारी को भोग एवं संसार की आसक्ति का कारण कहा है। उनके काव्य में नारी-भर्त्सना की प्रवृत्ति बहुत ही कम है। पति एवं पत्नी दोनों को एक दूसरे के अस्तित्व के लिये आवश्यक तथा महत्वपूर्ण माना है।[३] भारतीय नारी आदर्श के अनुकूल ही इन्होंने सीता जी को चित्रित किया है। तत्कालीन राज दरबारों में नारी विलास की सामग्री समझी जाती थी। दरबारी होने के कारण केशव जी ने भी पन्नगी, नगी, सुरों तथा असुरों की बालायें संगीत तथा तथा नृत्य से श्रीराम का मनोरंजन करती हैं ऐसा उल्लेख किया है।[४] उस युग में नारी विलास रत थीं।

---

१. तुलसीदास—डॉ० माताप्रसाद गुप्त; पृ० ३०७

२. 'जोग जाग व्रत आदि जु कीजै, हान मान गुन दान जु दीजै।
धर्म कर्म सब निष्फल देवा, होहि एक फल कै पति सेवा॥'—केशव पंचावृत्ति; २००१—इलाहाबाद।

३. 'पतिनी पति बिनु दीन अति, पति पतिनी बिनु मन्द।
चन्द्र बिना ज्यों जामिनी, ज्यों बिनु जामिन चन्द॥'—केशव पंचावृत्ति; पृ० २०४

४. 'पन्नगी नगी कुमारि आसुरी सुरी बिहारी।
बिबिध किन्नरीन किन्नरी बजावैं॥' —केशव; रामचन्द्रिका; उत्तरार्द्ध पृ० १२० वृ० स० १९४५

विलास की सामग्री होते हुये भी नारी को समाज में उपयुक्त स्थान नहीं प्राप्त था। तब अवरोध की प्रथा पाई जाती थी।[1] पतिव्रता नारी सर्वत्र पूजनीय मानी जाती थी।[2] यद्यपि उन्होंने नारी की दुर्बलताओं को क्षमा नहीं किया है फिर भी नारी के आदर्श रूप को लोक तथा समाज के कर्तव्य प्रदीप को प्रसारित करने वाला कहा है। कवि ने नारी को अर्द्धांगिनी की संज्ञा से विभूषित किया है और यह स्पष्ट रूप से कहा है कि कोई शुभ कर्म नारी रहित होकर नहीं किया जा सकता है। इसलिये अश्वमेध यज्ञ के आरम्भ के पूर्व सीताजी की एक सुवर्ण-प्रतिमा बनवा ली गई थी।[3]

राम चन्द्रिका की मुख्य नायिका सीता—तुलसी की प्रधान नायिका सीता का व्यक्तित्व रामचन्द्रिका में रेखानुकृति सा जान पड़ता है। कथावस्तु का अंश होते हुये भी वैदेही एक शिथिल कड़ी सी ही प्रतीत होती है यद्यपि कथावस्तु में सीता को वह प्रधानता नहीं मिली है जो एक महाकाव्य की नायिका को प्राप्त होती है। दशरथ के शब्दों में वह त्रिभुवन की सिरताज मानी गई है और वन-गमन के समय के चरित्र को देखने से उनमें अगाध पतिव्रता होने का अनुभव होता है। वन में राम सीता और लक्ष्मण सूर्याताप तथा उष्णता पूर्ण असह्य हवा को सहन करते चले जा रहे हैं। मार्ग में शीतलता प्रदान करने वाले तमाल की छाया का आश्रय लेते हैं तथा श्रीमती सीता के श्रम का हरण वल्कल वस्त्र के व्यंजन से करते हैं। सीता का भी राम के प्रति अनुरागपूर्ण हृदय है।[4]

महाबलशाली राम के सामीप्य से सीता को धूप भी शीतल प्रतीत होती है।

१, 'हाय हाय जहाँ तहाँ सब ह्वै रही सिगरी पुरी।
धाम धाम नृप सुन्दरी प्रगटी सबै जे रही पुरी॥'–केशव–रामचन्द्रिका–पूर्वार्द्ध;
पृ० १५१

२. 'सन्धि करौं विग्रह करौं, सीता को तो देह।
गवौ न पिय देहनि में पतिव्रता की देह॥'–केशव–रामचन्द्रिका–पूर्वार्द्ध –
सम्पादक–लाला भगवान दीन; पृ० ३१४

३. 'सकल कर्म जो कीजिये, सफल तरुनि के साथ।
ता बिन जोई कीजिये, निष्फल सोई नाथ॥
करिये युत भूषण रूप रई, मिथिलेश सुता एक स्वर्ण भई॥

४. 'बहु बाग तड़ाग तरागिनि तीर··················चंगल चारु दृगंचल सों।'
रामचन्द्रिका—अयोध्याकाण्ड; ३३।

प्रिय के संयोग से कष्टप्रद प्रकृति भी आनन्द दायिनी है।[1] राम सीता की वियोगावस्था में चकोर से सीता का पता पूछ कर उससे सहयोग के लिये कहते हैं।[2] राम चन्द्रिका की सीता में आदर्श पातिव्रत की भावना दृष्टिगत होती है। लव-कुश द्वारा नष्ट की हुई सेना को जीवन प्रदान के फलस्वरूप भी सीता का पातिव्रत धर्म परिलक्षित होता है परन्तु पूर्ण रूप से इसके अवलोकन के पश्चात हमें अवगत होता है कि इसमें सीताजी का न तो व्यक्तित्व और न तो चरित्र ही मनोभावों की दृष्टि से प्रकाशित हुआ है।

राम चन्द्रिका की उप-नायिकायें—महाकाव्यों में प्रधान नायिका के साथ ही साथ कुछ उपनायिकायें भी होती हैं। मानस के सदृश्य इसमें भी चार उपनायिकाओं का उल्लेख किया गया है।

कौशल्या—राम चन्द्रिका में कौशल्या राजा दशरथ की ज्येष्ठ पत्नी के रूप में वर्णित है। राम ने यहाँ पर स्वयं माता को पतिपरायणता का उपदेश दिया है तथा कहा है कि मेरा नेह त्याग कर विपदानुगामी राजा की सुधि लो। एक पुत्र माँ को पतिपरायणता का उपदेश दे यह तर्क संगत नहीं है पर पूर्ण रूप से देखने के बाद अवगत होता है कि कौशल्या का उल्लेख मात्र किया है, चरित्र-चित्रण नहीं। यहाँ माता के गौरव की रक्षा नहीं हो पाई है।

कैकेयी—कैकेयी भरतजी की माता एवं राजा दशरथ की पत्नी के रूप में उल्लिखित है परन्तु उनका उल्लेख बहुत ही संक्षिप्त रूप में किया गया है। भरतजी के आने पर मन्दिर में नृप से वर मांगने वाली कैकेयी अकेली वृक्ष रहित बेल सी ज्ञात होती है। केवल कथा को एक नवीन मोड़ प्रदान करने हेतु एक अल्प रज्जु के समान दृष्टिगत होती है।

सुमित्रा—रामचन्द्रिका में सुमित्रा का उल्लेख राजा दशरथ की कनिष्ठा पत्नी तथा लक्ष्मण की माता के रूप में हुआ है तथा वह लक्ष्मण से क्षमायाचना करती हुई दृष्टिगत होती है। चरित्र का कोई महत्व नहीं दिखलाया गया है।

मंदोदरी—रावण की पटरानी के रूप में मन्दोदरी का एक बुद्धिमती, दूरदर्शी तथा नीति कुशल नारी के रूप में उल्लेख हुआ है। वह रावण को सीताजी के

---

१. 'घाम को राम समीप महाबल..............जो चले तेहि ते सुखदायिनि।'
वही; अयोध्याकाण्ड ८६-२७

२. 'शशि के अवलोकन दूर किये..............सिय देहु बताय सहाय करौ।'
—वही; किष्किन्धा काण्ड; ३६

लौटाने की शिक्षा देती है अतएव एक गृहिणी नहीं अपितु नीतिवान मन्त्री से मंदोदरी की तुलना करना अधिक तर्कसंगत है।

राम चन्द्रिका ने अन्य नारी पात्र—केशव के नायिका तथा उपनायिकाओं के साथ कुछ अन्य नारी पात्रों का भी चित्रण करना तर्कसंगत समझा है क्योंकि इनके आगमन से कथा में कुछ और सजीवता का आगमन हो गया है। नारी पात्रों के रूप में अनुसूया और सूर्पणखा का उल्लेख हुआ है।

अनुसूया—अनुसूया का उल्लेख पतिव्रता देवी के रूप में हुआ है। यद्यपि यह उल्लेख बहुत संक्षिप्त रूप में किया गया है पर जो भी अंश प्राप्य है उससे हम उनके आदर्श चरित्र से अवगत होते हैं। 'अनुसूया को पतिव्रत की देवी के रूप में रुआई और उसके तप-बल की कीर्ति की तरह सुशोभित श्वेत केश तथा काँपती ग्रीवा एवं शिथिल अङ्ग को संसार की नश्वरता का उपदेश देने वाले बताकर सीता के पांव पड़ने एवं अनुसूया द्वारा सिर सूंघकर उसे गोद में बिठा कर उपदेश देने के साथ ही उसका उल्लेख समाप्त हो जाता है'।[1]

सूर्पणखा—सूर्पणखा का चित्रण एक कामातुरा नारी के रूप में परिलक्षित है। राम-लक्ष्मण के आकर्षक स्वरूप को देखकर उसका मन काम-भावना से ओत-प्रोत हो जाता है। उसके अभद्र व्यवहार के फलस्वरूप लक्ष्मण उसे नासिका-कर्ण विहीन कर देते हैं। इसका व्यक्तित्व बदले की भावना से भरी हुई प्रणय-पिपासु नारी का ही है।

५. अन्य रामभक्तकवि—यद्यपि गोस्वामी जी राम भक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं तथापि उनके समकालीन एवं तत्कालीन युग में कुछ अन्य रामभक्त कवि भी हुए हैं जिनकी रचनाओं के अध्ययन से भी हमें नारी-भावना का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। इस शाखा में रामानन्दजी के अन्य शिष्यों का आगमन कवि रूप में हुआ है।

स्वामी अग्रदास रामानन्दजी के शिष्य और बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके द्वारा रचित चार पुस्तकों—हितोपदेश उप खांणां-बावनी, ध्यान मंजरी, रामध्यान मंजरी, कुण्डलिया—का उल्लेख किया है। उनकी रामचरित्र सम्बन्धी रचनाएँ भक्ति भावना से परिपूर्ण हैं। प्रसिद्ध 'भक्तमाल' के लेखक नाभादास अग्रदास के शिष्य थे। भक्तमाल द्वारा उन्होंने भक्तों के यश का

---

१. हिन्दी महाकाव्यों में नारी का चित्रण—डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० १७३

प्रचार करने के उद्देश्य से दो सौ भक्तों का परिचय ३१६ छन्दों में दिया है। कवि प्राणचन्द चौहान की कृति 'रामायण महानाटक' (१६१० ई०) है जो वस्तुतः नाटक न होकर पद्यबद्ध संवादों के रूप में रचित एक प्रबन्ध-काव्य ही है। अपने इसी ग्रन्थ के कारण रामभक्त शाखा के कवियों में उनकी गणना की जाती है। हृदयराम भल्ला पंजाब के निवासी तथा श्रीकृष्णदास के पुत्र थे। उन्होंने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर भाषा में 'हनुमन्नाटक' (१६२३ ई०) की रचना कवित्त और सवैया में की थी। इसमें हनुमानजी का जीवन चरित्र नहीं अपितु राम का चरित्र जानकी स्वयंवर के समय से लेकर राज्याभिषेक तक चित्रित किया गया है। कहा जाता है कि यह रचना सिक्खों के गुरु गोविन्द सिंह को इतनी अधिक प्रिय थी कि वे उसे सदैव अपने पास रखा करते थे। जनकपुर के महन्त श्री रामप्रिया शरण ने (डॉ० रामकुमार वर्मा के उल्लेख के अनुसार) 'सीतायण' नामक पुस्तक की रचना की थी जिसमें प्रमुख रूप से श्री जानकी जी तथा उनकी सखियों का चरित्र-वर्णन है। बूंदी (राजस्थान) के राव बुद्धिसिंह के आश्रय में रहने वाले कवि श्रेष्ठ कलानिधि (श्रीकृष्ण) ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें रामकाव्य की दृष्टि से 'वाल्मीकि-रामायण' (अनुवाद) और 'रामायण सूचनिका' विशेष उल्लेखनीय हैं। रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कवियों के आश्रयदाता और स्वयं कवि भी थे। संत-काव्य सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने 'आनन्द रघुनन्दन नाटक, संगीत रघुनन्दन, आनन्द रामायण, रामचन्द्र की सवारी, गीता रघुनन्दन, रामायण-नामक राम-काव्य सम्बन्धी रचनाएँ लिखी थीं। इनके अतिरिक्त डॉ० रामकुमार वर्मा एवं डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों द्वारा हमें अनेक अन्य कवियों का भी परिचय प्राप्त होता है जिन्होंने रामकाव्य लिखे है। इस युग में सीता, रामायण के पात्र तथा रामभक्तों से सम्बन्धित अनेक रचनाएँ भी हुई और रामचरित्र-काव्य की यह धारा आधुनिक-युग तक निरन्तर प्रवाहित होती चली आ रही है।

राम-काव्य के इन भक्त-कवियों—विशेषकर गोस्वामी तुलसीदास और केशव-दास—की प्रमुख रचनाओं में अंकित नारी पात्र और नारी-भावना के सम्बन्ध में यदि हम पुनर्विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि गोस्वामी तुलसीदास कट्टर मर्यादा-वादी थे और उनका समाज का वही आदर्श था जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृतियों आदि द्वारा किया गया है। वे स्त्रियों के लिए, पुरुषों की अधीनता में रहकर गृहस्थी का कार्य संभालना ही उचित मानते थे। वे घर बाहर निकलने वाली स्त्रियों को अच्छा नहीं समझते थे। 'पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'जिमि स्वतन्त्र होइ विगरहिं नारी' कहते समय उनका ध्यान ऐसी ही स्त्रियों पर था जैसी

कि साधारणतः पाई जाती हैं, गार्गी और मैत्रेयी की ओर नहीं। उन्हें गार्गी और मैत्रेयी बनाने की चिन्ता उन्होंने कभी प्रकट नहीं की है।[1] नारी साहित्य के सुविख्यात लेखक और विचारक श्री रामनाथ 'सुमन' के शब्दों में 'रामचरित मानस में जो नारी है वह पुरुष की वासना की अनुगामिनी नहीं, वह पुरुष का बन्धन नहीं, उसकी मुक्ति है जो अपने कष्ट सहन, अपने चिर सतीत्व, निरन्तर त्याग और कर्तव्य गौरव से पुरुष को मानवता की चरम सीमा तक उठाती है। उसमें नारी, पुरुष को पुरुष रखने में और पुरुष, नारी को नारी रखने में सहायक है। दोनों मिलकर एक श्रेष्ठ समाज-जीवन की सृष्टि में तत्पर हैं। सुमन जी के इन विचारों से हम पूर्णतया सहमत हैं।

यदि हम तुलसीदास के अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर कुछ गम्भीरता-पूर्वक विचार करें तो हमें उनमें नारी-जाति का गौरव-पक्ष ही प्रबल दिखाई पड़ेगा क्योंकि 'रामचरित-मानस' के सभी छोरों से हमें नारी का उज्ज्वल रूप ही झाँकता दृष्टिगोचर होता है। ग्रन्थ का प्रारम्भ और उपसंहार नारी से होता है (वन्दे वाणीं (सरस्वती) विनायकौ तथा कामिहि नारि पियार जिमि····) भगवती सती पति के द्वारा परित्यक्त होने पर भी जन्म-जन्मांतर में उसी एक पति की कामना करती है, राम-चरित की कथा का स्रोत नारी पार्वती ने ही शंकर द्वारा प्रकट कराया है, माता कौशल्या और सुमित्रा में हम अद्भुत धैर्य, साहस और सेवा धर्म की भावना पाते हैं, उर्मिला में महान त्याग है, शबरी जैसी अछूत स्त्री-भक्त के प्रति भी राम का अनन्य प्रेम है, लंकिनी लंका की संरक्षिका में, त्रिजटा राक्षसी राम-भक्त है। मन्दो-दरी अपना सारा समय नीति और धर्म से भ्रष्ट पति रावण को समझाने में ही लगाती है, अनुसुया नारी धर्म की महान उपदेशिका है और जनक नन्दिनी सीता का महान चरित्र विश्व को समस्त नारी-समाज को युग युग तक प्रेरणा देने वाला है।

केशव का नारी-आदर्श भी भारतीय परम्परा के अनुकूल है क्योंकि उन्होंने भी सन्त-कवियों की भाँति सती और पतिव्रता नारी को आदर्श बताया है। उन्होंने एक पत्नीव्रत पर बल देकर पति-पत्नी में चन्द्रमा तथा रात्रि का अक्षय सम्बन्ध माना है। वे नारी को वासना की दृष्टि से न देखकर उसे आदर ही की दृष्टि से देखते हैं[2] और दाम्पत्य जीवन की परम्परा में विश्वास करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास की भाँति

१. तुलसी—सम्पा० डॉ० उदयभानुसिंह, लोक धर्म और मर्यादावाद—श्रीरामचन्द्र शुक्ल; पृ० १७५

२. 'प्रीति करे निज नारि सों, परनारी प्रतिकूल।
केशव मन वच कर्म करि, सो कहिये अनुकूल॥'—रसिक प्रिया; प्रभाव २ छंद ३

केशव ने भी नारी को यही उपदेश दिया है कि वह पति को देवता माने चाहे वह (पति) कितना ही पतित और रोगी ही क्यों न हो।[1] केशव ने विधवा-धर्म का भी निरूपण किया है।[2]

शृङ्गार के दोनों पक्षों, संयोग और वियोग के चित्रण में केशव का पूरा आधिपत्य था और शृङ्गार-रस पर लिखने वाले हिन्दी-साहित्य के किसी भी कवि के छन्दों के समकक्ष इस विषय पर लिखे गये केशव के छन्द रखे जा सकते हैं। हाँ, केशव के कुछ छन्दों में अश्लीलता का आभास अवश्य होता है, किन्तु बहुत कुछ यह उस समय और समाज का प्रभाव है जिसमें केशव उत्पन्न हुए थे। शृंगार-रस पर लिखने वाला प्राय: कोई तत्कालीन कवि इस दोष से सर्वथा मुक्त नहीं है।[3]

(ख) कृष्ण–काव्य

(१) कृष्ण-भक्ति-काव्य की **परम्परा**—कृष्णभक्ति की परम्परा को यद्यपि ऋग्वेद के समय से आरम्भ होना सिद्ध करने का प्रयास विद्वानों द्वारा किया गया है, तथापि अभी इस संबंध में किसी अन्तिम निर्णय और सर्वमान्य मत पर नहीं पहुँचा जा सकता है। कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख देवकी के पुत्र और एक वैदिक ऋषि के रूप में छान्दोग्य उपनिषद्[4] में हमें प्राप्त होता है। जान पड़ता है कि कृष्ण-सम्बन्धी

---

१. 'नारी तजै न आपनो सपने हू भरतार।
पंगु गुंग बौरा बधरि अंध अनाथ अपार।
अंध अनाथ अपार वृद्ध बावन अति रोगी।
बालक पंडु कुरूप सदा कुवचन जड़ जोगी।
कलही कोढ़ी भीरु चोर ज्वारी व्यभिचारी।
अधम अभागो कुटिल कुमुति पति तजै न नारी॥'—रामचन्द्रिका; ६, १६

२. 'गान बिन मान बिन हास बिन जीवहीं।
तप्त नहीं खाय जल सीत नहीं पीवहीं।
तेल तजि, खेल तजि, खाट तजि सोवहीं।
सीत जल न्हाय नहिं उष्ण जल जोवहीं।
खाय मधुरान्न नहिं पाय पनहीं धरैं।
काय मन वाच सब धर्म करिबो करैं।
कृच्छ्र उपवास सब इन्द्रियन जीतहीं।
पुत्र सिख लीन तन जौं लगि अतीत हीं।'—वही; ६, १८-१६

३. आचार्य केशवदास—डॉ० हीरालाल दीक्षित; पृ० १५७

४. 'छान्दोग्य उपनिषद्'—प्रकरण–३ खण्ड; १७

भावना का उदय ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व ही हो चुका था। महाभारत-काल में कृष्ण का व्यक्तित्व एक राजनीतिज्ञ और कुशल नीतिनियामक के रूप में प्रकट हुआ। महाभारत के कृष्ण केवल नीति-विशारद न होकर धर्मात्मा भी हैं। महाभारत मुख्य रूप से कौरवों और पांडवों के वृतान्तों से भरा पड़ा है, पर प्रासंगिक रूप से उसमें श्रीकृष्ण का चरित्र भी आ गया है।[1] 'सभापर्व' में भीष्म श्रीकृष्ण को अव्यक्त प्रकृति एवं सनातन-कर्ता कहते हैं और उन्हें समस्त भूतों से परे मानते हैं[2]—आगे चलकर उन्हें परब्रह्म भी कहते हैं।[3] अर्जुन और युधिष्ठिर उन्हें पूज्य बुद्धि से देखते हैं। वेद व्यास जैसे ऋषि ने कृष्ण को अपने से अधिक धर्म-धुरन्धर स्वीकार किया है।[4] महाभारत के पश्चात् श्रीमद् भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण को विष्णु का पूर्ण अवतार और पूर्ण परब्रह्म माना है।[5] डॉ० रामकुमार वर्मा का कथन है कि गोपाल-कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण हरिवंश पुराण, वायु-पुराण और भागवत पुराण में हुआ है। गोपाल-कृष्ण की कथाएँ इन पुराणों की रचना के पूर्व अवश्य प्रचलित रही होंगी, तभी तो वे वाद में लिपिवद्ध हुई। 'हरिवंश पुराण' ईसा की तीसरी शताब्दी में लिखा गया ग्रन्थ है, अतः गोपाल-कृष्ण की जनश्रुतियाँ ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी के वाद से ही प्रचलित हुई होंगी।[6] शनैः शनैः भारतीय जनता की आसक्ति बढ़ती गयी और उनकी आराधना का क्षेत्र भी बढ़ता गया।

भागवत-धर्म को मानने वालों ने जैन और वौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ अपने धर्म और उपासना-पद्धति का प्रचार तो किया, किन्तु इन दिनों उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। हाँ, सातवीं-आठवीं शताब्दी तक अवश्य ही दक्षिण भारत में कृष्ण-भक्ति का प्रचार प्रारम्भ हो गया था।

संस्कृत काव्य-ग्रन्थों से हमें ज्ञात होता है कि कृष्णभक्ति का स्वरूप बहुत प्राचीन काल से विकसित हो चुका था। अश्वघोष के बुद्ध चरित, भट्टनारायण के 'वेणी संहार,' आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक', हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' में कृष्ण के चरित्र तथा

---

१. पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ—महाभारत और श्री कृष्ण—डॉ० मुन्शीराम शर्मा; पृ० ६८१

२. महाभारत; २८. २५

४. वही; ६६. ६

३. 'हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्ति'—प्रो० शिवकुमार; पृ० ४६५

५. श्रीमद्भगवद् गीता; ७.७

६. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ० ४६५

लीलाओं का उल्लेख मिलता हैं। कृष्णभक्ति से सम्बन्धित सम्प्रदायों—निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभ,—में राधा और कृष्ण की भावना बड़े ही सुन्दर रूप से व्यक्त हुई है। फिर चंडीदास और जयदेव की सुन्दर वाणियों और गीतों में राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं का सरस वर्णन है।

हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य का आरम्भ कुछ विद्वान विद्यापति की रचनाओं से मानते हैं किन्तु यह तो हमें स्वीकार करना होगा कि विद्यापति एक शृंगारी कवि थे और थे शैव-मत के अनुयायी। अतएव हम उनके पदों को कृष्ण-भक्ति-काव्य के अन्तर्गत रखना उचित नहीं समझते। हाँ, आगे चलकर महाकवि सूरदास, तुलसीदास, अष्टछाप के कवि, भक्त मीराबाई आदि की रसमयी वाणियों में अवश्य ही कृष्ण-भक्ति की सुन्दरतम रचनाएँ हमें उपलब्ध होती हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य के इस प्रसंग में यहाँ राधा के सम्बन्ध में भी संक्षेप में विचार कर लेना समीचीन होगा। महाभारत में राधा का कहीं नाम नहीं है। हरिवंश, वायु, वाराह, अग्नि, भागवत, विष्णु, ब्रह्मवैवर्त, नृसिंह पुराणों में कृष्ण को ईश्वरत्व प्राप्त हुआ है। इनमें सबसे अधिक योग विष्णु-पुराण और श्रीमद् भागवत पुराण का है। यह उल्लेखनीय है कि किसी भी पुराण में 'राधा' नाम का उल्लेख नहीं मिलता। भागवत में राधा का नाम न होकर एक गोपी का उल्लेख है, जिसने पूर्वजन्म में कृष्ण की आराधना की है।[1] विद्वान इसी आराधित अथवा राधित शब्द से 'राधा' शब्द की उत्पत्ति का अर्थ लगाते हैं। (अनया राधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः)—

'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति 'राध' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ सेवा या प्रसन्न करना है। धार्मिक क्षेत्र में राधा शब्द का प्रयोग सबसे पहले किस ग्रन्थ में हुआ, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किन्तु इस विषय में जिस ग्रन्थ से कुछ थोड़ा बहुत परिचय मिलता है, वह 'गोपालपातनी-उपनिषद्' है। इसमें राधा-कृष्ण प्रेयसी के रूप में प्रस्तुत हुई है। राधा सम्प्रदाय वाले इस ग्रन्थ को बहुत मानते हैं। निम्बार्क तथा विष्णुस्वामी सम्प्रदायों में राधा का निर्देश है। निम्बार्कों में श्री जयदेव हुए जिन्होंने राधा और कृष्ण के विहार में 'गीत-गोविंद' की रचना की।

विष्णु तथा निम्बार्क सम्प्रदायों में राधा का स्थान कृष्ण-भक्ति के साथ-साथ एक क्षीण रेखा के रूप में चल रहा था। कृष्ण-भक्ति को जोड़ने का भारी कार्य गौड़ी सम्प्रदाय के महात्मा रूप सनातनजी (चैतन्य महाप्रभु के शिष्य) का था।

---

१. श्रीमद् भागवत; १०. ३०. २८

रूप सनातनजी ने वृन्दावन में बस कर गौड़-वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इसी संप्रदाय की एक प्रमुख शाखा 'राधावल्लभी-सम्प्रदाय' की थी। इस राधा-वल्लभी संप्रदाय का प्रभाव हमारे साहित्य पर सबसे अधिक पड़ा। श्री हित हरिवंश इस संप्रदाय के प्रवर्तक थे। इसी कारण इस सम्प्रदाय को 'हित-सम्प्रदाय' भी कह देते हैं। इसी प्रकार इन महात्माओं के समय तक कृष्ण और राधा हमारे धर्म क्षेत्र में विष्णु और लक्ष्मी की प्रतिमूर्ति भाव धारण कर चुके थे। यहीं से हमारे साहित्य में कृष्ण-भक्ति का आरम्भ मानना चाहिए।

कृष्ण-भक्ति-काव्य के अधिकांश भक्त श्री वल्लभाचार्यजी की विचारधारा को मानने वाले थे। श्री वल्लभाचार्यजी के पुष्टिमार्ग के अनुसार भगवद्-प्राप्ति का सुगम उपाय केवल भक्ति ही है। उसी के द्वारा परब्रह्म सच्चिदानन्द की उपलब्धि होती है। यह भक्ति भगवत्-कृपा से ही उपलब्ध है। अतः भगवतानुग्रह को मुक्ति का प्रधान कारण मानने से यह मार्ग 'पुष्टिमार्ग' कहलाया।[1] श्रीमद् भागवत् में भगवान के अनुग्रह को ही पुष्टि अथवा पोषण कहा गया है।[2] पुष्टि मार्गी मानते हैं कि यदि प्रभु को हृदय में बैठा लिया तो संसार में सब कुछ पा लिया।[3]

श्रीमद वल्लभाचार्य ने सोचा कि मस्तिष्क प्रधान मनुष्य शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद के विशुद्ध ज्ञान से शुद्ध होकर इस संसार से मुक्त हो जायेंगे, किन्तु हृदय-प्रधान भावुक व्यक्ति किस प्रकार मुक्त हो सकेंगे? इस विचार के फलस्वरूप उन्होंने प्रेम को अपनाया क्योंकि प्रेम ही एक ऐसा अनुपम तत्व है, जिससे केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी प्रभावित होते हैं। भगवान के प्रति प्रेम से ही भगवान कृष्ण कृपायुक्त होकर गोपीजनों के अधीन हुए हैं। अतः प्रेममय श्रीकृष्ण की साक्षात कृपा परमावश्यक है जिससे कि जीव सरलतापूर्वक कृष्ण-भक्त होकर इस संसार से मुक्त हो जाय।

श्री वल्लभाचार्यजी ने विशुद्ध प्रेम को ही शुद्ध पुष्टि कहा है। विशुद्ध प्रेम के दृष्टान्त गोपीजन हैं, अतः उन्हें भी पुष्टि-भेद के अनुसार तीन वर्गों में विभाजित कर लिया गया है। 'गोपांगना सु पुष्टिः। गोपीषु मर्यादा। व्रजांगना सुप्रवाहः।[4] यद्यपि

---

१. 'भारतीय दर्शन' (वल्लभ-दर्शन)—डॉ० बल्देव उपाध्याय; पृ० ५००
२. -पोषणं तदनुग्रहः'—श्रीमद्भागवत्; पृ० २, १०, ४
३. 'यदि श्रीगोकुलाधीशोधृता सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकै वैदिकै रपि॥'—चतुश्लोकी—षोडश ग्रंथ श्लोक ३
४. भगवत पीठिका (सूर-निर्णय)—श्री द्वारिकादास पारिख, प्रभुदयाल मीतल; पृ० २०४

वल्लभाचार्य ने पहले अपने दर्शन में राधा की स्थापना नहीं की, उन्होंने केवल कृष्ण को ही इष्टदेव मान और उसी की बाल-रूप की सेवा की किन्तु वात्सल्य के साथ-साथ सख्य और कांतभाव को उन्होंने विलकुल छोड़ नहीं दिया। जयदेव और विद्यापति के प्रभाव से श्री वल्लभाचार्य मुक्त न रह सके। यों दर्शन में चाहे उन्होंने राधा को स्थान न दिया हो किन्तु आगे चल कर उन्हें राधा को अपनाना ही पड़ा और शृंगार-रस मंडन तथा 'स्वामिन स्तोत्र' में कान्त-भावना को ही सम्मिलित कर लिया। 'अष्टछाप' के कवियों ने कृष्ण के साथ-साथ राधा का भी निर्वाह किया, क्योंकि भक्ति के क्षेत्र में माधुर्य का प्रवाह लाने के लिए राधा का समाविष्ट होना नितान्त आवश्यक था। यदि राधा को समाविष्ट न किया जाता तो काव्य और भक्ति का क्षेत्र नीरस हो जाता, उसमें वह आकर्षण कदापि न आ पाता।[१]

वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों में कृष्ण-भक्ति के आठ प्रमुख भवन कुंभनदास, कृष्णदास, सूरदास, परमानन्द, गोविंद स्वामी, नंददास, छीत स्वामी और चतुर्भुज दास जिन्हें श्री विट्ठलनाथजी ने अष्टछाप नाम दिया, प्रसिद्ध हैं। आचार्य शुक्लजी के अनुसार 'आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं जिनमें सबसे ऊँची सुरीली और मधुर झंकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।[२] उपरान्त गिरधरगोपाल के प्रेम-रंग में डूबी भक्त मीराबाई, चन्द्रसखी और भक्त-कवि 'रसखान' आदि ने अपनी रसमयी वाणी से हिन्दी काव्य को अलंकृत किया।

(२) **कृष्ण-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि**—कृष्ण-काव्य का आधार प्रेमाभक्ति है। इन काव्यकारों ने माया से रहित ब्रह्म ही को जगत के कार्य का कारण बताया है। जगत और जीव दोनों ही ब्रह्म के स्वरूप हैं। ब्रह्म अविनाशी, भेदरहित, शुद्ध, जन्म-मरण तथा कामना से रहित है। वह निर्गुण होते हुए भी भक्तों के कष्टों के निवारणार्थ सगुण रूप धारण कर लिया करता है। ब्रह्म की प्राप्ति केवल प्रेम द्वारा ही हो सकती है। वल्लभसम्प्रदाय के अनुसार जड़, जगत, जीव, सृष्टि सच्चिदानन्द के ही अंश हैं। ब्रह्म का सगुण रूप ही सत्य एवं वास्तविक है। पूर्ण पुरुषोत्तम के लीलाधाम का नाम गोकुल अथवा वृन्दावन है, जो ब्रह्म का ही स्वरूप है। यही ब्रह्म जगत और जीव के उत्पादन का कारण है। संसार उसी से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाता है। गोप, गोपी—सभी उसी ब्रह्म के अंश हैं। गोपी भगवान को

१. सूर साहित्य और सिद्धान्त—श्री यज्ञदत्त शर्मा; पृ० ४३
२. भ्रमर गीत सार की भूमिका—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० २

आनन्द देने वाली शक्ति हैं। वे सामान्य लौकिक नारी नहीं हैं। उनकी महिमा का वर्णन ब्रह्मा भी करते हैं। राधा का चित्रण अष्टछाप के कवियों ने प्रेयसी के रूप में ही नहीं किया, अपितु एक शक्ति के रूप में भी किया है। गुरुजनों द्वारा प्रस्तुत प्रेम-मार्ग की बाधाओं से खीझकर वे कृष्ण से विनय करती हैं कि वे अपने मोहन-रूप से उन्हें उद्‌भ्रान्त न करें। राधा से लौकिक रूप में गौरवमयी, मानिनी, स्वकीया, वियोगिनी आदि नारी के विभिन्न रूपों का चित्रण किया गया है।

नारी-हृदय के दो प्रधान तत्त्वों, वात्सल्य एवं प्रेम, के आरोपण से नारी-भावना के विकास में जननी व जाया, माता अथवा प्रेयसी के दो रूप मिलते हैं। नन्दलाल के प्रेम में वह मतवाली होकर लोककानि व मर्यादा का त्याग कर देती है। अपने प्रिय से वह अत्यन्त प्रेम करती है।

(३) **कृष्ण-भक्त कवि और नारी**—अधिकांश कवियों ने अपनी नारी-भावना या तो अपनी आत्मा की भक्ति को नारी मानकर प्रकट की है अथवा फिर राधा या गोपियों के सहारे अपने नारी-सम्बन्धी विचारों को एक रूप दिया है यद्यपि उनकी इस नारी-भावना में आध्यात्मिक चिन्तन की गहनता है जिसे वे किसी-न-किसी रूप में प्रकट करना चाहते हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय के मतानुसार गोपी-भाव में कई भावों का समावेश है। गोपिकाएँ कृष्ण की आनन्द प्रसारिणी सामर्थ्य शक्ति हैं। राधा भगवान के आनन्द की पूर्ण सिद्ध-शक्ति हैं। कृष्णधर्मी हैं, गोपिकाएँ उनका धर्म हैं। दोनों अभिन्न हैं। राधा भगवान की आदि रस शक्ति हैं। इसीलिए भगवान की रस-शक्तियों के बीच सिद्धि-शक्ति राधा स्वामिनीस्वरूपा हैं। गोपिकाएँ और राधा, कृष्ण से अभिन्न हैं—क्योंकि वे उन्हीं की अंश स्वरूपा शक्ति हैं[1]। कृष्ण-लीला का अन्योक्ति रूप लेने वाले विद्वान यह भी कहते हैं कि गोपी आत्मा हैं और कृष्ण परमात्मा। आत्मा भगवान का अंश होने के कारण अपने अंशों से मिलने का प्रयत्न करती है और आत्मा रूप गोपियों का कुन्ज में कृष्ण मिलन ही आत्मा का भगवान से मिलन है।

कृष्णावतार के व्रज की स्त्रियाँ तीन प्रकार की थी—(१) अन्य पूर्वा, (२) अनन्यपूर्वा, और (३) सामान्या। अन्य-पूर्वा वे गोपियाँ थीं जिनके विवाह हो गये थे और जिन्होंने कृष्ण को परकीया भाव से माना था। अनन्य-पूर्वा वे कुमारिकाएँ थीं जिनके विवाह नहीं हुए थे और जो या तो कृष्ण को प्राप्त करने के लिए जप, तप, पूजा, अर्चना करती रहीं और जिनके विवाह नहीं हो सके तथा वे जन्म-भर कुआंरी

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'—डॉ० दीनदयाल गुप्त; पृ० ५०६

ही रहीं, अथवा वे जिनके विवाह कृष्ण से हुए। चूंकि दोनों प्रकार की अनन्यपूर्वा गोपियां कृष्ण को ही वरण करती है, अतः वे स्वकीया ही कहीं जायेंगी। सामान्य वे व्रज-युवतियां थीं जिन्होंने कृष्ण को वाल-रूप देखा था तथा यशोदा की भांति मातृ-वत्सल भाव से कृष्ण से प्रेम स्थापित किया था। इन्हीं तीन प्रकार की गोपियों का चित्रण कृष्ण-काव्य में मिलता है। राधा इन कवियों की प्रमुख गोपी है, उसमें उनकी नारी-भावना का चरम विकास मिलता है। फिर भी, क्योंकि प्रत्येक कवि ने कृष्ण-प्रेम को ही अपना विषय बनाया है, अतः दूसरे शब्दों में एक ही प्रकार की भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। नवीनता जो कुछ है, कथन में है। कथ्य तो सबका एक है क्योंकि कथ्य-आधार सब का एक है।[१]

इन कवियों ने राधा तथा अन्य गोपियों के सहारे अपनी नारी सम्बन्धी जिन विचारधाराओं को व्यक्त किया है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से तो आँख मूंदकर स्वीकार की जा सकती हैं किन्तु लौकिक व्यवहार की दृष्टि से गोपियों की कृष्ण के साथ वह उछलकूद क्षणमात्र क्षम्य नहीं की जा सकती। इन कवियों की राधा, चन्द्रावली आदि नामधारिणी तथा अनेक अनामी गोपियाँ शास्त्र-सम्मत नियमों तथा कुल की मर्यादा का उल्लंघन कर घरवालों के रोकने, टोकने पर भी कृष्ण के साथ यमुना तट पर कदम्ब तले रास करने चली जाती हैं। कृष्ण घरों में घुसकर यमुना, किनारे राह चलते जहाँ भी पाते हैं, उनसे छेड़छाड़ कर लेते हैं। अकेले ? नहीं, अपने ग्वाल-वाल-समुदाय के साथ। समाज में उन्हें रोकने-टोकने वाला कोई नहीं। किशोरी और युवती कुमारियाँ तथा विवाहिता नारियाँ कृष्ण के वियोग में खुलकर रोतीं और तड़-पती हैं। कोई उनको बुरा-भला नहीं कहता। कृष्ण जैसे व्रज-भर की सुन्दरियों के प्रेमी हों, जैसे समाज में वहाँ कोई ऐसा था ही नहीं जो इस सार्वजनिक प्रेमलीला को रोकना आवश्यक या उचित समझता'।

इन कवियों ने राधा-कृष्ण के प्रेम-व्यापार के ऐसे कृत्यों को कहीं-कहीं ऐसा चित्रित किया है कि दूसरे के सामने प्रस्तुत करने में संकोच होने लगता है। इन प्रसंगों को भक्ति मानकर वास्तविकता से आँख मूंद लेना यदि ठीक हो तो कुछ कहना ही नहीं, किन्तु इसी मनोवृत्ति ने आगे चलकर राधा-कृष्ण को रसिकता प्रद-र्शन का प्रतीक बनाकर जो कुत्सा की वह अशोभनीय थी। यद्यपि कृष्णोपासना मूलतः शुद्ध थी किन्तु विकारग्रस्त मनवालों के लिए वह कुपथ-प्रदर्शन की विधायिका बन गयी।

---

२. 'हिन्दी साहित्य का उद्भव ओर विकास'—रामबहोरी शुक्ल; पृ० १७४

फिर भी कृष्ण-काव्य की गोपियों तथा राधा में प्रेम की जो उत्कटता है, वह हिन्दी-साहित्य की अमर निधि है। गोपियाँ एकनिष्ठ प्रेम के आदर्शों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इसी कारण अष्टछाप के कवियों विशेषकर सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास आदि ने उनकी महत्ता के गीत गाये हैं। कृष्ण के प्रति उनका अनन्य प्रेम, ऊधो के ज्ञानोपदेश से उनकी झुझलाहट, उनकी स्वकीया भावना-जन्म प्रेम की स्वाभाविक प्रकियाएँ हैं। कृष्ण-प्रेम उनका जीवन-सार है। उसके बिना वे कुछ नहीं के बराबर हैं। 'नवल गुपाल, नवेली राधा नये प्रेम रस पागे'—होकर अन्त तक उसी प्रेम में पगे रहना चाहते हैं।

वे कृष्ण से अलग होकर तड़पती हैं—'निशिदिन नैन बरसाती हैं,' संदेशा भेजती हैं—किन्तु स्वयं न तो कृष्ण से विमुख होना चाहती है और न आत्मसम्मान की दृष्टि से हार मानकर कृष्ण तक स्वयं पहुँच सकती हैं। उनकी यह एकनिष्ठता उन्हें प्रेम के उच्चतम शिखर तक पहुँचा देती है। वे मधुवन को कोसती हैं, कुंजों को 'बैरिन' बनाती हैं, किन्तु ऊधो के ज्ञान उपदेश को सुनकर ऊधो को ही दो-चार खरी-खोटी सुनाती हैं। वे कृष्ण के प्रति विराग-भावना को पास तक नहीं फटकने देतीं।

इन गोपियों में जहाँ हमें नारी-सुलभ प्रेम और एकनिष्ठ विश्वासपूर्ण समर्पण की भावना मिलती है, वहाँ यशोदा में एक माता का सरल हृदय आलोड़ित दिखायी पड़ता है। कृष्ण-काव्य में यशोदा का चित्रण एक आदर्श वात्सल्यमयी मां का रूप प्रस्तुत करता है। यशोदा-भाव से कुछ गोपियों ने भी कृष्ण को देखा है जिन्हें 'सामान्या' व्रज-वनिताओं में स्थान दिया जा सकता है। यशोदा कृष्ण को फुसलाती है, माखन चोरी का उलाहना पाकर डांटती है, मुस्कराकर कण्ठ लगाती है, समझाती है, फुसलाकर माखन रोटी खिलाती है; चोटी लम्बी होने का प्रलोभन देकर 'काचोदूध' पिलाती है और अन्त तक अपने वात्सल्य में खोयी रहती है।

राधा का चित्रण जिस प्रकार सूरदास तथा अन्य कवियों ने किया है, उससे वह मात्र श्रीकृष्ण की प्रेमिका और प्रेमपात्री बनकर रह गयी है। जान पड़ता है कि दोनों का जीवन-क्षेत्र सीमित कर दिया गया है। न तो श्रीकृष्ण के सामने प्रेम-लीलाओं से बढ़कर दूसरा काम है और न राधा के जीवन का ही अन्य पहलू हो सकता है।[1]

नन्ददास की गोपियाँ परकीया-नायिका की श्रेणी में रखी जा सकती हैं किन्तु उनमें वह व्रीड़ा या संकोच का भाव नहीं पाया जाता जो ऐसी नारियों में होना

१. 'मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियां'—श्री परशुराम चतुर्वेदी; पृ० ४७

ाहिए। अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी नायिका के विविध रूपों पर सुन्दर पद
चना की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण-काव्य में राधा अथवा गोपियों का जो
त्रण हुआ है, वह इस प्रकार यथार्थ के धरातल पर उतर आया है कि उनका धार्मिक
क्ष प्रायः लुप्त-सा हो जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ये गोपियाँ
ष्ण की आनन्दवर्धिनी रससिद्धि शक्तियाँ हैं, अतः उनमें लौकिकता का समावेश करते
ए भी लौकिक बुराइयों का समावेश नहीं किया जा सकता। गोपियाँ जीवात्मा हैं,
ष्ण परमब्रह्म हैं और राधा उनकी शक्ति। मुरली योगमाया है। रासलीला में
ात्माएँ परमात्मा के साथ मिल कर मंगलमय हो जाती हैं। वह स्थिति है जब
ात्मा और परमात्मा का द्वैतभाव समाप्त हो जाता है। भक्त इसी रासलीला की
ाप्ति के लिए प्रेम-मग्न होता है। प्रेम-मग्न होकर कृष्ण के प्रति आत्म-समर्पण
ारा ही इस रासलीला की प्राप्ति संभव है और पुष्टि की यही पराकाष्ठा है।

(४) राधा की भावना का क्रमिक विकास—वास्तव में साहित्य के उज्ज्वल
स के माध्यम से राधा का धर्ममत में प्रवेश हुआ है और साहित्य के ही अवलम्बन
राधा का आविर्भाव और प्रसार हुआ है। परन्तु ज्योतिष तत्त्व, दार्शनिक आधार
था अन्य विविध दृष्टिकोणों से सम्बन्धित राधा का स्वरूप और उसकी भावना वेदों,
ाह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी विद्यमान हैं'।[1] भारतीय साधना और आरा-
ना की परिणति का नाम ही 'राधा' है। इस सम्बन्ध में हमें डॉ० दीनदयालु गुप्त
ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', श्री शशिभूषण दास के ग्रन्थ 'श्री राधा का
म विकास,' डॉ० बलदेव उपाध्याय के नवीन ग्रन्थ 'भारतीय वाङ्मय में श्री राधा',
ॉ० द्वारिका प्रसाद मीतल के शोधपूर्ण ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य में राधा' और डॉ०
रेन्द्रनाथ लाहा के शोध निबन्ध, 'प्राचीन ओ मध्ययुगे भारतीय साहित्ये श्री राधार
ल्लेख (सुवर्ण वणिक् समाचार—वर्ष ३४, अङ्क ६) से पर्याप्त सामग्री प्राप्त
ोती है।

ऋग्वेद में 'राधा' शब्द नक्षत्र, ऐश्वर्य, सफलता आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ
और राधा 'राधस' शब्द धन के अर्थ में आया है।[2] दूसरे अर्थ में यह 'राधस'
ब्द शक्ति और ऐश्वर्य का वाचक है। राध् धातु से राधस शब्द सिद्ध होता है और
सी की तृतीय विभक्ति है, राधसा। 'राधा' शब्द भी इसी धातु से सिद्ध होता है।

---

१. हिन्दी साहित्य में राधा—डॉ० द्वारकादास मीतल; पृ० ४२

२. ऋग्वेद;—१, ६,५-१, १०, ७-१, १७, ७-३, ५१, ४०-५, ३८, १

अतएव दोनों 'राधस' और 'राधा' एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं। कुछ विद्वान वेदों में जिस 'श्री' का गुणगान हुआ है (श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ) उसे राधा ही मानते हैं किन्तु सगुणभक्ति काव्य के मर्मज्ञ विद्वान डॉ० हरवंशलाल शर्मा का अभिमत है कि 'यद्यपि पौराणिक पंडित राधा का सम्बन्ध वेदों से लगाते हैं परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में कृष्ण की प्रेमिका राधा को वेदों तक घसीटना असंगत ही प्रतीत होता है'।[1] अथर्ववेद में विशाखा और राधा एक ही नक्षत्र के दो नाम हैं। कुछ विद्वान विशाखा को ही राधा की सखी बतलाते हैं।

पुराणों के अनुसार 'राधा' नाम इस कारण हुआ कि वे रासमण्डल में प्रकट हुईं और प्रकट होते ही पुष्प चयन कर श्रीकृष्ण के चरणों में अर्घ्य समर्पित करने के लिए धावित हुइ (दौड़ी)– (ब्रह्मवैवर्त पुराण) अथवा राधिकोपनिषद् के अनुसार– कृष्णेन आराध्यत इति राधा— कृष्णेन समाराधयति सदेति राधिका–श्रीकृष्ण इनकी नित्य आराधना करते हैं इस कारण राधा और ये सदा सम्यक् रूप से श्रीकृष्ण की आराधना करती हैं इसलिए राधिका नाम से प्रसिद्ध हुई। अथवा राकार दानवाचक है तथा 'धा' निर्वाण का बोधक है (ब्रह्मवैवर्त पुराण–श्रीकृष्ण जन्म खण्ड)—ये निर्वाण का दान करती हैं इसी कारण 'राधा' नाम से विख्यात एवं कीर्तित हुई हैं।[2]

ऋग्वेद के 'राधिकोपनिषद्' के आधार पर कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति समस्त शक्तियों में प्रधान है। यही शक्ति परम अन्तरभूता श्रीराधा है। ये कृष्ण की आराधिका हैं। कृष्ण इनकी आराधना करते हैं और ये कृष्ण की आराधना करती हैं इसलिए इन्हें राधा कहा जाता है। अपनी आराधना में स्वयं लीन हो जाने के कारण उनकी शक्ति को राधा कहा गया है। अथर्ववेद के 'गोपाल तापिनी उपनिषद्' में एक प्रधान गोपी (गांधर्वी) का वर्णन है जिसे कृष्ण अत्यधिक प्रेम करते हैं। इसके अतिरिक्त कृष्णोपनिषद् तथा राधिकातापिनी उपनिषद् में भी राधा संबंधी प्रमाण प्राप्त होते हैं।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के तीसवें अध्याय में कृष्ण की आराधिका एव अत्यन्त प्रिय जिस एक गोपी का उल्लेख है (अनयाऽराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः) वही राधा अथवा राधिका है, ऐसा विद्वान मानते हैं। हरिवंश पुराण के विष्णु पर्व

---

१. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० २६५

२. 'राधेत्येवं च संसिद्धा राकारो दानवाचकः।
स्वयं निर्वाणदात्री या सा राधापरिकीर्तिता ॥२२३॥

के बीसवें अध्याय में तथा विष्णु पुराण में भी क्रमशः कृष्ण का गोपियों के साथ रासलीला और कृष्ण द्वारा पुष्पों से अलंकृत की गई एक रमणी के साथ रास का वर्णन है। जान पड़ता है कि इन पुराणों की रचना के पूर्व हमारी प्राचीन राधा का नाम लोक कथाओं एवम् लोक-गीतों में श्री कृष्ण की संगिनी के रूप में जुड़ चुका था। क्योंकि पद्म पुराण में राधा को कृष्णवल्लभा मानकर उसका स्तवन किया गया है; शिवपुराण में मेना की उत्पत्ति के साथ राधा का उल्लेख है; नारद, वाराह, स्कन्द, ब्रह्मांड, मत्स्य पुराणों में भी राधा का वर्णन है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (जिसकी प्रामाणिकता में विद्वानों को सन्देह है) में तो श्रीकृष्ण की लीलाओं तथा राधा का सविस्तार वर्णन पाया जाता है।

वास्तव में पुराणों के अनुसार राधा की उत्पत्ति दैवी है, मानुषी नहीं। वह परमात्मभूत श्रीकृष्ण के वामार्ध से उत्पन्न है। वह मूल प्रकृति और जगत सृष्टि में कारणभूता है। जगत सृष्टि में श्रीकृष्ण निमित्त कारण और राधिका उपादान कारण हैं। राधा के साथ संयुक्त होने के कारण ही कृष्ण को श्रीकृष्ण कहा जाता है। देवी-भागवत के अनुसार सर्वेश्वर प्रभु की सभी कामनाओं को सिद्ध करने के कारण ही श्री स्वामिनीजी का नाम श्री राधा है। श्री नारद पाञ्चरात्र में उल्लेख है कि सर्वसमर्थ भगवान श्रीकृष्ण को प्रेमपूर्वक आराधना करने और लीलारस में मग्न होने के कारण ही उनको राधा कहा गया है। निम्बार्क, चैतन्य, हरिदासी, राधावल्लभ एवं वल्लभ सम्प्रदाय में राधातत्व की प्रधानता पाई जाती है।

नवीन अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ कि 'राधा' नाम का सर्वप्रथम उल्लेख सातवाहन नरेश हाल के प्राकृत ग्रन्थ 'गाहा सतसई' (गाथा सप्तशती) में हुआ है।[1] इस ग्रन्थ के पश्चात् हमें पंचतंत्र (३००-५०० ई०) में भी प्राप्त होता है। अतएव अधिकांश विद्वान राधावाद को इन ग्रन्थों के समान प्राचीन मानते हैं। मध्यकालीन धर्म-साधना में, भागवत में कथा है कि कृष्ण ने सभी गोपियों का साथ छोड़कर एक गोपी से एकान्त में वार्तालाप किया—तभी से कृष्णभक्त उस गोपी को राधा मानने लगे। डॉ० फरकोहार का भी यही मत है कि राधा की कल्पना भागवत की एक विशेष

---

१. 'मुह मारुएण तं कणह गोरअ राहिआए अवणेन्तों।
एताणं वल्लवीणं अणंणवि गोरअं हरसि।' १, ८९
अर्थात् हे कृष्ण, तुम राधा के नेत्रों की धूल अपने मुख की हवा से साफ़ कर अन्य स्त्रियों का गर्व दूर करते हो। उसका गौर वर्ण श्यामल हो जाता है।

गोपी को लेकर वृन्दावन में उठी और वहीं से वह सर्वत्र फैल गई। 'नारद पंचरात्र-संहिता' में लिखा है कि एक ही भगवान पुरुष और स्त्री रूप में प्रकट होते हैं। संभव है इसी दार्शनिक कल्पना के आधार पर कवियों ने शिव के साथ पार्वती, विष्णु के साथ लक्ष्मी और कृष्ण की जोड़ी मिलाने के लिए 'राधा' की कल्पना करली हो। 'राधातापिनी उपनिषद्' के अनुसार रस के अनन्त सागर भगवान श्रीकृष्ण और रासेश्वरी श्रीराधा वास्तव में एक हैं।[1] वे क्रीड़ा करने के उद्देश्य से दो हो गये हैं।[2] जो भी हो, इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि राधा को पाकर हमारी साहित्यवाटिका पर्याप्त मात्रा में पल्लवित, पुष्पित और सुगंधित हुई हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश की कुछ रचनाओं के साथ ही साथ आठवीं और दसवीं सदी के संस्कृत नाटक और काव्यों में राधा का उल्लेख हुआ है। पंच तंत्र, वेणी संहार नाटक के मंगलाचरण, ध्वन्यालोक, नलचम्पू, शिशुपाल वध टीका, यशस्तिलक चम्पू आदि में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हैं। वारहवीं शती में राधा का आविर्भाव साहित्य-जगत में पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया था। इस शती के प्रारम्भ में श्रीधर दास द्वारा संकलित 'सदुक्ति कर्णामृत' में राधा कृष्ण प्रेम से सम्बन्धित कई रचनाओं का संग्रह है। लीला शुक विल्व मंगल के काव्य 'कृष्ण-कर्णामृत' (दक्षिणात्य पाठ) में राधा तथा गोपी भाव की झाँकी के दर्शन होते हैं।

यद्यपि साहित्य में राधा का चित्रण कई कवियों ने किया था किन्तु १३ वीं शती के प्रारम्भ में राधा को स्थायी रूप से संस्कृत कवि जयदेव ही लाये। उनके 'गीत-गोविन्द' में परकीया भाव से राधा की उपासना है। उनकी राधा में प्रेम का अवाध वेग है। राधा को कृष्ण के विना जीना कठिन है। 'गोप-कदम्ब नितंववती-मुख चुम्बन लंभिन लोभी कृष्ण भले ही हों किन्तु वह 'कोकिल-कूजति-कुंज कुटीरे' में 'पीन-पयोधर-भार-भरेण नील कलेवर पीत वसन वनमाली का सराग परिरंमण करने की विलास-कला-मुग्धा होने पर भी दक्ष है।

विद्यापति में भी राधा का लगभग यही रूप देखने को मिलता है। उनकी राधा किशोरी और विलास कलामयी है तथा रूप लावण्य की दीप्ति से दीप्त है। वयःसन्धि की अवस्था से वह भोली किशोरी अज्ञात यौवना फिर मुग्धा और अन्त में

---

१. 'राधा माधौ दोय नहीं।
प्रकृति पुरुष न्यारे नहिं कवहूँ वेद पुरान कहत सवहीं। —सूरसागर-परिशिष्ट-पद; ९-६

२. धर्मचक्र—मासिक—संस्कृति और साहित्य में श्री राधा—प्रो० माधवाचार्य

कृष्णमयी वन जाती है। विद्यापति में जयदेव के समान विलास तो है ही, प्रेमाभिशेप काम की असफलता तथा तज्जन्य पश्चाताप की भी कमी नहीं। राधा मुग्धा से लेकर प्रौढ़ा तक के रूप में मिलती है। उसने जो कुछ किया वह दूती के वहकावे से ही। वह मानो वदनाम हो गई है इसलिए न संसार को मुख दिखा सकती है और न वचे हुए जीवन को सुख-पूर्वक व्यतीत कर सकती है।

विद्यापति के समकालीन चंडीदास थे। चंडीदास की राधा का हृदय प्रेम से ओत-प्रोत है। वह श्याम का नाम सुनते ही वेसुध-सी हो जाती है।

'सइ केवा शुनाइल श्याम नाम
कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो
आकुल करिल मोर प्रान।'—नाना विघ्न वाधाओं के होते हुए भी चंडीदास की प्रमोन्मादिनी राधा का रूप चमक उठा है। वह विलास की प्रतिमा नहीं हैं किन्तु भक्ति की मूर्ति है और कृष्ण की रूप-माधुरी के निरन्तर चिन्तन में ही उसका दिन वीत जाता है। मेघों में प्रियतम का रंग देखकर वह व्याकुल हो जाती है। कोकिल में प्रिय का स्वर-साम्य देखकर वह अपने को भूल वैठती है :

'वँधू तुमि से आमार प्रान।
तुमि मोर पति, तुम मोर गति, मन नहि आन भाय।'—वास्तव में देखा जाये तो कविवर चंडीदास का व्यक्तिगत जीवन राधा के जीवन में भलीभाँति झलकता है। यहाँ मिलन की घड़ियाँ तो वहुत थोड़ी हैं, मिलन तो मानो हुआ ही नहीं और यदि मिलन के कुछ क्षण जीवन में आए भी तो दिन रात शंकाएँ घेरे रहीं। वियोग-विच्छेद के भय से मिलन में भी दोनों विलाप ही करते रहे और एकत्र रहकर भी प्रिय के शरीर का स्पर्श तक नहीं किया। वस्तुतः प्रीति की कसौटी ज्वाला ही है। जिसके मन में जितनी ज्वाला अधिक है उसकी प्रीति भी उतनी ही तीव्र होती है। सुख के लिए प्रेम करने वाली को चंडीदास ने सावधान कर दिया हैं :—

'कहै है चन्डीदास सुन विनोदिनी,
सुख दुख दुटि-भाइ।
सुखेर लगिया जे करे पिरीति,
दुख जाइ तार-ठाँइ।'—इस प्रकार सौन्दर्य पिपासा तथा विलास की प्रतिमूर्ति 'राधा' यहाँ आकर हृदयस्थ ज्वाला की मूर्तिमती प्रतिमा वन गई जिसने अपनी गूढ़ वेदना से समस्त कालुष्य तथा वासना को भस्मसात कर दिया।

निःसन्देह बंगाल के सूरदास चण्डीदास ने लोक साहित्यिक उपकरणों से राधा को स्वाभाविकता प्रदान की है। वह परकीया होते हुए भी कृष्ण में पतिभाव रखती है। चंडीदास ने राधा का जो रूप प्रस्तुत किया है उस रूप में उनका कृष्ण-भक्ति आप्लावित मानस ही साकार हो गया है। जो तड़प, छटपटाहट और बेचैनी राधा में है वह निस्सन्देह भक्त चंडीदास की आत्मा की अपनी पुकार है, कृष्ण के प्रति उनका अपना समर्पण हैं। चण्डीदास और मधु सूदन ने बंगला में श्री राधा का गुणगान किया तथा नवद्वीप में महाप्रभु चैतन्य देव और उनके भक्तों ने राधा के दिव्य प्रेम की पवित्र मंदाकिनी प्रवाहित की। वास्तव में 'राधा' के निर्माण में उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पच्छिम सभी भागों की प्रतिभाओं ने योगदान दिया। आर्य और आर्येतर, निगम और आगम, सभी परम्पराओं ने 'राधा' का प्रतीकत्व स्वीकार किया। इस माधुर्य की अधिष्ठात्री पर समस्त भारतवर्ष गर्व कर सकता है। राधा अब एक 'व्यक्ति' नहीं जो देश-काल की सीमाओं में बंधकर रह सके वह तो एक असीम व्यक्तित्व है। वह तो एक तत्व है जो प्रीति, भक्ति, अनुरक्ति और श्री—शान्ति का पर्याय है'।[1]

(५) सूरदास की राधा—सूरदास ने राधा का बाल्यावस्था से ही चित्रण आरम्भ किया है। कृष्ण कुछ बड़े हो गये हैं—माखन चोरी कर चुके हैं, गाय चराने जाया करते हैं, कालिया नाग आदि की घटनाओं से व्रज में उनकी बड़ी ख्याति हो गई है। व्रज-युवतियाँ कृष्ण को देखकर कई बार अपना संयम-विवेक खो चुकी हैं। अभी राधा एक सामान्य गोपी है, उसका कृष्ण से कोई विशेष प्रेम नहीं। एक दिन व्रज की बाल-मण्डली के साथ खेलते हुए कृष्ण जमुना किनारे पहुँच जाते हैं वहाँ अनायास ही राधा से साक्षात्कार होता है। राधा के मन में उल्लास, शरीर का रंग गोरा और विशाल नेत्र थे। मस्तक पर लाल टीका था, झालरदार चोटी में फूल गुंथे थे, गोरे रंग पर आसमानी साड़ी में राधा का सौन्दर्य द्विगणित हो रहा था (संयोग से कृष्ण की दृष्टि राधा पर पड़ जाती है—एक दृष्टि में कृष्ण मोहित हो जाते है और राधा में भी 'प्रथम दृष्टि में ही प्रेम का उदय' वाली बात चरितार्थ होती है—

'खेलन हरि निकसे व्रज खोरी।

....

गये स्याम रवि-तनया के तट अंग लसति चन्दन की खौरी।

....

औचक ही देखी तहँ राधा नैन विशाल भाल दिए रोरी।

---

१. सूर साहित्य–नव मूल्यांकन—डॉ० चन्द्रभान रावत; पृ० १६२–६३

....

सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी ॥"

रीझते और ठगोरी पड़ते ही कृष्ण विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठे और एक ही सांस में वे अनेक प्रश्न कर बैठे—

बूझत स्याम कौन तू गोरी ?
कहां रहति ? काको है बेटी देखी नांहि कहूं ब्रज खोरी ॥"

....

'बातनि लई राधा लाइ'—

इस प्रकार प्रथम परिचय के पश्चात् कृष्ण ने चलते-चलते राधा को अपने घर खेलने का आमंत्रण दिया। जब राधा नहीं आई तो कृष्ण ने उसे बुलाने का दूसरा उपाय किया। उन्होंने एक सच्चे प्रेमी की भांति सौगन्ध दिलाकर प्रातः और संध्या एक बार आने का आग्रह किया—

'तुमहि सौंह वृषभान बबा की, प्रातः सांझ एक फेरी।'

इससे जान पड़ता है कि महाकवि सूरदास किशोर-किशोरियों के प्रेमी हृदय के पूरे पारखी थे। मोहन जब राधा के सौन्दर्य प्रभाव से सुधि-बुधि ही खो बैठे तो गाय के स्थान पर बैल ही दुहने को बैठ गए :—

'दुहत गाय गैया बिसराई ॥
नोई लै पग बांधि वृषभ के, दोहनि मांगत कुंवर कन्हाई।'

इस प्रकार राधा और कृष्ण का प्रेम दिन प्रतिदिन बढ़ता गया। तब ब्रज के नर-नारी सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। अब राधा, कृष्ण के साथ रास में भी भाग लेने लगी है, वह कृष्ण के घर भी नियमानुसार प्रातःसंध्या आने लगी है, यशोदा लोक भय से भयभीत हो उसे डाटती भी है कि यहां तू क्यों उत्पात मचाने आ जाती है किन्तु राधा यह सब क्यों सुनने लगी, वह यह सारा दोष अपने सिर क्यों ले ? अतएव वह यशोदा को मुंह-तोड़ प्रत्युत्तर देती है—

'बार-बार तू ह्यां जनि आवै।
हौं कहा करों सुतहि नहि बरजति घरते मोहि बुलावै ॥
मोसों कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्राण।
छोह लगत मोको सुन बानी महरि तुम्हारि आन ॥"

मोहन पर राधा का कुछ ऐसा जादू हो गया है कि वह उसके संकेतों पर

नाचने लगे और प्रेम पराकाष्टा पर पहुँच गया। एक दिन संध्या समय राधा खड़ी थी और कृष्ण धेनु दुह रहे थे। धेनु दुहते-दुहते कृष्ण के हृदय में प्रेम आलोड़ित हो उठा—

> धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
> एक धार दुहनी पहुंचावत, एक धार जंह राधा ठाढ़ी ॥"

इस प्रकार सूर ने राधा को वयः प्राप्ता, यौवन प्राप्ता के रूप में चित्रित न करके कुमार-कुमारी के स्नेह को प्रेम में परिवर्तित होना दिखलाया हैं।

सूर के सम्मुख राधा कृष्ण के लीला-प्रसंग का एक व्यापक क्षेत्र खुला था, फलतः विविध दशाओं में राधा के मनोभावों का, स्नेह की विभिन्न भावना-भूमि का सुचारू रूप से सरस एवं प्रभावोत्पादक वर्णन सूर ने किया है। राधा बाल्यकाल से ही बालक-सुलभ चपलता के साथ श्री कृष्ण के संग रास में प्रवृत्त होकर अनुपम आनन्द का विस्तार करती है। अक्रूर के आगमन तथा मथुरा गमन के अवसर पर राधा विरह-वेदना से नितान्त व्याकुल हो उठती है; उद्धव जी के पधारने पर वह अपने निर्मल स्नेह की भव्य झांकी प्रस्तुत कर कृष्ण को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है। ब्रजनंदन के विरह में वह अपने दुखमय जीवन को प्राणप्यारे के कल्याण के लिए धारण करती है। फलतः राधा के जीवन का प्रत्येक क्षण श्रीकृष्ण के चिन्तन में व्यतीत होता है। बाल्यकाल से आरम्भ कर जीवन के अंतिम क्षण तक सूरदास ने राधा के भावों को अपने अन्तर्चक्षुओं से निरखा है और अपनी प्रतिभामयी वाणी से उन्हें अभिव्यक्त किया है। कहना यथार्थ ही होगा कि सूरदास की राधा एक समग्र नारी है। जिसकी तुलना अत्यन्त दुर्लभ है, वह वृन्दावन की कुंजों में विचरण करने वाली प्रेम-रस से आप्लूत गोपिका है जिसका जीवन ब्रजनन्दन में केन्द्रित है, उनके कल्याण-साधन में उनके आनन्दोल्लास में तथा रसमाधुरी के संवर्धन में। 'वास्तव में सूर की राधा लौकिकता तथा अलौकिकता की, प्रेम तथा सन्यास की, स्नेह के वैमल्य की तथा प्रीति के उच्छवास की एक निर्मल लीलास्थली है'।[1]

यद्यपि सूर ने अपनी राधा को अपार मौलिकता प्रदान की है फिर भी काव्यात्मक चित्रण में उन्होंने उसे कृष्ण की प्रियतमा के रूप में ही चित्रित किया है। 'दार्शनिक दृष्टि से राधा कृष्ण की वास्तविक शक्ति है, वह ब्रह्म की शरीर धारिणी माया है। वह प्रकृति का प्रतीक है। प्रथम मिलन में ही कृष्ण ने स्वयं संकेत किया है कि वह

---

१. भारतीय वाङ्मय में श्री राधा—डा० बल्देव उपाध्याय; पृ० ४२१

साक्षात ब्रह्म है और राधा उसका पूरक अंश प्रकृति है जो उससे मिलने के लिए भूलोक में अवतरित हुई है।[1] प्रकृति रूपा राधा और पुरुष स्वरूप कृष्ण का सम्बन्ध पत्नी और पति का है। उनकी यह लीला युग-युग से चली आ रही है। कुछ भी हो किन्तु यह तो निर्विवाद है कि राधा का चित्रण एक कान्तिमयी प्राप्त यौवना, सुन्दरी के रूप में हुआ है, जिसके अंगों में अनुपम सौन्दर्य एवं लावण्य है।[2] प्रारम्भ में राधा एक मुग्धा किन्तु वाचाल वाला है जिसके हृदय में अपने बालपन के साथी कृष्ण के प्रति असीम आकर्षण है। समय पाकर यह आकर्षण अनुराग में परिणत हो जाता है। तव वे प्रेमी और प्रेमिका बन जाते हैं। सूर ने इस प्रेमी युगल मूर्ति की सुखद चर्चाओं के अगणित चित्र उपस्थित किए हैं जो बड़े ही मनोरम हैं।

सूर ने राधा को, अनुराग की उत्तरोत्तर वृद्धि आकर्षण से लेकर आत्मसमर्पण तक की सभी अवस्थाओं में चित्रित किया है। 'कहीं राधा भोली, चंचल और चतुर दीख पड़ती है, कहीं गूढ़ और अतृप्ता। कहीं वह मानवती और गौरवमयी है, कहीं गंभीर और वियोगिनी है'।[3] मानसिक संघर्ष की परिस्थिति में राधा की स्थिति कैसी हो जाती है, इसका मनोरम चित्रण सूर ने किया है। वैसे यदि देखा जाय तो राधा का चरित्र दो प्रकार का है। राधा के रुष्ट होने और उसका अनुनय करने के समय दूतियों के माध्यम से और युगलमूर्ति का प्रेम सर्व विदित हो जाने पर सखियों के माध्यम से। वास्तव में राधाकृष्ण के प्रणय का केन्द्र और सूर की प्रमुख नायिका राधा का चित्रण तीन विभिन्न रूपों में किया गया है—चतुर, गंभीर और अतृप्त परकीया नायिका के रूप में, गर्विता, आत्मरता और यदा-कदा रुष्ट स्वकीया के रूप में और गम्भीर विरहतप्ता नायिका के रूप में। राधा का वाह्य रूप जितना मोहक है उतना ही उसका आंतरिक रूप। वह वस्तुतः कृष्ण प्रेम की साक्षात प्रतिमा है क्योंकि कृष्ण का अनन्य प्रेम उसके अंग अंग में समाया हुआ है।

समष्टि रूप से यह कहना उचित ही होगा कि जयदेव, चंडीदास और विद्यापति की राधा से सूर की राधा वहुत भिन्न है। वह न तो जयदेव की राधा के समान पूर्ण विकसित यौवना और नितान्त कामासक्ता है और न विद्यापति की राधा के समान वय-सन्धिगता प्रेयसी। वह चंडीदास की राधा के समान पूर्ण परकीया भी नहीं।[4]

---

१. कूट काव्य–एक अध्ययन–डॉ० रामधन शर्मा शास्त्री; पृ० १८७
२. सूरसागर–पद ४४–४५
३. हिन्दी साहित्य में राधा—डॉ० द्वारिका प्रसाद मीतल; पृ० ३००
४. कूट काव्य–एक अध्ययन—डॉ० रामधन शर्मा; पृ०१८६–६२

कृष्ण की पत्नी होने के नाते राधा एक स्वकीया-नायिका है एवं उसका व्यक्तित्व स्पष्ट और पूर्णतः प्रभावोत्पादक है। चण्डीदास की राधा की अपेक्षा वह अधिक कठोर है, उसमें स्वाभिमान अधिक है यही कारण है कि वह कृष्ण के अनुनय को सरलता से स्वीकार नहीं करती। कृष्ण के मूर्च्छित होने का समाचार पाकर भी वह विचलित नहीं होती। इतना गर्व होने पर भी उसे पूर्णतः विश्वास है कि कृष्ण उसी के हैं, प्रेमाधिक्य से उसके गर्व का बाँध उसी समय टूटता है जब उसे पता चलता है कि कृष्ण उसके भवन से जा रहे हैं। तब वह अपने मनोभावों के वेग को नहीं रोक सकती।

सूरदास के काव्य में सौंदर्य अनैतिक भोग-विलास का विषय नहीं है जैसा कि प्रायः शृङ्गारी काव्य में बहुलता से पाया जाता है। सूर ने रति क्रीड़ा के सभी रूपों और अंगों का वर्णन किया है तथापि सदाचारहीन शृङ्गार से वह बहुत ऊपर है और उसके पाठक के मन में भी राधा और कृष्ण के प्रति अविचल भक्ति-भाव बना रहता है। अतः सूर की काव्य कला पर उसके निर्मल और शान्त-हृदय, अटूट भक्ति और मन तथा आत्मा की पवित्रता की गहरी छाप है। तभी तो सूर ने अपने नायक-नायिकाओं को कामुकता के धरातल से बहुत ऊँचा उठा दिया है।

राधा के सम्बन्ध में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वास्तव में राधा माधुर्यभाव की आदर्श प्रतीक हैं। डॉ० मुन्शीराम शर्मा का कथन है कि 'राधा तो गृहस्थ के सुख दुःख का अनुभव करने वाली आर्य महिला के अतीव उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आती है। स्वकीया पत्नी के रूप में, संयोग में वह जितनी मुखर, मानवती और चंचल है, वियोग में उतनी ही संयत और गंभीर'।[1] संयोग के समय वे शरीर और मन दोनों से सौन्दर्य, कांति और उल्लास की एकमात्र अधिकारिणी हैं—अत्यन्त चतुर, चंचल और विनोदमयी। उनके मन का भाव उनके 'चपल अनियारे' नयनों से भली भांति व्यंजित होता है। किन्तु वियोग के समय सूरदास ने उन्हें अत्यन्त खिन्न, मलिन, गम्भीर और मूक चित्रित किया है। राधा एक प्रेमिका, कृष्ण की अर्धाङ्गिनी, कृष्ण-ब्रह्म की आल्हादिनी शक्ति के अतिरिक्त कुछ और भी हैं, इसका सूरदास ने कोई उल्लेख नहीं किया'।[2]

डॉ० चन्द्रभान रावत के इस कथन से हम पूर्णतः सहमत हैं कि 'यदि तुलसी सीता को महाकाव्य की नायिका के रूप में संजोया और उसके व्यक्तित्व को सती

---

१. भारतीय साधना और सूर साहित्य; पृ० ३३६
२. सूर-मीमांसा—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा; पृ० २३७

के पवित्र आदर्शों से अभिमंडित कर दिया, तो सूर ने समस्त शृङ्गार, माधुर्य, सौंदर्य, सौकुमार्य, तरलता, अनुभूति और विकलता से विभूषित करके एक गीतिकाव्योचित नायिका की प्रतिष्ठा की। आज तक यह रासेश्वरी, निकुंजेश्वरी, सौन्दर्याधिष्ठात्री राधा उतनी ही सरस, सरल और सद्य बनी हुई है।'[1]

जिस प्रकार 'सूर' ने राधा को रूप की राशि, वृन्दावन में नन्द कुमार के साथ नित्य विहार करने वाली, केलि-कौतूहल प्रिय स्वकीया नायिका के रूप में चित्रण किया है उसी प्रकार सम्प्रदाय के अन्य कवियों ने भी राधिका-रानी के स्वकीया रूप में ही दर्शन किए हैं। परमानन्द दास की राधा वृषभान गोप के घर अवतार लेने के पश्चात अत्यन्त सुकुमारी और शोभा की समुद्र हैं (सोभा को सागर सुकुमारी। उमा रमा रति वारी डारी) फिर देवोत्थायिनी एकादशी के शुभ अवसर पर उसका कृष्ण के साथ विवाह होता है और वह रंगमहल की शोभा बढ़ाती है। डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल का कथन है कि परमानन्द दास की राधा 'अतिशय कष्ट सहिष्णु, मौन, रूप मुग्धा, मानवती, विदग्धा एवं सुरत लब्धा हैं।'[2] कुम्भनदास की राधा के शरीर की रचना सब वस्तुओं का सार लेकर की गई है और उसके नख-शिख-सौन्दर्य को देखकर विधाता भी आश्चर्य चकित हो गये हैं।[3] कृष्णदास ने राधा को चम्पे की कली माना है ('भामिनी चंपे की कली' तथा 'कमल मुख देखत कौन अघाय)—नन्ददास ने राधा के प्रेम, मिलन, मान के चित्रण के साथ-साथ उसके गुणों का वर्णन किया है। राधा के रस रूप का वर्णन कवि ने द्राक्षादि फल की उपमा देकर किया है। साथ ही उसे भगवान के आनन्द की पूर्ण सिद्ध-शक्ति के रूप में चित्रित किया है। चतुर्भुज दास ने श्यामा की शोभा के सम्बन्ध में सुन्दर पद (पद ११६, १६६, १६६) लिखकर उसे चतुर कृष्ण का मन मोहित करने वाली गजगामिनी मृगनयनी कामिनी कहा है। गोविन्द स्वामी ने राधा के नेत्रों को रसमाते और मुख को शरदचन्द कहा है (अति रसमाते री तेरे नैन—तेरो मुख प्यारी जैसो सरद ससी) उसका गायन सुनकर कोकिल भी मौन धारण कर लेती है और करोड़ों कामदेवों का चित्त विमोहित हो उठता है।[4] छीत स्वामी का कथन है कि राधा यमुना के किनारे कृष्ण के साथ सुशोभित हो मधुर स्वर से गीत गाती है (रीझि

---

१. सूर साहित्य-नव मूल्यांकन; पृ० १८३
२, परमानन्द सागर पद-संग्रह—डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल; पृ० २३
३. कुम्भनदास–पद १६१-६२ (विद्या विभाग कांकरोली)
४. गोविन्द स्वामी–पद ४६४, ४६५, ४६६, ३५१ (,, ,,)

राधे पिय के संग मधुर-मधुर गावैं) और उसे फूलों के वस्त्र अधिक प्रिय हैं (फूल सारी, कंचुकी बनी फूल की, फूल लहैगा निरखि काम लाजैं)[१]। इस प्रकार सभी अष्टछापी कवियों ने अपनी आराध्य प्रिया के अपूर्व सौन्दर्य का चित्रण किया है।

सूर की गोपियाँ—पिछले पृष्ठों में हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि कृष्ण भक्त कवियों ने अपनी नारी-भावना को प्रमुख रूप से राधा, यशोदा तथा गोपियों की सहायता से व्यक्त किया है। श्री महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के द्वारा प्रवर्तित वल्लभ-सम्प्रदाय के मतानुसार व्रज-ललनाएँ कृष्ण की आनन्द-प्रसारिणी रस शक्तियाँ हैं। गोपी आत्मा हैं और कृष्ण परमात्मा। व्रज की ये गोप-बालाएँ तीन प्रकार—अन्य पूर्वा, अनन्य पूर्वा और सामान्या मानी गई हैं। अन्यपूर्वा वे थीं जिनके विवाह हो चुके थे और जो कृष्ण को परकीया भाव से मानती थीं। अनन्य पूर्वा वे थीं जो अविवाहित थीं और जो कृष्ण को पाने के लिए जप, तप, पूजापाठ करती रहीं—इनमें से कुछ जन्मभर अविवाहित रहीं और कुछ के विवाह कृष्ण के साथ हुए। सामान्या वे व्रज युवतियाँ थीं जो वात्सल्य भाव से कृष्ण को प्रेम करती थीं। इस प्रकार व्रज की ये सभी नारियाँ कृष्ण को प्रीतम मानती थीं। कृष्ण प्रेम में प्रेमातुर और गर्वीली ये नारियाँ कृष्ण के सामीप्य के हेतु वृन्दावन की रेणु बनने को तैयार थीं।[२] यौवन मदमाती इन व्रज बालाओं ने लोक लाज को भी बिसार दिया है और वे कृष्ण प्रेम में ऐसी बावली हो गई थी कि उन्हें अपने पति, पुत्र, गाय, बछड़े आदि की भी सुध नहीं रही।

सूर के 'भ्रमर गीत' की गोपियाँ बड़ी ही सरल हृदया हैं। अपने परम प्रिय कृष्ण का सन्देश पाकर वे निर्गुन निराकार ब्रह्म का खंडन ऐसे सुन्दर तर्कों की सहायता और व्यंग्यों से करती हैं कि उद्धव की सभी उक्तियाँ व्यर्थ हो जाती हैं और वे कह उठते हैं—'मुक्ति लाय मन्दे में मेली'। सूर ने गोपियों के दुरन्त विरह की गाथा को भी बड़े ही महत्वपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया है। 'अँखियाँ हरि दरसन की भूखीं' और 'बिनु गुपाल वैरिन भई कुंजैं'—आदि पदों से उनके हृदय की पीड़ा का अनुमान लगाया जा सकता है। वे गोकुल की गायों के माध्यम से अपनी विरह

---

१. छीत स्वामी–पद; ८१, ६० (विद्या विभाग कांकरौली)

२. 'हम न भई वृन्दावन रेनु,
जहँ चरननि डोलत नंदनंदन नित प्रति चारत धेनु।'—सूर सागर (सभा)

दशा का वास्तविक चित्र उपस्थित करती हैं।[1] कृष्ण के प्रति उनका अनन्त प्रेम, ऊधो के ज्ञानोपदेश से उनकी झुंझलाहट, उनकी स्वकीया भावना-जन्य-प्रेम की स्वाभाविक प्रक्रियाएँ हैं। कृष्ण प्रेम उनका जीवन-सार है। वास्तव में राधा की भाँति सूरदास की ये गोपियाँ भी प्रेमिकाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। वे निरन्तर प्रेम-विकल, प्रेम को परिपूर्ण बनाने में विकल रहती हैं। प्रेम ही उनके अस्तित्व का आदि और अन्त है'।[2] वे कृष्ण से अलग होकर तड़पती हैं, 'निशि दिन नैन बरसाती हैं,[3] संदेश भेजती हैं,[4] उद्धव पर व्यंग्य करती हैं[5] किन्तु स्वयं न तो कृष्ण से विमुख होना चाहती हैं और न आत्म-सम्मान की दृष्टि से हार मानकर कृष्ण तक स्वयं पहुँच सकती हैं। उनकी यह एकनिष्ठता उन्हें प्रेम के उच्चतम शिखर तक पहुँचा देती है। वे मधुवन को कोसती हैं कि 'तुम ठाड़े क्यों न जले,' वे कुंजों को वैरिन बताती हैं, किन्तु ऊधो के ज्ञान उपदेश को सुनकर ऊधो को ही दो-चार खरी-खोटी सुनाती हैं,

---

१. ऊधो इतनी कहियो जाइ।
अति कृस गात भई ये तुम बिन परम दुखारी गाइ।'
परति पछार खाई तेहि-तेहि-मिलि अति आतुर ह्वै दीन। वही; पद ४६८८

२. सूर-मीमांसा—डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा; पृ० २३७

३. 'निशि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब ते श्याम सिधारे।'
....
"कैसे पनघट जाऊं सखी री, डोलों सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चलति है इन नैनन के नीर॥" सूरसागर (सभा) पद—३८९३

४. 'संदेसन मधुवन कूप भरे'

५. 'आये जोग सिखावन पांडे—'
....
'मधुकर, भली करी तुम आये—'
....
'मधुकर कौन देस तें आए ? वही—पद; ४१२३
....
'फिरि फिर कहा सिखावत मौन', वही; पद—४३०८

उद्धव के योग का उपहास करती हैं और परस्पर एक दूसरी गोपी को सावधान करती हैं कि कोई कालों पर विश्वास न करे।[1]

अन्त में वे अपने प्रिय गोपाल का साक्षात्कार करने के लिए सिंगी, खप्पर आदि लेकर योगिनी तक भी बनने को तैयार हो जाती हैं[2] और कहती हैं कि संसार में वियोग की पीड़ा का अनुभव वही कर सकता है जो श्याम सुन्दर के रंग में रंगा हो।[3] वल्लभ-सम्प्रदाय में विरह की महत्ता बतलाने के उद्देश्य से ही कृष्ण की निष्ठुरता का यत्र-तत्र उल्लेख पाया जाता है। विरह के वर्णन में जितनी विविधता सूर के पदों में हम पाते हैं उतनी अन्यत्र पाना कठिन है। सूर की गोपियों की परम विरहासक्ति तथा गोपी विरह वर्णन हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर ने संयोग और वियोग दोनों ही दशाओं में कृष्ण को अत्यधिक प्रेम करने वाली व्रज-ललनाओं का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। गोपियाँ अपने आराध्य कृष्ण के 'रूप लावण्य पर मुग्ध और उनके साहचर्य की आकाँक्षिणी हैं। अपने प्रेम के लिए उन्होंने घर-द्वार, लोक-लज्जा सब का त्याग कर दिया है। उनका जीवन ईर्ष्या, प्रेम, हास-परिहास, छिपाव-दुराव आदि सभी स्वाभाविक वृत्तियों से पूर्ण अति आमोद-प्रमोद का है। उनमें जीवन अपने पूर्ण वेग से प्रवाहित होता है।........वियोगिनी गोपियों का रूप हृदय-द्रावक है। निशिदिन कृष्ण की स्मृति में डूबी हुई वे कभी अपने दुर्भाग्य को, तो कभी कृष्ण की निष्ठुरता और मथुरा की नागरियों को कोसा करती हैं। उद्धव आगमन के अवसर पर उनकी

---

१. 'ऐसी कारेन की रीति'—वही; ४३७४

....

'विलग जनि मानौ ऊधौ कारे। यह मथुरा काजर की कोठरि, जे आवें ते कारे।'—वही—पद; ४३८१

२. 'गोपालहिं पावौं धौं किहि देस।
सिंगी मुद्रा कर खप्पर लै करि हौं जोगिनि भेस।' —सूर सागर, द्वितीय खंड; पृ० १३५८

३. 'अनल तें विरह अगिनि अति ताती।

....

न्याइहिं नागरि नारि विरह बस, जरति दिया ज्यौं बाती।
जे जरि मरी प्रगट पावक परि, ते त्रिय अधिक सुहातीं।'

....

'सूर बिथा सोई पै जानै, स्याम सुभग रंग राती।'—सूर सागर; पृ० ३५८१

उत्सुकता, प्रेमावेश तथा दयनीयता उनके प्रेम को अत्यन्त हृदय-द्रावक बना देती है। उनके प्रेम को देखकर ही उद्धव ने उन्हें 'प्रेम-ध्वजा स्वरूपिणी' कहा है।[1] सूर के साथ-साथ अष्टछापी अन्य कवियों ने भी मधुर-भक्ति के संयोग तथा वियोग दोनों पक्ष बड़े विस्तार से चित्रण किया है।

अष्टछाप के एक अन्य कवि नन्ददास ने अपनी 'श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी' और 'रास पंचाध्यायी' में गोपियों को शुद्ध प्रेम रूपिणी और विषय वासनाओं से मुक्त बतलाया है। उनके मतानुसार गोपिकाएँ आत्मा हैं और कृष्ण परमात्मा। लोक की मर्यादा की चिन्ता न करने वाली ये गोपियाँ अनुकूल वातावरण के होते हुए भी आत्म-काम हो चुकी हैं।

सूर की कुब्जा—श्री गर्गाचार्यजी ने अपनी 'गर्ग संहिता' में कुब्जा के पूर्व जन्म में सूर्पणखा होने का उल्लेख किया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार[2] कुब्जा ने अपनी चिरकाल की विरह-वेदना को शान्त करने के उद्देश्य से आनन्द मूर्ति प्रियतम को अपने हृदय में धारण किया और श्रीकृष्ण के चरण-कमलों को अपने काम संतप्त वक्षःस्थल और नेत्रों पर रखकर उन्हें सूँघते हुए अपनी मनोकामना पूर्ण की। भक्त कवि सूरदास ने मथुरा से लौट कर आये ग्वालों से यह सूचना दिलवाई है कि कृष्ण ने मथुरा में कुब्जा को अपनी पत्नी बना लिया है।[3] इस समाचार को सुनकर कृष्ण के वियोग में पीड़ित व्रजांगनाओं में सपत्नी भाव जाग्रत हो उठा, वे अत्यन्त दुखी हुई (नख-सिख लौं भंहरानी) और उनकी कृष्ण के गोकुल लौटने की आशा क्षीण हो गई।[4] अब गोपियाँ कृष्ण–कुब्जा की जोड़ी का कई प्रकार से हँसी उड़ाने लगीं ('विधिना जोरी भली मिलाई')—वे कहती हैं कि कृष्ण और कुब्जा कूबड़ी का साथ तो कपूर और लहसुन की भाँति है। पुरुषों का क्या भरोसा किया जाय क्योंकि वे तो नित्य नवीन की खोज में भटकते रहते हैं ('कुबिजा नई पाई जाइ')—। आज गोपियों को बड़ा ही आश्चर्य हो रहा है कि कृष्ण ने बचपन में उनके साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ायें कीं और अब मथुरा जाकर उन्होंने कुब्जा से प्रेम सम्बन्ध किया

---

१. हिन्दी भक्ति–शृंगार का स्वरूप—डॉ० मिथिलेश कान्ति; पृ० १३१

२. श्रीमद् भागवत–दशम स्कन्ध–अध्याय ४८; श्लोक; ७

३. सूर सागर; पद ३७५९

४. 'कुबिजा कौ नाम सुनत, बिरह अनल जूड़ी।
रिसनि नारि झहरि उठीं, क्रोध मध्य बूड़ी।
आवन की आस मिटी, ऊरध सब स्वासा।
कुबिजा नृप दासी, हम सब करी निरासा॥'—पद ३७६१

है। क्या कृष्ण कूबड़ के कारण कुब्जा से प्रेम करने लगे हैं ? यदि यही बात हो तो हम भी कूबड़ निकाल कर चलने लगें।[1] वे कुब्जा को आलम्बन बनाकर उपहास करतीं हैं कि उद्धवजी, कृष्ण बड़े चतुर हैं जो आपको योग-संदेस देकर भेज दिया और वे कुब्जा के साथ रमन करने लगे।[2] कुब्जा ने कृष्ण को अपने अधीन करके उन्हें ठग लिया है। कुब्जा के प्रति गोपियों की कटूक्तियों में कई लाक्षणिक विशेषण देखे जा सकते हैं।[3] गोपियों ने कुब्जा के सम्बन्ध में कई उलाहने और व्यंग किये हैं।[4]

कुब्जा ने उद्धव द्वारा राधा और गोपियों को अपने जो सन्देश भेजे हैं उनमें उसकी हीनता दीनता की भावना स्पष्ट झलकती है। वह राधा को समाचार भेजती हैं कि वह उसे दासी समझकर ही उस पर कृपा रखें।[5] गोपियों को सन्देश में वह कहती है कि वह शरीर से टेढ़ी अवश्य थी किन्तु प्रभु के स्पर्श मात्र से सब ठीक हो गया। (मैं तुम सरि की नाहीं)—पर एक स्थान पर कुब्जा राधा और गोपियों को भावावेश में उलाहना भरे शब्दों में कह बैठती है कि 'तुमने कृष्ण को बहुत कष्ट दिये हैं, अतएव वे न तो यशोदा के पुत्र ही हैं और न तुम्हारे प्रियतम।[6]

सूर की यशोदा—यशोदा और नन्द का वात्सल्य कृष्ण के गोकुल में प्रकट होने से लेकर उनके मथुरा गमन तक के अनेक प्रसंगों और घटनाओं के द्वारा प्रकट हुआ है। जिस प्रकार राधा कृष्ण प्रेम की साक्षात मूर्ति है उसी प्रकार 'यशोदा' का भी सम्पूर्ण व्यक्तित्व कृष्ण-स्नेह का प्रतीक है। मन, वचन और कर्म

---

१. 'हम तौ सब गुन आगरी, कुबिजा कूबर बाढ़ि।
कहौ तौ हमहू लै चलें, पाछै कूबर काढ़ि॥'—पद ३७७०

२. 'ऊधौ भूलि भलै भटके।
....
तुमहिं दियौ बहराइ इतहिं कौं, वे कुब्जा अटके।'—सभा,पद; ३६६७(दशम स्कंध)

३. 'कुबजा स्याम सुहागिनि कीन्हीं। रूप अपार जात नहिं चीन्हीं॥
आप भये पति वह अरधंगी। गोपिन नाऊँ धर्‌यौ नवरंगी॥
वै बहु-खन नगर की सोऊ। तैसोई संग बन्यौ अब दोऊ॥—वही; ३१४४

४. सूर सागर; पद; ४२५४ ; ५५

५. 'ऊधौ यह राधा सों कहियो।
जैसी कृपा स्याम मोहि कीन्हीं, आपु करत सोइ रहियो।
मो पर रिसु पावति बिनु कारन, मैं हौं तुम्हरी दासी॥'—वही; पद ४२६६

६. 'नाहिन कान्ह तुम्हारे प्रीतम, ना जसुदा के जाये।'

यशोदा का वाह्याभ्यंतर उसके स्नेहशील सरल मातृत्व की सूचना देता है । कृष्ण
सा पुत्र पाकर भी उसे लेशमात्र अभिमान नहीं है, वह अपने सुख में दिन रात व्रज
सभी नर-नारियों को प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित करती है ।

माता यशोदा किसी का अविश्वास नहीं करती है । 'पूतना' के साथ उसका
व्यवहार कितना शिष्टाचारपूर्ण है कि वह उसे पीढ़ा देकर अपने निकट बिठा लेती
। यही नहीं पूतना के द्वारा कृष्ण को दुग्ध-पान कराने तक पर भी उसे कपट आदि
ी कोई आशंका नहीं होती । यशोदा को कृष्ण के ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनके
ाधार पर वे उनके अलौकिक व्यक्तित्व में विश्वास कर सकती हैं—

'हरि किलकत जसुमति की कनियाँ
मुख में तीन लोक दिखराए, चकित भई नन्दरनियाँ'

परन्तु यशोदा इतनी सरल मति और स्नेहशीला है कि वे कृष्ण के स्वाभा-
वक बाल-चरित को देखकर उनके थोड़े समय पूर्व ही किये अविश्वसनीय कार्यों को
ल जाती हैं । उनके हृदय में केवल दुःख पश्चाताप एवं विस्मय का भाव मात्र रह
ाता है । जिस प्रकार अति प्राकृत चरित्रों के सम्बन्ध में यशोदा का सरल मातृत्व
क्षुण्य रहता है, उसी प्रकार कृष्ण की किशोर-लीलाओं को देख सुन कर भी रहता
। वह अपने हृदय के वत्सल स्नेह को नहीं छोड़तीं और कृष्ण को सदैव एक नन्हा-
ा बालक ही समझती रहती हैं । माता यशोदा के जितने चितेरे हुए हैं उन्होंने माता
चित्र में मानवीय उभार अवश्य दिया है । माता अपने नन्हे शिशु को झूला झुला
ही है—

'जसोदा हरि पालने झुलावै
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ-जोइ कछु गावै ।'

अथवा—

'पालना स्याम झुलावति जननी ।
अति अनुराग परस्पर गावति प्रफुलित मगन होति नन्द घरनी ।'

आगे चलकर वह इच्छा करती है कि—

'जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरो लाल घुटुरवनि रेंगे, कब धरनी पग द्वैक धरै ।'

कृष्ण जब यशोदा से शिकायत करते हैं कि—

'मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो ।
मो सों कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमति कब जायो ।'

तथा—

'तू मोही को मारन सीखो दाउहिं कबहु न खीझै ।'

तब माता बड़े ही सुन्दर ढंग से कृष्ण को सन्तुष्ट करती है । इस प्रकार कृष्ण की बाल-लीलाओं में यशोदा का समय बड़े आनन्द से बीतता है । और उसकी सभी अज्ञात अभिलाषाएँ एक सुन्दर लता की भांति फूलती-फलती हैं ।

'सिखवति चलन जसोदा मैया,'
'कहन लागे मोहन मैया मैया'
'जसुमति कान्हहिं चहै सिखावति,
सुनहु स्याम अब बड़े भये तुम, कहि स्तनपान छुड़ावति ।'

वास्तव में सूर मातृ-हृदय के एक महान पारखी और चित्रकार थे ।

अन्त में कृष्ण का मथुरागमन इन सुखद लीलाओं का अन्त कर देता है । समस्त ब्रजवासियों और यशोदा के देखते-देखते जब कृष्ण कंस के द्वारा भेजे गये अक्रूर के रथ पर आरूढ़ होते हैं तब माता का हृदय वेदना से उमड़ पड़ता है ।

'जसोदा बार बार यों भाखै ।
है कोउ ब्रज में हितू हमारौ, चलत गोपालहिं राखै ।'

वे इतने अश्रु बहाती हैं कि जैसे उनके अश्रु त्रिलोक को डुबो देंगे । माता की इस वियोग की दशा के जो चित्र सूर ने अंकित किए हैं, वे अमर साहित्य की वस्तु हैं । माता को जीवन-भर पश्चाताप रहा कि—

'फाटि न गई ब्रज की छाती, कत यह सूल सह्यो ।

वास्तव में यशोदा में एक आदर्श वात्सल्यमयी माता का हृदय आलोड़ित दिखाई पड़ता है । माता के वात्सल्य का ऐसा विशद, स्वाभाविक और समर्थ चित्रण अन्यत्र पाना कठिन है ।

यशोदा के लिए कृष्ण के बिना घर-आंगन, गोकुल सब कुछ सूना हो गया है। वह कहती हैं कि चाहे कंस उन्हें बन्दी बना ले, चिन्ता नहीं पर वह अपनी आँखों के तारे कृष्ण को अलग नहीं रखना चाहतीं, चाहे प्राण क्यों न देने पड़ें ।[1] उन्हें पुत्र वियोग इतना अखर रहा है कि वह ब्रज छोड़कर मथुरा में देवकी और वसुदेव को

---

१. मेरी माई निधनी कौ धन माधौ ।'
....
सूर स्यामधन हौं नहिं पठवौं, अबहि कंस किन बांधौ ।'—वही पद ३५८६

दासी बनकर रहने को तैयार हैं। यद्यपि सूरसागर में राधा, यशोदा और गोपियों के चित्रण की ही प्रधानता है तथापि हमें सूर की रचना के कृष्ण के प्रति वात्सल्य-भाव प्रकट करने वाली यशोदा की सखियों, व्रज-नारियाँ, रोहिणी, देवकी, वृषभानु पत्नी, राधा की सर्वप्रिय सखी ललिता, चन्द्रावली, कुब्जा, रुक्मिणी, दाई आदि नारी-पात्रों का चित्रण भी प्राप्त होता है।

वास्तव में देखा जावे तो 'सूरसागर' नारी-चरित्रों का महान काव्य ग्रन्थ है क्योंकि इस काव्य में हमें मातृरूप के अभूतपूर्व चित्र, गोपियों, प्रेमिका, कामिनी, पत्नी, बालिका, रानी, ग्वालिन, परस्त्री आदि के विस्तृत वर्णन में प्राप्त होते हैं।

गोपी और सखी भावना—हमारे सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में प्रयुक्त 'गोप', 'गोपति', 'गोपा' शब्द अवश्य ही गोप-गोपी परम्परा के प्राचीनतम लिखित प्रमाण कहे जा सकते हैं।[1] गायों के पालक आभीरों या अहीरों की जाति परम्परा से आनन्द प्रिय जाति रही है। इस जाति का मुख्य व्यवसाय था गोचारण और उनके आराध्य देव थे श्री कृष्ण। 'गोप' शब्द का स्त्रीलिंग गोपी है। श्रीकृष्ण गोप थे और उनके प्रेम में निशि दिन डूबी रहने वाली गोपांगनायें गोपी थीं। श्री कृष्ण प्रेम के देवता थे और गोपियों के प्रेमाराध्य—इन कृष्ण और गोपियों के प्रेम की कथाएँ तथा जन-गीत छठी शताब्दी ईस्वी के आसपास प्रचलित हो चुके थे। उधर भागवत धर्म से संबंधित दक्षिण की आलवार भक्ति के गीतों में हमें गोपी-कृष्ण लीला के वर्णन प्राप्त होते हैं।

मध्य युग में विविध पुराणों विशेष कर श्री मद्भागवत् पुराण में गोपीभाव की सुन्दर आध्यात्मिक व्याख्या की गई। श्रीमद्भागवत् में गोपियों को देवताओं की स्त्रियाँ कहा गया है और वहाँ गोपी प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ प्रेम माना गया है। पद्म और ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार दण्डकारण्यवासी कृष्ण-भक्त मुनियों ने सौन्दर्य माधुर्य का आस्वादन करने हेतु गोपियों का जन्म पाया था।[2] वृहद् वामन पुराण के अनुसार ऋचाओं तथा श्रुतियों को तपस्या करने के कारण गोपी देह प्राप्त हुआ था। क्रमशः पुराण ग्रन्थों में गोपिकाओं का व्यक्तित्व विकसित होता गया और अन्त में सम्प्रदायों का अनुसरण कर गोपीभाव कृष्णभक्ति का प्रधान साधन भाव बन गया।[3] महाभारत में इन गोपियों के

---

१. हिन्दी साहित्य कोष-सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० २७७
२. वही पृष्ठ; २७७
३. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव--डॉ० शरण विहारी गोस्वामी–अध्याय ३ पृ० १४३

सम्बन्ध में कोई आध्यात्मिक व्याख्या नहीं मिलती। काव्य में सर्व प्रथम 'गाथा-सप्तशती' में राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण सम्बन्धी प्रेम प्रसंगों का वर्णन लौकिक सन्दर्भ में पाया जाता है। फिर जयदेव के गोविन्द और मैथिल-कोकिल विद्यापति की पदावली में इस प्रकार के प्रसंगों का वर्णन हुआ है।

गोपी सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या हमें गौड़ीय वैष्णव (चैतन्य) सम्प्रदाय और पुष्टिमार्ग (वल्लभ सम्प्रदाय) में प्राप्त होती है। इन सम्प्रदायों में गोपियों को भगवान की स्वरूप-शक्ति-प्रादुर्भाव रूपा माना है। भगवान की ह्लादिनी गुह्म विद्या के रहस्य का प्रवर्तन इन्हीं के द्वारा होता है।[1] चैतन्य सम्प्रदाय में गोपीभाव को श्रद्धा तथा समर्पण का प्रमुख भाव माना गया है। वैष्णव धर्मानुसार माना जाता है कि बहुत गोपियाँ पूर्वजन्म की देवियाँ थीं जिन्होंने पूर्णावतार की लीला में सहायता करने के उद्देश्य से गोपी रूप में जन्म धारण किया था। कई गोपियाँ पूर्व जन्म की श्रुतियाँ थीं(उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलसुरा,कलकंठिका, विपञ्ची, बहुकला, कलावती, क्रियावती), कई गोपियों का शरीर पूर्व जन्म में ऋषि महर्षियों का था (सत्यतपा से भद्रा गोपी, हरिधामा से रंग वैनी, जाबालि से चित्रगंधा आदि) ये गोपियाँ शरीरमन और प्राण से भगवान को प्रेम करती थीं। वैष्णव भक्त-कवियों के काव्य में इन गोपियों के दो रूप स्वीकृत किये गये हैं। १—भगवान की आनन्द रूपा तथा सृष्टि उत्पन्न करने वाली शक्ति का रूप तथा २—कान्ता भाव से भगवान के उपासक अनन्य भक्तों का प्रतीक रूप। गोपिकाएँ कृष्ण की शक्तियाँ हैं और कृष्ण को चन्द्रमा मानकर गोपियों को चन्द्रमा की कला माना गया है। वैष्णव-उपासक गोपियों को श्री कृष्ण की जन्म जन्मान्तर की प्रेयसी मानते हैं। 'कृष्ण भक्ति के सभी सम्प्रदायों में स्त्री-भाव की भक्ति ही सर्वत्र पाई जाती है। कृष्ण प्रिया के रूप में भगवान की लीलाओं का आनन्द प्राप्त करने हेतु कृष्ण भक्तों ने कहीं अपने को गोपी माना, कहीं सखी और कहीं कान्ता।'[2] रुक्मिणी, जांवन्ती, सत्यभामा, कालिन्दी, सत्या, भद्रा, लक्ष्मणा कृष्ण की ऐसी पटरानियाँ हैं जिन्होंने श्री कृष्ण को कान्ता भाव से स्मरण किया था।

'उज्ज्वल नीलमणि' के कृष्ण-वल्लभा अध्याय के अनुसार कृष्ण-वल्लभाओं को पहले स्वकीया और परकीया—इन दो भागों में बाँटा गया है। रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवंती आदि कृष्ण की विवाहित पत्नियाँ स्वकीया हैं तथा उनकी प्रेयसी गोपियाँ परकीया हैं।[3]

---

१. हिन्दी साहित्य कोष—सम्पादक—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० २७७
२. वही: पृ० २७७
३. बृजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति—डॉ० रूपनारायण; पृ० १२०

नीचे दिये गये विवरण से हम इन गोपियों के भेद तथा उपभेद का ठीक-ठीक परिचय प्राप्त हो सकेगा—

गोपियाँ (हरि वल्लभा)

- स्वकीया (जिन्होंने विधिपूर्वक विवाह किया)
- परकीया
  - कन्यका (लज्जाशील तथा अविवाहित-जो कृष्ण को पति मानती हैं)
  - परोढ़ा (अन्य पति किन्तु कृष्ण प्रेम में श्रेष्ठ)
    - नित्य प्रिया (प्राचीना) (आठ प्रधान गोपियाँ यूथेश्वरी होती हैं)
    - साधनपरा (साधना द्वारा गोपी बनीं)
      - यौथिकी (अपने समूह के साथ प्रेम साधना में संलग्न)
        - मुनि — कृष्णलीला में सम्मिलित मुनि
        - उपनिषद् (पूर्वजन्म के उपनिषद जिन्होंने तपस्या से गोपी रूप पाया)
      - अयौथिकी (पहले भक्त रूप में कृष्ण प्रेम में साधन रत)
        - प्राचीना
        - नव्या
    - देवी (देवी के रूप में जन्म धारण)

[गोलोक अथवा व्रज के वैभव को प्रकट करने के उद्देश्य से ब्रह्मवैवर्त तथा पद्मपुराण में असंख्य गोपियों विद्याधरी देवियों तथा कृष्णदासियों को सेवा, वय और वेषभूषा के अनुसार विभिन्न यूथों में विभाजित किया है। राधा, चन्द्रावली और ललिता गोपियों की यूथनेत्री मानी गई हैं।]

श्री रूप गोस्वामी ने गोपियों को श्री कृष्ण की सिद्ध शक्तियों के रूप में देखते हुए उन्हें साधन-सिद्धा और नित्य-सिद्धा माना है। कुछ विद्वान श्री कृष्ण को सूर्य का प्रतिविम्ब और गोपियों को तारिकायें मानते हैं।

श्री वल्लभाचार्यजी ने अपनी 'सुवोधिनी' में व्रजगोपियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—१—अन्यपूर्वा (वे जो विवाहित थीं किन्तु जिनकी आसक्ति श्री कृष्ण में थी,) २—अनन्यपूर्वा (वे जिन्होंने कृष्ण को पतिरूप में वरण किया था) ३—सामान्या (मातृभावना वालीं जो पुत्रभाव से लालन-पालन करने में आसक्त थीं)—अनन्यपूर्वा के भी दो भेद माने गए हैं—१—कुमारिका (जो जीवन-भर कुमारी रहीं यद्यपि साध बनी रही) और २—ऊढ़ा (जिन्होंने कृष्ण के साथ विवाह किया)। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार गोपीभाव, राधा-भाव और परकीया भाव, कृष्ण-परक मधुरा-भक्ति के ही सूक्ष्म-सूक्ष्मतर रूप हैं। मधुरोपासना, कान्ता भाव की साधना है, जिसमें भक्त, श्रीकृष्ण को प्रिय मानकर अपने में कान्तात्व का भाव लेकर चलता है। यह कान्ताभाव लोकदृष्टि में काम-रति ही है पर साधक-भक्तों की यह कृष्ण विषयक कान्तारति लौकिकता से सर्वथा दूर, विशुद्ध, आध्यात्मिक भाव है। कान्ताभाव के अनेक रूप हो सकते हैं। गोपी-भाव भी इसी का एक रूप है।

पुष्टिमार्ग में भक्त लोग नाम तथा मंत्र की साधना को इस कारण उपादेय मानते हैं कि इनके द्वारा भाव को संचारी दशा से स्थायी दशा में ले जाया जा सकता है। भक्त का अन्तरंग कमल अष्ट दलों में विभक्त रहता है और इनके एक-एक दल के ऊपर एक-एक भाव की स्थिति मानी जाती है। इस अष्ट-दल कमल का एक-एक दल एक-एक भाव का प्रतीक बनकर सखी भाव का भी प्रतिनिधि है। राधारानी और कृष्ण के अनन्य प्रेम में तन-मन और अपने घर बार की सुध भुला देने वाली ये नित्य सखी तथा सहचरी रूप से श्री राधा-कृष्ण की निरन्तर सेवा, भजन, उपासना कर उन्हें आनन्द रस-निर्भर बनाती हैं। ये सखियाँ प्रेम की जीवित प्रतिमाएँ हैं और उनका जीवन ही श्रीकृष्ण के सुख और आनन्द के लिए होता है। ये सखियाँ ही प्रिया–प्रियतम की प्रेम लीला को निष्पन्न कराने वाली हैं क्योंकि एकान्तिक प्रेम उपासना ही सखी भाव की उपासना है। सांख्य दर्शनकारों ने प्रकृति और पुरुष का निरूपण करते समय प्रकृति को योषिता अर्थात् नारी रूप में अंकित किया है। इसके आधार पर पत्नीभाव में स्वसुख कामना को ग्रहण करने के कारण व्रज के रसिक भक्तों ने सखी भाव की स्वतंत्र रूप से कल्पना की और सखी को ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा, मात्सर्य आदि दुर्गुणों से सर्वदा दूर रखकर उसका निरूपण किया।[1]

---

१. कृष्ण-भक्ति काव्य में सखी भाव—डॉ० शरण विहारी गोस्वामी; पृ० १५

वल्लभ-सम्प्रदाय में मधुर भाव से उपासक भक्त सखी रूप होते हैं तभी त
अष्टछापी आठों कवि सखी रूप में भी प्रसिद्ध थे। सूरदास को चंपकलता, परमानन्
दास को चन्द्रभागा, कुंभन दास को विशाखा. कृष्णदास को ललिता, चतुर्भुज दा
को विमला, नन्ददास को चन्द्रावली, छीत स्वामी को पद्मा और गोविन्द स्वामी क
भामा माना गया है। सर्वानन्द की सिद्धिरूपा राधिका सब सखियों में मुख्य होने
'स्वामिनीजी' के नाम से अभिहित की गई हैं। मुख्य सखियाँ आठ हैं—ललिता
विशाखा, सुमित्रा, चंपकलता, रंगदेवी, सुन्दरी, तुंगदेवी, इन्दुरेखा, मंजरी, फिर एक
एक सखी के साथ एक-एक (गोपियों की सेविका) रहती है। ये मंजरियाँ भी आ
हैं—रूप मंजरी, जीव मंजरी, अनंग मंजरी, रस मंजरी, विलास मंजरी, प्रेम मंजरी
राग मंजरी और लीला मंजरी। भगवत रसिकजी ने भिन्न-भिन्न गुणों की प्रतीक १
सखियाँ मानी हैं। राधा अथवा चन्द्रावली का पक्ष समर्थन, प्रिय समागम-करण औ
हास-परिहास सम्बन्धी कार्य के लिये पाँच सखियाँ हैं–सखी, नित्य सखी, प्राण-सखी
प्रिय सखी, परम प्रेम सखी। राधिका और चन्द्रावली की सैकड़ों सखियाँ कही जात
हैं। इस प्रकार भक्ति क्षेत्र में 'सखी भाव एक मानस स्थिति है, मनोदशा है, जिसमें
आत्म सुख विसर्जन कर जीवात्मा अपने को राधा कृष्ण की सहज सखी समझकर
अपनी इष्ट सिद्धि केवल उनकी नित्य लीलाओं के दर्शन में मानती है और उनके प्रेम
को उद्दीप्त होता हुआ देखकर कृतार्थ होता है।[1] इस प्रकार सखी भाव गोपी भाव से
सर्वथा भिन्न है।

महाकवि सूरदास के नारी-चरित्रों तथा गोपी-सखी भावना पर विचार
करने के पश्चात् उप-संहार रूप में तनिक सूरदास के दृष्ट कूट पदों के सम्बन्ध में भी
विचार कर लेवें क्योंकि सूर के ये पद ही विद्वानों की विशेष आलोचना के माध्यम
बने हैं। सूर की 'साहित्य लहरी' का प्रमुख विषय मधुराभक्ति का प्रतिपादन ही है
और हमारी दृष्टि में सूर ने राधा-कृष्ण के रूप के रहस्यमय सौन्दर्य का चित्रण करने
के लिए ही कूट-शैली का प्रयोग किया है। काव्य के प्रसंग में 'कूट' शब्द का प्रयोग
गूढ़काव्य के अर्थ में होता है—अतएव जान पड़ता है कि सूर के ये पद गूढ़ार्थता,
शब्द वैचित्र्य, विस्मय, सौन्दर्य-भावना, कुतूहल एवं रहस्यात्मक और दार्शनिक अनु-
भूतियों की अभिव्यंजना करने की दृष्टि से ही लिखे गये हैं तथा राधा-कृष्ण की अनन्य
भक्ति भावना से प्रेरित होकर ही इन पदों की रचना की गई है।

सूर के दृष्टिकूटों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्होंने सम्भोग-शृङ्गार के

---

१. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव—डॉ० शरण विहारी गोस्वामी; पृ० १६

वर्णन के साथ ही विप्रलंभ में भी प्रोषित भर्तृका, मानवती, कलहांतरिता आदि का विशद वर्णन किया है। कवि ने राधा-कृष्ण की केलि का वर्णन उसी प्रकार किया है जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने शिव-पार्वती का अथवा जयदेव के राधा-कृष्ण का—किन्तु सूर के चित्रण में एक विशेषता यह है कि उन्होंने उस पर मायारूपी एक पर्दा डाल दिया है जिसके कारण वे जन-साधारण की पहुँच के बाहर की वस्तु बन गये हैं। जो प्रिया-प्रीतम की केलि-स्थली है वह सबके लिये नहीं है, वहाँ तो केवल अंतरंग-सखियाँ ही प्रवेश पा सकती हैं।

एक सखी राधा के रूप-सौन्दर्य का वर्णन नायक से करती हुई कहती है कि मैंने अनेक प्रकार के चन्द्रमा देखे हैं (परन्तु जैसा श्यामा का मुखचन्द्र है वैसा किसी का नहीं) उसकी स्वर्णलता (रूपी देह) पर कमल (रूपी कुच) हैं, जिनके समीप मोतियों का हार शोभायमान है। शुक (नासिका) है कमल (नेत्र पलकें) हैं, अलि (अलकावली), मृग (नेत्र) कामदेव का धनुष (भौंह), हेम-तुषार (मोती जड़ी बेसर) बिंब (अधर), अनार के बीज (दन्त पंक्ति), विद्युत-कांति (हास्य) और कोयल शब्द उच्चारण करती है (वाणी बोलती है) शिखर पर लाल रेखायुत मणिधर सर्प (सिंदूर से भरी माँग तथा शीश फूल सहित वेणी) को अनेक प्रकार के पुष्पों से अलंकृत किया है। उसके मध्य गंगा का प्रवाह (माँग में लगी मोतियों की लड़ी) है जिसे देखकर समस्त विकार दूर हो जाते हैं।[1] कवि ने अद्वितीय नायिका रूपी वाटिका तैयार की है[2] और रूप-सौन्दर्य का एक अद्भुत अनुपम बाग भी लगाया है।[3] सूर ने एक भिन्न पद में राधा के सौन्दर्य का चित्रण उसे एक पद्मिनी नायिका मानकर किया है।[4]

नायिका-भेद—साहित्यकारों के लिए नायिका (नारी) वर्णन सदैव ही अत्यधिक प्रिय विषय रहा है क्योंकि शृंगार का आश्रय और आलम्बन (दोनों ही) एवम् मूलाधार नायिका ही मानी गई है। भक्त कवि सूरदास ने अपने पदों में राधा कृष्ण एवम् गोपी कृष्ण की प्रेम लीलाओं का ऐसा विशद वर्णन किया है कि उनके शृंगारिक वर्णन में स्वाभाविक रूप से नायिका के विभिन्न स्वरूपों का निरूपण हो

---

१. 'विधु मैं देखे बहुत प्रकार'—कूट पद—सूरदास; ६६

२. 'कहत कब परदेशी की बात'—वही; ७२

३. 'अद्भुत एक अनुप बाग'—वही; २३

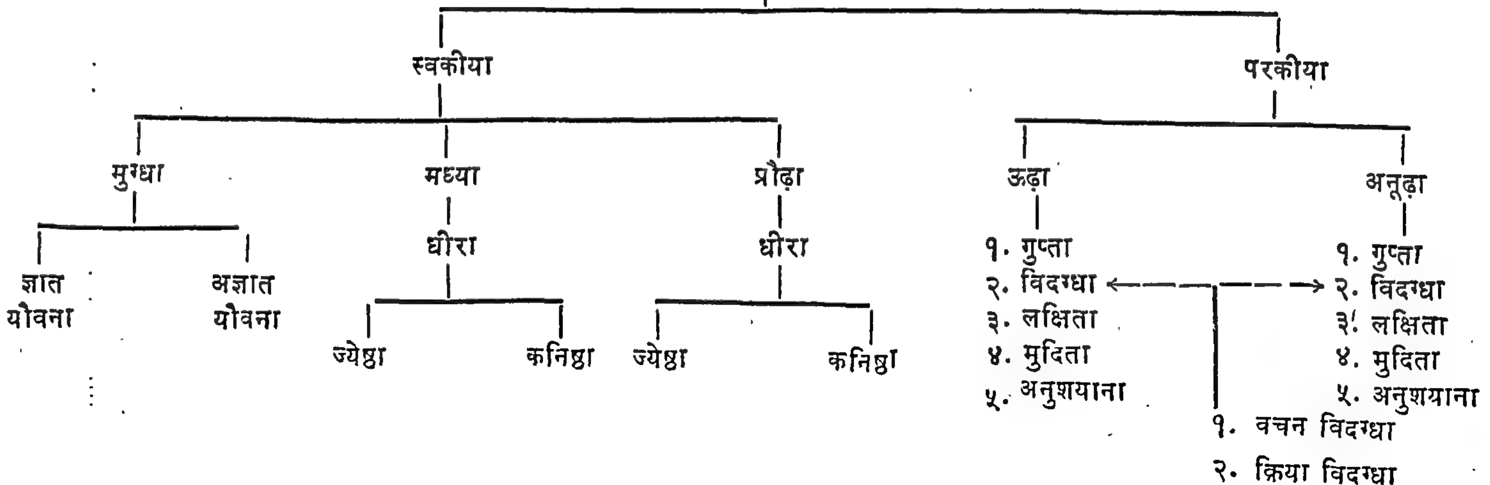
४. 'पद्मिनि सारंग एक मंझारि।

....

सूरदास प्रभु तुमहूँ सारंग बनी छबीली नारि ॥'—पद; ४५

गया है। कवि ने राधा कृष्ण के प्रेम का विकास, संयोग-वियोग की विविध दशाओं और चेष्टाओं के चित्रण तथा पूर्वराग, प्रवास, मान, उपालम्भ आदि सम्बन्धी उक्तियाँ ऐसे आकर्षक ढंग से व्यक्त की हैं कि साधारण पाठक को सहज रूप में नायिका भेद प्रसंग का स्मरण हो उठता है।

सूर की 'साहित्य-लहरी' के प्रथम ३९ पद नायिका-भेद से सम्बन्धित हैं। कवि ने शास्त्रीय पद्धति के आधार पर ही नायिकाओं का वर्गीकरण किया है।



अन्य भेदः—नायिका—कलहान्तरिता, प्रोषित-पतिका, खंडिता, उत्कंठिता, विप्रलब्धा, वासक सज्जा, स्वाधीन पतिका, अभिसारिका, पतिगमिनी आगत पतिका (१०)

नायिका—अन्य सुरत दुखिता, प्रेम गर्विता, रूप गर्विता और मानवती (४)

कुछ उदाहरणः—

'यह सुनि चकृत भईं ब्रजबाला।
तरुनी सब आपस में बूझति कहा कहत गोपाला ॥' —अज्ञात यौवना

'प्यारी अंग शृंगार कियौ।
वैनी रचो सुभग कर अपने, टीकौ भाल दियौ ॥' —अभिसारिका

'राधा रचि रचि सेज सँभारति।
भवन गमन करिहैं हरि मेरे, हरषि दुखहिं निवारति ॥' —वासक सज्जा

'हरि परदेश बहुत दिन लाये।
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आये ॥' —प्रोषित पतिका

'वेगि चलौ पिय कुँवर कन्हाई।
— — —
सकसकात तन भीजि पसीना, उलटि पलटि तन तोरि जम्हाई ॥'
—पूर्व राग

'यह ऋतु रूसिवे की नाहीं।
— — —
मैं दम्पति रसरीति कही है, समुझि चतुर मन माहीं ॥' —मान

'अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरिश्रम जल भीज्यों उर अंचल तिहि लालच न धुवावति सारी।'—विरह

वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की क्रीड़ा को स्वकीया का विलास माना जाता है अतएव राधा एक 'स्वकीया' नायिका है तथा कृष्ण के प्रेम में निशि-दिन डूबी रहने वाली गोपियों को अष्टछाप के कवियों ने स्वकीया ही माना है। विवाहिता गोपियाँ जो पर-पुरुष कृष्ण से प्रेम करती हैं, परकीया नायिका ही हैं। कुछ विद्वान राधा को रास में कृष्ण के साथ विवाह होने से पूर्व कन्यका परकीया मानते हैं और रास के पश्चात् स्वकीया, जो सर्वथा उचित ही है। वैसे सूर की राधा में नायिका के कई रूप देखे जा सकते हैं।

अष्टछाप के एक प्रमुख कवि नन्ददास ने भी अपनी रचना 'रस मंजरी' में भानुदत्त की रस मंजरी के आधार पर किसी रसिक मित्र द्वारा इस विषय में प्रेरणा

देने की बात लिखकर परम्परागत नायिका भेदों के साथ-साथ अपने कुछ नवीन भेदों का उल्लेख किया है। नन्ददास ने स्वकीया को ही नहीं अपितु परकीया और सामान्या को भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा इन तीन भेदों में विभाजित किया है जो उचित नहीं जान पड़ता। व्रज ललनाओं और गोपिकाओं को मुग्धा, मध्या और प्रगल्भ इन भेदों में विभाजित किया जा सकता है। आगे हम देखेंगे कि अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी परम्परागत नायिकाओं के स्वरूपों का चित्रण सफलतापूर्वक किया है।

पिछले पृष्ठों में हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि वल्लभ-सम्प्रदाय की उपासना का मूल अपने आराध्य के प्रति समर्पण और माधुर्य-भावना है। अतएव कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में भक्तों ने अपने को गोपी, सखी अथवा कान्ता माना है। स्त्री भाव से ही कृष्ण भक्त अपने को कृष्ण की प्रिया मानकर अपने हृदय में संयोग-वियोग परक भावों की स्थापना कर सकता है। अतएव पुष्टिमार्गीय भक्त सूरदास की रचनाओं में हमें गोपी, सखी और कान्ताभाव की भक्ति के रूप रस में निमग्न भक्तों के सहज ही दर्शन होते हैं। सूर की गोपियाँ ऐसी नारियाँ हैं जिनके प्रेम में लौकिक काम का अभाव है।[1] व्रज ललनाएँ तथा माधुर्य भाव की भक्ति करने वाली नारियाँ अधिकतर स्वकीया ही हैं—इसी कारण सूर ने गोपिकाओं का विषद् चित्रण किया है।

सूरदास की नारी-भावना में दो रूप–माता और प्रेयसी–ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। माता रूप में कवि ने यशोदा, देवकी, रोहिणी और वयः प्राप्त गोप स्त्रियों का चित्रण किया है। यशोदा के चरित्र में हमें सरल स्वभाव वाली, स्नेहशील त्यागमयी आदर्श माता के दर्शन होते हैं, देवकी कृष्ण की जन्म दात्री और सरल हृदया भारतीय नारी है, वृषभानु पत्नी रोहिणी और अन्य गोप-माताएँ भी ममतामयी माता की प्रतीक हैं।

कृष्ण प्रेयसी राधा और गोपियों में हमें परकीया एवं मुग्धा नायिकाओं की छवि देखने को मिलती हैं। वे कृष्ण प्रेम में डूबी हुई हैं और उन्होंने अपना मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ चकोर की भाँति कृष्ण प्रेम की ओर उन्मुख की हुई हैं। उनमें मिलन की तीव्र उत्कंठा भी है और विरह की असहनीय वेदना भी।

---

१. 'व्रज सुन्दरि नहीं नारि ऋचा श्रुति की सब आहीं'।

....

भार भयो जब पृथ्वी पर, तब हरि लियो अवतार।
वेद ऋचा हैं गोपिका, हरि संग कियो विहार॥'—वही; १७८३

भक्ति-साहित्य के अन्य कवियों की परम्परा के अनुसार सूर ने भी नारी को मिथ्या और उसके सुख को क्षण भंगुर वतलाया है।[1] नारी को भक्ति मार्ग में बाधक[2] और नागिन[3] के समान कहा गया है।

अष्टछाप के कवियों का शृङ्गार-वर्णन—वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक महा प्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी ने जब समस्त भारत की यात्रा की थी तब उन्होंने ८४ शिष्य वनाये थे जिनके सम्बन्ध में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में वर्णन है। उसके पश्चात् उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने इन शिष्यों की कुल संख्या २५२ कर दी जिनका परिचय 'दो सौ वावन वैष्णवन की वार्ता' में दिया गया है। फिर सं० १६०२ में गोस्वामीजी ने चार अपने पिता के समय के (सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास) और चार अपने समय के शिष्यों (गोविन्द स्वामी, नन्ददास, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास) से 'अष्टछाप' की स्थापना की अष्टछाप की। गणना का मूल अष्ट सखा के (एक ही समय पर) प्रागट्य की काल्पनिक भावना है। सम्भव है कृष्ण के अष्ट सखा, श्रीमद्भागवत के रासलीला की अष्ट गोपिकाएँ, रास में श्रीकृष्ण का आठ रूप धारण करना एवं वैष्णव मंदिरों में मंगला से लेकर शयन तक के आठ प्रकार के दर्शन होना आदि आठ संख्या के महत्व के कारण ही गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने इस अष्टछाप में आठ कीर्तनकारों को सम्मिलित किया नौ अथवा सात को नहीं। ये आठों महानुभाव सुप्रसिद्ध कवि, गायक और संगीतज्ञ थे और ये तब पुष्टिमार्ग के प्रधान स्तम्भ। ये आठों भक्त-कवि गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सहवास में एक-दूसरे के समकालीन थे और व्रज में गोवर्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन की सेवा तथा वहीं रहकर भगवद् भक्ति रूप में पद रचना किया करते थे। गोस्वामीजी की प्रशंसात्मक छाप के वाद ही ये आठों महानुभाव 'अष्टछाप' के कवि कीर्तनकार कहलाने लगे। 'अपनी रचनाओं से प्रेम की बहुरूपणी अवस्थाओं के जो चित्र इन कवियों ने उपस्थित किए हैं, वे काव्य की दृष्टि से वास्तव में उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों की दृष्टि से देखने पर इनका काव्य महान है'।[4]

---

१. 'सुख सम्पति, दारा सुत, हय गय झूठ सबै समुदाई'।—साभपद; ३१७
२. 'झूठे नाते जगत के सुत, कलत्र परिवार'।—वही पद; ३७२
३. सुकदेव कह्यौ सुनौ हो राव, नारी नागिन एक स्वभाव।

....

नारी संग प्रीति जो करै, नारी ताहि तुरंत परि हरै।'—पद; ४४६
'भामिनी और भुजंगिनी कारी, इनके विषहि डरिये'।—पद; ३४४५
४. पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ—अष्टछाप की मधुर भक्ति—डॉ० दीनदयालु गुप्त; पृ० ८५

नन्ददास—अष्टछाप के आठ प्रसिद्ध कवियों में वे अन्यतम थे। इनके द्वारा रचित लगभग २८ रचनाएँ मानी जाती हैं। अपनी 'मान-मंजरी' में इन्होंने मामिनी राधा का वर्णन किया है, 'विरह मंजरी' में एक व्रजांगिना चन्द्रदूत से अपनी वियोग व्यथा निवेदित की है। कवि ने नायिका का सौन्दर्य-चित्रण करते समय अपनी कला-निपुणता का सुन्दर परिचय दिया है—

'ललना तन लावन्य लुनाई। मुक्ता फल जस पानिप झांई।
विनु भूषन भूषित अंग जोई। रूप अनूप कहावै सोई॥'[1]—उनकी नारी को अपने 'क्रूर-कुरूप' पति पर असन्तुष्ट होने पर उसकी सखी रस के प्रयोग द्वारा उसे सुखी करने का प्रयत्न करती है:—

'रसनि में जो उपपति रस आही। रस की अवधि कहत कवि ताही।
सो रस जो या कुंवरहिं होई। तौ हों निरखि जिऊं सुख सोई॥'

'कवि ने अपनी 'रूप-मंजरी' रचना में एक रूपवती नारी का लौकिक प्रेम परित्याग करके श्रीकृष्ण के प्रति अलौकिक प्रेम में लग जाने का वर्णन किया है। साथ ही राधा और रुक्मिणी की रूप माधुरी का भी आकर्षक चित्रण है। कथावस्तु की प्रमुख नायिका रूप-मंजरी का चरित्र चित्रण एकांगी है और दृश्य उद्दीपन के लिए हैं। नायिका के सौन्दर्य और विरहिणी के द्वादस मास का चित्रण भी सुन्दर है। कवि ने 'रस-मंजरी' में नायिकाओं के भेदोपभेदों का रस पूर्ण निरूपण किया है। उनका कथन है कि—'जब लग इनके भेद न जाने।
तब लग प्रेम तत्व न पहिचाने॥'१२॥—पंच मंजरी (जगदीश्वर छापा-खाना, मुंबई—सं० १६४५) नन्ददास

कवि ने विभिन्न नायिकाओं का जो चित्रण किया है वह सहज ही हृदयग्राही है। यहाँ हम उदाहरण के लिये केवल मुग्ध नवोढ़ा और अभिसारिका का उदाहरण देते हैं—

'जिहि तन नव यौवन अंकुरे, लाज अधिक तन मन संकुरे।
अली अधीन होय रति जाके भूषण रुचि तैसी नहीं ताके।
प्रीतम जब कर पंकज धरे, बलकर सेज निवेशित करे।
क्रीड़ा करि तब अंगन गहे तदपि सुतीय उर गमन्यो चहे,
तन कर भागे मनकर रमे कही न जात जस वे सन्धि समे,
जो पारद को कर थिर करे सो नवोढा वाला उर धरे
निपटहि लाज लपेटी लहिए सो तिय मुग्ध नवोढा कहिए'।
वही— ३१, ३७

---

१. नन्ददास-ग्रन्थावली-सम्पा०—ब्रजरत्नदास; पृ० १२४

अभिसारिका—'समय योग्य पट भूषण धरे, पिय अभिसार आप अनुसरे।
रूप अधिक बुद्धि अधिकाई, अधिक चोंपते अधिक सुहाई।
उठके चले पीय पें जोई, अभिसारिका कहावे सोई ॥'—
—वही, २४५-२४७

आपने 'विरह-मंजरी' में चार प्रकार के विरह-प्रत्यक्ष, पलकांतर, वनांतर देसांतर और शृङ्गार को प्रदीप्त करने के लिए उद्दीपन विभावों का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। राधा स्वकीया, रूपगर्विता और मानिनी है तथा सर्वथा शुद्ध प्रेम वाली गोपियों में मिलन की उत्कंठा और विरह की तीव्र वेदना है। नन्ददास की भ्रमर-गीत सम्बन्धी रचना का नाम 'भंवर गीत' है। इनके भंवर-गीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी गोपियों का बौद्धिक स्तर सूर की गोपियों से उच्च और श्रेष्ठ है। उनके तर्क सूक्ष्म तथा शास्त्रीय सिद्धान्त पर आधारित हैं। भावुकता और स्वाभिमान के साथ-साथ उनमें ईर्ष्या की भावना के भी दर्शन होते हैं। जब उद्धव योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का उपदेश देते हैं तब गोपियाँ तर्क करती हैं—

'जो मुख नाहिन हुतो कहो किन माखन खायो।
पांयन बिनु गो संग कहो बन-बन को धायो ॥'—गोपियों की इस नोंक-झोंक के बीच जब उन्हें कृष्ण का स्मरण हो जाता है तो वे तर्क शक्ति समाप्त कर कातर हो उठती है—

'ता पाछे इक बार ही रोई सकल व्रज नारि।
हा! करुणामय नाथ हो! केवल कृष्ण मुरारि, फाटि हियरो चल्यो।'

और इसके उपरान्त ही 'भंवर गीत' का भावात्मक स्थल प्रारम्भ होता है। जिसमें कृष्ण की कठोरता, निष्ठुरता के प्रति उपालम्भ और अपनी विवशता, दीनता और प्रेम का सागर उद्वेलित होने लगता है। इस 'भंवर गीत' में नन्ददास की गोपियाँ नागरिका, शिष्ट और तर्कशीला हैं वे ज्ञानमार्गियों को नास्तिक घोषित कर उन्हें प्रेम की गहनता से अपरिचित सिद्ध कर देती हैं।

'डॉ० रमेश कुमार खट्टर का यह कथन उचित ही है कि नन्ददास वास्तव में रूप और यौवन के कवि हैं। उनकी प्रतिभा अपरिमेय है और उनका काव्य रस का अक्षय स्रोत है, जिसमें अवगाहन करने वाला अमन्दानंद संदोह की अनुभूति करने लग जाता है। अष्टछाप के कवियों में सूर के अतिरिक्त कोई अन्य कवि उनमें शृंगार-वर्णन की समता नहीं कर सका है।[1] नन्ददास के खंडिता, अभिसारिका आदि

1. नंददास—डॉ० रमेशकुमार खट्टर; पृ० २८१

नायिकाओं और नखशिख वर्णन परिपाटी ग्रस्त हैं किन्तु नायिकाओं के नयनाभिराम चित्रों की झाँकी भी प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है।[1]

परमानन्ददास—कवि परमानन्ददास ने गोपी-विरह के पद अधिक लिखे हैं। उनके पद में बड़ी भावुकता है। उनकी गोपियाँ अपनी परिस्थिति एवं दशा का ही वर्णन करती हैं। के तर्क वितर्क न कर केवल विधाता को दोष देती हैं।

कुछ विद्वानों के मतानुसार आप सूरदास की टक्कर के कवि थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में श्री हरिरायजी ने कहा है कि 'वैष्णव तो अनेक श्री आचार्यजी के कृपापात्र हैं परन्तु सूरदास और परमानन्ददास ये दोऊ सागर भये। इन दोउन के कीर्तन की संख्या नाहीं सो दोऊ सागर कहलाये।' डॉ० सोमनाथ गुप्त के शब्दों में 'अभी तक तो सेहरा सूर के सिर है सम्भव है परमानन्दजी का काव्य संग्रह प्राप्त हो जाने पर विद्वानों को निर्णय करने में कुछ कठिनता हो'। जो कुछ भी हो सूर की भांति इन्होंने भी भगवान की बाल लीला का गान किया। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के कृपा-पात्र शिष्य थे। कृपा से ही उन्हें भगवत्साक्षार हुआ था।[2] ब्रज से उन्हें अत्यंत प्रेम था, यहीं उन्होंने अपने आराध्य देव की लीलाओं का गान किया। इनका प्रमुख संग्रह 'परमानन्द सागर' है यद्यपि इनके कुछ अन्य ग्रन्थ भी बतलाए जाते हैं जो अभी तक संदिग्धावस्था में है।

प्रमुखत: इनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं। प्रथम भगवल्लीला विषयक द्वितीय आत्मनिवेदनपरक पद। परमानन्द दास ने नवधा तथा प्रेमलक्षणा दोनों ही प्रकार की भक्ति का स्वरूप अंकित किया है। ब्रज गोपिकाएँ प्रेम लक्षणा भक्ति

---

१. 'गोकुल की पनिहारी पनियां भरन चली,
बड़े-बड़े नैंन तामें खुभि रह्यौ कजरा।
रहिरे कुसुम्भी सारी अंग-अंग छवि भारी,
गोरी-गोरी बाँहन में मोतिन के गजरा।
सखि संग लिये जात हँसि हँसि करत बात,
तनहू की सुधि भूलि सीस धरे गगरा।
'नंददास' बलिहारी, बीच मिले गिरधारी,
नैननि की सैननि में भूलि गई डगरा॥—पदावली; ८३

२. 'श्री वल्लभ रतन—जतन करि पायो।
परमानन्ददास को ठाकुर, नैनन प्रकट दिखायो।.—कविवर परमानन्ददास और वल्लभ संप्रदाय (डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल); पृ० १५

स्वरूपा है इसलिये परमानन्द वार-वार गोपीजनों पर वलिहारी जाते हैं। इनकी गोपियाँ तीन प्रकार की हैं—अन्यपूर्वा, अनन्यपूर्वा, सामान्या।

परमानन्द जी मुख्यतः प्रेम के कवि है इसी कारण सूर की भांति उन्हें शृंगार और वात्सल्य का रस सिद्ध कवि कहा जा सकता है। उनका काव्य प्रेम तत्व से परिपूर्ण है। प्रेम के विविध रूपों, अनुभावों एवं उनके मर्म और मार्मिक पक्षों के उद्‌घाटन में उनकी वृत्ति खूब रमी है। उन्होंने रसराज शृंगार के दोनों ही पक्षों का सफल चित्रण प्रस्तुत किया है।

शृंगार पक्ष—भक्त कवि परमानन्द ने प्रेम की संयोगावस्था के कई चित्रों को वड़ी ही सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। कृष्ण के अपार सौंदर्य पर गोपीजन मुग्ध हैं। तभी प्रेम पीर से पीड़ित उनकी गोपी कहती है—'जव ते प्रीति श्याम सों कीनी।' (पद—४१७) कवि परमानन्ददास के पदों में प्रेम की वहुरूपिणी अवस्थाओं के मनोरम चित्र अंकित हुए है तथा सूर की भांति भक्ति-रस, काव्यानन्द और दार्शनिक ज्ञान गरिमा—तीनों गुणों का समावेश है। गोपी रूप परमानन्द दास संयोग वियोग की ध्यानावस्था में गाते हैं—

हरि तेरी लीला की सुधि आवति।
कमल नैन की मोहिनी मूरत, मन-मन चित्र बनावति' ॥

यद्यपि परमानन्ददास का वर्ण्य विषय श्री कृष्ण की क्रीड़ाएँ हैं और इसी कारण आपने स्वरूप सौंदर्य, सुरतान्त, युगल-विलास, ऋतु विहार आदि का वर्णन किया है। तथापि आपने एक रसिक रसीली ग्वालिन की भावदशा का सुन्दर चित्रण इस प्रकार किया :—

'दधि मथत ग्वालि गरवीली।
झनक झुनक कर कंकन बाजें बांह डुलावत ढीली ॥
कृष्णदेव माखन मांगत हैं नाहिन देति हठीली।
भरे गुमान विलोकति ठाड़ी अपने रंग रंगीली।
हँसि वोले नंदलाल लाड़िले तू तो है रसिक रसीली।
'परमानंद' ग्वालिनि रस वौंधी सरवसु दियो है छवीली ॥

परमानन्द सागर—सम्पादक—गोस्वामी श्री व्रजभूषण शर्मा पद; १३६।

उनकी प्रेम व्यंजना अत्यन्त ही व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक है। लोक मर्यादा की चिंता से वह दवे नहीं हैं। हमें सभी प्रकार के प्रेम के रूप, सभी

प्रकार की नायिकाओं की अवस्था, सभी प्रकार के हार्दिक भाव परमानन्द की रचना में देखने को मिल जाते हैं। उनका प्रकृति-चित्रण भी अनूठा है।

वियोग पक्ष—परमानन्दजी ने सूर की भांति गोपियों के वियोग का विस्तृत वर्णन किया है। उनकी एक नायिका प्रियतम के विरह में उन्मादिनी-सी फिर रही है। उसका एक-एक क्षण एक एक युग की भाँति वीत रहा है और उसके विरह की ज्वाला तीव्रतम होकर अंग-अंग को जलाये जा रही है—

भए हैं पहार से दिनां
निघटत नाहिन सुनि री, सजनी, मदनगोपाल विनाँ'।[1]

उनकी एक अन्य गोपिका भी कमल दल नयन की याद कर करके दुखी हो रही है—

'सुधि करति कमल दल-नैन की
भरि भरि लेति नीर अति आतुर रति वृन्दावन चैन की॥'
....
'परमानन्द' प्रभु सों क्यों जीवहिं जो पोषी मृदु बैन की॥[2]

कवि ने श्रीमद्भागवत की गोपियों की प्रेम लक्षणा-भक्ति को ही अपना आदर्श माना है। कहा जाता है कि परमानन्ददास के विरह के एक पद को सुनकर स्वयं महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य तीन दिन तक ध्यानावस्थित रहे थे। निःसन्देह कवि की रचनाओं में राधाकृष्ण की युगल लीला तथा गोपियों की रूपासक्ति और विरहावस्था की वड़ी ही हृदय स्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है।

कुंभनदास—अष्टछाप के कवियों में महाप्रभु जी की दीक्षा सवसे पहले कुंभन दास को ही मिली थी। ये गोवर्धन पर्वत के निकट ही एक गाँव के निवासी ठेठ व्रजवासी किसान थे। जीवन-भर अर्थ-संकट में रहते हुए भी उनके मन में अपार त्याग, परम सन्तोष और पूर्ण स्वावलंवन का भाव था। उन्होंने राजा मानसिंह की सोने की आरसी, हजार मोहरों की थैली और जमुनावती गाँव की माफी को अस्वीकार कर दिया था, 'भवतन को कहा सीकरी सों काम' वाला इतिहास प्रसिद्ध पद इन्हीं का है। उन्हें निकुंजलीला का इष्ट था और मरते समय उनका मन 'लाल' की उसी चितवन में अटका हुआ था जो गोपियों के चित चुराती है तथा उनके अन्तःकरण में 'कनक वेलि वृषभानु नंदिनी स्याम तमाल चढ़ी' की मूर्ति समाई हुई थी'।[3]

१. परमानन्द सागर—पद; १०१७
२. वही; पद—८८३
३. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड)—डा० धीरेन्द्र वर्मा—पृ० ३८७

उनकी एक गोपिका रसिकनी राधा का चित्रण कर रही है—

'रस में रहत गड़ी हो रसिकनी।
कनक वेल वृषभान नन्दिनी श्याम तमाल चढ़ी।
विहरत संग लाल गिरधर के कौन भाँत पढ़ी।
'कुंभनदास' लाल गिरधर संग रति-रस केलि वढ़ीं॥'[1]

कृष्ण का उपासक सदैव अपने प्रिय के सौन्दर्य और उनकी मुस्कान के माधुर्य का ही पान करना चाहता है, उसे गिरधरलाल के सिवा कोई और नहीं भाता—

'अरुझि रह्यौ मोहन सों मन मेरो।
छूटत नेकु न छुड़ायो सजनी ! चहुँ दिशि प्रेम रह्यौ करि घेरो।
नख सिख अंग रंगीली वानिक मुसकनि मन्द महा रस झेरो।
'कुंभनदास' लाल गिरधर विनु भावत नाहिन कोउ अनेरो॥'
—कुंभनदास पद संग्रहः ८६

कृष्णदास—अष्टछाप के ये भक्त कवि श्री आचार्यजी के बड़े कृपापात्र होने के कारण श्रीनाथजी के मन्दिर के प्रमुख मुखिया वना दिए गये थे। व्यवहार कुशलता तथा सिद्धान्त-प्रियता के साथ-साथ कृष्णदास में कवित्व गुण और सैद्धान्तिक ज्ञान भी कम न था। कविता में वे सूरदास से होड़ करते थे और पुष्टिमार्गीय-सिद्धान्तों के लिये वड़े-वड़े भक्त उनके उपदेश सुनने के इच्छुक रहा करते थे।'[2]

इन्होंने भी अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की भांति राधा-कृष्ण प्रेम सम्बन्धी शृंगार रस की रचनाएँ की हैं। 'जुगलमान' चरित्र नामक इनका एक छोटा-सा ग्रन्थ मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके वनाए दो ग्रन्थ और कहे जाते हैं—भ्रमरगीत और प्रेमतत्व निरूपण। इनके फूटकर पद यत्र-तत्र विखरे पड़े हैं।[3] इनकी कविता का एक उदाहरण—

'कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नन्द सुवन के संगम सुखकर अधिक विराजित गोपी।
मनहुँ विधाता गिरिधर पिय हित सुरत धुजा सुख रोपी।
वदन काँति कै सुनुरी भामिनी ! सघन चंद-श्री लोपी।

---

१. पुष्टिमार्गीय पद संग्रह (भाग ३) सं० १६४४—पृ० २१५
२. हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० ३८७
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० १७६

प्राननाथ के चित चोरन को, भौंह भुजंगम कोपी।
कृष्णदास स्वामी वस कीन्है प्रेम कुंज की चोपी॥'[1]

गोविन्द स्वामी—इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्होंने विट्ठलनाथजी के देहावसान का दुखद समाचार सुनकर गोवर्धन की कन्दरा में प्रवेश कर अपना शरीर त्याग दिया था। ये वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही कवीश्वर कहलाते थे एवं बड़े सुन्दर पद बनाकर गाया करते थे। इनकी सगीत-निपुणता इस बात से सिद्ध होती है कि प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इनसे संगीत सीखने आते थे। यह भी कहा जाता है कि अकबर सम्राट भी इनकी गान-विद्या से अत्यधिक प्रभावित होकर इनका गान श्रवण करने आया करता था यद्यपि वेष बदलकर। इन्होंने भी संयोग-वियोग शृंगार तथा तथा नायिका भेद का वर्णन किया है।

संयोग शृंगार—

'छाक लें चली प्रानपति पास।
कुच भुज फरकि पुलक तन आतुर प्रिय मिलवे की आस।
मटुकी सीस काँधे दधि ओदन झोरी फल रसरास।
पहुँची जाइ सघन वन सुन्दरि गह्वर अति सुखवास।
वल कों पठै सखा प्रति टेरन आपुन भेंटो तास।
इह छवि निरखत सकुच ओट ह्वै वलि-वलि गोविन्ददास॥'—पद; २८६

सम्पूर्ण रस-सामग्री के साथ संयोग शृंगार के निरूपण का यह सुन्दर पद है। इसमें दिवाभिसारिका नायिका व्रज सुन्दरी, आलम्बन श्रीकृष्ण, स्थायीभाव रति (पिय मिलन की कामना) कुच-भुजाओं का स्फुरण, पुलक आदि अनुभाव, आतुरता, संयोग की आशा संचारी भाव और वन-सुखवास, गह्वर आदि उद्दीपन विभाव हैं।

सुन्दरी राधा का मुख-सौन्दर्य चित्रण—

'घूँघट में मोहन मुख जोवै।
चंद वदनी मृगलोचनी राधे-मानो मोतिन की लर पोवै।
आधो वदन दुराइ छवीली गिरिधर को मन मोहै।
ज्यों ससि विम्ब बादर तें निकस्यों छिनु ढाप्या घन सोहै॥'
निरखि गोपाल थकित भए ठाड़े यह चतुर अति कोहै।
'गोविन्द' प्रभु दोहिनी भूले भों मटकी कर दोहै।'—पद; ४७०

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० ११७

वियोग शृंगार—स्वप्न-मिलन के अनन्तर विरह की तीव्र व्यंजना—

'सुपन में सगरी रैनि गई।
भोर भये वनचर सुनि जागत ही पीर भई।
जल बिनु मीन चकोर चंद बिन तलफत निज मनही।
एहि दुख कहौं कौन-सो सजनी जातुन मोपैं सही।
जब सुधि होत नंदनंदन की बिरहा अनल दही।
'गोविन्द' प्रभु मिलें सुख उपजै जात न काहू कही॥'—पद २६३

नायिका-भेद—रस-केलि के प्रसंग में मुग्धा-नायिका का चित्रण—

'दिन दिन होत कंचुकी गाढ़ी।
सजल स्याम घन रति रस बरसत जोवन सरिता बाढ़ी।
अति भयभीत उरोज भुजन मोहन मूरति चाढ़ी।
'गोविन्द' प्रभु मिलिबे के कारण निकसि करारे ठाढ़ी॥'—पद ४०५

चतुर्भुजदास—डा० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है कि चतुर्भुजदास अपने पिता कुंभनदास की भाँति गृहस्थ-जीवन विताते हुए श्रीनाथजी की सेवा में संलग्न रहते थे। भक्ति और कविता दोनों उन्हें उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थीं तथा जन्म के समय ही उन्हें सम्प्रदाय प्रवेश का सौभाग्य मिल गया था। इनके रचित कई फुटकर पद और तीन ग्रन्थ-द्वादशयश, भक्ति-प्रताप और 'हितजू को मंगल' प्राप्त हुए हैं।

वात्सल्य रस—

'जसोदा कहा कहौं हौं बात ?
तुम्हारे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात।

....

'जसोमति ढूंढ़ति है गौपालैं।
कहुँ देख्यौ मेरौ अलक लड़ैतो खेलत हो संग बाले।'

....

'चूमति नैन, सीस, मुख, ठोड़ी अरु चूमत दोऊ गालै।
निज-गृह आनि करी न्योछावरि तन, मन, धन इहि कालै।
'चतुर्भुज' प्रभु कों खेलन जानै ज्यों आवत गिरधर लालै।'—पद; २६१

उद्धव-सन्देश—

'ऊधौ जू कहत न कछू बनै।
हरि-बिछुरें हू कठिन विरह के सहति बान जितनै।

....

'चत्रुभुज' प्रभु गिरधरन बिना वैभव सब सपनै॥'—पद; ३४८

मान—

'नागरि ! छाँड़ि दै चतुराई ।
अंतर गति की प्रीति परस्पर नाहिंन दुरति दुराई ।
....
'चत्रुभुज प्रभु गिरधर गुन-सागर सेननि भली पढ़ाई ।।'–पद; २६२

छीत स्वामी—ये मथुरा के चौबे थे । कहा जाता है कि प्रारम्भिक जीवन में ये बड़े ही कुटिल और लंपट थे किन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथजी के संसर्ग तथा श्रीनाथजी की सेवा प्राप्त होने पर ये भले व्यक्ति बने । ये भी गोविन्द स्वामी की तरह अच्छे संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे । इनके फुटकर पदों में श्रृंगार वर्णन के अतिरिक्त व्रजभूमि प्रेम की भावना भी व्यक्त हुई है । 'हे विधना तो सों अंचरा पसारि माँगौं, जनम-जनम दीजो याही व्रज वसिवो' पद इन्हीं के द्वारा रचा गया था । इनका व्रजविहार और रासलीला वर्णन बड़ा ही आकर्षक बन पड़ा है ।

वात्सल्य भाव—

'भोर भए नवकुंज सदन तें आवत लाल गोवर्धनधारी ।
लट पर पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी ।।
बिनु-गुन माल बिराजित, नखछत द्वैजचंद अनुहारी ।
'छीतस्वामि' जब चितए मो तन, तब हौं निरखि गई बलिहारी ।।'

रूपसुधा में छकी एक गोपी की प्रीति-भावना—

'मुरली सुनत गई सुधि मेरी ।
....
गिरधरलाल के रंग राँची ।
तन सुधि भूलि गई मोकों अब कहति हों तोसो साँची ।
मारग जात मिले मोंहि मो तन मुरि मुसिकाने ।
मन हरि लियौ नंद के नंदन चितवनि माँझि बिकाने ।
जा दिन ते मेरी दृष्टि परे सखि तब तें रह्यौ न जावै ।
ऐसो है कोउ हितू हमारौ, 'छीत' स्वामी सों मिलावै ।।'—पद; १००
....
'मेरे नैननि इहै बानि परी ।
गिरधरलाल मुखारविन्द छवि छिनु छिनु पीवत खरी ।।'–पद; ६७

श्रृंगार वर्णन—'राधा निसि हरि के संग जागी ।
जमुना-पुलिन सघन कुंजनि में पिय अंग-अंग मिलि के अनुरागी ।

कुटिल अलक वगरी जु वदन पर दोउ कपोल पीकन सौं पागी।
'छीत' स्वामिनी उमगि उमगि कै गिरिधर लाल उरनि सों लागी।'
पद; १६५

खंडिता-नायिका--'साँचे भए आए परभात।
नंदनंदन ! रजनी कहाँ जागे ? कहिये साँवल गात।'--पद; १७३

'अष्टछाप' के इन आठ भक्तों, कीर्तनकारों एवं कवियों की कृष्ण-सम्बन्धी रचनाओं के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति, साहित्य के प्रणेताओं में सर्वश्री हित हरिवंश गोस्वामी, हरिराम व्यास, श्री दामोदरदास 'सेवक', हरिदास स्वामी, ध्रुवदास, गदाधर भट्ट, श्री भट्ट, सूरदास मदनमोहन, प्रभृति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यदि हम सन्त साहित्य के उपदेशक-कवियों की रचनाओं-उक्तियों पर विचार करें तो सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि प्रेममार्गीय निर्गुण-उपासना के कवियों की अटपटीवाणी माधुर्य-भाव-प्रधान मानव-हृदय को अधिक परितुष्ट नहीं कर पाई थी। सन्त-कवियों की वाणी तथा सूफी भक्त-कवियों के उपदेशों में भी लोक-संग्रह की भावना का बड़ा अभाव था। इसी कारण सगुणोपासक सन्त परम्परा के कवियों ने निराश भारतीय जनता को विशेष सान्त्वना प्रदान कर उनके सम्मुख भौतिक कल्याण और आध्यात्मवाद का एक ऐसा रूप उपस्थित किया जिसकी ओर सब आकर्षित हुए।

अष्टछाप के सभी कवियों का वर्ण्य विषय भगवच्चरित्र अथवा भागवतीय लीलाएँ रही हैं। इनमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा गमन और भ्रमर-गीत तक की वाल पौगण्ड और किशोर लीलाओं का समावेश है। व्रज के नन्दालय, गोष्ठ और निकुंज के वातावरण में विलासित और वात्सल्य, सख्य और शृंगार रस की परिसीमाओं में विवर्द्धित नित-नूतन-रस केलियों में ही उनका मन अधिक रमा है।[1] सभी कवियों ने गोपीकृष्ण के संयोग सुख की विविध लीलाओं के चित्रण के साथ वियोग का चित्रण भी आकर्षक ढंग से किया है। कृष्ण-गोपिकाओं के रास, उनकी हिंडोल क्रीड़ा, वसंतागमन, राधा का मान, खंडिताकी मनोदशा तथा विरहणी नायिका की विभिन्न मानसिक और शारीरिक दशाओं की अभिव्यक्ति सभी अष्टछापी भक्तों ने पूर्ण तन्मयता से की है।[2] इन भक्त-कवियों ने आत्मानन्द में लीन होकर जो भावपूर्ण रचना की है वह निःसन्देह उनका भक्ति-साहित्य के विकास में प्रशंसनीय योगदान है और उनकी रसपूर्णवाणी व्रजभाषा-काव्य की गौरवपूर्ण निधि है।

---

१. परमानन्द सागर की भूमिका में—गोस्वामी श्री वृजभूषण जी महाराज—पृ० ४
२. नन्ददास—डॉ० रमेशकुमार खट्टर; पृ० २८०

इन कवियों के काव्य में शृंगार के आलम्बन, आश्रय, अनुभाव, चेष्टायें, स्थितियाँ बहुत कुछ विद्यापति से ही ग्रहण की गई हैं। प्रथम दर्शन के पश्चात् ही नायक-नायिका में प्रेम तथा पूर्वानुराग जाग्रत होता है। दोनों काम-वेदना से छटपटाते हैं। दूती नायिका को अभिसार के लिए प्रेरित करती है। नायिका अभिसार करती है। कुंज-भवन में विलास-क्रीड़ाएँ होती हैं।[१] इसी प्रसंग में कतिपय नायिकाओं तथा गोप-सुन्दरियों के अंग-सौन्दर्य (नख-शिख सौन्दर्य) का भी इन कवियों द्वारा मनोहारी चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

इसके अतिरिक्त इन अष्टछापी कवियों ने राधा-सौन्दर्य, रासलीला, केलि-क्रीड़ा, मान, वियोग आदि प्रसंगों का वर्णन करते समय बालिकाओं के वस्त्र (ओढ़नी, चुनरिया, फरिया आदि), महिलाओं के वस्त्र (लहँगा, सारी, दुपटिया, कंचुकी, अंगिया आदि), नारी-शृंगार साधन (उबटन, केश-विन्यास, चोटी, कबरी, वेनी, माँग, मेंहदी, महावर, अंजन, पान, बिन्दी, सुगन्धित पदार्थ, दर्पण आदि), आभूषणों (कंचन, मोती मणि, लाल तथा शीश, माथे, कान, नाक, गले, बाहु, कलाई, कमर, पैर के नाना प्रकार के अलंकारों) स्त्रियों के दैनिक कार्यों, संस्कारों (जन्मोत्सव, सगाई, विवाह आदि) त्यौहारों (भाई-दूज, होली. दीप-मालिका आदि) एवम् पारिवारिक जीवन के सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं।

सन्त-शिरोमणि मीरांबाई— अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने भी अपनी नारी भावना को अत्यन्त आकर्षण ढंग से व्यक्त किया है। इन अन्य कवियों में यदि नारी-भावना का सर्वाधिक प्रस्फुटित रूप कहीं मिलता है तो वह मीरा की भक्ति में। उन्होंने स्वतन्त्र वन-विहगी की भांति ही अपने प्रियतम का गान गाया है। मीरांबाई के नाम से जितने गीत प्रचलित हैं उनमें राधा का उल्लेख बहुत कम है। दो एक पदों में राधा का उल्लेख मिलता है। मीरां स्वयं ही राधा के स्थान पर अधिकार किये हुए हैं। राधा की भाँति ही मीरा ने प्रेम साधन की है।[२] मीराँ का यह प्रेम मूलत: स्वकीया का है जो पूर्ण राग, मिलन और विरह से समन्वित है।

मीरां ने अपनी आराधना में 'तुम हो पुरुष हम नारी' कहा है। यह पुरुष अनादि शाश्वत पुरुष और नारी तत्व ही विषय एवं आश्रय हैं। जो कृष्ण को प्रेम करते हैं वे प्रेम के आश्रय और स्वयं कृष्ण प्रेम के विषय हैं। ये आश्रय ही भोग्य हैं, सेवक हैं, नारी तत्व हैं। प्रश्न हो सकता है कि यदि प्रेम करने से ही नारी बना जा

१. विद्यापति—डॉ० जयनाथ 'नलिन'; पृ० ५०
२. श्रीराधा का क्रम विकास—श्रीशशिभूषणदास गुप्त; पृ० २८०; २८१

सकता है तो कृष्ण भी तो हमारी ठकुरानी को प्रेम करते हैं अतएव नारी हैं और ठकुरानी प्रेम का विषय होकर पुरुष हैं। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि राधा और कान्हा में कौन पुरुष है और कौन नारी, यह कहना बड़ा कठिन है। राधा और उनका परिणय समग्र ब्रजभूमि, कृष्ण प्रीति का आश्रय होने के कारण नारी हैं और ब्रज को प्रेम करके ब्रज प्रीति का आश्रय होने के कारण कृष्ण भी नारी हैं। इसी कारण 'राधामय कान्ह राधा मोहनमयी भयी' की कल्पना की गई है।

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'—गीत की अमर गायिका मीरां एक सहृदय कृष्ण-भक्त है। उन्हें किसी सम्प्रदाय सिद्धान्त से कोई मतलब नहीं। उन्हें तो अपने 'गिरधर नागर' की अनुरक्ति से मतलब है। वह चाहे 'सुरति दिवला' के सजोने से आवे, चाहे गोपी बनकर रास रचाने से आवे उन्हें उनके गिरधर गोपाल की भक्ति चाहिए। भक्ति की पराकाष्ठा स्त्री के ही हृदय में मिलेगी, पुरुष के नहीं। उतना समर्पण वही कर सकती है। इसी से मीरां के पद सूर के पदों से भी अधिक दिव्य और अंतर्यामी हैं।[१] अन्तःकरण से निकले वे गीत देश-काल की सभी सीमाओं का उल्लंघन कर आज सैकड़ों वर्षों के उपरान्त भी इतने जनप्रिय हैं।

मीरां की भक्ति में नारी के सहज-प्रेम की तन्मय अवस्था का वर्णन हुआ है। उनकी भक्ति कान्त भाव की थी। स्वयं को राधा मानकर वे कृष्ण को कान्त मानती थीं।—**'मैं हरि बिन कैसे, जीऊँ री माय'**

'हमरो प्रणाम बाँके बिहारी को'—

'माई री मैं तो गोविन्द लीनों मोल'

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई'—आदि पद। वे तो कृष्ण की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता मानती थीं। अन्य भक्तों ने तो कृष्ण के साथ राधा का वर्णन किया है किन्तु मीरां के लिए यह आवश्यक नहीं था। मीरां इसे नहीं कर सकती थीं। कारण, राधा का आरोह उन्होंने अपने ऊपर लिया था, इसीलिए कृष्ण के नख-शिख का वर्णन तो उनके पदों में है पर राधा का नहीं।[२]

चूंकि मीरां की भक्ति कान्त भाव की थी और कृष्ण को वे अपना पति मानकर उनकी आराधना करती थीं अतः स्पष्ट है कि उस भक्ति के चित्रण में शृङ्गारिकता अधिक आजायेगी। किन्तु ध्यान देने की बात है कि गिरधर नागर क्या कोई

---

१ 'मीरां स्मृति ग्रन्थ'—प्रो० शिवाधार पाण्डेय; पृ० २३

२. 'मीरां स्मृति ग्रंथ'—गेय पद परम्परा में 'मीर की देन—प्रो० कमलादेवी गर्ग; पृ० १७६

सांसारिक पुरुष थे जिन्हें लेकर ऐसी बातें कही गई हैं। यह तो केवल मूर्ति मात्र है जिसमें भक्त अपने इष्टदेव का आरोप करके उसके सम्मुख भजन कर रहा है। आक्षेप-कर्ताओं ने यह भी न सोचा कि मीरांबाई अपने प्रिय श्री गिरधर की वित्त भर की पलंगड़ी पर किस तरह जा पौढ़ेंगी। यह तो मिलन की भावना मात्र है। भक्ति मार्ग में शारीरिक सम्बन्ध का तो कोई ध्यान ही नहीं होता वह तो अभेद भावना से आत्मा का समर्पण मात्र होता है। पति-पत्नी भाव इस अभेद मिलन के लिए सर्वश्रेष्ठ होता है। उसी की चरम परिणति मीरा की भक्ति में है।[1]

मीरां के सभी पद एक प्रकार से कृष्ण-प्राण गोपी के उद्‌गारों की भाँति जान पड़ते हैं क्योंकि उनमें रूपासक्ति, आत्म निवेदनासक्ति और विरहासक्ति पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

जहाँ मीरां अपने आराध्य से 'सुरति-निरत' के सहारे मिलना चाहती है वहाँ उनकी भावना कबीर की निर्गुण-भावना से मेल खा जाती है। 'जाको नाम निरंजन कहिए ताको ध्यान करूँगी मैं'। उनका पिया कबीर के राम की तरह 'मीरा पिया मोहि मांहि बसत है ना कहुँ आती न जाती।' वह ऊँची अटरिया लाल किवड़िया में निर्गुण सेज बिछाकर सुरति निरति का दिवला सजोकर तथा मनसा की बाती कर अपने लाल की बाट जोहती है। इतना ही नहीं, 'बिन करताल पखावज बाजे, अनहद की झनकार रे' भी उन्हें कबीर और अन्य निर्गुनिए सन्तों की तरह सुनाई पड़ती है। इस प्रकार प्रेम की यह पुतली गिरधर की प्यासी होते हुए भी तत्वतः अलख निरंजन की प्रेमिका है।[2]

मीरां माधुर्य-भाव की भक्ति भावना के चरम विकास पर पहुँच कर स्वयं प्रेम की पुतली बनकर अवतरित होती हैं और अपनी पावन स्वर-लहरी से संसार का शोक-ताप हरती हुई अनन्त में विलीन हो जाती हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो जीव और ब्रह्म में जो प्रकट और प्रत्यक्ष भिन्नता दिखलाई पड़ती है वह माया के कारण है। भागवत पुराण में इस आवरण विरहित ब्रह्म को कवित्व की भाषा में पुरुष की और माया के आवरण में आच्छादित जीव को लज्जा के आवरण में रहनेवाली नारी की संज्ञा दी गई है। 'ब्रह्म पुरुष है जीव नारी है।'[3] मीरां की नारी भावना या उनके नारी-चित्रण को समझने में हमें उपर्युक्त आध्यात्मिक तत्व को भी ध्यान में रखना पड़ेगा।

---

१. 'मीरा-माधुरी—श्री ब्रजरत्न दास; पृ० १२०

२. निर्गुण काव्य-दर्शन—श्री सिद्धिनाथ तिवारी; पृ० ७८

३. मीरांबाई (द्वितीय संस्करण)—डॉ० श्री कृष्णलाल; पृ० १०६

राजस्थान की अमर कवयित्री मीरां के काव्य में नारी का जितना सुन्दर और उचित चित्रण हो सका है उतना कृष्ण-काव्य में अन्यत्र नहीं मिलता। इसका एक कारण मीरां का स्वयं नारी होना है। नारी होकर वे विशिष्ट मनोदशाओं मे अधिक उचित रूप में नारी को प्रस्तुत कर सकती हैं अपेक्षाकृत पुरुष के जो मात्र कल्पना से नारी का दिग्दर्शन कराती है। मीरां को अपने नारीत्व का पूर्ण ज्ञान है और अपनी लज्जा के आवरण के प्रति मोह है। आवरण विरहित ब्रह्म की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए भी वे अपना आवरण नहीं छोड़ना चाहती। इसलिए 'झट द्यो मेरौ चीर मोरारी झट द्यो मेरौ चीर' और इसी पद में आगे वे कहती हैं 'जल से न्यारी कान्हा कामुवे न होऊँगी, तुम हो पुरुष हम नारी।' आवरण विरहित ब्रह्म रूपी पुरुष की जीत अवश्य हुई और माया के आवरण से अच्छादित जीव रूपी नारी राधा ने हार मान ली किन्तु उस जीवका कितना विश्वास है, साथ ही उससे अलग होंने में कितनी लज्जा है।'लज्जा मोहि आवत भारी' और यही नारीत्व की लज्जाशीलता की चरम सीमा है।

अन्य कवियों ने जीव और ब्रह्म को लेकर नारी भावना पर अपनी लेखनी चलाई है किन्तु उन्होंने नारी जीवन की पवित्रता और महानता का चित्र उपस्थित नहीं किया, सर्वत्र उच्छृङ्खल नारी प्रकृति का ही चित्र प्रस्तुत किया है। उन कवियों में लगभग सभी के सभी पुरुष थे, इसी कारण सम्भवतः वे नारी जीवन की पवित्र मर्यादा का निर्वाह नहीं कर पाये। मीरां ने उस परम्परा की अवहेलना कर नारी-जीवन की जो मर्यादा स्थापित की और भारतीय नारी का जो समर्पित रूप अपने गीतों में प्रस्तुत किया है वह भारतीय साहित्य में अद्वितीय है। वह अपने पुरुष से 'म्हाने चाकर राखो जी' की प्रार्थना करती है और उसके उद्यान में मालिन वनने की सोचती है जहाँ वह 'चाकर रहसूं वाग लगासूं नित उठि दरसन पासूं' की दृष्टि से एक साथ कितने ही लाभ पाने की कल्पना करती है।[1]

नारी का पुरुष के प्रति जो एक स्वाभाविक आकर्षण है वह केवल आकर्षण मात्र है, उसमें किसी प्रकार की काम वासना का अंश भी नहीं। इसी स्वच्छन्द और पवित्र नारी-भावना से मीरा अपने वंसी वजैया, रास रचैया गिरधर-नागर का दर्शन करना चाहती हैं। मीराँ की पवित्र चाकरी से प्रभावित होकर ही संभवतः कवीन्द्र ने भी अपनी अधिष्ठात्री देवी की चाकरी में माली होने की वात लिखी है।[2] अन्तर इतना है कि रवीन्द्र अपनी अधिष्ठात्री देवी के माली होना चाहते हैं और मीरां अपने गिरधर नागर की मालिकन। अन्य कवियों ने भी जीवात्मा को नारी का रूपक

---

१. मीरांवाई की पदावली—पद सं०; १५४
2. Gardener—The first song—Dr. R. Tagore

प्रदान किया है किन्तु उन्होंने जीवात्मा को नारी स्वीकार नहीं किया, कारण यह कि वे नारी के प्रति श्रद्धा और विश्वास नहीं रहते थे। तुलसी ने नारी को 'कामिहि पियारी' माना है। 'कामिनि नारि पियारि जिमि' कहकर उन्होंने राम के प्रति अपनी आसक्ति की तुलना की है किन्तु वे स्वयं कामी पुरुषों की नारी-आसक्ति को घृणा की दृष्टि से देखते थे। यदि हम सन्त कबीर की वाणी पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने जीवात्मा को नारी का रूपक देकर उसे 'राम की बहुरिया' चित्रित किया है किन्तु समस्त नारी-जाति के प्रति उदार न होने के कारण वे उसे नारी मान नहीं सके। उन कवियों में नारी जीवन के अवला पक्ष का ही सर्वत्र दर्शन किया। उन्हें नारी में असमर्थता, अशौच, अज्ञानता और वाह्य कोमलता आदि नारी के निर्बल पक्ष के ही दर्शन हुए। नारी में विश्वास, निश्चल प्रेम, करुणा, क्षमा, धैर्य कष्ट सहिष्णुता के दर्शनों के लिये वे आँखें मूंदे रहे। 'कामायनी की श्रद्धा' 'अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मैं सबसे हारी हूँ' कहकर स्वयं कह देती है कि 'मैं आज समझ तो पाई हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ'। भक्त-काल के सन्त कवियों ने नारी की दुर्बलताओं पर ही दृष्टि केन्द्रित रखी है। 'कनक और कामिनी दुर्गम भारी दोय' कहकर उसे मूर्ख ही माना है—

> **प्रिय तेरें चतुर, मूरख तू नारी**
> **कबहुं न पिय की सेज सवारी।'**

नारी में अशुचिता का आरोप करके वे जीवात्मा से 'मोरी-चुनरी में परि गयो दाग पिया' कहला देते हैं किन्तु मीरां की नारीत्व पर श्रद्धा है और है उस पर अटूट विश्वास। उन्होंने नारी का अटल प्रेम, विश्वास, दृढ़ता, सहनशीलता और त्याग देखा है। विरह में लज्जा को तिलांजलि देकर वह पिया के ऊंचे महल की ओर जाने, अभिसार के लिये प्रवृत होने की बात नहीं उठाती वरन् अपनी निश्चल भक्ति, सहिष्णुता और त्याग से उसे अपने पास खींचने का प्रयत्न करती है। 'उसके नैन दरस विन दूखन लागे' किन्तु इस कष्ट सहिष्णुता में एक नारी का त्याग है जो बड़ा ही व्यथापूर्ण है। यहाँ हमें आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा के दर्शन होते हैं।

> **'विरह कथा कांसू कहूं सजनी बह गई करवत ऐना,**
> **कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।'**

और अन्त में वह कहती है तुम्हारे कारण सब सुख छांड्या, अब मोहि क्यों तरसावो हो, एक नारी-हृदय की वास्तविक पीड़ा और विरह कथन की सहजता इस पंक्ति में समा गई है। वियोगिनी मीरां को अपने प्रिय के अभाव में

संसार की कोई भी वस्तु प्रिय नहीं लगती। दिनों की गिनती करते-करते उसकी अँगुलियों की रेखाएँ तक घिस गईं और काँपते हाथों से पत्र भी नहीं लिखा जाता। मीराँ का यह विरह हमें वरवस जायसी की नागमती और 'संदेश-रासक' की नायिका का स्मरण दिलाता है।

मीराँ ने पुरुष और नारी के वीच जो पवित्र और मर्यादापूर्ण प्रेम का बन्धन है उसी प्रेम के बंधन को अपने 'गिरधर-नागर' के साथ स्थापित किया है। उनकी सरल-हृदया नारी के प्रेम और विरह में जो सहज पवित्रता है, जो सरल गम्भीरता है, जो सौन्दर्य है वह समस्त हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। उनका निम्नाँकित पद एक सरल-हृदय नारी का प्रेम उसकी विरह व्यथा स्पष्ट करने के लिए स्पष्ट होगा—

'मैं जाण्यों नहीं, प्रभु को मिलन कैसे होइरी।
आए मेरे सजना, फिरि गए अंगना मैं अभागण रही सोयरी।
फारूंगी चीर, करूं गल कंथा, रहूंगी वैरागण होइरी।
चुरिया फोरूं, मांग विखेरूं, कजरी में डारूं धोइ री।
निसि-वासर मोहि विरह सतावे, कल न परत पल मोहरी।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, मिलि विछरो मत कोइरी॥'[1]

सरल हृदय से निकली हुई मीराँ की इस सहज वेदना में उनके प्रेम की स्वच्छन्दता, पवित्रता और गम्भीरता अद्वितीय है। मीराँ की ऐसी स्वच्छंद, पर पवित्र और गम्भीरता से ओत-प्रोत नारी कृष्ण-काव्य के कवियों की परम्परागत नारी से सर्वथा भिन्न है।

आधुनिक युग की मीराँ श्रीमती महादेवी वर्मा का कथन है कि 'मीराँ के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उसके वाह्य राज-रानी पन और आन्तरिक साधना में संयम के लिये पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूत थी। अतः उसका 'हेली मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोय'—सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की वात नहीं।'[2] वास्तव में मीरां का प्रणय-भाव आध्यात्मिक होते हुए भी लौकिक दृष्टि से स्वाभाविक और सहज है। 'नारीत्व के प्राणों में मचलती हुई आत्म-समर्पण की चिरन्तन दुर्दम्य कामना ही मीरां के प्रणय का मूल उत्स है। दुनियाँ की आँख वचाकर भी और पुरुष के हृदय का जो शाश्वत गूढ़ भाव मानव के समस्त

---

१. 'मीराँ–पदावली'—पद; ४८
२. 'यामा' की भूमिका में—श्रीमती महादेवी वर्मा; पृ० ७

जीवन को परिचालित कर रहा है, वही भव्य बनकर मीराँ की कामना में बसा हुआ है। मीराँ का भाव चिरंतन नारी का भाव है। उसका नारीत्व विलास के पथ का चंचल पथिक नहीं है।'[1]

अन्त में हम तो डॉ० मिश्र के स्वर में स्वर मिलाकर यही कहेंगे कि 'हिन्दी साहित्य क्या, विश्व के किसी भी साहित्य में सर्वस्व आत्मसमर्पण का वह दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य जो मीराँ के गीतों में व्यक्त हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। गीतों में उसके हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। उसका दर्द दिवाना दिल उसके भीतर से स्पष्टतः उन गीतों में लिपटा हुआ प्रतिबिम्बित हो रहा है।'[2]

चन्द्रसखी—जिस प्रकार मीरां ने अत्यन्त तन्मयता और माधुर्य वृत्ति के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के अध्यात्म रूप को लौकिक माधुर्य के साथ समन्वित करके भक्ति का अत्यन्त मनोहर एवम् भव्य स्वरूप उपस्थित किया और अपने मधुर आत्मलीनतापूर्ण गीतों से सहस्त्र कण्ठों को निरन्तर तृप्त करती आई है, उसी प्रकार चन्द्रसखी ने भी उसी निष्ठा और भावना में रसमग्न होकर उसी भावुकता को पल्लवित करके जो काव्य में प्रेमोद्रेक किया है वह आज भी सम्पूर्ण व्रज-मण्डल, राजस्थान तथा उसके आस पास के प्रदेशों के लोक-कण्ठों में अभी तक अपनी नैसर्गिक मधुरिमा के साथ गूंजता चला आ रहा है।[3] देश के अनेक भागों में चन्द्रसखी का नाम और उनकी रचनाएँ उतनी ही लोकप्रिय हैं जितने कबीर, तुलसी, सूर और मीराँ के पद। विशेषकर इन क्षेत्रों की महिलाआएँ जो गीत और भजन गाती हैं उनका अन्तिम पद 'चन्द्रसखी भज बाल कृष्ण छवि' इस शब्दावली से प्रारम्भ होता है। राजस्थानी, व्रज, बुन्देली, मालवी, निमाड़ी आदि बोलियों में चन्द्रसखी की लोकप्रियता का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। उनके कुछ पदों और मीराँ के पदों में बड़ी समानता देखी जा सकती है—

मीराँ—　　'मिलता जाण्यो हो गुरु ज्ञानी, थाँरी सूरत देखि लुभानी।
　　　　　मेरो नाम बूझि तुम लीज्यो, मैं हूं विरह दिवानी।

चन्द्रसखी—　'मिलता जाण्यो राम गुमानी, थारी सूरत देखि लुभानी।
　　　　　म्हारो नांव थे जाणो बूझो, मैं छूं राम-दिवानी।'

सूरदास—　　'कहन लागे मोहन मैया।
　　　　　नंद महर सों बाबा बाबा, अरु हलधर सों भैया।'

---

१. मीराँबाई—डॉ० सी० एल० प्रभात; पृ० ३६०

२. मीराँ की प्रेम साधना—डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र; पृ० २१५

३. चन्द्रसखी और उनका काव्य—भूमिका में; आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी

चन्द्रसखी— 'कहन लागे मोहन मैया मैया।
नंद महर को बाबा ही बाबा, बलदाऊ कों भय्या।'

चन्द्रसखी द्वारा रचित ब्रजभाषा का साहित्य अधिकांशतः विनय, महात्म्य, लीला, आसक्ति और विनय में विभाजित किया जा सकता है। चन्द्रसखी ने भी सूरदास की भाँति बाल-लीला और दधि-लीला के सुन्दर चित्र उपस्थित किए हैं—

'जसोदा लेति लला को कनिया'
'नाचे नन्दलाल नचावत वाकी मैया'
'जसोदा तेरे लाला ने मेरी दई की मटकिया फोरी।'

उनका पनघट पर कृष्ण-मिलन और छेड़ाछेड़ी का चित्रण भी बड़ा ही आकर्षक हैं—

'मोहन मेरी गगरी उठाते जैयो।
भारी गगरी उठत नाहीं हम पै तुम नैक हाथ लगाते जैयो।'
....
'पनघट दै छोड़ भरूं गगरी,
सब सखियाँ जल भरन जात ही, मोहन रोक लई डगरी।'[1]

चन्द्रसखी ने सूर आदि कई कृष्ण भक्त कवियों की भाँति कृष्ण की मुरली का आकर्षण बड़े ही स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है—

'देखि सखी री मेरो मन मोह्यो,
फिर बाजी वह हरि की बंसुरिया।
बाँस कटाऊँ वृन्दावन के,
उपजे न बाँस बजे न बंसुरिया॥'

कृष्ण से मिलने को आतुर गोपियाँ मिलने के सभी सम्भावित उपायों पर विचार करती हैं। वे मोर बनकर ही कृष्ण का स्पर्श चाहती हैं—

'माधोजी मैं न भई बन मोर।
मोरा होती, जमुना तट रहती, कुंज में करती किलोल।'
....
'उड़ पंखन को मुकुट बनावैं, पहरेंगे नन्दकिसोर॥'

चन्द्रसखी के विरह सम्बन्धी पद भी बड़े ही हृदयस्पर्शी हैं—

'म्हारी कोण गुन्हा तकसीर कुंजन-वन छोड़ो री माधो।
सांची कह दो महाराज विरज कद आओ ला।'

---

१. 'साहित्य सन्देश' (दिसम्बर १९६०) चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत साहित्य; पृ० २४५

चन्द्रसखी ने जिन भाषाओं के शब्दों को लेकर लोकगीत तथा भजन लिखे हैं उनमें भाषा का प्रयोग ठीक ढंग से हुआ है । 'भाषा में लालित्य, भावों का सफल प्रतिवादन, रस का निर्बाध प्रवाह, अलंकारों की स्वाभाविक छटा सभी देखते ही बनती है ।'[1]

रसखान—मुसलमान भक्त शिरोमणि रसखान कृष्ण के अनन्य प्रेमी थे । इनके उपास्यदेव गोपिका रमण, कुंजविहारी श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं । ये प्रारम्भ में रसिक तथा सौंदर्य उपासक थे । बाद में 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के कृपापात्र शिष्य बन गये थे । जान पड़ता है कि रसखान ने किसी प्रबन्ध-काव्य की रचना नहीं की थी । उनकी उपलब्ध रचना केवल बावन दोहों की 'प्रेमवाटिका' है ।

रसखान की रचना है तो थोड़ी किन्तु जितनी है, उच्चकोटि की है । इतनी ही थोड़ी रचना के बल पर वे हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हो गए । उनकी रचना रस की ऐसी खान है जो कभी रिक्त नहीं होती, उसमें रस का निर्मल स्रोत निरन्तर बह रहा है । राधा-कृष्ण उनके पूज्य, हृदय से पूज्य उपास्य देव हैं जिनके विषय में वे इतने खुले शृंगार की कल्पना नहीं कर सके जैसा कि उन्होंने अन्यत्र किया है ।[2] इनके काव्य की सरसता का आधार मात्र उक्ति वैचित्र्य, अनुभाव अथवा परिस्थिति नियोजना नहीं अपितु काव्य सौंदर्य की मूर्तिमता भी है ।

नारी चित्रण में रसखान ने शुद्ध सांसारिक रूप ही प्रस्तुत किया है जिसमें वासनामय शृंगार के दर्शन होते हैं ।[3] उनके संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों के चित्रण प्रभावोत्पादक हैं । रसखान को गोपियों की माधुर्य भक्ति ने विशेष आकर्षित किया है । कृष्ण की मुस्कान देख उनकी एक गोपी मूर्च्छित हो जाती है । वह कितना

---

१. 'साहित्य सन्देश' (दिसम्बर १९६०) चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत साहित्य, पृ० २४५

२. 'अंगनि अंग मिलाइ दोऊ रसखान रहे लपटे तरु छाँही ।
संग निसंग अनंग को रंग सुरंग सनी पिय दै गल बाहीं ।
वैन जो मैन सुरेन सनेह को लूटि रहे रति अन्तर नाहीं ।
नीवी गहे कुच कंचन कुम्भ कहे वनिता पिय नाहीं जु नाहीं ।

३. 'बागन काहे को जाओ पिया घर बैठे हीं बाग लगाइ दिखाऊं ।
एड़ी अनार सो मोर रही, बहियां दोऊ चम्पे सी डार नवाऊं ।
छातिन में रस के निबुआ, अरु घूंघट खोल के दाख चखाऊं ।
टांगन के रस के चसके रति फूलन की 'रसखान' लुटाऊं ।

स्वाभाविक चित्रण है।[1] कृष्ण के वंशीवादन का मोहक प्रभाव गोपियों पर पड़ा है और उनका सापत्न्य भाव भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है।[2] गोपियों की विरह भावना को कवि ने रूपक बांधकर बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त की है।[3] वियोग की अवस्था में शरीर अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से हीन हो जाता है। तभी तो वियोगजन्य नायिका की स्थिति दयनीय हो जाती है।[4]

रसखान वास्तव में प्रेम के कवि थे और उनके अनुसार प्रेम वही है जो गुण, रूप-सौन्दर्य, यौवन और धन आदि की अपेक्षा न रखता हो, जिसमें स्वार्थ की गन्ध तक न हो और जो कामना से रहित हो। प्रेम की महिमा गाते हुए वे बतलाते हैं कि प्रेम के बिना ज्ञान का गर्व करना व्यर्थ है। प्रेम ही श्रुति, स्मृति, पुराणादि सभी

---

१. 'अबही गई खरिक गई गाय के दुहाइबे को,
बावरी ह्वै आई डारि दोहिनी मो पानि की।
कोऊ कहै छरी, कोऊ भौन परी डरी,
कोऊ कहै मरी गति हरी अंखियान की।
सास व्रत ठानै, नन्द बोलत सयाने,
धाइ दौरि दौरि आनै मानै खोरि देवतानि की।
सखी सब हँसे, मुरझानि, पहिचानि कहूं,
देखी मुसकानि वा अहीर रसखानि की।'

रसखान—देवेन्द्रप्रताप उपाध्याय; पृ० १४२

और—'लोक की लाज तजी तबहीं जब देख्यौ सखी ब्रजचन्द सलौनो'

२. 'कान्ह भए बस बांसुरी के अब कौन सखी हमकों चहिहैं।
निस द्यौस रहै संग साथ लगी, यह सौतिन तापन क्यों सहिहै।
जिन मोह लियौ मन मोहन कौं रसखानि सदा हमकौं दहिहै।
मिलि आओ सबै सखी भाजि चलें अबतौ ब्रज में बंसुरी रहिहै।।'

—रसखान और घनानन्द; पृ० १६

३. 'लाज के लेप चढ़ाइ कै अंग पची सब सीख को मंत्र सुनाइ कै।
गारुड़ ह्वै ब्रजलोग थक्यौ करि औषद बेसक सौंह दिखाइ कै।
ऊधौ सौं को रसखानि कहै जिन चित्त धरौ तुम एते उपाइ कै।
कारे बिसारे को चाहै उतारयौ अरे विष बावरे राख लगाइ कै।।'

वही—पृ० ३६

४. रसखान सुन्यौ है वियोग के ताप मलीन महादुति देह तिया की।
पंकज सो मुख गो मुरझाइ, लगै लपटैं बिरहागि हिया की।'

का सार है। यहाँ तक कि प्रेम के ही आधार पर विषयानन्द एवं ब्रह्मानंद दोनों आश्रित हैं। प्रेम के विना ज्ञान, कर्म, उपासना आदि की साधनाएँ सिवाय अहमन्यता के और कुछ भी नहीं हैं।[१] अतएव रसखान ने प्रेमतत्व को भलीभाँति स्पष्ट करने के उद्देश्य से उसे विस्तारपूर्वक समझाने की चेष्टा की है। उन्होंने बतलाया है कि सच्चा प्रेम गुण, रूप, यौवन, धन आदि से निरपेक्ष होता है, इसमें स्वार्थ की गन्ध तक नहीं होती, कामना के लिए कोई अवकाश नहीं रहता, वह तो मन की ऐसी संवेदनात्मक स्थिति है जिसमें कभी घटाव-बढ़ाव नहीं हो सकता।[२]

इस प्रकार के आदर्श प्रेमियों में से गोपियों के प्रेम का वर्णन रसखान ने कवित्तों और सवैयों में सुन्दर ढंग से किया है। कृष्ण प्रेम में बावरी गोपी का वंशी-वादन सुनकर भाव-विभोर हो उठना कितना मार्मिक है।[३] उनकी एक अन्य गोपी सापत्न्य-भावजन्य ईर्ष्या के कारण कृष्ण के अधर पर रखी मुरली को अपने अधर पर रखना नहीं चाहती।[४]

प्रेम की विविध मनोदशाओं, भाव भूमि और प्रेम जगत के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का विविध वर्णन ही रसखान की प्रेम व्यंजना का प्रतिपाद्य पक्ष है। प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशाओं का जैसा उद्घाटन कवि ने किया है वैसा हिन्दी के बहुत

---

१. प्रेम-वाटिका (हित चिंतक यंत्रालय काशी);—पृ० ३-४

२. 'बिन गुन जोवन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि ॥१५॥
'इक अंगी, बिनु कारनहि, इकरस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम समान ॥२१॥-प्रेम वाटिका-रसखान; पृ० ५-६

३. 'दूध दुह्यौ सीरो पर्‌यो, तातो न जमायो कर्‌यो,
जामन दयो सो धर्‌यो धरयोई खटाइगो।
आन हाथ आन पाइ सबही के तबही ते,
जबहीं तें रसखानि तानन सुनाइगो।
ज्योंही नर त्यों ही नारी, तैसी ये तरुन वारी।
कहिए कहारी सब, ब्रज बिल लाइगो।
जानिए न आली यह, छोहरा जसोमति को,
बांसुरी बजाइगो कि विष बरसाइगो ॥५३॥
—रसखान और घनानन्द (ना० प्र सभा) पृ० ६२

४. 'मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गले पहिरौंगी।
ओढ़ पितम्बर लै लकुटी, वन गोधन ग्वारिन संग फिरौंगी।
भावतो वोहि मेरो रसखानि, सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरा न धरौंगी ॥'—सुजान-रसखानि

कम कवियों में मिलता है।[1] गोपियों के लिए कृष्ण का सौंदर्य तथा उनकी मुस्कान इतनी मनमोहक है कि उसे देखकर वे अपने आपको संभाल नहीं पाती हैं।[2]

रसखान प्रमोन्तम कवि हैं। उनके काव्य की सरसता का आधार उक्ति वैचित्र्य अनुभाव, संचारी भाव अथवा परिस्थिति नियोजना नहीं है। उनके काव्य की विशेषता सौन्दर्य की मूर्तिमत्ता भी है।[3] अब अन्त में रसखान का एक वियोग शृंगार सम्बन्धी उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। यह वर्णन भी बड़ा सरस बन पड़ा है।[4]

रसखान के सवैयों, कवित्तों तथा दोहों को देखने में प्रतीत होता है कि वे परम्परागत पूर्ववर्ती नायिका भेद के लक्षण ग्रन्थों की अवहेलना नहीं कर सके हैं······· पूर्व राग, वयःसंधि, प्रेमलीला, उलाहना, सपत्नीभाव, मानिनी, क्रिया विदग्धा, आगत-पतिका, सुरत, सुरतान्त, सुरत शृंगार आदि ऐसे प्रसंग हैं जो उन पर पड़े रीति-कालीन परम्परा के नायिका भेद वर्णन करने वाले कवियों के प्रभाव को स्पष्ट कर देते हैं।[5]

---

१. रसखान-जीवन और कृतित्व—देवेन्द्र प्रताप उपाध्याय; पृ० १४१

२. 'कानन दे अंगुरी रहिबो, जबहीं मुरली धुनि मंद बजै है।
मोहनी तानन सों रसखानि, अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गै है॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि, कालिह कोऊ कितनौ समझै है।
माइरी वा मुख की मुसकानि, सम्हारि न जैहे न जैह न जैहे॥५६॥
—रसखान और घनानंद (ना० प्र० स०), पृ० २७

३. 'बंसी बजावत आनि कढौ सो
गली में अली कछु टोना सों डारै।
हेरि चितै तिरछी करि दीठि
चलो गयो मोहन मूठि सी मारै॥'-वीणा (जून १९५०)—रसखान-प्रो० कमलाकांत पाठक

४. 'मानु मनोहर रूप लखा, तब ही सब ही पति ही जति दीनी।
प्राण पखेरू परे तलफैं, वह रूप के जाल में आस अधीनी॥
आँख सौं आँख लड़ी जब ही, तबसे ये रहें अंसुवा रंग झीनो।
या रसखानि अधीन भई, सब गोप लली तजि लाज नवीनो॥'—'साहित्य सन्देश'—(मार्च १९५०)–रसखान का रसमय काव्य सौष्ठव
—श्री अजित नारायण तिवारी।

५. रसखान–जीवन और कृतित्व—देवेन्द्र प्रताप उपाध्याय; पृ० १४३

रहीम—कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में भक्त शिरोमणि कवि रसखान के उपरान्त महाकवि रहीम का नाम आता है आपका पूरा नाम खानखाना अब्दुर्रहीम था। जन्म से मुसलमान होते हुए भी रहीम की भक्ति-भावना किसी हिन्दू से कम न थी। उन्हें हिन्दी, संस्कृत और फारसी का अच्छा ज्ञान था मिश्रबन्धुओं ने इनके सम्वन्ध में वतलाया है कि उन्हें श्रीकृष्ण भगवान का इष्ट था।[1] किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण इस कथन की पुष्टि नहीं करते। आप अकवर के नव-रत्नों में से एक थे। अकंवरी सामंतों में से युद्ध तथा शान्ति, विद्वता और बुद्धि, कविता एवं कूटनीति में किसी की प्रतिभा इतनी वहुमुखी न थी जितनी रहीम की। आप राजनीतिज्ञ एवं साहित्यिक तथा गोस्वामी तुलसीदास के परम मित्र थे।

रहीम की रचनाओं के सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाया है कि वे काव्य-शास्त्र के अच्छे मर्मज्ञ थे। उनकी मार्मिक शैली, मनोरम अभिव्यक्तियाँ, प्रसाद गुण पूर्ण उपयुक्त शव्दावली तथा अलंकारों का सुरुचिपूर्ण प्रयोग सभी पिंगल शास्त्र के अनुकूल है। उनका 'वरवै नायिका भेद' साहित्य की अमूल्य निधि है। उनके लिखे नीतिपूर्ण दोहों में वड़ा ही सांसारिक अनुभव भरा पड़ा है। वरवै नायिका भेद श्रृङ्गार रस का काव्य है। इसमें विभिन्न वर्ग के नायक-नायिका के लक्षणों, हावभावों तथा मनोवृत्तियों का सरस वर्णन है। मुग्धानायिका अपने यौवन आगमन से पूर्ण अनभिज्ञ है इसी कारण उरोजों का उभार उसे किसी रोग जैसा प्रतीत होता है।[2]

रहीम ने विभिन्न नायक-नायिकाओं के भेद[3], सखी तथा सखी-जन कर्म

---

१. मिश्र वन्धु विनोद; पृ० ३३०

२. 'कवन रोग दुँ छतिया उकस्यो आइ
दुखि दुखि उठत करेजवा लगि जनु जाइ।'—अब्दुर्रहीम खानखाना, डॉ० समर
—वहादुर सिंह; पृ० २४६

३, ऊढ़ा—निस दिन सास ननदिया मोहि घर घेर।
सुनत न देत मुरलिया मधुरी टेर ॥१६॥'–अब्दुर्रहीम खानखान; पृ० ३६६
प्रौढ़ा प्रोषित पतिका—या झर में घर-घर में मदन हिलोर।
पिय नहि अपने कर में–करमै खोर ॥४६॥
परकीया वासक-सज्जा—सोवत सव गुरु लोगवा जानेउ वाल
दीन्हेसि खोलि खिरकिया, उठिके हाल ॥'; पृ० ३७६
गणिका विप्रलम्भा—करिकै सोरह सिंगरवा अतर लगाइ।
मिलेउ न लाल सहेटवा फिर पछताइ।'; पृ० ३७५

आदि विषयों की विस्तारपूर्वक विवेचना की है। संयोग-वियोग प्रकृति-चित्रण, नीति, आदि का सुन्दर वर्णन आपकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है। नारी-भावना सम्बन्धी इनके कुछ दोहे, सोरेठा और बरवै हम यहाँ दे रहे हैं जिनसे उनके सामाजिक ज्ञान का हमें वास्तविक ज्ञान हो सकेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इनके सम्बन्ध में लिखा है कि 'संसार का इन्हें बड़ा गहरा अनुभव था। ऐसे अनुभवों के मार्मिक पक्ष को ग्रहण करने की भावुकता इनमें अद्वितीय थी। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना उन्होंने प्राप्त की है उसी की व्यंजना अपने दोहों में की है। तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिन्दी भाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुँह पर रहते हैं। इसका कारण है जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव।'[1]

'उरग, तुरग, नारी, नृपति, नीच जाति, हथियार।
रहिमन इन्हें संभारिए, पलटत लगै न वार ॥१६॥
'कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय ॥२३॥

....

'धन थोड़ो इज्जत बड़ी, कह रहीम का बात।
जैसे कुल की कुलवधू, चिथड़न माहि समात ॥१११॥

....

धन दारा अरु सुतन सों, लग्यौ रहै नित चित्त।
नहिं रहीम कोऊ लख्यो, गाढ़े दिन को मित्त ॥११२॥

....

पन्नग बेलि पतिव्रता, रति सम सुनो सुजान।
हिम रहीम बेली दही, सत जोजन दहियान ॥१२२॥

....

परम ऊजरी गूजरी, दह्यौ सीस पै लेइ।
गोरस के मिस डोलही, सो रस नेक न देइ ॥३३॥

....

काछिनि कछू न जानई, नैन बीच हित चित्त।
जोवन जल सींचति रहै, काम कियारी नित्त ॥३५॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० २१७

....

वेलन तिली सुवास कै, तेलिन करै फुलैल ।
विरही दृष्टि कियौ फिरै, ज्यों तेली को वैल ॥४१॥

....

'राज करत रजपूतनी, देस रूप के दीप ।
कर घूंघट पट ओट कै, आवत पियहि समीप' ॥५६॥

....

'धोविन लुवदी प्रेम की, ना घर रहै न घाट ।
देत फिरै घर-घर वगर, लुगरा धरै लिलाट' ॥१३७॥

रहीम के अतिरिक्त इस युग के मुस्लिम आश्रयदाताओं की छत्रछाया में रहने वाले कुछ और भी भक्त एवं रसिक कवि—वीरवल, तानसेन आदि हुए हैं जिन्होंने शृंगार, भक्ति और नीति सम्वन्धी सुन्दर रचनाएँ की हैं।

हिन्दी के कृष्ण-काव्य का अधिक अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है कि कवियों ने ही नहीं कुछ कवयित्रियों ने भी गिरधर गोपाल को अपने काव्य का आलम्बन वनाया है। इन कवयित्रियों में ताज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ताज की रचनाओं से स्पष्ट होता है कि वह भी मीरां की भांति सांवरे सलौने कृष्ण की रूप-माधुरी पर मुग्ध थी। उसे भी हिन्दू धर्म और पौराणिक कथाओं, चरित्रों का अच्छा ज्ञान था। ताज की अधोलिखित रचना वड़ी प्रसिद्ध है।

'सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी
तुम दस्त ही विकानी, वदनामी भी सहूंगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं निवाज हू भुलानी,
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूंगी मैं।
स्यामला सलोना सिरताज कुल्लेदार।
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै रहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरवान तेरी सूरत पै,
हों तो मुगलानी पै हिन्दुआनी ह्वै रहूंगी मैं।'—

वास्तव में इसी प्रकार के भक्त मुसलमान कवियों के सम्वन्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के स्वर से स्वर मिलाकर यह कहा जा सकता है कि—

'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिए।'

निष्कर्ष

सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय में नारी भावना की चर्चा करते हुए हम पिछले पृष्ठों में यह वतला आये हैं कि वाम-मार्गियों ने पंचमकारों को महत्व देते हुए नारी को योनि मात्र ही समझ लिया था। उनकी भावना नारी के उपभोग तक सीमित रही। शेष निर्गुणवादियों ने भी नारी को विलास का उपकरण एवं ब्रह्म की प्राप्ति में बड़ी वाधा मानकर उससे विरक्त रहने के लिए निंदात्मक प्रणाली अपनाई थी। वास्तव में इस प्रकार की नारी भावना के लिए तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थतियाँ ही उत्तरदायी थीं।

इस युग में एक ओर ब्राह्मण और वेदशास्त्र की मर्यादाओं में विश्वास रखने वाला समाज था तो दूसरी ओर इनके विरुद्ध विद्रोह करने वाले अथवा उन पर संशय करने वाले व्यक्ति थे। उधर नवोदित इस्लाम उपेक्षित एवं अनादृत हिन्दू समाज की निचली श्रेणी के लोगों को वड़ी तेजी से आत्मसात कर रहा था। ऐसी ही संकट-मयी वेला में ब्रह्म का सगुण रूप में चिन्तन करने वाले सन्तों और कवियों ने निराश जनता को साहित्य के माध्यम से आशा का संदेश देकर मुरझाये जीवन में सरसता प्रदान की। यों निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं के चिंतक आत्मार्पण के भाव से प्रभु की लीला के अविचल विश्वासी थे किन्तु सगुणोपासकों ने वेद, पुराण, श्रुति सम्मति तथा प्राचीन परम्पराओं से समझौता करके भक्ति के मानवीय रस से समाज का परिष्कार किया। निस्संदेह मध्य-युगीन सन्त-साहित्य जहाँ, कला, भाव तथा भक्ति पक्ष में अद्वितीय है वहाँ समाज सुधार की दृष्टि से भी इस साहित्य के सिर-जनहारों का यह देश सदैव ऋणी रहेगा।

सगुण मतवाद की दो शाखाएँ हुई—एक रामाश्रयी, दूसरी कृष्णाश्रयी। प्रथम शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं—स्वनामधन्य गोस्वामी तुलसीदास और द्वितीय शाखा के अमर गायक हैं भक्त शिरोमणि सूरदास तथा नन्ददासादि अष्टछाप के अन्य कवि महानुभाव। भक्ति-काल की रचनाओं के रचयिताओं का मूल उद्देश्य भगवान की लीलाओं का गुणानुवाद था और व्यक्तिगत साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करना उनका लक्ष्य था। प्रत्यक्ष ही मोक्ष मार्ग के साधक को इस लोक के वाह्य प्रपंचों से ऊपर उठकर रहना नितान्त आवश्यक था। काम, क्रोधादि मन में वसे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना, प्राथमिक आवश्यकता के रूप में सभी प्रकार के साधकों को अभीष्ट था। 'विनय' के पदों में एवं अन्यान्य रचनाओं में स्थान-स्थान पर गोस्वामी तुलसीदासजी ने सर्व समर्थ रघुनाथजी से 'कामादिखलदल' के संहार की प्रार्थना की है। भक्तप्रवर सूरदासजी ने भी काम, क्रोध का चोला पहिनकर व कंठ में विषयों की माला धारण करके वहुत नाचने के पश्चात् नन्द-नन्दन वृन्दावन-चन्द्र गोपाल से

परित्राण के लिये अत्यन्त आर्तभाव से अभ्यर्थना की थी। प्रकारान्तर से ठीक यही भाव अन्य सन्त कवियों ने भी भाव-विभोर होकर अभिव्यक्त किया है। तात्पर्य यह है कि काम-वासना को इन भक्त कवियों ने नारी में मूर्तिमन्त देखा और इसीलिये काम के दमन के लिए उन्होंने नारी की निन्दा ही उचित समझ ली। यों भी जब वासनाओं की गणना की जाती है तो सर्वप्रथम काम का नाम ही हमारी अँगुली पर आता है और काम विजय को सम्पूर्ण वासनाओं की विजय समझा गया है।

मूलतः इस काल के कवि-साधक भक्तजन थे, अतएव नारी के रमणी एवं कामिनी रूप से वे सदैव दूर ही रहे और आध्यात्मिक प्रगति की बाधा मानकर उसे भ्रष्ट करने वाली माया का रूप समझा गया। नारी को सहज अपावन, ताड़न की अधिकारिणी, नितान्त अविश्वसनीय, सकल कपट अघ अवगुन खान, अधम ते अधम, सहज जड़ अज्ञ, काम-वासना की प्रतिमा और दुर्गुणों के समुच्चय रूप में वर्णित किया गया। प्रेम के क्षेत्र में ही नारी को छलना माना गया हो ऐसा नहीं, प्रत्युत पलटूदास जी ने तो वृद्धा और साक्षात जननी पर भी विश्वास करने के औचित्य पर शंका प्रकट कर दी। अस्तु, साधारणतः समस्त भक्ति-साहित्य में नारी का यह रूप निन्दनीय, हेय अतएव त्याज्य प्रदर्शित किया गया।

गोस्वामीजी ने 'रामचरित-मानस' में माता सुमित्रा के मुँह से कहलवाया है—'पुत्रवती जुवती जग सोई, रघुपति भगत जासु सुत होई।' युवती का जीवन तभी सार्थक है जब वह भक्त-पुत्र को जन्म दे। भक्ति में नारी के साधक रूप की सर्वत्र प्रशंसा की गई हैं और उसका अभिनन्दन किया गया है किन्तु उसके रूप की जी खोलकर निन्दा की गई है। व्यापक रूप में इस युग की नारी-भावना का वर्गीकरण सामान्य तथा असामान्य—इस रूप में किया जा सकता है। 'रामचरित्र-मानस' में भी चित्रित नारी-पात्र इन्हीं दोनों कोटियों के हैं। कौशल्या, सुमित्रा, सीता तथा कैकेयी और मन्दोदरी विशिष्ट पात्र हैं और मैना, मन्थरा, शबरी और शूपनखा आदि की गणना सामान्य पात्रों में की जा सकती है। यहाँ भक्ति की श्रेष्ठ उदात्त-भावभूमि से यह निवेदन नहीं किया जा रहा है अन्यथा शबरी आदि तो महानतम भक्तों में से थीं।

पारिवारिक जीवन में नारी के माता, पत्नी, भाभी, सास, सौत आदि विभिन्न रूपों के चित्रण भी इस काल के साहित्य में हमें देखने को मिलते हैं। सुमित्रा का दृढ़ क्षत्राणी रूप, कौशल्या का कर्तव्य परायण स्नेहमयी-ममतामयी माता रूप, सामान्य पुत्र वत्सलापुत्र के लिये समूचे विश्व की घृणा सहकर राज्याकांक्षिणी कैकेयी आदि के रूप उत्तम मनोवैज्ञानिक चित्र हैं।

मन्थरा एक कुटिल दासी के रूप में चित्रित की गई है। मंदोदरी असुर पत्नी होते हुए भी जीवन के सात्विक मूल्यों का मापदण्ड समझाती है और भ्रष्टपथानुगामी पति को 'मातृवत् परदारेषु' का सिद्धान्त प्रतिपादित करती हुई राम के चरण शरण होने के लिये प्रार्थना करती है। सीता माता का चरित्र तो भारत की सभी नारियों का महानतम आदर्श है। नारी का सर्वसहा स्वरूप सीता में साकार हो गया है। चौदह वर्ष तक पति की सहगामिनी, सहचारिणी बनकर उन्होंने यात्रा के शूल समेट कर फूलों की वर्षा की थी। अशोक-वाटिका की वन्दिनी बनकर भी उन्होंने आर्य-ललनाओं की मर्यादा की रक्षा की और वाद को भी शिखाओं में प्रवेश करके वैश्वानर को भी अपने पावन-स्पर्श से पवित्र किया। किन्तु सीता का चरित्र भी एक सर्वात्मना समर्पित पतिव्रता महान पत्नी का ही चरित्र है। पंचवटी की पर्ण-कुटी और चौदह वर्षों का समूचा वन प्राँत पति के सान्निध्य के कारण सीता के लिये अयोध्या का राजमहल वन गया था। रावण की लंका में भी हृदय-मंदिर में राम की मूर्ति स्थापित रहने के कारण उन्होंने सदैव परिवार की महानतम तथा मधुरतम नारी का ही चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। यद्यपि कहीं-कहीं प्रसंगवश नारी को अपने असत रूप के कारण कुछ खरी खोटी भी सुननी पड़ी है। पूर्व शास्त्रकारों के वचनों का अनुगमन करने वाले साधक और समाज संस्कर्ता, मातृ वात्सल्य से वंचित और धर्मपत्नी की फटकार के कारण हुए वैरागी सन्त तुलसीदास ने नारी के अपावनत्व और जड़त्व का ही अधिक उल्लेख कर नारी के कामिनी रूप की ही निंदा की है।

कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी उपासना पद्धति के अनुकुल प्रायः स्फुट मुक्तकों की ही रचना की। श्रीमदभागवद् के दशम स्कन्ध की कृष्ण-लीलाओं का अत्यन्त तल्लीनता से वर्णन किया गया।' सूर एवं अष्टछाप के कवियों ने राधा-एवं गोपी-कृष्ण लीलाओं का जिस उत्कृट महाभाव से वर्णन किया है वह न केवल हिन्दी साहित्य की अपितु विश्व साहित्य की अमर एवं स्थायी निधि है।

यशोदा के चित्रण में मातृ-हृदय की गहराई अविकल रूप में वुदवुदा उठी है। मथुरा प्रवास के पश्चात उन्होंने देवकी को संदेशा भिजवाते समय चिंता की जो अभि-व्यक्ति की है वह अत्यन्त सहज, विलक्षण है। 'तुम तो सवहि जानतेहु हुइओ तऊ मोहि कहि आवै।" प्रात उठत मोरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै।' किन्तु कृष्ण-साहित्य में गोपी-चित्रण ही उसका सर्वस्व है। गोपियाँ प्रेम की ध्वजाएं हैं। वे नन्दन नन्दन की वाँसुरी पर इस प्रकार न्यौछावर हैं कि लौकिक वैदिक प्रतिवन्धों की उन्हें

तनिक भी चिन्ता नहीं। मुरली की तरह सूर तथा नन्ददास की गोपियाँ भी अपने हृदय से समस्त विकारों और वासनाओं को वुहार कर नन्द-नन्दन के लिये रिक्त कर चुकी हैं। इसीलिये तो उर में माखन चोर तिरछे होकर अड़ गये है और कोटिन जतन करने पर भी वे निकल नहीं सकते। भ्रमर गीत का प्रसंग राधा और गोपियों के एक निष्ठ प्रेम को व्यक्त करने वाला है। राधा रानी तो प्रभु श्रीकृष्ण की आल्हादिनी-आद्याशक्ति हैं। लरिकाई से ही गोकुल की खोरी में प्रथम दर्शन में प्रभु की युग-युग की पहिचान जाग्रत हो जाती है। प्रथम दर्शन का यह प्रेम वासना से परे शुद्धात्मा से साक्षात्कार है। 'कृष्णस्तु भगवान स्वयं'-भगवान का जन्म प्राकृत रीति से नहीं हुआ और उनका श्री विग्रह भी प्राकृत नहीं है। अतएव प्रभु की इन अलौकिक लीलाओं का प्राकृत वुद्धि के व्यायाम द्वारा रहस्य नहीं जान सकते। आध्यात्मिक उच्च स्तरीय भाव इसके लिये नितान्त अपेक्षित हैं—इस धारणा का वहुत सीमा तक औचित्य है। प्रेम के शुद्ध स्वरूप, माधुर्य भाव की प्रधानता एवम् वर्णन की स्वाभाविकता और सरसता के कारण कृष्ण-काव्य में नारी पात्रों की प्रचुरता है। वात्सल्य और माधुर्य दो भागों में विभाजित किये जाने योग्य स्त्री-पात्रों यशोदा, राधा, रुक्मिणी, कुब्जा, रोहिणी, देवकी, कीर्ति, ललिता, चन्द्रावली आदि के चित्रण में सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों को मानवीय स्वाभाविकता की सहज प्रतीति कराने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

इन भक्त-कवियों ने नारी के दैहिक स्थूल सौंदर्य के चित्रण तक ही अपने को वाँध नहीं रखा क्योंकि उस स्थिति में तो वे केवल देह की कारागार वन्दी हो जाते। यत्र-तत्र जो कुछ नख-शिख और नायिका-भेद वर्णन आया है वह नारी के आन्तरिक प्रकाश की प्रतिच्छाया के रूप में ही है। मूल तथ्य तो मन की छवि, हृदय के सौन्दर्य का ही है। सूर के नारी चित्रण में सुरुचि सरलता एवम् सौन्दर्य दृष्टि की सूक्ष्मता का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। किन्तु कालान्तर में राधा-कृष्ण के प्रेम की ओट में उद्दाम वासना की स्थूल तृप्ति के रूप में साहित्य का जो प्रवाह आया उसके लिए सम-सामयिक परिस्थितियाँ व रचनाकारों की अपनी मनःस्थिति ही कारण भूत थीं। वाद के खेवे के इन कवियों में सूर, तुलसी आदि की भक्तिकालीन कवियों की सी तल्लीनता और भगवद्-विषयक रति के अभाव के कारण नारी-भावना की भव्यता का लोप हो गया। नारी अव दरवारों में प्राकृत राजाओं की प्रसन्नता के लिए क्रीड़ा की वस्तु रह गई और निकुंज में महारास के महाभाव की उदात्त भूमि के लिये फिर अवकाश ही नहीं रह गया। तात्पर्य यह है कि सगुणोपासक कवियों ने 'सेक्स'

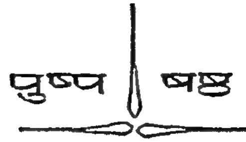
कि दमन-शमन द्वारा वासना का उन्नयन करके उसकी परिणति भगवद् प्रेम में की। कामिनी की काया की कारा से दूर दूर रहकर सगुण भक्त कवि साहित्यिक साधना की सन्ध्या तक भी—

> 'कामहिं नारि पिआरि जिमि, लोभहिं प्रिय जिमि दाम,
> तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥'

की याचना और कामना करता रहा और वाणी के इस स्वर को यदि हम इस काल का प्रतिनिधि स्वर भी कहें तो कोई असंगति न होगी।







रीति-शृंगार-युग में नारी का चित्रण—

१—'रीति-शृंगार-युग' की पृष्ठभूमि तथा प्रवृत्तियाँ,

२—आलोच्य-युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवम् आर्थिक परिस्थितियाँ,

३—युग का नामकरण,

४—रसराज-शृंगार की काव्य-परम्परा,

५—रीतिबद्ध आचार्य-कवि (सर्वश्री केशवदास, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, मतिराम, देव, बिहारी, भिखारीदास) की रचनाओं में—

(क) नारी-चित्रण,

(ख) शृंगार-वर्णन

(ग) नख-शिख-वर्णन,

(घ) नायिका-भेद,

(ङ) षड्ऋतु-बारहमासा वर्णन,

६—रीति-मुक्ति कवियों (सर्वश्री सेनापति, पद्माकर, घन आनन्द, आलम, बोधा, ठाकुर) की रचनाओं में—

(क) नारी-चित्रण,

(ख) शृंगार-वर्णन,

(ग) नख शिख-वर्णन,

(घ) नायिका-भेद,

(ङ) षड्ऋतु-बारहमासा वर्णन,

७—'रीति-शृंगार-युग' की रचनाओं से सम्बन्धित कुछ धारणाएँ और उनका निराकरण,

८—युग की रीति-शृंगार-कालीन रचनाओं का नवीन मूल्यांकन,

९—निष्कर्ष.



पुष्प-षष्ठ

रीति-श्रृंगार-युग में नारी चित्रण

(१) रीति (श्रृंगार)-युग की पृष्ठभूमि तथा प्रवृत्तियाँ—साहित्य-जगत में, एक ही युग में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ और विचारधाराएँ प्रवाहित होती आयी हैं। इन प्रवृत्तियों और विचार-धाराओं के आधार पर काल-विभाजन करते समय दो कालों के बीच में हम कोई निश्चित विभाजक-रेखा नहीं खींच सकते। प्रायः देखा यही जाता है कि जिस काल में जो प्रवृत्ति या विचारधारा सबल रही, उसी के नाम की माला दुनियाँ जपती रही। हिन्दी-साहित्य का रीतिकाल भी आचार्य शुक्ल के अनुसार १७०० ई० से १६०० ई० तक दो सौ वर्षों का माना गया है जो सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी सर्वमान्य हो गया है। रीति-साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० नगेन्द्र ने भी इसे 'बहुत कुछ संगत और विवेकपूर्ण' बतलाया है।[1] साहित्य के इन दो सौ वर्षों में रीतिकालीन-चेतना का सम्पूर्ण वह इतिहास समाहित है जिसके पीछे कोई विशेष विचारधारा, प्रवृत्ति एवं परम्परा चली आ रही थी और जो आगे चलकर रीति-काव्यों की आधार बन सकी।

रीतिकालीन-साहित्य पर उसके पूर्ववर्ती काव्यधाराओं का प्रभाव पड़ा है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। इसकी पुष्टि करते हुए डॉ० भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि—'इस युग की कलाप्रियता एवं साहित्यिक अभिरुचि का एक स्तुत्य प्रमाण इस बात में ही मिल जाता है कि नूतन साहित्यिक-धाराओं के स्रोत फूटने पर भी पूर्वगामी काव्यधारा इस युग में सूखी नहीं,[2] अपितु प्रत्येक धारा को इस युग में सरल समर्थन प्राप्त हुआ। डॉ० नगेन्द्र ने भी इसके साहित्यिक पृष्ठाधार के विषय में लिखा है कि 'वह संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश की प्रवहमान काव्यधारा का एक रूपान्तर-मात्र है। संस्कृत-काव्य का पर्यवसान रीति-ग्रन्थों में ही हुआ।'[3] रीति-साहित्य ने अब अपनी प्राचीन परम्पराओं के पोषण के साथ एक नूतन

---

१. 'रीति-काव्य की भूमिका'—डॉ० नगेन्द्र; पृ० १

२. 'कला, साहित्य और समीक्षा'–(रीतियुगीन हिन्दी-काव्य की विविधप्रवृत्तियाँ)
—डॉ० भगीरथ मिश्र; पृ० ११३

३. 'रीतिकाव्य की भूमिका'—(रीति-काव्य का साहित्यिक आधार)
—डॉ० नगेन्द्र; पृ० १६१

साहित्यिक धारा का सृजन किया। कवियों ने प्राचीन परम्परागत मुक्तक-कवियों की परिपाटी को त्यागकर 'सप्तसई' तथा 'शतक' आदि की रचना प्रारम्भ की। और युग के कवि राजमहलों से उतर कर आम जनता के सुख-दुःखों में भाग लेने लगे। हिन्दी की इस रीति-परम्परा का प्रथम स्फुरण चिन्तामणि की 'हितरगिणी' में प्राप्त होता है।

पूर्व-युगीन साहित्य के अध्ययन के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत-साहित्य की तीन मुख्य परम्पराएँ रहीं, जिनका सबसे गहरा प्रभाव रीति-साहित्य पर पड़ा। पहली परम्परा थी शृंगार-मुक्तकों की, जिनमें अमरूक कवि का 'अमरूक-शतक' तथा गोवर्धन की 'आर्या सप्तशती' आती है। दूसरी परम्परा थी भक्तिपरक मुक्तकों की जिसके अन्तर्गत 'दुर्गा-सप्तशती', चण्डी-शतक', वक्रोक्ति पंचाशिका' (शिव-पार्वती-वंदना), 'कृष्ण-लीलामृत' आदि अनेक स्तोत्र ग्रन्थ आते हैं। इन स्तोत्रों में भक्ति की प्रधानता होते हुए भी शृंगारिक चमत्कार भी बहुत पाये जाते हैं। संभवतः इन्हीं का प्रभाव महाकवि विद्यापति के गीतों पर पड़ा था।[1] आगे चलकर 'हिन्दी रीति-काव्य में' राधा कन्हाई सुमिरन के बहाने का निरन्तर मोह तथा नायक के लिए कृष्ण और नायिका के लिए राधा के प्रयोग में इन्हीं स्तोत्रों का प्रभाव रहा है। इस काल में तीसरी चिन्तनधारा थी 'कामशास्त्र' की, जिसकी परम्परा तो पहले से ही चली आ रही थी किन्तु संस्कृत-साहित्य के अन्तिम चरणों में इसका प्रवाह अधिक बढ़ गया था। इसकी अभिव्यक्ति वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में अधिक मात्रा में हुई है। इसी के प्रभाव के फलस्वरूप आगे चलकर 'रति-रहस्य', 'अनंग-रंग' आदि ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। रीतिकाल में तो इसकी स्पष्ट छाप ऐहिक शृंगार-मुक्तकों, शिव-कृष्ण भक्ति के स्तोत्रों और नायिका-भेदों पर दीख पड़ती है। इसी के परिणामस्वरूप इस युग में शृंगार भावनाओं, केलि-क्रीड़ाओं तथा नायिका के भेदों-प्रभेदों का जन्म हुआ। भक्ति और शृंगारिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त पूर्ववर्ती धाराओं का भी प्रभाव निश्चित रूप से इस युग पर पड़ा है।

(२) **तत्कालीन परिस्थितियाँ**—किसी भी युग का साहित्य उस युग के मानव-भावों, विचारों एवं आकांक्षाओं का प्रकटीकरण होता है और ये भाव, विचार और आकांक्षाएँ उस युग की परिस्थितियों के अनुसार ही बनती हैं। अतएव उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को समझने के पश्चात् ही समस्त वातावरण की आत्मा से साक्षात्कार किया जा सकता है। अतएव

---

१. 'रीति-काव्य की भूमिका'—(रीति-काव्य का साहित्यिक आधार)
—डॉ० नगेन्द्र; पृ० १८६

अब हम संक्षेप में रीतिकालीन परिस्थितियों पर विचार करते हुए उस युग की साहित्यिक-आत्मा को पहचानने का प्रयास करेंगे।

राजनीतिक स्थिति—रीतिकालीन राजनीतिक इतिहास वास्तव में मुगल-साम्राज्य के अधःपतन के आरम्भ तथा उसके उत्तरोत्तर विनाश के दो सौ वर्षों की कहानी है। जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल में जो बहुमुखी उन्नयन हुआ था वह उन दो सम्राटों के बाद क्रमशः समाप्त होता गया। इनके शासन-काल की शान्ति, समृद्धि, विकास एवं सर्वाङ्गीण प्रगति से इतिहास का सामान्य विद्यार्थी भी परिचित है। उन्हें दोहराना उतना उचित नहीं, जितना कि उन घटनाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना जिनका कि सीधा सम्बन्ध या प्रभाव साहित्य पर पड़ा।

सम्राट अकबर के पश्चात् जहाँगीर का विलासप्रिय शासन आरम्भ होता है जिसमें उसने सुरा और सुन्दरी को ही अपने जीवन का आराध्य बनाया था। उसके समय में विलासिता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। मेहरुन्निसा को प्राप्त करने के लिए उसके पति शेर अफ़गान की हत्या कराना जहाँगीर की वासनामय विलासितापूर्ण प्रकृति का ही परिचायक है। शासकों की इस विलासिता का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। विलास-प्रिय जागीरदारों को कोई काम न रह गया तो उन्होंने 'कविगणों और कलाविदों को अपने यहाँ आश्रय देना प्रारम्भ किया'।[1] जहाँगीर ने हिन्दी कवियों को पुरस्कार देकर[2] शृंगारिक-काव्य को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया था। उसके शासन-काल में सिक्खों के पांचवें गुरु अर्जुन की हत्या के कारण सिख उसके जानी दुश्मन हो गये।[3] साथ ही उसके शासन के अन्तिम चरणों में उसके सरदार, कट्टर मुसलमान तथा शाहजादों के विद्रोह प्रारम्भ हुए तथा चारों ओर अशान्ति, अराजकता फैल गयी।[4] परिणामस्वरूप नयी पीढ़ी को विद्रोह और विप्लव की प्रेरणा मिली।

जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ का निरंकुश राजतन्त्रीय शासन प्रारंभ हुआ जो धार्मिक सहिष्णुता, सुख-समृद्धि एवं कलात्मक प्रगति की दृष्टि से काफी उपयुक्त रहा। फिर पिता को क़ैद कर औरंगजेब बादशाह बना। वह एक क्रूर

---

१. 'साहित्य-सन्देश' (जुलाई-अगस्त १६५६)—रीतिकाव्यालोचन विशेषांक; पृ० ६३
२. 'हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल'—डॉ० ईश्वरीप्रसाद; पृ० ४८०
३. 'एन एडवांस हिस्ट्री हाफ इंडिया'—मजुमदार—रायचौधरी दत्त—१६६१ संस्करण; पृ० ४६५
४. इंडिया—एच० जी० रालिसन—(जुलाई १६५४ संस्करण); पृ० २३८

शासक था जिसे साहित्य, संगीत, कला, ऐश्वर्य तथा विलासिता से घोर चिढ़ थी।[1] उसने वेश्यावृत्ति और मदिरापान भी बन्द करा दिया था, फिर भी सामन्तों में रक्षिताओं और रखैलियों की संख्या कम न हुई। ऐसी धार्मिक असहिष्णुता एवं अमानुषिक शासन से प्रजा त्रस्त हो चुकी थी। युग घोर नैतिक पतन की ओर पर्याप्त दूरी तक बढ़ चुका था।

इन राजनीतिक परिस्थितियों का यह प्रभाव पड़ा कि शासकों की निरंकुश नीति से लोग इतने आतंकित हो गये कि किसी को यह भरोसा नहीं रह गया कि वह कब सम्राट का कोपभाजन बन जायेगा।[2] कब उसकी ऐहिक लीला समाप्त हो जायेगी। ऐसी स्थिति में उन्हें ईश्वर का ध्यान आना भी स्वाभाविक ही रहा। जो लोग बच रहे, उनके सम्राट की प्रशंसा करने में ही होंठ सूखते रहे। उन्होंने भी विलासी-वृत्ति अपनाई। इन्हीं सब का यह परिणाम रहा कि उस युग की छाप तत्कालीन साहित्य पर भी पड़े बिना न रह सकी। कविगणों ने भी राज्याश्रय स्वीकार किया। 'राज्याश्रय में रहने वाले इस काल के कवियों का मुख्य कार्य अपने उद्दाम व वासना पूर्ण भौतिक प्रेम का चित्रण करके अपने स्वामियों का मनोरंजन करना मात्र रह गया। भक्तिकालीन प्रेम की सारी पवित्रता, अलौकिकता व आध्यात्मिकता' लुप्त हो गई। सारा प्रेम निरूपण कामशास्त्रानुमोदित होने लगा।'[3] वे विलासी-सम्राटों की कामुकता को जगाने वाले दोहे रचकर उन्हीं की प्रशंसा के पुल बाँधने में व्यस्त रहने लगे। उनमें कुछ अपना व्यक्तित्व रखने वाले भी थे, वे भी समय-समय पर नीति आदि के दोहों द्वारा सम्राट को प्रसन्न करने के साथ-साथ साहित्य के कला-पक्ष पर ही जमे रह गये। जो कवि इनसे कुछ और भी दूर रहना चाहते थे, उन्होंने भक्तिपरक नीति अपनायी। सारांश यह कि रीतिकालीन-साहित्य में जीवन के ऐहिक-पक्ष का प्राबल्य, शृंगारिकता का प्रसार, राज्याश्रय में रहकर प्रशंसात्मक साहित्य तथा कला और संस्कृति को विशेष महत्व, इन्हीं राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम रहा।

सामाजिक स्थिति—मुगलकालीन इतिहासकारों द्वारा फारसी में लिखे गये वृत्तान्तों से तो तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का बहुत थोड़ा वर्णन मिलता है किन्तु भ्रमणार्थ आये हुए यूरोपीय यात्रियों के संस्मरणों तथा

---

१ 'हिन्दी साहित्य-युग और प्रवृत्तियाँ'—प्रो० शिवकुमार शर्मा; पृ० ३०२
२. 'हिन्दी-रीति-साहित्य'—डॉ० भागीरथ मिश्र; पृ० ६
३. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य—डॉ० रामेश्वर लाल खंडेलवाल; पृ० ८२

यात्रा-वृतान्तों से इस युग की अनेक महत्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। विशेषत: अकबर के पश्चात् सोलहवीं शताब्दी अथवा उसके बाद के यात्रियों के वर्णन से समकालीन और मुगलकालीन अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है। इस अध्ययन एवं युग की ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययन के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है कि उस युग का समाज तीन प्रमुख वर्गों में बँटा हुआ था—प्रथम, शाहंशाह तथा उसके दरबारी, मनसबदार, उच्च शासनाधिकारी आदि, दूसरे, जागीरदार, व्यापारी, सामन्तगण तथा साहित्यकार और तीसरे वर्ग में थे किसान, मजदूर और सामान्य जनता। यदि हम इनके सम्बन्ध में अलग-अलग विचार करें तो उस युग के समाज का वास्तविक चित्र हमारे सामने निखर कर आता है।

प्रथम वर्ग तो शाहंशाह का था जिसकी स्थिति समाज में सर्वोच्च थी। राजा की आज्ञा ही कानून होती थी और उसका निर्णय ही अन्तिम निर्णय होता था। भोग और विलास ही उसका जीवन था। पटरानी, रानियों एवं रखैलियों की भरमार थी। कहा जाता है कि अकबर के जनानखाने में पाँच हजार सुन्दर स्त्रियाँ थीं जिनकी सुख-सुविधा के लिए एक खास महकमा प्रबन्ध करता था।[1] इसी प्रकार उनके दरबारियों में दो-चार स्त्रियाँ तो सभी के होती थीं।[2] यह उस युग के सुख और समृद्धि तथा शान्तिपूर्ण शासन-व्यवस्था का परिचय देता है।

दूसरा वर्ग था राजकीय पदाधिकारियों, व्यापारियों, सामन्तों तथा साहित्यकारों का, जिन्हें समाज में विशेष अधिकार एवं सम्मान प्राप्त था। वे भी अपने धन और साधनों का उपयोग विलासिता, असंयम, शान-शौकत और ठाट-बाट में करते थे।[3] इसी वर्ग में व्यापारी भी आते थे किन्तु उनमें अन्तर मात्र इतना ही था कि ये उतने सभ्य एवं पढ़े-लिखे नहीं थे। साहित्यकारों की भी यही दशा थी। यद्यपि इनकी दशा उतनी अच्छी नहीं थी, फिर इनका सम्बन्ध अधिकांशत: उच्चवर्ग से ही रहा। इसका कारण यह था कि निम्न-वर्ग में न तो इनकी कविताएँ समझने की क्षमता थी और न इन्हें पुरस्कृत ही करने की शक्ति थी।[4] अतएव कविगणों को उच्च-वर्ग में ही आश्रय लेना पड़ा और उस भोग-विलासिता को उस

---

१. 'भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास'; पृ० ५४६

२. मध्य युग का संक्षिप्त इतिहास—डॉ० ईश्वरी प्रसाद; पृ० ४६३

३. 'हिन्दी रीति-साहित्य'—डॉ० भगीरथ मिश्र; पृ० ८

४. 'साहित्य-संदेश'–(जुलाई-अगस्त १९५९)–रीतिकाव्यालोचन विशेषांक–रीतिकालीन, राज, समाज और धर्म; पृ० ६३

युग के साहित्य में ही आश्रय मिला। सुन्दर वेश-भूषा, बढ़िया खानपान, मखमली वस्त्र तथा सजावट-इस मध्यम-वर्ग की खास निशानी थी।

तीसरा-वर्ग था साधारण जनता का, जिसमें कृषक, मजदूर तथा निम्न-वर्ग के लोग आते हैं। इनकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी। किन्तु नैतिकता की दृष्टि इस वर्ग में भक्ति कालीन रचनाओं के प्रभाव से धार्मिक-वृत्ति की प्रधानता रही। उत्पादक और भोक्ता वर्ग के बीच इतनी लम्बी खाई पड़ गयी थी जिसे लांघना कठिन था। डॉ॰ ईश्वरी प्रसाद के अनुसार भारत उस युग में बर्बाद होने से बच गया, अन्यथा रोमनों की सी ही दशा भारतीयों की भी होती। 'हिन्दुओं के धार्मिक आन्दोलन तथा उच्च कवि, साधु-सन्तों की कविताओं ने भारतीय जनता के नैतिक-स्तर को उच्चतर बना दिया। तुलसी-कृत रामायण तथा अन्य आचार्यों के उपदेशों ने लोगों को शुद्ध विचारों से परिपूर्ण कर दिया।[१] उस युग की निम्न-वर्ग की जनता में भारतीय आत्मा बसती थी, क्योंकि उच्च कोटि की धार्मिकता, नैतिकता और सदाचार ही उनका जीवन था। उनके सद्व्यवहारों की प्रशंसा यूरोपीय यात्रियों ने मुक्तकण्ठ से की है। इन सामाजिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उच्च वर्ग में प्रवृत्ति-पक्ष और साधारण जन में निवृत्ति-पक्ष की प्रधानता रही। साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन मिला, धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़ी तथा कविगणों को राजाओं तथा सामन्तों के यहाँ आश्रय प्राप्त हुआ।

धार्मिक-स्थिति—जिस प्रकार समाज में कई वर्गों के व्यक्ति रहते थे, उसी पर उस युग में धर्म के प्रति भी लोग कई वर्गों में बँटे हुए थे। इनमें हम धार्मिकता की दृष्टि से तीन विचारों वाले वर्ग पाते है। प्रथम था विद्वान पंडितों का वर्ग जोकि उच्च कोटि के ग्रन्थों का शास्त्रीय विवेचन ही किया करता था और उन्हीं के अनुसार अपने क्रिया-कलापों को भी परिवर्तित करता रहता था। इन्हीं से सम्बन्धित वर्ग था महाप्रभु वल्लभाचार्य का वैष्णव सम्प्रदाय, जिसकी स्थापना तो आध्यात्मिक एवं तत्व-ज्ञान के आधार पर की गयी थी किन्तु समय के साथ-साथ उस पर भी लोकाचारों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वहाँ भी 'धर्म के नाम पर देव-दासियों की पायल, करधनी की छन-छन को ही भक्तिपूर्ण मजीरों व करतालों की ध्वनि माना जाने लगा। नृत्य व संगीत को भक्ति का आवश्यक अंग मान लिया गया'।[२]

---

१. 'मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास'—डॉ॰ ईश्वरी प्रसाद; पृ० ५०४-५

२. साहित्य-संदेश-रीतिकालीन राज्य, समाज और धर्म—(जुलाई-अगस्त १९५९) पृ० ६५

दूसरा दल था अपढ़ एवं भोले भाले अंधविश्वासी मनुष्यों का। ये जादू-टोना, तंत्र-मंत्र और झूठे चमत्कारों में अधिक विश्वास करने वाले थे। इनमें हिन्दू और मुसमान दोनों ही थे।

तीसरा दल था आध्यात्मिक तथा कट्टर पंथियों का, जो वाह्य-आडम्बर और रूढ़िवादिता को समाप्त कर समाज में जाति-पांति, छूआछूत, तथा नीच-ऊंच के वन्धनों को तोड़कर एक नया मोड़ लाना चाहता था। ये सन्त-कवि निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। इनकी रचनाओं में सूफी-सन्तों की प्रेम-भावना, ब्रह्म-तत्त्व तथा भारतीय दर्शन तीनों का समावेश मिलता है। 'इसका मूल सिद्धान्त ईश्वर की अविभाज्य एकता तथा जिसका आधार हिन्दुओं का अद्वैतवाद तथा मुसलमानों का एकेश्वरवाद था।' [1]

इसके पश्चात् इस युग में हम राम-भक्तों की भी वही दशा देखते हैं जो कृष्ण भक्तों की थी। जिस प्रकार श्रीकृष्ण को साधारण नायक और राधा को लोक-नायिका मानकर इन भक्तों ने समाज में रास-लीला की विलास-लीला प्रारम्भ कर दी, उसी प्रकार राम-भक्तों ने भी 'रामलीला' के नाम पर मांसल-प्रेम लीला प्रारम्भ कर दी। साराँश यह है कि पुण्य प्रेम के स्थान पर कामुक-लोलुपता, धर्म-साहित्य और धर्म के ठेकेदार महन्तों के जीवन में व्याप्त हो गयी।[2] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्म पतनावस्था की ओर था। आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता ने, सूक्ष्मता का स्थान स्थूलता ने और भगवत्-प्रेम का स्थान रसिकता ने ले लिया था। तब वाह्याडम्बरों को ही जनता धर्म मान बैठी थी।

आर्थिक स्थिति—आर्थिक दृष्टि से यह युग उच्च-वर्ग के लिए तो सुख और समृद्धि का माना जायेगा किन्तु निम्न-वर्ग के लिए दयनीय ही कहा जायेगा। उत्पादक और उपभोक्ता के खानपान, रहन-सहन, आमदनी-खर्च में बहुत बड़ा अन्तर था।[3] जो किसी भी समय क्रान्ति की ज्वाला भड़का सकता था।[4] किन्तु निरंकुश शासन एवं निम्न-वर्ग की जनता की नैतिकता ने स्थिति को सम्हाल लिया।

देश उस समय भी कृषि-प्रधान ही था। वर्ण-व्यवस्था ने व्यावहारिक रूप

---

१. रीति-काव्य की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र; पृ० १९
२. 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास'—सम्पा० डॉ० नगेन्द्र; पृ० १७-१८
३. 'एन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इन्डिया'; पृ० ५६७
४. 'मध्ययुग का इतिहास'—डॉ० ईश्वरी प्रसाद; पृ० ५०४

धारण कर लिया था, प्राय: धोवी का लड़का धोवी, लोहार का लोहार और कुम्हार का लड़का कुम्हार का ही कार्य करता था। ये घरेलू धंधे करके जीविका चलाते थे। अपने विवादों का निपटारा ग्राम-पंचायतों द्वारा कराते थे।[1] शिल्पी हाथी-दांत, आवनूस की लकड़ी, सोना-चांदी आदि कलात्मक चीजों का उपयोग उच्च-वर्ग के लिए होता था। शाल-दुशाले, ऊनी कम्वल तथा गलीचे आदि भारतीय माल की खपत विदेशों में अधिक होती थी। अकवर के समय में तो इन कारीगरों के कठोर जीवन का कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता है किन्तु जहाँगीर के समय में दशा शोचनीय थी, विशेष रूप से मजदूरों को पर्याप्त वेतन या पारिश्रमिक नहीं मिलता था।[2] फिर भी शाहजहाँ के समय में श्रमिकों की स्थिति वहुत शोचनीय नहीं थी। हाँ, औरंगजेव के समय में जनता का आर्थिक स्तर अवश्य गिर गया था।[3]

मुगल-शासन काल में निम्न-वर्ग की नारियाँ पुरुषों के श्रम में सहयोग करतीं अथवा राजमहलों में नौकरी करती थीं, जहाँ चरित्र-रक्षा कठिन थी।[4]

(३) **युग का नामकरण**—हमारे साहित्य में दिनोंदिन काल-विशेष के नामकरण के विवाद की भी एक धारा-सी वह निकली है जिसमें हिन्दी साहित्य के 'आदियुग' और 'रीति-शृंगार-युग' पर मतभेदों की धारा विशेष विस्तृत हो गयी है। वैसे किसी भी काल के नामकरण के लिए प्रत्येक विद्वान का अपना विचार स्वातंत्र्य होता है किन्तु उनमें सर्वमान्य नाम वही माना जावेगा जो साहित्यिक मान्यताओं की कसौटी पर खरा उतरेगा एवं जिस पर अधिकांश विद्वानों में मतैक्य होगा।

हिन्दी-साहित्य के 'रीति-युग' के नामकरण पर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे 'रीतिकाल', 'मिश्रबन्धु इसे 'अलंकृत अथवा अलंकरण-काल', 'डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' इसे 'काव्य-कला-काल' अथवा 'कला-काल' और डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त इसे ऐतिहासिक चरित्र-काव्य अथवा मुक्तक-काव्य परम्परा, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसे 'शृंगार-काल' एवम् डॉ० भगीरथ मिश्र

---

१. 'लाइफ एण्ड कण्डीशन्स आफ पीपुल आफ हिन्दुस्तान'—के० एम० अशरफ; पृ० १९७
२. 'ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इन्डिया'—डॉ० ईश्वरी प्रसाद; पृ० ६५१
३. 'हिस्ट्री आफ औरंगजेव'—डॉ० यदुनाथ सरकार—५ वां भाग; पृ० ४३९-४१
४. 'ग्रेट विमेन आफ इन्डिया'—(१९५३); पृ० ४२

इसे 'रीति-शृंगार-युग' नाम से सम्बोधित करना उचित मानते हैं। इन सभी विद्वानों ने अपने-अपने तर्कसंगत प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं।

पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का एक सारगर्भित एवं तर्कपूर्ण लेख 'अलंकृत-काल, रीति-काल या शृंगार-काल' शीर्षक से दिल्ली की मासिक पत्रिका 'आजकल' में प्रकाशित हुआ था। उपर्युक्त लेख में मिश्रजी लिखते हैं कि, 'रीतिकाल वस्तुतः उन ग्रन्थों के समुदाय का बोधक है जिनकी राशि 'रीति' के नाम पर एकत्र हुई है। विचार करने पर रीति-ग्रन्थ प्रणेता अधिकतर आचार्य नहीं सिद्ध होते। इन्होंने रीति का पल्ला सहारे के लिए पकड़ा, कहना वे चाहते थे शृंगार ही। किसी ने अलंकारों की माला बनायी, किसी ने पिंगल का प्रस्तार किया, किसी ने रसभाव की धारा बहाई और किसी ने सीधे नायक-नायिका-भेद, नखशिख, षट्ऋतु, बारहमासा आदि के बने बनाये सांचे ले लिये।' फिर रीति के अधिकांश ग्रन्थ तो शृंगार-प्रधान हैं ही, और ग्रन्थ भी शृंगार-संवलित हैं—अतएव 'अलंकृत-काल' और 'रीति-काल' नाम व्याप्ति के बोधक नहीं प्रतीत होते। उन्हें हटाने की आवश्यकता है और उनके स्थान पर 'शृंगार-काल' की स्पष्ट अपेक्षा जान पड़ती है।

आदरणीय डा० रसाल जी ने 'कला-काल' नाम देने के सम्बन्ध में लिखा है कि 'राजपूत-काल में काव्य-ग्रन्थ राजा के कहने से या उसके पढ़ने के लिए लिखे जाते थे और उस पर सम्मति देते थे संस्कृत के प्रतिष्ठित पंडित लोग। वे लोग संस्कृत काव्य शास्त्र के ही अनुसार उसे देखते थे।............यदि काव्य में छन्द, रसादि का निर्वाह ठीक न हो तो रचना उत्कृष्ट नहीं समझी जाती थी—लोग राज-दरबार में सम्मानित होने के लिये अति उत्सुक रहते थे। इसलिए आवश्यक था कि लोग काव्य और काव्यशास्त्र से पूर्ण परिचित हों। इसी से लोगों ने इतनी अधिक पुस्तकें काव्य और काव्यशास्त्र की लिखीं।'[१]

डॉ० भागीरथ मिश्र को इस काल का नाम यद्यपि 'रीति-युग' अधिक समीचीन जान पड़ता है किन्तु यह तर्क कि उस युग में 'शृंगार' का बोलबाला होते हुए भी इसे शृंगार युग नहीं कह सकते, क्योंकि वीर और भक्ति की भांति शृंगार भी एक मनःस्थिति है जो कि उस युग की भक्ति साहित्य, वीर-साहित्य एवं नीति-साहित्य से अधिक नहीं थी, और गहरे रूप में दिखायी देती है, वह है पद्धति-

---

१. 'सम्मेलन निबन्ध-माला'—भाग २—(हिन्दी काव्य-शास्त्र)—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'; पृ० १०७

परकता।'[१] हम देखते हैं कि प्रथम चेतना रीतिपरक थी और द्वितीय शृंगारपरक। यद्यपि 'रीतिकाल' भी 'रीति-युग' का पर्यायवाची ही कहा जायेगा।

इस उपर्युक्त आधार पर हम 'रीति-शृंगार-युग' नाम को ही अधिक समीचीन मानते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत आचार्य शुक्ल से आज तक के सभी विद्वानों के मत से संबंधित रीति, परम्परा, प्रवृत्ति, शृंगार और कला का भाव आ जाता है।

(४) रसराज-शृंगार की परम्परा—कतिपय आचार्यों ने शृंगार-रस को रस-राजत्व का पद प्रदान नहीं किया है। भवभूति की उक्ति 'एको रसः करुण एव' अधिक प्रसिद्ध है।[२] महामति धर्मदत्त ने अद्‌भुत-रस को 'रसेसारश्चत्कारः[३] कहकर उसे सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। कुछ विद्वानों ने शान्त-रस को ही रसराज घोषित कर उसकी प्रतिष्ठा की है। इस संबंध में यह कथन प्रस्तुत किया जाता है—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता,
न द्वेष रागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः,
सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः'॥

शृंगार-रसराज के रूप में स्वतः प्रतिष्ठित हो गया। इसका स्थायी भाव प्रेम है जो सबमें विद्यमान है, अतः शृंगार-रस की व्यापकता और गहनता निर्विवाद है। मात्र मानव ही क्यों, पशु-पक्षियों में भी इसका पर्याप्त प्रभाव और प्रसार है, क्योंकि इसके मूल में काम एवं सौंदर्य प्रवृत्ति है। संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने शृंगार-रस को काव्य-शास्त्र निर्माण के प्रारंभिक युग से ही सर्वोत्कृष्ट रस के रूप में घोषित किया है। भट्ट नृसिंह के मतानुसार जिस भाव के द्वारा मानव पूर्णता के शिखर पर पहुँच जाता है उसे शृंगार कहते हैं—येन शृंगं रीयते इति शृंगारः-भोज। भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में मूल रूप से चार रस माने हैं–शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। इन्हीं से इन चार रसों की भी उत्पत्ति उन्होंने मानी है–हास्य, करुण, अद्‌भुत और भयानक।[४] आचार्य विश्वनाथ ने शृंगार-रस को आदि-रस कहा है—'यमुपार धना

१. काव्य, साहित्य और समीक्षा—डॉ० भगीरथ मिश्र – (रीतियुगीन-काल-विभाजन की समस्या एवं नामकरण); पृ० ११०–११
२. उत्तर रामचरितम्—३, ४७
३. केशव और उनका साहित्य–पृ० २४८
४. 'नाट्यशास्त्र'; ६।३९-४१

श्रात्यिरस आद्यः प्रवर्तते ।[1] वाणभट्ट ने 'रस' का प्रयोग शृंगार के अर्थ में किया—"रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथाजनस्याभिनवा वधूरिव'।[2]

रुद्रट के अनुसार शृंगार-रस जैसी रस्यता को कोई अन्य रस उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी रस में सभी आवाल-वृद्ध नर-नारी ओतप्रोत हैं। इस रस के समावेश विना काव्य हीन कोटि का रहता है[3] आनन्दवर्धन भी शृंगार को ही सर्वाधिक मधुर और परम आह्लादक रस मानते हैं।[4]

इस प्रकार शृंगार की परम्परा प्राचीन है और प्रायः सभी प्राचीन काव्याचार्यों ने अपने-अपने ढंग से शृंगार की ही श्रेष्ठता सिद्ध की है। कवि-पुंगव देव के अनुसार सब रसों का मूल शृंगार है प्रकृतिवादकार ने तो शृंगार को ही आद्यरस माना है। महामुनि भरत का कहना है कि संसार में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वही शृंगार-रस है।[5] कविराज विश्वनाथ भी इसका समर्थन करते हुए लिखते हैं कि 'काम के उदभेद होने को 'शृंग' कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस शृंगार कहलाता है।........दोनों का मत स्पष्ट है कि जहाँ उत्तमता है, वहाँ पवित्रता, उज्ज्वलता आदि का होना स्वाभाविक ही है।'[6] इस प्रकार स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, जड़-चेतन - सभी में शृंगार की अद्भुत छटा है। अतएव सर्वत्र शृंगार-रस की ही प्रधानता दीख पड़ती है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए राजा रुय्यक ने लिखा है—'राजातु शृंगारमेवैकं रसमाह' अर्थात् शृंगार-रस ही सभी में प्रधान है।

शृंगार-रस ही आदि है, इस सम्बन्ध में 'अग्नि-पुराण' में लिखा है कि '.... ममता संकलित अभिमान से रति की उत्पत्ति हुई, यही रति शृंगार-रस की जननी है'।[7] यही 'रति' कामदेव की स्त्री मानी गयी है और इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति

---

१. 'प्रेमरसायन'—विश्वनाथ
२. 'कादम्बरी'—वाणभट्ट
३. का० अ०—१०.३८
४. शृंगार एवं मधुरः परः प्रल्हादनो रसः —ध्वन्या० २.७
५. 'नाट्यशास्त्र'—(भरतमुनि); ६.४५
६. 'शृंगहि मन्मथोद्भेदस्तदाग मनहेतुकः
उत्तम प्रकृतिप्रायोरसः शृंगार इष्यते।'—'साहित्य दर्पण'—कविवर विश्वनाथ
७. 'रीतिकालीन कविता एवं शृंगार-रस का विवेचन'—डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी; पृ० ५

मनु और श्रद्धा से मानी गयी हैं। शृंगार शब्द का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में किया जाता है--रति के परिपाक अथवा कामोद्रेक के लिए तथा वाह्य रूप सज्जा और सौन्दर्य प्रसाधन के लिए।

रीतिकालीन आचार्यों ने भी 'शृंगार' की प्रधानता का अत्यन्त सुरुचिपूर्ण वर्णन अपने काव्यों में किया है—

नवहूं रसको आवहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास कहि नायक है सिंगार॥' --केशव

....

'नव रस में सिंगार रस सिरे कहत सब कोय।' पद्माकर

....

'भूलिं कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार।' --देव

यदि हम भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों की दृष्टि से भी देखें तो 'शृंगार-रस' का स्थायी भाव 'रति' या 'प्रेम' है जो जन्म से मृत्यु तक मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता। आलम्बन में नायक और नायिका का द्वैत भाव समाप्त ही जाता है। उद्दीपन में जड़-चेतन तथा विश्व के कण-कण में हर समय, हर स्थान पर वह व्याप्त है। अनुभावों तथा संचारी भावों का सात्विक पूर्ण परिष्कार शृंगार-रस में ही होता है। इसके अन्तर्गत २६ संचारी-भाव (केवल उग्रता, मरण, आलस्य, जुगुप्सा को छोड़कर) का समावेश हो जाता है'।[1] संयोग और वियोग दोनों इसी के विभाग हैं, इसलिए जीवन सुखद और दुःखद समस्त भाव इसी के अन्दर आ जाते हैं। इसलिए महाराज भोज ने लिखा है कि 'यद्यपि आचार्यों ने अनेक रस स्वीकार किये हैं, तथापि हमारी समझ में एकमात्र रस शृंगार ही है और तो सब नाममात्र के ही रस हैं।'[2]

यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी हम देखें तो 'श्रंगार रस का स्थायी भाव रति' है और उसका व्यवहारिक रूप 'प्रेम' है। 'प्रेम एक मनोवृति है जिसके अन्तर्गत वात्सल्यभाव, काम, आत्म-समर्पण तथा आत्म-प्रतिष्ठा का सुखद संयोग होता है, "काम-भाव का स्फुरण दाम्पत्य जीवन में दिखाई पड़ता है जिसने सृष्टि की रचना की।[3] अतः सबका

---

१. 'त्यक्त्वोग्रयमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिण'।' —'साहित्य-दर्पण' कविवर विश्वनाथ
२. 'रस-रत्नाकर'—डॉ० हरिशंकर शर्मा; पृ० ७३
३. 'कामदेव' को शृंगार-योनि और शृंगार-जन्मा भी कहते हैं—'रसकलस' —'हरिऔध'; पृ० ८६

मूल एवं सब में श्रेष्ठ शृंगार रस ही हुआ; क्योंकि दाम्पत्य जीवन से इसका सीधा सम्बन्ध है। इसी कारण हमारे आचार्यों को शृंगार-रसपूर्ण काव्य के अभाव में संसार ही शुष्क और वीरान प्रतीत होता है।[1] कहा गया है कि 'शृंगार-रस समस्त सुखों का मूल, रसों का राजा, प्रेम-प्रमोद का अधिष्ठाता तथा प्रीति का प्राण है।[2]

(५) **रीतियुगीन आचार्य**—इस युग के काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के कवियों ने परिस्थिति और समय के अनुकूल अपने साहित्य की मान रक्षा का ध्यान रखा। यह बात सब पर तो लागू नहीं की जा सकती, क्योंकि वह तो युग ही ऐसा था जिसमें कवियों को अपनी वृत्ति का साधन कविता को बनाना पड़ा और अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में राग अलापनी ही पड़ी। दूसरी ओर उन्हें साहित्यिक गोष्ठियों में संस्कृत के पंडितों से भी टक्कर लेनी पड़ती थी जिसके कारण उन्हें अपनी प्रतिष्ठा का भी ध्यान रखना पड़ता था। अतएव उन्हें शास्त्रीय पद्धतियों का भी निर्वाह करना पड़ा। इन्हीं दो धाराओं अथवा प्रवृतियों के बीच से होकर उस युग का कवि बहता चला जा रहा था। उनमें कुछ तो रीति-परम्परा के अनुसार चले और जिनमें प्रवाह को अपने अनुकूल मोड़ने की क्षमता थी, वे उस रीति से मुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा में प्रवाहित होने लगे। इस प्रकार इस युग में कवियों के दो वर्ग स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं— (१) रीतिबद्ध (शास्त्रबद्ध)
(२) रीति-मुक्त (स्वच्छन्द)

प्रथम वर्ग की रचनाओं में वे रचनाएं सम्मिलित की जा सकती हैं जिनमें हृदय-पक्ष दब गया था और कला-पक्ष उभर कर सामने आया। इन रचनाओं में रीति-शास्त्रीय सिद्धान्तों का विशेष निर्वाह हुआ है। इस प्रकार की रचनायें करने वाले कविगण अपने आश्रयदाताओं के मानस-रंजन और आत्माभिव्यंजन का सुख प्राप्त करने में ही अपनी कला की सार्थकता समझते थे।

रीति-मुक्त कवियों ने अपनी स्वच्छन्द धारा प्रवाहित की। वे रीति-युग में रह कर भी रीति-मुक्त ही रहे। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में 'ये प्रेम की अनेक वृत्तियों के उद्घाटक, काव्यगत रमणीयता के नाना भेदों के विधायक, संयोग

---

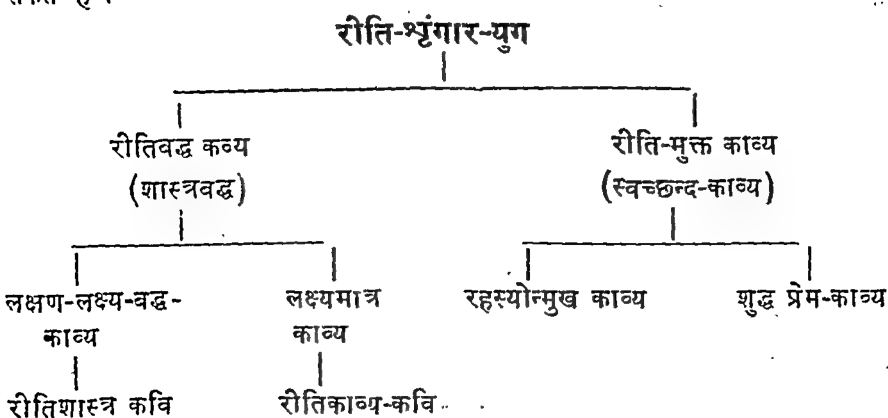
१. 'यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तत् शृंगारेणानुमीयते।' —भरत-मुनि-नाट्य शास्त्र ६.४५ वृत्ति

२. 'सरस्वती संवाद'—शृंगार-रस का रस-राजकत्व—डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी पृ० ३७४

३. 'बिहारी'—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; पृ० १३

और वियोग की अनेक प्रेम-दशाओं के मार्मिक द्रष्टा, भावना भेदों के सहृदय चितेरे, प्रेम-रस के सिक्त भावुक, मिलन और विरह की हृदयगत अशान्ति के अनुभावक और भाषा प्रयोग की सीमा के सच्चे ज्ञाता थे। ये वासना से पंकिल राजाओं के मानस का रंजन करने वाले चाटुकार नहीं थे। ये अपनी उमंग के आदेश पर थिरकने वाले और काव्य-विभूति द्वारा काव्य-मर्मज्ञों को प्रभावित करने वाले थे।[1]

हम इस युग के कवियों एवं रचनाओं को निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।



(क) रीतिवद्ध काव्य– रीतिवद्ध कवियों के भी दो वर्ग हैं–(१) लक्षण–लक्ष्य-वद्ध काव्यों के रचयिता, जिन्हें विद्वानों ने 'रीति-शास्त्र-कवि' कहा है, और (२) लक्ष्य-काव्य के रचयिता, जिन्हें रीति-काव्य-कवि नाम से सम्बोधित किया गया है। किन्तु हम इनकी विशेष गहराई में न जाकर सम्पूर्ण रीतिवद्ध कवियों का अलग-अलग विवेचन करेंगे। उपर्युक्त वर्गों के अनुसार प्रथम वर्ग–लक्षण-लक्ष्यवद्ध अर्थात् रीतिशास्त्र कवियों में भी चार विभाग हो गये हैं (१) सर्वांग (विविधांग) निरूपक आचार्य, जिनमें केशवदास, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, पद्मनदास, देव, सुरति मिश्र, कुमारमणि शास्त्री, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसिंह तथा ग्वाल आदि कवि आते हैं। (२) शृंगार-रस निरूपक आचार्यः (३) अलंकार निरूपक आचार्य, (४) पिंगल निरूपक आचार्य–इन विभागों में अनेक कवि तथा आचार्य आते हैं किन्तु हम इनके प्रमुख कवियों की रचनाओं का ही अध्ययन करेंगे क्योंकि सभी कवियों का विस्तृत विवेचन इस लघु अध्याय में संभव नहीं।[1]

---

१. 'हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास'–सम्पा० डॉ० नगेन्द्र—(रीतिबद्ध कवियों का वर्गीकरण); पृ० २८१

महाकवि केशवदास—हिन्दी के कुछ विद्वान 'रीतिकाल' का प्रथम कवि आचार्य केशव को मानते हैं और कुछ कवि चिन्तामणि त्रिपाठी को मानते हैं। आचार्य शुक्ल तो चिन्तामणि त्रिपाठी को ही मानने के पक्ष में हैं किन्तु कुछ विद्वान केशवदास को मानते हैं। ये ओरछा नरेश इन्द्रजीत के दरबार में रहते थे। संस्कृत का ज्ञान इनकी पैतृक सम्पत्ति थी, तभी तो आप संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे।

यद्यपि आचार्य केशव से पूर्व रस और अलंकार निरूपण का सूत्रपात हो चुका था।[1] तथापि आप 'रीति-ग्रन्थ' शैली के प्रवर्तक माने जाते है और आपकी गणना अलंकार-सम्प्रदाय वाले कवियों में की जाती है। अलंकार के सम्बन्ध में आप ही ने तो कहा था—'भूषण विन न विराजही कविता, वनिता, मित्त'। भाषा कठिन होने के कारण कुछ लोगों ने आपको 'कठिन काव्य का प्रेत' कहकर उनके प्रति अपनी अनुदार भावना प्रकट की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है कि 'केशव का कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत-साहित्य से सामग्री लेकर अपने पाण्डित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए, वैसा उन्हें प्राप्त न था।'[2] किन्तु हम आचार्य श्री के इस कथन से सहमत नहीं क्योंकि हमारी तो यह मान्यता है कि केशव का व्रजभाषा पर असीमाधिकार था और उनके काव्य में यथा-स्थान माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में स्थित हैं। कुछ थोड़े-से चुने हुए छन्दों की भाषा के आधार पर यह प्रसिद्ध आक्षेप कि 'कवि को दीन न चहै विदाई, पूछै केशव की कविताई' उचित नहीं जान पड़ता। यह अवश्य है कि उनकी कविता सर्व-सामान्य के स्तर से पर्याप्त ऊँची हो गयी है, संभव है इसी कारण से उन पर ये कुछ आक्षेप किये जाते हैं। स्व० डॉ० श्यामसुन्दर दास जी ने भी लिखा था कि—'जिस प्रकार तुलसी अपनी सरलता और सूर अपनी गंभीरता के हेतु सराहनीय हैं, वैसे ही वरन् उससे भी बढ़कर केशव अपनी भाषा की परिपुष्टता के लिए प्रशंसनीय हैं।'[3]

---

१. 'हिततरंगिणी' ग्रन्थ द्वारा रीतिकाव्य-परम्परा का आरम्भ सं० १५६८ में कृपाराम द्वारा हुआ था—वाद में गोप कवि ने सं० १६१५ के लगभग 'राम-भूषण' और 'अलंकार चंद्रिका' नामक अलंकार ग्रन्थ और चरखारी के मोहन लाल मिश्र ने 'शृङ्गार-सागर' नामक शृङ्गार-रस सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा था।
२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य शुक्ल; पृ० २०६
३. रामचन्द्रिका (मनोरंजन पुस्तक माला); पृ० ४

नागरी-प्रचारिणी-सभा की ई० १६०० से १६२३ तक की खोज-रिपोर्ट के आधार पर रसिक-प्रिया, नखशिख, कवि-प्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंह देव-चरित, रतन बावनी, विज्ञान गीता तथा जहाँगीर-जस-चन्द्रिका ग्रन्थ प्रामाणिक माने गये हैं। 'रसिक प्रिया' में शृङ्गार रस और नायिका-भेद पर पर्याप्त विवेचन है तथा 'नखशिख' में कवि-नियमानुसार राधा के नख से शिख तक प्रत्येक अंग का वर्णन है। दोहे में प्रत्येक अंग के लिए कवि-परम्परा-सिद्ध उपमान बतलाये गये हैं और उसके बाद कवित्त में उन उपमानों की सहायता से अंग-विशेष का वर्णन है।[1] केशव राज-दरबारों में रहते थे जिनकी विलासिता का पर्याप्त प्रभाव उनकी कविता पर भी पड़ा—तभी तो उनके सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

'केशव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराँहि।
चन्द्रवदन मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाँहि॥'

नारी-चित्रण—केशवदास प्रकृति से रसिक और कवि के साथ आचार्य भी थे। वे परम्परागत संस्कृत ग्रन्थों से पूर्णतया परिचित थे अतएव नारी-चित्रण में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। आपने 'नाट्यशास्त्र', 'देशरूपक', 'साहित्यदर्पण' तथा 'रसमंजरी' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वात्स्यायन के कामसूत्र' से भी सहायता ली है। एतदर्थ उनका नायिका-भेद वर्णन अधिक कामशास्त्रीय एवं पूर्ण हो गया है।[2]

केशव की दृष्टि रस में सराबोर होने पर भी नीति से सर्वदा दूर नहीं थी। उन्होंने सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर स्वकीया, परकीया, तथा सामान्या—ये तीन भेद किये हैं। कवि ने सामान्या नारी का वर्णन अनुचित समझकर छोड़ दिया किन्तु बाद के कवियों ने सामान्या का वर्णन अधिक किया। इस युग के कवियों की दृष्टि में नारी उपभोग की वस्तु थी। उनकी नारी हर कहीं उनका चित्त-हरण किया करती थी, जैसे वह कोई छाया गृहिणी हो।[3] अतः प्रेम की अनेक अन्तर्दशाओं के दर्शन इस काल की रचनाओं में बहुत कम ही प्राप्त होते हैं। फिर भी केशव ने नैतिक-पक्ष, संयमशीलता एवं मर्यादा का पूर्ण पालन किया है। इस सम्बन्ध में सीता का चरित्र-चित्रण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

'रामचन्द्रिका' की सीता पर विचार करते समय हठात् 'रामचरित-मानस' की सीता पर ध्यान जाता है। मानस की सीता वनमार्ग में चलते समय राम के चरण

---

१. आचार्य केशवदास'—डॉ० हीरालाल दीक्षित; पृ० ६१
२. 'कविकुल-कल्पतरु'; ५, २, ७४
३. 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना; पृ० ४२५

चिह्नों को बचाती हुई चलती हैं, राम उनके आराध्य हैं, पति होते हुए भी अपनी महानता के कारण इतने ऊँचे हैं कि सीता उनके चरणों पर चरण रखकर भला कैसे चल सकती हैं ?—

'प्रभु पद रेख बीचविच सीता ।
धरहिं चरण मग चलत सभीता ।'[1]

किन्तु केशवदास द्वारा चित्रित सीता सूर्य-ताप से तप्त धरती का कष्ट न सह सकने के कारण राम के चरण-चिन्हों पर ही चरण रखती चलती हैं—

'मारग की रज तापित है अति, केशव सीतहिं सीतल लागति ।
त्यौं पद पंकज ऊपर पायनि, दै जु चलै तेहि ते सुखदायनि ।'[2]

केशव की सीता चरण-सेविका से अधिक जीवन-संगिनी और प्रिया भी हैं । पथ में श्रान्त होने पर, किसी सरोवर के तट पर, तमाल की छाँह में राम से पंखा भी झलवाती हैं । वे इसी में सुख का अनुभव करती हैं और बीच-बीच में चंचल नेत्रों से राम की ओर निहार भी लेती हैं—

'मग को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय को शुभ बाकल अंचल सों ।
श्रम तेऊ हरैं तिनको कहि केशव चंचल चारु दृगंचल सों ।।'[3]

तुलसी के राम तो परमानन्द स्वरूप हैं, अतः उनकी जगदम्बा को आवश्यकता नहीं है कि उन्हें रिझावें, किन्तु केशव की सीता रानी, प्रिया और जीवन-संगिनी हैं; अतः वन में कथित अन्यमनस्क पतिको रिझाने के लिए वे वीणा-वादन कार्य भी करती हैं—

'जब जब धरि वीना प्रकट प्रवीना बहुगुन लीना सुख सीता ।
पिय जियहिं रिझावैं दुखनि भजावैं विविध बजावैं गुनगीता ।।'[4]

सीता सरला नारी हैं किन्तु व्यावहारिक जगत में सहज संशयशीलता भी उनमें है । हनुमान का कथन भी वे यों ही नहीं मान लेतीं । रावण की प्रवंचना की शिकार भी नहीं बनतीं । उनकी बुद्धि की सजगता और सहज अविश्वास की झलक का कारण है स्वयं केशव का राजनैतिक कौटिल्य, जिससे सीता का इस प्रकार चरित्र-चित्रण हुआ है ।[5]

---

१. रामचरित-मानस– (अयोध्याकाण्ड)–गोस्वामी तुलसीदास; पृ० २२७
२. 'रामचन्द्रिका' (पूर्वार्द्ध)—छन्द सं० ३८; पृ० १७६
३. वही—छन्द सं० ४४; पृ० १८०
४. वही—छन्द सं० २७; पृ० २११
५. 'केशव और उनका साहित्य'—डॉ० विजयपाल सिंह; पृ० ३०५

'रामचन्द्रिका' की सीता पति-परायणा है। उनमें चातक की-सी निष्ठा है। राम-रूपी मेघ चाहे ओले गिराये, परन्तु सीता-रूपी चातकी भला अपने वरेण्य आराध्य, प्रिय के दोष कैसे देख सकती हैं? सीता को निरपराध होते हुए भी राम ने उन्हें त्याग दिया, वनवास दिया, किन्तु प्रतिशोध का भाव उनमें नहीं था यद्यपि उनकी वेदना साधारण भी नहीं थी। राम के पराजय की सूचना जब उन्हें कुश से प्राप्त होती है तब वे कहती हैं--

'पाप कहाँ हति बापहि जैहौं। लोक चतुर्दश ठौर न पैहौं।
राजकुमार कहै नहिं कोऊ। जारज जाइ कहावहु दोऊ॥'[1]

'रामचरित-मानस' और 'रामचन्द्रिका' की सीता की भाँति 'कौशल्या' का चरित्र भी विचारणीय है। मानस की कौशल्या में कठिन परिस्थितियों के समय भी कितना धीरज और आदर्शों के प्रति कितनी गहन निष्ठा है। वे वन जाते समय पुत्र को किन शब्दों में आज्ञा और आशीर्वाद देती हैं'--

'जो पितुमातु कह्यो वन जाना। तो कानन सत अवध समाना॥
पितु वन देव मातु वन देवी। खग मृग चरण सरोरुह सेवी॥'[2]

किन्तु केशव की कौशल्या मोहमयी हो जाती है और कहती है—'मोह चलौ वन संग लिये।'[3] वह पुत्र के बिना जीवित नहीं रह सकती। अपनी बात पर जोर देने के लिए भी तथा पुत्र-विछोह की वेदना से विकल होकर कुछ ऐसा कह जाती हैं कि जो उनके औदात्यपूर्ण व्यक्तित्व को शोभा नहीं देता—चाहे भरत राज करें या अयोध्या पर वज्र गिरे, वे वन जाना चाहेंगी—

'औधपुरी यह गाज परै, कै अब राज्य भरत्थ करैं।'[4]

वास्तव में 'मानस' और 'रामचन्द्रिका' की कौशल्या के व्यक्तित्वों का अन्तर तुलसी और केशव की भूमियों का अन्तर हैं।

केशव की नारी भले ही उदात्त मूल्यों से असम्पृक्त हो, किन्तु उसका अपना व्यक्तित्व है। उसके युग के प्राणों से अलग वह कैसे अस्तित्व में रहती? रीतिकालीन नारी में मन को रंजित करने की क्षमता है क्योंकि तत्कालीन काव्यों का ध्येय रसिकानुरंजन ही था, एतदर्थ उन्होंने रीतिबद्ध दृष्टिकोण रखा।[5] केशव ने नारी को

---

१. 'रामचन्द्रिका'—उन्तालीसवां प्रकाश—छन्द; ३
२, अयोध्याकाण्ड; पृ० ११६
३. रामचन्द्रिका—पूर्वार्द्ध—छन्द १०; पृ० १६३
४. वही; पृ० १६३
५. रामचन्द्रिका—उत्तरार्द्ध; पृ० ५४

भोग-रूपा मानकर ही त्याज्य बतलाता है। उसके बिना भोगों का अस्तित्व नहीं है। उनके अनुसार नारी-त्याग से सहज ही संसार के बंधन छूट जाते हैं और तभी वास्तविक परब्रह्म सुख की प्राप्ति होती है—

'जहाँ भामिनी, भोग तहँ, बिन भामिनि कंह भोग।
भामिनि छूटे जग छुटै, जग छूटे सुख-योग॥'[1]

कवि ने परनारी प्रसंग को ज्वाला मूलक कहा है। वह पाप की लपटों से निरन्तर जलाती है। भले ही लोक मर्यादावश उसका स्पर्श न हो, किन्तु वह दृष्टि-पातमात्र से नर को मोहित कर लेती है। उस मोह से मानव भस्म हो जाता है—'पावक पाक शिखा बड़ भारी, जारति है नर को परनारी॥'[2] केशव ने अपना मंतव्य रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। नारी-मन की कुटिलता कंटिया है, उसकी कामेच्छा कंटिया में लगा चारा, उसका तन काम-रूपी मछुए के हाथ की डोरी तथा पुरुषों का मन और तन मछली है—

'वंक हिये न प्रभा सरसी-सी, कर्दम काम कछू परसी सी।
कामिनि काम की डोरि-ग्रसी सी, मीन मनुष्यन की बनसी-सी॥'[3]

जीवन-संगिनी अथवा पत्नी के रूप में नारी का महत्व केशव ने स्वीकार किया है। उसके अनुसार पत्नी बिना घर में रहने वाला पुरुष अधर्म करता है। पत्नी को छोड़कर जो लोग संन्यास में लेते हैं, उनका भी समर्थन केशव ने नहीं किया है और उनके संन्यास को निष्फल भी बताया है।[4] उन्होंने नारी धर्म का निरूपण इस प्रकार किया है—

'मनसा वाचा कर्मणा पत्नी के पतिदेवा।
अन्यदान तप सुरनि की पतिबिनु निष्फल सेवा॥'[5]

केशव के नारी-सम्बन्धी विचार भी परम्परा पोषित हैं।[6] इसी कारण उन्होंने पति सेवा से अतिरिक्त किसी भी पूजा-सेवा को फलहीन, बताया है। पति-निष्ठा के पक्ष में

१. रामचन्द्रिका—उत्तरार्द्ध; पृ० ६१
२. वही; पृ० ५४
३. वही; पृ० ५५
४. 'घरनी बिन घर जो रहै, छाड़ै धर्म अधर्म।
वनिता तजि जो जाइ वन, वन के निष्फल कर्म॥'—विज्ञान-गीता; पृ० ७२
५. 'विज्ञान-गीता'—प्र० १६—छन्द; ४१
६. 'आचार्य केशवदास'—डॉ० हीरालाल दीक्षित; पृ० ३४६

तथा परकीया प्रसंग के उत्कट विरोध में जो कहा गया है, उसकी मूल प्रेरणा समकालीन वैष्णव आन्दोलन हो सकता है। किसी-किसी के विचार से केशव ने वैष्णव आन्दोलन से प्रेरणा नहीं ली, वलिक उसका दवाव अनुभव करके ही पर-नारी प्रसंग की घोर निन्दा की। इसीलिए पर-नारी पर प्रसंग अधिक लिखा नहीं।[१]

श्रृङ्गार-वर्णन—केशवदास के श्रृंगार वर्णन में भक्ति की प्रधानता रही है किन्तु रीति-युग की परम्परा की छाप दृष्टिगोचर होती है, जिससे आप वच नहीं सके। 'रामचन्द्रिका' में तो राम और सीता के श्रृंगार वर्णन में आपने संयम तथा मर्यादा का पालन किया है किन्तु श्रीकृष्ण और राधा के श्रृंगार-चित्रण में कहीं-कहीं पर मर्यादा का उल्लंघन भी हो गया है जिसके लिए आपने अपनी रसिक-प्रिया में श्रृंगार-रस का सावयव निरूपण करते हुए कहा है कि व्रजराज श्रीकृष्ण नवों रसों में हैं जिसमें जिसकी रुचि हो, उसमें वह उसका सेवन करे। वृषभान दुलारी राधिका इनके श्रृंगार रूप की हेतु हैं।[२] कवि ने भी श्रृंगार-रस को ही सभी रसों का नायक माना है[३]—'नवहू रस को भाव वहु, तिनके भिन्न विचार।

सवको केशवदास हरि, नाइक है श्रृंगार॥'

अर्थात्, जिसके द्वारा कामदेव सम्वन्धी रति, चतुराई, मन्त्र और विचार प्रकट हों, वही श्रृंगार-रस है। इस परिभाषा पर 'कामशास्त्र' का विशेष प्रभाव पड़ा है जिसमें रति-पति कामदेव के मन्त्रों और विचारों का उल्लेख मिलता है। आपका मत है कि अनुकूल परिस्थिति मिलने पर कामदेव साधुओं के चित्त को भी चंचल वना देते हैं।[४] कवि ने श्रृंगार के—संयोग और वियोग दोनों पक्षों का समुचित चित्रण किया है। इनमें प्रत्येक के 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' ये दो-दो भेद किये हैं—

प्रच्छन्न-संयोग श्रृङ्गार–जिस संभोग को सखा मखी जानते हैं, उसे प्रच्छन्न संयोग श्रृंगार कहते हैं। इसमें राधा और मुरारि का नायक-नायिका के रूप में रमण करना, तथा रस-रूप पीना संभोग के श्रृंगार के लक्षण है।[५] इसमें 'रति' स्थायी भाव है।

प्रकाश-संयोग श्रृंगार—जिस वात को कोई अन्य न जाने, वह प्रकाश-संयोग श्रृंगार कहलाता है। इसमें नायक और नायिका का एक आसन पर वैठना उसके

---

१. 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना'; पृ० ३४४
२. 'रसिक-प्रिया'—प्रथम प्रकाश;–छन्द; १
३. वही–प्रथम प्रकाश—छन्द १
४. 'अति आदर अति लोभतें, अति संपति तें मित्त।
   साधुनिहु को हेतु है, केशव चंचल चित्त॥'–'रसिक-प्रिया'–छन्द; ८, ७५
५. वही–छन्द; १, १६

सान्निध्य का द्योतक है तथा 'रंग भीने' होना मानसिक साम्य का परिचायक है। दोनों पारस्परिक अनुराग से अनुरक्त हैं,[1] दर्पण में द्युति देखना उद्दीपन विभाग है। इसमें भी संयोग शृंगार का स्पष्ट चित्रण है।[2] कवि ने अपनी कवि-प्रिया में एक स्थान पर संकोच के कारण कुलीन स्त्रियों की लचक रही कमर की अभिव्यंजना अद्भुत रीति से की है।[3]

वियोग शृंगार—संयोग-शृंगार की भाँति ही आपने वियोग शृंगार के भी दो भेद किये हैं—'प्रच्छन्न वियोग शृंगार' 'और प्रकाश वियोग शृंगार'। विप्रलम्भ शृंगार का लक्षण बताते हुए आपने लिखा है—

'बिछुरत प्रीतम प्रतिमा, होत जु रसतिहिं ठौर।
विप्रलम्भ तासौं कहें, केशव कवि सिरमौर ॥'[4]

कवि ने नायक-नायिका को एक-दूसरे से मिलने की तथा देखने की तीव्र उत्कण्ठा के विचार से वियोग की दस दशाओं—अभिलाषा, चिन्ता, गुण कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, तथा मरण का वर्णन किया है।

प्रच्छन्न-वियोग शृंगार—केशव ने दोनों वियोग शृंगारों का लक्षण सहित चित्रण किया है, जिसमें नायिका और नायक के नैन, बैन सब मिल चुके हैं, केवल अब आपस में मिलने-भर के लिए दोनों अधीर हैं—

'नैन बैन मन मिलि रहे, चाहै मिलन शरीर।
कहि केशव अभिलाष यह वर्णन है मति धीर ॥'[5]—इस प्रकार के अनेक उदाहरण आपकी रचनाओं में ढूढ़े जा सकते हैं।

प्रकाश-वियोग शृंगार—यहाँ नायिका नायक से मिलने के लिए इतनी इच्छुक है कि उसकी वियोगावस्था की प्रकाश अभिलाषा फूट पड़ती है।[6] एक स्थान

---

१. 'रसिकप्रिया'–छन्द; १, २२

२. 'लोचन ऐंच लिये इतको मन की गति यद्यपि नेह नहीं है।
आनन आइ गये श्रम सीकर रोम उठे उर कम्प गही है ॥'—वही; ४, ११

३. 'कचन के भार, कुच भारन, सकुच भार
लचकि-लचकि जात कटि तट बाल के।'—'कवि-प्रिया'–षष्ठ प्रभाव-छन्द १६

४. 'रसिक-प्रिया'; ८, १

५. वही; ८, १०

६. 'देखिरी देखि लगाइ टकी इत सोनो सो कालिजु चाहि रहे हैं।
को है री को जैसे जानत नाहि न कालिह ही याके संदेश कहे हैं ॥'—वही—
८वां प्रकाश–छन्द १४

पर नायिका वियोग में इतनी व्यग्र-सी हो गयी है कि उसे सुख देने वाले पदार्थ भी आज अनायास ही दुखदायक प्रतीत हो रहे हैं।[१]

इसी प्रकार नायक को न चाँदनी रात अच्छी लगती है, न गहने अच्छे लगते हैं और न कपड़े ही अच्छे लगते हैं। विरह का ताप इतना बढ़ जाता है कि कवि उसके उपचार के लिए शीतल समीर, चन्दन और कपूर का लेप आदि की सलाह देता है।[२]

हाव-वर्णन—कवि ने राधा और कृष्ण की चेष्टाओं को 'हाव' कहा है।

'प्रेम राधिका कृष्ण को, है ताते शृंगार,
ताके भाव प्रभाव तें, उपजत हाव विचार ॥'[३]

इनके अन्तर्गत हेला, लीला, ललित, मद, विभ्रम, विहित, विलास, विलर्किचित्, विलोक, विच्छितु, मोहायित, कुदमित तथा बोध—कुल तेरह लक्षण आते हैं।

उद्दीपन विभाव—के अन्तर्गत नखशिख वर्णन तथा ऋतु-वर्णन आता है जिसमें ऋतु वर्णन के साथ ही नायिकाओं का वियोग-वर्णन भी रहता है।

बारहमासा-षट्ऋतु वर्णन—रामचन्द्रिका में आपने वर्षा, शरद्, वसन्त तथा चन्द्र आदि का विस्तृत वर्णन किया है।[४] विरह-व्यथा के कारण सीता की मनःस्थिति कुछ ऐसी बदल-सी जाती है कि अशोक-वृक्ष की नवीन 'कोपलें' भी उन्हें अगार के समान मालूम पड़ रही हैं।[५] किन्तु अपनी 'कवि-प्रिया' में केशव ने प्रकृति के उद्दीपक-रूप का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण किया है। एक पद में कवि ने मानव हृदय का जो तादात्म्य प्रकृति के साथ बारहमासे में किया है वह बड़ा ही अनूठा बन पड़ा है।[६]

---

१. 'रसिक-प्रिया'—आठवां प्रकाश—छंद ३१
२. वही—छंद ११, २५
३. वही—६वां प्रकाश—छंद; १५
४. रामचन्द्रिका—१३, २३, २७ (वर्षा-वर्णन)—३०, ३२, ४० (शरद् वर्णन) ३०, ४१, ४६ (वसन्त वर्णन)—१२, ६१, (चन्द्र वर्णन)
५. 'देखि-देखि कै अशोक राजपुत्रिका कह्यौ।
देहि मोंहि आगि तें जु अंग आगि ह्वै रह्यौ ॥'—रामचंन्द्रिका—१२वां प्रकाश—छंद ६५
६. 'केशव सरिता सकल मिलित सागर मन मोहैं।
ललित लता लपटात तरुन तन तरुवर सोहैं।
....
इहि रीति रमन रमनी सकल लागे रमन रमावनै।
प्रिय गमन करन की को कहै गमन सुनिये नहिं सावनै ॥'—कवि-प्रिया—दशम प्रकाश—छन्द १८

नारी, चारों ओर की प्रफुल्लित प्रकृति को एक-दूसरे से मिलते हुए देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो उठती है क्योंकि उसे ऐसा लगता है जैसे वे अपने-अपने प्रिय से मिल रही हों।

नखशिख-वर्णन—नायिका-भेद के अन्तर्गत केशव ने अंग-प्रत्यंग का अलग-अलग तथा सर्वांगों का एक साथ दोनों रूपों में वर्णन किया है। इस पद में कवि ने नायिका के सभी अंगों का स्पष्ट चित्रण किया है—

'चन्द कैसो भागमाल भृकुटि कमान ऐसी
मैन कैसे पैने शर नैनन विलासु है।
नासिका सरोज गंधवाह से सुगंधवाह
दारयों संदेशन कैसो बीजुरी सो हास है॥
भाई ऐसी ग्रीवा भुज पान सों उदर अरु,
पंकज सों पांइ गति हंस ऐसी जासु है।
देखी है गुपाल एक गोपि काम देवता सी
सोनो सो शरीर सब सोंधे कैसी वासु है।"[1]

नखशिख-वर्णन के साथ ही कवि ने नायिका के सोलहों शृंगारों का भी चित्ताकर्षक वर्णन किया है और नखशिख वर्णन में सन्देहालंकार की सहायता से प्रत्येक अंग के लिए अनेक उपमान दिये हैं। नायिका के केश और अधर का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

'कोमल अमल चल चीकने चिकुर चारु
चितये तें चित चकचौंधियत केशोदास,
सुनहु छबीली राधा छूटे तें छुवैं छवानि
कारे सटकारे हैं सभाव ही सदा सुवास।'[2]

कवि ने 'रामचंद्रिका' में राम के राज्याभिषेक के समय राम का नखशिख-वर्णन, शुक के मुख से सुनकर सीताजी की दासियों का नखशिख-वर्णन किया है। सीताजी की दासियों का यह नखशिख वर्णन राम के नखशिख-वर्णन से अधिक उत्कृष्ट है।[3] मदन-महोत्सव के अवसर पर 'वीरसिंह देव चरित' में वाटिका में क्रीड़ा करती

१. रसिक-प्रिया-प्रकाश ३, ७.

२. 'नखशिख'—हस्तलिखित — पृ० १६–१७

३. ताटंक जटित मणि श्रुति वसंत। रवि एक चक्र रथ से लसंत।
जनु भाल तिलक रवि व्रतहि लीन। नृप रूप आकाशहि दीप दीन॥'
रामचंद्रिका–पूर्वार्द्ध छन्द १४ पृ० १६६

हुई युवतियों का नखशिख वर्णन भी सीताजी की दासियों के सदृश ही हुआ है। कवि ने अपने नखशिख वर्णन में जिन रूपकों का प्रयोग किया है, उसकी छटा अपने-आपमें निराली है, तभी तो राजसिंह की पति (मर्यादा)-रूपी वधू का वर्णन अपने ढंग का निराला माना जाता है।[१] कटि का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि पता नहीं चलता कि वह है भी अथवा नहीं।[२] एक स्थान पर नायिका के रूप में कान्ति रात्रि में भी दिन वनाने में समर्थ है[३]—

> 'दुरिहै क्यों भूषण वसन दुति यौवन की,
> देह ही की जोति होति द्यौस ऐसी राति है।'

इसी प्रकार हमें श्री वृषभानु कुमारी[४] तथा उपमालंकार द्वारा राधा[५] की सम्पूर्ण मूर्ति की भी झांकी देखने को मिलती है।

नायिका-भेद—केशवदास ने जाति, कर्म, अवस्था और प्रकृति के आधार पर अपनी सम्पूर्ण नायिकाओं को आठ श्रेणियों में विभाजित किया है। आपके मतानुसार प्रत्येक नायिका हर समय इन आठ अवस्थाओं में से किसी एक में रहती है। अपनी 'रसिक-प्रिया' में कवि ने इन अष्ट नायिकाओं का लक्षण उदाहरण सहित लिखा है। इन आठ नायिकाओं—स्वाधीन पतिका, उत्का, वासक-शय्या, अभिसंधिता, खंडिता, प्रोषित पतिका, विप्रलब्धा और अभिसारिका को भी 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' करके प्रत्येक के दो-दो उपभेद और किये हैं। अपनी समस्त नायिकाओं को भी जाति के अनुसार, अवस्थानुसार, नायक के सम्बन्ध से तथा स्वकीया, परकीया आदि के अनुसार भी अनेक भेदोपभेद कवि ने बड़ी ही तन्मयता-पूर्वक किये हैं।[६]

(१) सर्वप्रथम जाति के अनुसार कवि ने नायिका के चार भेद बताये हैं—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी।

---

१. 'वीरसिंह देव चरित'—पृ० ५०–५१
२. 'रसिया–प्रिया'—छन्द १३; पृ० २११
३. वही; छन्द ५६—पृ० ५३
४. नखशिख (हस्तलिखित); छन्द ६४ – पत्र सं० १३
५. 'कटि को तत्व न जान्यो जाइ, ज्यों जग सत न असत कह जाइ।
इति तें अति नितम्ब गुर भये, कटि के विभव लूटि सब लये॥'
—वीरदेव चरित; पृ० १३५
६. 'रसिक-प्रिया,– ७, १, २८

(२) नायक के सम्बन्ध से नायिका के तीन भेद—स्वकीया, परकीया और सामान्या।

स्वकीया के लक्षण बताते हुए[1] कवि ने इसके भी तीन भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, फिर इनके भी चार-चार उपभेद किये हैं। मुग्धा नायिका[2] के चार भेद—नववधू, नव-यौवनाभूषिता, नवल अनंगा और लज्जाप्रायरति; मध्या-के लक्षण बताते हुए मध्या-नायिका के चार भेद किये हैं—आरूढ़ यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूत मनोभवा तथा सुरतिविचित्र। प्रौढ़ा के भी लक्षण बताते हुए चार भेद किये हैं—समस्त रस कोविदा, विचित्रविभ्रमा, अक्रामति और लब्धापति। मध्या-के तीन भेद-धीरा, अधीरा तथा धीराधारा और प्रौढ़ा के तीन भेद—धीरा, धीरा आकृतिगुप्ता और अधीरा।

परकीया-नायिका के लक्षणों का वर्णन करते हुए कवि ने उसके दो भेद किये हैं—अनूढ़ा और ऊढ़ा। किन्तु परकीया-नायिका के लक्षणों में कुछ विलक्षणता-सी जान पड़ती है। क्योंकि 'केशव परकीया को पर-पुरुष-रत न कहकर परब्रह्म पर-पुरुष की प्रिया मानते हैं।'[3] वह दासी, सहेली तथा बन्धुओं के साथ लज्जा सहित मार्ग में बचाकर पैर रखती हुई चलती है। कवि ने परकीया नायिका के दोनों भेदों—अनूढ़ा और ऊढ़ा के भी लक्षण बताये हैं।

कवि ने सामान्या के अभिसार का वर्णन कर उसे वेश्या भी कहा है जो नीले वस्त्र पहनकर, चकित और साहसपूर्ण हृदय से सन्ध्या अथवा आधी रात के समय अभिसार के लिए जाती है। वह चारों ओर देखती हुई हंसती, लोगों के मन को मुग्ध करती हुई, अंग राग, आभूषण से सुसज्जित, हाथ में पुष्प लिए, सखी तथा जार-पति के साथ धीरे-धीरे चलती है।

अन्त में कवि ने स्त्रियों के तीन-तीन भेद उत्तमा, मध्यमा और अधमा करके

---

१. सम्पत्ति विपति जो मरण हूं, सदा एक अनुहार।
ताको स्वकीया जानिये मन, क्रम वचन विचार।।'
—रसिक-प्रिया; पृ० ३४

२. जासों मुग्धा नववधू कहत सयाने लोइ।
दिन-दिन द्युति दूनी बढ़ै बरणि कहै कवि सोइ।।' —वही; पृ० १८

३. 'केशवदास : जीवनी, कला और कृतित्व।' —डॉ० किरणचन्द्र शर्मा; पृ० ३६७

अपनी सभी नायिकाओं की कुल संख्या ३६० गिनायी है।[1] इसके साथ ही मुग्धा शयन, मुग्धा की सुरति, मुग्धा-मान वर्णन, सुरतान्त वर्णन तथा सात 'वहि रति' और 'सात अंतरति' का विस्तृत वर्णन किया है। इन नायिकाओं की सखी और दूतियों के रूप में धाइजनी, पड़ोसिन, नाइन, नटी, मालिन, वरइन, शिल्पिन, चुरिहेरिन, सुनारिन, संन्यासी, पटइन आदि का वर्णन भी किया है।

केशव ने इन वर्णनों का आधार भरत, धनंजय, भोज, विश्वनाथ, भानुदत्त आदि संस्कृत के आचार्यों को बनाया है। कवि ने मौलिकता लाने की दृष्टि से ही कुछ नायिकाओं के नाम बदल दिये हैं। उनके लक्षण भी निजी हैं। विशेषकर परकीया नायिका का लक्षण कवि की विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है। इसी प्रकार सोलह श्रृंगारों तथा सखियों के चार कार्यों का वर्णन भी केशव की मौलिक उद्भावना है एवं रस और नायिका-भेद निरूपण में उनकी सफलता निर्विवाद है।

आचार्य चिन्तामणि—चिन्तामणि संस्कृत के आचार्य थे, अतएव उनकी रचनाओं पर संस्कृत रीति-ग्रन्थों का पर्याप्त प्रभाव दिखायी पड़ता है। उनके पूर्व अनेक संस्कृत-रीति-ग्रन्थ उपलब्ध थे, किन्तु भानु मिश्र-कृत 'रस मंजरी' को ही मुख्य रूप से आधार बनाकर मम्मट के आदर्श को लेकर चलने वाले प्रथम आचार्य आप ही थे।[2]

नारी-चरित्र—यद्यपि चिन्तामणि की कवित्व-शक्ति अद्भुत है तथापि उनकी नारी वही श्रृंगारकालीन नारी है जो अन्य रीति-कवियों द्वारा निरूपित की गयी है। वास्तव में उस युग की कुछ ऐसी सीमाएं थीं कि कवि उनके पार नहीं जा सकता था। इसी कारण आपने भी नारी-चरित्र नाम पर श्रृंगार-रस तथा नायिका-भेदों का ही विशेष निरूपण किया है।

श्रृंगार-वर्णन—यद्यपि 'ये सिद्धाततः रसवादी थे' इसलिए इनकी कविता में रस, विशेषतः श्रृंगार-रस, का सम्यक परिपाक देखने को मिलता है,।[3] आपके

---

१. 'केशवदास सुतीन विधि, वरणी सुकीया नारि।
परकीया द्वै भाँति पुनि, आठ-आठ अनुहारि॥
उत्तम मध्यम अधम अरु, तीन-तीन विधि जानि।
प्रकट तीन सौ साठ त्रिय, केशवदास बखानि॥' —'रसिक-प्रिया' ७वाँ प्रकाश; छंद ३७, ७८

२. 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास'—डॉ० नगेन्द्र; पृ० ३१६

३. वही; पृ० ३१८

रस-निरूपण पर केशव का कुछ भी प्रभाव नहीं है। यही कारण है कि "न तो आपने श्रृंगार को रसराज माना है और न नवों रसों को ही इसमें समावेष्टित माना। रस-निरूपण पर 'मम्मट' का प्रभाव है तथा नायक-नायिका-भेद पर 'विश्वनाथ' का। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवि कल्पतरु' के अन्तर्गत रस, ध्वनि तथा नायक-नायिका-भेद सभी आ जाते हैं।

श्रृंगार-रस के दो भेद इन्होंने भी किये हैं - संयोग और वियोग। संयोग को कवि ने 'दम्पति का विलासपूर्ण विहार' माना है और मिलन के अभाव को विप्रलम्भ। संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत चुम्बन, हास्य-विलास, मिलन, आलिंगन आदि नाना प्रकार के भावों का आपने वर्णन किया है[१]. विप्रलम्भ-श्रृंगार के वर्णन पर पंडित विश्वनाथ का विशेष प्रभाव जान पड़ता है। आपने इसके चार प्रकार माने हैं-पूर्वराग मान, प्रवास और करुण। पूर्वराग के अन्तर्गत 'विद्यानाथ' के समान काम की बारह दशाएं तथा पंडित विश्वनाथ के समान दस दशाओं का वर्णन किया है।[२]

मान के दो भेद किये हैं—प्रणयोद्भव तथा ईर्ष्योद्भव।[३] भानु मिश्र के अनुसार मान के तीन भेद-लघु, मध्य और गुरु[४] करते हुए मान-मोचन के छः उपायों का वर्णन किया है - साम, भेद, दान, नीति, उपेक्षा और रसान्तर।[५]

करुण विप्रलम्भ में पति-पत्नी किसी भी एक की मृत्यु के पश्चात् भी इसी जीवन में मिलने की आशा होती है। जैसे कादम्बरी में महाश्वेता वृतान्त। वास्तव में यहाँ पर चिन्तामणि ने विश्वनाथ का अनुसरण किया है।[६] प्रवास विप्रलम्भ श्रृंगार में कवि ने प्रवास से अर्थ परदेश-गमन से लगाया है। इसके दो भेद किये हैं- भविष्यत् और भूत। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर आपने कहा है-'तन-मन होत तियान को ताप-निवाश प्रकाश'।[७]

नायक-नायिका भेद—चिन्तामणि ने नायक को "सकल धरम जुत नियुत धन विक्रम पूरो" माना है और नायिका के लिए "कलान-प्रवीन विलासिनी सुन्दरता की

---

१. कवि-कल्पतरु—८, १—३, ८, ६

२. वही—८. ११,१४—१६। ८. १७–१६

३. सा० द०—३।१६७–२००—क० कु० त० ८. ५६

४. क० क० त० ८।६१—र० मं० पृ०–८३

५. वही–८।६७-७०—सा० द० ३।२०१–२०३

६. वही–८।७८-७६—सा० द० ३।२०६

७. वही–८।८०, ८१

खानि" होना आवश्यक बताया है।[१] 'विलासिनी' विशेष-पर-विशेष ध्यान देने योग्य है। स्वकीया नायिका के सम्बन्ध में यह विशेष नहीं फबता, किन्तु नायिका के इतर प्रकारों के सर्वथा अनुरूप यह विशेषण है। नायक-नायिका के भेदोपभेद निर्धारित करने में चिन्तामणि ने सस्कृत कवियों का अंधानुकरण न करते हुए यथा-स्थान मौलिक उद्भावनाएं भी की हैं। उदाहरणार्थ-चिन्तामणि ने अपनी नायिकाओं की जाति, धर्म, अवस्था और गुणों के आधार पर श्रेणी निश्चित की है। जातिवाला आधार भानु मिश्र को स्वीकृत नहीं है, किंतु चिन्तामणि ने उसे पहले रखा है। भानु मिश्र की आपत्ति का कारण यह था कि जाति-भेद को स्वीकार करने से नायकों के भी सम्बन्ध में ये भेद स्वीकार करने पड़ेंगे, अतः नायको के अनन्त भेदोपभेद हो जायेंगे। किन्तु कविवर चिन्तामणि ने इस भेद को विशेष रूप से माना है।[२]

नायिका-भेद—कवि ने जाति के अनुसार नायिका के तीन भेद किये हैं—दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या। एक देवांगना, दूसरी मानवी तथा तीसरी भुव अवतरी अमर नारी है।[३] रूप-चित्रण करते समय दिव्या नायिका का वर्णन नख से, अदिव्या का शिखा से, तथा दिव्यादिव्या का रुचि-अनुसार शिखा अथवा नख से आरम्भ करना चाहिए।[४] यह स्पष्ट है कि भक्त नख पर दृष्टि रखता है, विलासी शिखा से नीचे तक।

धर्म के अनुसार नायिका के तीन भेद माने हैं-स्वकीया, परकीया और वैश्या। चिन्तामणि ने इस विभाजन में परम्परा को मानते हुए भानु मिश्र का अनुकरण किया है। चिन्तामणि की स्वकीया "अपने ही पुरुष में प्रीतिवन्त"[५] तथा "सील सुधाई लाज-जुत" नारी है। उन्होंने स्वकीया के तीन भेद बताये हैं-मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। उनकी मुग्धा नायिका के छः प्रकार हैं- अविदित यौवना,अविदिति कामा, विदिति काम-यौवना, नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा और कोमल कोपा। इस विभाजन में वे धनंजय और भानु मिश्र दोनों का आश्रय लेकर चले हैं। कवि ने अन्य आधारों पर जो भेदोपभेद प्रस्तुत किये हैं उनका आधार परम्परा है। संस्कृत-ग्रन्थों को ठोस

---

१. वही-५. २. १

२. रस-मंजरी; पृ० ६३

३. कवि-कुल कल्पतरु; ५. २. ७१-७२

४. 'भई अनूपम चोपतनु प्रफुलित नैननि चैन।
अंकुस दै फेरयौ हियो वालापन ते मैन॥' —वही—पद २१; पृ० ८१

५. वही; ५. २. ७५

आधार मानकर चलने के कारण चिन्तामणि का नायक-नायिका निरूपण अधिक मान्य है। हिन्दी रीति-ग्रंथों की अखण्ड परम्परा इन्हीं से चली, इसीलिए आचार्य शुक्ल रीति-काल का आरम्भ भी इन्हीं से मानते हैं।[1] उन्होंने सम्वत् १७०० के बाद तीन-तीन ग्रन्थों की रचना की -'काव्यविवेक' 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश'।

सारांश यह है कि निरूपण-पद्धति के लिए कवि ने मम्मट और विश्वनाथ का आदर्श ग्रहण किया है और सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए प्रमुख रूप से भानु मिश्र का आश्रय लिया है। नारी-चित्रण में आपने भी गुण की परम्परा के अनुसार ही चित्रण किये हैं और उनकी नारी भी रसिकता में ही सराबोर रही है तथा शृंगार और हावभावपूर्ण नख से शिख तक विलासिता में डूबी हुई नायिका ही बनकर रह गयी है।

कुलपति मिश्र—ये जयपुर के महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। यद्यपि खोज में द्रोण-पर्व । सं० १७३७) युक्ति-तरंगिणी (१७४३), नखशिख, संग्रामसार (१७२४) ग्रन्थ भी मिले है किन्तु इनकी सुप्रसिद्ध रचना 'रस-रहस्य' ही मानी जाती हैं। चिन्तामणि का काव्य-साहित्य आचार्य विश्वनाथ और मम्मट से पर्याप्त प्रभावित है किन्तु कुलपति मिश्र ने इन दोनों आचार्यों के काव्य-लक्षणों का खंडन किया है। आपने काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है।

श्री कुलपति मिश्र रीतिकालीन कवियों में संस्कृत के अच्छे विद्वान माने जाते हैं। वे मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' से बहुत अधिक प्रभावित हैं[2] क्योंकि उन्होंने भी मम्मट के अनुकरण में काव्य में तीन भेदों—उत्तम, मध्यम, अवर—का उल्लेख कर काव्य का कारण इस प्रकार माना है—

'शब्द अर्थ जिनते बनें नीकी भांति कवित्त
सुधि द्यावन समरथ्य तिन कारण कवि को चित्त।'

——रस-रहस्य–१.३३

साथ ही शब्दशक्तियों, रस, भाव आदि का भी उन्होंने सविस्तार निरूपण किया है।

शृंगार-वर्णन—कवि के अनुसार 'शृंगार-रस' उसे कहते हैं जहाँ पति-पत्नी

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास–(सं० २०१४ संस्करण); पृ० २१६
२. रस–रहस्य; ८. २१

की रति प्रकट होती है। आपने शृंगार के दो पक्ष संयोग-वियोग माने हैं।[१] संयोग शृंगार के अन्तर्गत नायक और नायिका का रमण और नायक-नायिका के मिलन की बाधा को वियोग माना है—

'जहाँ आस है मिलन की सौ वियोग शृंगार।'[२]

शृंगार-रस के इस स्वरूप निर्धारण में कुछ मतिराम का प्रभाव भी दीख पड़ता है तथा वियोग के पाँच भेदों—विरह, ईर्षा, शाप तथा विदेश-गमन आदि में मम्मट का स्पष्ट प्रभाव है।

नायक-नायिका भेद—आचार्य कुलपति मिश्र ने अपने 'रस-रहस्य' ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद का निरूपण नहीं किया। ऐसा अनुमान है कि शायद उन्होंने 'मम्मट' के आदर्श को देखकर ही ऐसा किया हो क्योंकि मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में इसका वर्णन नहीं किया।[३]

आचार्य मतिराम—महाकवि मतिराम रीतिबद्ध कवियों में अपना एक विशिष्ठ स्थान रखते हैं। रस की स्निग्धता और प्रसादपूर्ण भाषा में जीवन के चुने हुए भावपूर्ण चित्रों के लिए आप प्रसिद्ध हैं। फूल-मंजरी, रसराज, छन्द-सार, पिंगल, ललित ललाम, मतिराम-सतसई, अलंकार पंचाशिका—आपकी प्रमुख रचनाएं हैं। आपका सम्पूर्ण जीवन राज्याश्रय में ही बीता, अधिकांश रचनाएं (रसराज को छोड़-कर आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही लिखी गयी है। 'रसराज' नायिका-भेद पर लिखा एक सुन्दर शृंगार प्रधान ग्रन्थ है।

शृंगार-रस—शृंगार सदा से ही कवियों के लिए विशेष आकर्पण का केन्द्र-विन्दु रहा है। इसीसे कवि के शृंगार -वर्णन में वर्णात्मकता तथा भाव-प्रवलता दोनों का सुन्दर समन्वय मिलता है और कवि के आचार्य एवं कवि दोनों रूप निखर कर सामने आते हैं। शृंगार-रस के दोनों पक्षों का चित्रण उच्च कोटि का है। मतिराम ने 'शृंगार-रस' को दाम्पत्य विषयक रति बताकर 'रसराज' कहा है।[४]

---

१. 'पति तिय रति प्रगटै जहाँ सोई रस शृंगार।
इक संयोग वियोग करि, ताके द्वय परकार॥' –रस-रहस्य; ३. ३९

२. 'जेहि ठां नायक-नायिका रमें सु है संयोग।
जहाँ अटक है मिलन की ताही कहत वियोग॥' –वही–३. ४०

३. 'हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य'–नायक-नायिका भेद (सोमनाथ से-पूर्व) डॉ० सत्यदेव चौधरी; पृ० ४३०

४. 'जो वरनत तिय पुरुष को, कवि कोविद रतिभाव।
तासों रीझत हैं सुकवि, सो सिंगार रस राव॥' —रसराज-छंद ३४२

संयोग शृंगार—कवि ने नायक-नायिका के प्रमुदित होकर मिलनावस्था को संयोग-शृंगार कहा है। संयोग-शृंगार में कहीं-कहीं पर 'विपरीत रति' की चर्चा हो जाने के कारण कुछ अश्लीलता आ गयी है।[1] किन्तु अधिकांश स्थानों पर वर्णन वड़ा ही चित्ताकर्षक हैं।[2] 'ललित-ललाम' में एक स्थान पर कवि ने स्वप्न संयोग का जो वर्णन किया है, वह पाठक को अपने-आप अपनी ओर खींच लेता है।[3] संयोग-शृंगार के साथ ही कवि ने दस हावों—लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिचत मोहाइत, कुदमित, विव्वोक, ललित और विहित आदि का वर्णन भी किया है।

वियोग-शृंगार—कवि ने रसराज में चिन्तामणि के समान चार भेद न करके विप्रलम्भ शृंगार के तीन भेद किये हैं—पूर्वराग, मान और प्रवास। इसी प्रकार मान के भी तीन भेद किये हैं—लघुमान, मध्यमान और गुरुमान। एक स्थल पर मोहन के घर जाने का समाचार सुनकर 'तिय के अंग में अनंग की आग सो डाढ़ै' का चित्र कितना मर्मस्पर्शी हैं।[4] इस प्रकार तीनों के यथा स्थान सुन्दर वर्णन मिलते है—

'बड़वानल पर बढ़ति है विरह ताप तिय अंग।
अति अदभुत अधिकाति है प्रेम पयोधि तरंग॥' —सतसई—६२६

विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत कवि ने अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-वर्णन,

---

१. 'रह्यौ हारि बिपरीत में, पिय नैनन में आई।
चंदमुखी सींचति मनो सुधा-कलस-कुच नाइ॥' —सतसई ५५६
'तू न करति मन भावती, रति विपरीत विचार।
व्है है सूधे सुरत में विछिवयन की छनकार॥' —सतसई; १६७
२. नैन नबाय लजाय रही, उर लाय लई मुसकाय पियारी॥'–वही–छन्द ३५१
....
'ज्यों-ज्यों परसे लाल तन, त्यों-त्यों राखति गोइ।
नवल वधू लाजन ललित इंदुवधू सी होइ॥ —सतसई; २६
३- 'ओठनि को रस लैन कौं मोहन, मेरी गही कर कम्पत ठोड़ी।
और मट्ठू न भई कछू वात, गई इतने ही में नींद निगोड़ी॥'
—ललित-ललाम–छंद ३११
४. 'न्योते गये कहूं नेह बढ्यो, मतिराम दुहूं के लगे दृग गाढ़े।
ऊंचे अटा पर कांधें सहेली के, ठाड़ी दिए चितवै दुख बाढ़ै॥
लाल चले सुनि कै ग्रह कौं. तिय अंग अनंग की आगि सों डाढ़े।
मोहन जू मन गाढ़ो करैं, पग द्वैक चलैं फिर होत हैं ठाढ़े॥'–वही; छन्द ३८२

उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि तथा जड़ता आदि नव दशाओं का वर्णन किया है। एक स्थान पर कवि कहता है कि—

'ज्यों-ज्यों विषम वियोग की अनल ज्वाल अधिकाइ।
त्यों-त्यों तिय की देह में नेह उठत उफनाइ ॥'[1]

उद्दीपन-विभाव—मतिराम ने उद्दीपन विभाग के लक्षणों का 'रसराज' में समुचित वर्णन करते हुए लिखा है—

चन्द, कमल, चन्दन, अगर, वन, बाग विहार।
उद्दीपन शृंगार के, जे उज्ज्वल सम्भार ॥[2]

इसके अन्तर्गत कवि ने नखशिख-वर्णन न करके सखी, दूत ? के कार्यों का मंडन, उपालम्भ तथा परिहास आदि भी वर्णन किया है। उद्दीपन-विभाव का उदाहरण 'रसराज' में 'गोपिनगोप' प्रसंग में बहुत अच्छा बन पड़ा है।[3]

षट्ऋतु तथा बारहमासा—मतिराम ने अन्य कवियों की भांति सीधे षट्ऋतु या बारहमासा वर्णन न करके उनके हृदय स्पर्शीय प्रभावों का वर्णन किया है।[4] सतसई में वसन्त में 'फूले किंसुक जाल' की उपमा 'मतंग के लाल लोहू' से दी है।[5] यहाँ नायिका-भेद के साथ-साथ प्रकृति के विभिन्न ऋतुओं के प्रभाव के भी वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

नखशिख-वर्णन—हम पहले कह चुके हैं कि 'मतिराम' ने अलग-अलग अंग-प्रत्यगों का प्राचीन शैली के अनुसार वर्णन नहीं किया हैं किन्तु 'शरीर और अंग', सामूहिक और आंगिक', दोनों ह ी प्रकार के वर्णन आपकी रचनाओं में मिलते हैं, जैसे—

मोर पखा 'मतिराम' किरीट, मनोहर मूरति सों मनु लैंगो।
कुण्डल डोलनि, गोल कपोलनि, बोल सनेह के बीज से बैंगो ॥[6]

---

१. सतसई; ६२८
२. वही; छन्द २८४
३. रसराज; छन्द २८५
४. आयौ वसंत रसाल प्रफुल्लित कोकिल बोलनि श्रौन सुहाई।
भौंरनि को 'मतिराम' कियें गुन काम प्रसून कमान चढ़ाई ॥
रावरो रूप लग्यौ मन में तन में तिय की झलकी तरुनाई।
धीर धरौ अकुलात कहा अब तौ बलि बात सबै बनि आइ ॥
ललित-ललाम-छंद २८४
५. मतिराम-सतसई-छंद ८६
६. वही-छन्द ४०१

इसी प्रकार 'ललित-ललाम' और 'मतिराम-सतसई' में अनेक सुन्दर उदाहरण ढूढ़े जा सकते हैं ।[1]

नायिका-भेद—केशव के पश्चात् नायिका-भेद की परम्परा को आगे बढ़ाकर जीवन प्रदान करने वाले महाकवि मतिराम का नाम विख्यात है। आपने इस प्रौढ़तम ग्रन्थ 'रसराज' में परम्परागत शास्त्रीय शैली में नायिकाओं के लक्षण बताते हुए कई भेद, उपभेद किये हैं। कवि के मतानुसार 'उपजत जाहि विलोकि कै, चित्त बीच रस भाव' उसी रमणी को नायिका[2] कहना चाहिए। किन्तु रीति साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० भगीरथ मिश्र ने इस परिभाषा पर आपत्ति उठाते हुए लिखा है- 'जहाँ पर जिसे देखकर रस और भाव उत्पन्न हों, वह नायिका है; यह लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि शत्रु को देखकर क्रोध का भाव उत्पन्न होता है, उसे नायिका कौन कह सकेगा।' रस का तात्पर्य मधुर, सरस, कोमल ही लेना पड़ेगा। किन्तु डॉ० मिश्र की आपत्ति को उनका भ्रम कहते हुए डॉ० त्रिभुवन सिंह ने लिखा है कि 'जिस मधुर, सरस, और कोमल गुण की अनिवार्यता मिश्र जी ने प्रतिपादित की है, वह शृंगार-रस का एक अंग है जिसका उल्लेख कवि ने ठीक उसके ऊपर ही किया है जिस पर संभवतः विद्वान लेखक ने उपेक्षा की दृष्टि रखी है।'[3] किन्तु हमारी दृष्टि में यदि इस छंद पांच से पूर्व छन्द संख्या चार को साथ लेकर फिर इस बात पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि मतिराम की परिभाषा उचित ही है। दूसरे कवि ने केवल रस और भाव युक्त नारी को ही नायिका नहीं कहा है अपितु कवि ने स्पष्ट नायिका के लक्षण में कह दिया है कि–'ज्यों-ज्यों निहारिये नियरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई।' अथवा 'आंखिन में आंखिन में अलसानि चितौन में मंजु विलासन की सरसाई' अर्थात् किसी भी शत्रु को देखने में न तो अच्छाई ही प्रतीत होती जायेगी और न तो उसे समीप से कोई देखने का प्रयास ही करेगा क्यों कि शत्रु से तो दूर ही रहना चाहते हैं।' पारिभाषिक छन्दों के इनके लक्षणों पर भी ध्यान रखना नायिका की परिभाषा के साथ आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

---

1. 'ललित-ललाम'-छन्द ८३, ८५, १३९, १७०, २०१, २०६, २८० ,३२२,३४० आदि। 'मतिराम-सतसई'-छंद ५, १२, ४०, ६०, १०६ से १०९, ११९, २१६ आदि।
2. रसराज-छन्द ५
3. हिन्दी रीति–साहित्य-डॉ० भगीरथ मिश्र; पृ० ७३
4. महाकवि मतिराम (नायिका भेद)–डॉ० त्रिभुवन सिंह; पृ० १६७

कवि ने नायिकाओं के तीन भेद किये हैं-स्वकीया, परकीया और गणिका। स्वकीया के मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तीन भेद हुए हैं। मुग्धा के तीन भेद-अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना और सात यौवना में ही नवोढ़ा और विश्रुब्ध नवोढ़ा भी दो भेद लिखे हैं।[१] मध्या और प्रौढ़ा, प्रत्येक के मान भेद से तीन-तीन, धीरा, अधीरा और धीरा-धीरा हुए हैं। स्वकीया के पति-प्रेम के अनुसार ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो भेद किये हैं। फिर परकीया नायिका के आठ भेद—ऊढ़ा और अनूढ़ा तथा गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुटला, मुद्रिता, अनुशयना किये हैं। गणिका के भेद न बताकर उन्होंने बहुत ही सरल लक्षण बताया है।[२]

इसके बाद अन्य संयोग-दुखिता, प्रेम-गर्विता, रूप-गर्विता, मानवती-चार प्रकार की नायिकाओं का वर्णन कवि ने किया है। ये भेद स्वकीया के हैं जिनका वर्णन मतिराम ने नहीं किया है।'[३] फिर कवि ने अवस्था के विचार से दस प्रकार की नायिकाओं का वर्णन किया है जिनमें प्रोषित-पतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्य प्रेयसी और आगत्पतिका आती हैं। अन्त में पिय के हित-अनहित को ध्यान में रखते हुए उत्तमा, मध्यमा और अधमा नायिकाओं का वर्णन भी कवि ने किया है। कवि ने सामान्या अथवा गणिका की दसों दशाओं का वर्णन भी किया है। परकीया अभिसारिका के तीन उपभेद भी किये हैं। कृष्णा, (अंधेरी रात्रि में काले वस्त्र धारण करने वाली), चन्द्रा (चांदनी रात में सफेद वस्त्र पहनने वाली) तथा दिवा (सुनहरे वस्त्र और आभूषण पहनकर अभिसार के लिए जाने वाली)।

इन भेदोपभेदों से ज्ञात होता है कि कवि ने बंधी हुई परिपाटी का ही अनुसरण किया है फिर भी उसके उदाहरण अद्वितीय हैं जैसे 'स्वकीया' के उदाहरण में कवि ने कई बड़े ही सुन्दर छन्द लिखे हैं।[४] आपके नायिका-भेद का आधार रस-मंजरी है। अधिकांश लोगों ने इसी नायिका-भेद का अनुसरण किया है।

---

१. रसराज-छंद ६, १३, २०, ५४
२. 'धन दै जाके संग में, रमै पुरुष सब कोइ।
प्रंयन को मत देखि कै, गणिका जानहु सोइ॥"—वही-छन्द; ६४
३. 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास'—(मतिराम-कृत 'रसराज')-सम्पा० डॉ०—नगेंद्र;- पृ० ४२२
४. "जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानति प्रीति॥"—वही-१२

नारी-चित्रण—यद्यपि नारी-चित्रण में भी कवि की शृंगारिक भावनाओं की ही प्रधनता है, तथापि मतिराम की नारी भी प्रेम और शृंगार में डूबी परम्परागत कवियों की 'नायिका' ही है। उसमें वही हाव-भाव, रंग-रूप, भोग-विलास पाया जाता है जो पहले की नायिकाओं अथवा उस युग की स्त्रियों में देखते आये हैं। फिर भी कवि सामाजिक-नैतिक उत्थान के लिए विशेष चिन्तित दीख पड़ता है। अतएव उसने नारी के सदाचार और नैतिकता पर अधिक बल दिया है। कवि के स्वकीया-खंडितादि नायिकाओं के क्षोभयुक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'परनारी से प्रेम करने वाले पुरुष का पारिवारिक जीवन अशान्त रहता है।' अनूढ़ा-स्त्रियों के सम्बन्ध में भी कवि ने लिखा है कि वे हमेशा यही प्रार्थना करती हैं कि 'सुन्दर सांवरो नन्दकुमार बसै उर जो वह सो बर दीजै।' उधर परकीयाओं में भी अशान्ति और असफलता-जन्य करुणा ही नजर आती है।[1] किन्तु उनका मत है कि जिस सुख के लिए पुरुष परस्त्री-गमन करता है, वह सुख तो वह अपने घर में भी प्राप्त कर सकता है—'छोड़ि आपनो भौन तुम भौन कौन ते जात।[2] रीति शृंगार-काल नैतिकता की दृष्टि से अत्यन्त अधःपतन का युग था। उस युग में 'विहारी' जैसे महाकवि भी 'रति-रंग' में ही परलोक का सुख समझते थे। तात्पर्य यह कि 'सम्पूर्ण समाज भौतिक मूल्यों की ओर ही प्रवृत था; नारी का अस्तित्व भी योग्य वस्तु के सिवाय और कुछ न रह गया था।[3] ऐसे समय में मतिराम ने आचरण, संयम और नैतिकता पर विशेष बल दिया है। नारी को समाज की एक इकाई मानकर कवि ने उसे सामाजिक पतन से बचाने के लिए उसमें 'लज्जा' का गुण अनिवार्य माना है। उनका कहना है कि नारी सुन्दर पुरुष को देखकर अवश्य आकर्षित हो सकती है किन्तु जो 'लज्जा' वश अपने कुल-मर्यादा का पालन करती है, वह धन्य हैं—'ते धनि ये ब्रजराज लखें गृह काज करें अरु लाज संभारें।'[4] उन्होंने तो नारी को यहाँ तक कह डाला है कि यदि उसका

१. "लाज छुटी गेहौ छुट्यो, सुखों सों छुट्यो सनेह।
सखि कहियौ वा निठुर सों, रही छूटिबे देह॥"—दे० सतसई-छन्द ८१

....

"मेरे दृग वारिद वृथा वरसत वारि प्रवाह।
उठत न अंकुर नेह को तो उर ऊसर माह॥"—ललित-ललाम-छन्द ३२९

....

"कोऊ कितेक उपाय करो कहुं होत हैं आपने पीव पराये।"-रसराज-छन्द १२९

२. सतसई-छंद ६६० रसराज-छन्द १२९

३. 'मतिराम:कवि और आचार्य'-डा० महेन्द्र कुमार-पृ०; १५५

४. ललित-ललाम-छन्द १७४

नपुंसक है तो भी उसे अपने सम्मान की चिन्ता करके पति की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए—"गुरुजन दूजे व्याहु को प्रतिदिन कहत रिसाइ ।

पति की पति राखे वहू आपुन वाँझ कहाइ ॥[1]

महाकवि देव—'रीति-शृङ्गार-युग' के कवियों में महाकवि देव सरस, भावुक, प्रतिभा-सम्पन्न, गहन अध्यवसायी, अनुभवी होते हुए भी उतने लोकप्रिय न हो सके जितने कि केशव और विहारी । डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'उनमें बौद्धिक-शक्ति एवं कर्म समुचित काठिन्य का अभाव था । इसलिए न तो जीवन में और न साहित्य में ही में वे उदात्त वन पाये—उनका व्यक्तित्व कोमल और भावमय ही रहा । परन्तु इसके लिए शायद आप परिस्थिति को भी दोष देना पसन्द करेंगे ।'[2] किन्तु ऐसे कवि को जिनकी प्रतिभा को देखकर उनके जीवन-काल में ही लोग उन्हें 'सरस्वती सिद्ध' मानने लगे थे, यदि लोकप्रियता का सौभाग्य प्राप्त न हुआ तो इसमें उनका दोष नहीं, यह तो कुछ अंशों में उनके भाग्य को दोष दिया जा सकता है अथवा उस युग के लोगों एवं परिस्थितियों को जिनमें उनकी प्रतिभा को लोग जानकर भी अनजान वने रहे ।

यद्यपि अन्य कवियों की भाँति आपका जीवन भी राज्याश्रय में ही बीता किन्तु आपको कई राज्याश्रयों का सहारा लेना पड़ा । वेचारे कवि की प्रतिभा का सम्मान तथा उनकी वृत्ति देने वाले को ऐसे आश्रयदाता न मिल सके जिनके यहाँ अस्थिरतापूर्वक अपनी सरस्वती की आराधना में जीवन व्यतीत करते । फिर भी कवि ने जीवन के भटकते हुए मार्ग में भी कई ग्रन्थों की रचना की जिनमें आपकी वावन रचनाएँ प्रामाणिक मानी जाती है । आपके प्राप्त ग्रन्थों में भाव-विलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, शिवाष्टक, प्रेम-तरङ्ग, जाति-विलास, रस-विलास, प्रेम-चन्द्रिका, सुजान-विनोद या रस-लहरी, राग-रत्नाकर, शब्द-रसायन, देव-चरित्र, देव-माया प्रपंच-नाटक, देवशतक, सुखसागर-तरङ्ग आदि । इनके अतिरिक्त कुछ अप्राप्त तथा हस्तलिखित पुस्तकें भी हैं ।

काव्य-कला एवं साहित्य की दृष्टि से विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में देव ने यौवन के तरङ्ग में शृंगारिक कविताएँ लिखीं किन्तु सामाजिक नैतिकता को ध्यान में रखते हुए कवि की अन्तिम अवस्था की रचनाओं में जीवन के सूक्ष्म तत्वों का ही स्वर ऊँचा सुनायी पड़ता है । श्री तिलेश्वरनाथ शास्त्री की ये

---

१. सतसई—छंद ९

२. 'देव और उनकी कविता'—डॉ० नगेन्द्र (देव का व्यक्तित्व); पृ० ३६

पंक्तियाँ भी इसका समर्थन करती हैं—'आश्रयदाता सुखाय' ग्रन्थों की रचना करते-करते उनके हृदय में वैराग्य की भावनाएँ अंकुरित होने लगीं।'[1]

नारी-चित्रण—यदि देखा जाय तो महाकवि 'देव का दृष्टिकोण रीतिकाल के शुद्ध शृंगारिक एवं शुद्ध प्रेमी कवियों का मध्यवर्ती है,'[2] क्योंकि इस युग के लगभग सभी कवि नारी-सौंदर्य के रसिक थे। यद्यपि अन्य कवियों की भाँति देव ने भी रसिकता में डूबकर ही नारी का चित्रण किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण अनैतिक नहीं कहा जा सकता। 'स्वकीया' के प्रेम को ऊँचा वतलाते हुए 'परकीया' और 'सामान्या' का उन्होंने निरस्कार किया है और विषयासक्ति को कुत्सित भी कहा है तथा घोर पतन के समय में संयम पर भी आपने पर्याप्त वल दिया है। जीवन का लक्ष्य मुक्ति ही होता है, इसी के लिए मनुष्य साधना करता है किन्तु कवि ने 'मुक्ति का फल भोग माना है;' 'इस प्रकार साधना, मुक्ति और भोग का मूल काम है।'[3] कवि के अनुसार विना काम के मुक्ति नहीं मिल सकती और उसका साधन है रमणी। इसी के द्वारा मनुष्य भवसागर को पार कर सकता है।[4] उनके अनुसार स्त्री के संसर्ग से न केवल मनुष्य वल्कि सुर-असुर, यक्ष-पिशाच, पशु-पक्षी—सभी सुखी रह सकते हैं। यहाँ तक कि ईश्वर ने भी नारी का प्रभाव माना है।[5] किन्तु यहाँ 'काम' का अर्थ विषय नहीं, वल्कि कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि यह काम सच्चे प्रेमियों के लिए है—'विषयी जन को नाहिं।' इसीलिए कवि ने दम्पत्ति-प्रेम को जीवन का सार माना है और 'प्रेमहीन त्रिय को वेश्या माना है।' तात्पर्य यह है कि नारी के प्रेम से ही कवि ने सच्चे जीवन के सुख की सृष्टि मानी है। इसी प्रेम-रस से मनुष्य के मन का सम्पूर्ण विषाद दूर हो सकता है।[6]

शृंगार-वर्णन—देव ने अनेक रूपों में शृङ्गार वर्णन किया है, इसीलिए रीतिकाल के शृंगारिक कवियों में कवि को उच्च स्थान प्राप्त हुआ है। कवि ने रति को

---

१. महाकवि देव-कृत 'रस-विलास'–भूमिका (महाकवि देव)–सम्पा० श्री तिलेश्वर नाथ शास्त्री—प्रारम्भिक पृष्ठ
२. देव और उनकी कविता; पृ० ५६
३. वही; पृ० ६७
४. 'विना काम पूरन भये लगे परम पद क्षुद्र।
रमनी रात्त ससि मुखी पूरे काम समुद्र॥'—रस-विलास
५. 'रची राम संग भीलनी यदुपति संग अहीरि।'—वही;
६. 'राचै पागैं प्रेम-रस मेटैं मन को खेद।"—वही;

स्थायी भाव मानकर श्रृंगार की परिभाषा की है। इसी प्रकार श्रृंगाररस के भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी आदि भावों के साथ नवों रसों में प्रधानता दी है।[१] इसके आलम्बन में नायक-नायिका और उद्दीपन में सुरभि उपवन[२] मुख और नयनों की प्रसन्नता, चचल चितवन, हाव-भाव, अनुभाव तथा तेंतीसों संचारी भाव भी आते हैं।

संयोग-श्रृङ्गार—संयोग-श्रृंगार के कवि ने दो भाग किये हैं—(१) रूप-वर्णन, (२) मिलन। रूप की परिभाषा कवियों ने अनेक प्रकार से की है। विद्वान रूप की परिभाषा में इतनी गहराई तक चले गये हैं कि उसे अनिवर्चनीय 'कुछ' कह डाला है। जो वस्तु और मानव मन या भाव का सामंजस्य ही कहा जा सकता है। कवि ने रूप के सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट कहा है कि जो आंखों को सुख दे और मन को अपनी ओर खींच ले, वही रूप है।[३] इसी रूप-सौन्दर्य का चित्रण करते हुए एक स्थान पर लिखता है कि 'झीना पट ओढ़े सोयी हुई नायिका की एक बाँह खुल गयी है। उसी बाँह के सौन्दर्य को देखकर नायक इतना व्याकुल हो उठता है कि वह नायिका के चारों ओर हाथ मीड़ता हुआ मंड़राने लगता है।'[४] इसी प्रकार सांवरे लाल के, सांवरे रूप के उनके मन को इस प्रकार खींच लिया है कि वे उसे अपनी कंचुकी में छिपा लेना चाहती हैं, वक्ष में भर लेना चाहती हैं, यहाँ तक कि उसे आँखों का काजर बना कर रखना चाहती हैं—

'सांवरे लाल को सांवरो रूप, मैं नैनन में कजरा करि राख्यो।

मिलन और उपभोग संयोग-श्रृंगार की वह दूसरी अवस्था है जिसमें रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर दो हृदय आपस में मिलन की स्थिति में आ जाते हैं। कवि इसी के अन्तर्गत नव-दम्पत्ति की रस-चेष्टाएँ, हाव-भाव, हास-परिहास तथा अष्टयाम और विहार आदि का वर्णन भी करता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में इस अवस्था में—'मन और शरीर तन्मय होकर उत्सव मनाने लगते हैं।'[५]

---

१. 'नव रस के थिति भाव हैं तिनको बहु विस्तारु।
तिनमें रति थिति भावतें उपजत रस श्रृंगार॥'—भाव-विलास

२. नायकादि आलम्बन होई, उपवन सुरभि उद्दीपन होई।—शब्द-रसायन

३. 'देखत ही जो मन हरै, सुख अंखियन को देइ।
रूप बखानै ताहि जो जग चेरो करि लेइ॥'—रस-विलास

४. 'आरस ते उघरी इक बांह भरी छवि देखि हरी अकुलान्यो।
मीड़त हाथ फिरै उमड्यो-सो मड़ो ब्रज बीच फिरै मड़रान्यो॥'

५. देव और उनकी कविता—डॉ० नगेन्द्र; पृ० १०३

देव ने काम की प्राथमिक चेतना को ही मिलन की पहली सीढ़ी माना है। काम की इस प्राथमिक चेतना का सजीव चित्रण करते हुए कवि कहता है कि 'गौने जाने वाली बालिका को गुरुजन वस्त्राभूषण से अलंकृत करते हैं और सखियाँ ससुराल के सुखों की चर्चा करते हुए कहती हैं कि 'ऐसे हंस के बोलना जो तुम्हारे मनभावन के मन प्रसन्न कर दे'। सखियों का यह अन्तिम वाक्य उस नववधू के शरीर और मन को आन्दोलित कर देता है और अनायास ही उसके ओछे उरोजों पर अनुराग के अंकुर से उठ आते हैं—

'बोलियो बोल सदा हंसि कोमल, जे मनभावन के मन भाये।
यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आये॥'

यही अनुराग का अंकुर अब नववधू के हृदय को प्रिय-मिलन के लिए रह-रहकर वेधने लगता है किन्तु लज्जा के मारे वह जाये भी तो कैसे जाय? नवयौवन का घमण्ड उसे भी तो है। कुछ समय तक यह खींचतान होती रही, किन्तु अधर-अधर से मिलते ही अनंग की ऐसी अग्नि जाग्रत हुई कि नायिका का मन मोम की भाँति पिघल गया। वह परवश हो गयी—

'अङ्क भरि लीन्हीं गहि अंचल को छोर देव,
जोरू को जनावै नवयौवन के जोम को।
लाल के अधर लाल अधरनि लागि लागि,
उठी मैन आगि पघिलान्यो मन मोम सों।'

इसी प्रकार कवि ने सुरत और सुरतांत तथा मिलन के प्रसंग में मनोविनोद का भी चित्रण किया है।[1]

वियोग-शृंगार—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण वियोग के ये चार अंग माने गये हैं। इस विरह-वर्णन में भी देव रीतिकालीन अन्य कवियों से पीछे नहीं रहे। जैसे—प्रिय-विरह में नायिका इतनी जल रही है कि उसकी सांसों से आंसू सूख गये हैं, मुँह से बोला नहीं जाता, खाट पर इस पाटी से उस पाटी पर केवल करवटें बदल-बदलकर सिसकियाँ मारती हुई बिना पानी के मछली की भाँति तड़फड़ा रही है। ऐसे समय में जाड़े की रात में वर्फ तथा पंखे की हवा का भी कुछ असर नहीं होता जो ऐसी स्थिति में स्वाभाविक कहा जायेगा—

'देव कहैं, सांसन की अंसुआ सुखात, मुख
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति।

---

१. सुजान विनोद

लौटि लौटि परति करौंट खाटी पाटी लै लै।
सूखे जल-सफरी ज्यों सेज पै फरफराति ॥"

इस प्रकार के तो अनेक विरह-वर्णन उनके ग्रन्थों में मिलते हैं किन्तु कवि का विरह यहीं तक समाप्त नहीं होता बल्कि उन्होंने अपने वियोग-शृंगार में मरण तक का वर्णन कर डाला है। श्री कृष्ण विहारी मिश्र के शब्दों में नायिका के न आँसू बहते हैं, न वह साँस ही लेती है। उसको अपने चारों ओर शून्य आकाश ही दिखाई पड़ रहा है। यह सब होने पर भी प्राण-पखेरू केवल इस आशा से अभी नहीं उड़े हैं कि संभव है प्रियतम से प्रेम-मिलन हो जाय; नहीं तो निस्तेज हो चुकने पर भी जीवन शेष कैसे रहता।[1]

उद्दीपन विभाव—कवि ने शृंगार का आलम्बन नायक-नायिका को माना है और उद्दीपन सुरभि पवन आदि को माना है—"नायकादि आलम्वन होई, उपवन सुरभि उद्दीपन सोई।"

नखशिख-वर्णन—देव ने नखशिख का परम्परागत वर्णन करते हुए भी केवल वाह्य सौंदर्य की ओर न जाकर आत्म-तत्व की ओर अधिक जोर दिया है। यद्यपि हाव-भाव तथा अलंकारों में आत्म-तत्व वर्तमान होता है किन्तु कवि के नखशिख वर्णन में यौवन की प्रगाढ़ता खुलकर सामने आती है।[2] इसी में कवि की गम्भीर रसिकता का पूर्ण आभास होता है। झीना पट ओढ़े सोई हुई नायिका की एक खुली बांह के सौंदर्य को देखते ही नायक की व्याकुलता और हाथ मीड़कर मडराना प्रकट कर देता है कि कवि के अंग-प्रत्यंग के सौंदर्य वर्णन में कितनी रसिकता भरी है।[3] ऐसे अनेक

---

१. "सांसन ही में समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिवेई की आस, कै आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तै मुख फेरि हरै हंसि, हेरि हियो जू लियो हरि जू हरि।"
—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल; पृ० २६८

२. "भोर ही भोरे ही श्री वृषभानु के आयो अकेलोई केलि भुलान्यो।
देव जू सोवत ही उत भामती झीनै महा झलकै पर तान्यो॥
आरस ते उघरी इक वांह भरी छवि देखि हरी अकुलान्यो।
मीड़त हाय फिरै उमड्यौ-सो मड़ो व्रज वीच फिरै मड़रान्यो॥
—शब्द-रसायन

३. "नेह मही तें नदेहखरी रस-मेह झरी अंखियांनि विसेखी।
भौंहनि तें झलकै मुसुकानि सी, काम कमान मनौ अवरेखी॥"
—रस-विलास-स० तिलेश्वर नाथ शास्त्री, शील-वर्णन; पृ० ३५—छंद २१

रूप-चित्र देव की रचनाओं में मिलते हैं—

"ललित लिलार श्रम झलक अलक भार,
मग में धरत पग जावक घुरी परैं।
देव मनि-नूपुर पदुम-पद दूपर ह्वै,
भूपर अनूप रूपरंग निचुरी परैं॥"

षट्ऋतु वर्णन—कवि ने नायक-नायिका के उमड़ते हुए प्रेम का जो वर्णन किया है, उसमें हर्षोल्लास की ही प्रधानता है।[1] वह दोनों के प्रेम में ही बदलती हुई ऋतुओं के समान चक्रवत् घूमते हुए पर्वों और उत्साह में आत्म-विभोर होकर नाचने लगता है। देव के वर्णन में ऐन्द्रियता न होकर प्रेम से भरी रसिकता है।[2] कहीं-कहीं तो कवि स्वयं भी तन्मय हो जाता है।[3]

नायिका-भेद—महाकवि ने अपनी रचनाओं में नायिका-भेद को अधिक महत्व दिया है। यही कारण है कि उनके अधिकांश ग्रन्थों जैसे 'प्रेम-तरंग', 'कुशल-विलास', 'सुजान-विनोद', 'भाव-विलास' आदि में नायिका-भेद का ही विस्तृत वर्णन मिलता है। कवि ने वाणी का सार शृंगार को माना है और शृंगार का सार 'किसोर और किसोरी' अर्थात् नायक-नायिका को माना है। इनमें भी कवि रस की दृष्टि से नायिका को ही प्रधान मानता है।

---

१. देव और उनकी कविता–डॉ०नगेन्द्र–पृ० १०१

२. "केसरिया चकचौंधत चीर ज्यों केसरि नीर सरूप लसी ज्यों।
लाल के रंग में भीजि रही सु गुलाल के रंग में चाहत भीज्यों॥"
—वही; पृ० १०७

३. "सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर घहर घन घेरिकै घहरिया।
झहर झहर झुक झीनी झरि लायो 'देव'
छहर छहर छोटी बूंदन छहरिया।
हहर हहर हँसिहँसि के हिंडोरे चढ़ी,
थहर थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर लहर होत प्यारी की लहरिया॥"
वही; पृ०-२३३

नायिका की परिभाषा के अन्तर्गत कवि केवल अष्टांगवती[1] स्त्री को ही रखता है जो केवल स्वकीया के लिए ही प्रयुक्त हो सकती है। शेष परकीया में कुल और शील का अभाव तथा सामान्य में शील, कुल, प्रेम तथा वैभव का अभाव रहता है। कवि ने नायिका के जाति, कर्म, गुण, देस, काल, वयःक्रम, प्रकृति तथा सत्व के अनुसार आठ प्रकार से भेदोपभेद किये हैं। अभी तक के रीतिकालीन कवियों ने केवल प्रथम छः के अनुसार ही भेद किया था किन्तु देव ने 'प्रकृति' और 'तत्व' दो क्रम और बढ़ा दिये हैं, इसीलिए आपका नायिका-भेद अत्यन्त उच्च कोटि का माना जाता है।

जाति के अनुसार चार प्रकार की नायिकाएं आती हैं—पद्मिनी, शंखिनी, चित्रिणी, और हस्तिनी। कर्म के अनुसार तीन—स्वकीया, परकीया तथा सामान्या। वयःक्रम के अनुसार स्वकीया नायिका के तीन भेद—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा किये गये हैं। मुग्धा के पांच भेद वयःसन्धि, नवलवधू, नवयौवना, नवलअनंगा, लज्जा-प्रायरति (१२ से १६ वर्ष तक)। इसी प्रकार मुग्धा के चार भेद—रूढ़यौवना, प्रगट-मनोजा, प्रगल्भवचना तथा विचित्र-सुरता (१६ से २४ वर्ष तक) और प्रौढ़ा, लब्धापति, रतिकोविदा, आक्रान्त नायिका, सविभ्रमा चार प्रकार की प्रौढ़ा नायिकाएं (२० से २४ वर्ष तक) मानी गयी हैं। कवि ने स्त्री में नायिकत्व की सीमा ३५ वर्ष तक मानी है। इस पैंतीस वर्ष को पाँच भागों में बाँटकर प्रथम सात वर्ष तक देवी, सात से चौदह वर्ष तक देव गंधर्वी, चौदह से इक्कीस वर्ष तक गंधर्वी, इक्कीस से अट्ठाईस तक गंधर्व मानुषी तथा अट्ठाईस से पैंतीस तक शुद्ध मानुषी मानी गयी है। परकीया के कवि ने छः भेद विस्तार से किये हैं—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना तथा मुदिता; किन्तु अनुशयना के अवान्तर भेद नहीं किये हैं। कालक्रम के अनुसार स्वाधीन पतिका, कलहान्तरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, उत्कंठिता, वासक-सज्जा, प्रोषितपतिका तथा गतागत-पतिका—नौ भेद देव ने किये हैं। गुण के अनुसार उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा और मनोदशा के अनुसार अन्य संभोग दुखिता, गर्विता तथा मानिनी। इसी प्रकार नायिका के आठों अंगों के अनुसार कुलगर्विता, शील-गर्विता, रूपगर्विता, यौवनगर्विता आदि तथा प्रकृति के अनुसार वात, पित्त, कफ, तीन भेद और तत्व के अनुसार सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि और

---

१. "जा कामिनि में देखिये, पूरन आठहु अङ्ग।
ताही वरनै नायिका त्रिभुवन मोहन रंग॥
पहिलै जोवन रूप, गुन, सील प्रेम पहिचानि।
कुल वैभव, भूषन, बहुरि, आठों अङ्ग बखानि॥"—रस-विलास

काक—नौ भेद किये हैं। देश के अनुसार तो अनेक भेद हुए हैं। तात्पर्य यह है कि देव ने रीतिकालीन अन्य कवियों की अपेक्षा नायिका-भेद में आभ्यंतरित अनेक भेदों का क्रम बनाये रखा। वे क्रमानुसार भेदोपभेद करते हुए परम्परागत भेदों से भी बहुत आगे चले गये हैं। इसी कारण महाकवि देव की गणना हिन्दी के प्रथम कोटि के आचार्यों एवं कवियों में होती है। उन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार काव्य के दोनों क्षेत्र रस और अलंकार में दिखलाया है। रससिद्ध आचार्य तो देव थे ही किन्तु अनेक स्थलों पर तो उन्होंने अपनी सुन्दर अलंकार-योजना के द्वारा हिन्दी के सभी चमत्कारवादी कवियों को पीछे छोड़ दिया है।[1]

महाकवि बिहारी—रीति-सिद्ध कवियों में कविवर बिहारीलाल 'शृंगार-युग' के उन महान कवियों में आते हैं जिन्होंने प्राचीन परम्परा को कायम रखते हुए साहित्य में नया कीर्तिमान स्थापित किया, जिसमे उनके श्रंगारलसित काव्यत्व में एक अनोखे व्यक्तित्व की झलक मिलती है।[2] इसका प्रमाण उनकी 'बिहारी-सतसई' है। बिहारी की सर्वाधिक लोकप्रियता इसी सतसई के कारण हुई जिसमें एक ही रस का आद्यन्त निर्वाह हुआ है। यद्यपि उनकी उत्कट शृंगारिकता को लेकर भला-बुरा कहने वालों की भी कमी नहीं है किन्तु यदि कवि के समय की सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि वह युग ही ऐसा था जिसमें कवि 'स्वान्तः सुखाय' रचना न करके 'स्वामिनः सुखाय' करने के लिए बाध्य था। फिर भी राज्याश्रय में रहते हुए बिहारी ने अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को बचाने का भरसक प्रयास किया है और समाज के उचित मार्गदर्शन के लिए भी भक्ति और नीति के दोहों की रचना की है। वे समय-समय पर अपने आश्रयदाता राजा जयसिंह को सतर्क भी करते रहे हैं। रह गयी शृंगार-वर्णन की बात, तो वह तो उनकी नहीं, उनके युग की मांग थी जिसे शक्ति-भर पूरा करना उन दिनों प्रत्येक कवि अपना कर्तव्य एवं सम्मान समझता था। हमें यह भी न भूलना चाहिए कि इन कवियों की रचनाओं का प्रयोजन समाज नहीं था।

---

१. "महाकवि मतिराम"—डॉ० त्रिभुवन सिंह; पृ० ८१.

२. "उन्होंने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से बहुत कुछ लिया है पर उन्हें अपना बनाकर लिया है; उन्हें अपनी प्रतिभापा के स्पर्श से नया बना दिया है।"

'बिहारी का नया मूल्यांकन'
(परम्परा बनाम मौलिकता)—डॉ० बच्चनसिंह; पृ०२०-२१

शृंगार-वर्णन—कवि के शृंगारिक दोहों की पहली उक्ति ही यह बता देती है कि उनकी कल्पना-शक्ति प्रेम के विषय में कितनी गहराई तक पहुँच सकी है।[१] हम कवि की प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं को तीन कोटि—भौतिक, आत्मिक और आध्यात्मिक के अन्तर्गत रख सकते हैं। इन तीनों तत्वों का मूलाधार शारीरिक सौंदर्य का आकर्षण ही है जो विषयी और विषय के सम्बन्ध को जोड़ता है। इसी से उत्पन्न प्रेमांकुर दो आत्माओं को मिलाकर एक-दूसरे पर स्वयं को न्यौछावर कर देने की सीमा तक पहुंचा देता है अर्थात् "प्रेम उनके जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है।"[२] इस प्रकार कवि के प्रेम तथा शृंगार-वर्णन में तीनों तत्व एक-दूसरे के पूरक हैं। इनमें कोई किसी से कम महत्व का नहीं। इसीलिए कवि ने तीनों तत्वों का समुचित रीति से वर्णन किया है। बिहारी ने राधा-कृष्ण के ही पर्यायवाची शब्दों को लेकर नायक और नायिका के प्रेम का चित्रण किया है। इसी प्रेम-तत्व की अनुभूति व्यंजना ही शृंगार-रस का प्राण है,[3] अतएव कवि ने दो प्रकार के शृंगार—मानुषीय-शृंगार और भक्ति-श्रृङ्गार का वर्णन किया है। मानुषीय-शृंगार में कवि ने रूपाशक्ति को ही आलम्बन मानकर संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सविस्तार वर्णन किया है।

संयोग-शृंगार—सयोग शृगार के इस अद्वितीय कलाकार ने इसके अन्तर्गत नायिका के शारीरिक सौंदर्य, दर्शस्पर्श, केलि-क्रीड़ा, रति तथा रति-चिन्ह आदि समस्त अवयवों की चर्चा तन्मय होकर की है। एक मुग्धा के सौंदर्य-चित्रण में कवि की प्रतिभा परिलक्षित होती है।[४] क्योंकि संयोग शृंगार का मूलाधार शारीरिक आकर्षण ही तो है—"जो अनेक प्रकार के रूपों, भंगिमाओं, चेष्टाओं, वाचिक और शारीरिक विकारों, मानसिक दशाओं आदि में प्रस्तुत होता है।[५]

---

१. "गिरि ते ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहां हजार।
वहै सदा पसु-नरन कों, प्रेम पयोधि पगार ॥"
बिहारी-सतसई'— दोहा-२५१

२. 'बिहारी का नया मूल्यांकन'—बिहारी के प्रेम का स्वरूप-
डॉ० बच्चनसिंह; पृ० २६

३. 'बिहारी-दर्शन' (प्रेम वर्णन)—पंडित लोकनाथ द्विवेदी; पृ० ११६

४. 'मोहनि मूरति श्याम की, अति अद्भुत गति जोइ।
बसत सुचित अन्तर तऊ, प्रतिबिंबित जग होइ ॥"—दोहा-१६१
'लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥'—सतसई

५. 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना'; पृ० १७२.

रति को ही कवि परमानन्द का साधन मानता है।[1] अतएव कवि ने नायक-नायिका के शारीरिक शृंगार पर अधिक बल दिया है। दोनों के प्रत्यक्ष-दर्शन का मनोहारी चित्र उस समय उपस्थित होता है जब राधिकाजी कृष्ण द्वारा रोकी जाती हैं और वे हँसकर कृष्ण को गाय चराने के लिए आज्ञा देती हैं और कहती हैं 'मैं तुम्हें-चरवाई दूंगी।' तभी से दोनों में अनुराग उत्पन्न होता है और उनके मन मिल जाते हैं।[2] इस प्रकार कवि द्वारा सम्भोग शृंगार में अनेक स्थानों पर दोनों के रोमांच, कम्प, स्वेद, हर्ष, चपलता तथा स्नेह की[3] तथा जगह-जगह विपरीत रति की बड़ी ही सरस तथा मार्मिक व्यंजना हुई हैं।[4] कभी-कभी नायिका को नायक को परेशान करने में भी आनन्द प्राप्त होता है जिससे नायिका अपने प्रेमी के प्रति सम्वेदना प्रकट करती है किन्तु नायक जान-बूझकर उसे चिढ़ाने के लिए उसकी मोहिनी चेष्टा की पुनरावृत्ति कराना चाहता है। ऐसे प्रसङ्ग भी रसिक शिरोमणि बिहारी के दोहों में अनेक स्थलों पर मिलते हैं।[5] यह कवि की स्वाभाविक एवं सचेष्ट चेष्टाओं के अन्तर्गत आते हैं।

इसी प्रसंग में कवि ने 'परम्परा से सुरति, विहार, मद्यपान, क्रीड़ा, अष्टयाम तथा षट्ऋतु वर्णन भी किया है जिनसे सम्बन्धित कई प्रामाणिक दोहों की भरमार है।

वियोग-शृंगार—संयोग शृंगार में कवि की रोमांचकारी ध्वनि नायक-नायिका में जहाँ सुख की सृष्टि करती दीख पड़ती है, वहीं वियोग के दोहों में एक कसक, एक टीस, एक तड़पन सुनायी पड़ती है और प्रेम की तीव्रता और वास्तविकता के दर्शन होते हैं। इसके अन्तर्गत कवि ने वियोग के चार प्रकारों की चर्चा की है—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण।

---

१ "चमक तमक, हांसी, ससक, मसक, झपट लपटानि।
ए जिहि रति, सो रति मुकति और मुकति अति हानि॥"—दोहा-६७

२. "उर हरकी हंसिकै इतै, इन सौंपी मुसकाय।
नैन मिले मन मिलि गये, दोऊ मिलावत गाय॥"—दोहा-११८

३. "मैं मिसिहा सोयौ समुझि, मुंह चूम्यौ ढिग जाय।
हस्यौ खिस्यानी गलगह्यौ, रही गले लपटाय॥"—दोहा-२६५

४. "विनती रति विपरीत की, करी परसि पिय पाय।
हंसि अनबोले ही दियो, ऊतर दियो बताय॥"—दोहा-१३०

५. "नांक चढ़ैं सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिर-फिर भूलि गहै वहै ज्यों कंकरीलो गैल॥"—दोहा-६०६

पूर्वानुराग वर्णन में कवि ने दो रूपों का चित्रण किया है—इतिवृत्तात्मक और चित्त विकलन। इसके अनेक वर्णन मिलते हैं।[१] नायिका की आँखें इतनी पीड़ित हैं कि वे उनसे देख नहीं सकतीं, फिर भी बिना देखे वे रह भी नहीं सकतीं।[२] मान[३] के अन्तर्गत भी कवियों ने प्रणयमान और ईर्ष्यामान दो भेदों का वर्णन किया है। प्रवास के समय नायक अपनी नायिका से बिछुड़कर कहीं अन्यत्र चला जाता है जिसके कारण उसमें सन्ताप, दौर्बल्य, अधीा,रत उन्माद, कामुकता आदि का आना स्वाभाविक हो जाता है। इनके अन्तर्गत कवि ने प्रवत्स्य-पतिका,[४] प्रोषितपतिका तथा आगतपतिका[५] नायिकाओं का वर्णन किया है।[६]

विरह की इन दशाओं में कवि प्रेम-विह्वल हृदय की गाढ़ी पीर, स्वाभाविक लज्जा और संकोच, कुटुम्बी-जनों की प्रभाव-शून्यता, कुल-गौरव, मान-मर्यादा की हीनता, यश-अपयश के सीमोल्लंघन का सजीव चित्रण मिलता है।[७] नायिका प्रिय के मिलन की कामना करके ज्वालामुखी की लपटों की तरह जल रही है।[८] बुझाने के प्रयास में विफल होने पर वह अपने प्रिय के विरह की ज्वाला में मरने को

---

१. लाल तुम्हारे रूप की कहो रीति यह कौन।
जासों लागत पलक दृग लागत पलक पलौं न ॥'–दो० ३६८

२. 'इन दुखिया अंखियानु कौं, सुख सिरज्यौई नांहि।
देखैं बनै न देखते, बिनु देखैं अकुलांहि ॥'–रीति-शृंगार–डॉ० नगेन्द्र (बिहारी); पृ० ५४

३. 'तोही को छुटि मान गो देखत ही ब्रजराज।
रही घरिक लौं मान की मान करे की लाज ॥'—वही–दो०; ३१०

४. 'बिजली डमकौं हैं चखनु, तिय लखि, गवनु बराइ।
पिय गहवरि आएं गरें, राखी गरें लगाइ ॥'—वही-दो०; १६६

५. 'मृग नैनी दृग की फरक, उर उछाह तन फूल।
बिन ही प्रिय आगमन उमंगि, लपटन लगी दुकूल ॥' वही–दो०; २२२

६. 'ह्यां तें ह्वां, ह्वां तें इहां, नेको धरति न धीर।
निसि दिन डाढ़ी सी फिरति, बाढ़ी गाढ़ी पीर ॥'–वही–दो०; ५२५

७. दोहा ७०६, १५७ आदि

८. 'होमति सुखु करि कामना, तुमहि मिलन की लाल।
ज्वालामुखी सी जरति लखि, लगनि अगनि की ज्वाल ॥'—वही–दो०; ५४

तैयार है ।[1] किन्तु कवि को वियोग-वर्णन का चमत्कार उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है जिस समय नायिका की मृत्यु में भी इतना साहस नहीं रह जाता कि उसकी विरह की लपटों के बीच से उसके प्राणों को हर ले जाय ।[2] इसकी लपटों से बचने के लिए सखियाँ गीले कपड़े ही पहनकर उसके पास जाती हैं ।[3]

'शिशिर ऋतु' पड़ोनियों को 'ग्रीष्म' जैसी प्रतीत होने लगती है ।[4] माघ की हाड़ कंपाने वाली ठण्डी में लू चलने लगती है ।[5] ये वियोग वर्णन अस्वाभाविक, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं हास्यास्पद हो गये हैं । ऐसे चमत्कार कवि के विरह-वर्णन में बहुत अधिक पाये जाते हैं । कहीं-कहीं तो नायिका के नेत्रों से निकले हुए आंसुओं की वर्षा से गांव के रास्ते भर जाते हैं ।[6] वह इतनी कृशकाय हो जाती है कि सखियाँ पहचान नहीं पाती,[7] मनुष्य देख भी नहीं पाते । वह मृतप्राय हो जाती है । किन्तु कवि का चमत्कार अपनी चरम सीमा पर उस समय पहुँचता है जब मृत्यु उसे लेने के लिए आती है किन्तु उसे चश्मा लगाकर देखने पर भी जब वह नहीं दिखायी पड़ती, तब वह लाचार होकर लौट जाती है और नायिका नायक के सौभाग्य से बची रह जाती है ।[8] इस सम्बन्ध में कवि ने बाह्य उपचारों के विरोधी प्रभावों का भी परम्परागत वर्णन किया है ।[9]

उद्दीपन और षट्ऋतु वर्णन—कवि ने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत षट्ऋतु तथा नखशिख-वर्णन किया है । षट्ऋतुओं के वर्णन में जहाँ ग्रीष्म और वसन्त को

---

१. 'कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्राननु के ईस ।
विरह ज्वाल जरिबौ लखें मरिबौ भई असीस ।।'—वही–दो०; ११०

२. दोहा; ११४

३. 'आड़ँ दै आले वसन जाड़े हूं की राति ।
साहसु कै-कै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति ।।'—दो०; २८३

४. दोहा; २६६

५. दोहा; २८५

६. 'गोपिन कें असुवनु भरी सदा असोस अपार ।
डगर-डगर ह्वै रही, बगर-बगर कें बार ।।'—वही–दो०; २६३

७. दोहा; ५१६

८. 'करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीचु ।
दीनैं हूं चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु ।।'—वही–दो०; १४०

९. दोहा; ८६, ३०८, ६३ आदि

वहारों की मादकता में विरह वर्णन मिलता है,[1] वहीं पावस में अभिसार की भावना भी उद्दीप हो उठी है।[2] हेमन्त की लम्बी रात दम्पत्ति को अधिक समय तक मिलन-सुख प्रदान करती है।[3] शिशिर और शरद आदि का वर्णन तो ऋतुओं की संख्या पूरी करने के ही लिए शायद किया गया है।[4] इनके अतिरिक्त विहारी ने चैत्र, ज्येष्ठ, अगहन, पोष, माघ और फाल्गुन का भी वर्णन करके 'वारहमासा' की परम्परा भी पूरी करदी है।[5] ऋतुओं के वर्णन में कवि की मौलिकता की झलक के साथ-साथ उस युग की लगभग सभी साहित्यिक प्रवृत्तियों का समावेश मिलता है। शृंगार-रस के उद्दीपन की दृष्टि से भी उनका प्रकृति-वर्णन सफल कहा जा सकता है।'[6]

नख-शिख-वर्णन—उस युग की परम्परा के अनुसार ही विहारी ने भी नायिका के नख-शिख का वर्णन किया है। विहारी के नख-शिख वर्णन पर केशवदास तथा उनके भाई वलभद्र मिश्र आदि के वर्णनों का भी प्रभाव पड़ा है।[7]

इसके अन्तर्गत अन्य कवियों की भाँति विहारी ने भी नायिका के शरीर के विभिन्न अवयवों[8] का मुख, नेत्र, चितवन, स्तन, कुच, अंगुलियां आदि शारीरिक सौंदर्य, वस्त्र-सज्जा तथा आभूषण आदि का वर्णन किया है।[9] कहीं-कहीं पर तो

---

१. 'दिसि-दिसि कुसुमति देखियत उपवन विपिन समाज,
   मनहु वियोगिन कों कियो सर पंजर ऋतुराज।'—वही–दो०; ४७६

२. 'पावन घन अंधियार में, रह्यो भेद यहि आन।
   रात धौस जान्यो परत; लख चकई चकवान॥'–वही–दो०; ४८६

३. 'ज्यों-ज्यों वढ़त विभावरी, त्यों-त्यों वढ़त अनंग।
   ओक-सोक सव लोग सव कोक, सोक, हेमन्त॥'—वही–दो०; ४६६

४. दोहा; ३४४, ४८७

५. दोहा; ५१६, (३६६-५२), ४६५, १४६ (२४२-४१६), (३५१-३४६-३५३)

६. 'हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि विहारी'—(उद्दीपन-प्रकृति वर्णन)–डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त; पृ० ३२५

७. वही–विहारी का शृंगार निरूपण; पृ० ३०५

८. 'छुटी न सिसुता की झलक, फलक्यो जोवन अङ्ग।
   दीपति देह दुहून मिलि, दिपत तापता रंग॥'—दो; ७६

९. 'तन भूपन, अंजन दृगनु, पगनु महावर रङ्ग।
   नहिं सोभा कों साजियतु, कहिवें ही कों अंग॥'—वही–दो०; २६६

नायिका के स्वाभाविक सौंदर्य के सामने बाह्य प्रसाधन भी फीके पड़ गये है, जैसे एड़ी की लालिमा महावर से भी बढ़ जाती है।[१] उसकी स्वर्णाभा में स्वर्णाभूषणों की चमक खो जाती है।[२] रसिक-जन तो उसके चिबुक के गड्ढे में गिर जाते हैं।[३] उसकी नासिका एवं आभूषणों की सज्जा का बाण उनके हृदय को अनायास ही वेधे बिना नहीं छोड़ता।[४] एक नवयौवना के नेत्र तथा उसका केश-सौंदर्य कितना आकर्षक है।[५]

नायिका-भेद—नायिका भेद वर्णन संयोग पक्ष के पोषण में अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है। रसिक शिरोमणि महाकवि बिहारी का नायिका-भेद परम्परागत होते हुए भी अपनी अलग छटा एवं चमत्कार रखता हैं। बिहारी की असली नायिका तो वह है जिसमें क्षण-क्षण पर सौंदर्य वृद्धि होती रहे और प्रत्येक बार उसका स्वरूप नवीन प्रतीत होता रहे। फिर भी उन पर केशव आदि पूर्ववर्ती कवियों की छाप पड़े बिना नहीं रह सकी है। इसी कारण आपने भी उसी परिपाटी का अनुसरण किया है।

सर्व प्रथम बिहारी ने सामाजिक दृष्टि से नायिका के तीन भेद स्वकीया, परकीया सामान्या किये हैं। स्वकीया[६] का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त रूप में मिलता है। इसके

---

१. "पाइ महावर दैन कौं नाइन बैठी आइ।
फिरि-फिरि जानि महावरी एढ़ी मीड़ति जाइ॥"—दो० ३५

२. "डीठि न परत समान दुति कनकु कनक में गात,
भूषण कर करकस लगत, परसि पिछाने जात॥"—दो० ३३३

३. 'कुच-गिरि चढ़ि, अति थकित ह्वै चली डीठि मुँह-चाड़।
फिर न टरी परियै रही, गिरी चिबुक की गाड़॥'—दो० २६

४. 'बोधक अनियारे नयन, वेधत करि न निषेधु।
बरबट वेधतु मोहियों, तों नासा कौ वेधु॥'

५. 'रस सिंगार मंज्ज किये, कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हू बिना खंजन गंजन नैन॥'
'कच सिमेट कर भुज उलटि, खये सीस पट टारि।
काको मन बांधै न यह, जूरो बाँधन हारि॥'

६. 'मानहु मुख दिखरावनी, दुलहिनि करि अनुराग।
सासु ननद मन ललन हू, सोतिन दियो सोहाग॥"—दो० २८८

अन्तर्गत नवोढ़ा (अज्ञात यौवना)[१], और विश्रुब्धा का वर्णन किया गया है। अवस्थानुसार स्वकीया का एक भेद है 'खंडिता'। इनके वर्णन में दो प्रवृतियाँ परिलक्षित होती हैं—(१) विभिन्न प्रकार की खंडिताओं में अन्तर दिखाना, (२) उनकी सूक्ष्म दृष्टि का चित्रण, (३) उनकी व्यंगोक्तियों का चित्रण।[२] खंडिता-नायिकाकी अवस्थाओं के अनुसार अल्प-वयस्का,[३] प्रौढ़ा,[४] मुग्धा तीन भेद किये हैं। सूक्ष्मता की दृष्टि से कवि ने नायिका चातुर्य का ही विशेष वर्णन किया है कि वह कितनी सरलता से नायक पर लगे हुए परस्त्री-गमन के दाग को पहचान लेती है।[५]

बिहारी ने स्वकीया की अपेक्षा परकीया नायिका के वर्णनों पर अधिक बल दिया है। इन्हीं नायिकाओं में बिहारी की गुप्ता, लक्षिता,[६] उत्कण्ठिता, वचन-विदग्धा, गर्विता,[७] वाचक सज्जा, अभिसारिका,[८] अन्य संभोग-दुःखिता,[९] विप्रलम्भा मानिनी,[१०] कलहांतरित्ता,[११] अनुशयना,[१२] आदि परकीया नायिकाएँ भी आती हैं।

---

१. 'बरजें दूनी हठ चढ़ै न सकुचै, न सकाइ।
टूटत कटि दुमची मचकि, लचकि लचकि बचि जाइ॥'—दो०; २५२

२. हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी—डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त; पृ० ३१७

३. 'बिलखी लगे खरी-खरी मरी अनख वैराग।
मृग नैंनी सैन न भजै लखि बैंनी के दाग॥'—दो०; ५८७

४. 'पावकु सो नयननु लगे, जावकु लाग्यो भाल।
मकुर होहुगे नैंक मैं, मुकुर बिलोकी लाल॥'—दो०; ७९
छिनकि चलति, ठठुकति छिनक,
भुज प्रीतम गल डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा,
बिज्जु छटा सी नारि॥'

५. दोहा; ५७९, २४०, ३६५

६. लक्षिता—दो०; ५०८, ५२३, ५७७, ६३१, ६८८, ५९९

७. गर्विता—दोहा; १२२, ३१५, २४६, ४७५

८. अभिसारिक—दोहा; ७, २०७, ४५९, ५८०, ७०४

९. अन्य संभोग-दुःखिता; ३८०, ४५६, ५०७, ५२०

१०. मानिनी—दोहा; ७२, १०८, २७३, ३०९

११. दोहा; ३१३, ३१४, ५०८

१२. 'फिरि-फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि-फिरि लेति उसासु।
साई सिर कच सेत लौं, बीत्यो चुनति कपासु॥'—दो०; १३८

रूपगर्विता दुलहिन के सौंदर्य चित्रण में अस्वाभाविकता होते हुए भी चित्र बड़ा ही मनोरम बन पड़ा है।[1] इनके अतिरिक्त कवि ने विभिन्न जाति की स्त्रियों का भी वर्णन किया है।[2]

बिहारी की सतसई मुक्तक कविता के सभी गुण से समन्वित एक अतिश्रेष्ठ रचना है इसी कारण इस सतसई की कई सुन्दर टीकाएँ हुई हैं। बिहारी के सर्व प्रथम टीकाकारों में श्री पद्मसिंह शर्मा की उक्ति बिहारी को हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि मानने के पक्ष में है। बिहारी के श्रृंगार-रस वर्णन, पद-विन्यास-चातुर्य, अर्थ-गांभीर्य' स्वाभावोक्ति और स्वाभाविक बोलाचल को तो आपने बेजोड़ माना ही है, साथ ही विरह-वर्णन की विचित्रता के सम्बन्ध में आप लिखते हैं कि 'इस वर्णन में एक निराला बांकपन है, कुछ विशेष वक्रता है, व्यंग का प्राबल्य है, अतिशयोक्ति और अत्युक्ति का अत्युतम उदाहरण है जिस पर रसिक सुजान सौजान से फिदा हैं।"[3]

लाला भगवान दीन बिहारी को तुलसी, सूर और केशव के बाद चौथा कवि मानते हैं।[4] पं० कृष्ण बिहारी है मिश्र ने यह सिद्ध किया कि 'देवजी बिहारी की अपेक्षा अच्छे कवि हैं।'[5] डॉ० श्याम सुन्दर दास ने बिहारी-सतसई की लोकप्रियता के सम्बन्ध में लिखा है कि 'रामचरित-मानस को छोड़कर जितना प्रचार उनकी सतसई का हुआ, उतना कदाचित् ही किसी ग्रन्थ का हुआ हो।'[6] आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का भी इसकी प्रशंसा में कथन है कि 'श्रृंगार-रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी सतसई' का हुआ, उतना और किसी का नहीं।'[7] आचार्य-हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी बिहारी को रीतिकाल का सबसे लोकप्रिय कवि मानते

---

१. 'सुघर सोति बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखि सखी तन दीठि करि सगरब सलज, सहास॥'—दो०; ३४६

२. 'गौरी गदकारी परैं हंसन कपोलन गाड़।
कैसी लसति गंवारि यह सुन किरवा की आड़॥'—दो०; ७०८

३. 'संजीव भाष्य'—श्री पद्मसिंह शर्मा; पृ० २४५

४. 'बिहारी और देव'—लाला भगवानदीन; पृ० ७३-७४

५. 'देव और बिहारी'—पं० कृष्णबिहारी मिश्र—द्वितीय संस्करण की भूमिका; पृ० ५

६. 'सतसई-सप्तक'—डॉ० श्यामसुन्दर दास; पृ० २७

७. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० २४६

हुए उन्हें 'सूक्ति-संग्राहक' कवि कहा है।[1] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है कि 'हमें यह भी मान लेने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए कि उनकी जोड़ का हिन्दी में कोई दूसरा कवि नहीं हुआ। क्योंकि मुक्तकों में जो-जो विशेषता होनी चाहिए, वे विहारी में सबसे अधिक मात्रा में पायी जाती है।[2] अब दूसरी ओर कवि की दुर्वलताओं पर भी संक्षेप विचार कर लें।

विहारी की अनेक प्रकार के स्वादों की लालसा के कारण सतसई में भाव और विषय की एकरूपता नहीं हो पायी है। दूसरे कुछ स्थानों पर उन्होंने श्रृंगार के अश्लील एवं कुत्सित रूप चित्रण भी किये हैं। तीसरे रीति लक्षणों की पूर्ति, ज्ञान प्रदर्शन की प्रवृति तथा आलंकारिता का मोह भी इनकी रचनाओं को श्रेष्ठता प्रदान करने में वाधक तथा आलोचना में सहायक सिद्ध हुआ है। सम्भव है कुछ इन्हीं कारणों से आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल को यह कहना पड़ा कि बिहारी का काव्य हृदय में किसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वर-धारा कुछ काल तक गूंजती रहे—दूसरी वात यह कि भावों का वहुत उत्कृष्ट और उदात स्वरूप विहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी श्रृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।"[3]

इस विवेचन के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विहारी हिन्दी साहित्य के ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपनी छोटी-सी सतसई के 'गागर में सागर' भरने का सफल प्रयास किया है। यदि कवि को परम्परा-पालन के मार्ग पर संभालकर चलते हुए अपने कलात्मक एवं चमत्कार पूर्ण, प्रदर्शन में कहीं सन्तुलन खोना पड़ा हो अथवा कहीं कुछ स्थानों पर अतिशयोक्ति पूर्ण भाषा हो गयी हो तो इसमें कवि का विशेष दोष मानना न्याय-संगत न होगा। हम तो उक्ति वैचित्र्य, अलंकारों की छटा नारी की विविध अंग चेष्टाओं के सुन्दर चित्रण और भाषा की सामासिकता के कारण इस रचना को हिन्दी की एक श्रेष्ठ रचना मानते हैं।

भिखारीदास—रीतिवद्ध परम्परा के अंतिम कवि के रूप में हम 'दास' जी को ही रखते हैं। आचार्य शुक्ल ने 'काव्यांगों के निरूपण में दास जी को सर्व प्रधान स्थान दिया है क्योंकि इन्होंने छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण-दोष, शब्द-शक्ति

---

१. 'हिन्दी-साहित्य'—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० ३२५-२६
२. 'विहारी की वाग्विभूति'—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र; पृ० ११८-१९
३. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० २५१

आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है।[1]

श्रृंगार-वर्णन—इनके श्रृंगार-वर्णन के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है कि 'इनका श्रृंगार-निर्णय अपने ढंग का अनूठा उदाहरण मनोरम और सरस है। अपने 'काव्य-निर्णय' में कवि ने 'रसांग-वर्णन' में आठ रसों के अन्तर्गत श्रृंगार-रस का वर्णन भी किया है।[2] श्रृंगार-रस और पूर्णता का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि—

"उक्ति प्रीति-रचना-वचन सो 'सिंगार रस' जांन।
सुनत प्रीति- में नित द्रबै, तब पूरन परिमांन ॥[6]

दास जी ने संयोग और वियोग दोनों का समुचित वर्णन किया है।

संयोग-वर्णन—अपने 'श्रृंगार-निर्णय' में कवि ने एक स्थान पर स्वकीया के प्रेम-वर्णन में लिखा है कि नायिका का प्रेम सौत को तो बुरा लगता है किन्तु सखियों को वही प्रेम सुधामय लगता है–'सौति हलाहल सौति कहै, औ सखी कहै सुन्दरि सील सुधामई।[4] पतिव्रता के प्रेम का भी वर्णन सुन्दर बन पड़ा है—

"पान औ खान तें पी को सुखी लखें आप
तबै कछू पीवति खाति है।
दास जू केलि थलीहि में ढीठों,
बिलोकमि बोलति और मुसकाति है ॥[5]

विरह-वर्णन–दासजी का विरह-वर्णन भी हृदय-दग्धकारी ही है। कहीं गोपियां अपने गिरधारी को महल की अटारी पर चढ़कर देखती है,[6] तो कहीं वे अपने वृषभानु को अकेले में बुलाने का प्रयास करती हैं, किन्तु न पाने पर उनके प्राणों को कल नहीं पड़ती—

नैन को तरसै कहां लों कहा लों हियो बिरहागि में तैये।
एक घरी ना कहूं कल पैये, कहाँ लगि प्रानन को कलपैये ॥'[7]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० २७८
१. वही; पृ० २७८
२. 'काव्य-निर्णय' भिखारी-कृत–चतुर्थोल्लास–रसांग वर्णन; पृ० ६६
३. वही; पृ० ६६
४. श्रृंगार-निर्णय–काशी (भारत जीवन प्रेस में मुद्रित)–दासकृत; पृ० २३ प० ६७
५. श्रृंगार-निर्णय–(भारत जीवन प्रेस काशी) दास-कृत-पृ०; २३-पद ६३-६४
६. वही–पृ०; २५-पद ७०
७. वही–पृ०; २५-पद ७१

बेचारी गोपियों को उनका भरोसा छूट जाने पर सुबह से शाम बिताना कठिन हो जाता है। वे ऊधो से कहती हैं–'ऊधो जू मानैं तिहारी, कहौ हम सीखें सोई जोई श्याम सिखावैं।[1] वे तो यहाँ तक तैयार हैं कि यदि श्याम उन्हें 'जोग' से प्राप्त हो सकें तो वे जोग भी करने के लिए तैयार हैं। इसके लिए यदि काल की कुबरी भी मिल जाय तो उसे भी वे पर्याप्त ही मानती हैं।[2] यहाँ नायिका का विरह-निवेदन कितना मार्मिक है—

तेरे मिलाप विना वृजनाथ इन्हें अपनाये रहै तिय नातैं।"[3]

नखशिख, षट्ऋतु तथा बारहमासा—कवि ने परम्परागत नायिका के अङ्ग-प्रत्यंगों के बड़े ही मनोरम चित्र खींचे हैं। अन्य कवियों की भाँति ही विरह आदि का वर्णन षट्ऋतुओं एवं बारहमासा के माध्यम से ही किया गया है।[4] नखशिख में कवि ने सील-भरी आँखों, पिक जैसी बोली, चन्द्रमा की-सी छवि, कोमल पगों के लाल तलुवों, सिंहिनी और मृगिनी की-सी कटि, पातरी उदर, गाढ़े कुच, मृनाल की-सी भुजाओं, पीठ, कंठ, ठोढ़ी तथा पतले अधर तथा गोल कपोलों का ऐसा वर्णन किया है कि तुलना में कवि इतना ही कहता है—'तेरो परिमान प्रमान के प्रमान है।'[5] उदाहरणार्थ पग-वर्णन में कवि लिखता है—

'पांखुरी पदुम कैसी, आंगुरी ललित तैसी;
किरनैं पदुमराग निन्दक नखन में।
तरवा मनोहर सो एड़ी मृदु कौहर सी
ललाई को न लैहै लालगन में।
अतन ते आंक सखि अतन बरषि देत;
मानु कैसो भाव देख्यो तेरे बरनन में।'[6]

एक नायिका के गिरिराज के गर्व को चूर करने वाले गाढ़े कुचों के सम्बन्ध

---

१. शृंगार-निर्णय–(भारत जीवन प्रेस काशी) दास-कृत; पृ० २६–पद ७३
२. 'पाठ करैं सब जोगही को जु पै,
   काठहु की कुबरी कहूं पावै ॥'—वही; पृ० २६-पद ७२
३. वही ; पृ० ७६-पद २३२
४. वही; पृ० ८०-पद ३३२
५. वही; पृ० १ से २३-पद ३३से ३७, ३९ से ४६, ४९ आदि
६. वही; पृ० १०-पद ३३

में की गयी कल्पना भी अनूठी है।[1]

नायिका-भेद—दासजी ने अपनी 'शृंगार-निर्णय' नामक रचना में नायिकाओं के भी भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन किया है, यद्यपि इनमें स्वकीया नायिका के ही लक्षण अधिक मिलते हैं। नायिका के लक्षण के सम्बन्ध में कवि लिखता है कि—

'पहिले आतप धर्म तें त्रिविधि नायिका जानि।
साधारन वनिता अपर सुकिया परकीयानि॥'[2]

स्वकीया नायिका के लक्षण बताते हुए कवि ने लिखा है।

'कुल जाता कुल भामिनी स्वकीया लच्छन-चारु।
पतिव्रता उद्दारि जो माधुर्जालंकारु॥
श्री भामिन के भौन जो भोग भामिनी और।
तिनहूं को स्वकियाहु पं गनं सुकवि सिरमौर॥'[3]

उनकी ऊढ़ा और अनूढ़ा नायिका की परिभाषा इस प्रकार है—

"ऊढ़ अनूढ़ा नारि ह्वै ऊढ़ा व्याही जानि।
विना व्याह सी धर्मरत ताहि अनूढ़ा मानि॥'[4]

परकीया नायिका के सम्बन्ध में कवि ने बतलाया है कि—

'दुरे-दुरे परपुरुष तें प्रेम करै परकीय।
प्रगल्भता पुनि धीरता भूपन ह्वै रमनीय॥'[5]

इसी प्रकार ऊढ़ा और अनूढ़ा आदि के भी उद्‌बोधित प्रेमाशक्ति आदि लक्षण गिनाये गये हैं और विदग्धा, लच्छिता, मुदिता और अनसूयना परकीया के चार भेद किये हैं।[6]

---

१. 'गाढ़े गड़्यौ मन मेरो निहारि कै,
कामिनि तेरे दोऊ कुच गाढ़े।
....
गिरिराज के गर्व गिरावत ठाढ़े॥' —वही; पृ० १३–पद ३६

२. वही; पृ० ८–पद २७

३. वही; पृ० २२–पद ६२

४. वही; पृ० २६–पद ७४

५. वही; पृ० २७–पद ७६

६. वही; पृ० ३४–पद ९९

दासजी ने अपने 'शृंगार निर्णय' में सखी और दासी के कर्म भी बतलाये हैं तथा नायिका के विविध हाव-विभाव और दशाओं का भी वर्णन किया है। जिस प्रकार केशवदास ने नायिका की सेवा में रहने वाली नाइन, धाय, पनिहारिन, सुनारिन, नटी, सन्यासिनी आदि का उल्लेख किया है, उसी प्रकार दासजी के 'रस-सारांश' में नाइन, नटिन, धोविन, कुम्हारिन, वरइन,—सब प्रकार की दूतियाँ मौजूद हैं। ये दूतियाँ धन की प्राप्ति के उद्देश्य से परकीया नायिका के सभी दूत-कार्य करती हैं।

डॉ० महेन्द्र कुमार ने दासजी के सम्बन्ध में लिखा है कि–आचार्य कर्म के समान ही कवि-कर्म दृष्टि से भी रीतिकाल के अन्तर्गत भिखारीदास का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

पिछले पृष्ठों में हमने जिन रीतिवद्ध आचार्यों तथा कवियों की रचनाओं एवं उनकी नारी-भावना के सम्बन्ध में विचार किया है 'उन रीतिकालीन कवियों का मुख्य वर्ण्य विषय यद्यपि नायिका-भेद, नखशिख, अलंकार आदि का लक्षण उदाहरण प्रस्तुत करना रहा है, फिर भी उन्होंने उनके माध्यम से शृंगार का ही प्रतिपादन किया है। यद्यपि उन्होंने भक्ति और नीतिपरक उक्तियाँ भी की हैं, पर वे संख्या में वहुत ही कम हैं। सांचा चाहे नायिका-भेद का रहा हो, चाहे नखशिख आदि का; उसमें ढली है शृंगारिकता ही।'

वास्तव में 'शृंगारिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भोगपरक था, इसलिए प्रेम की अनन्यता, एकनिष्ठता, त्याग आदि उदात्त पक्ष उनकी दृष्टि में वहुत कम आ पाये हैं। उनका विलासोन्मुख जीवन और दर्शन सामान्यतः प्रेम या शृंगार के वाह्य-पक्ष शारीरिक आकर्षण—तक ही केन्द्रित रहकर रूप को मादक बनाने वाले उपकरण ही जुटाता रहा।' फिर उस सामन्तीय वातावरण में कवियों के लिए ऐसे उपादान भी एकत्र हो गये थे जिन्होंने अकुण्ठित शृंगार की अभिव्यक्ति में वड़ी ही सहायता प्रदान की। इस प्रसंग में डा० नगेन्द्र के इस कथन से हम सर्वथा सहमत हैं कि—

'रीति-शृंगार-युग' के ये आचार्य शास्त्रीय विवेचन को न तो पूर्णतः शुद्ध और व्यवस्थित रूप में रूपान्तरित कर सके हैं और न हिन्दी साहित्य को लक्ष्य में रखकर उन्होंने कोई महत्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं। उनकी इस विफलता का प्रथम और प्रधान कारण है–आचार्यत्व और कवित्व का एकीकरण।[1]

---

१. 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास'—(षष्ठ भाग) सम्पा० डॉ० नगेन्द्र; पृ० १८७-८८-२६७

यह सब होते हुए भी यह तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि इन शृंगारी कवियों और आचार्यों ने यत्र-तत्र अपनी रचनाओं में अनेक अनूठी कल्पनाएं की हैं और शृंगार को रस-राजत्व के उच्च शिखर पर पहुंचाने का भी सफल प्रयत्न किया है। इन रीतिवद्ध कवियों की अनेक पंक्तियों को पढ़-सुनकर आज भी हमें जिस अपूर्व रस और आनन्द की उपलब्धि होती है, वह अनिर्वचनीय है।

(६) रीति-मुक्त कवियों की रचनाओं में नारी का चित्रण—प्रस्तुत 'पुष्प' के पिछले पृष्ठों में हम 'रीति-शृंगार-युग' के प्रमुख रीतिवद्ध आचार्य कवियों के शृंगार-वर्णन और नारी-चित्रण के सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय दे चुके हैं। अब यहाँ उन रीति-मुक्त कवियों की शृंगार-भावना के सम्बन्ध में चर्चा करनी है जिन्होंने हिन्दी के मध्यकाल में राज्याश्रित रहते हुए शास्त्रीय तत्वों के आधार पर विभिन्न विषयों—मुख्यत: शृङ्गार, भक्ति, नीति—का निरूपण मुक्तक शैली में किया है। इन कवियों की रचनाओं को आचार्य शुक्ल ने 'रीति-काव्य' की संज्ञा दी थी किन्तु इन कवियों की रचनाओं को 'शास्त्रीय मुक्तक काव्य' कहना ही अधिक अनुकूल और व्यापक जान पड़ता है।

इन कवियों के जीवन का दृष्टिकोण समाज और साहित्य के प्रति, यथार्थवादी दिखायी पड़ता है क्योंकि उनकी काव्य-रचना का 'मूल लक्ष्य अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल अर्थ एवं काम सम्बन्धी प्रयोजनों की पूर्ति करना था।'[1] इन कवियों ने शास्त्रीय तत्वों का प्रतिपादन दो उद्देश्यों से किया है—(१) वे अपने को कवि-मात्र न समझकर शास्त्रों का ज्ञाता भी मानते थे, तथा (२) वे आश्रयदाता राजाओं एवं धनाढ्य वर्ग के लोगों को काव्यशास्त्र का ज्ञान भी कराना चाहते थे। इन कवियों ने शृङ्गार-रस के संयोग-पक्ष तथा नायिका के सौन्दर्य और नखशिख का चित्रण मुक्तक शैली, ब्रजभाषा और कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, दोहा, छन्दों में किया है। अतएव यह कहा जा सकता है कि 'चाहे उन्होंने मुख्यतः शृंगार को ही लिया, किन्तु उसके विभिन्न अङ्गों का जैसा चित्रण उन्होंने किया, वह अन्यत्र सुलभ नहीं। उनकी दृष्टि चाहे नायिका-भेद तक ही सीमित रही किन्तु जैसी सजीव एवं हाव-भावपूर्ण अनेकानेक मूर्तियां उन्होंने प्रस्तुत की हैं, वैसी किसी अन्य साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होती।'[2]

---

१. 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'—डॉ० गणपतिचन्द्र; पृ० ५०८
२. वही; पृ० ५१५-१६

सेनापति—रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति सेनापति ने भी राज्याश्रय ही ग्रहण किया था। आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'कवित्त रत्नाकर' के आधार पर उन्होंने भी सूर्यबली नामक किसी व्यक्ति की प्रशंसा इस पुस्तक की पहली तरंग में की है किन्तु बाद में इस दासता से उन्हें विरक्ति-सी हो गयी जान पड़ती है।[1] दरबारी-कवि होने के कारण आपकी रचनाओं पर दरबारी शान-शौकत, ठाट-बाट, विलासिता की छाप पड़े बिना न रह सकी।

इनकी नारी सम्बन्धी भावना वही थी जो हम अन्य कवियों में देख आये हैं। सेनापति ने भी नारी के संयोग-वियोग श्रृंगार, नखशिख तथा नायिका के अनेक स्वरूपों का वर्णन किया है यद्यपि वे अपने चमत्कारपूर्ण षट्ऋतु वर्णन के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्वकीया नायिका के कर्तव्यों पर अधिक बल दिया है। वह पति के चले जाने पर वह भोगों से अलग हो जाती है, शाही वस्त्राभूषण त्याग कर जोगिन बन जाती है, स्वर्ण-जटित सेज पर सोना छोड़ देती है और दिन-रात पिय की ही याद में आँसू बहाती रहती है।[2]

श्रृंगार-वर्णन—सेनापति ने श्रृंगार-रस का रीतिकालीन परिपाटी के अनुसार भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव आदि का क्रम से तो वर्णन नहीं किया किन्तु उनकी रचना में श्रृंगार-रस के समस्त अवयव मौलिकतापूर्ण रीति से मिलते हैं।[3] आपने श्रृंगार-रस के संयोग और वियोग दोनों रूपों का सफलता के साथ चित्रण किया है।

संयोग वर्णन—कवि ने अपने श्रृंगार-वर्णन में नायक-नायिका को आलम्बन माना है। 'स्वकीया' के आदर्श का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि नायिका स्याम के प्रेम को अस्वीकार न करते हुए उनके महावर लगाने के प्रयास को अनुचित बतला कर उनका हाथ पकड़ लेती है।[4] इस प्रकार कवि ने परस्पर दर्शन, स्पर्श, एवं

---

१. 'कवित्त रत्नाकर'— तरंग पांच-छन्द; ३३

२. 'अरुन बसन छोड़ि जोग अभिलाख्यो है।'—कवित्त-रत्नाकर; १, २३

३. 'सेनापति कमल से फूलि रहैं अंचल में,
रहैं दृग चंचल दुरायेहूं न दुरि कै।
पलकैं न लागैं देखि ललकैं तरुन मन,
झलकैं कपोल, रही अलकैं बिथुरि कै।—वही; २, १०

४. ह्वै के रस बस जब दीबे को महाउर के,
सेनापति स्याम कह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आंखिन सौं,
कही प्रानपति यह अनुचित है॥'—कवित्त-रत्नाकर'; २, ३६

दाम्पत्य-प्रेम की अनुरक्ति का तो वर्णन किया ही है, साथ ही रामायण में राम और सीता की 'दामपत्य-रति' का भी वर्णन किया है।[1] जनकधाम में दोनों जुआ खेलते समय पहुँची के हीरों में एक-दूसरे की परछाई को देखते ही खेलना भूल जाते हैं। कवि कहता है—'दुहुन के दृग प्रतिबिम्बन सौं अटके।[2] यहाँ पर कवि की संयोग शृंगारिक भावना अत्यन्त उच्च कोटि की दीख पड़ती है किन्तु शृंगारिकता में दरबारी विलासिता के कारण कहीं-कहीं अश्लीलता आना स्वाभाविक था।[3]

वियोग-शृंगार—कवि के भाव विप्रलम्भ शृंगार में और निखर कर सामने आये हैं। नायिका का प्राणप्रिय नायक परदेश गया है, यह जानकर उसकी याद में वह कमलनैनी दिन-रात अनमनी-सी बैठी 'अवधि के वासर' गिनती है, तथा उसके पत्रों को बार-बार पढ़ती हैं और 'प्रीतम कौं चित्र मैं सरूप निरखति है।'[4] इस 'प्रवास हेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार' के अन्तर्गत कवि ने पावस ऋतु में विरहिणी की दशा का वर्णन किया है। बीतती हुई घड़ी को देखकर नायिका कहती है—'डग भई बावन की सावन की रतियाँ।'[5] उसकी छाती धड़कने लगती है, क्योंकि उसे प्रिय-संभोग के अभाव में रात-भर नींद नहीं आती। एक स्वकीया नायिका तो अपने लाल के वियोग में अरुण वसन छोड़कर जोगिया धारण कर लेती है, सेज पर शयन करना त्याग देती है। उसके प्रिय का रूप उसकी आँखों में नाच रहा है, जिसे न पाने

---

१. दोऊ बिहसत विलसत सुख सेनापति,
सुरति करत छीर सागर विहार की।'—वही; ४, २१

२. भूलि गयौ खेल, दोऊ दुखत परसपर,
दुहून के दृग प्रतिबिम्बन सौं अटके।'—वही; ४, २१

३. 'चीकने चिकुर छूटि रहे हैं विसाल भाल,
बांधी कसि पट्टी सेनापति रिझावति है॥'
....
'बायें कर हौरिल कों सीस राखि दाहिन सौं।
गहे कुच प्यारी पयपान करावति है॥'—वही; २, ६५

४. कवित्त-रत्नाकर; २, ६१

५. वही; २, २८

पर आँसुओं की इतनी वर्षा होने लगती है कि उसके दोनों उरोज भीग जाते हैं।[1] उसकी विरह की पंचागिनी इतनी वढ़ जाती है कि प्रिय के शोक में उसको अंगुरिन में छाले पड़ गये हैं। उसने प्रियतम को भूलने के लिए योग-धारण कर मृगछाला पहन लिया है, फिर भी वह उसे नहीं विसरा पाती है।[2] वह प्रिय-मिलन के लिए इतनी व्याकुल हो उठी है कि अर्ध-रात्रि आते-आते अपनी सखियों से कहती है कि 'छाती न घिराति आधीरात निगराति है।'[3] भला अब मैं कैसे धैर्य धारण करूं? अब विना 'जदुवीर' के मिले मेरे प्रेम की प्यास, आशा की ओस चाटने से बुझने वाली नहीं है। यहाँ तक कि कवि उसके विरह के ताप को हरने के लिए कपूर, चंदन आदि शीतल विरहोपचार भी करता है किन्तु प्रीतम के विना सभी उपचार वेकार सिद्ध हो जाते हैं।[4]

उद्दीपन-विभाव एवं षट्ऋतु-वर्णन—उद्दीपन के अन्तर्गत ही कवि ने ऋतु-वर्णन भी लिया है। शरद ऋतु में स्वच्छ आकाश, फूले हुए कास, पीले रंग के जड़हन धानों को देखते-देखते उसे 'हरिपिय' की याद आ जाती है।[5] हेमन्त ऋतु आते-आते 'दम्पति-संगम' की सुधि आ जाती है क्योंकि इस ऋतु में कवि कहता है कि मनुष्य तो क्या परम प्रतापी मार्तण्ड भी धनि (स्त्री) की कोख में जा छिपता है।[6] ग्रीष्म के वाद पावस आते ही पेड़-पौधे, पशु-पक्षी प्रसन्न हो उठते हैं, मेंढ़क बोलने लगते हैं, मोर नाच उठते है। ऐसी मनभावन पावस ऋतु भला विरहिन के लिए गाढ़ी क्यों न होगी?[7] संयोग के समय जो वस्तुएं सुखदायी थीं, कवि कहता है वे ही

---

१. 'लाल के वियोग तें, गुलाल हूं तें लाल सोई,
अरुण वसन छोड़ि जोग अभिलाखयौ है।
....
प्यारी के नयन अंसुव न वरसत तासौं,
भीजत उरोज देखि भानु मन माखयौ है।'—वही; २, २३
२. वही; २, २७
३. वही; २, ५१
४. वही; २, ३६-२, ४३
५. वही; ३, ३७
६. 'पियरे जो उतपात करत जाड़ौ दारुन अति।
सो दूनो वढ़ जात, चलत मारुत प्रचंड गति।'—वहीं; ३, ६२
७. 'सुनि घनघोर मोर कूकि उठे चहुं ओर,
दादुर करत सोर मार जामिनीन कौं।
काम धरे वाढ़ तरवारि तीर, जम, डाढ़,
आवत असाढ़ परी गाढ़ विरहीन कौं।'—वही; ३, २१

आज विरहावस्था में दुःखदायी बन गयी हैं। वही पावस ऋतु आज विरह की आग बरसा रही है।[1] वसन्त का पूछना ही क्या, वह तो कामदेव के पाँच वाणों को लेकर ही आता है।[2] इस प्रकार कवि ने छः ऋतुओं का तो वर्णन किया ही है, साथ ही उसने सावन, भादों आदि महीनों का वर्णन करके 'बारहमास' की परम्परा को भी निभाने का प्रयास किया है।[3]

नखशिख-वर्णन—कवि ने दूसरी तरंग में शृंगार-वर्णन के साथ नायिका के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन किया है जिसमें अंगों की बनावट की ओर कवि अधिक न जाकर नायक के हृदय में उद्दीपन काम की व्यंजना पर अधिक बल देता है। कवि नायक-नायिका के दृगों में लगे हुए अंजन तथा मुखकाँति को देखकर कहता है कि 'ज्यौं-ज्यौं मैं निहारे त्यौं त्यौं खरौ ललचात है।' आगे वह कहता है कि तुम्हारे नयनों को देखते मेरा मन तृप्त नहीं होता।[4] उसके बालों की छटा तो उसके मन के क्लेशों को ही हर लेती है।[5] इसी प्रकार कवि ने एक स्थान पर भृकुटि, अधर, कटि और दाँत–सभी अंगों का वर्णन एक साथ कर डाला है।[6] साथ ही उन्होंने सोलहों शृंगार का भी वर्णन कर प्राचीन परिपाटी को निभाया है।[7]

नायिका–भेद—सेनापति ने अन्य कवियों की भाँति नायिका के कई भेदोप-भेद तो नहीं किये हैं किन्तु अपनी रुचि के अनुसार नायिकाओं के कुछ भेद अवश्य किये हैं। कहीं पर उसने सर्वगुण-सम्पन्न, शोभा, दीप्ति, काँति तथा अलंकार-युक्त

---

१. 'आई ऋतु पाउस कृपा उर न कीनी कंत,
छाइ रह्यो अंत, उर विरह दहत है।'–वही; ३, २५
२. लाल हैं प्रबाल फूले देखत बिसाल जऊ,
फूले और साल पै रसाल उर साल है।'–वही, ३, २५
३. वही; तीसरी तरंग–३, १०, १५, २१, २५, ४०, ४४ आदि।
४. 'कान लौं बिसाल काम भूप के बिसाल बाल,
तेरे दृग देखे मेरो मन न अघात है।'—कवित-रत्नाकर; २, १
५. 'एड़िन लगत सेना हिय के हरषकर,
देखत हरत रति कंत के कलेस है।'–वही; २, ७
६. वही; पहली तरंग–१, ३२, ३३। दूसरी तरंग–२ से ६ और १०, ११, २५ २६
७. वही; २, २८

नायिका का वर्णन किया है। तो कहीं अवस्था के विचार से मुग्धा-नायिका का वर्णन किया है उसी स्त्री को नायिका बतलाया है जिसे देखने से शृंगार-रस का भाव मन में जाग्रत हो जाय। ऐसी नायिका उपयुक्त गुणों वाली सर्वगुण सम्पन्न ही हो सकती है।

एक स्थान पर 'मुग्धा' नायिका के उस धूप-छांह वाली अवस्था का वर्णन कवि ने किया है जबकि लज्जाशील किशोरी में नवयौवन का संचार शुरू हो जाता है। वह लुक-छिपकर जब 'काम-केलि की कथा' सुनने लगती है जिसके तिरछे नेत्रों की गति देखकर तथा चम्पे के फूल की-सी कोमल बांहों को देखकर स्याम का मन तिलमिला उठता है। नायिका पर अंकुरित यौवन परिलक्षित होने लगता है।[1] वह विविध प्रकार के बहाने बनाकर स्याम के पास पहुँचती है, मीठी-मीठी बातें करते हुए कंधे पर हाथ रखती है। स्याम से भी कैसे रहा जाय, वे भी अंगुरी पकड़ कर पहुँचा तक पहुंच गये।[2] 'वचन-विदग्धा' परकीया-नायिका तथा खंडिता-नायिका का भी वर्णन कवि ने किया है।[3]

अन्त में कवि को ऐहिकता के प्रति घोर निराशा-सी होती है। वह संसार की निस्सारता से ऊब कर अध्यात्म की ओर प्रवृत होता है। जीवन की इसी क्षण-भंगुरता के कारण कवि राजमहलों में राधा-कृष्ण के रासलीला की कल्पना करते हुए कवि वृन्दावन विहारी श्री कृष्ण की शरण में जाना चाहता है। वे जन्म-भर वृन्दावन की सीमा के भीतर ही रहना चाहता है।[4]

कविराज पद्माकर—इस युग के अन्य कवियों की भाँति पद्माकर भी दरबारी-कवि थे। आप कई दरबारों में रहे। आप जहाँ भी गये, वहाँ के आश्रयदाता के गुणगान में ही आपने अपनी काव्य-कला की सार्थकता समझी। यही कारण था

---

१. 'सूधी चितवन तिरछों ही सी लगन लागी,
बिन ही कुचन लागी कंचुकी लसन है।'—वही; २, ५०

२. 'कहां एती चतुराई, पढ़ी आप जदुराई,
आंगुरी पकरि पहुँचा कों पकरत हों॥'—वही; २, ३०

३. वही; पृ० २, ३१, ३६

४. 'सेनापति चाहत हैं सकल जनम भरि,
वृन्दावन सीमा तें न बाहिर निकसिबौ।
राधा मन रंजन की सोभा नैन कंजन की,
माला गरे गुञ्जन की, कुञ्जन को बसिबो॥'—वही; ५, २१

कि उस युग के कवियों में आपने पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली। किन्तु जितनी शीघ्र वे विख्यात हुए, उतनी शीघ्रता से नजरों से ओझल भी हो गये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'ऐसा सर्व प्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़कर दूसरा नहीं हुआ।..........अतः जिस प्रकार ये अपनी परम्परा के चरमोत्कृष्ट कवि हैं,उसी प्रकार प्रसिद्धि में अन्तिम भी। देश में जैसा इनका नाम गूंजा, वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नहीं।'[1]

कवि की अधिकांश रचनाएं अपने आश्रय दाताओं की प्रशंसा की ही मिलती है। उदाहरणार्थ, जब पद्माकर जी जयपुर के महाराज प्रताप सिंह और उनके पुत्र महाराजा जगतसिंह के दरबार में रहते थे तो वहीं पर इन्होंने उन्हीं के नाम पर 'जगद्विनोद' और अपने अलंकार-ग्रन्थ 'पद्माभरण' की रचना की। इसी प्रकार उदयपुर के महाराणा के कहने पर गणगौर मेले का वर्णन इन्होंने 'गनगौर' में लिखा और अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर की प्रशंसा में 'हिम्मत बहादुर विरदावली' वीर-रस की पुस्तक लिखी। इनके अलावा जीवन के अन्तिम सात वर्षों में जो कानपुर में गंगा के किनारे बीता, उसमें 'गंगा लहरी' और उससे पूर्व रोगग्रस्त हालत में ही 'प्रबोध पचास' की रचना की। ये ही पाँच ग्रन्थ कवि की प्रसिद्ध रचनाएं हैं। कवि का आविर्भाव ही ऐसे युग में हुआ था जिसमें सारा वातावरण ही रस और राग से आच्छादित था। यही कारण था कि कवि की कविता रमणीयता में डूबी हुई थी। शुक्ल जी के शब्दों में, 'इनकी रचना की रमणीयता ही इनकी सर्व प्रियता का एक मात्र कारण है।'[2]

शृंगार-वर्णन—शृंगार-रस वर्णन का सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ 'जगत् विनोद' है जिसमें कवि ने परम्परा के अनुसार ही राधा और कृष्ण को ही नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया है।[3] साथ ही नौ स्थायी भावों की चर्चा करते हुए कवि ने स्थायी भाव रति की चर्चा की है।[4] आठ अनुभवों की तो लगभग सभी कवियों ने चर्चा की है किन्तु पद्माकर ने 'जृंभा' को एक और अनुभाव माना है।[5] कवि ने शृंगार की

1, "हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-पृ०; ३६८
२. वही पृ०; ३६८
३. 'ये वृषभानु किशोरी भई इतहू वह नन्दकिशोर कहावै।
त्यों पद्माकर दोउन पै नवरंग तरंग अनंग कि छावै॥'—जगद्विनोद-छन्द ३४
४. 'सुप्रिय-चाह तें होत जो, सुमन अपूरव प्रीति।
ताही को रति कहत हैं, रस-ग्रन्थन की रीति॥'—वही; छन्द ५७६
'जृंभा नवम् बखानहीं, जे कवीन के राव।'—वही; छन्द ३६५

'रसराजकता' स्वीकार करते हुए उसके दो भेद किये हैं–संयोग और वियोग। इसके साथ ही विभाव तथा संचारी भाव आदि की चर्चा करते हुए कवि ने बतलाया है कि दम्पत्ति के मिलन और मिलन में रुकावट के अनुसार शृंगार रस के दो भेद होते हैं।[1]

संयोग-शृंगार—इसके अन्तर्गत कवि ने नायिका के हाव-भाव, स्वेद, कंप, अनुभाव, हर्ष, चपलता, नखशिख, विहार और दम्पति के आमोद-प्रमोद का रमणीय चित्रण किया है। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत कवि ने श्रवण, चित्र, स्वप्न और प्रत्यक्ष चार प्रकार के दर्शनों का वर्णन किया है।[2] कवि ने नायक-नायिका को आलम्बन बनाकर कुंडल के हिलने, बालों के बिखरने, नेत्रों की चंचलता और स्वेद-कम्प आदि के भी मनोहारी चित्र उपस्थित किये हैं।[3]

संभोग शृंगार की पूर्णता कवि के उस चित्रण से स्पष्ट हो जाती है जब गोरी नवल किसोरी प्रेम के रंग में डूबी हुई, हिंडोले पर सावन महीने में झूल रही है किन्तु उस छटा से उद्दीप्त होकर 'काम' उसके उर में झूल रहा है और उसका प्रिय स्याम उसकी आँखों में झूल रहा है।[4]

ताल में तैरती हुई पद्माकर की एक बाला की वेणी यमुना, गले का हीरे हार गंगा और उसके लाल तलवे सरस्वती का होना बतलाते हैं। इसी कारण वह बाला ताल में जिधर जाती उधर ही त्रिवेणी का दृश्य दिखलाई पड़ता है। ('पैरे जहाँ-ई-जहाँ वह बाल, तहाँ-तह ताल में होत त्रिवेनी')—

---

१. 'सो सिंगार द्वै भांति को, दम्पत्ति मिलनि संयोग।
अटक जहां कछु मिलन की, सो सिंगार वियोग॥'–वही; ६१४

२. जगद्विनोद–छन्द; ३२१, ३२१

३. 'कल कुण्डल दुहुं डुलत, खुलत अलकावलि विपुल।
स्वेद सीकरन मुदित, तनक तिलकावलि सुललित॥
सुरत मध्य मति लसत, हरष हुलसत चख चंचल।
कवि पद्माकर छकित, झपति झपि रहत दृगंचल॥'—जगद्विनोद छन्द; ६१५

४. 'प्रेम रंग बोरी गोरी नवलकिसोरी तहाँ,
झूलति हिंडोरे यों सुहाई अँखियान में।
काम झूले उर में उरोजन में आम झूले,
स्याम झूले प्यारी की अन्यारी अँखियान में॥'—फुटकर छन्द; ३०

कवि की एक अन्य स्नानार्थिनी नायिका आंगन में खड़ी-खड़ी अपने वाल खोल रहा है। तब उसके अङ्ग-प्रत्यंग से मीठी-मीठी सुगन्ध आरही है और प्रकाश बिखर रही है। अन्त में कंचुकी खोलने पर कवि अनोखी कल्पना करने लगता है कि शैशव और यौवन की लडाई में शैशवावस्था अपनी हार मानकर अपने सुनहरी विजय-नगाड़ों को उल्टा पटककर भाग गई है। ('भागि गई लरिकाई मनो, लरिकैं करिकै दुहुँ दुंदुभि औंधे')--कैसी अनूठी उक्ति है।[1]

वियोग-शृङ्गार-वर्णन—विप्रलम्ब-शृङ्गार की परिभाषा करते हुए कवि ने पहले ही वता दिया है कि 'अटक जहाँ कछु-मिलन की सो सिंगार वियोग' इसी के समर्थन में कवि ने एक स्थान पर और लिखा हैं कि जहाँ पर प्रिय और प्रिया को बिछोह कष्टदायक हो. वहीं वियोग शृंगार समझ लेना चाहिए।[2]

कवि ने पूर्वानुराग, मान और प्रवास, वियोग शृंगार के तीन भेद किये हैं। कृष्ण के प्रथम दर्शन में ही व्रजवाला में प्रेमांकुर उत्पन्न होता है, मुरली का स्वर तो उसे जकी-सी, थकी-सी और भमी-सी वना देता है। उसकी अब यहाँ तक दशा हो गयी है कि वह कैसे धैर्य धारण करे।[3] इसीलिए नायिका उसी के रंग में रंगी है, उसी के प्रेम में पगी है, उसी के संग में सारे आनन्द का अनुभव करती है। वह कभी रूठ जाती है तो नायक उसकी मान-चेष्टाओं को देखते हुए मना भी लेता है।[4]

कवि ने वियोग-शृंगार के अन्तर्गत पाँच अवस्थाओं--अभिलाषा, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप और मूर्च्छा-का वर्णन किया है।[5] इनके अतिरिक्त नायिका की विरहावस्थामें मिलन की अवस्था की शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर एवं चन्द्रिकादि सुखद वस्तुएँ भी दुखदायी हो जाती हैं।[6] यही कारण था कि कृष्ण के विना राधिका सेज पर ही छटपटाती,

---

१. पद्माकर—श्री डॉ० भालचन्द्र राव तेलंग; पृ० २२२-२३

२. जगद्विनोद—छंद; ६१७

३. 'ये तौ निरदयी दई इन को दया न दई,
 ऐसी दसा दई मेरी कैसे धरौं तन धीर।
 होत मन हू के मन नैनन के नैन जो पै,
 कानन के कान तो पैं जानतो पराई पीर॥'—जगद्विनोद—छंद; ६२५

४. 'काहू पै चलाइ चख प्रथम रिझावैं फेरि,
 वांसुरी वजाई कै रिझाइ लेत राधा को।'—वही—छंद; ६३०

५. जगद्विनोद—छन्द; ६४५, ६६४

६. वही—छंद; ६१८

तड़पती, सिसकती और सूखती जा रही हैं।[1] परम्परागत कवि ने उसके विरहोपचार का भी वर्णन किया है।[2]

उद्दीपन-विभाग-वर्णन—उद्दीपन विभाग के अन्तर्गत पद्माकर ने प्रकृति, सखी, दूती,[3] चन्द्र, चांदनी तथा पुष्पराग आदि और षट्ऋतुओं का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया है। ऋतु-वर्णन में तत्कालीन समाज का यह चित्र पद्माकर का बड़ा प्रसिद्ध है।[4] इसी प्रकार होली आदि उत्सवों के वर्णन भी बडे सुन्दर बन पड़े हैं।

नखशिख-वर्णन—परम्परागत पद्धति के अनुसार कवि ने नखशिख का शास्त्रीय शैली में वर्णन न करके नायिका के सौन्दर्य नेत्र, हास आदि का वर्णन किया है।[5] कहीं-कहीं पर नायिका बिना पैरों के दौड़ती है, बिना हाथों के ही अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित करती है। इसलिए कवि कहता हैं कि 'पाखन बिना ही करें लाखन वार आंखें, पावतीं जो, पाँखै तौ कहा धौं करि डारतीं।'[6] इसी प्रकार कुच, नितम्ब की चढ़ाचढ़ी में कवि एक अनोखी बात कहता है।[7]

नायिका-भेद—महाकवि पद्माकर की परिभाषा की कोई विशेषता न

---

१. 'हे हरि तुम बिन राधिका, सेज परी अकुलाति।
तरफराति तमकति, नचति, सुसुकति, सूखति जाति॥'—पदमाकर; छंद १६४

२. जगद्विनोद; छंद १८६, ६६३

३. वही; छंद ३७८ से ३८६

४. 'गुलगुली गिलमें गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चांदनी हैं चिक हैं, चिरागन की माला हैं।
कहैं 'पदमाकर' त्यों गजक गिजा हैं सजी,
सेज हैं, सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला है विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं दुसाला है, विसाला चित्रसाला है।—जगद्विनोद; छंद ३८६

५. 'पद्माभरण'; छंद २१

६. फुटकर छंद १६

७. 'ज्यों कुच त्यों ही नितंब चढ़ै कछु, ज्यों ही नितम्ब त्यों चातुरईसी।
जानति ऐसी चढ़ाचढ़ि में किहि, धौं कटि बीच ही लूटि लईसी॥'
—जगद्विनोद; छंद २२

दिखाकर पूर्व परिभाषा का ही पिष्टपोषण किया है। जिस प्रकार कवि मतिराम ने उसी स्त्री को नायिका माना था जिसके देखने से श्रृंगार-रस का भाव उत्पन्न हो, उसी प्रकार की परिभाषा पद्माकर ने भी की है।[1]

कवि ने नायिकाओं स्वकीया, परकीया और गणिका—तीन भेद किये हैं और इन्हें त्रिविध नायिका कहा है।[2] स्वकीया नायिका का उदाहरण देते हुए कवि लिखता है कि जो वचन-कर्म से प तव्रता हो, लज्जाशील हो, वही स्वकीया नायिका है।[3] अवस्थानुसार कवि ने स्वकीया के तीन भेद माने हैं—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा के दो भेद—अज्ञात-यौवना और ज्ञात-यौवना। ज्ञात-यौवना के दो भेद—नवोढ़ा और विश्रुब्ध नवोढ़ा। प्रौढ़ा के दो भेद—ऊढ़ा और अनूढ़ा।[4]

परकीया नायिका के छः भेद—गुप्ता, वचनविदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता, तथा प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अनुशयना।[5] इनके भी कवि ने तीन-तीन भेद किये हैं।[6] दशविधि नायिकाओं में प्रोषित-पतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यप्रेयसी तथा आगत-पतिका का कवि ने वर्णन किया है।[7] नायिका के अन्य भेदों में उत्तमा, मध्यमा और अधमा आते हैं। पद्माकर ने विवाहिता स्त्रियों के कनिष्ठा और जेष्ठा भेद भी किये हैं।[8] कवि के नायिका-भेद की सबसे बड़ी विशेषता उसके मनोवैज्ञानिक वर्णन की है। दूसरे कवि ने स्वकीया के प्रेम को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। दम्पति-प्रेम को कवि सोने में सुगन्ध मानता है।[9] 'पद्माकर-पराग' में प्रो० गुप्ता ने श्रृंगार वर्णन के

---

१. 'रससिंगार को भाव उर, उपजत जाहि निहारि।
ताही कों कवि नायका, वरनत विविध विचारि॥'—जगद्विनोद—छंद; ११

२. 'कही त्रिविध सो नायिका, प्रथम स्वकीया नाम।
पुनि परकीया दूसरी, गणिका तीजी वाम॥'—वही—छंद; १६

३. 'निजपति ही के प्रेममय, जाको मन वचकाय।
कहत स्वकीया ताहि सों, लज्जाशील सुभाय॥'—वही—छंद १७

४. वही—छंद; २०, २६, ३७, ४१, ७६

५. वही—छंद; ८३, ८४

६. वही—छंद; १२४, १२५

७. जगद्विनोद—छंद; ४०, ४१, ४२

८. वही—छंद; ८३

९. 'सोने में सुगंध न सुगंध में सुन्यो री सोनो,
सोनो औ सुगन्ध तोमें दोनों देखियतु है।'—वही—छंद; १८

सम्बन्ध में लिखा है कि 'मन पर तो व्यापक शृंगार का, रसराज का ही राज है—जिसमें प्रेम, वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति, सख्य, आत्मनिवेदन आदि सब-कुछ आ जाते हैं। उस शृंगार के वर्णन में भी पद्माकर की भावना बड़ी उदात्त रही है।'[१]

घन-आनन्द—बादशाह मुहम्मद शाह के महाकवि घन-आनन्द आनंदघन, घनानन्द तथा आनन्द तीनों नामों से प्रसिद्ध हैं किन्तु अब इनके नामों में कुछ भेदों की संभावना की जाती है। अधिकांश कवियों ने अनेक तर्क-वितर्क के पश्चात् घन-आनन्द नाम से ही आपको सम्बोधित किया है और यही अधिक समीचीन भी जान पड़ता है।

रीति-परम्परा के अनुसार आपकी रचनाओं पर भी दरबारी शृंगारिकता की छाप दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि आपने भक्ति के छन्द भी लिखे हैं किन्तु आचार्य शुक्लजी के शब्दों में 'लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत-प्रेम में लीन हुए।' अतः आपकी कविता में 'सुजान' शब्द शृंगारिक पक्ष में नायक और भक्ति-पक्ष में 'कृष्ण' के लिए ही प्रयोग किया गया है। ब्रजभाषा में सूफी कवियों के इश्क की छाप आपकी कविताओं में अधिक मिलती है।[२] इश्कलता की रचना भी कृष्ण के साथ इश्क का ही परिणाम रहा। भाषा पर फारसी प्रभाव के कारण माशूक की याद में जिगर के टुकड़े भी मिलते हैं।[३] कवि ने परम्परा के अनुसार राधा-कृष्ण के जीवन के विविध पक्षों का, उनकी प्रेम-लीलाओं का, गोपियों के साथ क्रीड़ाओं का वर्णन कर उन्हें साधारण नायक-नायिका के रूप में निस्संकोच जी-खोलकर चित्रित किया है।

शृंगार-वर्णन—वैसे तो घनआनन्द जी का सम्पूर्ण काव्य ही शृंगारिकता से भरा पड़ा है जिसमें राधा-कृष्ण के रास-रंग, होली, आहार-विहार के अनेक वर्णन मिलते हैं तथापि छंदों में शृंगार-रस का सावयव वर्णन भी कवि ने किया है। आपकी

---

१. 'पद्माकर-पराग'–प्रो० दुर्गाप्रसाद गुप्ता (चतुर्थ संस्करण); पृ० १२

२. 'संयोगी इश्क में, इश्क वियोग खूब।
आनंदघन चस्मो सदा, लगा रहे महबूब॥
....
लगा इश्क ब्रजचन्द सों, सुन्दर अधिक अनूप,
तब ही 'इश्कलता' रची आनन्द घन सुख रूप।'—इश्कलता; छंद ४,२

३. सुजानहित प्रबन्ध; छंद ७८, ८३, ८७, ८८, ११०, १७१, २०३, २६७ आदि
कृपाकंद निबन्ध; छंद २६, ५

शृंगारिकता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपने कविता के भाव-पक्ष पर अधिक बल दिया हैं। अन्य कवियों की भांति बाह्य रूप वर्णन में कवि अधिक गहराई तक नहीं गया। अतएव कवि की शृंगारिक प्रवृत्ति वहिर्मुखी अधिक रही है। आपकी प्रेम-सम्बन्धी उक्तियां भी अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं।[1]

संयोग-शृंगार—कवि अपने संयोग-शृंगार वर्णन में बाह्य चेष्टाओं के साथ-साथ मन की उमंग, पुलक एवं लीनता आदि में भी पाठक को रमा लेता है। उनकी होली के समय कृष्ण के साथ नायिकाओं की चुहल देखती ही बनती है।[2] इसी प्रकार कवि ने नायक-नायिका के पारस्परिक संभोग, स्पर्श एवं संलापादि का जी-भरकर उल्लेख किया है।[3] नायक-नायिका की रति-केलि-क्रीड़ाओं, युगल-विहार[4], सुरति[5] एवं सुरतांत का वर्णन भी कवि ने किया है। अपने प्राणेश्वर के प्रेम में उनके दृगों में लालिमा छा गई है, अङ्ग सब अलसाये से हैं, उसे जम्भाई आ रही है, प्रेमांध नायिका के रोम-रोम में कामांकुर प्रगट हो रहे हैं।[6]

वियोग-शृंगार—यद्यपि कवि ने संयोग और वियोग दोनों के ही गीत गाये हैं तथापि उनका वियोग स्वर अधिक ऊँचा सुनाई पड़ता है। अधिकांश रचनाएँ 'सुजान' के वियोग में ही लिखी गयीं हैं जो कवि की अन्तर्मुखी वेदना से पूर्ण प्लावित हैं।

---

१. घनानन्द प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरों आंक नहीं,
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।'—
सुजानहित प्रबन्ध; छंद २६६

२. 'बोलत बधाई दौरि-दौरि के छौलै दृग,
दसा सुध सगुनौती नीके इन पै पढ़ी।
कंचुकी तरकि मिले सरकि उरज, भुज,
फरकि सुजान चोप चुहल महा बढ़ी।'—सुजानहित–छंद; ७६

३. वही–छंद १३८

४. पदावली–छंद १४५

५. 'सुखस्वेद कनी मुखचन्द बनी बिथुरी अलकावलि भांति भली,
मद जोबन रूप छकी अँखियां अवलोकनि आरस रंग भली।
घनआनन्द ओपित ऊँचे उरोजनि बोज मनोज के ओज ढली,
गति ढीली लजीली रसीली लसीली सुजान मनोरथ केलि फली॥'
—सुजानहित–छंद ३५८;

६. पदावली–छंद ५१

घनानन्द सच्चे वियोगी कवि हैं।[1] और आपके वियोग में पूर्वानुराग की प्रधानता है। नायक-नायिका प्रथम दर्शन में ही इतने प्रेमानुरक्त हो जाते हैं कि नायिका की आंखों में सलोने सुजान का रूप नाचने लगता है, उसकी मनोदशा बदल जाती है। प्रिय के प्रति मोह, आवेग, औत्सुक्य तथा विषाद—यहाँ तक बढ़ जाता है कि वह धैर्य त्यागकर आवेग में कह उठती है कि 'यह कै फ़टक क्यों रे हिये फटि ना गयौ'। कवि विरहणी की चारों दशाओं उद्वेग, उन्माद, व्याधि तथा जड़ता का वर्णन करते हुए लिखता है कि वह अपने-अपने प्रीतम प्यारे के बिना मरने को तैयार नहीं है।[2] यहाँ उसकी सात्विकता निखर उठती है। कहीं-कहीं प्रवास हेतुक विरह वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि नायिका प्रिय-मिलन के लिए बड़ी ही व्याकुल है 'प्यास भरी बरसै, तरसैं मुख देखन कौं अँखियां दुखदाई'।[3] विरहिणी की पागलों जैसी दशा हो जाती है, वह कभी रोने लगती है तो कभी हंसने लगती है।[4] वह पागल क्यों न हो जबकि उसके रावरे रूप में ही यह विशेषता थी कि 'नयो-नयो लागति ज्यों-ज्यों निहारिये'। तो वह वेचारी क्या कर सकती थी ? वह तो वेवस थी। उसे उसके विना कोई दूसरा सहारा भी तो न था, इसलिए वह बार-बार कहती है कि 'ताहि जो बिसारै तो सहारो फिर कौन को'। किन्तु जब वे नहीं मिलते हैं तो वह स्वयं को अभागिन समझती है और खीझकर प्रेमी की निष्ठुरता पर धिक्कारती हुई कहती है—'हति कै हितूनि कहो काहू पाई पति रे'। फिर भी आशा की डोर नहीं टूटती, वह अपनी अटपटी दशा के लिए स्वयं पति को आकर देखने के लिए कहती है।[5] विवश हो जाने पर अनायास उनके मुख से निकल पड़ता है,

---

१. संयोगो से इश्क सें, इश्क वियोगी खूब,
आनंदघन चस्मों सदा, सना रहै महबूब।'—इश्कलता–छन्द; ४

२. 'मारौ गरजि-गरजि घन मारौ, हो डरावो,
प्रीतम प्यारे विना मैं कैसे मरौं हो।
तैसियै निसि अंधियारी कारी तैसिये सियरी पवन,
परसि-परसि तन जरौं हौं।'—पदावली–छंद; २५६

३. वही–छन्द २११

४. 'खोय दई बुधि, सोय गई सुधि, रोय हँसे उनमाद जग्यो है।'—वही १७७

५. 'दशा है अटपटी पिय आय देखौ,
न देखौ तौ परेखौ है परेखौ।
सु वंदा तें झरै दैया अंगारे,
चकोरन की कहो गति कौन पारै॥'—वियोग-बेलि–छंद; ७, १६

अगर 'मेरी न सुनत दैया' तो 'कम-से-कम अपनी तो कह देते' वाक्य में कितना अपनत्व और कितनी वेदना छिपी है।[1] बादल तो मौसम आने पर वरसता है किन्तु उनकी आँखों में तो हमेशा सावन की घटा छायी रहती है।[2] उनकी यह प्रीति कटु होते हुए भी मिठास से भरी है जैसा कि वह अपनी प्रेम-पत्रिका में स्वय स्वीकार करती है।[3] अतएव अब वह धीरे-धीरे आत्म-समर्पण करना चाहती है। वह कृष्ण के बिना एक क्षण भी नहीं जी सकती, उसकी घबराहट इतनी बढ़ गई है कि वह प्रेम पाती भी नहीं लिख सकती। उसका हृदय अब टूक टूक हो रहा है।[4] वह अब उनके नाम की ही दुहाई देती है और कहती है जब तुम्हीं मार रहे हो तो मैं कैसे बच सकती हूँ। इसलिए वह इतना ही मुख से निकालती है—'तिहारी हैं, तिहारी हैं, बिचारी हैं, बिचारी हैं।[5] अन्त में वे गोपियाँ, जो कभी प्रेम में कृष्ण के सिर चढ़ी थीं, आज उनके वियोग में पुनः प्राप्ति के लिए उनके पांय पड़ती हैं और उनका सब कुछ मानने के लिए तैयार हो जाती हैं।[6] उन्हें विश्वास है कि वे उनकी हैं, इसलिए उन्हीं की प्राण-प्यारी बनकर रहना चाहती हैं।[7]

उद्दीपन-विभाव तथा षटऋतु-वर्णन—कवि ने उद्दीपन के अन्तर्गत न तो षट्ऋतुओं का और न परम्परागत नख-शिख का ही वर्णन किया है। स्थान-स्थान पर उन्हीं ऋतुओं का वर्णन किया गया है जिनके द्वारा भाव उद्दीपन हो सका है। इनमें मुख्यतः पावस और वसन्त ऋतुएं हैं। वसन्त ऋतु की मादकता भरी ठंडी बयार

---

१. 'अन्तर में वासी पै प्रवासी कैसो अन्तर है,
मेरी न सुनत दैया आपनीयौ ना कही।'—विरह-विवेदन—छंद १६

२. 'बदरा बरसै रितु में घिरि कै नितही अंखियाँ उघरी बरसैं।'—वही-छंद २१

३. 'कान्ह तेरी पाती तुम ही सुनाइ हौं, हाय-हाय फिर कहूं जो पाइ हौ।
कटुक प्रीति को स्वाद मिठास भर्‌यो महा, द्वै रसनां करि किलकि कहो
बरनै कहा।'—प्रेम-पत्रिका १,२

४. 'लिखैं कैसे प्रियारे प्रेम-पाती,
लगैं अंसुअन झरी ह्वै टूक छाती।'—घनानन्द—शंभुप्रसाद बहुगुना; पृ० १४०
वियोग-वेलि—छंद १२

५. वही; पृ० १४३।४२

६. 'चढ़ी थी मूड़ अब पायन परैंगी।
कहौ जोई अजू सोई करैंगी॥'—वही; पृ० १४५।५२

७. 'न न्यारी हैं न न्यारी हैं न्यारी।
भई हैं प्रान प्यारे प्रान प्यारी॥'— १४८।७६

में वनवारी की ओर मन लहकना स्वाभाविक ही है ।[1] किन्तु ऐसे मादक वसन्तागमन पर यदि पिय न हो तो विरहिणी की क्या दशा होती है, यह तो विरहिणी ही समझ सकती है। उसके लिए तो वही वसन्त 'पतझर' वन जाता है ।[2] मिलन-सुख का अनुभव ही वियोग का कारण वन जाता है। इसी सुख-दुःख के झूले पर विरही झूला करता है ।[3]

पावस ऋतु की पुरवाई, वादलों की घटा, बूंदों की फुहार, विजली की गरज सबके लिए तो सुखदायी होती है किन्तु एक विरही के लिए वह अतीव कष्ट-दायक ही सिद्ध होती है। तिस पर भी यदि वर्षा-ऋतु का कोई त्यौहार तीज, कजली आदि भी आ गयी तो वह चहल-पहल अंग-अंग में उमंग ला देता है किन्तु पति की अनुपस्थिति में वेचारी को जोग ही धारण करना पड़ता है ।[4]

पति-मिलन के समय जो पावस, वसन्त और फागुन रति-केलि के समय आनन्द प्रदान कर रहे थे; आज वही मादक हवायें जला रही हैं, पावस आग वरसा रहा है और उमंग के रंग से भरा मास फागुन फीका लग रहा है।

नखशिख-वर्णन—यह तो हम पहले वतला चुके हैं कि घनआनन्द ने अंग-प्रत्यंगों का अलग-अलग परम्परागत रीति से वर्णन नहीं किया है, किन्तु कुछ अंगों की विशेषताओं पर वे अवश्य ध्यान देते गये हैं जैसे—श्रीकृष्णजी की सांवली मूर्ति, राधा का 'रति' रूप, कोमल तलुवे, तथा नेत्रों की सुन्दरता आदि। एक स्थान पर कवि ने सभी अंगों का एक साथ ही वर्णन किया है ।[5] इसमें कवि ने सम्पूर्ण नखशिख वर्णन कर दिया है। नायिका की वह छवि कामोद्दीपक है ।[6]

---

१. 'लहकन लागी री वसन्त वयार मन वनवारी लौं लग्यो वहकन।'
—पदावली–छन्द ११६

२. 'विन घनानन्द सुजान अङ्ग पीरे परि,
फूलत वसन्त हमें होत पतझर है।'—सुजानहित प्रवन्ध–५८

३. 'किसुक पुंज से फूलि रहे सु लगी उर दौ जु वियोग तिहारे।
मानो फिरें न घिरें अवलानि पै, जान मनोज यौं डारत मारे॥'
—वही–छंद २८१

४. 'रङ्ग सरसावै वरसावै घनआनन्द,
उमंग ओये अङ्गनि अनङ्ग दरसावहीं।
दियरा जगाय जागें पिय पाय तिय रागें।
हियरा जगाय हम जोगहि जगावहीं॥

५. प्रकीर्ण; छन्द १८

६. 'ऐसे रस वस क्यों न सोव और स्वाद कहौ।
रोम-रोम जाग्योई करत मीनकेत है॥—सुजानहित–छंद १८५

नायिका-भेद-वर्णन—नायिका-भेद का कवि ने सविस्तार वर्णन नहीं किया है। कृष्ण के प्रति 'परकीया' भाव से ही कवि ने उपासना की है। इसलिए 'परकीया' नायिका के वर्णन में कवि ने अधिक बल दिया है। परकीया के भी केवल दो-तीन ही भेदों का वर्णन किया गया है। इसमें 'खंडिता' नायिका के वर्णन अधिक मिलते हैं। नायक अपनी रात परस्त्री के साथ बिता कर जब भोर के समय लौटता है तब नायिका व्यंग किये बिना नहीं रहती।[1] उनकी मानवती नायिका अपने प्रिय के चरणों की धूल पर सन्तोष करना चाहती है[2] क्योंकि प्रिय के विरह की आग के बुझाने में वह कुछ तो सहायता करेगी। यह प्रोषित-पतिका स्वकीया नायिका की विरह दशा का चित्रण है।

कवि-आलम—रीति-मुक्त कवियों में आलम का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। कवि की प्रेमोन्मत्त ध्वनि सहृदय पाठक के मन को अनायास ही आकृष्ट कर लेती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि कवि ने रीति-परम्परा से मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द राग अलापा है जो उसके प्रेम की पीर, हृदय की अन्तर्वृत्तियों, लाक्षणिक एवं व्यंगात्मक पदों में मुखरित हो उठा है।

कवि ने अपनी शृंगारिक भावना को 'आलमकेलि' नामक ग्रन्थ में मुक्तक छन्दों के द्वारा और 'माधवानल', 'कामकन्दला' तथा 'श्याम सनेही' में कथा के माध्यम से अपनी भावनाओं को अभिव्यंजित किया है। कवि की रचनाओं में भाव-पक्ष अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक गहराई तक पहुँचा है। कवि आलम एक ऐसा उन्मत्त गायक है जो रीति के बन्धन से अपने को मुक्त कर तत्कालीन साहित्य में एक नये स्रोत का निर्माण करता है और जिसकी धारा में स्वच्छन्दता एवं हृदय की आन्तरिकता अविरल गति से प्रवाहित हुई है।

शृङ्गार-वर्णन—कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की शास्त्रीय पद्धति के अनुसार शृंगार-वर्णन में नखशिख, नायक-नायिका-भेद एवं रस-निरूपण को तो नहीं किया किन्तु उनको आलम्बन अवश्य बनाया है। उसने नायिका के सौंदर्य-चित्रण को तीन रूप में अपनाया है–1 नायक-नायिका का आलम्बन रूप में चित्रण, (२) दूती के माध्यम से नायिका के सौंदर्य का वर्णन, (३) नायक द्वारा नायिका पर रीझने का वर्णन।

---

१. 'वैठियंजू हित पैठत आजु, कहा उपमा कहियै सम तूली।
आए हौ भोर भये घनआनन्द, आंखिन मांझ तो सांझ सी फूली॥'
—रीति-शृंगार–डॉ० नगेन्द्र–घनानन्द; पृ० १३४

२. 'विरह बियाकि मूरि, आंखनि में राखौं पूरि,
धूरि तिनि पायन की हा हा नेकु आनि दे॥'—वही; प्रबन्ध—छंद २५८

शृंगार के आलम्बन रूप में आलम नायिका के मधुर बोल, अंगों का सौंदर्य हावभाव आदि के मनोहारी चित्र सामने लाता है। उसकी नायिका साधारण स्वरूप वाली नारी नहीं अपितु 'अप्सरा' जान पड़ती है।[१] उसकी मनमोहनी छवि को देख-प्रतीत होता है मानो वह नायिका किसी सौंदर्य के मुल्क को ही लूट लायी हो।[२] रूप-सौंदर्य में डूबे हुए कवि ने कहीं-कहीं पर तो सौंदर्य को ही समस्त संतापों का हरने वाला बतलाया है।

दूतियों के द्वारा नायिका के सौंदर्य का भी वर्णन कवि ने कराया है। किन्तु इसमें कवि ने पिछली परम्परा का पालन तथा पिष्टपेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया है। उल्टे स्वतंत्र कवित्व-शक्ति का ह्रास ही हुआ है। कहीं-कहीं पर कुछ अश्लीलता एवं कामुकता की गंध आ गयी है।[३] कहीं नायिका के काजर की रेख उर को जर्जर करती है तो कहीं 'आछी-आछी काछी आँगी उरज अछूत री।'[४] कवि ने शृंगार-वर्णन में कहीं-कहीं पर नायक को ही नायिका पर रीझा हुआ दिखलाया है।[५] इस युगल-मूर्ति की छवि का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि स्याम के कंधों पर हाथ रखते हुए राधिका का चित्र मानो 'रूप के साँचे' में ढालकर बनाया गया है।[६]

इन तीनों के माध्यम से कवि ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के गीत गाये हैं।

संयोग-शृंगार—संयोग-शृंगार का वर्णन कहीं दूती नायक से, तो कहीं एक

---

१. 'आलम कहे हो बड़े बार, हैं सेवार भये
तेरी तरुनाई सुजराइ सी जगति है।
मोतिन को हार हिये हौंस ते पहिरै नहीं,
पाते ही के छरा अपछरा सी लगति है।'—आलमकेलि

२. "ऐसे रूप देश की लुनाई लूटि लई है सु,
नई-नई छवि अंग-अंग उमगति है।"—आलमकेलि

३. "मुदित सरोज सम सुभग उरोज उर,
चातुरी के चौख में मनोज-वेलि वैगई।"—वही—छंद; ६२

४. वही; पृ० २६, छंद ६०; पृ० २७, छंद ६१

५. 'आलम' है इत लाल लटू निरखै इक ही टक बीच न पावै।
यों लपटै पल में पुतरी चितवै पिय को मुख डीठि बचावै॥'
—आलमकेलि; पृ० १४३ (युगलमूर्ति) छंद ३६८

६. 'आलमकेलि' (युगलमूर्ति); पृ० १४१, छंद ३६३

सखी दूसरी सखी से करती है। कहीं पर नायक नायिका के युगल रूप में तो कहीं 'नवयौवना के वर्णन में कवि की उन्मुक्त शृंगार भावना में 'तन-जोवन' की छवि'[1] अपने आप इतनी भर आई है कि कवि को कहना पड़ता है—'ठौरहि ठौर भई कछु और जु अंग अनंग फिरी है दुहाई।'[2]

दूती के माध्यम से कवि ने नायिका के रूप-वर्णन के साथ ही उसका 'नखशिख' वर्णन भी करा दिया है। नायिका के अंग-प्रत्यंग से कामोद्दीपन हो रहा है। ऐसा होना भी स्वाभाविक था क्योंकि वह तो कहीं 'मेनका' की प्रतिरूप-सी दीख पड़ती है,[3] तो कहीं 'रम्भा' के-से रूप सब गुन की निधान है। इतना ही नहीं, यौवन के प्रथमोत्थान में तो—'रम्भाऊ न भावै ऐसे रूप को आरम्भ देखि, सोभित सरीर मधि आभा आभरन की।[4] ऐसे रूप और सौंदर्य वर्णन में कवि की उन्मत्तता कहीं-कहीं पर सीमोल्लंघन भी कर गयी है।[5]

वियोग-वर्णन—वियोग-वर्णन में कवि ने जसोदा का विरह-वर्णन दिखाया है, वहाँ पर कवि की उपमाएं जैसे—बालक का माँ से 'बिछोह' और 'बछरू' का 'गाय' से 'बिछुड़ना'—ऐसा साम्य रूपक बहुत कम मिलता है।[6] जसोदा तो इतनी व्याकुल हो गयी है कि उनकी छाती जल-जलकर भस्म हो रही है[7] इधर गोपियाँ कृष्ण के आने की अवधि गिन-गिनकर थक गयी हैं। वे उनके विरह के बीज को अब आंसुओं से सींच रही हैं। विरह की उस ज्वाला में उनके आभूषण सब भस्म हो रहे हैं, बालम,

---

१. आलमकेलि—नवयौवना; पृ० ३१३, छंद ३२९

२. वही—नवयौवना; पृ० १३१, छंद ३२८

३. रस भरी रूप भरी सुखद सुवास भरी,
सौभा के सुभाइ भरी ऐन मेनका सी है।'
—आलमकेलि (नायक की दूति); पृ० ३७

४. वही; पृ० ३४, छंद ७८; पृ० ३७, छंद ८७

५. "उरज उतंग मानो उमंगों अनंग लावै,
कसि बैठी आंगी उर गाढ़ी जरीबंद की।'—वही—छंद ७१

६. 'आलमकेलि—जसोदा विरह; पृ० ९५
"हम निरमोही मोही बनके पखेरू पसु,
बालक वियोगु कहूं बिपद बिहाति हैं॥"—वही; पृ० ९५, छंद २२६

७. 'जरि-जरि रहै मेरी छाती बरि-बरि उठै,
'आलम' छिनहि छिन छीना बिनु छीजिये।'—वही; पृ० ९५. छंद २२५

विदेश में होने के कारण उनका शरीर विरह में इतना भस्म हो रहा है कि वे कहती है कि अव आग दूसरे के घर से क्यों लेने जाती हो; शाम का दीपक तो हमारी धधकती हुई छाती से ही छुआ कर क्यों नहीं जला लेती।[1]

उद्दीपन एवं षट्ऋतु-वर्णन—विरहाकुल गोपियों को माधव के विना मधुमास सूना है, मलयानिल से आग बरस रही है और चांदनी दहित है। वे पवन को अपना दूत बनाकर भेजती हैं और अपने मन की व्यथा प्रगट करती हैं।[2]

षट्ऋतु वर्णन में भी कवि ने परम्परागत छहों ऋतुओं का तो विस्तृत वर्णन नहीं किया है किन्तु वियोग उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का स्वाभाविक चित्रण वड़े ही सुन्दर ढंग से किया है।

नखशिख-वर्णन—आलम ने नखशिख-वर्णन में शास्त्रीय पद्धति के अनुसार अंग-प्रत्यंगों का अलग-अलग वर्णन तो नहीं किन्तु आलम्बन शृंगार में नयनों में काजर की रेख, मुदित उरोज, जंघा, चांद-सा मुँह, सुभर नितम्ब, कठोर कुच तथा आठों अंगों का सुन्दर वर्णन मिलता है।[3] कहीं-कहीं पर तो कवि की रूप-वर्णन की छटा देखते ही वनती है। नव-यौवना में उन्मत्त नायिका के अंग इस प्रकार पुलकित हो रहे हैं मानो आंगी बांधने पर भी यौवना फूटकर निकल भागना चाहता है। नायिका 'मद के गयंद' की भांति मदमाती चल रही है।[4] एसे रूप-गठन के लिए कवि कहता है न तो ऐसा वर्णन उसने कभी कानों सुना था और न आँखों से देखा ही था। भला ऐसे रूप पर कौन मुग्ध नहीं हो सकता जिसके रोम-रोम से सौंदर्य की झलक आ रही है, जो नख से शिख तक सौंदर्य की खान है।[5]

---

१. छाती सो छुवाय दिया वाती आनि वारि लै।—वही; छंद २२८

२. 'पवन पियारे ऐसे कहियो सुनाय अव,
हम अवला हैं कैसे धरैं जीय धीर जू।
पल-पल प्रान ते तपत पिय पास कों सु,
पालो प्रेम सहि न सकति पल पीर जू॥'—आलमकेलि–(पवन-वर्णन)
—पृ० १०२, छंद २४१

३. 'आठों अंग निपट सुठानि ठानि ठानि ठई,
गाँठि से कठोर कुच जोवन की ठेंटी है।'—आलमकेलि; पृ० ३१–छंद ७२

४. आलमकेलि—नायक की दूती; पृ० ३०-३१–छंद ७१

५. 'कहै कवि 'आलम' न ऐसी कहूं देखी सुनी,
रीझि-रीझि रही कान्ह देखें मनु मानि है।
सुख ही की रासि रसरासि रूपरासि ऐसी,
रोम-रोम नखशिख पानिप की खानि है।'—वही; पृ० ३३–छंद ७७

नायिका-भेद—कवि आलम ने नायक-नायिकाओं का वर्णन भी परम्परागत शास्त्रीय रीति से तो नहीं किया है किन्तु नायिका के नवोढ़ा, प्रौढ़ा, मानिनी, अभिसारिका, दूती, खण्डिता, प्रवत्स्यत्पतिका, नवयौवना, आगतपतिका आदि का सुन्दर चित्रण किया है। नवोढ़ा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वह सेज बिछाये अपने प्रिय की प्रतीक्षा में बैठी है और कम-से-कम एक बार वह उससे साक्षात्कार अवश्य करना चाहती है।[1] अपने प्रिय के आने की बात सुनकर कहीं नायिका के नेत्रों में सावन उमड़ पड़ता है। उसके मनमोहन भी उसकी मनमोहिनी छवि पर क्यों न रीझ जाते जबकि विधि ने ही उसे रत्नों से जड़ा हुआ बनाया है।[2] कवि की प्रौढ़ा नायिका भी रूप के साँचे में ही ढाली गई है, जिसे उसने 'सोभा की सहेली सु अकेली करतार की' कहा है। उसके सोने जैसे चमकते हुए स्वरूप की आभा में शरीर से चिपके हुए वस्त्रों से सारे अंग झलक रहे हैं। नेत्र मैन के समान छलकते हुए इस प्रकार दीख पड़ते हैं मानो 'मोहिनी सुनत बैन मन मोहनै ठगै'[3] की स्थिति आ जाती है। उसकी छवि को देखकर चंद्रमा की चाँदनी भी फीकी पड़ गयी है।[4] उसके ललित कपोल, चंचल दृग, मीठी बोली स्याम को अनायास ही रिझा लेती है और वे अपने सभी कार्यों को भूल बैठते हैं।[5] सावन का महीना, सन्ध्या का समय, पुरवैया बयार, तिस पर भी जूही की सुगन्ध भला अभिसारिका को कैसे रोक सकती थी ? वह भीनी चूनरि पहिर कर हरी-हरी भूमि पर चल पड़ती है।[6] उसके घूंघट के भीतर से ज्योति घटती नहीं है बल्कि उसकी ज्योति में उसके मुख की झलक स्पष्ट दिखायी पड़ती है।[7] नायिका इतनी कामान्ध है कि—'काम के त्रासनि स्याम निसावर

---

१. आलमकेलि—नवोढ़ा वर्णन—६।१३

२. और है सिंगार भार तुम्हीं आपनो सिंगार,
विधि है सुनार तू जराउ जैसी कीनी है।'—वही; पृ० ८—छंद १६

३. वही; प्रौढ़ा वर्णन; पृ० ६—छंद १६

४. ''''''''''चपि गई चन्द्रिकाऊ छपि गई छवि देखि,
भोर को सो चांद भयो फीको चांदनो लगै।'—वही; पृ० १०—छंद २१

५. वही; प्रौढ़ा वर्णन—पृ० छंद २२

६. 'आली चलि चूनरि पहिरि हरियाली भूमि,
तेरे चमकत चपलाऊ चपि जाइ है।—आलमकेलि-अभिसार; पृ० ११—छंद २३

७. वही; अभिसार—पृ० ११—छंद २२

संगी सहाइ भये अभिसारहि।'[१] मानिनी[२] नायिका की चर्चा कवि ने पर्याप्त विस्तार से की है। उसने बताया है कि समुद्र का पार है, पृथ्वी का भी छोर है किन्तु 'प्रेम को न पार वार कौन विधि कीजिए।'[३] कवि ने तिय के स्वभाव की एक स्थान पर बड़ी सुन्दर व्यंजना की है। एक समय आता है जब नायक और नायिका दोनों के ही मान भंग हो जाते हैं और दोनों एक-दूसरे से बोलने को आतुर हो जाते हैं।[४] नायिका के नेत्रों का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि चौदह रत्न ढूँढ़ने के लिए देवताओं ने व्यर्थ ही इतना परिश्रम किया, क्योंकि चौदहों रत्न तो एक तिय के नैनों में ही जड़े हुए हैं।[५] इसीलिए मानिनी का मान कभी 'छीन' नहीं पड़ा। प्रेम बराबर कहता रहा—'छीन भई रजनी रसिक रितुराज की, न छीन भयो मानु, जाते लालच न डोली री,.......अलि माला बोली, पै तू बोलहू न बोली री।'[६] इस प्रकार अनेक स्थलों पर कवि ने मानिनी के मान की विशेषताओं की चर्चा की है।[७] कहीं उसके हठ के कारण वियोगी कहीं जोगी बनता है तो कहीं दोनों एक-दूसरे के समाचार सुनकर विकल ही नहीं होते अपितु 'हरि विललात' हैं और 'मान कला नवला सुनि कै सहुला सनि लाल मनावन आये।'[८]

एक नवयौवन का वर्णन कवि ने हृदय खोल कर किया है। नवयौवना यौवन के मद में मती सिर ऊँचा किये हुए चल रही है, नैनों में कोर निकले हुए, भौंहें चढ़ी

---

१. वही; अभिसार—पृ० १४४—छंद ३७१
२. आलमकेलि—मानिनी; पृ० ११ से २१—छंद २४, ३०, ३४, ३६, ३८, ४१ ४४, ४५, ४७, ४६ आदि
३. वही; छंद २५
४. 'कहूँ कवि आलम झुके हूं रीझि खीझि जब,
मानु छांड़ि बोलि तब बोलिबे को दौऽ है।
नाहि किये बलि नाहि नै मनाई जाति,
जेती नाहि तेती रुचि तिय को सुभाउ है।'—वही; मानिनी —पृ० १४।३०
५. '............काहे को समुद्र मथि देवतान श्रमा कीनो.
चौदह रतन तिय नैननि में पाये हैं।'—वही; पृ० १५।३४
६. वही; पृ० १७।३८
७. मान मनो सजनी सिख मानि बनी सिख दैन को मान हरी मुकि।'
—वही; मान-वर्णन—पृ० १३१—छंद ३२८
८. वही; पृ० १३२—मान वर्णन—छंद ३३२

हुई हैं। उसके अङ्ग-अङ्ग में अनंग उमड़ रहा है।[1] आगतपतिका के सौंदर्य कही यह विशेषता थी कि उसकी रत्नमंडित 'छबि कोटिहि मैन को अंसु लियो' है। इसी लिए जब स्याम की आँखें उससे मिलती हैं तो 'प्रिय को चितु तीय तिया चितु पी सों' हो जाता है।[2] इसी प्रकार उसकी कटीली भौहें, झलती हुई अलकें और उतंग उरोज से अनंग का जोर इतना प्रबल हो गया है कि वह अब उसे संभालने में असमर्थ हो गयी है।[3]

बोधा कवि—रीति-मुक्त परम्परा के भावुक एवं रसिक कवि बोधा का पहला नाम बुद्धसेन था। पन्ना नरेश इनके गुणों से बहुत प्रसन्न थे। प्यार के कारण उन्होंने ही इनका नाम बुद्धसेन से बोधा रख दिया था।[4] बाद में 'सुभान' नामक वेश्या से प्रेम करने के कारण राजा ने इन्हें राज्य से छः माह के लिये बाहर निकाल दिया। उसी के विरह में कवि ने 'विरह-वारीश' नामक ग्रन्थ की रचना की। 'इश्कनामा' तथा 'बागविलास' इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। अपने 'इश्कनामा' में इन्होंने 'सुभान' नामक वेश्या की भी बड़ी प्रशंसा की है।

अपनी रसिकता के कारण ही इन्होंने रीतिग्रन्थ न लिखकर प्रेम की ही उन्मुक्त धारा प्रवाहित की। पं० रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में 'बोधा प्रेमी कवि थे, प्रेम के उपासक थे, प्रेम के मर्मज्ञ थे। इनकी 'कविता—तरंगिणी' में प्रेम की ही लहर लहराती हैं।'

शृंगार-वर्णन—कवि ने अपना वर्ण्य-विषय शृंगार को चुना। 'विरह वारीश' में प्रेम की जो व्यंजना आपने की है उसके विषय में पंडित परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि 'वे माधवानल के निकट 'प्रेम की पीर' के नाते आलम से भी कहीं आगे हैं। उनके अनुसार वास्तविक प्रेम वहीं समझा जा सकता है जहाँ लौकिक प्रेम के ही

---

१. आलमकेलि—नवयौवना; पृ० १३१—छन्द ३२८

२. आलमकेलि—आगतपतिका; पृ० १४६, ३७६

३. 'आलम' कहै हो कहू कान्ह ज किते ह्वै आइ,
सोचति तब न अब रीझ न सँभारि है
जोवन की माती ग्वारि अंचर सुधारि देह,
दैव की संवारी काहू मानसहि मारि है।'—आलमकेलि'—आगतपतिका;
पृ० १५१, ३९५

४. कविता-कौमुदी—प्रथम भाग—पं० रामनरेश त्रिपाठी; पृ० ४४४

अन्तर्गत आध्यात्मिक प्रेम का भी अस्तित्व बना रहता है। वह प्रेम यथार्थ में स्वयं 'व्रजराज' व भगवान स्वरूप है जिसे बोधा अपना महबूब ठहराते हैं।

'होय मजाजी में जहाँ, इश्क हकीकी खूब
सो साँचो व्रजराज है, जो मेरा महबूब।"[१]

कवि ने माधवानल और कामकंदला को प्रेम की आदर्श मूर्ति माना है। इन्हीं दोनों के प्रेम-मिलन के संयोग और बिछुड़न के विरह का वर्णन कवि बोधा ने अपने शृङ्गार में किया है। 'विरह-वारीश' के नव खण्ड के नवरसों में 'शृंगार' का भी वर्णन है। वहाँ शृङ्गार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग के वर्णन की मार्मिकता पद-पद पर छलकती हुई दीख पड़ती है।

संयोग-शृंगार—कवि ने अपने संयोग-शृंगार वर्णन में प्रेमिका के रूप पर जहाँ को कुरवान कर दिया है तथा उसकी 'मुसुकान' पर 'सतक्रतु की पदवी तक को लुटा दिया है—

'एक सुभान के आनन पै कुरवान जहाँ लगि रूप जहाँ को
कैयो सतक्रत की पदवी लुटियै लखि कै मुसुकाहट ताको॥'

इसीलिए कवि कहता है कि 'सुभान' के 'आनन' को छोड़कर' न आनन मो मन आनि अरुझै।'[२] इसी प्रकार स्नेह के वशीभूत होकर उनकी नायिका कहती है—

बड़ी आँखें तिहारी लगें ये लला,
लगी जैहैं कहूं तो कहा करबी॥'[३]

कवि उसी आशिक को सच्चा प्रेमी मानता है जो प्रेम को निभाता है।[४]

वियोग वर्णन—कवि बोधा ने विरह को चार वर्गों में विभाजित किया है—

'आँख कान बुधि ज्ञान की, प्रीति चार विधि जान।
चार भाँति जिनके यथा, विरही कहे बखान।
प्रथम पतंग पुनि, माधवनल की प्रीति।
चौथे यारी ज्ञानमय, भृंग कीट की रीति॥'[५]

---

१. विरह-वारीश—(नवलकिशोर प्रेस लखनऊ); पृ० ४
२. रीति-शृंगार-सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र (बोधा); पृ० १६४
३. इश्कनामा—बोधाकृत, प्रथमवार; पृ० १४, पृ० सं० ५८
४. 'प्रीति करै पुनि और निबाहै, सो आशिक सब जगत सराहै'—'विरह-वारीश' (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ); पृ० ५
५. 'विरह-वारीश' (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ); पृ० ४-५

प्रसव की पीड़ा के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है दुःखी व्यक्ति की दशा का अनुमान एक दुखी व्यक्ति ही कर सकता है—

'ब्याइर के उर की परपीर कों,
बाँझ समाज में जानत को है।'[1]

प्रेमी की पीर के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि—

'बोधा सुने है सुभान हितू, करि कोटि उपाइ थके उपचारी।
पीर हमारी दिलन्दर की, हम जानत हैं वह जाननहारी॥'[2]

इसी पीर का यह परिणाम रहा कि माधव और कामकंदला इन दोनों आदर्श प्रेमियों के लिए इस 'अखंड निजधाम' का द्वार अपने आप खुल गया जिस तक पहुंचने के लिये मार्ग ढूंढ़ने में ब्रह्मा, विष्णु, शिव और देवादि सदा लगे रहते हैं।[3] उसका एकमात्र कारण यही था कि—

'इत तन त्यागो कंदला, उत कंदला सुजान।'[4] यहीं पर कवि ने दोनों प्रेमियों के प्रेम का चरमोत्कर्ष दिखाया है।

नखशिख, बारहमासा तथा नायिका-भेद में तो कवि का विस्तार में जाना स्वाभाविक ही रहा। कहीं-कहीं पर कथा के अनुसार प्रेमिका के कुछ रूप अवश्य दिखाई पड़ते हैं, जिनमें उसके सौंदर्य, मुसकान तथा प्रेम के ही विशेष वर्णन मिलते हैं। कवि ने सूफियों के इश्कमिजाजी या लौकिक-प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक-प्रेम प्रतिपादन किया है जिसे वह तीनों लोक से ऊपर मानता है जिसका वेद, पुराण से नहीं, बल्कि अपने आप अनुभव होता है। इसके लिये पढ़ना-लिखना भी कवि बेकार समझता है।[5] इसी कारण कवि सच्चे प्रेमियों की परख करके सबसे प्रेम करने के लिये नहीं कहता क्योंकि वह तो प्रेम के इस पंथ को 'महाकराल एवं तलवार की धार मानता है।' कवि मात्र उसी से प्रेम करने के लिये कहता है—

---

१. 'इश्कनामा'–बोधाकृत प्रथमबार; पृ० १६ प० सं० २५
२. 'रीति-शृंगार'–सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र (बोधा) इश्कनामा; पृ० १६५
३. शिव विरंचि हरि निगम नित, शोधत जाकी बाट।
ता अखंड निजधाम के, खुले अनयास कपाट॥' 'विरह-वारीश' (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ); पृ० ११२
४. वही; पृ० ११२
५. 'वेद किताब यह मत बूझै। तीन लोक ऊपर तिहि सूझै।
नाहक कवित्त रचै जो कोई। हरगिज गलत पढ़ै जो कोई॥' विरह-वारीश—(नवलकिशोर प्रेस लखनऊ); पृ० २६

"जो वैसी जोड़ी मिले, प्रीति करी सव कोय।
कामकंदला सी त्रिया, नर माधो सो होय॥"[१]

ठाकुर कवि—स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी 'कविता कौमुदी भाग १ में कवि ठाकुर के सम्वन्ध में लिखा हैं कि ये असनी के रहने वाले ब्रह्म् भट्ट थे। ठाकुर नाम के कई कवि हुए किन्तु सबसे प्रसिद्ध असनी वाले ही हैं। प्रेम का वर्णन इनकी कविता का मुख्य गुण है।[२] पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार प्रेमी कवि ठाकुर का पूरा नाम ठाकुर दास था और वे कायस्थ जाति के थे। ठाकुर कवि विजावर में रहने वाली किसी परम सुन्दरी सुनारिन के सौन्दर्य पर मोहित हो गये थे—अतएव इन्हें दण्डस्वरूप सात दिनों तक नजर वन्द रहना पड़ा।[३] इनकी कविताओं के दो संग्रह–"ठाकुर-ठसक", और "ठाकुर शतक" प्रकाशित हुए हैं।

शृंगार वर्णन—ठाकुर कवि के प्रेम का आदर्श उसके शुद्ध, निःस्वार्थ और एकान्तिक होने में वतलाया है;

"एक ही सों चित चाहिये और लो, वीच दगा को परै नहिं डांको।
मानिक सो मन वेंचिके मोहन, फेर कहा परखाइवो ताको।
ठाकुर काम न या सवको, अव लाखन में परवा नहै जाको।
प्रीति करै में लगै है कहा, करिकै इन और निवाहिवी वाँको॥'[४]

प्रेम की एकनिष्ठता को महत्व देते हुए ही कवि ने किसी गोपी द्वारा उद्धव को कहलाया है कि जो साँवरे (कृष्ण) को छोड़ किसी गोरे (अन्य व्यक्ति) की ओर झुके उसके नेत्र जल जावें—

"ठाकुर यों कहती व्रजवाल, सु ह्याँ वनितान को भाव है भोरो।
ऊधो जो अँखियाँ जरि जायँ जो सांवरो छाँड़ि तकै तन गोरो॥'[५]

एक प्रेमिका व्रजवाला के प्रेम की दृढ़ता भी दर्शनीय है—

"कवि ठाकुर नेह के नेजन की, उर में अनी आन खगी सो खगी।
अव गाँवरे नाँवरे कोई धरो, हम साँवरे रंग रँगी सो रँगी॥'[६]

---

१. 'विरह-वारीश (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ) पृ०; ५
२. 'कविता-कौमुदी' भाग १–सम्पा० रामनरेश त्रिपाठी–पृ०; ४४०, ४१
३. मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियां तथा निवन्ध–पं० परशुराम चतुर्वेदी–पृ०; १५८, ५६
४. ठाकुर ठसक–पृ०; ६–पद्य १८
५. 'ठाकुर-ठसक' –पृ०; ३४–पद्य–१३८
६. वही; पृ० १२–पद्य ४२

कवि ठाकुर ने एक स्थान पर वर्षा की ऋतु में पति के साथ रहने वाली स्त्री को धन्य कहा है—

"कवि ठाकुर वै पिय दूरि बसैं, हम आंसुन सौं तन धोवति हैं
धनि वै धनि पावस की रतियाँ पति की छतियाँ लगि सोवति हैं।"[1]

वियोग वर्णन—कवि ठाकुर संयोग में वियोग होने की बात को बड़े सुन्दर ढंग से कह रहा है—

"काहे अरे मन साहस छाँड़त, काहे उदास ह्वै देह तजैहै।
वे सुख वे दुख आये चले गये, एक सी रीति रही नहीं रैहै।
ठाकुर का को भरोस करैं हम, या जगजालन भूल न ऐहै।
जाने सँयोग में दीन्हों वियोग, वियोग में सो का सँयोग न वैहै॥"[2]

नख-शिख वर्णन—ठाकुर ने वृषभानु सुता राधा के आकर्षण और बड़े नेत्रों का वर्णन इस प्रकार किया है—

"येई हैं वे वृषभानु सुता जिनसों मन मोहन मोह करै है।
कामिनी तौ उनसी नहिं दूसरि, दामिनी की दुति को निदरै है।
ठाकुर कै हम ही यह जानती, कै उनहूं कौं जनाइ परै है।
छोटी नथूनी बड़े मुतियान, बड़ी अंखियान बड़ी सुघरै है।"[3]

कवि ठाकुर के पदों में सर्वत्र उनका व्यक्तित्व झाँकता है और ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें अपनी जो बात कहनी थी उसे उन्होंने निश्छल-हृदय से स्पष्ट रूप में कहा है। लोक-मानस के अति निकट संपर्क में होने के कारण इन्होंने मुहावरों का भी खुलकर प्रयोग किया है।[4]

इस युग में इन रीति-बद्ध एवम् रीति-मुक्त कवियों की शृंगार भावना के अन्तर्गत राधा-कृष्ण तथा गोपी कृष्ण की विविध लीलाओं की भी मनोहर झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। कविवर मतिराम और बिहारी ने अपनी अपनी सतसई का प्रारम्भ राधा को इष्ट मानकर किया है।[5] घनानन्द राधा नाम को बड़ा ही महिमावान

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृ०; ३७९
२. रीति शृंगार-सम्पादक डॉ० नगेन्द्र पृ०; २००
३. वही; पृ० २०३ (अप्रकाशित)
४. रीतिकालीन काव्य में लक्षणा का प्रयोग—डॉ० अरविन्द पाण्डेय—पृ०; ३५५, ३५६
५. 'मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ'—बिहारी
'मो मन तम तोमहि हरौ, राधा को मुखचन्द'—मतिराम

और उनके चरणों की वन्दना करना अपना आदर्श मानते हैं।[1] राधिका के मुख की शोभा करोड़ों चन्द्रमाओं को लज्जित करने वाली है।[2] वह 'एक विलासिनी, विनोदी चुहल-प्रिय, होली खेलने में अत्यन्त उत्साही और जब-तब कृष्ण के साथ केलि-क्रीड़ा का अवसर खोज निकालने वाली, शृंगार की आलम्बन एक सामान्य नायिका के रूप में ही अधिक चित्रित हुई हैं।'[3] यौवन गदरी रूप छबीली, गोपियाँ कृष्ण के साथ होली (फाग) खेलती हैं। उसका मनोहरी चित्रण भी घन आनन्द ने अपनी पदावली (पद २६८, २७७, ६६७) में तथा पद्माकर ने अपने जगद् विनोद में (पद ८०, ३९९) बड़ी सरसता के साथ किया है। ये गोपियाँ कृष्ण की वंशी की मधुर तान सुनकर अपनी सुध-बुध खो बैठती हैं, उनका मन वश में नहीं रहता और नेत्र कृष्ण मुख माधुरी का पान करने को उत्सुक हो उठते हैं।[4] इन कवियों ने राधा कृष्ण के मिलन प्रसगों का चित्रण भी ऐसा शृंगार पूर्ण किया है कि वे शालीनता की सीमा को पार कर गये हैं। बिहारी ने गोपियों के वियोग-वर्णन में उनके नेत्रों से टपकने वाले आँसुओं की कल्पना उस नदी से की है जो ब्रजभूमि को बहा ले जाना चाहती है।[5] कवि ग्वाल कृत 'गोपी-पच्चीसी' और 'कुब्जाष्टक' में गोपियों एवं कुब्जा की उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक बन पड़ी है। गोपियाँ कृष्ण से व्यंग्य में कहती हैं, 'जानो कहा रस की रसाइन गुपाल तुम, कूबरी कसाइनि के पाँइत परे रहौ' तथा 'चेरी को नेह नगारो बज्यौ अब काहे को प्यारो हमारो रह्यो।' और कूबरी भी गोपियों के सम्बन्ध में कहती है—

'मोहि बेर बेर चेरी चेरी कहैं गोपिका वे,
होउं जो पै चेरी, तो बताऊँ बात सारी है।
चेरी हौं तो ठीक, पर कंस महाराज की हौं,
प्यारी ब्रजराज की हौं पूजें सब नारी है।'— कुब्जाष्टक

प्रस्तुत युग का मूल्यांकन—'रीति-शृंगार-युग' हिन्दी साहित्य का एक ऐसा युग है जिसके नामकरण एवं मूल्यांकन के प्रति विद्वानों की अलग-अलग धारणाएँ दिखाई पड़ती हैं। इनकी विचार-भिन्नता को हम स्वाभाविक ही मानते हैं क्योंकि

१. 'रसना को भाग है रसालों राधा नाँवरो'—घनानन्द (सुजानहित और पदावली)
२. घनानन्द-पदावली-पद, ९६७
३. भक्ति-काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप—डॉ० 'नलिन'—पृ०; २५६
४. 'तान लागी लट की रही न सुधि घूंघट की,
घाट की न ओघट की बाट की न घट की।'—पद्माकर—जगद्विनोद-पद ५५८
५. बिहारी रत्नाकर—दोहा; २६३

काव्य-सम्वन्धी धारणाएँ युग चेतना के साथ वदलती रहती हैं और विभिन्न युग की काव्य-धाराएँ भी उस युग विशेष की प्रवृतियों के साथ-साथ बहती चलती हैं। यह भी सत्य है कि समाज में जो प्रवृति कल थी वह आज नहीं है, वह कल रहेगी इसको भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जो वस्तु कल अच्छी, उपयोगी और प्रशंसा की पात्र थी वह आज भी वैसी ही रहे यह आवश्यक नहीं। हमें इस काल के प्रति विद्वानों की विभिन्न धारणाओं में भी ऐसा ही कुछ दीख पड़ता है।

प्रस्तुत काल के मूल्यांकन के सम्वन्ध में हम प्रमुख दो धारणाएँ पाते हैं। कुछ विद्वानों ने इस युग की रचनाओं में दोष ही दोष देखे हैं। उनकी दृष्टि में ये रचनाएं नितान्त हेय, अश्लील, अतिशयोक्ति पूर्ण, चमत्कारिक, एवं सामाजिक प्रगति को कुण्ठित करने वाली हैं किन्तु इसे कुछ विद्वानों ने इनकी चमत्कारिकता से प्रभावित उच्चकोटि के साहित्य या काव्य का युग माना है और इसकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये गये हैं। रीति एवं शृंगार-साहित्य के प्रकांड विद्वान एवं कवि डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का तो यहाँ तक कहना है कि 'अगर किसी युग में काव्य लिखे गये तो वे शृंगार-युग या कला-युग में ही।' तात्पर्य यह है कि जिसने इसमें दोष देखे तो दोष देखे और जिसने गुण देखने का प्रयास किया उसने प्रशंसा ही प्रशंसा लिख डाली। हमारे विचार से ये दोनों ही धारणाएँ अनुचित हैं इन्हें हम तर्क-संगत नहीं मान सकते। डॉ० भागीरथ मिश्र के शब्दों में 'एक में यदि गुण है तो गुण ही गुण नहीं हो सकते और दोष हैं तो केवल दोष ही दोष नहीं हो सकते।' अतः हमारी दृष्टि से एक पक्षीय आलोचना न्याय संगत नहीं कही जा सकती।

अभी तक इस युग के सम्वन्ध में जो दोष लगाये गये हैं उनमें काव्यगत अश्लीलता, सामाजिक प्रगति में रोड़ा, अस्वाभाविक अतिशयोक्तियों, आश्रयदाता की अतिशय प्रशंसा तथा परम्परापालन में रूढ़िवादिता प्रमुख रूप से हैं। अश्लीलता तो सापेक्ष है क्योंकि देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार ही कोई वस्तु अश्लील हुआ करती है। यदि इन काव्यों में अश्लीलता है तो भक्ति काल (विद्यापति, सूर, जायसी आदि) एवं आधुनिक काल में भी अनेक ऐसी कविताएँ ढूंढी जा सकती हैं जो इनसे भी अधिक अश्लील हैं अतएव सामूहिक रीति से रीति-काव्य पर अश्लीलता का दोष लगाना समीचीन नहीं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तो यहाँ तक कहा है कि 'रीतिवद्ध काव्य हिन्दी को शृंगार की उक्तियों का जैसा भारी भण्डार सौंप गया है उसमें कूड़ा-करकट या केवल अशिष्ट या अश्लील वर्णन नहीं है; उसमें शृंगार की प्रभूत परिमाण में अच्छी-अच्छी उक्तियाँ भी संचित हैं, जितनी संस्कृत क्या किसी

भी अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकती। इस बात को तो इस युग की आलोचना करने वाले महानुभावों ने भी स्वीकार किया है।[1]

आश्रयदाताओं की प्रशंसा तथा चाटुकारिता के सम्बन्ध में तो हमारी यही धारणा है कि इस युग के कवियों ने आश्रयदाताओं के केवल गुणगान ही नहीं किये अपितु उन्हें नैतिक पतन से भी बचाया है। महाकवि बिहारी ने राजा जयसिंह को जो दोहे सुनाये उन पर उन्हें जितनी अशर्फियां मिली थीं कहीं उनसे अधिक मूल्य की सेवाएँ उन्होंने राजा को नैतिकता का पाठ पढ़ाकर समाज का हित किया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इसे स्वीकार किया है। 'रीतिबद्ध कवि 'नीतिगलित' नहीं थे और न वैसा धन बटोरना चाहते थे। प्रशंसा या विरुदावली इन्होंने दो चार छन्दों में गायी हैं पूरा काव्य उन्हीं के बखान में रचा हो ऐसी बात नहीं है। वे अर्थ की अपेक्षा राजसभा में बड़प्पन पाने के अभिलाषी थे, वे स्वार्थ सिद्धि के स्थान पर समाजसिद्धि का ही ध्यान रखते थे।'[2]

जहाँ तक सामाजिक प्रगति में रचनाओं की असमर्थता का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि मूल प्रवृति शृंगारिक होते हुए भी भक्ति, नीति और वीरता की भी अनेक ऐसी रचनाएँ हुई जिनके द्वारा समाज का पर्याप्त कल्याण हुआ। इस युग में 'जीवनोपयोगी तथ्यों का अभाव नहीं था।'[3] अब रह गई रूढ़िवादिता की बात तो हमारी समझ से यदि इन कवियों ने यह मार्ग न अपनाया होता तो शायद उस युग के सभी काव्य प्रशंसा के ही होते, इतनी ऊँची काव्य-शास्त्र की रचनाएँ आज देखने को न मिलतीं।

यद्यपि इस काल की कविता के सम्बन्ध में 'द्विवेदी-युग' के आलोचक नीति-भ्रष्ट, आधुनिक-छायावादी आलोचक अति-ऐन्द्रिय तथा प्रगतिवादी इसे सामन्तवाद का परिणाम मानते हैं किन्तु हमारी दृष्टि से इस काल के सम्पूर्ण गुण और दोष दोनों ही उस युग की परिस्थितियों के ही परिणाम रहे हैं। इस युग के वास्तविक मूल्यांकन के लिये दोनों को ही सामने रखना अधिक समीचीन होगा। दूसरे शुद्ध साहित्यिक (रस) की दृष्टि से भी किया गया डॉ० नगेन्द्र का यह निर्णय भी उचित ही जान पड़ता है— 'मैंने शुद्ध साहित्यिक (रस) दृष्टि से ही इस कविता की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से आप देखेंगे कि यह काव्य न 'हेय है और न उपेक्षणीय। इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्व है।

---

१. 'आलोचना'—रीतिकालीन काव्य—एक दृष्टिकोण—डॉ० भगीरथ मिश्र; पृ० ३६
२. 'बिहारी'—भूमिका—रीतिकाल का स्वरूप—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ५७
३. 'आलोचना'—रीतिकालीन काव्य—एक दृष्टिकोण—डॉ० भगीरथ मिश्र; पृ० ३७

डॉ० रामरतन भटनागर ने अपने एक विचारोत्तेजक लेख (रीति-काव्य का पुनर्मूल्यांकन) में बतलाया है कि रीति काव्य व्यापक और अधिक सुनिष्ठ जीवन-सन्दर्भों का काव्य है। वह उस युग के चेतन मन का प्रसार है। उसमें श्रृङ्गार की रसिकता ही नहीं है, रसिकता का भी श्रृंगार है।[1]

आधुनिक-युग के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि श्री 'दिनकर' ने भी 'रीतिकाल का नया मूल्यांकन' निबन्ध में इस विषय पर विस्तार से चर्चा करते हुए लिखा है कि 'रीतिकाल की निन्दा चाहे जितनी भी की जाय, हिन्दी कविता के इतिहास में उसका एक महत्त्व है। रीतिकाल चाहे जितने भी निर्जीव सौन्दर्य का काल रहा हो, किन्तु वह हिन्दी के आधुनिक-काल की पार्श्वभूमि में पड़ता है और उसमें नवीनता के बीज जहाँ-तहाँ अवश्य मिलते हैं।[2]

अन्त में शुद्ध साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से जब हम इस युग की रचनाओं का मूल्यांकन करते हैं तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'रीति-श्रृंगार-युग' हिन्दी साहित्य का वह युग है जिसमें ऐहिक श्रृंगार के धरातल पर रचनाओं का चमत्कारिक राजप्रसाद खड़ा किया गया है जिसके प्रमुख कक्ष में दरबार लगा है, जिसमें कवि चारण रूप में अपने आश्रयदाता की विरुदावली सुना रहा है तो कभी अपने आचार्य रूप में काव्यों का चमत्कार सुना कर वाह-वाही लूट रहा है। किसी कक्ष में नायक-नायिका अपनी रति-क्रीड़ा में लीन हैं तो किसी में कवि अपने आश्रयदाता को भक्ति, और नीति के पाठ पढ़ा रहा है। नायिकाओं के पूर्वानुराग, मान, अभिसार, विरह वेदना, प्रेम क्रीड़ा, विलासिता एवं रसिकता के स्वर इतने जोर से झंकृत हो रहे हैं कि अन्य ध्वनियाँ यहाँ बहुत कम सुनाई पड़ती हैं। यह तो सुनने वाले की रुचि पर निर्भर है कि वह किस कक्ष में बैठे। इस प्रासाद में किसी बात का अभाव नहीं यद्यपि सबसे ऊँचा स्वर 'काम' (श्रृंगार) का यहाँ सुनाई पड़ रहा है।

अन्त में हम एक बात और कहना चाहते हैं कि इस रीति-श्रृंगार युग में आधुनिकयुग के सदृश मनोरंजन के अनेकानेक साधन न थे। उपन्यास, गल्प आदि भी उस युग में नहीं लिखे गये। किसी भी युग की प्रकृति, जनरुचि तथा नैतिक एवं सामाजिक अवस्था का कवि और समाज और साहित्यकार पर प्रभाव पड़ता ही है। अतएव उस तड़क भड़क और विकास विलास के युग में आश्रयदाता राजा-महाराजाओं का मनोरंजन इन्हीं श्रृंगार-विषयक रचनाओं से होता था। इस युग में कवि-कर्म जीविका

१. साहित्य-सन्देश—(अप्रैल १९६७); पृ० ३७९

२ 'काव्य की भूमिका' रीतिकाल का नया मूल्यांकन—श्री 'दिनकर'; पृ० ५ तथा २३

का साधन होने के कारण व्यवसाय बन गया था और काव्य प्रतिभा काव्य सम्बन्धी चमत्कार, नखशिख और नायिका भेद वर्णन में ही सीमित हो गई थी। शृंगार रस की ऐसी सुन्दर रचनाओं को पढ़कर कह सकते हैं कि वह युग प्रतिभा सम्पन्न कवियों का युग था। चितामणि, भूषण, मतिराम, बिहारी, देव, घनानन्द, दास, पद्माकर आदि इतने अधिक प्रतिभा-सम्पन्न कवि इस युग में एक साथ मिलते है जितने अन्य समय में कठिनाई से मिल सकते हैं।[1]

निष्कर्ष :—

'रीति-शृंगार-युग' के प्रमुख रीति-बद्ध एवं रीति-मुक्त कवियों की शृंगार-भावना तथा नारी-चित्रण के अध्ययन के पश्चात् हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तर-संस्कृत साहित्य कामशास्त्र, जैन 'कवि पुष्पदन्त' सन्देश रासक, कृपाराम (हित तरंगिणी) विद्यापति एवं अष्टछाप के कवियों के काव्यागों की छटा, पार्थिक एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य तथा विलासी रसिकता में डूबा प्रेम इस युग में हमारे सामने जितने उभर कर आते हैं उतनी ही आध्यात्मिकता, एवं आत्मा की पुकार दबी हुई जान पड़ती है यद्यपि इस युग में रामचन्द्रिका, विज्ञान-गीता एवं अन्य भक्ति भाव सम्बन्धी रचनाएँ लिखी गईं। भक्ति-काल की भाँति राधाकृष्ण, सीताराम को आलम्बन इस युग में भी बनाया गया किन्तु अंतर यही था कि भक्ति-युग में कविताएं कवियों के आराध्य राधा कृष्ण और सीता राम के लिए लिखीं गईं जबकि इस युग में उन्हीं 'राधा कृष्ण', 'सीता राम' को लेकर कविताएं राजा-रानी के लिये, नायक-नायिका के लिए तथा प्रेमी-प्रेमिका के लिए लिखी गयीं। परिणाम स्वरूप भक्ति-काल का शृंगार जो कभी औषधि के रूप में था इस युग में एक घातक व्यसन अथवा विलासिता की सामग्री बनकर रह गया, इस युग में भगवान का स्वरूप बदला, भक्ति बदली, और उपासना के ढंग भी बदले। जहाँ भक्ति-काल में ईश्वर, प्रेम तथा भक्ति प्रमुख थी और कवित्व गौण था, वहाँ इस काल में ऐहिक प्रेम और कवित्व प्रधान हो गया और भक्ति गौण बन गई। इसके लिए हम किसी विशेष रचना अथवा कवि या युग को दोषी नहीं ठहरा सकते क्योंकि वास्तव में यह तो समय की ही विशेषता होती है जो काल विशेष के साहित्य पर अपनी छाप छोड़े बिना नहीं रह सकता। समय में वह शक्ति होती है जो अनजान में कवि के अन्तर में बैठ कर अपनी बात उससे कहला लेता है। यही कारण था कि इस घोर सामन्ती-युग में पनपे हुए जीवन-दर्शन में व्यापकता न होकर विलासिता, रसिकता एवं कामुकता का ही आधिपत्य छाया

१. हिन्दी-रीति-साहित्य—डॉ० भगीरथ मि; पृ० १४

हुआ था। यह अन्य किसी का नहीं, समय का ही परिणाम था जिसमें एक ओर तो कवियों को अपने आश्रय दाता का गुणगान करना पड़ता था दूसरी ओर अपना स्थान सुरक्षित बनाये रखने के लिए उन्हें दरबारों में कुछ काव्यगत चमत्कार भी दिखाने पड़ते थे। इनमें कुछ कवियों ने अपने को परम्परा से मुक्त रखने का भी प्रयास किया वे कुछ अंशों में नख-शिख वर्णन, नायिका भेद की शास्त्रीय परिपाटी में नये मोड़ भी लाये किन्तु इन्हें भी शृंगार को अपनी रचनाओं का आलम्बन बनाना ही पड़ा क्योंकि अपने आश्रयदाता के दरबार से बढ़कर अन्य उपयुक्त स्थान उन्हें मिल ही कहाँ सकता था ?

इस युग के कवियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-रीति-बद्ध, रीति-सिद्ध तथा रीति-मुक्त कवि। इनमें प्रथम श्रेणी के कवियों में कवित्व एवं आचार्यत्व दोनों की ही प्रधानता रही, क्यों कि उनकी रचनाओं का मूल उद्देश्य काव्य-रचना के साथ-साथ पाण्डित्य प्रदर्शन भी रहा। यही कारण था कि उनकी रच-नाओं में काव्य का बाह्य रूप अथवा कला पक्ष ही विशेष रूप से निखरकर सामने आया। कला पक्ष जितना ही स्पष्ट रूप से सामने आता है, भाव-पक्ष उतना ही दबा हुआ जान पड़ता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे कला की ओर अधिक सतर्क रहे। इसी कारण इनकी रचनाएं भी जन साधारण के स्तर से ऊँची हो गई। उनका प्रेम एवं शृंगार परम्परा में बद्ध रहा। वे तो वाणी का सार शृंगार को और शृंगार का सार किशोर-किशोरी को मानते थे। उन्होंने प्रेम तथा शृंगार के वर्णन में रीति, वक्रोक्ति, अलंकार, रस, नख-शिख तथा नायिका-भेद आदि का भी निरूपण खुलकर किया है।

रीति-सिद्ध कवियों ने परम्परा का पालन करते हुए भी अपनी मौलिकता की ऐसी छाप छोड़ी है जो उस युग के साहित्य में अमिट रहेगी—

'तन्त्री-नाद कवित्तरस सरस राग रति रंग।

अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग ॥'—कविवर बिहारी की ऐसी उक्तियाँ ही उनकी रीति-सिद्धता को प्रमाणित करती हैं। दरबारी कवि होते हुए भी अपनी काव्य-प्रतिभा में वे अद्वितीय रहे।

रीति-मुक्त कवियों ने रीति परम्परा से अपने को अलग रख कर एक स्वच्छंद धारा बहायी है। उनके प्रेम में स्वच्छन्दता है, विरह में कसक है, अन्तर में पीड़ा है, और कविता के भाव में गहराई है। आलम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि प्रेम की विविध आभ्यांतरिक दशाओं के सफल अभिव्यंजक तथा भाव-मर्मज्ञ ऐसे कवि हैं जिन्होंने सौन्दर्य को पारिवारिक जीवन की मर्यादा के बीच प्रतिष्ठित करने का सरा-हनीय प्रयास किया है।

इनके अतिरिक्त भी आचार्यों ने अनेक भेदोपभेद किये हैं किन्तु गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर हम इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि ये सब उपर्युक्त तीन वर्गों में ही समाहित हैं। इस युग के सभी कवियों ने शृंगार को ही अपना आलम्बन बनाकर इसी के अन्तर्गत रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, अलंकार, पिंगल, नखशिख तथा नायक-नायिका भेद के राग अलापे है। अन्तर मात्र इतना ही है कि रीति बद्ध कवियों की रचनाओं में उपयुक्त काव्यांगों की शास्त्रीयता, परम्परागत शृंगार, नखशिख, बारह-मासा, षट्ऋतु एवं नायिका भेदों आदि काव्य के बाह्य रूपों का स्वर ऊँचा हुआ है तो रीति-सिद्ध कवियों में बाह्यान्तर दोनों का तथा रीति-मुक्त में दोनों दोनों की अपेक्षा, भाव पक्ष अधिक गहराई तक पहुंचा है। नारी-चित्रण में नारी के बाह्य शारीरिक सौन्दर्य पर ही इन सभी कवियों ने दृष्टि डाली है इसलिए उनके शृंगार के संयोग और विप्रलंभ दोनों रूप का कायिक वर्णन ही सामने आता है। इस युग के लगभग सभी कवियों ने शृंगार को ही रसराजकता प्रदान की। इसी के अन्तर्गत उन्होंने नारी के रूप चित्रण की प्रवृत्ति को पल्लवित कर रूप के तीनों रूप-कायस्थ रूप (नखशिख), क्रियाजन्य रूप तथा सज्जागत रूप तथा उनके भेदोपभेद करके 'नायिका-भेद' का बड़ी सफलता के साथ निरूपण किया है।

हम 'नख-शिख वर्णन' तथा 'नायिका-भेद' को 'काम शास्त्र' सम्बन्धी ग्रन्थों की भोग प्रधान परम्परा का ही परिणाम मानते हैं, वैसे इसके पूर्व भी संस्कृत ग्रन्थों में शृंगार और भक्ति की समानान्तर परम्परा प्रचलित थी और स्तोत्र, वन्दना के पदों में शिव-पार्वती तथा राधा-कृष्ण के नखशिख वर्णन तथा शृंगार के वर्णन भी किये जाने लगे थे। भक्ति-काल में उनके शृंगार में दिव्यता एवं अलौकिकता आई किन्तु रीतिकाल में आते-आते प्रेम की सम्पूर्ण अलौकिकता लुप्त प्राय: सी होकर प्रेम-धारा में बदल गई। यह कुछ तो सूफी कवियों के प्रभाव से और कुछ मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से हुआ। किन्तु इस पर सबसे अधिक प्रभाव वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का पड़ा। परिणामस्वरूप भक्ति-काल के अन्तिम चरणों में ही शृंगार की दिव्य एवं अलौकिक धारा मन्द पड़ चुकी थी। कालान्तर में रीति-काव्यकारों ने राधा और कृष्ण की दिव्यता और अलौकिकता को अपने नायक-नायिका की विलासमयी क्रीड़ा का आधार बनाया। उन्होंने रासेश्वरी राधा के अंग प्रत्यंगों का जो नग्न कायिक चित्रण किया है उसमें राधा पूर्वयुग की देवी और अलौकिक शक्ति की मूर्ति नहीं जिसके चरणों में लोग सिर नवायें अपितु वह तो किसी प्रेमी की प्रेमिका, नायक की नायिका अथवा सर्व प्रकार से सजी-धजी एक परी है, जिसमें नवनीत की सी कोमलता, हिरणी की सी चंचल आँखें, दूज के चन्द्र सी बांकी भौंहें, दाड़िम के दानों-सी दंतपंक्ति

कमल दल से पतले अधर, कम्बु-सी ग्रीवा, अर्द्धचन्द्र-सा मस्तक, मधुर-मुस्कान भरे कपोल, श्रीफल से पीन पयोधर, सिहनी-सी कटि तथा हंस की सी चाल, उसके काजल, बिन्दी, कुंकुम एवं अंगराज आदि किसी को भी विलासिता एवं पतन के सागर में डुबोने की भरपूर सामग्री थी। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इस युग का नखशिख वर्णन साहित्य में इस परम्परा का चरम बिन्दु है।

नायिका-भेद की परम्परागत भी कोई नवीन नहीं थी। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र की कलुजा, कन्या, आभ्यांतरा, कुलीना, कुछ पुराणों के गोपी कृष्ण आख्यान, तथा संस्कृत ग्रन्थों की वसंत सेना, वासवदता, शकुन्तला एवं तारा आदि के चित्रण को विशेष हमने इसका पृष्ठाधार माना है। नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थों में रुद्रट का 'काव्यालंकार' भोज का 'सरस्वती कंठाभरण', विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' तो विशेष उल्लेखनीय हैं ही साथ भानु मिश्र की 'रसमंजरी' तथा गोस्वामी का 'उज्ज्वल नीलमणि' भी इसके पृष्ठाधार ग्रन्थ ही कहे जायेंगे।

जहाँ पर एक ओर भक्त कवियों ने 'नारी को अघ की खानि' और देवी, सरस्वती और लक्ष्मी का रूप कहा वहीं दूसरी ओर रीतिकालीन कवियों ने उसे श्रृंगार एवं विलासता की अप्सरा एवं उपभोग की सामग्री बताया। इसका एकमात्र कारण यही है कि उस युग में काव्य का आश्रय मंदिर से उठकर महल में आ चुका था। उन्हीं परिस्थितियों में नारी का चिर परिचित पूज्य-भाव 'परकीया', 'खंडिता', तथा अभिसारिकादि' भावों में परिवर्तित हो गया। इस युग के कवि की दृष्टि नारी के वाह्य सौन्दर्य के चकाचौंध में ही पड़ी रह गई। उसे यह अवसर ही नहीं मिल सका कि वह उसके अन्तर में भी पैठ कर देखता कि उसके भीतर क्या छिपा है। यही कारण रहा कि सम्पूर्ण 'रीति-श्रृंगार-युग' में नारी के दो रूप ही निखर कर सामने आते हैं—स्वकीया और परकीया और इसमें भी परकीया की ही प्रमुखता पायी जाती है।

'स्वकीया' के प्रेम-चित्रण में नायक और नायिका अथवा प्रेमी और प्रेमिका दोनों ही के प्रेम सामाजिक मर्यादाओं में नियन्त्रित दीख पड़ते हैं किन्तु पुरुष की नारी के प्रति तथा नारी की पुरुष के प्रति रूपाकर्षण के कारण ही आसक्ति दिखाई पड़ती है जिसके वर्णन में अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति भी प्रकट होती है तथा वाह्य अवस्था की विपन्नता और अन्तः ज्वाला—सखियों का वार्तालाप, पत्राचार द्वारा नारी की कमनीयता, एकनिष्ठ स्नेहोपासना-का स्वरूप ही निखरकर सामने आता है। इस प्रकार देखते हैं कि इस युग की रचनाओं में नारी का रसिक रूप ही सर्वत्र मुखरित हुआ है।

'रीति-श्रृंगार-युग' के इन कवियों की कृतियों में 'परकीया' की ही छटा विशेष

दृष्टिगोचर होती है ऐसा जान पड़ता है कि वह युग ही ऐसा था जिसमें कवि का पुरुष नारी को देखकर अथवा नारी सुन्दर पुरुष को देखते ही रूपाकर्षण के नशे में मिलन की अनेक विधियों की योजनाएं आरम्भ कर देती थी। इसी ताक-झांक, लुका-छिपी अभिसार आदि का चित्रण कवियों ने खुलकर किया है—'लाज लगाम न मान ही, नैना मो बस नाहि, ये मुँह जोर तुरंग ज्यों, ऐंचत हूं चलि जाहि।' नायिका के सौन्दर्य को शृंगारिक साधनों तथा हावभाव के माध्यम से बढ़ाना ही इन कवियों का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

इन दो भेदों के अतिरिक्त कवियों ने जाति के अनुसार, आचार के अनुसार तथा अवस्था आदि के अनुसार भी भेदोपभेद किये हैं जिनमें स्वकीया परकीया तथा सामान्या का तो सभी ने चित्रण किया है। चित्रणी, शंखिनी, हस्तिनी जाति के अनुसार तथा स्वाधीनपतिका, उत्का, वासकसया, अभिसंधिका, खंडिता, प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा और अभिसारिकादि सामान्य रूप में पाये जाते हैं। रीतिबद्ध कवियों ने तो इनका परम्परागत शास्त्रीय रीति से चित्रण किया है परन्तु रीतिमुक्त कवियों ने इनकी विस्तृत चर्चा न करके मात्र कुछ ऐसे भेदों का नव-यौवना, मुग्धा, प्रौढ़ा, स्वकीया, परकीयादि का ही चित्रण किया है।

सम्पूर्ण दृष्टि से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस युग के कवियों की दृष्टि नारी के कई रूपों—गृहिणी, जननी, देवी, भगिनी आदि पर न जाकर रसिकता की परिधि में ही घूमती रही। इनकी रसिकता, शुद्ध ऐन्द्रिय भावना तथा नारी के विशेष अंगों के चमत्कारिक प्रदर्शन की भावना विशेष बलवती रही। इस युग में नारी को वासना की तुष्टि का साधन बनाया गया है। सम्भवतः नारी के सामाजिक एवं नैतिक अस्तित्व की आवश्यकता ही इस युग के साहित्य में न थी। इस काल के कवियों ने प्राचीन साहित्य के अप्रस्तुतों का चयन कर आलम्बन (नायिका) के यौवन और सुकुमारता का ही अधिक चित्रण किया है। स्वकीया की सात्विकता में 'कुल की कानि' से खण्डिता के रूप में अपनी मान-दशा से और 'विदग्धा' नायिका के रूप में अपनी बौद्धिक-शक्ति को अपने चातुर्य से विकसित न कर सकी। इस बेचारी को इस सीमा से बाहर निकलकर जाने का अवसर युग के प्रमुख कवियों ने दिया नहीं। वह तो इस युग की भोग्य बन कर ही अवतरित हुई थी।

सारांश यह है कि इस युग के कवियों ने अपनी रचनाओं में शारीरिक आकर्षण और बाह्य सौन्दर्य को ही प्रधानता दी तथा रूप तत्त्व के माध्यम से रागात्मक भावों की अभिव्यक्ति चमत्कारिणी शैली में करनी अपनी काव्य-कला का प्रमुख ध्येय समझा।



आधुनिक-युग की परिवर्तित नारी-भावना

१. तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवम् सांस्कृतिक परिस्थितियाँ,
२. भारतेन्दु-युग
३. द्विवेदी-युग,
४. छायावाद-रहस्यवाद युग,
५. प्रगतिशील-प्रयोगवाद युग,
६. नयी कविता और नारी,
७. निष्कर्ष.



पुष्प : सप्तम

आधुनिक-युग की परिवर्तित नारी-भावना

युग की परिस्थितियाँ — यह एक स्थूल सत्य है कि किसी भी युग के साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों एवं धारणाओं का उद्गम एक चमत्कारपूर्ण घटना की भाँति सहसा नहीं हुआ करता, अपितु उस युग-विशेष के वातावरण तथा बाह्य परिस्थितियों में इसका बीज गहरा जमा होता है और समय पाकर वह बीज धीरे-धीरे अंकुरित एवं पल्लवित होता है। हिन्दी साहित्य के 'आधुनिक-युग' में भी नवयुग की चेतना का विकास एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इसका बीज इस युग की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थिति, सांस्कृतिक आन्दोलन तथा साहित्यिक पृष्ठ-भूमि में पाया जाता है।

सामाजिक परिस्थिति—भारत के आधुनिक काल में जो सामाजिक चेतना हमें दिखलायी पड़ती है, उसका कारण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ एवं भारत में अंग्रेजी शासन के फलस्वरूप आंग्ल-भारतीय सम्पर्क है। भारत में रेल, तार, डाक आदि साधनों का विकास, मुद्रण-कला का प्रचार और अंग्रेजी शिक्षा का विस्तार भारतीय दृष्टिकोण के परिवर्तन करने में बड़ा सहायक हुआ। मध्यकालीन हिन्दू-धर्म का कट्टरपन धीरे-धीरे दूर होने लगा और सामाजिक रूढ़ियों का तिरस्कार किया जाने लगा। एक ओर कट्टरपंथी लोग थे जो विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा के परम विरोधी थे। वे नारी को गृह की दासी-मात्र तथा कन्या- जन्म को कुटुम्ब का अभिशाप मानते थे। इस विचारधारा के लोग जाति-पांति के प्रबल समर्थक थे। दूसरी ओर थे समाज-सुधारक, जो तत्कालीन सामाजिक दोषों—बाल-विवाह, जाति-भेद, अन्धविश्वास, समुद्र-यात्रा-निषेध, जाति-बहिष्कार आदि को दूर करने के लिए सतत् प्रयत्न कर रहे थे।

आगे चलकर वाद-विवाद और संघर्ष का यह युग समाप्त हुआ और युग के विचारक नवीन व्यापक-दृष्टिकोण से समाज-सुधार की आवश्यकता पर अधिक बल देने लगे। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, श्रीमती एनी बीसेंट, महर्षि कर्वे, श्री जी० के० देवधर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन आदि समाज-सुधारकों ने भारतीय नारी की पतनोन्मुख अवस्था को सुधारने एवं उसे सामाजिक स्वीकृति के साथ-साथ राजनीतिक वातावरण और स्वतन्त्रता प्रदान करने का प्रबल समर्थन किया। समाज-सुधार के विशेष प्रचार तथा स्त्री-शिक्षा-आन्दोलन के परिणामस्वरूप स्त्रियों को

अधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा और उन्हें शिक्षा देना उनके विधवा होने की भविष्यवाणी न समझ, एक पवित्र सामाजिक कार्य माना जाने लगा। समाज की बाल-विधवाओं के प्रति भी व्यापक सहानुभूति दिखलायी पड़ने लगी। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय ने कहा था कि 'स्त्रियों का यह प्रश्न पुरुषों का प्रश्न है क्योंकि दोनों का एक-दूसरे पर असर पड़ता है। उन स्त्रियों से आप निश्चय ही वास्तविक नर पैदा करने की आशा नहीं कर सकते जो गुलामी की जंजीरों से जकड़ी हुई हैं। स्वामी विवेकानन्द का यह दृढ विश्वास था कि जो देश और जाति स्त्री-जाति की प्रतिष्ठा नहीं करती, वह कदापि उन्नतिशील नहीं हो सकती। उनका कथन था कि 'भारत में स्त्री-जीवन के आदर्श का आरम्भ और अन्त मातृत्व में ही होता है। नारी के नारीत्व का पूर्ण विकास होने पर ही स्त्री को एक उच्च तथा आदरणीय स्थान प्राप्त हो सकता है क्योंकि विश्व के समस्त 'दैवी गुण और शक्तियाँ उस गृह, समाज तथा राष्ट्र में विद्यमान रहते हैं, जहाँ नारियों की पूजा होती है।'[1] महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पुरातन रूढ़ियों का परित्याग, निम्न जातियों के प्रति अस्पृश्यता की भावना के निवारण और नारी-जाति के प्रति 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' वाले कथन की जोरदार शब्दों में पुष्टि की। पूज्य गांधीजी ने सती-प्रथा, परदा-प्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि नारी सम्बन्धी समस्याओं के उन्मूलन के लिए सफल प्रयास किया। उन्होंने स्त्री-आन्दोलन के सम्बन्ध में घोषणा की थी कि 'स्त्री पुरुष की सहगामिनी है, वह बुद्धि में पुरुष से तुच्छ नहीं है, उसे पुरुष की भाँति स्वतन्त्रता पाने का अधिकार है। विधवा-विवाह के भी वे प्रबल समर्थक थे।'[2]

बाल-विवाह, परदा-प्रथा के विरोध, शिक्षा के प्रचार, गांधीजी के असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन एवं राजनैतिक अधिकारों के परिणामस्वरूप आज की नारी में आत्म-सम्मान और समता की भावना जाग्रत हुई है। उसका कार्य-क्षेत्र भी अब व्यापक हुआ है तथा उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य जैसे-तैसे विवाह करके यातनापूर्ण जीवन व्यतीत करना मात्र नहीं अपितु जीवन क्षेत्र में पुरुष की भाँति मानसिक विकास का मार्ग खोजना है।

धार्मिक परिस्थिति—भारत में जब अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो रहा था तब हिन्दूधर्म अनेक प्रकार से शिथिल और प्राणहीन हो चुका था और भारतीय

---

१. भारत नारी—विवेकानन्द; पृ० २३, २६, ३२

२. 'यंग-इण्डिया'—मो० क० गांधी—४-२-१९२६, १४-१०-१९२६, १५-९-१९२७ के अंक। 'हरिजन'—मो० क० गांधी; २२-६-१९३५

जनता में अज्ञान के कारण अनेक प्रकार के अंधविश्वास फैले हुए थे। यूरोप के अनेक धर्म-प्रचारकों ने 'विल्वफोर्स एक्ट' के अनुसार सन् १८१३ से ही भारत में ईसाई-धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया था। अँग्रेजी शासन के आरम्भ होने पर ईसाई पादरियों ने अपनी धार्मिक पुस्तक 'बाइबिल' का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया। उन्होंने देश के कई नगरों-आगरा, इलाहाबाद, बनारस, फर्रुखाबाद आदि में अपने निजी प्रेस स्थापित कर पुस्तकों का प्रकाशन, जन साधारण की भाषा द्वारा व्याख्यानों तथा शिक्षा-प्रचार का आयोजन और देश के विभिन्न भागों में अनेक ईसाई संस्थाओं को स्थापित कर धर्म-प्रचार का कार्य विस्तृत पैमाने पर आरम्भ किया।

पाश्चात्य सभ्यता और ईसाई-धर्म के प्रचार एवम् हिन्दू धर्म पर किये गये आक्षेपों के कारण भारतीय जनता में बड़ी उत्तेजना फैली और समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ। सन् १८५८ में 'ब्राह्म-समाज', १८७५ ई० में 'आर्य समाज' और १८७९ ई० के पश्चात् 'थियोसोफीकल सोसाइटी', 'रामकृष्ण-मिशन', 'प्रार्थना समाज' आदि कई धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की गयी। आधुनिक भारत में नवयुग की ज्योति सर्व प्रथम इन्हीं धार्मिक संस्थाओं के रूप में प्रकट हुई। इन सभी संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य प्राचीन भारतीय सभ्यता और आध्यात्मिकता का प्रचार कर देश की शिक्षा, संस्कृति और धर्म की बुराइयों को दूर करना था। इस दिशा में सबसे अधिक कार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य-समाज ने किया। देश के अनेक नगरों में गुरुकुल, आर्य-समाज और गोरक्षणी सभाओं की स्थापना कर बाल-विवाह, परदा-प्रथा, विधवा-विवाह-निषेध एवम् धर्म में फैली अनेक बुराइयों का घोर विरोध किया गया।

आर्य-समाजियों के प्रचारकों एवं विद्वानों ने जब सनातन-धर्म में फैली अनेक बातों, विशेषकर मूर्ति-पूजा, विधवा-विवाह, छुआछूत आदि का खंडन करना आरम्भ किया तब श्रद्धाराम फुल्लौरी, अम्बिकादत्त व्यास आदि ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई। धार्मिक घात-प्रतिघात में खन्डन-मन्डन के लिए हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखी गयीं। महर्षि दयानन्द लिखित 'सत्यार्थ प्रकाश', 'वेदांग-प्रकाश', 'संस्कार-विधि,' आदि; श्रद्धाराम फुल्लौरी लिखित 'सत्यामृत-प्रवाह', 'भागवती', आदि; अम्बिकादत्त व्यास लिखित 'अवतार-मीमांसा', 'मूर्ति-पूजा', 'दयानन्द-पांडित्य-खण्डन' आदि कृतियाँ इसी धार्मिक संघर्ष की उपज हैं।'[1] हिन्दी के साहित्यकार और कवि भी इस खंडन-

---

१. 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग'—डॉ० उदयभानु सिंह—पृ०; ७

मंडन से प्रभावित हुए विना न रह सके और इसी कारण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि ने कई समाज-सुधार, धर्म सुधार से सम्बन्धित रचनाएँ कीं। इन्हीं दिनों भारतेन्दु जी ने वैष्णव-धर्म सम्बन्धी कई लेख लिखे और इस धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न किये।

इसी युग के प्रारम्भिक वर्षों में महात्मा गांधी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, महामना मदन मोहन मालवीय आदि अनेक नेताओं एवम् विद्वानों ने धर्म-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को जनता के सम्मुख स्पष्ट किया जिससे संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य हुआ।

आर्थिक स्थिति—यह तो सर्व विदित सत्य है कि प्रत्येक देश की संस्कृति, समाज और कला का वास्तविक विकास तभी सम्भव होता है जब उस देश की आर्थिक अवस्था अच्छी रहती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब देश की आर्थिक स्थिति शोचनीय रही, तब-तब देश में समृद्ध साहित्य और कला की उन्नति न हो सकी। यह तो सर्व विदित है कि अपने सुख, समृद्धि और वैभव के कारण ही मुगल-शासन-काल में सभी कलाओं और साहित्य की अधिक उन्नति सम्भव हो सकी।

भारत के सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-आन्दोलन के असफल हो जाने के परिणाम स्वरूप इस देश में ब्रिटिश शासन की नींव दृढ़ हुई, विदेशी वस्तुओं का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ने लगा, भारतीय उद्योग-धंधों की स्थिति मशीनों के आ जाने के कारण बिगड़ती गयी और विदेशी पूँजी की सहायता से देश में नवीन उद्योगों को प्रारम्भ किया गया। अँग्रेजी शासन में जो रेल, तार, डाक आदि की व्यवस्था की गयी थी, उसका प्रमुख उद्देश्य यही था कि भारतीय जनता से अधिकाधिक धन प्राप्त कर राजनीतिक और आर्थिक सत्ता को दृढ़ किया जावे। प्रायः सभी उच्च पदों पर विदेशी लोगों को ऊँचा वेतन देकर नियुक्त किया जाता था और भारतीय लोगों को क्लर्क बनाने के लक्ष्य से ही अँग्रेजी शिक्षा का देना आरम्भ किया गया था।

इधर कृषक-वर्ग को कठोर परिश्रम करने पर भी अपनी कृषि-सम्बन्धी पूरी उपज का सुखोपभोग करने की स्वतन्त्रता न थी। अँग्रेजी-शासन ने उन पर अधिक मालगुजारी का बोझ लादकर और जमींदारों को अनुचित प्रोत्साहन प्रदान कर देश की दरिद्रता और बढ़ा दी थी। दरिद्रता, अकाल और टैक्स—इस युग के आरम्भ की प्रमुख आर्थिक समस्याएँ थीं। इसी कारण राजनीतिक चेतना को जन्म देने वाली

राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपनी माँगों में आर्थिक-स्वतन्त्रता की मांग को प्रमुखता दी थी।

देश के विदेशी शासन से स्वतन्त्र होने के २४-२५ वर्षों के पश्चात् भी राष्ट्र की आर्थिक स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हो सका है। विदेशी पूँजी की सहायता से देश में अनेक छोटे-बड़े उद्योग और कारखाने स्थापित किये गये हैं। समाजवाद के लक्ष्य की प्राप्ति और किसान-मजदूरों की दशा सुधारने, आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने के उद्देश्य से अनेक योजनाएँ चल रही हैं।

राजनीतिक परिस्थिति—हमारे देश में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में न तो आपस में लड़ने वाले देशी राज्य ही अधिक संख्या में रहे थे और न मुगल-शासन का वैभव-ऐश्वर्य ही शेष रहा था, समस्त देश धीरे-धीरे अंग्रेजी-शासन के अधिकार में आ चुका था। इस देश से मुसलमानी शासन के समाप्त हो जाने पर अंग्रेजों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा अपना आधिपत्य बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। सन् १७५७ के प्लासी-युद्ध ने अंग्रेजों की नींव भारत में जमा दी थी तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन धीरे-धीरे समस्त भारत में फैल गया था। उन विदेशी शासकों ने जब तक राजनीतिक विजय को ही अपना उद्देश्य समझा और भारतीय धार्मिक विधि-विधानों में हस्तक्षेप नहीं किया तब तक (संवत् १९०० तक) तो देशी-जनता किंकर्तव्यविमूढ़ हो बैठी रही, किन्तु जब उसे यह विश्वास हो गया कि अंग्रेज लोग भारत में एक व्यापारी के रूप में नहीं, प्रत्युत शासक के रूप में प्रतिष्ठित होते जा रहे हैं, वे सांस्कृतिक विजय के लिए भी प्रयत्नशील हैं और अपने ईसाई-मिशनरियों द्वारा धर्म-परिवर्तन का कार्य भी जोरों से करा रहे हैं, तब भारतीय जनता में राजनीतिक चेतना जागृत हुई और जन-शक्ति नागिन की भाँति पुनः फुफकार उठी। भारतीयों ने विदेशी शासन को समाप्त करने के लिए सर्व प्रथम सन् १८५७ ई० में स्मरणीय प्रयत्न किया, यद्यपि सफल नेतृत्व, संगठन शक्ति के अभाव तथा अन्य कारणों से उनका यह प्रयत्न पूर्ण रूपेण सफल न हो सका। किन्तु देशवासियों का ध्यान इस विदेशी शासन की ओर अवश्य आकर्षित हुआ तथा उन्होंने चिर-निद्रा से करवट बदली। इस क्रान्ति के परिणाम स्वरूप 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के स्वेच्छाचारी शासन की सत्ता समाप्त हो गयी और सम्राज्ञी विक्टोरिया की अधीनता में भारत को ब्रिटिश राज्य में सम्मिलित किया गया। अंग्रेजी शासन द्वारा भारतीय संस्कृति तथा धर्म में हस्तक्षेप न करने तथा जाति, वर्णन और लिंग के भेद को भुलाकर सबके साथ समान रूप से न्याय करने की घोषणा की गयी। भारतीय स्वातन्त्र्य के इस प्रथम संग्राम ने देशवासियों के हृदय में एक ऐसी क्रान्ति की अग्नि प्रज्वलित की जिसका सहज ही शान्त होना कठिन था। इसी कारण कुछ वर्षों के पश्चात् सन्

१८८५ में देश में एक राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गयी, जिसने आगे चलकर 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' की घोषणा की। देश के नेतागण, विचारक और साहित्यकार दासता में जकड़ी जनता को अतीत के गौरव तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्मरण कराकर नवीन व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन करने लगे। उधर बंगाल का विभाजन किया गया और अनेक काले कानून, भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन एवं देश भक्ति को कुचलने के उद्देश्य से आरम्भ किये गये। इन राजनीतिक अत्याचारों के कारण देश में अधिक अशान्ति फैली और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में 'अवज्ञा आन्दोलन' देश में आरम्भ किया गया। गांधी जी ने अहिंसात्मक उपायों से स्वतंत्रता-प्राप्ति को लक्ष्य बनाया और इसका मुख्य आधार था असहयोग तथा ग्राम-उद्धार। फिर कांग्रेस ने भारत के लिए 'औपनिवेशिक-स्वराज्य' के स्थान पर 'पूर्ण स्वराज्य' की माँग की। इस प्रकार कांग्रेस के राजनीतिक कार्यों तथा गांधी जी की मानवतावादी-भावना से जनता में राष्ट्रीयता की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। इन्हीं कुछ कारणों तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप १५ अगस्त, १९४७ को देश में विदेशी शासन का अन्त हुआ और जनता ने राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त की। पाश्चात्य प्रगतिशील प्रजातंत्रात्मक आदर्शों, मान्यताओं तथा युग-चेतना के प्रभाव-स्वरूप हमारे राजनीतिज्ञ तथा विचारक अब समाज के नवीन दर्शन की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

सांस्कृतिक आन्दोलन—राजनीतिक क्षेत्र एक विशाल क्षेत्र था और राष्ट्र की समस्याएँ भी जटिल थीं। इन सभी समस्याओं को सुलझाने के लिए सामाजिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन की नितान्त आवश्यकता थी। देश में जहाँ एक ओर विदेशी शासन और अँग्रेजी भाषा के आरम्भ हो जाने से देशवासियों का सम्पर्क अँग्रेजी सभ्यता और वेश-भूषा से अधिकाधिक बढ़ता जा रहा था, वहाँ दूसरी ओर बंगाल में राजाराम-मोहनराय और पश्चिमी प्रान्तों में महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी श्रद्धाराम फिल्लौरी आदि के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप हिन्दू-जाति में नवीन स्फूर्ति तथा चेतना आ रही थी। नारी-सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण के कारण समाज में उदारता का समावेश हुआ। महायोगी अरविंद की सामाजिक विचार धारा से भी भारतीय शिक्षित जनता बड़ी प्रभावित हुई। उनके मानवतावाद में अध्यात्मवाद की उच्च अनुभूति का सम्मिश्रण है और उनका साधानात्मक जीवन और इच्छा-शक्ति की दृढ़ता मानव को पूर्ण मानव बनाने में संलग्न है।

इस 'आधुनिक-युग' के आरम्भ में यद्यपि मध्ययुगीन नीति-मूल्यों तथा जीवन-मर्यादा के मोह को पूर्ण अवकाश नहीं मिल पाया था, तथापि उन्नीसवीं शताब्दी का

उत्तरार्द्ध नव-अंकुरित राजनीतिक और सामाजिक चेतनाओं में जागरण की अंगड़ाई लेने लगा था। यह युग अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक, आर्थिक तथा विचार-क्रांति का युग माना जाता है। इस युग में सामाजिक तथा धार्मिक सुधार, जन-जागृति, स्वतंत्रता एवं क्रांति की लहर जीवन के सभी पक्षों पर छायी दिखलायी पड़ने लगी। भारत की साहित्यिक आत्मा, जो सीमित और रूढ़िवादी सामाजिक जीवन के कारण निष्प्राण हो रही थी, इस नवीन संस्कृति के आगमन और संघर्ष से जाग उठी तथा नवजागरण से उत्पन्न विचार-स्वातन्त्र्य के प्रभाव से साहित्य ने रूढ़ि बन्धनों को तोड़कर एक नये युग में प्रवेश किया है। किसी युग का सच्चा कवि अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना के प्रभाव से कैसे बच सकता है? इसी कारण इस लहर तथा नवीन चेतना का प्रत्यक्ष प्रभाव इस युग की कविता पर भी पड़ा। अतएव आधुनिक काव्य-क्षेत्र में नवीनता और आधुनिकता का प्रादुर्भाव हुआ और जो कवि-समाज अब तक जनता की ओर से बहुत-कुछ आँखें बन्द किये केवल अपने आश्रयदाता के मनोविनोद के लिए उद्दाम भौतिक प्रेम की वाग्धारा बहाता आ रहा था, उसे अपनी आजीविका के लिए धीरे-धीरे जनता के मध्य आने को विवश होना पड़ा।

परिस्थितियों के उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस 'आधुनिक युग' की सबसे प्रधान प्रवृत्ति राष्ट्रीयता, देश-प्रेम तथा स्वतन्त्रता की भावना थी। राष्ट्रीय वीरों का गान, समाज (विशेषकर नारी जाति) की अवनति के प्रति क्षोभ, राष्ट्र-पतन के लिए दुःख प्रकाश तथा प्राचीन आदर्श और संस्कृति के प्रति प्रेम इस काल के प्रारम्भिक उत्थान की प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं। ये नवीन प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ होकर निरन्तर विकसित, परिमार्जित और अन्य नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होती चली आ रही हैं और उन्होंने काव्य में अनेक नवीन विचारधाराओं और 'वादों' को जन्म दिया है।

राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक और नारी-सम्बन्धी इन आन्दोलनों द्वारा भारतीय जीवन में एक नवीन दृष्टि का विकास हुआ है और नारी-स्थिति को लेकर लगता है, जैसे युग का परिवेश ही बदल गया है। आज की नारी सती-प्रथा, बाल-विवाह, बाधित वैधव्य तथा वृद्ध-विवाह आदि कुप्रथाओं का विरोध करने लगी है। वह शिक्षित है, उसका मस्तिष्क प्रवुद्ध है, उसमें सामाजिक चेतना है और जीवन के हर क्षेत्र में उसका सहयोग अपेक्षित है। सम्मान की प्राप्ति है और इस प्रकार वह सामाजिक सुविधाओं का अपनी सामर्थ्यानुसार उपयोग कर सकने की अधिकारिणी है।[1]

१. 'प्रसाद के नारी-चरित्र'—डॉ० देवेश ठाकुर; पृ० ४६७

भारतेन्दु-युग

नारी-चित्रण सम्बन्धी विविध पहलुओं को समझने के उद्देश्य से हम आधुनिक युग की कविता को (१) भारतेन्दु-युग, (२) द्विवेदी-युग, (३) छायावाद-रहस्यवाद युग, (४) प्रगतिशील-प्रयोगवाद युग तथा (५) नयी कविता-युग में विभक्त करना सुविधाजनक समझते हैं। 'भारतेन्दु-युग' वास्तव में कविता का प्रथम उत्थान एवं आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रवेशद्वार है। इस काल का अतीत था रीतिकाल, और भविष्य बना प्रगति-प्रयोगवाद। भारतेन्दुजी इस युग की काव्य-प्रेरणा के केन्द्र थे, अतएव इस युग का काव्य उनके आसपास रहने वाले सहयोगियों द्वारा ही निर्मित हुआ। इन कवियों ने भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में अपनी दृष्टि का प्रसार किया और कभी तो वे भक्ति के नाते भक्त-कवियों की भांति 'ब्रज के लता पता मोहि कीजै' कहकर भक्ति-भावना से ओतप्रोत हो गये, कभी शृंगारी-कवियों की भांति नायिका के शृंगार वर्णन में अलंकारों की योजना करने में व्यस्त हुए और कभी देश-प्रेम की मधुर-भावना से सिक्त होकर देशोन्नति के स्वर्ण-स्वप्नों में निमग्न हो कल्पना के सुख-सागर में अवगाहन करने लगे।'[1]

'शताब्दियों से भक्ति या शृंगार, चुम्बन और आलिंगन, रति और विलास, रोमांच और स्वेद, स्वकीया और परकीया की लड़ियों में जकड़ी हुई हिन्दी कविता को भारतेन्दु ने सर्वप्रथम विलास-भवन और लाल-कुंजों से बाहर लाकर लोक-जीवन के राजपथ पर ला खड़ा कर दिया।'[2] इस युग में स्त्री-शिक्षा-प्रचार, बाल-विवाह-विरोध तथा विधवा-विवाह के पक्ष के सम्बन्ध में कविताएँ लिखी गयीं तथा प्रचलित रूढ़ियों का ध्वंस कर समाज में नवीन मान्यताएँ प्रचलित की जाने लगीं। हिन्दी में सामन्ती-युग का अन्त हुआ और एक नवीन काव्यधारा का आरम्भ। 'भारतेन्दुजी पर निर्गुण-सगुण भक्त कवियों के भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है तथा उनकी शृंगारिक कविताओं में रीतिकालीन काव्य के रङ्गीन उपकरण, नायक-नायिका की शृंगार-चेष्टाएँ, नखशिख-छवि का आकर्षण, प्रकृति का अलंकारिक वर्णन, छन्दों अलंकारों का मार्मिक प्रयोग और 'राधिका कन्हाई सुमरिन के बहाने' प्रेम-लीला की झांकियां भी मिलती हैं। अपने भक्ति और शृंगार संबंधी काव्य में उन्होंने पूर्ववर्ती विभिन्न काव्य-परम्पराओं का प्रतिनिधित्व किया।'[3] इस प्रकार प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य हम उनकी कविता में पाते हैं।

---

१. 'हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण'—डॉ० किरणकुमारी गुप्ता; पृ० २७२

२. 'हिन्दी कविता में युगान्तर'-डॉ० सुधीर; पृ० २६

३. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास—डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त; पृ० १०६

भारतेन्दु-युग-की नारी—नारी-चित्रण की दृष्टि से इस युग की कविता में हम उतना परिवर्तन तो नहीं पाते, जितना छायावादी-युग में; फिर भी रीति और परम्परा में बंधी साहित्य की संकुचित मनोवृत्ति से निकलकर कवियों ने नारी के विभिन्न रूपों का स्मरण किया है। इस युग में कवियों का ध्यान नायक-नायिका की प्रेम संकुचित सीमा से हटकर देश-प्रेम तथा मानव-प्रेम के रूप में प्रस्फुटित हुआ। ये कभी शृंगारी-वर्णन में अलंकारों की योजना करने में व्यस्त हुए तो कभी देश-प्रेम की मधुर भावना से सिक्त होकर देशोन्नति के स्वर्ण-स्वप्नों में निमग्न हो कल्पना के सुख-सागर में अवगाहन करने लगे। उनके हृदय में नारी के प्रति-प्रेम है, प्रेम के विरह की कातरता है किन्तु रीतिकालीन कवियों की तरह अतिशयोक्ति का नाटक नहीं है, वरन सरल शब्दों में मन की कसक सीधे कह देने वाली शब्दावली है। उनकी नारी अपनी प्रेमजन्य विवशता का परिचय यह कहकर देती है कि क्या करें हम विवश हैं। ये दुखियारी अखियां ही नहीं मानती हैं।[1] एक अन्य स्थान पर भारतेन्दु की नारी मानती है कि इन आँखों को परमात्मा ने सुख नाम की वस्तु दी ही नहीं है।[2] मृत्यु के पश्चात् आँखों का खुला रह जाना देखकर भारतेन्दुजी का रससिक्त मन चुप न रह सका। वहाँ से भी उन्होंने एक मार्मिक-चित्र खोज लिया और उसका कारण वतलाया मृत्यु पश्चात् भी 'प्रिय दर्शन की प्यास'। ऐसे चित्रों को देखने के बाद हमें यह मानने को विवश होना पड़ता है कि भारतेन्दु बाबू रीतिकालीन विषय को भी किस प्रकार प्रवीणता से व्यक्त कर सकने की क्षमता रखते थे।

भारतेन्दु की नारी प्रेममयी है, प्रेम के सामने वह लोक-लाज, कुलकानि सभी कुछ भूल जाती है। उनका नारी-प्रेम का आदर्श उनकी 'चन्द्रावली नाटिका'

---

१. (क) 'सखी ये नैना बहुत बुरे,
तबसों भए पराए, हरिसों जबसों जाइ जुरे।'—प्रेम मालिका, चन्द्रा ७०
(ख) लगौहीं चितवनि औरहि होत।—वही, ८२
(ग) 'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना,
अंखिया दुखिया नहीं मानती हैं।''–भारतेन्दु ग्रन्थावली; पृ० १५५।

२. (क) 'इन दुखियन को न सुख सपनेहू मिल्यो,
यों ही सदा व्याकुल बिकल अकुलायेंगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरस तुम्हारे हाय,
देख लीजो आँख ये खुली ही रहि जायंगी।'—वही; पृ० १७५
(ख) 'सखी री ये उरझौहैं नैन।'—प्रेम-फुलवारी ३२ (चन्द्रा)

में मिलता है जिसमें 'चन्द्रावली' का अनुराग दाम्पत्य प्रेम के ढङ्ग का हुआ है। रीतिकालीन उपकरण ग्रहण किये जाने पर भी चन्द्रावली के प्रेम की अलौकिकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। गोपी-रूप में चंद्रावली उनके (कृष्ण के) प्रति परकीया बनकर आकृष्ट होती है किन्तु उसका अनुराग पूर्णतः स्वाभाविक-सा दीख पड़ता है। अपनी मनोदशा को वह अपनी सखियों के समक्ष पहले व्यक्त करना नहीं चाहती है और भीतर-ही-भीतर घुलती जाती है परन्तु सौंदर्य-पूर्ण प्राकृतिक-वातावरण तथा ललना, विशाखा, वर्षा, सन्ध्या, वनदेवी, चम्पकलता, माधवी, काम-मन्जरी, विलासिनी, चन्द्रकान्ता, वल्लभा, श्यामला, भामा, कामिनी, माधुरी आदि अपनी सखियों की रसात्मक बातचीत से उनका गम्भीर प्रेम क्रमशः विरह दशा की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है और वह अपने को खो बैठती है।

संयोग-शृंगार—हिन्दी के रीतिकालीन कवियों की वृत्ति रस-निरूपण में सबसे अधिक शृङ्गार के विशद वर्णन में जितनी रमी, उतनी अन्य रसों में नहीं। भारतेन्दु जी के कवित्त और सवैयों में भी हमें शृंगार-रस की ही प्रधानता दिखलायी पड़ती है। उन्होंने शृंगार के दोनों पक्ष-संयोग तथा वियोग का यथोचित अंकन किया है। उनकी परकीया नायिका निश्शंक होकर विहार भी करती हैं तथा अपने प्रेम को छिपाने और लोक-लाज के भय के कारण वह सावधान भी रहती है।[1]

नायिका-भेद—भारतेंदु बाबू जिस समय हिन्दी-साहित्य में अवतीर्ण हुए, रीतिबद्ध शृंगार-साहित्य का सर्जन प्रचुर परिणाम में हो रहा था। उस युग के अधिकांश कवि रीति-काव्य प्रस्तुत करने के साथ रीतिशास्त्र भी प्रस्तुत करके आचार्य-पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। कवि लोग दोहों में लक्षण प्रस्तुत कर सवैया या कवित्त में उदाहरण देते थे। भारतेन्दु बाबू ने स्वयं कोई रीतिबद्ध ग्रन्थ नहीं लिखा। उन्होंने रीतिमुक्त रचनाएँ ही प्रस्तुत हैं। उनके 'सुन्दरी-तिलक' में सवैयों का सुन्दर संग्रह है।

भारतेन्दु बाबू ने इस संग्रह में नायिका-भेद के क्रम का अनुसरण कर नायिका के अनेक भेदोपभेदों का बढ़ाया। साधारणतया धर्मानुसार नायिकाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—स्वकीया, परकीया और सामान्या। किन्तु भारतेन्दुजी

१- 'ब्रज के सब नांव धरैं मिलि ज्यों-ज्यों बढ़ाइके त्यों दोऊ चाव करैं।'

....

'इत दोऊ निसंक मिलें विहरैं, उत चौगुनो लोग चवाव करैं।'—प्रेम माधुरी, २३

....

'संक न बाट में लाइए जू, कोउ देखि जो लैहै कलंक लगाई है॥'—वही; २६

ने पांच प्रकार की नायिकाएँ मानी हैं–कन्यका, स्वकीया, परकीया, कुलटा तथा सामान्या वनिता। उन्होंने परकीया के अन्तर्गत परिगणित अनूढ़ा को कन्यका नाम देकर अलग ही वर्ग माना है, कारण कन्या का जब तक विवाह नहीं हो जाता, उसका कोई पुरुष नहीं होता, तब तक वह परपुरुष से प्रेम करने वाली परकीया कैसे कही जा सकती है ?

वय-क्रम से स्वकीया नायिका के तीन वर्ग किये जाते हैं—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। फिर मुग्धा के दो भेद हैं—अज्ञात-यौवना एवं ज्ञात-यौवना। ज्ञात-यौवना के फिर दो भेद हैं—नवोढ़ा और विश्रव्य-नवोढ़ा। मध्या में लज्जा और काम समान रूप से होते हैं। प्रौढ़ा में स्वाभाविक लज्जा नहीं होती, इसी कारण उसके दो उपभेद किये गये हैं—रीतिप्रीता और आनन्द-संमोहिता। नायिका-भेद के ग्रन्थों में मध्या और प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा-धीरा, ज्येष्ठा-कनिष्ठा आदि भेद किये गये हैं किन्तु भारतेन्दुजी की रचनाओं में उनके उदाहरण नहीं मिलते हैं। उनकी सभी परकीयाएँ प्रौढ़ा हैं। नायिका भेद के ग्रन्थों में परकीया के छः भेदों का वर्णन किया गया है—मुदिता, विदग्धा, अनुशयना, गुप्ता, लक्षिता और कुलटा। भारतेंदुजी की रचनाओं में प्रथम चार भेदों के उदाहरण नहीं मिलते—हां, लक्षिता के कुछ उदाहरण अवश्य प्राप्त होते हैं। वे अन्य आचार्यों की भाँति कुलटा को परकीया के अन्तर्गत न मान उसकी एक पृथक श्रेणी ही मानते थे। सामान्या-नायिका वह मानी गयी है जो धन की लिप्सा से किसी के भी साथ रमण करे। भारतेंदु की रचनाओं में इसके उदाहरण भी प्राप्त नहीं होते।

दशानुसार नायिका-भेद—दशानुसार नायिकाएँ तीन प्रकार की मानी गयी हैं—गर्विता, अन्य-संभोग-दुःखिता और मानवती। भारतेन्दुजी ने गर्विता के अनेक उपभेद किये हैं किन्तु उनके उदाहरण नहीं दिये। अन्य संभोग दुःखिता और मानवती के कुछ उदाहरण अवश्य प्राप्त होते हैं।

अवस्थानुसार नायिका-भेद—इसके अन्तर्गत दस प्रकार की नायिकाएँ मानी गयी हैं–(१) स्वाधीन पतिका, (२) वासक सज्जा (३) उत्कंठिता, (४) अभिसारिका, (५) विप्रलब्धा, (६) खंडिता, (७) कलहांतरिता, (८) प्रवत्स्यत्प्रेयसी, (९) प्रोषित-पतिका, और (१०) आगत-पतिका। इनमें से क्रम संख्या २, ५, ६, ८, ९ और १० के एक-एक, दो-दो उदाहरण भारतेन्दु की रचनाओं में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं।

गुणानुसार नायिका-भेद—इसके अन्तर्गत तीन प्रकार की नायिकाएँ मानी गयी हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। भारतेन्दुजी की कविताओं में केवल उत्तमा नायिका के ही उदाहरण पाये जाते हैं। नायिका रूप, गुण तथा यौवन से युक्त होनी

चाहिए, अतएव भारतेन्दुजी ने नायिका के सौंदर्य और नखशिख का भी विशद वर्णन किया है। नायिका-भेद के साथ ही उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों की भाँति यौन-विकृति जैसे स्वरति, समरति, चित्ररति, वस्त्ररति, परपीड़न रति आदि का भी वर्णन किया है। उनकी कुछ नायिकाओं के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

कन्यका—'रीति पतिव्रत राखि चुकी, मुख भाखि चुकी अपुनो दुलहा है।
चाप निगोड़ो अबै जरि जाहु, चढ़ौ तौ कहा, न चढ़ौ तो कहा है।'
—भारतेन्दु-कवितावली-रामलीला-१७

स्वकीया नायिका—पीय को दच्छिन जानि न दूसत, चौगुनो चाव बढ़ै वा लली को,
सौतिनहू को असीसैं सुहाग, करैं कर आपने सेंदुर टीको।'—
प्रेम-माधुरी—७५

कुलटा—'हम चाहत हैं तुमको जिउसे, तुम नेकहूं नाहिणं बोलती हो,
यह मानहु जो 'हरिचंद' कहै, केहि हेत, महाविष घोलती हो,
तुम औरन सों नित चाह करौ, हमसौं हिय गाँठ न खोलती हो,
इन नैन के डोर बंधी पुतरी, तुम नाचत औ जग डोलती हो।'
—स्फुट कविताएं—पृ० ८१६।२०

अज्ञात यौवना—'बैठे सबै गुरुलोग जहाँ, तहाँ आई वधू, लखि सास, भई खरी,
देने उराहनो लागी तबै निसि को, अति भोरी, न जानत रीतरी,
ढीठ तिहारो बड़ो 'हरिचंद', न देखत, मेरी सु ऐसी दसा करी,
आँचरदीनो सखी मुख में, कहि, सारी फटी तो बनाइहै दूसरी।"
—प्रेम-माधुरी—३७

ज्ञात यौवना—बचि सासु जेठानिन सौं, पिय तें दुरि घूंघट में हग जोरैं लगी,
दुलही उलही सब अंगन तें, दिन द्वै तें पियूष निचोरे लगी।'
—प्रेम-माधुरी—८०

विप्रलंभ-शृंगार—काव्य शास्त्र के आचार्यों के अनुसार विप्रलंभ के तीन मुख्य प्रकार-पूर्वानुराग, मान तथा प्रवास-माने गये हैं। भारतेन्दुजी ने परकीया नायिका के पूर्वानुराग तथा प्रवास सम्बन्धी वियोग की कवित्त, सवैया छन्दों में अत्यन्त सुन्दर एवं विशद वर्णन किया है।

शृंगार-रस के उद्दीपन विभाग के अन्तर्गत सखा, सखी दूती आदि का वर्णन कर लेने के अनन्तर षट्ऋतुओं का वर्णन किया जाता है। भारतेन्दुजी ने भी रीतिकालीन शृंगारी कवियों की परम्परा प्रकृति का सर्वाधिक उपयोग उद्दीपन और अलंकार रूप में किया है।[१] भारतेन्दु जी ने वसन्त ऋतु वर्णन पर भी सुन्दर रचनाएँ की

१. 'ज्यों ज्यों घन गरजत है त्यों त्यों लपटि रहत पिय प्यारी'—प्रेमाश्रुवर्षण—८

हैं। वर्षा ऋतु के श्रावण मास की रात्रि वियोगिनी के लिए द्रौपदी की सारी के समान अत्यन्त लम्बी जान पड़ती है।[1] और वसन्त भी विरहिणी नायिकाओं के कामोद्दीपन का कार्य करता दिखलायी पड़ रहा है। भारतेन्दुजी ने यमुना को प्रेम-विह्वल कामातुर नारी के रूप में[2] तथा नदी के रूप में प्यारी का रूप-चित्रण किया है।[3]

भारतेन्दु बाबू ने नाना स्थलों से सौन्दर्य एवं रस ग्रहण करने का प्रयास किया है। सम्भवतः लोकगीतों के सौन्दर्य ने ही उन्हें लोकगीत-रचना के लिए बाध्य किया और उन्होंने स्त्रियों के गाने योग्य कृष्ण जीवन से सम्बन्धित कजलियों[4] और बारहमासा[5] की रचना की। उन्होंने 'प्रेम तरंग' में शुद्ध लोक-पद्धति पर—'सैंया बेदरदी दरद नहिं जानै', 'जवनिया मोरी मुफुत भई बदनाम', 'अरुझि गई अंखियाँ', 'नयन की मत मारो तरवरिया', 'सेजिया जिन आओ मोरी', 'मेरे प्यारे सौं संदेसवा कौन कहे जाय', आदि गीत लिखे हैं।

वियोग की दसा दशाओं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण—के उदारण हमें भारतेन्दुजी की कविता-वली में मिलते हैं। उनकी नायिका अपने प्रियतम के ध्यान में इतनी मग्न है कि वह प्रत्येक प्रश्न का एक ही उत्तर देती है[6] और उसकी अवस्था भी बड़ी विचित्र एवम् जड़वत हो गयी है।[7] चन्द्रावली ने अपने मानस-मंदिर में प्रियतम श्रीकृष्ण की सलोनी

---

१. 'प्रीतम पियारे नंदलाल बिनु हाय यह
सावन की रात किधों द्रौपदी की सारी है।'—'प्रेम-माधुरी'—६७

२. 'अहो सखि जमुना की गति ऐसी'—भारतेन्दु ग्रन्था० वेणु गीत; पृ० ७५१

३. प्यारी-रूप-नदी छवि देत—वही; 'प्रेमाश्रुवर्णन'—पृ० १७६

४. 'मथुरा के देसवां से भेजलें पियरवा रामा।
हरि-हरि ऊधो लाये जोगवा की पाती रे हरी।' —स्फुट कविता; ४५

५. 'पाती न पाई श्याम की सखि बसन्त सब यों ही गई,
बिनु श्यामसुन्दर सेज सूनी देख के व्याकुल भई।'

६. 'पूछत सखी कै एक उत्तर बतावति,
जकी सी एक रूप आज श्यामा भई श्याम है॥' —चन्द्रावली; अंक ४

७. 'छरी सी, छकी सी, जड़ भई सी, जकी सी, घर
हारीसी, बिकी सी, सो तो सब ही धरी रहै।
बोले तें न बोलें, दृग, खोलें न हिंडोले बैठि,
एक टक देखै सो खिलौना सी धरी रहै।'—वही; अंक ४

मूर्ति प्रस्थापित कर ली थी। इसी कारण उसकी समस्त लोक-लाज बिसर गयी, व्यावहारिक बन्धन फीके पड़ गये तथा मनमोहन के बिछुड़ जाने पर वह रात-रात-भर वियोग में रोती रही।[1] वह कृष्ण के वियोग में बावरी-सी डोलती रहती और इधर-उधर भटकते हुए वन के वृक्ष, कदम्ब, कुंज, यमुना, पवन, भ्रमर, हंस, सारस, पपीहा, भानु को सम्बोधित कर उनसे अपने प्रियतम का पता जानना चाहती है।

राधा-वर्णन—भारतेंदु बाबू वल्लभ-कुल-सम्प्रदाय के अनुयायी, राधा-कृष्ण की युगल छवि के उपासक और जीवन में प्यारे कृष्ण के सखा और राधा-रानी के गुलाम (हम चाकर राधा-रानी के) बने रहे। 'वर्षा-विनोद' में वे सब का मान-हरण करने वाली राधा-रानी की ओर अधिक आकृष्ट हो,[2] उनके रूप की प्रशंसा में भी उन्होंने पद लिखे।[3] उनकी राधिका अपने अपूर्व सौन्दर्य के कारण ही अन्य युवतियों में श्रेष्ठ हैं।[4] एक स्थान पर वे राधा को दीप-शिखा तुल्य बतलाते हैं किन्तु एक अन्य पद में दीपशिखा की उपमा को भी अयोग्य सिद्ध कर देते हैं।[5]

रीतिकालीन कवियों की भाँति भारतेंदु जी ने भी दमित विलासमयी भावनाओं का निष्कासन राधा-कृष्ण को आधार मानकर किया है। कृष्ण के विरह में राधा की जो दशा हो गयी है, उसका अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन भारतेंदु जी बाबू ने—"क्यों कान्ह-कान्ह गोहरावति हो ?" तथा "क्यों प्यारी फिरती दीवानी सी ?'—में

---

१. 'दुख के दिन कों कोऊ भांति बितै, विरहागम रैन संजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानै सखी, निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं।'
—वही; अंक १

२. 'श्री राधे सबको मान हर्‌यो।' —'प्रेमाश्रुवर्णन'—१६

३. 'चलो सखी मिल देखन जैये दुलहिन राधा गोरी जू।
कोटि रमा मुख छवि पै वारौं मेरी नवल किसोरी जू।'—'भारतेन्दु ग्रंथा'
भाग २; पृ० ७२

४. 'नागरी रूप लता-सी सोहै।
कोमल सों बदन पल्लव से कर पद देखत ही मन मोहै।'—राग-संग्रह-५५

५. 'सांचहि दीप-शिखा सी प्यारी।
धूम केश, तन जगमगाति द्युति दीपति भई दिवारी।।'
....
'कविन सों सांचेहि चूक परी।
दीपशिखा की उपमा जिन तुलि प्यारी हेत धरी।'—कातिक-स्नान-२५-५८

किया है। राधा की विरह-व्याधि इतनी बढ़ जाती है कि वह कृष्ण में तन्मय हो जाती है और स्वयं को कृष्ण समझने लगती है। राधा को दुःख है कि उसके मर्म की पीड़ा को समझने वाला, उससे सहानुभति दिखलाने वाला कोई नहीं है।[१] श्याम के बिना बेचारी राधा के मन में सदैव श्याम-घटा-सी छाई रहती है।[२]

भारतेंदु जी ने कहीं-कहीं प्रेम की गम्भीर एवं सम्वेदनशील वृत्ति का भी बड़ा उत्कट चित्रण किया है। वियोगिनी व्रज-बालाओं का यमुना में दीप प्रभावित करते समय का चित्रण कितना स्पष्ट[३] और गोपियों का विरह-वर्णन कितना मार्मिक है।[४] एक विरहिणी गोपिका कृष्ण के प्रति कैसा मधुर उपालम्भ देती है।[५]

भारतेंदु जी की शृंगार-रस की कविताओं का संग्रह 'प्रेम-माधुरी' नामक पुस्तक में किया गया है। जहाँ रीति कालीन नारी को समक्ष रखकर उन्होंने उसके प्रेम और शृंगार पक्ष को उभारा है, वहीं अपनी नारी-भावना का स्पष्ट उल्लेख करते हुए, 'बाल-बोधिनी' में कहा है कि—

"जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष, या में कुछ न विभक्ति॥
सीता अनुसूइया सती, अरंनधती अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण, लहौ सकल जग नारि॥
वीर प्रसविनी बुध वधू, होई दीनता खोय।
नारि नर अधरंग की, साचेहि स्वामिनि होय॥"

---

१. 'मरम की पीर न जाने कोय,
कासों कहों, कौन पुनि मानै, बैठ रही घर रोय।"—प्रेम-फुलवारी; ४५ (चंद्रा)

२. 'मो मन श्याम घटा-सी छाई।
बरसत है इन नैनन के मग, पिय बिनु बरसा आई।'—वर्षा-विनोद; ६६

३. 'करत मिलि दीपदान व्रज-बाला।
जमुना सों कर जोरि मनावत मिलै पिया नन्दलाला।'—कार्तिक-स्नान-पृ०; ८१

४. 'तू केहि चितवन चकित मृगी सी,
केहि ढूंढति तेरो कहा खोयो, क्यों अकुलाति लखाति ठगी-सी।"—चन्द्रावली, अंक; ४

५. "जानि सुजान मैं प्रीत करी सहि कै जग की बहु भाँति हंसाई।
सांचो भई कहनावति वा अरी ऊँची दुकान की फीकी मिठाई।"—भारतेंदु-ग्रंथा० प्रेम-माधुरी, पृ०; १७१

मूलतः वे स्वयं रसिक होने के कारण शृंगारी कवि थे। प्रेम-मालिका, प्रेम-सरोवर, प्रेमाश्रुवर्षण, प्रेम-माधुरी, प्रेम-तरंग, प्रेम-प्रलाप, सतसई-सिंगार, होली, मधु-मुकुल, राग-संग्रह, वर्षा-विनोद, प्रेम-फुलवारी आदि ग्रन्थों में उनकी शृंगार-भावना अधिक स्पष्ट हुई हैं। चीर-हरण, गोवर्धन-धारण, पनघट, दान, रास आदि लीलाओं का शृंगार-मय वर्णन भी बड़ा स्वाभाविक और सफल हुआ है।

भारतेंदु जी के समकालीन कवि—भारतेन्दु-युग के समस्त कवियों को तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम कोटि में उन कवियों को रखा जा सकता है जो प्राचीन परम्परा पर ही चलते गये और आधुनिकता से जिन्होंने अपने को अलग रखा। ऐसे लोगों में सेवक, सरकार, बाबा रघुनाथ दास, ललित किशोरी, नवनीत चौबे आदि की गणना की जा सकती है। द्वितीय कोटि में उन कवियों को रखा जा सकता है जिन्होंने अपनी रचनाएँ प्राचीनता से प्रारम्भ कीं तथा आधुनिकता से समाप्त। वास्तव में नवीन चेतना सम्पन्न इन कवियों के कारण ही यह युग 'संक्रांति-युग' कहलाया। बाबा सुमेर सिंह, चौधरी बदरी नारायण 'प्रेमघन', ठा० जगमोहन सिंह, प्रताप नारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधा कृष्णदास, राय देवी प्रसाद पूर्ण इसी कोटि के प्रमुख कवि हैं। तीसरी कोटि में वे आते हैं जिन्होंने केवल अर्वाचीन ढंग की रचनाएँ की हैं। इस वर्ग का नेतृत्व श्री बाल मुकुन्द गुप्त ने किया है।

बाबा सुमेर सिंह साहबजादे 'सुमेर हरि'—बाबा सुमेर सिंह 'सुमेर हरि' का नाम भारतेंदु-युग के कवियों में अग्रणी है। हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थ में हरिऔध जी ने उनके सम्बन्ध में दो अनुच्छेद दिये हैं।[1] 'सुन्दरी-तिलक' में बाबू सुमेर सिंह की स्फुट रचनाएँ मिलती हैं जिसमें रीति-परम्परा पर नारी का चित्रण हुआ है। उनकी नारी भी राधा के रूप में व्रजराज कृष्ण के लिए

---

१. 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—श्री 'हरिऔध'—पृ०; ५२२, २८

(क) 'सदना कसाई कौन सुकृत कमाई नाथ

....

मेरो यार विरव गिचारे कौन गहि मौन।''

(ख) ''बातें बनावती क्यों इतनी, हमहूं सो छप्यो नहिं आज रहा है।
मोहन के बनमाल की दाग, दिखाइ रह्यो उर तेरे अहा है।
तू डरपै, करै सौंहैं, 'सुमेरहरी' सुन सांच को आँच कहा है।
अंक लगी तो कलंक लग्यो, जो न अंक लगी तो कलंक कहा है।।''

पागल है और जिस प्रकार 'ठाकुर' की राधा कहती है–'अब गाँव रे नांव से कोऊ धरो, हम सांवरे रंग रंगी सो रंगी'' । उसी प्रकार उसी स्तर पर आकर बाबा सुमेर सिंह की राधा भी व्रजराज से मिलने की शर्त पर लज्जा का आवरण उतार फेंकने को तैयार है । नायिका परकीया है । उसकी गोपाल के रूप-सुधा रस-पान की अभिलाषा इतनी उत्कट हो उठी है कि वह गुरुजनों से मिलने वाली निन्दा ही नहीं, प्रचंड दण्ड भी चुपचाप सह लेने को तैयार है ।[1] ब्रह्मा ने अनुपम लावण्य-युक्त नारी-रूप को रचकर सोचा कि इसके विरहानल से मनुष्यों की प्राण-रक्षा के लिए पृथ्वी पर कोई औषधि नहीं है । अतः उसने चन्द्रमा की समस्त सुधा निचोड़ कर नारी के अधरों में भर दी । नारी के अधरामृत के प्रति सन्देह करने वाले व्यक्तियों के लिए कवि का यह चमत्कार पूर्ण उत्तर अपने स्थान पर बेजोड़ है । उनकी एक दूती (परकीया-नायिका) द्वारा नायक के पास एक विचित्र ढंग से सन्देशा देने आयी है । दूती के इस कथन में ऊपर से तो भोजन का निमन्त्रण जान पड़ता है यद्यपि वह नायक का मन चाहा करने का संकेत कर रही है ।[2]

बाबा जी के इन कतिपय छन्दों से ज्ञात होता है कि उस काल के अन्य कवियों की भाँति उनकी रचनाएं भी रीति-परम्परा के आधार पर लिखी गयी हैं तथा नारी-चित्रण में उन्होंने पूर्व परिपाटी को ही अपना आधार माना है ।

उपाध्याय श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—श्री भारतेंदु जी ने जिस प्रकार की साहित्यिक रचनाएं प्रस्तुत कीं, प्रायः उसी प्रकार की रचनाएं 'प्रेमघन' ने भी की हैं । वे भारतेंदु जी को छोड़ इस युग के सबसे बड़े कवि माने जाते हैं । 'प्रेमघन-सर्वस्व' प्रथम तथा द्वितीय भाग में उनकी समस्त कविताओं का संकलन है । उन्होंने 'जीर्ण जनपद' एवं 'अलौकिक लीला' तथा 'स्वदेश-बिन्दु' के अन्तर्गत प्राचीन महिलाओं का गुणगान किया है ।[3] कवि द्वारा धान के खेत में काम करने वाली

---

१. 'बदनाम जो गाँव करै सिगरो, तऊ रूप सुधारस चाखिहौं मैं ।
ब्रजराज जो आज मिलै सजनी, इहि लाज सों काज न राखिहौं मैं ।''–'सुन्दरी-तिलक'; १०७

२. 'चाहत जोई रसोई में सोई रसोइन रस राखि-चखाइहों ।'–वही; ११९८.

३. 'प्रेमघन-सर्वस्व' (भाग १) —स्वदेश-बिन्दु—पृ०; ६३१

स्त्रियों का स्वाभाविक किन्तु मनोहारी चित्र दर्शनीय है ।[1] रीतिकालीन काव्य-परम्परा के आधार पर ही उन्होंने 'पीयूष वर्षा' तथा 'लालित्य लहरी' में विरह, मिलन, आकांक्षा आदि भावनाओं का तथा नायिका का सांगोपांग वर्णन किया है । एक अहीरनी के रूप का आकर्षक तथा परम्परागत चित्रण कितना सुन्दर है ।[2] यद्यपि सौन्दर्य दृष्टि और आलंकारिक सौन्दर्य वर्णन प्राचीन ढंग का ही है । वियोग-वर्णन में भी उन्होंने रीति कालीन परम्परा को ही अपनाया है ।

'प्रेमघन' ने नारी की सामाजिक हीनावस्था का अनुभव कर उसकी दयनीय स्थिति का भी हृदय स्पर्शी चित्रण किया है ।[3] अनमेल विवाह तथा वृद्ध-विवाह[4] के कारण दुखी नारी के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए एक विधवा-नारी के

---

१. 'भोरी भोरी ग्राम बधू इक संग मिलि गावति
इक सुर में रस भरी गीत झनकार मचावति
....
किती युवति तिनमें अति रूप सलोनी पाए
किए कज्जलित नैन सीस सिंदूर सुहाए
....
धान खेत में बैठी चंचल चखनि नचावति
वन में भटकी चकित मृगी सी छवि दरसावति ।'—जीर्ण-जनपद; ५३५, ५३७, ५३८

२. 'मृग लोचन मंजु मयंक मुखी, धनि जोबन रूप जखीरनी तू ।
मृदु हासिनी फांसिनी मोहन को, कच मेचक जाल जंजीरनी तू ।
'घनप्रेम' पयोनिधि वासिहि बोरन, नेह में, नाभि गंभीरनी तू ।
जगनाथ कै चेरो बनाय लियो, अरी वाहरी वाह अहीरनी तू ।।"—प्रेमपीयूष-वर्षा

३. "नहिं इनके तन रुधिर, मांस नहीं बसन समुज्वल,
नहिं इनकी नारिन तर भूषण हाय आजकल
सूखे वे मुख कमल, केश रूखे जिन केरे
वेश मलिन, छीन तन, कुवि हत, जात न हेरे ।"—प्रेमघन-सर्वस्व (जीर्ण जनपद); ६१६, २०

४. "जब लग चढ़े जवानी हम पर तब तक तूं मरि जाव्य (रामा) ।'—वही; पृ० ५४७, ४८

तपस्विनी वेश को भी उन्होंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखा है।[१] साथ ही 'स्वदेश-विन्दु' के अन्तर्गत प्राचीन महिलाओं के गुणों का भी गान किया है।[२]

इस युग के अन्य कवियों की भाँति 'प्रेमघन' ने भी प्रेम और शृंगार के वर्णन में राधा को आधार बनाया है। उनकी राधा, कृष्ण के साथ बिहार करती हुई उनके मन-मन्दिर में निवास करती है।[३] कवि द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण की लीलाओं के द्वारा हमें उनकी नारी-भावना का थोड़ा परिचय प्राप्त होता है। प्रेमघन जी ने लोक तथा शास्त्रीय ध्वनियों में गायी जाने वाली कजरी, ठुमरी, लावनी, गालियाँ और होली के गीतों की रचना की थी। भारतीय नारियों के यशोगान में लिखी गयी उनकी एक बाईस-चरण वाली कजरी (धनिधनि भारत की भामिनियाँ) बड़ी ही प्रसिद्ध है। कजरी के अनेक भेदों का भी उन्होंने सोदाहरण वर्णन किया है। वे भाव और अभिव्यक्ति दोनों पर सबसे अधिक ध्यान देने वाले कवियों में थे, अतः भारतेन्दु के बाद वे सबसे बड़े कवि माने जाते हैं।[४]

श्री प्रतापनारायण मिश्र—मिश्रजी 'भारतेन्दु-युग' के अन्य सुप्रसिद्ध साहित्यकारों की भाँति सभी क्षेत्रों को अपने कृतित्व का दान दे गये हैं। हिन्दी में उनकी गणना श्रेष्ठतम निबन्ध-लेखकों में की जाती है किन्तु कविता के क्षेत्र में भी उनकी 'प्रेम-पुष्पावली', 'शृंगार-विलास' और 'लोकोक्ति-शतक' रचनाएं अच्छी मानी जाती हैं। वे प्रताप, प्रताप हरी, परताप नरायन, प्रेमदास आदि उपनामों से रचना करते थे। उन्हें भी 'प्रेमघन' की भाँति लोकगीतों से प्रेम था, इसी कारण उन्होंने कजली, लावनी होली, दादरा लिखे हैं।[५] उनकी समस्या-पूर्तियाँ बड़ी सुन्दर और सरस होती थीं[६] और हास्यास्पद रचनाएँ भी उनके जीवन-काल में लोक प्रिय बन चुकी थीं।

१. प्रेमघन-सर्वस्व (१)–पृ०; २८१
२. वही-(स्वदेश विन्दु)–पृ०; ६३१
४. आधुनिक हिन्दी कविता–डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय-पृ०; १०४
३. "दोउन के मुखचन्द चितै, अंखियाँ दुनहून की होत चकोरी,
दोउ दुहूं के दया के उपासी, दुहूंन को दोऊ करै चित चोरी।"–वही; भाग १
५. 'तोहिं छैला में छाती लगाए रहिहौं
आँखिन ते कछु दूरि न करिहौं, पुतरी प्यारे बनाए रहिहौं–वही पृ०; २५७
....
६. "बनि बैठी है मान की मूरति सी, मुख खोलत बोले न 'नाहीं', न 'हाँ',
तुमही मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ,
बरसा है 'प्रताप जू' धीर धरौ, अबलों मन को समझायो जहाँ,
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू, पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ।"–कवि-वचन सुधा

मिश्र जी इस युग के उदार दृष्टि रखने वाले कवि थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि भारतीय जनता नारी की शोचनीय सामाजिक दशा को सुधारने का प्रयत्न करे, बाल-विवाह इस देश में बन्द हो जावें,[1] स्त्रियाँ शिक्षित बनें और पतिव्रता होवें।[2]

ठाकुर जगमोहन सिंह—ठाकुर साहब की गणना भारतेंदु-युग के उन प्रसिद्ध कवियों में की जाती है जिन्होंने पुरानी शैली में घन-आनन्द की तरह सर्वथा स्वच्छन्द मार्ग का अनुसरण किया और सरस कवित्त सवैयों की रचना की। नारी-चित्रण और शृंगार-वर्णन की दृष्टि से 'श्याम-लता', 'देवयानी' (प्रेमाख्यान), 'श्यामा सरोजनी', 'श्यामा-विनय', 'प्रेम-रत्नाकर', 'प्रेमलता', 'प्रेम सम्पत्ति लता' इनके प्रेम पूर्ण काव्य ग्रन्थ माने जाते हैं किन्तु 'श्याम-स्वप्न' ही इनका एक मात्र सहज उपलब्ध ग्रन्थ है।

ठाकुर जगमोहन सिंह प्रमुखतः प्रेम और प्रकृति के स्वच्छन्द कवि थे। उनके प्रेम-काव्य से जैसी आत्माभिव्यक्ति पायी जाती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। गाँव की एक कन्या श्यामा के लुक-छिपकर चलने वाले व्यापार,[3] लोक-उपहास, प्रेम की बेचैनी, विरह-व्यथा[4] और स्मृतियों का चित्रण बड़ा सुन्दर और स्वाभाविक हुआ है।

---

१. 'झूठी यह गुलाल की लाली धोवत ही मिट जाय।
बाल विवाह की रीति मिटाओ, रहे लाली मुँह छाय।
.... होली है.......ग्रन्थावली–पृ०; ११४

२. 'स्त्रीगण को विद्या देवें करि पतिव्रता यश लेवें।'–प्रताप-लहरी-पृ०; १६०

३. "कबहुं नीर मज्जन कबहुं, नदी तीर की भीर।
तौहू धीर सरीर नहिं, चलत नैन जिमि तीर।
नदी तीर एड़ी घिसति, झुकि झुकि, झझकि हटै न।
पियहिं हँसति निरखति, रहति चलत चपल चहुं नैन॥"—भारतेन्दु और सहयोगी कवि, पृ०; ४०५

४. "नेक अवलोकें जाके लोक उपहास होत,
ताही के विलोकिबे को दीठि ललचात है,
जाहि विरहागि से दवारि सी लगी है देह,
गेह सुधि भूली, नेह नयो दिन रात है।'–वही-पृ०; ४०६

उनकी एक विरहिणी-नायिका मोहनी मूरत के दर्शन बिना बड़ी ही व्याकुल हो रही है।[1]

राय देवी प्रसाद 'पूर्ण'— पूर्ण जी इस काल के कवियों में प्रकृति का यथा-तथ्य चित्रण करने वाले प्रकृति सेवी कवि माने जाते हैं। वे भारतेन्दु-काल के प्रतिभाशाली कवि थे और भारतीय नारी की दशा को सुधारने के लिए भी सदैव प्रयत्नशील थे।[2] पुरानी परिपाटी के अनुसार प्राकृतिक ऋतुओं का उन्होंने रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा चित्रण किया है। कवि ने फूली सरसों, भ्रमर गुंजन, रसाल, शीतल समीर और कोकिल कलाप से भरी हुई वसन्त ऋतु में धरित्री को बसन्त की वनिता का रूप प्रदान किया है। उनकी एक नायिका सुन्दर वस्त्र और अलंकारों से सुसज्जित होकर बैठी है तब कवि को उसका मुख-मंडल सूर्य के समान तेजस्वी दिखलायी पड़ता है।[3] कवि कभी २ मानव-सौन्दर्य से इतना अधिक आकर्षित और प्रभावित हो जाता है कि उसे प्रकृति से सम्बन्धित सभी उपमान फीके और अनुपयुक्त लगने लगते हैं—तब ऐसा लगता है कि मानव सौन्दर्य ने प्राकृतिक उपमानों को लज्जित कर दिया है। पति के साथ प्रेम पूर्वक बात करती हुई एक सुन्दरी बाला के अंग-प्रत्यंगों की छटा दर्शनीय है।[4] एक विरहणी अपने प्रियतम के वियोग में जब बहुत ही

---

१. 'हम हारि अरी करि कोटि उपाय लिखी बहु ने हमरी पतियां,
'जगमोहन' मोहनी मूरति के बिन कैसे कटें दुःख की रतियां।''—'प्रेमसम्पति लता'–ठा० जग मोहन सिंह

२. ''नारी के सुधारे देश जग में प्रसिद्ध होत,
नारी के संवारे होत सिद्ध धन बल है।'—आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना–डॉ० शैल कुमारी–पृ०; ३९

३. ''बैठी है सिंगार साजि प्यारी सुखमा अपार,
अंग अंग भूखन वसन की निकाई है।
....
तम की सरन बैठि मारि मारि बानन सों,
कीन्हीं कुसुमायुध ने भानु पै चढ़ाई है॥'—पूर्ण-संग्रह

४. ''लाली जेहि बाला के अधर की अमन्द चाक,
बिम्बाफल विद्रुम बन्धूक को लजावती।
जाके मृदु मधुर रसीले प्रिय बैनन की,
बीना, पिकी, कोऊ समता को नहीं पावती।'—पूर्ण-संग्रह

उद्विग्न हो जाती है तब उसे प्रकृति की सुन्दर वस्तुएं भी कष्टदायक प्रतीत होती हैं। कोकिल की कूक उसके कलेजे को छेदती है और पलास तथा कचनार भी उसे जलाने लगते हैं।[१]

श्री बालमुकुन्द गुप्त—रचना-काल की दृष्टि से ये भारतेन्दु-मंडल के अन्तिम कवियों में से हैं किन्तु काव्यत्व की दृष्टि से ये भारतेन्दु को छोड़कर अन्य सबमे अधिक सशक्त एवं प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। अपने युग के प्रायः सभी प्रचलित विषयों पर इन्होंने विभिन्न कविताएं लिखी हैं।[२] वे उर्दू से हिन्दी के क्षेत्र में आये थे।

कवि को आधुनिक-युवतियों की उच्छृंखलता पसन्द न थी, तभी उन्होंने 'सभ्य बीबी की चिट्ठी' शीर्षक अपनी कविता में आधुनिक शिक्षित नारी पर बड़ा तीखा व्यंग्य किया है—

"मजा अब सुख का आया है, स्वाद शिक्षा का पाया है।
सदा सुन्दर तितली बनकर, उड़ूं में फूलों-फूलों पर।
सभा में परी जान बनकर, डटूंगी कुर्सी के ऊपर।
घुटावें क्यों पिंजरे में दम, नहीं कुछ अंधी चिड़िया हम।"

गुप्तजी, भारतेन्दु की विनोद-ज्योति के उत्तराधिकारी माने जाते हैं, क्योंकि उनकी हास्य परक रचनाएं भी बड़ी जोरदार हैं। 'जोरूदास' शीर्षक कविता द्वारा उन्होंने पत्नी-भक्त पुरुषों पर अच्छा व्यंग्य किया है—

"मात पिता निज सुख लग जायो अपने सुख के भाई,
एक जोरू ही संग चलेगी ऐसी शिक्षा पाई।"[३]

भारतेन्दु-युग के इन प्रथम कोटि के कवियों के अतिरिक्त पन्डित अम्बिकादत्त व्यास, मंझौली के महाराज-कुमार लाल खड्ग बहादुर मल्ल, श्री राम कृष्ण वर्मा

---

१. "कूक-कूक कोकिला करेजै करि टूकि टूकि,पाछे परी कारी दई मारी काकपाली है। काम के कृसानु को बढ़ावत तापै जारत पलास कचनार की लाली है।"—पूर्ण-संग्रह

२. 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'—डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त, पृ०; ६३३

३. 'गुप्त-निबन्धावली'—पृ०; ६७८—श्री गोपाल प्रसाद व्यास ने भी इस प्रकार के 'पत्नी-पूजकों' को बड़ी मजेदार राय दी है—
तुम उनसे पहले उठा करो, उठते ही चाय तैयार करो।
उनके कमरे के कभी अचानक, खोला नहीं किवाड़ करो।'

'वलवीर', श्री राधाकृष्ण दास, श्री राधाचरण गोस्वामी, श्री सुधाकर द्विवेदी, श्री मन्नालाल 'द्विज', राव कृष्णदेवशरण सिंह 'गोप,' भारतेन्दु की गायिका और नर्तकी माधवी, भारतेन्दु की आश्रिता और रक्षिता वंग देशीय-महिला मल्लिका 'चन्द्रिका', भारतेन्दु-कालीन वारवधू हुस्ना नागरी तथा भोपाल की वेगम साहिबा 'रूपरतन' आदि की भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं। यद्यपि इन कवियों की रचनाओं में कोई ऐसी नवीन प्रवृत्ति नहीं पायी जाती जिसका अभाव भारतेन्दु जी में रहा हो तथापि तत्कालीन धारणाओं तथा नारी सम्बन्धी भावना को समझने के लिए वे अवश्य ही उपयोगी हैं।

भारतेन्दु एवम् उनके समकालीन कवियों की रचनाओं पर संक्षेप में विचार कर लेने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाव एवम् काव्य दोनों की दृष्टि से यह युग एक संक्रान्ति-युग है। इस युग में प्राचीन काव्य-धारा का प्राचुर्य रहा, कवि-जन परम्परागत ढांचे के भीतर ही अपने प्रणयोद्‌गार रीतिकाल के सरस सवैया, कवित्त, छन्दों में व्यक्त करते रहे। काव्य-रचना मुख्यतया मुक्तक रूप में व्रजभाषा में होती रही, पर खड़ी-वोली का प्रयोग भी कविता के क्षेत्र में आरम्भ हो गया। अव 'कला, कला के लिए' वाला रीति (शृंगार) युग वीत चुका था और कला का महत्व जीवन और समाज के लिए ही समझा जाने लगा था।

भारतेन्दु-युग आन्दोलनों एवम् परिवर्तनों का युग था। इस युग में यद्यपि पुरानी विचारधारा समाज और काव्य-क्षेत्र में प्रवल थी, रीतिकालीन परम्परा के काव्य की रचना प्रचुर मात्रा में हो रही थी, तथापि कविगण परम्पराओं और रूढ़ियों के कारण नारी के वास्तविक रूप में प्रस्तुत न हो पाने की विवशता के प्रति जागरूक अवश्य हो उठे थे। प्राचीन और नवीन के इस संधिकाल में जिन नवीन विचार-धाराओं का आरम्भ हुआ, उनमें नारी-भावना ही प्रमुख थी।

रीतिकालीन-कवियों ने नारी के वाह्य-सौन्दर्य तथा उसके हास-परिहास के चित्रण में ही अपना ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित किया था, किन्तु इस काल के साहित्य-शिल्पियों ने नारी की सामाजिक स्थिति तथा उसकी विवशता पर भी ध्यान देकर नारी-स्थिति के उन्नयन में योग प्रदान किया। वे नारी के सत्, असत् और परम्परावादी चित्रण के साथ अव नारी को विभिन्न श्रेणियों, स्वरूपों तथा सम्बन्धों में विभाजित कर उसकी वस्तुस्थिति और सुधारवादी दृष्टिकोण पर भी रचनाएँ करने लगे थे। सुधार-भावना से प्रेरित होकर ही कुछ कवियों ने स्फुट रूप में वाल-विवाह, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों तथा नारी-शिक्षा को

अपनी कविता का विषय बनाकर नारी के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति तथा करुणा प्रदर्शित की ।

भारतेन्दु-काल के इन कवियों की नारी-कल्पना यद्यपि नारी के असहाय, दीन, दुखी और निराश्रित रूप को ही देख पायी है और नारी-जागृति के चिह्न भी अधिक स्पष्ट नहीं हो पाये हैं तथापि यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि इन कवियों की नारी स्वातन्त्र्य और समाज-सुधार की भावना ने 'मानवी' को जन्म देकर मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास किया है । निःसन्देह भारतेन्दु-युग का काव्य एक क्रान्तिकारी-परम्परा के प्रथम प्रवाह और नारी-भावना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है ।

द्विवेदी युग

पिछले पृष्ठों में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि भारतेन्दु-युग के कवियों द्वारा प्रायः रीतिकाल की पुरानी परिपाटी पर ही रचना होती रही तथा सम्पूर्ण युग में व्रजभाषा को ही काव्य के लिए अधिक उपयुक्त माना गया । भारतेन्दु-युग के कलाकार देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक, सभी समस्याओं पर व्यापक दृष्टिकोण रखने वाले थे ।

द्विवेदी-युगीन काव्य में इस मानवतावादी विचारधारा को हम तीन रूपों में देखते हैं—(१) स्त्री-पुरुष सम्बन्धी समान भावना, (२) पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, और (३) मानवीय गुणों की सहज स्थापना । स्त्री-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी भावनाओं का भी विकास नवयुग की चेतना के विकास के साथ ही हुआ था । अब समानता की भावना दृढ़ होने लगी । शृंगार-कालीन नायिका-भेद के लक्षण-स्वरूप नारी जीवन की मान्यताएँ बदलीं और नायक-नायिका भेद की प्रवृत्ति का अब विरोध किया जाने लगा ।[1]

इस युग के साहित्यकार और कवियों ने अपनी रचनाओं में विलासितापूर्ण जीवन के चित्रण का परित्याग कर जन-मानस को चारित्रिक दृढ़ता की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया । इन कवियों ने राधा-कृष्ण के शृंगार रूप का वर्णन भी नवीन रूप से आदर्शों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से प्रेरित होकर किया । साथ ही मानव-प्रेम एक नवीन महिमा से मंडित हुआ और वह जीवन की एक पवित्र निधि अथवा तत्व के रूप में स्वीकार किया गया ।[2]

---

१. 'स्त्रियों के भेद वर्णन से कोई लाभ नहीं, हानि अवश्य है और बहुत भारी हानि है ।' रसज्ञ रंजन—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी; पृ० ६०

२. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'—डॉ० श्रीकृष्णलाल; पृ० ६४

'द्विवेदी-युग' की नारी-भावना—भारतेन्दु-युग के कवियों द्वारा वर्णित दाम्पत्य-प्रेम प्रायः रीतिकाल की परम्परा का ही अनुकरण था, किन्तु द्विवेदी-युग से इस प्रेम में एक नवीनता और निर्मलता आयी एवं नारी के प्रति भी परिवर्तित एवं परिष्कृत दृष्टिकोण दिखलायी पड़ा। कवियों द्वारा अब यह अनुभव किया जाने लगा कि नारी के उचित सम्मान बिना समाज की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नहीं। अतएव नारी-भावना पर लेखनी उठाने वाले कवि नारी-समाज के आमूल सुधार के प्रति सजग हो उठे। श्रृंगारकालीन सामन्ती विलासिता का उपकरण मानी जाने वाली नारी अब पुरुष की कामवासना की पूर्ति का साधन-मात्र न रहकर राजनीतिक और समाज में क्षेत्र में उसकी सहकर्मिणी बन गयी। इस युग में हम प्रथम बार नारीत्व की उच्च-भावना का क्रमशः विकास होता देखते हैं। श्री द्विवेदीजी ने नारी की वकालत करते हुए लिखा—'महामलिन से मलिन काम, हम करती हैं दिन-रात
दुखो देख पति, पिता, पुत्र, व्याकुल हो करती कृशगात।
हे भगवान! हाय तिस पर भी, उपमा कैसी पाती हैं।
'ढोल तुल्य ताड़न अधिकारी, हमी बनाई जाती हैं॥'—

नारी के प्रति यह उदात्त रूप द्रष्टव्य है। राष्ट्रीयता की भावना और सुधारात्मक दृष्टिकोण के फलस्वरूप राजनीतिक दृष्टि से भी नारी को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। सम्भवतः इन्हीं विचारों से उत्तेजित होकर भारतीय नारी ने पुरुषों के साथ सविनय-अवज्ञा-आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया। कवियों ने भी उसकी क्षमता को निहारा और अपनी नारी-भावना को नये सांचे में ढाला।

द्विवेदीजी ने नवीन सुधारों को काव्य का विषय बनाने के लिए अपने समकालीन कवियों को प्रेरणा दी थी और वे काव्य में सुरम्य रूप, रस-राशि, विचित्र वर्णन, अलौकिकानन्द विधायिनी और अमूल्य आभा रसवती गुणों को देखना चाहते थे, किन्तु वे स्वयं अपनी रचनाओं में इन गुणों को नहीं ला सके। उनके द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित 'कविता-कलाप' संग्रह में प्राचीन परिपाटी पर चित्रित उनके कुछ रूप-सौंदर्य चित्र पाये जाते हैं। द्विवेदीजी की 'रम्भा',[1] 'कुमुद-सुन्दरी',[2] 'महाश्वेता',

---

१. 'भृकुटी धनुषाकार मनोहर, अरुण दुकूल बहुत ही सुन्दर।
मंजु मृणाल पराजय कारी, बाम बाहु आभूषण धारी।
किस प्रकार लटकाया इसने, कमलों को शरमाया इसने।

२. 'इसके देख केश घुंघराले, सुमन सुवासित सुन्दर काले।
नाग नारियाँ छिप जाती हैं, मुंह न सामने दिखलाती हैं।
नयन नील नीरज छविकारी, श्रुति पर्यन्त पर्यटन कारी।
इसके अधर देख जब पाते, शुष्क गुलाब फूल हो जाते।'—वही; (कुमुद-सुन्दरी) पृ० ६८

'उषा-स्वप्न' आदि चित्र परिचयात्मक रचनाओं का आलम्बन पौराणिक या आधुनिक युग की नारी है। आदर्श नारियों के चरित्र अंकित करके वे भारतीय नारी-समाज को सुधारना और सरल, परिष्कृत तथा मंजी हुई पद्यभाषा खड़ी-बोली की प्रतिष्ठा एवं प्रचार करना चाहते थे।[1] शोकार्त बाल-विधवाओं की दयनीय दशा से अभिभूत द्विवेदीजी ने हिन्दूधर्म की कठोर रूढ़ियों के विरुद्ध लेखनी चलायी और विधवा-विवाह को धर्म-संगत बतलाया।[2]

द्विवेदीजी के सहयोगी-कवि—श्रीरामचरित उपाध्याय द्विवेदीजी के प्रमुख शिष्यों में थे। द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से इनकी खड़ी-बोली की कविताएँ 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थीं। राष्ट्र भारती, देवदूत, देवसभा, देवी द्रौपदी, विचित्र विवाह, आदि कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने 'रामचरित-चिन्तामणि' नामक एक प्रबन्ध-काव्य की भी रचना की थी।

कवि ने अबलाओं के दुर्गुणों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित कर उन्हें[3] दुस्साहस, क्रूरता, अविवेक, अशुचिता, निर्लज्जता का भंडार, अत्यन्त स्वार्थपरायण, हठी और उनकी माया को दुर्निवार बतलाया है। प्रतीत होता है कि कवि अपने युग में रहते हुए भी शताब्दियों पीछे की बात कर रहा है और नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण बनाने की बात उसे पसन्द नहीं, नारी की स्वच्छन्दता पर उसे विश्वास नहीं। वह उसे उस लतिका के समान ही मानता है जो किसी वृक्ष का आश्रय पाकर ही रस प्राप्त कर सकती है।[4] नारियों के प्रति इसी प्रकार की अनादर की भावना कवि ने

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डॉ० उदयभानु सिंह; पृ० ११४
२. 'द्विवेदी-काव्यमाला'–(बाल-विधवा विलाप); पृ० २१०
३. 'अनृत साहस छद्म प्रगल्भता, अदयता अविवेक अशौचता।
यदि न ये अबला उर में रहें, फिर उसे कवि निंदित क्यों कहें।
....
न अबला डरती परलोक से, न अबला मिलती पर शोक से।
वह नहीं, हठ से हट जायगी, अभय हो असि से कट जायगी।
न अबला जन को कुछ शर्म है, न उसका कुछ बाधक धर्म है।
निज प्रयोजन ही प्रिय है उन्हें पर प्रयोजन अप्रिय हैं उन्हें।'—रामचरित-चिन्तामणि–सर्ग ५; पृ० ६६-८२
४. स्त्री जग में स्वच्छन्दकारिणी कभी न यश पाती है,
तरुवर के आश्रित हो करके लतिका रस पाती है।'–वही–सर्ग ११; पृ० १५१

लक्ष्मी का दृष्टान्त देकर व्यक्त की है।[1]

यद्यपि आधुनिक-काल के आरम्भ में कुछ कवियों का ध्यान अब भी नारी के रूप, यौवन पर अटका रहा और उन्होंने रीतिकालीन परम्परा के अनुसार नायिका का वय:संधि वर्णन भी किया[2] तथापि इस युग में मानवता के प्रति एक नवीन दृष्टि-कोण का प्रादुर्भाव हुआ। अब मानव को एक मानव के रूप में देखने का प्रयत्न किया जाने लगा और नारी को भी महानता प्रदान की गयी। नायिका की परिभाषा व्यापक हुई और अब कवियों का आकर्षण-बिन्दु नायिकाओं की वय:सन्धि और रूप-यौवन ही न रह गया प्रस्तुत उनकी स्पष्ट दृष्टि उनके अन्दर निहित गुणों पर जमने लगी। इस युग के कुछ कविवों के परम्परागत सौन्दर्य सम्बन्धी उपमानों में भी परिवर्तन दिखलायी पड़ने लगा।

श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—ये बहुत ही भावुक और सरल हृदय कवि थे और दोनों पुरानी तथा नयी चाल की कविता कर सकते थे। उन्होंने स्वाभिमान और देशाभिमान सम्बन्धी सुन्दर उद्बोधन भी लिखे हैं। इनकी तीन पुस्तकें 'प्रेम-पचीसी', 'कुसुमांजलि' और 'कृषक-क्रंदन' प्रकाशित हुई हैं। युग की परम्परा के अनुसार कवियों को काव्य-रचना के लिए उन्होंने सचेत किया है।[3]

पंडित श्रीधर पाठक—पाठकजी स्वतन्त्र व्यक्तित्व के प्रतिभाशाली, भावुक एवं सुरुचि सम्पन्न कवि थे। उन्होंने हिन्दी-साहित्य में खड़ी-बोली में काव्य-रचना और प्रकृति-वर्णन में नवीन शैली का शुभारम्भ किया था। वे अंग्रेजी की सौन्दर्य-चेतना से अधिक प्रभावित थे, अत: वे नयी कविता में नयी शैली और नयी भाषा के साथ-साथ रोमांस के तत्वों की प्रतिष्ठा करना चाहते थे; प्रकृति का उन्मुक्त सौन्दर्य,

---

१. 'स्त्री की मति उलटी होती है, उभय कुलों को वह खोती है।
वारिधि-सुता, विष्णु की जाया, उस श्री के मन शठ नर भाया।'—लक्ष्मी-लीला; पृ० ६, ५

२. 'शृंगार-शतक' (वय:सन्धि)—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र; पृ० ३

३. 'माँ भारती तुम्हारा चलन देख देखकर,
नव-नायिका से नित्य लगन देख देखकर,
परकीया में लगा हुआ मन देख देखकर,
होकर अधीर धैर्य भवन है ढहा रही।'—त्रिशूल-तरंग (कविराज को सम्बोधन)
—श्री सनेही; पृ० ७०-७१

नारी का सुरम्य-रूप, किसी स्वर्गीय सुन्दरी की सुमंजु वीणा का स्वर-माधुर्य, युवक-युवतियों का कोमल मृदु व्यवहार, उनकी मंजुल मनोहर मुस्कान आदि विषयों को उन्होंने बड़ी ही तन्मयता से प्रस्तुत किया है।[१]

पाठकजी नवीन नारी-भावना का सन्देश देने वाले[२] तथा नारी-समाज में जागृति चाहने वाले इस युग के एक श्रेष्ठ कवि थे। राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित होकर ही उन्होंने भारतीय-नारी में महान शक्ति के दर्शन किये हैं।[३] उनका विश्वास था कि नारी आर्य-जाति की ज्योति, जीवन और संजीवनी बन विश्व की अजेय शक्ति के रूप में अवतरित हुई है।[४] मिश्र-बन्धुओं की भाँति[५] मनु के आदेशों के अनुकूल समाज-व्यवस्था के प्रति क्षुब्धता प्रकट की है।[६] शोकार्त बाल-विधवाओं के प्रति भी उन्हें हार्दिक सहानुभूति है।[७] पाठकजी ने अपनी 'काश्मीर-सुषमा' में प्रकृति के भी नारी-रूप में दर्शन किये हैं।[८] इस सुन्दर वर्णन में नवयौवना—प्रकृति को उसके

---

१ हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास—डॉ० गणपति चन्द्र; पृ० ६४७

२. 'भारत-गीत' (सती-समाज)—श्रीधर पाठक; पृ० ४६

३. 'अहो पूज्य-भारत-महिलागण, अहो आर्य-कुल-प्यारी।
अहो आर्य-गृह-लक्ष्मी-सरस्वती, आर्य-लोक उजियारी॥
....
त्रिगुण जयिनि, मृगनयनि, मनस्विनि, मधुमयि, त्रिजग प्रलोभिनि।
तुम हो शक्ति अजेय विश्व की, आर्य अमोघ बलधारिणि॥'—वही आर्य महिला;
पृ० १६०

४. भारत-गीत—(आर्य महिला)—श्रीधर पाठक; पृ० ११३

५. 'नहीं तरुनिगन विथा जात आँखों से देखी।
ऐसी दारुन दशा कहीं जग में नहि लेखी॥'—'भारत-विनय' (स्त्री)—मिश्रवन्धु;
पृ० ५२

६. 'मनूजी तुमने यह क्या किया—
किसी को पौन, किसी को पूरा, किसी को आधा दिया।'—'भारत-गीत' (मनूजी)
श्रीधर पाठक; पृ० ७६

७. 'सुखी सुहागिन करे कन्त सङ्ग केलियाँ,
जीवन को सुख-सुधा पियें अलबेलियाँ,
दुखी बाल विधवाओं की है जो गती,
कौन सके बतला, किसकी इतनी मती।'—बाल-विधवा

८. 'प्रकृति यहाँ एकान्त बैठ निज रूप सँवारति'—काश्मीर-सुषमा; पृ० ५

विविध अनुभावों (ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति, संवारति) के माध्यम से चित्रित किया गया है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी—खडी बोली में पं० श्रीधर पाठक के पश्चात् श्री त्रिपाठीजी द्वितीय-प्रवाह के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि माने जाते हैं। उन्हें हम प्राय: (१) पथिक, मिलन, स्वप्न के रचयिता और छायावाद के अग्रदूत, (२) ग्राम-गीतों के अन्वेषक और प्रचारक, तथा (३) 'कविता कौमुदी' की गागर में हिन्दी काव्य-सागर को भरने वाले, तीन विभिन्न रूपों में स्मरण करते हैं।

त्रिपाठीजी के काव्य में नारीत्व के प्रति उच्च भावना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। वे नारी में नवीन शक्ति, सौंदर्य एवं प्रेरणा प्रदान करने वाले कवियों में प्रमुख थे। हमें स्त्री-स्वातन्त्र्य संबंधित भावना के दर्शन भी सर्वप्रथम उन्हीं की कविताओं में होते हैं। नारी को शक्तिरूपा और देश-सेवा में सहयोगिनी के रूप में चित्रित करने के लिए ही उन्होंने 'विजया' और 'सुमना' जैसे नारी-चरित्र की सृष्टि की है। ये नायिकाएँ पति की सच्ची जीवन-सहचरी के रूप में चित्रित की गयी हैं और उनके द्वारा देश-प्रेम की वैयक्तिक प्रेम पर विजय दिखायी गयी है। 'मिलन' की नववधू विजया अपने स्वामी के प्रयाण पर अत्यन्त दुःखी है[1] किन्तु दुर्घटनावश पति के डूब जाने पर वह आत्म-हत्या न कर अपने भावी कर्तव्य-पथ का निश्चय करती है[2] और शीघ्र ही उस निश्चय को कार्य का रूप देने लगती है। पति से विलग हो जाने पर वह साक्षात दुर्गा का रूप धारण कर लोक-सेवा में लीन हो जाती है।[3]

'पथिक' खण्डकाव्य के चौथे सर्ग में पथिक का वध निकट जान जब पथिक-पत्नी

---

१. 'शक्ति नहीं जो नाथ तुम्हारा सुन भी सकूं प्रयाण।
रहते प्राण न लाने दूंगी, मेरे जीवन प्राण।'—'मिलन' -श्रीरामनरेश त्रिपाठी

२. 'अब कर्तव्य यही है परा, करूं वही उद्देश्य।
जिनकी पूर्ति हेतु उद्यत थे, मेरे प्रियतम नागेश।
पति अभिलाष पूर्ण करना ही, है मेरा ध्रुव धर्म।'—वही–सर्ग २

३. 'लिये त्रिशूल हाथ में करने चली देश उद्धार।
गांव गांव में लगी घूमने सेवा व्रत उर धार।
द्वार द्वार पर जाकर विजया, करुणा प्रेम निधान।
सबको लगी जगाने गाकर, देशभक्ति के गान।'—वही–सर्ग; ४

राजपुरी में पहुँचती है तब वात्सल्य-रस की कवि द्वारा सुन्दर सरस धारा प्रवाहित की गयी है। पुत्र का माता के प्रति कथन भी अत्यन्त स्वाभाविक है।[1]

'स्वप्न' खण्ड-काव्य के आरम्भ में वसन्त नामक सुन्दर और विचारशील युवक को जब हम जीवन की गम्भीर वितर्क-दशा में पाते हैं, तब उसकी पत्नी सुमन उसे कर्म-मार्ग पर अग्रसर होने का उपदेश देती है।[2] फिर वह पुरुष-वेश धारण कर राष्ट्र की रक्षा करने के पवित्र उद्देश्य से युद्ध के लिए जाने को तत्पर होती है और अपने कायर पति को मातृ भूमि की रक्षा के लिए प्रोत्साहित करती है। सुमन के वियोग में दुखी वसन्त की प्रकृति भी अश्रु गिराती जान पड़ती है।

लाला भगवानदीन—दीन जी आरम्भ में व्रजभाषा में ही पुराने ढग की कविता करते थे किन्तु 'लक्ष्मी' का सम्पादन कार्य-भार सम्हालने के उपरान्त वे खड़ी वोली में कविता लिखने लगे। उन्होंने अपनी 'वीर-क्षत्राणी' नामक रचना में भारत की वीर-प्रसविनी, वीर कन्या और वीर वधू का स्वरूप वड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उनका कथन था कि—

"वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।

वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान दिखाता॥"—तभी तो नील देवी, कमला, पद्मावती, किरणदेवी, कर्मादेवी, दुर्गावती आदि नारी-पात्रों में उनकी नारी विषयक धारणा सच्चे रूप में उपस्थित हुई है। 'वीर पंचरत्न' में उन्होंने अलूपी, सुमित्रा, रेणुका, विदुला आदि पौराणिक तथा ऐतिहासिक वीर-नारियों का यशोगान किया है। कवि 'दीन' नारी में शक्ति के दर्शन करता है और उन्हें अवला मानने में अपनी असहमति प्रकट करता है।[3] कवि नारी को शक्ति रूपा चित्रित करता है जो

---

१. 'मा ! तू कुछ न खिलाती मुझको, कभी न दूध पिलाती।
सारे दिन रोती रहती है, खेल कभी न खिलाती।'
....
'शिशु स्नेह में विह्वल उसने उठा लिया वालक को।
वार-वार वह लगी चूमने उसके मुख मस्तक को।'—वही; सर्ग ४

२. "तुम्हें ज्ञात है कैसा संकट, है स्वदेश पर हे प्राणेश्वर।
शोभा नहीं तुम्हें देता है, घर पर रहना इस अवसर पर।'—स्वप्न; सर्ग ३

३. "वस नाम जो अवला इन्हें मुनियों ने दिया है।
महिलाओं के संग भारी सा अन्याय किया है।
जाँचा नहीं किस धातु का नारी का हिया है,
अमृत की मधुर-धार या विष का विया है।'—'वीर-पंचरत्न-'दीन'-पृ०; २७३

न केवल स्वयं शक्तिमान है प्रत्युत पुरुष को शक्ति और प्रेरणा प्रदान करने वाली है। वह पति के अभाव में भी कर्तव्य हीन होकर बैठने वाली नहीं है। उसमें स्वावलम्बन है, कर्तव्य के प्रति सजगता है और उसके निर्वाह के लिए तेज और बाहुबल है।[१]

पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—द्विवेदी-युग के प्रभाव से श्री 'हरिऔध' ने संस्कृतनिष्ठ भाषा में अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' की रचना की थी। इस मनोवेगात्मक महाकाव्य में कृष्ण के वियोग में दुःखी राधिका, यशोदा एवम् ब्रजांगनाओं की आकुलता और विभिन्न अवस्थाओं का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।

शताब्दियों से राधा, काव्य में एक नायिका के रूप में चित्रित की गई है। किसी कवि ने उसे नवोढ़ा-नायिका के रूप में, तो किसी ने 'प्रगल्भा' के रूप में, किसी ने उसे 'अभिसारिका' बनाकर गहन अंधकार में नंगे पैर दौड़ाने का प्रयत्न किया, किसी ने उसे 'वासकसज्जा' मान लिया, किसी ने उसे रास में कृष्ण के साथ तल्लीन दिखाया तो किसी ने उसे 'प्रवत्स्यत्पतिका' बना दिया, किन्तु 'प्रिय-प्रवास' में हरिऔध जी ने राधा का एक नवीन रूप ही प्रस्तुत किया है। वृषभानु-दुलारी राधा और नन्दसुत-कृष्ण का प्रेम यद्यपि बाल्यावस्था से ही आरम्भ हो जाता है किन्तु यह प्रणय लोक की उपेक्षा करने वाला प्रेम न था। सूर की भाँति 'हरिऔध' की राधा भी प्रेमिका अवश्य है किन्तु वह स्वार्थ मय मोह की गली को छोड़कर, निःस्वार्थ प्रणय के प्रशस्त राजमार्ग पर बढ़ती है, उसके प्रणय में ही परहित भावना लक्षित होती है।[२] वह कृष्ण की प्रेमिका है किन्तु वह उन्हें सविधि वरण करना चाहती है क्योंकि उसका नारीत्व सदा के लिए कृष्ण पर एकाधिकार प्राप्त करने का इच्छुक हो उठा है।[३] वह सच्चे हृदय से कृष्ण को पति के रूप में पाने की इच्छा करती है।[४] उसके हृदय में नारी जनोचित आशंका रह-रहकर उठती रहती है। वह स्वीकार करती है कि वह 'राजवेश की कामुक' नहीं है और न उसे किसी वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा है, वह तो केवल 'ब्रजेश की विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी' है। किन्तु वह कृष्ण को

---

१. 'धन्य-धन्य भारत क्षत्राणी, सुयश तुम्हारा गाता हूँ।
फिर भारत में वीर नारियाँ जन्में यही मनाता हूँ॥'—वही–कमला–पृ०; २४

२. 'आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना'—डॉ० शैल कुमारी–पृ०; ६०, ६१

३. "हृदय चरण में तो चढ़ा ही चुकी हूँ,
सविधि वरण की थी कामना और मेरी।"—प्रियप्रवास; ४, ३५

४. 'मम पति हरि होवें चाहती मैं यही हूँ।'–वही; ३६

सविधि वरण न कर सकी और जीवन-पर्यन्त विरह की भीषण अग्नि में झुलसती रही। राधा की इस उद्विग्नता और खिन्नता में हमें नारी-हृदय की कोमलतम भावना और अतिशय-प्रेम का परिचय मिलता है।

राधा, कृष्ण-गमन से पूर्व की रात्रि में तारों के समूह से निवेदन करती है कि वे आकाश में एक ही स्थान पर बने रहें जिससे रात्रि समाप्त न होवे और कृष्ण भी तब न जा सकें। कृष्ण के मथुरा प्रयाण के पश्चात् राधा दुःख-रूपी घोर अंधकार में निमग्न होकर विक्षिप्त-सी हो जाती है।[१] कभी वह चम्पा, जूही आदि पुष्पों से अपना तादात्म्य स्थापित करती है,[२] कभी पवन को दूत बनाकर भेजना चाहती है, कभी कोकिला तथा भ्रमर को अपना दुखड़ा प्रकट करती है और कभी कल-कल नाद करती कालिन्दी को अपनी व्यथा सुनाने लगती है। राधा एकान्त प्रेमिका नहीं है, उसका हृदय दुःख से अधिक विचलित होकर सम्वेदनशील हो उठा है। इसलिए तो उसमें पथ के श्रान्त पथिकों के, लज्जाशील पथिक महिला के, मधुप-मधुपी के, क्लान्ता कृपक-ललना के सुख-दुःख की भी अनुभूति है।[३] उसके प्रणय में परहित भावना का प्रादुर्भाव होता है और उसका प्रेम विश्व-प्रेम में परिणत होकर व्यापक बन जाता है। वह लोक सेवा में रत रहकर नन्द, यशोदा, गोप-गोपिकाओं, बालक-बालिका, वृद्ध सबके काम आती है।[४]

'रमणि वृन्द-शिरोमणि राधिका' का व्यक्तित्व जहाँ एक ओर 'रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना' और 'तन्वंगी कल हासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुतली' कहकर निखारा गया है, वहीं दूसरी ओर उसे 'रोगी वृद्ध जनोपकार निरता, सच्छास्त्र चिन्तापरा' और 'स्त्री जाति रत्नोपमा' भी बतलाया गया है।[५]

१. ''मेरा जी तो व्यथित बन के बावला हो रहा है।'—प्रिय-प्रवास, १५,१७
२. 'पीड़ा नारी हृदय तल की नारि ही जानती है।'—वही; १५, ८
३. 'हिन्दी कविता में युगान्तर'—डॉ० सुधीन्द्र—पृ०; ५०४
४. 'पूजी जाती व्रज अवनि में देवि-तुल्या अतः थी।'—;प्रिय प्रवास १७, ४६
५. 'शोभा वारिधि की अमूल्य मणि-सी, लावण्य-लीला-मयी।
श्री राधा मृदु-भाषिणी मृगदृगी, माधुर्य-सन्मूर्ति थी।।४।।
....

'फूले कंज समान मंजु-दृगता थी मत्तता-कारिणी।
सोने सी कमनीय-कांति तन की थी दृष्टि उन्मेषिनी।
राधा की मुस्कान की मधुरता थी मुग्धता मूर्ति-सी।
काली-कुंचित लम्बमान अलकें थीं मानसोन्मादिनी।।५।।'
....

'राधा थीं सुमना प्रसन्न वदना स्त्री जाति रत्नोपमा—' ।।८।।—वही; १७

वह दीनों की भगिनी और अनाथ-आश्रितों की जननी है।[1]

इस प्रकार 'हरिऔध' की राधा न तो सूर की राधा है जो प्रभु की आल्हादिनी शक्ति मानी गयी है और न रीतिकालीन परम्परा वाली नायिका राधा ही, किन्तु वह तो अत्यन्त गम्भीर, समाज-सेविका तथा विश्वहितैषिणा में लीन एक प्रौढ़ा रमणी है। उसने आजन्म आदर्श नारी के कर्तव्य का निर्वाह किया है। निस्सन्देह 'हरिऔध' की राधा जयदेव की विलासिनी, विद्यापति की मुग्धा नायिका, चण्डीदास की परकीया नायिका, सूरदास की नागरी, नन्ददास की तार्किक अथवा रीतिकाल की उच्छृंखल एवं किशोरी राधा न होकर आधुनिक युग की जागृत एवं प्रवुद्ध नारी है।[2]

'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य वृषभानु-दुलारी राधा के चरित्र-चित्रण के साथ माता यशोदा के मातृ-हृदय की विविध मनोदशाओं के चित्रण के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। स्नेहाकुल यशोदा अपने लाड़ने पुत्र कृष्ण के समीप बैठी हुई अर्ध-रात्रि के समय जब सिसकियाँ भरती हैं तब उनके दुःख में घर का दीपक भी सिर धुनने लगता है।[3] वह अपने कुल देवताओं को मनाती है और कृष्ण की विदा-वेला के समय अत्यन्त खिन्ना-दीना अवस्था में नन्द के सम्मुख अपने प्रिय पुत्र के लिए अनेक नारी-सुलभ आशंकाएँ उपस्थित करती हुई अपना पुत्र स्नेह निवेदन करती है।[4] उसे अपने पुत्र के सम्वन्ध में खलजनों एवम् कंस के कुपित होने का भय है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर माता अत्यन्त दुखी होकर अपने भाग्य को कोसती है। नन्द जी के लौट आने के पश्चात् दुखी यशोदा कृष्ण के वियोग में अपने पति के चरणों में लोटकर विलाप करने लगती है।[5] उद्धव जी के आगमन पर वह एक ही साँस में अपने पुत्र की कुश-

---

१. 'दीनों की थी वहिन जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं व्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।'—वही; ४६
२. 'आधुनिक कविता का मूल्यांकन'–डॉ० इन्द्रनाथ मदान–पृ०; २०
३. 'महरि का यह कष्ट विलोक के। धुन रहा सिर गेह-प्रदीप था।'–वही; ३४
४. 'मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना।
कुछ पथ-दुख मेरे वालकों को न होवे॥'—वही; ५, ४६, ५०, ५१
५. 'प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुख जल निधि मग्ना का सहारा कहाँ है?
अव तक जिसको मैं देख के जी सकी हूँ?
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है?'—वही; ७, ११

लता के सम्बन्ध में अनेक बातें पूछने लगती है और अत्यन्त भाव पूर्ण शब्दों में एक मातृ-हृदय की मनोवेदना प्रकट करती हुई भगवान से प्रार्थना करती है कि वृद्धावस्था में किसी का प्यारा पुत्र उससे अलग न किया जावे।[1] वास्तव में 'प्रिय प्रवास' की यशोदा के चित्रण में मातृ-हृदय की अतुल ममता, स्वाभाविक स्नेह और करुणा मुखरित हुई है।[2]

'प्रिय-प्रवास' की कथावस्तु में राधा और यशोदा नारी पात्रों के अतिरिक्त श्याम-वियोगिनी ब्रजगोपिकाओं की मनोदशा और अनन्य प्रेम की सुन्दर झाँकी भी हमें देखने को मिलती है। कृष्ण का वियोग होने पर ये गोपिकाएँ प्रिय के समीप होकर आने वाली धूल को भी क्लान्ति मिटाने वाली समझती हैं और उसे हृदय तथा लोचनों में समा लेना चाहती हैं। वे अपने को उसी धूल की भाँति भाग्यहीना समझती हैं।[3]

भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' की कथा के आधार पर लिखित एक करुण-रस-प्रधान महाकाव्य 'वैदेही-वनवास' में सीता को आधुनिक नारी-रूप में चित्रित किया गया है। श्री रामचन्द्र, दुर्मुख के मुख से निकला लोक-अपवाद सुनकर अपनी प्रिया जनक-नन्दिनी-सीता के गुणों पर विचार कर[4] लोकहित के निमित अपनी प्राण-प्रिया को वन में भेजने का निश्चय करते हैं। राज भवन की शोभा इस सीता के

---

१. 'छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल-छल से लाल लेवे किसी का।'—वही; १०, ६६

२. 'जो चाहेगा नृपति मुझसे दण्ड दूंगी करोड़ों,
लोटा थाली सहित तन के वस्त्र भी बेच दूंगी,
जो माँगेगा हृदय वह तो काढ़ दूंगी उसे भी,
बेटा, तेरा गमन मथुरा न मैं आँखों लखूंगी।'—वही; सर्ग ५

....

'ऊधो, माता सदृश ममता अन्य की है न होती।'—वही; सर्ग १०

३. 'धूली तू है निपट मुझ-सी भाग्य हीना मलीना।'—वही; सर्ग ५, ७३

४. 'कमलिनी-सी जो है सुकुमार, कुसुम कोमल है जिसका गात।
चटाई पर या भू पर पौढ़, बिताई उसने है सब रात ॥३१॥
सरलता की जो है प्रति मूर्ति, सहजता है जिसकी प्रिय नीति।
बड़े कोमल हैं जिसके भाव, परम-पावन है जिसकी प्रीति ॥४२॥'—वैदेही-वनवास; सर्ग २

जाने का समाचार जब रनवास में पहुँचता है तब वह माण्डवी आदि बहनों को सान्त्वना देती हुई पत्नी-धर्म की बात समझती है ।[1] पति के सुराज्य पर कोई उंगली न उठा सके, इसके लिए वे वियोग-व्यथा का स्वागत करने को तत्पर हैं । आत्म-पीड़ा एवं आत्म-त्याग की यह भावना सीता को आदर्श सती एवम् पति भक्ता नारी ही प्रमाणित नहीं करती, अपितु उनकी लोक-हित भावना की पुष्टि करती है ।[2] इस महान पातिव्रत-धर्म-पालन के ही कारण महर्षि बाल्मीकि तथा आत्रेयी, सीता को अपने आश्रय में पाकर अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें महान्-देवी के नाम से सम्बोन्धित करते हैं ।[3] सीता अपने पातिव्रत्य के सहारे देवत्व को प्राप्त करती है । कवि ने इस महाकाव्य में स्पष्ट किया है कि सात्विक भावनाओं का अभाव और विलास-लोलुपता ही पति-पत्नी संघर्ष के कारण हैं और मर्यादा, शील, लज्जा, शिष्टता आदि ही इसके उपचार हैं । हरिऔध ने 'वैदेही वनवास' की सीता में उन समस्त उदात्त गुणों का समावेश कर दिया हैं जिसे वे राष्ट्रीय एवं सामाजिक आन्दोलन युगीन नारी में आवश्यक समझते हैं ।[4] कवि ने नारी के समाज-सेवी और विश्व-कल्याणकारी रूप को अधिक महत्व प्रदान करना ही इस महाकाव्य की रचना का उद्देश्य माना है ।

प्रकृति में मानवीकरण की प्रतिष्ठा भी 'श्री हरिऔध जी' ने बड़ी कुशलता के साथ की है । उनकी प्रकृत-सुन्दरी 'चेतना' नारी की भाँति वस्त्राभूषण प्रयोग करती है तथा समयानुसार उनमें परिवर्तन भी करती है । प्रभात के वर्णन में उन्होंने प्रकृति-वधू के व्यापार का सुन्दर वर्णन किया है ।[5] प्रकृति उन्हें मानव-सी चेष्टाएँ करती

---

१. 'है मुख्य धर्म पत्नी का, पति-पद पंकज की अर्चा ।
जो स्वयं पति-रता होवे । क्या उससे इसकी चर्चा ॥७१॥'—वही; सर्ग ६

२ 'साहित्य-सन्देश-हरिऔध विशेषांक-(जुलाई-अगस्त १९६५)—पृ०; ७८

३. 'आप मानवी हैं तो देवी कौन है, महा-दिव्यता किसे वहाँ ऐसी मिली ।
पातिव्रत अति पूत सरोवर अंक में, कौन पति-रता-पंकजिनी ऐसी खिली ।२९।
वही; सर्ग ८

....

४. प्रसाद के नारी-चित्रण-डॉ० देवेश ठाकुर—पृ०; १९७

५. 'प्रकृति वधू ने असित बसन बदला सित पहना ।
तन से दिया उतार तारकावलि का गहना ।
उसका नव अनुराग नील नभ तल पर छाया ।
हुई रागमय दिशा दिशा ने बदन छिपाया ।'—परिजात-'हरिऔध'—पृ०; ४४

प्रतीत होती हैं। जड़ प्रकृति चेतन हो जाती है। वह उनके साथ रोती-हँसती है, ममतामयी माँ के समान ममत्व, सहृदय मित्र की भाँति सम्वेदना, सहानुभूति तथा अपनत्व प्रकट करती है। उन्हें प्रकृति सर्व गुणों से परिपूर्ण एक भोली-भाली नारी के समान दृष्टि गोचर होती है जो अनुपम सौन्दर्य की राशि है और जिसकी माधुरी पर सारा विश्व मुग्ध हो जाता है।[1] प्रकृति से एकात्म भाव स्थापित कर लेने के कारण उन्हें अपने व्यग्र हृदय का प्रतिविम्ब प्रकृति में दृष्टि गोचर होता है और चित्रण में वे नारी-चित्र की कल्पना करते हैं। उन्हें होली भी एक व्यथित नारी के रूप में दृष्टि-गोचर होती है। प्रकृति के इन स्फुट चित्रों द्वारा कवि ने नारी के मन और तन की विभिन्न झांकियाँ दिखायी हैं और प्रकृति के सहारे नारी का वह मादक रूप भी चित्रित किया है जब वह पुरुष के आलिंगन में बद्ध होकर ऐहिक अथवा मानसिक विलास में निमग्न दिखायी देती है।[2]

श्री 'हरिऔध' ने 'रस-कलश' नामक ग्रन्थ में नायिका के कुछ नवीन भेद-देश-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, जन्म भूमि-प्रेमिका, धर्म-प्रेमिका, लोक-सेविका आदि प्रस्तुत किये हैं तथा परम्परागत उपमानों के आधार पर नारी के रूप का चित्रण किया है। इतना ही नहीं, इतस्तत: नारी की सुकुमारता एवं मृदुलता का ऊहात्मक वर्णन कर नायिका के नेत्रों में सुधा-सरोवर और लाली में अनुराग के विचारों का आरोप करके नेत्रों की एक नयी उद्‌भावना उन्होंने प्रस्तुत की है।[3] इस प्रकार कवि जहाँ एक ओर युग की परिस्थितियों के साथ नारी के समाज सेवी और कल्याणकारी रूप का दर्शन कराता है, वहीं परम्पराओं में चली आने वाली नारी-भावना की ओर आकर्षित हो रीतिकालीन परम्परा के कवियों में भी अपना नाम सम्मिलित कराना चाहता है।

श्रीसत्यनारायण 'कविरत्न'—इस युग की 'खड़ी-बोली की खरखराहट' के बीच कविरत्नजी ब्रज की मधुर वाणी द्वारा काव्य-रसिकों की पिपासा शान्त करते रहे। 'रीतिकाल के कवियों की परम्परा पर न चलकर वे या तो भक्तिकाल के कृष्ण-

---

१. 'कहाँ गई मुखड़े की लाली, किसने छीनी छटा निराली।
पीला क्यों पड़ गया होलिके, तेरा गोरा गाल ?'—कल्पलता—'हरिऔध'—पृ०, ८३

२. वही; पृ० १९

३. "लाल लाल डोरे परे कै अँखियन झंकार।
सुधा-सरोवर में लसै कै अनुराग सेवार॥'—रस कलश—पृ०; ७८

भण कवियों के ढंग पर चले हैं अथवा भारतेन्दु-काल की नूतन कविता की प्रणाली पर। व्रजभूमि, व्रजभाषा और व्रज-पति का प्रेम उनके हृदय की सम्पत्ति थी। व्रज के अतीत दृश्य उनकी आंखों में फिरा करते थे। उन्होंने व्रजभाषा में बड़ी ही सरस कविता की है।

कविरत्नजी ने प्रेम और शृंगार के सम्बन्ध में भी बड़े मर्यादित ढंग से कविता की है। 'भ्रमर-दूत' नामक अपूर्ण काव्य में भ्रमर को दूत बनाकर माता यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण को सन्देशा भिजवाया गया है।[1] उसी में नारी शिक्षा का अनादर करने वाले लोगों को उन्होंने अनाड़ी बतलाया है।[2] नारी के प्रति भी उन्होंने अपनी श्रद्धा के सुन्दर भाव प्रकट किये हैं।[3] प्रेमकली उनकी स्वतन्त्र रचना है जिसमें उन्होंने प्रेम का महत्त्व प्रतिपादित किया है। साथ ही उनके वन, बाग, यमुना-तट, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, आदि ऋतुओं के हृदयग्राही वर्णन भी प्रशंसनीय माने जाते हैं।

श्रीजगन्नाथदास 'रत्नाकर'—कविवर रत्नाकरजी व्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि माने जाते हैं। यद्यपि रत्नाकरजी ने काव्य-ग्रन्थ के रूप में 'हिंडोला', 'हरिश्चन्द्र', 'कल-काशी', 'गंगावतरण', 'शृंगार-लहरी' की रचना की है, तथापि 'उद्धव-शतक' कवि की मार्मिक अनुभूतियों की कलापूर्ण अभिव्यक्ति की सर्वोत्कृष्ट प्रौढ़ रचना है।

उनके 'उद्धव-शतक' को भ्रमर-गीत-परम्परा में ही रखा गया है। यद्यपि उसमें भ्रमर का संदर्भ लेशमात्र नहीं है, केवल एक छन्द में गुन-गुन ध्वनि सुनायी

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पांचवां संस्करण)—रामचन्द्र शुक्ल; पृ० ६३५

२. 'बिलखाती सनेह पुलकाती जसुमति माई।
स्याम विरह अकुलाती, पाती अबहु न पाई।
....
विकल कल न हिये।'३।——भ्रमर-दूत

३. 'अहो पूज्य भारत महिलागण, अहो आर्यकुल प्यारी,
अहो आर्य गृहलक्ष्मि सरस्वती, आर्य लोक उजियारी।'—भारत-गीत (आर्य-महिमा); पृ० १६०

४. 'नारी शिक्षा अनादरत जे लोग अनारी।
तो स्वदेश-अवनति-प्रचण्ड-पातक अधिकारी॥
निरखि हाल मेरो प्रथम लेहु समझि सब होइ
विद्याबल लहि मति परम अबला सबला होइ॥'।——लखौ अजमाइ कै॥'
—'भ्रमर-दूत'—श्री सत्यनारायण 'कविरत्न'

पड़ती है, फिर भी श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध के ४६ वें अध्याय के आधार पर उद्धव-गोपी-संवाद को भ्रमर-गीत की संज्ञा दी गयी है। इससे पूर्व भक्त-कवि सूरदास, नन्ददास, हित वृन्दावनदास, रीवां-नरेश रघुराज सिंह, देव, मतिराम, घन-आनन्द, पद्माकर, सत्यनारायण 'कविरत्न', 'हरिऔध', आदि ने भी इस परम्परा पर काव्य-रचना की थी किन्तु रत्नाकरजी का यह 'उद्धव-शतक' अपनी शैली का एक अनूठा काव्य-ग्रन्थ है। इसमें चित्रित कृष्ण और गोपियाँ आलम्बन रूप में तथा कृष्ण द्वारा भेजी गयी पत्रिका, व्रजभूमि तथा उससे सम्बन्धित वस्तुएँ और वातावरण उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आते हैं।

'उद्धव-शतक' का आरम्भ विरह-व्यथिता राधा की स्मृति में आकुल कृष्ण की विरह-पीड़ा से होता है। कृष्ण के द्वारा भेजे गये उद्धव के आगमन का समाचार सुनकर कृष्ण-प्रेम-रस में पगी गोपियाँ उनके चारों ओर घिर आयीं और उनसे अत्यंत स्नेह के साथ पूछने लगीं कि कृष्ण द्वारा भेजी गयी 'पाती' में उनके लिए क्या संदेशा भेजा गया है।[1] 'उझकि उझकि पद कंजनि के पंजनि पै' तथा 'हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा' में गोपियों की अधीरता और भावोत्कर्ष का बड़ा ही सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्र है। गोपियों के हृदय की प्रेम-हलचल का अनुभव कर ज्ञानी उद्धव की सारी चतुराई आंसुओं के साथ बहने लगी, किन्तु थोड़ी देर के पश्चात वे गोपियों को ज्ञानोपदेश देने लगे। तब गोपियाँ उन्हें व्यंग उक्तियों द्वारा फटकारना आरम्भ कर देती हैं। उद्धव-शतक की ये गोपियाँ तर्क-कुशल हैं। सूरदास और नन्ददास की गोपियों से उद्धव को जो न कहा गया, वह 'रत्नाकर' की गोपियाँ सुना देती हैं। वियोग-ज्वर से आकुल गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि उन्हें 'पाती' का सुदर्शनचूर्ण (कड़वी वस्तु) नहीं चाहिए, वे तो श्याम के सलौने रूप का दर्शन करना चाहती हैं। वे कृष्ण की एकमात्र आराधिका हैं अतः उन्हें अन्य व्यक्ति से क्या मतलब। गोपियों को न स्वर्ग

---

१. 'भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की,
        सुधि व्रज-गांवनि में पावन जबै लगीं।
    कहै रत्नाकर गुवालिनि की झौर-झौरि
        दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं॥
    उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै
        पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि सबै लगीं।
    हमकों लिख्यौ है कहा, हमकों लिख्यौ है कहा,
        हमकों लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं॥'—उद्धव-शतक—छंद २६

चाहिए और न भोग ही, क्योंकि वे तो कृष्ण की मीठी मुस्कान पर अपना 'मन-मानिक' वार चुकी हैं—आत्म-समर्पण की कैसी सुन्दर भावना है।

'व्रजभूप-रूप' देख चुकने के बाद गोपियाँ 'अलख अरूप व्रह्म' को कैसे देख सकती हैं? उन्होंने तो स्पष्ट कर दिया कि 'हम न कहेंगी तुम लाख कहिवो करो' और 'चेरी हैं न ऊधो काहू व्रह्म के वबा की हम, सूधो कहे देति एक कान्ह की कमेरी हैं;' और

'वे तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ,
हम उनहीं की उनहीं की उनहीं की हैं।'

प्रिय के प्रति कैसी अनन्यता और समर्पण है। ऊधव के उपदेश को सुनकर गोपियाँ अत्यन्त दुखी हुईं। उनकी उस व्याकुल दशा और प्रेम की प्रगाढ़ता का चित्रण रत्नाकरजी ने बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है।[1] उद्धवजी के विदा के समय प्रेम-विभोर हो माता यशोदा अपने प्रियपुत्र कृष्ण को नवनीत और राधा, कृष्ण की प्रिय मुरली भेंट में भेजती हैं और गोपियाँ कहती हैं कि महाराज हमारी बात पूछें तो मुख से कुछ न बोलना, जो कुछ तुमने देखा है, उसे कराह कर, आह भरकर, नेत्रों में आँसू लाकर और हिचकी लेकर व्यंजित कर देना[2] तथा उन्हें राम-राम कहने के पश्चात् बतलाना कि गोपियाँ भली है, वुरी हैं, लज्जायुक्त अथवा निर्लज्ज हैं किन्तु हैं तो आपकी ही सेवा करने वाली दासियाँ।[3] गोपियों के इन 'राम-राम' शब्दों में कितनी

---

१. 'सुनि सुनि ऊधव की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहिं थिरानी है।
कहै रतनाकर रिसानी, बररानी कोऊ,
कोऊ विलखानी, विकलानी, वियकानी है।'—वही-छंद; ३३

२. 'औसर मिलै औ सरताज कछु पूछहि तौ,
कहियौ कछू न दशा देखी सो दिखाइयौ।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू,
कहिवेकौ चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ॥'—वही-छंद; ९४

३. 'नाम को बताइ औ जताइ गाम ऊधौ वस,
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ।'
....
'भली हैं, वुरी हैं, औ सलज्ज निरलज्ज हू हैं
जो कहैं सो हैं पर परिचारिका तिहारी हैं।'—वही; छंद ९५-९६

मार्मिकता, कितनी विवशता और दीनता भरी है और है उनकी मर्मस्पर्शिणी उक्तियों में उनके आत्म-त्याग की चरम पराकाष्ठा।

रत्नाकरजी ने प्राचीन कवियों की परम्परा के अनुसार गोपियों के वियोग की वृद्धि षड्ऋतु-वर्णन द्वारा करायी है। किन्तु यहाँ विशेषता यह है कि ये ऋतुएँ गोपियों को गोकुल में स्थिर निवास करती जान पड़ती हैं—'ऊधौ नित बसत बसन्त बरसाने में', 'ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है' और 'इत तौ हिमंत कौ निरंतर पसारौ है'। बसन्त गोपियों के पियराये अङ्ग में रूपायित हो गया है, ग्रीष्म के साथ गोपियों का जीवन जल रहा है, वर्षा-ऋतु ने गोपियों के हृदय-घावों को पुनः हरा कर दिया है, शरद् ने कामदेव को प्रबल बना दिया है, हेमन्त में गोपियों का हृदय-कमल कुम्हलाने लगा है और शिशिर उनके 'काम' को झकझोर कर व्यथित बना रहा है।

'उद्धव-शतक' के प्रारम्भिक अंश पर सूफी प्रेमाख्यानकों, भाव-पक्ष पर भक्ति-काल के कृष्ण-भक्त कवियों और कलागत विशेषताओं पर रीतिकालीन-काव्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इस रचना में नारी के दो गुणों—पातिव्रत-धर्म की रक्षा और स्वार्थ-त्याग—की भी यत्र-तत्र झाँकी देखने को मिलती है।

रत्नाकरजी ने अपनी रचना 'शृंगार-लहरी' में एक नायिका के सौंदर्य-वर्णन में विभावना, प्रतीप, यमक, अनुप्रास, आदि का अच्छा समन्वय किया है।[1] शृंगार की आश्रयीभूता एक गोपिका का चित्रण भी रीतिकालीन ढंग का ही है।[2] सद्यः-स्नाता-नायिका से नायक की भेंट होने पर उसकी लज्जा का यह स्वाभाविक चित्रण[3]

---

१. 'रंग है री रंग तेरे नैननि सुरंग देखि,
मूलि मूलि चौकड़ी कुरंग कटे जात हैं॥'—'शृंगार-लहरी'; छंद २२

२. 'भरि जोवन गागरी में इठलाइकै, नागरी चेटक पारि गई।
रतनाकर आहट पाइ कछू, भरि घूँघट टारि निहारि गई।
करि वारि कटाच्छ कटारिनि सों, मुसकानि मरीचि पसारि गई।
भए घाव हिये में अघाय घने, तिनपै पुनि चांदनी मारि गई॥'—'शृङ्गार-लहरी'; १०१

३. 'नागरी नवेली अरविन्द-मुखी चोप चढ़ी,
कढ़ी जमुना सों जल बाहिरि अन्हाइ कै।
झीनो नीर मीनो चीर लपट्यो सरीर माहि,
परत न पेखि तन-पानिप समाइ कै॥'—वही; ३६

और यौवन एवं सौंदर्य का यह सम्मिलित चित्र भी अनूठा है ।[1]

हिंडोला' में रत्नाकरजी ने साज-सज्जा और झूले का वर्णन किया है। 'हरिश्चन्द्र' में महाराज हरिश्चन्द्र की रानी शैव्या का त्याग और सेवा-कार्य अनुकरणीय एवम् अनुपम है । चौथे सर्ग में रोहिताश्व की मृत्यु के पश्चात् विलाप करती हुई रानी का करुण क्रन्दन अत्यन्त हृदय-द्रावक है ।[2]

श्री दुलारेलाल भार्गव—महाकवि बिहारीलाल की 'बिहारी-सतसई' के आधार, शैली तथा दोहा छन्द में श्री दुलारेलाल भार्गव लिखित 'दुलारे-दोहावली' व्रजभाषा के वर्तमान साहित्य की सर्वोत्तम कृति मानी गयी है और इस रचना को सर्वप्रथम 'देव पुरस्कार' प्राप्त होने का गौरव भी प्राप्त है। मुक्तक काव्य और व्रजभाषा की कोमल-कान्त-पदावली में लिखित इस दुलारे-दोहावली' में प्रधानता शृंगार-रस की ही है। कवि ने लौकिक अर्थात् नर-नारी सम्बन्धी तथा अलौकिक अर्थात् परमात्मा सम्बन्धी संयोग-वियोगात्मक वर्णन बड़े भावपूर्ण तथा चमत्कारिक ढंग से किये है। संयोग-शृंगार के वर्णन में कवि ने रति-भाव की सरस अनुभूति को ही प्रधानता दी है ।[3]

वियोग-शृंगार वर्णन में कवि ने भाव-व्यंजना, रस-व्यंजना तथा वस्तु-व्यंजना का आश्रय लिया है। भाव अत्यंत स्वाभाविक, मृदु तथा सरस हैं। विरह-वर्णन में

---

१. 'उन्नत ललाट नैन लोलनि कपोलनि पै,
अधर अमोलनि पै ललकि लुभान्यौ जात ।
ग्रीवा कल कंध भुजा उरज उतंगनि पै,
रोमराजीरंगनि पै लखि ललचान्यौ जात ।
त्रिवली तरंगनि के परत झकोर माँहि.
भौंर माँहि नाभी के निरंतर भुलान्यौ जात ।
कटि-तट जाइपै न पाइ कछु दाइ तहाँ,
हेरत ही हैरत सु मो मन हिरान्यौ जात ॥'—वही; ३७

२. 'हाय हमारो लाल लियौ इमि लूटि विधाता ।
अब काकौ मुख जोहि मोहि जीवै यह माता ॥'—हरिश्चन्द्र;-सर्ग ४ पद ४४

३. 'लेत-देत संदेस सब, सुनि न सकत कुछ कोय,
बिना तार को तार जनु, कियौ दृगन तुम दोय ।
....
हौं सखि सीसी आतसी, कहति साँच-सी-साँच ।
बिरह-आँच खाई इती, तऊ न आई आँच ॥'—दुलारे दोहावली ६२, १४५

अनेक स्थल पर बड़ी ही तीव्र चुटकियाँ ली गयी हैं।[1] साथ ही कई दोहों में बड़े अनूठे चित्र खींचे गये है। नायिका की चितवन तथा नेत्रों का वह सुन्दर वर्णन दर्श-नीय है जहाँ नयी शिकारिन नारी अपना चितवन-रूपी साद्य वस्तु को फेंककर मन-रूपी मछली को अपने जाल में फँसा लेती है और जहाँ नारी ने अपने नेत्रों को बिना तार-का-तार बना रखा है।[2]

'दोहावली' में लोक-परलोक सम्बन्धी विविध शृंगार के संयोग-वियोगात्मक वर्णनों में प्रेम की प्रधानता दिखलाकर अनुभावों का बड़ा ही कला पूर्ण चमत्कार प्रदर्शित किया गया है—कुछ दोहों में रूपक की छटा दर्शनीय है।[3] नायिकाओं के भेद भी दोहा जैसे छोटे-से छन्द में दिये गये हैं।[4] कवि ने मानुषी रूप के वर्णन में भी

१. 'कठिन विरह ऐसी करी, आवति जबै नगीच,
फिरि फिरि जाति दशा लखे कर दृग मीचति मीच ॥
....
जो वन-उपवन खिलि अली, लली लता मुरझाय,
ज्यों-ज्यों डूबे प्रेम-रस, त्यों-त्यों सूखत जाय ॥—वही; दोहा ४, १३०

२. 'नई सिकारिन-नारि, चितवन-बंसी फेंकि के,
चट घुंघट पट डारि, चंचल चित्र-झख लै चली।
....
लेत देत संदेस सब, सुनि न सकत कछु कोय,
बिना तार को तार जन, कियो दृगनु तुम दोय।'—वही; दोहा २४, ६२

३. 'चित-चकमक पै चोट दै चितवन-लोह चलाइ।
लगन-लाइ हिय-सूत में ललना गई लगाइ ॥'—वही; दोहा २६

४. 'कलहांतरिता—'नाह-नेह-नभ में अली, टारि रोस को राहु,
पिय-मुख-चन्द दिखाहु प्रिय, तित-कुमुदिनि विकसाहु।'—वही; दोहा १०

आगत-पतिका—'मुक्ता मुख अंसुआ भए, भयो लाग उर-प्यार,
बरुनि-सुईतें गूंथि दृग, देत हार उपहार।'—वही; दोहा ४२

प्रवत्स्यत्पतिका—'तन-उपवन सहिहै कहा, बिछुरन-झंझावात,
उड्यो जात उर-तरु जबैं चलिबै ही को बात।'—वही; दोहा ४२

फुलटा— 'लंक लचाइ, नचाई दृग, पग उँचाइ, भरि चाइ,
सिरु धरि गागरि, मगन, मग; नागरि नाचति जाइ ॥—वही; दोहा ४८

हृदय ग्राही सौंदर्य की सृष्टि एवम् भक्ति-शृंगार सम्बन्धी वर्णनों को अनूठे ढंग से प्रस्तुत कर[1] व्रज भाषा काव्य-चमत्कार-पद्धति का एक प्रकार से पुनरुद्धार किया है।

श्री वियोगी हरि—श्री दुलारे लाल जी भार्गव की 'दोहावली' की भाँति ही व्रजभाषा के अन्य सफल कवि श्री 'वियोगी हरि' ने सात शतकों में 'वीर-सतसई' नाम से बिहारी के शृंगारिक दोहों के ऊपर व्यंग पूर्ण दोहों की रचना की है। कवि वीरपूजा भावना की प्रशंसा करता हुआ अतीत की वीरांगनाओं को भूल नहीं सका है। श्री आरसी प्रसाद सिंह की वीरांगना जिस प्रकार अपने पुत्र, भ्राता और पति को सोत्साह रण-विदा देती है,[2] उसी प्रकार उनकी माता भी अपने पुत्र को शिक्षा देती है।[3] प्राचीन आर्य देवियों तथा वीरांगनाओं[4]

१. 'रमनी-रतननि हीर यह, यह साँचो ही सोर,
जेती दमकति देह-दुति, तेतौ हियो कठोर।'—वही; दोहा ६८.

२. 'माँ कहती बेटा रखना मेरे पय की लाज,
पड़ा भँवर में है स्वदेश का जर्जर जीर्ण जहाज।'

....

'वधुएँ कौन! अरे हाँ वे ही नव वधुएँ सुकुमार।
अपने ही हाथों से कर पतियों का रण शृंगार।'

....

'बाँध वृषभ कन्धों पर उन्नत अक्षय खर तूणीर
तन में कवच, मुकुट मस्तक पर, सजा समस्त शरीर
कहती, प्रियतम, निश्चय करना अरि गौरव-गढ़ चूर
चिता नहीं रहे या जाये मम सुहाग सिंदूर।'—संचिता (अग्रदूत)-श्री आरसी प्रसाद सिंह, पृ०; १७५

३. 'कह्यौ माय, मुख चूमिकें कर गहाय कर वाल।
जनि लजाइयौ दूध मो पयोधरनु कौ लाल॥
चूर-चूर ह्वै अन्त लौं रखियो कुल की लाज।
जननि दूध पितु-खड्ग की अहै परिच्छा आज॥'—वही; दूसरा शतक—दोहा ८७, ८८

४. 'अपने हीं बल आपनी राखन हारियाँ लाज।
धनि आरज कुल नारियां जग-नारिनु सिरताज॥

....

जुग जुग अकह-कहानियाँ कहिहै कवि कुल गाय।
धनि भारत-भट-नारियाँ, रह्यौ सुजसु चहुँ छाय॥'—वही; ७वां शतक—दोहा १५, १६

में पद्मिनी,[१] कर्मादेवी[२] वीरा (मेवाड़ के महाराणा उदय सिंह की उप पत्नी), पन्ना,[३] दुर्गावती,[४] चाँद बीबी,[५] को आप भूले नहीं हैं। मदोन्मत शत्रु की छाती पर सवार होकर कटार से उसका काम-तमाम करने वाली पंजाब की वीर क्षत्राणी नीलदेवी को भी आपने लाला भगवानदीन की भाँति ओजमयी कविता में स्मरण किया है।[६] इस प्रसंग में झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई को भी वे कैसे भूल सकते थे।[७] जहाँ कवि ने भारतीय वीरांगनाओं के शूर पराक्रम और त्याग पर अपनी लेखनी चलायी है, वहाँ समाज में पतिता और कुल-कलंकिनी मानी जाने वाली वेश्याओं[८] और बाल-विधवाओं की वर्तमान दशा पर भी चार-चार आँसू बहाये हैं।[९]

---

१. 'भई भस्म जहाँ पद्मिनी आरज धर्म समोय।
यज्ञ-अग्नि हूँ ते अधिक पावन पावक सोय॥'—वही; चौथा शतक–दोहा ४८

२. 'कुतुबुद्दीन-गज- गंजिनी, गहन ग्लानि हनि कोय।
जय कर्मा रण-सिंहनी-गृह-गृह जनमौ सोय॥—वही; दोहा १७

३. 'निज प्रियलाल कटाय जो प्रभु-सिसु लियौ बचाय।
क्यों न होय मेवाड़ में पूजित पन्ना धाय॥'—वही; दोहा २०

४. 'धन्य सती दुर्गावती करि गढ़ मण्डल राज।
रखी गोंखवानें तुहीं खड्ग-धर्म की लाज॥'—वही; दोहा २१

५. 'मुगलन पर झपटी मनो रण सिंहनी तजि माद।
अकबर मद मर्दन कियौ धनि, सुलताना चांद॥—वही; दोहा २४

६. 'या कटारि सुकुमारि कौ प्रथम चूमि मुख, खान।
तब नीला अधरानु कौ मधुरस कीजो पान॥'—वही; दोहा २५

....

७. 'भई प्रकटिकरण-कालिका गढ़ झाँसी परतच्छ।
सुभट संहारे लक्ष्मी, लच्छ-लच्छ करि लच्छ॥'—वही; ५वाँ शतक–दोहा ३२

८. 'हाट-बाट नित बैठि निज जोवन बेचन बारि।
कही जात या देस में आज 'मंगला' नारि॥—वही; छठा शतक–दोहा ८५

९. 'विधवा तरुण-तपस्विनी असि-व्रत-पालन हारि।
कही जाति या जाति में, हा! 'अमंगला' नारि॥

....

भलें सुधा सींचो तहाँ, फल न लागिहै कोय।
जहाँ बाल-विधवान को अश्रु-पात नित होय॥–वही; दोहा ८६, ८८

महाकवि नाथूराम 'शंकर' शर्मा—हरदुआगंज (अलीगढ़) के प्रखर-प्रतिभा के प्रखर-प्रतिभा सम्पन्न आशुकवि श्री 'शंकर' शर्मा द्विवेदी-युग के उन प्रतिभाशाली कवियों में से थे जिन्होंने अपना समस्त जीवन सरस्वती की आराधना और काव्य कला की पवित्र साधना में लगा दिया था। वे भारतेन्दु-युग की समस्यापूर्ति-परम्परा के भी एक दिग्गज कवि थे।[1] उन्होंने खड़ी-बोली में ब्रजभाषा की कला का प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया है।[2] उनकी रचनाओं के संग्रह 'शंकर-सर्वस्व' और 'अनुराग-रत्न' नाम से प्रकाशित हुए हैं। 'शंकर-सर्वस्व में भजनों, बारहमासा, कजली आदि के प्रयोग भी हैं तथा 'अनुराग-रत्न' में देश-वासियों को उपदेशात्मक ढंग से स्वरूप का यथार्थ बोध कराने का प्रयास है।

कवि 'शंकर' के काव्य में राजनीति, समाज और साहित्य एक होकर चलते दिखायी पड़ते हैं। उन्हें जाति,समाज और देश के उत्थान की चिन्ता सदैव रहती थी। इसी कारण उन्होंने विधवाओं, बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह के सम्बन्ध में कई स्थानों पर दुख प्रकट किया है।[3] भारत की मतिमन्द अनार्या नारी[4] और कर्कशा

1. 'खोल के नहावो नहीं चोली दिखरावो,
 जो न होय घर जावो, आओ काहे सतरात हो।
 सारी सरकावो अचरा में दुरावो,
 लाओ कंचुकी में कंदुक चुराये कहाँ जात हो ॥'—
 शंकर सर्वस्व—समस्या पूर्तियाँ पृ० ३०३
2. 'उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो,
 काम ने भी देखो दो कमानें ताक तानी हैं।
 शंकर की भारती के भावने भवन पर,
 मोह महाराज की पताका फहरानी है।'—कविता-कलाप (बसन्त सेना)
 श्री नाथूराम 'शंकर' शर्मा; पृ० १४
3. 'हाय ! बच्चियों पै रखते हैं, विधवापन का भार,
 धर्म-शत्रु हेकड़ पंचों के हटें न नीच विचार।
 ऐसी भूलों का सुधार ॥'—अनुराग रत्न; पृ० २१६
4. 'द्वार अविद्या का किया, जिस भारत ने बन्द।
 नारी उस देश की, अब ऐसी मतिमन्द ॥
 ....
 'चादर चढ़ाऊंगी बराही के चबूतरा पै,
 भोर उठ चूहड़े का झाड़ा लगवाऊंगी।
 टोना टलवाऊंगी गपोड़े मान शंकर के,
 जीजी इस लाला पै हरा न हकवाऊंगी ॥—वही; पृ० २३३

नारी का चित्र[1] भी दर्शनीय है। प्रवन्ध काव्य 'गर्भ रण्डा रहस्य' में कवि ने विधवा विवाह की समस्या पर प्रकाश डाला है। उन्होंने पौराणिक नारियों में अहिल्या, सीता, गौरी, इन्दिरा आदि तथा काव्य साहित्य की सुप्रसिद्ध नायिकाओं में कादम्बरी रम्भा, प्रियंवदा, वसन्त सेना आदि के सौन्दर्य चित्रण प्रस्तुत किये हैं। उनकी नारी-सौंदर्य एवम् वियोग सम्बन्धी कुछ रचनाएं बड़ी ही अनूठी बन पड़ी हैं। उनकी एक रूपगर्विता नायिका सखी को कह रही है कि हे सखी, क्या बताऊँ, आज वैरियों ने मेरे ऊपर बुरी तरह चढ़ाई कर दी है। चकोर मेरे मुख की ओर दौड़े चले आ रहे हैं। मोर बार-बार वेणी को पकड़कर झटकते हैं, चंचरीक नेत्रों पर मंडरा रहे हैं। हंसों ने उरोजों पर बैठकर मेरी मोतियों की माला तोड़नी शुरू कर दी है। कुछ समझ में नहीं आता, मैं अकेली अबला इतने प्रवल वैरियों से किस प्रकार आत्मरक्षा करूँ ?[2]

जहाँ उनकी एक रीतिकालीन नवोढ़ा-नायिका का चित्र दर्शनीय है,[3] वहाँ

---

१. कर्कशा : 'सास मरे ससुर पजरे इस, वाखर में पल को न रहूंगी,
सौति जिठानी छुटी ननदी अब, एक कहैगी तो लाख कहूंगी।
जेठ जलावा को मारूं पटा सुन, देवर की फबती न सहूंगी।
ले बस अन्त नहीं पिया शंकर, पीहर की कल गैल गहूंगी ।।

—वही; पृ० २३५

२. 'आनन की ओर चले आवत चकोर मोर,
दौर-दौर बार-बार बेंनी झटकत हैं।
....
आज इन वैरिन सों बन में बचावै कौन,
अबला अकेली में अनेक अटकत हैं ।।'
....
'मारे विरह वसन्त के विरही परे अचेत।
मृतक जानि 'शंकर' तिन्है ग्रीषम पावक देत ।। '—'रस रत्नाकर'

पृ० ८

३. 'बाल, युवा और वृद्ध को, सुधा, सुरा, विष देन,
काढ़े कंचन-कलश कुच रूपसिन्धु मिथ मैन।'
....
'मुंदे राखत दीठ त्यों खुले न राखत लाज,
पलक-कपाट दुहुन के पलपल साधत काज।'—शंकर सर्वस्व—

एक वियोगिनी-नायिका आह का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण भी बड़ा अनूठा है।[1] उनकी एक नायिका के सुन्दर नेत्रों के सम्मुख प्राकृतिक उपमान भी श्रीविहीन हो गये हैं।[2] उनकी एक मोहिनी नायिका की माँग का वर्णन प्रसिद्ध है।[3] कहा जाता है कि 'शंकरजी' ने 'कलित-कलेवर' काव्य-रचना में 'नखशिख' वर्णन भी किया था किन्तु वृद्धावस्था में स्वयं उन्होंने उसे नष्ट कर दिया, कारण कट्टर आर्य-समाजी और समाज सुधारक होने के नाते वे ऐसी शृंगार-रस-पूर्ण रचनाओं का समाज में प्रचार पसन्द नहीं करते थे। फिर भी 'कविता-कौमुदी' (भाग २) में उनके कुछ नख-शिख चित्रण दिये गये हैं जिनमें कविता का कलात्मक निखार रीतिकालीन परम्परा के ही अनुकूल है।

---

१. 'झारेंगे अंगारे ये तरनि, तारे, तारापति,
सारे व्योम-मंडल में आग मढ़ जायगी।
काहूं विधि, विधि की बनावट बचैगी नहिं।
जो पै वा वियोगिनि की आह कढ़ जायगी॥'—शंकर सर्वस्व

२. 'तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मंद मंद पड़ जायेंगे,
मीन बिन मारे मर जायेंगे सरोवर में,
डूब-डूब शंकर सरोज सड़ जायेंगे।
चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायेंगे।
बोलो इन अंखियों की होड़ करने को जब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायेंगे॥ ४३॥' —शंकर सर्वस्व-
पृ० १७६

३. 'कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि,
श्याम घनमंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिए में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की मांग है कि,
ढाल पर खांडा कामदेव का दुधारा है॥'—

श्री अनूप शर्मा—'द्विवेदी युग' के एक अन्य सहयोगी-कवि श्री अनूप शर्मा ने शृंगार-रस प्रधान 'सिद्धार्थ' महाकाव्य की रचना की थी। इस काव्य की नायिका सर्वगुण सम्पन्न यशोधरा (गोपा) है। यशोधरा अलौकिक सुन्दरी है, तभी तो शाक्य कुमार सिद्धार्थ का मन उसे देखकर ठगा-सा रह जाता है।[1] विवाह के अवसर पर भी जयमाल पहनाने के लिए आतुर यशोधरा के रूप[2] और विवाह के पश्चात् मस्तक के सिंदूर और मांग[3] की छटा भी अनूठी है। यशोधरा अपने वैवाहिक जीवन में अत्यन्त विनीता और सेवाभावी पत्नी है।

सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के अवसर पर भी कवि प्रासाद के शयन-कक्ष में सोती हुई रमणियों के सौंदर्य का वर्णन करना नहीं भूला है।[4] यशोधरा के परमप्रिय सिद्धार्थ जब उसे सुप्तावस्था में छोड़कर चले जाते हैं तब रुदन से परिप्लावित लोचना गोपा की दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है।[5] उसकी व्यथा में सान्त्वना प्रदान करने यहां भी (श्री हरिऔध के 'प्रिय-प्रवास' की भाँति) नगर के अबाल वृद्ध

---

१. 'कुटिल भ्रू, युग लोचन वंक थे, पलक थे उसके नत शील से,
नयन-कोण विलास-विकास थे, कमल-युक्त दिवाकर-भास से।
कुटिल भौंह शरासन-सी लसी, बन गये युग लोचन व्याध से,—सिद्धार्थ;–सर्ग ५ पृ० ७२

२. 'विनोदिता यौवन-भार-गुंफिता, अनूप-अंगान-अनंग-अंचिता,
चली उगाती सित-कंज मार्ग में, वसन्त-लक्ष्मी सदृशा यशोधरा।'— वही;–सर्ग ६, पृ० ८४

३. 'द्विफाल वाली चिकुरालि-मध्यगा, यशोधरा की अति मंजु मांग थी,
प्रदीप्त हो कज्जल-कूट पै यथा, प्रदीप की सुप्त शिखा मनोरमा।'—वही; पृ० ८६

४. 'श्रीरंग-गेह-परिचालन-शील वाला, कै सो रहीं सकल भूपर उर्वशी-सी,
आसक्त नेत्र पड़ते जिस कामनी पै, रंभा-समान दिखला पड़ती वही है।'-वही; सर्ग १२ पृ० १६८

५. बिलख-बिलख गोपा विप्रयुक्ता कृशांगी,
निरखि-निरखि स्वामी-मार्ग को रो रही थी,
चिलक-चिलक रोये चूनरी के सितारे,
पर वपुष जलाने को न पर्याप्त वे थे।'—वही; पृ० १६८

नर-नारी आकार विलाप करते है और नारियाँ यशोधरा के मन्द-भाग्य पर अत्यन्त दुःख प्रकट करती हैं।[१]

पति-वियोग में बैठी यशोधरा का वियोगी-रूप अत्यन्त प्रभावोत्पादक और सजीव है। उसके इस रूप में नारी की विवशता और हाहाकार ही प्रकट होता है। वह बेचारी अन्य वियोगिनी की भाँति सरोज-कलिका, सुमन, वृक्ष, भ्रमर, बादल तथा रोहिणी-नदी के समक्ष अपना दुःख प्रकट करती है और फिर हंस से अपना विरह संदेश पहुँचाने का निवेदन करती है।

इस हंस-सन्देश में हमें सहसा दमयन्ती के सन्देश महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' और हरिऔधजी के 'प्रिय-प्रवास' की राधा का स्मरण हो उठता है। अपने प्रियतम के लिए दिन-रात व्याकुल रहने वाली यशोधरा को अब कोई कामना नहीं, वह तो केवल पति के चरणों का स्पर्श और उनके भव्य रूप का दर्शन-मात्र चाहती है—तभी तो प्रभु उसे दर्शन देते हैं और वह उनके चरणों में सिसकती गिर पड़ती है।[२] अन्त में भगवान के आगमन और उनके दर्शन पाकर यशोधरा विशुद्ध संन्यासिनी बन जाती है।[३]

यशोधरा के चरित्र के अतिरिक्त माता के रूप में महारानी माया भी उपस्थित होती है। जान पड़ता है कि काव्यकार ने सिद्धार्थ के अलौकिक जन्म की सार्थकता स्पष्ट करने के लिए ही इस पात्र की रचना की है किन्तु हमें माता के मनोभावों की सच्ची झांकी यहाँ देखने को नहीं मिलती। माया के साथ ही इस ग्रन्थ में हमें एक स्वधर्मपरायण नारी सुजाता के भी दर्शन होते हैं जो सुगेहिनी, सुलोचना, रूपवती, दयामयी, कलावती, पति-मोद-दायिनी और गुणान्विता है।[४]

पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र—मध्यप्रदेश के सुप्रसिद्ध राजनेता एवं साहित्यिक के सुन्दर महाकाव्य 'कृष्णायन' से पूर्व के प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित किन्हीं विशेष प्रसंगों को अपने काव्य का विषय बनाया था किन्तु मिश्र जी ने अपने इस बृहद महाकाव्य में सर्वप्रथम कृष्ण की परिणय-लीलाओं को ही अपनी इस रचना का मुख्य विषय बनाया है। महाभारत और श्रीमद् भागवत पर आधारित

---

१. 'सारी नारी कथन करतीं दुःख से दग्ध होके,
'हा हा ! गोपा नवल रमणी मन्द-भाग्या बड़ी ही।'—वही; पृ० २००

२. 'सिसकती' पति, आर्य' पुकारती गिर पड़ी प्रभु के पद- पद्म पै।—वही; १७, २८२

३. ,शुद्धा ब्रह्म-स्वरूपिणी सुगत की सर्वांगिनी हो गई।'—वही; १८, २६१

४. वही; सर्ग १४, पृ० २०६

इस महाकाव्य में शृंगार-रस के संयोग पक्ष का प्राधान्य है। नारी-चित्रण की दृष्टि से प्रथम काण्ड में गोपी-प्रणय तथा राधा-कृष्ण-प्रणय का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया गया है। राधा को प्रथम बार देखने पर कवि ने कृष्ण के मन में क्षीर सागर की पूर्व स्मृति जाग्रत कर राधा को 'परकीया' होने से बचा लिया है। फिर कृष्ण उसका नाम, पिता तथा गांव का नाम पूछने बैठते हैं[1] और राधा भी शीघ्र अपना परिचय दे डालती है। इस प्रथम भेंट के पश्चात् ही राधा वियोग से बेहाल होने लगती है, माता के मना करने पर भी दोहनी लेकर घर से निकल पड़ती है, कृष्ण के साथ गोदोहन करती है, कभी कृष्ण के साथ खेलती है और कभी रासलीला में कृष्ण से जा मिलती है। कृष्ण भी राधा के प्रेम में विभोर हैं। दूध दुहते हुए भी राधा के सुन्दर मुख की ओर निरन्तर देखते हुए सुख का अनुभव करते हैं।[2] वे राधिका को साथ खेलने बुलवाते हैं (आयेउ साँझ खरिक संग खेलन) और उसके साथ कुन्ज-भवन में जाकर रासलीला की शोभा बढ़ाते हैं।[3] चीर-हरण लीला के उपरान्त कृष्ण उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ सुन्दरी राधिका दही मथ रही है। इस निरन्तर मिलन के कारण अब राधा-माधव में कोई अन्तर नहीं रहा है—

'राधा माधव मिलन अनूपा।
हरि राधा, राधा हरि रूपा॥'—और स्वयं कृष्ण भी यही कहते हैं कि उनमें और राधा में कोई भेद नहीं है—'हम दोउ एक, नाहिं कछु भेदा।
कहत सकल निगमागम बेदा॥'—तथा 'एकहिं मैं अरु राधिका, द्वैत भाव भव भ्रान्ति'। अतएव कृष्ण और राधा एक प्राण और दो देह के रूप में ही है। कृष्णायन की राधिका के हमें तीन रूप—बाल सखि-रूप, प्रेमिका-रूप और प्रेम-साधिका रूप-दिखलायी पड़ते हैं।

---

१. 'एक दिवस खेलत ब्रज खोरी, देखी श्याम राधिका भोरी।
जनु कछु क्षीर सिन्धु सुधि आई। औचक मोहित भये कन्हाई॥
पूछत श्याम—'काह तुवनामा। को तुव पिता, कवन तुव ग्रामा।'—कृष्णायन—अवतरण कांड; पृ० ५४
भक्त कवि सूरदास का वर्णन भी इसी प्रकार का है—
'बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहत काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।'—पद; ६७२
२. वही; पृ० ७२
३. 'राधा माधव मध्य विराजे।
छवि विलोकि रति मन्मय लाजे॥—वही; पृ० ८६

प्रथम (अवतरण) काण्ड में मिश्र जी ने 'चीर-हरण लीला' के रहस्य को यह कहकर स्पष्ट किया है कि जल में वरुण का निवास है, अतः उसमें नारी का नग्न स्नान करना अनुचित है। इसी काण्ड में कृष्ण की वेणु का नाद सुनने पर गोपियों की विचित्र दशा का भी मार्मिक चित्रण कवि ने किया है।[1] द्रौपदी के पंच-पतित्व को भी कवि ने पूर्व जन्म की घटना का प्रभाव माना है।

'कृष्णायन' में राधा के चरित्र के अतिरिक्त सुन्दरी गर्विता नारी सत्यभामा, कृष्ण प्रेमिका पत्नी रुक्मिणी,[2] अवन्तिका प्रवास के समय से ही कृष्ण पर अनुरक्त रहने वाली पूर्वानुरागिका हरि प्रेमिका मित्रबिंदा, जाम्बवती के चरित्रों का कृष्ण के शौर्य-दर्शन तथा व्यक्तित्व के विकास के हेतु अच्छा चित्रण हुआ है। इन नागरिकों के चरित्र में हमें नारी-हृदय की आकुलता, दुर्बलता और उदार प्रेमिका का सच्चा रूप दिखलायी पड़ता है।

महाकाव्य में कालिन्दी के चरित्र की सृष्टि प्रेम-साधिका कृष्ण-प्रिया के रूप में की गयी है। प्रेम वियोगिनी तापस बाला प्रेममयी पत्नी के रूप में बदल जाती है। पाण्डव पत्नी पांचाल सुता द्रौपदी के अनुपम सौन्दर्य का चित्रण कर कवि ने उसे एक आदर्श वधू, आदर्श नारी और स्वाभिमान युक्त चतुर नारी के रूप में चित्रित किया है।[3] पांडव-माता कुन्ती नैसर्गिक प्रेम और कष्ट सहिष्णुता की प्रतीक के रूप में वर्णित की गयी है। सुभद्रा कृष्ण की भगिनी, अर्जुन की पत्नी और अभिमन्यु की माता है। उसे कवि ने वीरजा, वीर पति-गृहिणी, वीर-जननी और वीरद्वय-भगिनी के रूप में चित्रित किया है।[4] वात्सल्य-हृदया माता यशोदा का चित्रण सूर सागर की यशोदा की भांति किया गया है। बालक कृष्ण के प्रति उसका मातृ स्नेह अपार है। वह कृष्ण को बहलाती है, खिलाती है और कृष्ण के मथुरा जाने पर अत्यन्त दुखी होकर विलाप करती है[5] वह चाहती है कि राजा चाहे उससे सर्वस्व ले लेवें, किन्तु उसके श्याम को अवश्य लौटा देवें।[6] माता यशोदा के कथन 'सर्वस लेय देय इक

१. 'गोपिन गति किमि कहहुँ बखानी, बारि-बूंद जनु सिंधु समानी।
भयी बाम निमिषहि महं बौरी, कीन्हि मनहुँ कछु वेणु ठगौरी।'—वही; पृ० ८६

२. वही—मथुराकाण्ड; पृ० १६८

३. वही; पृ० २६६

४. वही; पृ० ७०६

५. 'विलपति मातु, न लखि परत, व्यथा-वारिनिधि-कूल।
ढरकि कपोलन अश्रु जल, भिजवत देह दुकूल।'—वही; पृ० ११३

६. सर्वस लेय देय इक श्यामू।
जननी-जीवन व्रज-सुख-धामू॥—वही; पृ० ११२

श्याम' में माता की ममता और वेदना का कैसा अनन्त स्रोत फूट पड़ा है। जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ की रचना करते समय कवि के मस्तिष्क में तुलसी और सूर की पंक्तियाँ निरन्तर घूम रही थीं।

इन प्रमुख चरित्रों के चित्रण के साथ-ही-साथ मिश्र जी ने बाल-विवाह, बहु-विवाह, स्त्री-अपहरण आदि नारी विषयों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित कर नारी जगत की शालीनता एवं उच्चाशयता पर अपने विचार बड़ी सफलतापूर्वक व्यक्त किये हैं। 'अवतरण-खण्ड' में जहाँ वसुदेव जी द्वारा नारी-वध को सबसे जघन्य पाप बतलाया गया है,[1] वहीं दूसरी ओर 'आरोहण काण्ड' में भीष्म द्वारा नारी की निन्दा भी करायी है।[2]

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त— श्रद्धेय श्री मैथिलीशरण जी का हमारे देश के सर्वाधिक लोकप्रिय कवियों में शीर्षस्थ स्थान है। उनकी रचनाओं में हमें मानवीय आदर्श, गृहस्थ की महिमा, भारतीय संस्कृति के आख्याता एवम् लोक-संग्रहात्मक पक्ष के व्याख्याता के दर्शन होते हैं। उन्होंने हिन्दू समाज के पारिवारिक जीवन का जहाँ सफल चित्रण किया है, वहाँ उपेक्षिता नारियों के चरित्र को भी अपने काव्य का विषय बना कर नारी समाज के प्रति पूर्ण उदारता दिखायी है। यही कारण है कि उनके काव्य में चित्रित उर्मिला और कैकेयी (साकेत महाकाव्य), यशोधरा (यशोधरा), विधृता (द्वापर), उत्तरा (जयद्रथ-वध), शकुन्तला (शकुन्तला), हिडिम्बा (हिडिम्बा), सैरन्ध्री (सैरन्ध्री), मीनलदे और रानकदे (सिद्धराज), द्रौपदी (जय भारत), कुन्ती (बक-संहार) और विष्णुप्रिया (विष्णुप्रिया) आदि नारियों के चरित्रों में नारी का त्याग, तप, बलिदान और रूप, करुणा एवं दैन्य की प्रज्वलित अग्नि में शुद्ध होकर निखरा है।

महाकवि रवीन्द्र के 'काव्येर उपेक्षिता' एवम् आचार्य द्विवेदी जी के 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' लेखों से अत्यधिक प्रभावित होकर ही गुप्त जी ने उर्मिला की करुणा को साकार रूप प्रदान करने तथा उसकी मूक-वेदना को मुखरित करने के पुनीत उद्देश्य से 'साकेत' जैसे महाकाव्य की रचना की। इस महाकाव्य में साकेत लोक की अनिंद्य सुन्दरी उर्मिला के चरित्र के दो चित्र हैं—विरहिणी रमणी (वधू) और कल्याणी नारी (देवी) का—एक में उसकी पार्थिव अभिव्यक्ति है और दूसरे में अपार्थिव।

---

१. 'पातक जदपि नाथ, जग नाना।
अबला-बध सम पाप न आना॥—वही—अवतरण खण्ड; पृ० १८

२. 'मृगया, द्यूत, मद्य अरु नारी।
समय सुयश धन बल अपहारी॥'—वही; अरोहण काण्ड पृ० २०२

संयोग-वर्णन—'साकेत' महाकाव्य की यवनिका उठते ही हमें दाम्पत्य-सुख में अवगाहन करते हुए युगल दम्पति के दर्शन होते हैं। यहाँ कवि ने शृंगार-रस के प्रेम-संवाद, शिष्ट परिहास एवम् सौन्दर्य-चित्रण आदि विविध उपकरणों को सुन्दर अभि-व्यक्ति प्रदान की है। उर्मिला के रूप-वर्णन[1] और उर्मिला-लक्ष्मण के दाम्पत्य प्रेम का भी कवि ने बडी ही सरसता और सतर्कता के साथ किया है उसका रूप—अत्यन्त मनोहारि है।[2] जब चौदह वर्ष की दीर्घ अवधि के पश्चात् उर्मिला-लक्ष्मण का पुनः मिलन होता है तब उर्मिला के हृदय में अनेक भावों का तूफान उमड़ पड़ता है। उसकी सखी द्वारा शृंगार करने की बात पर वह एक मार्मिक बात कहकर[3] शीघ्र ही वह अपने प्रिय के चरणों में पड़ती है[4] और तब विरह का पारावार एक साथ ही सुख-ही सुख की तरंगों से आलोड़ित हो उठता है।

वियोग-वर्णन—वियोग-वर्णन कवि-हृदय की सरसता, कोमलता एवम् प्रतिभा की वास्तविक कसोटी है। विरहावस्था में ही हृदय में वे भाव-तरंगें उठती हैं जिनका सुन्दर चित्रण वे ही कुशल-कलाकार कर सकते हैं जिनके हृदय में जीवन की सच्ची अनुभूति तथा भूत मात्र-व्यापी सहानुभूति होती है।

'साकेत' एक नायिका-प्रधान काव्य है। उर्मिला एक प्रोषित-पतिका नायिका है। चौदह वर्ष की लम्बी अवधि-शिला का गुरु-भार उस बाला-वियोगिनी के उर पर है और उसे वह तिलतिल करके अपने दृग-जल से काटने का प्रयास करती है और

---

१. 'यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई, आप विधि के हाथ से ढाली गई।
   देखती है जब जिधर यह सुन्दरी, दमकती है दामिनी-सी द्युति-भरी।'—
   'साकेत'–प्रथम सर्ग; पृ० २७, २८

   ....

२. साकेत–सर्ग-१; पृ० ३०, ३६

३. 'हाय! सखी शृंगार? मुझे अब भी सोहेंगे?
   क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे?

   ....

   नहीं, नहीं, प्राणेश मुझी से छले न जावें,
   जैसी हूं मैं, नाथ, मुझे वैसा ही पावें।'–वही–द्वादश सर्ग; पृ० ४६५

४. 'देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी?
   पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।
   लेकर मानो विश्व-विरह उस अन्तःपुर में,
   समा रहे थे एक-दूसरे के वे उर में॥'—वही; पृ० ४६७

अपने मानस-मन्दिर में पति की स्थापना कर स्वयं दीप आरती बनकर जलती है।[1] कभी वह दुःख के भार को हल्का करने के लिए समस्त समदुखिनी प्रोषित-पतिकाओं को निमन्त्रण दिलाना चाहती है तो कभी भावी जीवन की उजियाली की आशा में दिन काटती है। उसे अपने प्रियतम की पद-रज धोने के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं है। प्रियतम के पा जाने पर वह उनके चरणों की रज में ही रम जाना चाहती है।[2]

भाव-प्रबलता के कारण विरहनी उर्मिला कभी उन्मत्तता का अनुभव करती है, कभी हृदय में धैर्य का संचार करती है, कभी भूतकाल में अनुभूत किये गये संयोग-सुख की स्मृति में लीन हो जाती है, कभी अपनी तत्कालीन विरह-पीड़ा से अभिभूत हो उठती है। वह कभी उन्माद की अवस्था में जड़-चेतन का भेद भूलकर पशु-पक्षी, वृक्ष-वल्लरी, पत्र-पुष्प सब के सम्मुख अपना दुखड़ा प्रकट करती है। उसे प्रकृति की शोभा में भी अपने प्रियतम के अंग-प्रत्यंग के दर्शन होते हैं। उसकी मनोदशा इतनी विस्तृत रूप धारण कर लेती है कि मक्खी और मकड़ी तक उसके अन्तर्गत आ जाती हैं। निस्सन्देह इस रुदन्ती विरहिणी ने रुदन रस के लेप से समस्त सचराचर सृष्टि को सरस बना दिया है। 'साकेत' के पूर्व जो हिन्दी महाकाव्य लिखे गये हैं, उनमें नायिका द्वारा इतना प्रत्यक्ष विरह-निवेदन शायद ही कहीं कराया गया हो। यह विरह-निवेदन बहुत कुछ संस्कृत-साहित्य की परम्परा पर ही आधारित है। अन्तर केवल इतना है कि संस्कृत काव्यों में अधिकतर जो कार्य विरही-नायक द्वारा कराया गया है, वह 'साकेत' में उर्मिला कर रही है।

'साकेत' महाकाव्य में उर्मिला का कल्याणकारी रूप भी हमें दिखलायी पड़ता है। यद्यपि उर्मिला विरह-भावना के कारण निरन्तर मानसिक अशान्ति का अनुभव करती रहती है, तथापि वह अपने संयोग-सुख की इच्छा की अपेक्षा पति के कर्तव्य-पालन को अधिक महत्व प्रदान करती है। अपने कल्याणकारी रूप में वह शासक

---

१. 'मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप।
आँखों में प्रिय मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग।'-वही; नवम सर्ग-पृ० २६७, ६८

२. 'मुझे और कुछ नहीं चाहिए पद-रज धोऊँ।'
....
'अब जो प्रियतम को पाऊँ।
तो इच्छा है, उन चरणों की रज में आप रमाऊँ।'–वही; पृ० ३२३

बनने की इच्छुक न रहकर सेवा की प्यासी है।[1] वह पतिव्रत-धर्म की चिर-पुजारिन है। अपने पति के सम्बन्ध में शक्ति के आघात से संज्ञा हीन हो जाने की बात सुनकर वह सेना नायक के रूप में लंकापुरी की ओर जाने को तैयार हो जाती है, इससे उसका वीर-क्षत्राणी रूप भी हमें देखने को मिलता है। इस प्रकार गुप्त जी ने उर्मिला के रूप में अपनी नारी-विषयक समस्त उदारता का अंकन करने का प्रयास किया है और इसी कारण उर्मिला का चरित्र सीता से भी श्रेष्ठ है—'सीता ने अपना भाग लिया, पर इसने वह भी त्याग दिया'। साकेत में राम, सीता, दशरथ, कैकेयी, कौशल्या, माण्डवी, भरत और लक्ष्मण सभी उसके गौरव की प्रशंसा करते हैं।

'साकेत' के अन्य नारी-पात्रों में कैकेयी, सीता, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति आदि हैं। कैकेयी यद्यपि रामायण की कथा की सूत्र धारिणी है तथापि उसके चरित्र का समुचित संचार नहीं हो पाया था और सम्भवतः इसी त्रुटि के निवारण का प्रयत्न 'साकेत' में किया गया है। 'साकेत' की कैकेयी 'रामचरित-मानस' की कैकेयी से सर्वथा भिन्न है। गुप्त जी ने उसके सत् एवम् असत् दोनों रूपों का चित्रण किया है। दासी मन्थरा के इन शब्दों—'भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उसे जो गेह' की प्रतिध्वनि उसे सब दिशाओं से सुनायी पड़ती है। इसी कारण वह अपना सर्व रूप परित्याग कर कठोर-हृदया बन जाती है और महाराज दशरथ से दो वर (तापस वेश विशेष उदासी, चौदह वर्ष राम वनवासी) मांग लेती है किन्तु अपने इस असत् रूप का प्रायश्चित उसे स्वयं भोगना पड़ता है। वह जन्म-भर पश्चाताप और अनुताप की अग्नि में जलती रहती है।[2] और उसी पश्चाताप में गुप्त जी ने नारी की समस्त महानता का दिग्दर्शन कराया है। कैकेयी का अनुताप इस सीमा तक पहुँच गया है कि वह एक पागल की भाँति प्रलाप करने लगती है।[3] कैकेयी का यह

---

१. 'अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी,
मैं शासन की नहीं आज सेवा की प्यासी।'—वही; द्वादश सर्ग-पृ० ४६६

२. 'थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके।
जो कोई कुछ कह सके, कहे, क्यों चूके ?

छीने न मातृ-पद किन्तु भरत का मुझसे,
हे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?
कहते आते थे यह अभी नर-देही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही'

अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,
'है पुत्र पुत्र ही रहे कुमाता माता।'—'साकेत'-अष्टम सर्ग; पृ० २४६

३. 'युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'—साकेत-अष्टम सर्ग; पृ० २४८, ४६

पश्चाताप मात्र उसका न रहकर ऐसी समस्त नारी जाति का हो गया है जो क्षणिक मति-भ्रम से महान अनर्थ कर जाती है किन्तु बाद में जीवन-भर पश्चाताप की भीषण ज्वाला में झुलसती रही।

नारी-रूप में कैकेयी का चित्रण सहनशील नारी के रूप में हुआ है। वह पति के कटु वाक्य, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के अपशब्द तो सहन कर लेती है किन्तु भरत के तिरस्कृत शब्द सुनकर उसका हृदय भी टूट जाता है, उसका बल नष्ट हो जाता है। उसका मातृ-गर्व पानी-पानी हो जाता है और उन्मादिनी-सी हो जाती है।[1] अन्त में करुणा की मूर्ति कैकेयी अपना अपराध स्वीकार करते हुए बड़े मार्मिक शब्दों में अपने हृदय को खोलकर रख देती है।[2]

उर्मिला और कैकेयी के चित्रण के अतिरिक्त राघव-प्रिया जनकात्मजा सीता को गुप्तजी ने चित्रकूट में लाकर उनके हाथों में तकली और चरखा के साथ-साथ खुरपी और कुदाली भी दी है जिससे वे स्वावलम्बी बनने के साथ ही समाज की एक साधारण नारी बनी रहे। साथ ही, सीता के आदर्शमय जीवन की सुन्दर झाँकी भी हमें यहाँ देखने को मिलती है। वन-गमन के समय रामचन्द्र के बार-बार समझाने पर भी सीता साथ चलने के लिए हठ करती हैं और बतलाती हैं कि नारी के सहयोग और सहयोग बिना पुरुष के सभी कार्य अधूरे ही रहते हैं।[3]

चित्रकूट में पर्णकुटी के वृक्षों को सींचती हुई सीता के निरूपम सौन्दर्य की झाँकी भी बड़ी मनोहारी है।[4] पति के साथ रहती सीता द्वारा भारतीय नारी के

---

१. 'साकेत-एक अध्ययन'—डॉ० नगेन्द्र; पृ० ४७

२. 'हां जनकर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुनलें तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूं तात, तुम्हारी मैया।'—वही; अष्टम सर्ग पृ० २४७

३. 'मेरी यही महामति है—
पति ही पत्नी की गति है।'—वही; चतुर्थ सर्ग पृ० ११६, ११६

४. 'अंचल पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे।
....
'क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते
पद-पद्मों में मंजीर मराल मचलते।
रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती,
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती।' वही; अष्टम सर्ग; पृ० २२०-२१

लिए प्रसन्नता और सन्तोष का सन्देश भी प्राप्त हो रहा है। गुप्तजी ने मांडवी की सुन्दर बिन्दी, चन्द्रमा से भी अधिक उसके सुन्दर मुख, हाथ की चूड़ियों एवं पीताम्बर से सुशोभित शरीर का हृदयस्पर्शी चित्रण किया है।[1]

'यशोधरा' चम्पू-काव्य में भक्ति-भावना को प्रश्रय देने के साथ-ही-साथ नारी के चरित्र को उभारना तथा उसके विविध रूपों का विभिन्न परिस्थितियों में सूक्ष्म-निरूपण करना गुप्तजी का ध्येय रहा है। उन्होंने काव्य की नायिका 'यशोधरा' को पत्नी, माता, विदुषी तथा विरहिणी जैसे भिन्न-भिन्न रूपों में चित्रित किया है। सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) की पत्नी यशोधरा यद्यपि विरहिणी है किन्तु वह अपने दुःख को स्वयं तक ही सीमित रखना चाहती है। विरह की अग्नि ने उसे तपा-तपाकर स्वाभिमानिनी बना डाला है। वह सच्चे अर्थ में एक आर्य-ललना है।[2] वह अपने पति के मार्ग की बाधा बनना नहीं चाहती किन्तु बार-बार यह विचार कर वह दुखी अवश्य होती है कि उसके प्राणेश्वर ने उसे अपनी सिद्धि में बाधा-स्वरूप और एक अयोग्य स्त्री समझा तथा उन्होंने अपने निश्चय की उसे सूचना तक न दी।[3] यशोधरा की यह कसक अन्त तक बनी रहती है। यशोधरा पति-अनुरक्ति में ही नारी की सच्ची मुक्ति मानती है और नारीत्व का त्यागकर मुक्ति पाना उसे पसन्द नहीं—(है नारीत्व मुक्ति में भी तो ओ वैराग्य-विहारी) यदि भगवान मुक्ति-नारी—को ही प्राप्त करने घर से बाहर गये हैं तब तो अन्त में नारी की ही विजय है।

किन्तु जहाँ एक ओर यशोधरा अपने पति की सफलता के लिए इच्छुक है, वहीं दूसरी ओर वेदना के क्षणों में उसका नारी-रूप भी निखर उठा है। विरह-वेदना के अत्यधिक उद्वेग से वह उन्मत्त-सी हो उठी है। उसको अपने मस्तक के बाल भी सर्प की भाँति जान पड़ते हैं (जाओ मेरे सिर के बाल)—गौतम के विरह से उद्विग्न यशोधरा प्रतिपल मरणोन्मुख हो रही है और उसकी काया जल-जल कर भी किसी प्रकार जीवित है ('जिये जल जल कर काया री')—उन्मादिनी यशोधरा मृत्यु का आवाहन ही श्रेयस्कर मानने लगी है ('मरण सुन्दर बन आया री')।

---

१. साकेत—सर्ग ११; पृ० ३६१

२. 'जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी,
चेरी ही मैं, बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।'—वही; पृ० ३८

३. 'सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?'—वही; पृ० २४

पति के दूर चले जाने पर नारी का एकमात्र सम्बल और आधार होता है उसका प्यारा पुत्र। यशोधरा नारी-जीवन के इसी सत्य को 'मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल सा लाल' कहकर अपने छौने राहुल से मन बहलाती है। वह अपने जननी पद के उत्तरदायित्व का संकेत करते हुए कहती है यदि वह मरना भी चाहे तो वह अधिकार उसे प्राप्त नहीं है।[1] वह अपने भाग्य को कोसती हुई अपने उत्तर-दायित्व का निर्वाह 'आंचल में दूध और आंखों में पानी भरे'[2] करती रहती है जो अबला जीवन की एक शाश्वत कहानी बन गयी है। जाया के रूप में भारत की ललना प्रायः नेत्रों से अश्रु बूंदे टपकाकर ही अपना दुःख दर्द प्रकट करती है तथा जननी रूप में वह अपने रस से शिशु को परिपुष्ट करती है।

यशोधरा मन और शरीर दोनों से दया की साक्षात मूर्ति है और आत्मसम्मान भी उसमें कम नहीं, तभी तो स्वयं बुद्ध को उसके समीप जा यह कहना पड़ा कि नारी किसी भी दिशा में हीन नहीं है।[3] नारी पुरुष के मार्ग का विघ्न नहीं है अपितु वह नर के उच्चादर्श की प्राप्ति के लिए एक सहायिका है। उपेक्षिता, मनस्विनी, क्षत्राणी, ममतामयी माता और कुलवधू यशोधरा का जीवन यद्यपि विरह-रूपी अंध-कार से पूर्णतया आच्छादित है तथापि उसे विश्वास है कि उसके राम एक दिन अवश्य आवेंगे। और उसका यह दृढ़-विश्वास एक दिन सत्य सिद्ध हुआ। मानिनी नारी के आत्मगौरव की रक्षा हेतु स्वयं भगवान बुद्ध आये। राहुल-जननी यशोधरा प्रभु में एकात्म हो गई, उसके नयन बरबस बरस पड़े और उसने अपने सूने संसार के एकमात्र आश्रय राहुल को श्रीचरणों में अर्पित कर दिया।[4] अन्त में भगवान ने यशोधरा का मान रख विश्व को नारीत्व का सन्देश दिया।[5]

---

१. 'स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार।
छोड़ गये मुझपर अपने, उस राहुल का सब भार।'—वही; पृ० ४०

१. अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आंचल में है दूध और आंखों में पानी।'—वही; पृ० ४७

३. 'दीन न हो गोपे, सुनो हीन नहीं नारी कभी।
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से।
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृ-जाति ने ही खीर से।'—वही; पृ० १४६

४. 'मेरे दुख में भरा विश्वसुख, क्यों न भरूं फिर मैं हामी,
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामि॥'—वही; पृ० १४७

५. 'बतलाऊं मैं क्या अधिक तुम्हें तुम्हारा कर्म,
पाला है तुमने जिसे, वही वधू का धर्म।—वही; पृ० १४६

इस प्रकार युग-युग से पीड़ित नारी-जाति का प्रतिनिधित्व करती हुई विरहिणी एव स्वाभिमानिनी यशोधरा के रूप में कवि ने नारी-भावनाओं का सुन्दर समन्वय किया है नारी-हृदय की कारुण्य-धारा में वहते हुए इस वियोगिनी अवला के पत्नी तथा मातृ-रूप की द्वन्द्वमयी अभिव्यक्ति में वह स्वयं भी अपने को भूल वैठा है।

गुप्तजी के काव्य-ग्रन्थों में नारी की सुधार-भावना भी प्रमुख रूप से प्रस्फुटित हुई है। समाज में स्त्रियों की दुर्दशा देखकर वे क्षुब्ध हुए हैं और उन्हें सामाजिक बंधनों में जकड़ा हुआ पाकर उन्होंने पुरुष के प्रति अपनी खीझ प्रकट की है।[1] नारी के प्रति पुरुष का अविश्वासी दृष्टिकोण भी गुप्तजी को असह्य है। अविश्वास के मूल में नारी के प्रति पुरुष की दोषान्वेषी वृत्ति कार्य करती रहती है। (अविश्वास हा ! अविश्वास ही, नारी के प्रति नर का'।) गुप्तजी की मध्यकालीन नारी में आदर्श आवश्यकता से अधिक है। कवि ने, जो गृहस्थ को पृथ्वी-तल का सबसे ऊँचा स्तूप समझते हैं, नारी पर गृहस्थ की सारी मान-मर्यादा का भार लाद दिया है। इसलिए नारी सव कुछ सहकर भी अपने अश्रुसलिल से कुल के समस्त कलंक को धो डालती है और उसके मन में केवल यही वात आती है कि चलो कोई वात नहीं, वह अपने भी तो हैं, 'वे सर्वस्व हमारे भी हैं यही ध्यान में लाती है'।

स्व० गुप्तजी स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती रहे और नारी की विभिन्न बुराइयों का कारण वे शिक्षा का अभाव वताते रहे। उन्हें 'कुल नारियाँ अविद्या की मूर्ति-सी' दृष्टिगोचर होती हैं। पति के शिक्षित और स्त्री के अशिक्षित रहने से दाम्पत्य जीवन निर्विघ्न नहीं चलता, स्त्रियाँ कलह-कुशल हो गयी हैं। वे गन्दे गीतों में रुचि रखती हैं, पति से भी अधिक आभूषणों से प्रेम करती हैं। किन्तु इन सवका उत्तरदायित्व नारी पर नहीं, पुरुष पर है जो उन्हें अशिक्षित रखते हैं।[2] मनुस्मृति के 'यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' के अनुसार उन्होंने भी कहा है कि हमसे हमारी सिद्धियाँ आज इसीलिए दूर होती जा रही हैं क्योंकि हम नारियों का यथा उचित सम्मान

---

१. 'नर कृत शास्त्रों के सव वन्धन, हैं नारी ही को लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएं पहले ही कर वैठे नर।'—पंचवटी (१९९१);
पृ० ३३

२. 'क्या दोष उनका किन्तु जो उनमें गुणों की है कमी।
हा ! क्या करें वे जवकि उनको मूर्ख रखते हैं हमी॥' 'भारत-भारती'—वर्तमान
खंड; पृ० १३६

नहीं कर रहे हैं।[१] कवि वर्तमान-कविता में नारी के शृंगार वर्णन पर आक्षेप करते हुए कवियों को कुरुचि छोड़ने का परामर्श देता है।[२] कवियों को इस प्रकार सम्बोधित करने के पश्चात् वह हमारी भारतीय नारी को आद्याशक्ति और सद्धर्म की मूर्ति बतलाते हुए नारी की वर्तमान अवस्था पर दुःख प्रकट करता है।[3]

गुप्त जी की एक पत्नी व्रत और पतिव्रत धर्म में अचल निष्ठा है। तभी तो उन्होंने अपनी रचनाओं में इस सम्बन्ध में सुन्दर भाव व्यक्त किये हैं[४] और 'जयद्रथ-वध' खण्ड-काव्य में नारी के महान पतिव्रत धर्म के सम्बन्ध में कुररी-सदृश सकरुण गिरा द्वारा उन्होंने उत्तरा के मुख से बड़े सुन्दर वचन कहलाये हैं।[५]

---

१. भागे न क्यों हमसे भला फिर दूर सारी सिद्धियाँ।
पाती स्त्रियाँ आदर जहाँ रहतीं वहाँ सब ऋद्धियाँ।'—वही; पृ० १३६
....
नर ही अपराधी होता है, निरपराध है नारी।'—जयभारत; पृ० २१५

२. 'करते रहोगे पिष्टपेषण और कब तक कविवरो,
कच, कुच, कटाक्षों पर अहो। अब तो न जीते जी मरो।'—वही; भविष्यत-खंड पृ० ६२

३. 'नरजाति की जननी तथा शुभ शांति की स्रोतस्वती,
हा देव! नारी जाति की कैसी यहाँ है दुर्गती॥'—वही; वर्तमान खंड-पृ० २२८
....
हमने स्वयं पशुवृत्ति का साधना बना डाला उन्हें।
संतान जनने मात्र को वस्त्रान्न दे पाला उन्हें॥'—वही; पृ० २४०

४. क. 'यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना।'—साकेत (२००५)-पृ० ३२५
ख. 'विमुख हुई मौनव्रत लेकर उस काल के प्रति पतिव्रता।'—वही; पृ० २८६
ग. 'यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार भय भारी।'—यशोधरा (२००७)-पृ० ३८
घ. 'सतियाँ पति को नहीं कोसतीं परित्यक्त भी होकर।'—शकुन्तला (२०११) पृ० ३१
ङ. 'सतियाँ पति के लिए सभी कुछ कर सकती हैं।'—जय-भारत; (२००६) पृ० २३४

५. क. 'कुछ राजपाट न चाहिये, पाऊँ न क्यों मैं त्रास हो,
हे उत्तरा के धन! रहो तुम उत्तरा के पास हो।'—जयद्रथ-वध सर्ग; १
ख. 'तज दो भले ही तुम मुझे, मैं तज नहीं सकती तुम्हें,
वह थल कहाँ पर है जहाँ, मैं भज नहीं सकती तुम्हें,
है विदित मुझको वन्हिपथ, त्रैलोक्य में तुम हो कहीं,
हम नारियों को पति बिना, गति दूसरी होती नहीं॥'—वही; सर्ग २

'शकुन्तला' खण्ड-काव्य में गुप्त जी ने वन में पालित आश्रम-कन्या शकुन्तला के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए उसे दिव्य लोक की नारी के रूप में चित्रित किया है।[1] शकुन्तला जल का घट लेकर मुनि आश्रम को लौट रही है, उस समय कवि की दृष्टि उसके सुन्दर केश-जाल पर पड़ती है।[2] और शकुन्तला के ये वचन नारी के अपूर्व क्षमादान पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं।[3]

गुप्त जी ने अपनी 'सिद्धराज' रचना में मध्य कालीन वीरों की एक झलक प्रस्तुत करते हुए मीनलदे तथा रानकदे नामक दो स्त्री-पात्रों का सफल चित्रण किया है। सिद्धराज जयसिंह की मातुश्री मीनलदे एक साध्वी स्त्री है। वह माता है, अतः उसका ममत्व अपरिचितों के समक्ष भी उछल पड़ता है।[4] रुग्ण शैया पर लेटी उसे पौत्र की अभिलाषा उसके मातृ-हृदय की दुहाई देती हैं।[5] दूसरा नारी-पात्र रानकदे वस्तुतः एक श्लाघनीय नारी-पात्र है। उसे धर्म में आरम्भ से ही रुचि है।

कवि ने 'जय भारत' खण्ड-काव्य में महाभारत की सबसे रोमांचक घटना 'द्रोपदी-चीर-हरण' के वर्णन में बड़े ही कौशल से काम लिया है। यहाँ द्रौपदी भगवान की शरण में जाने के साथ-साथ अपने आत्म-बल द्वारा दुश्शासन के मन में भय भी उत्पन्न करती है।[6] द्रौपदी-चीर-हरण को घटना की ओर भी विश्वसनीय बनाने के

---

१. 'फूलों के गहने पहने वह विपिन-वासिनी सुकुमारी
उतरी थी भूतल पर मानों दिव्य-लोक की नव-नारी ॥'—शकुन्तला; पृ० ९

२. 'घट-वहन से स्कन्ध नत थे और करतल लाल,
उठ रहा था श्वास गति से वक्ष देश विशाल।
श्रवण-पुष्प-परिग्रही था स्वेद-सीकर-जाल,
एक कर से थी सँभाले मुक्त-काले बाल।'—वही; पृ० २०

३. 'पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर,
शकुन्तला ने कहा क्षमा का रूप धर,
उठो नाथ ! वह कुछ न तुम्हारा दोष था,
मुझ पर ही अज्ञात देव का रोष था।'—वही; पृ० ४८

४. 'किन्तु यदि सच्ची तुम पुत्रवती माता हो,
तो मनाओ मेरा पुत्र पावे पुत्र वैसा ही।'—सिद्धराज

५. 'तुझ-सा सपूत पाया और मुझे पाना क्या ?
किन्तु पुत्र पाकर भी पौत्र यहाँ चाहिए।'—वही

६. 'रे नर, आगे नरक-वन्हि में तू निज मुख की लाली देख,
पीछे खड़ी, पंचमुख शिव पर नग्न करालो काली देख।'—'भारत-भारती'; पृ० १३८

फिर कवि इस पाप सभा में गांधारी को भी उपस्थित करता है। वह अपनी व्यथा बड़े ही मार्मिक शब्दों में प्रकट करती है।[1]

पिछले पृष्ठों में हम यह संकेत कर आये हैं कि गुप्त जी ने 'साकेत' एवं 'यशोधरा' काव्य का निर्माण उपेक्षिता नारियों की सहानुभूति तथा उनके हृदय में विद्यमान वियोग जन्य भावों के प्रकाशन के लिए किया था। 'द्वापर' की रचना भी एक उपेक्षिता, प्रपीड़ित एवम् निरादृत नारी 'विधृता' की करुण-कथा है। इस काव्य में पति के सम्मुख इस देह का त्याग कर आत्मा के द्वारा कृष्ण से जा मिलने वाली 'विधृता' की आत्मा उसके पति को धिक्कारती है। नर का नारी के प्रति अविश्वास और पति की ऊपरी चाटुकारिता पर व्यंग कसती हुई विवाह के पश्चात् नारी की स्वतन्त्रता किस सीमा तक मानी जावे, इस गम्भीर समस्या को वह समाज के सम्मुख उपस्थित करती है।[2] गुप्त जी के इस काव्य की नायिका राधा में लज्जा, प्रेम के के प्रदर्शन में आवरण का काम करती है। नारी जीवन की सम्पूर्ण कथा इसी में निहित है। उनकी राधा अपने सारे कर्म कृष्ण को अर्पित कर देती है।[3] उसकी तृप्ति प्रेम में है। उस प्रेम में एक निष्ठा है जो चिर-विरह में भी आशा का दीप जलाए, प्रेम की ज्वाला को जागृत रखती है। वियोग तो जैसे नारी को जन्म-जात अधिकार के रूप में मिला है किन्तु भारतीय नारी उसे ईश्वरीय दान समझ कर ग्रहण करती है। इस अवस्था में नारी-जीवन एक साधना का जीवन हो जाता है। प्रिय

---

१. भाई से पितृ-कुल, पुत्रों से पतिकुल मेरा नष्ट हुआ,
अन्तर्यामी को ही अवगत, मुझको कैसा कष्ट हुआ।
....
हाय, लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई लक्षित क्या,
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या ?'—वही; पृ० १३६

२. 'एक नहीं दो-दो मात्रायें नर से भारी नारी।
हा अबला, आ अरी अनादर अविश्वास की मारी।
मर तो सकती है अभागिनी कर न सके कुछ नारी।
अधिकारों के दुरुपयोग का कौन यहाँ अधिकारी ?
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्द्धांगिनी तुम्हारी ?—द्वापर; पृ० २३
....

३. 'शरण एक तेरी मैं आई धरे रहें सब काम हरे।
तुझको एक तुझी को अर्पित राधा के सब काम हरे।'—द्वापर; (राधा) पृ० ३

की इच्छाओं को अपने में लीन करके, मिलन की मादक आकांक्षा को भूलकर वह असीम धैर्य और दृढ़ता का परिचय देती। गुप्त जी की दृष्टि में नारी का रूप पुरुष के लिए अनिवार्य अंग है, उसके बिना पुरुष अधूरा रहता है।[1] आज के युग की प्रबल माँग-जन सेवा की पूर्ति भी तब तक नहीं हो सकती, जब तक सहधर्मिणी न हो[2] और सच्ची सहधर्मिणी पाकर ही पुरुष आश्वस्त होकर बैठ सकता है। 'द्वापर' में यशोदा और देवकी मातृ-हृदय की तथा राधा, कुब्जा एवं गोपिकाएँ प्रणय पूर्ण युवती-हृदय के व्यंजक हैं। विधृता नारी-जागरण की, देवकी बन्धन-मुक्त भारत-माता की और यशोदा वीर-प्रसविनी जननी की प्रतीक है।[3]

राष्ट्रकवि गुप्त जी ने श्री चैतन्य महाप्रभु की गृहिणी विष्णु प्रिया पर भी एक खण्ड-काव्य की रचना की है। यह नायिका-प्रधान काव्य है और इसमें कवि का उद्देश्य चैतन्य महाप्रभु की पत्नी 'विष्णुप्रिया' के प्रेम, वियोग, तप, त्याग और सेवा-निष्ठा का मानवतावादी चित्रण करना है। नायिका विष्णुप्रिया के प्रेम की आत्माभिव्यक्ति एवम् अन्तर्व्यथा का सुन्दर वर्णन भी यहाँ प्राप्त होता है। विवाह के पश्चात् जब गौर हरि अपनी माता से पितरों का श्राद्ध करने के लिए गया जाने की आज्ञा लेकर अपनी प्रिया से भेंट करने आते हैं उस समय नव-दम्पत्ति का वार्तालाप बड़ा ही स्वाभाविक बन पड़ा है।[4] विष्णुप्रिया तथा ससुराल से लौटी उसकी एक सखी ने कन्याओं के भावी वर तथा सुख की बात को इस रचना में भाग्याधीन ही माना है।[5] विष्णु प्रिया का प्रेम भी आरम्भ से ही त्याग निष्ठ है, भोग मय नहीं।

---

१. 'हूँ मैं आधा अंग तुम्हारा, मेरे बिना कभी कुछ काम,
कर सकते तुम नहीं कहीं पर, सच कहती हूँ हे छविधाम।'—नल-नरेश; सर्ग १२ पृ० २०९

२. 'मुझे है इष्ट जन सेवा सदा सच्ची भुवन सेवा।
न होगी पूर्ण वह तब तक, न हो सहधर्मिणी जब तक।'—अनघ; पृ० ९१

३. 'साहित्य-सन्देश'—सितम्बर, १९६६—द्वापर एक मूल्यांकन; पृ० १८०

४. 'मां ने दी प्रिये, दो मुझे आज्ञा अब तुम भी।'
देखा हंस उसने परन्तु आंसू आने के
पहले ही निज मुख नीचा करके कहा—
'लोभिन हूँ, देना नहीं, लेना जानती हूँ मैं।'—'विष्णुप्रिया'; पृ० २१

५. 'बाप देख-सुन के ही बेटियों को देते हैं,
आगे भाग्य उनका, यही तो एक बात है।'—वही; पृ० २२

उनके पति ने जब एक दिन दक्षिणायन की यात्रा करने का निश्चय किया, तब पति के सम्बन्ध में अनेक भावी आशंकाओं के सम्बन्ध में विचार करती लता-सी कम्पित हो अपने प्रिय के चरणों में जा गिरती है और नारी जीवन की विडम्बना पर आँसू बहाती है। उसके तर्क पूर्ण किन्तु करुण शब्दों में नारी की युग-युग की पीड़ा उमड़ पड़ी है।[1] 'यशोधरा' की भाँति विष्णुप्रिया के प्रिय भी उसे रात्रि में अकेला सोता छोड़कर चले गये।[2] तब निराश हो वियोगिनी विष्णुप्रिया, उर्मिला और यशोधरा की भाँति निष्क्रिय न बनकर, अपनी सास शची मां के साथ श्रम करके अपना जीवन व्यतीत करते हुए[3] भारत की एक सच्ची आदर्श बहू की भाँति अपना शेष जीवन सास की सेवा में बिताने लगी।[4] जीवन के अन्तिम दिनों में इस भारतीय नारी ने एक मन्दिर बनवाकर बड़ी धूमधाम के साथ उसमें अपने पति की प्रतिमा

---

१. 'रो-रोकर मरना ही नारी लिखा लाई है।'
    ....
    सच कहती हूं कुछ और नहीं चाहती,
    देख सकूं दूर से ही प्रति दिन मैं तुम्हें।
    तुम मत त्यागो घर, मैं ही इसे त्याग दूं।
    मायके रहूंगी सदा, और कहाँ ठौर है ?
    गंगा स्नान करने को जब तुम जाओगे,
    नित्य आते-जाते तुम्हें देख लूंगी दूर से,
    मेरे त्याग में ही तो तुम्हारा त्याग पूरा है,
    यद्यपि तुम्हारे देव ऐसा नहीं करते।
    किसके शरण जाऊं आज मैं अभागिनी ?
    मेरे प्राण मांगलो, प्रयाण ही न मांगो यों।'—वही; पृ० ४१-४३

२. 'अबला के भय से भाग गये, वे उससे भी निर्बल निकले।
    नारी निकले तो असती है, नर यती कहाकर चल निकले।'—वही, पृ० ५७

३. 'दो-दो कौर अन्न पा लेंगी, और धोतियां चार,
    नारी, तेरा मूल्य यही तो, रखता है संसार।'—वही; पृ० ६६

४. 'लेती अवकाश न थी रात तक दुःखिनी,
    नित्य उलझाये रखती थी आप आपको,
    सास को सुलाके पैर दाब कर उनके,
    जाके लेट जाती किन्तु कौन कहे सोती थी।'—वही; पृ० ७३

प्रतिष्ठित की तथा कठोर व्रत-उपवास कर दिन-रात प्रभु-स्मरण में ही वह अपना समय व्यतीत करने लगी।[1]

इस प्रकार 'भारत-भारती' (१९१२) से लेकर 'विष्णु प्रिया' (१९५७) की रचना तक हम भागवत आदर्शों के प्रतीक तथा भारतीय जागरण के अग्रदूत कविवर गुप्तजी में नारीत्व के प्रति उच्च भावना को प्रमुख रूप में पाते हैं। भारतीय संस्कृति में अडिग आस्था रहने के कारण उन्होंने स्थान-स्थान पर नारी की गरिमा और त्याग की महत्ता को सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की हैं। उन्हें पुरुष और नारी में अधिकारी-अधिकृत का सम्बन्ध स्वीकार नहीं है। वे तो पुरुष और नारी दोनों को समान अधिकार प्रदान करने के पक्षपाती थे।[2]

उनके सभी सुपात्र एक-पत्नी-व्रत में एवं नारी-पात्र पातिव्रत-धर्म में अटल विश्वास रखते हैं। उनकी नारी गृह-लक्ष्मी, अवला और दुखियारी[3] होते हुए आवश्यकता पड़ने पर प्रवला भी वन सकती है।[4] इस प्रकार उनके पौराणिक नारियों के साथ-साथ परम्परायुक्त नारी-चित्रण में आधुनिक युग की छाप स्पष्ट दिखलाई देती है। वास्तव में गुप्तजी के व्यक्तित्व का निर्माण धर्म, साहित्य, संस्कृति, कला और मानवता के पंचतत्वों से हुआ था। अतएव उनकी कुशल तूलिका द्वारा चित्रित आदर्श नारी प्रतिमाएँ भारतीय ही नहीं किन्तु विश्व-काव्य की अनुपम कृतियाँ हैं।

---

१. 'प्रति दिन मंत्र श्लोक जपती थी जितने,
गिनती के उतने ही धान्य-कण लेती थी।'—वही, पृ० १३५

२. 'आधे का अधिकार उचित ही उन्हें मिला है,
....
छोटों की मां, और वड़ों की वे वेटी हैं,
सम-वयस्कों की वहन, कहाँ किसकी चेटी हैं।'—राजा-प्रजा (प्रथम आवृत्ति); पृ० ३४

३. 'नर घर छोड़ निकल जाता है, नारी घुटती रहती,
लज्जा भय-विषाद की मारी, दुखियारी सव सहती।'—'सुभद्रा-वचन—'जय-भारत'; (२००९)पृ० ४२५

४. 'मैं अवला हूँ, किन्तु न अत्याचार सहूँगी,
तुम दानव के लिए चंडिका वनी रहूँगी।'—सैरन्ध्री-वचन—वही पृ० २५६
....
'मैं निज पति के संग गई थी असुर-समर में,
जाऊँगी अव पुत्र संग भी अरि-संगर में।'—'साकेत'—कैकयी; पृ० ३०१

ठाकुर गोपाल शरण सिंह—ठाकुर साहब इस युग के उन कवियों में अग्रणी माने जाते हैं जो प्राचीन भारतीय नारियों की सुशिक्षा, कुशलता आदि की तुलना में आधुनिक भारतीय नारी की दुर्गति देखकर क्षुब्ध हैं।[1] कवि ने नारी को मानवी माना है और वह उसमें अनेक सद्गुणों के भी दर्शन करता है। आदर की पात्र नारी का सामाजिक पद दलन उसे असह्य हो उठा है। नारी को देवी-रूप में देखने वाले और उसे समुचित आदर-सत्कार प्रदान करने वाले इस कवि ने वैवाहिक समस्याओं, विधवाओं के कष्टों, पर्दा-प्रथा के दुष्परिणामों तथा नारी के पतित माने जाने वाले रूप को एक मानवतावादी दृष्टिकोण से देखा है।

कवि की 'आधुनिक-व्रजबाला' के हृदय में विवाह के उपरान्त भी एक पूर्व-स्मृति वास करती है और उसके सस्मित अधरों पर विषाद की रेखा खिंची रहती है।[2] उस बेचारी को समाज के समक्ष अपने व्यक्तिगत भावों को प्रकट करने का भी अधिकार नहीं है।[3] उस उपेक्षिता से भी अधिक शोचनीय दशा अभागिनी विधवा की है जो किसी से भी अपने हृदय की व्यथा न कहकर सब-कुछ सहन करती रहती है।[4] कवि की सहानुभूति की पात्री केवल गृहस्थ में रहने वाली एक पीड़ित नारी

१. 'दमयन्ती की यही जन्म वसुधा है प्यारी,
हुई रुक्मिणी यहीं और गार्गी, गांधारी,
जनकसुता की कथा विश्व विश्रुत है न्यारी,
और कहां है हुई जगत में ऐसी नारी।
पर आज अविद्या-मूर्ति-सी हैं सभी श्रीमतियां यहाँ,
री सृष्टि अभागी देख ले उनकी दुर्गतियां यहाँ।'—'संचिता'–ठा० गोपालशरण सिंह पृ० १५६

....

'शोचनीय हालत हमारी स्त्रियों की सदा,
उर में हमारे और शोक उपजाती हैं।'—माधवी; पृ० ७५

२. 'पति की गोदी में लेटी तू किसे याद है करती,
सुमनों की सुख शय्या पर क्यों आह सदा है भरती।'—मानवी (व्रजबाला); पृ० २०

३. 'कह सकती भी न कभी कुछ तू है ऐसी दीवानी,
परवशता ही है तेरे जीवन की करुण कहानी।'—वही; पृ० २९

४. 'तू कभी नहीं कुछ कहती है, चुपचाप सभी कुछ सहती है।
जग में रसधारा बहती है, पर तू प्यासी ही रहती है॥'—वही (अभागिनी); पृ० ५९

ही नहीं किन्तु घृणा की दृष्टि से देखी जाने वाली वह नारी भी है जो नारीत्व का वलिदान कर समाज में अवांछित जीवन व्यतीत करती हैं। तभी कवि उस नारी के जीवन में करुणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाता। यद्यपि वह (नारी) औरों को अमृत पिलाकर स्वयं विष का घूंट पीती रहती है।[1] ('सुधा पिलाती है औरों, को पीकर स्वयं गरल के घूंट')—इसी प्रकार के वलिदान और त्याग को देखकर ही कवि 'देवदासी' के जीवन के प्रति भी अपनी कुण्ठा व्यक्त करता है। उसके नूपुरों के साथ उसका हृदय नृत्य में झूमता नहीं वरन् उसके वलिदान को देख रो रो उठता है।[2]

ठाकुर साहव ने नारी की करुण कथा को अनेक चित्रों में चित्रित किया है। सतयुग की शकुन्तला, त्रेता की सीता, द्वापर की राधा और कलियुग की अनारकली की कथा वर्णित कर उन्होंने नारी-समस्या को सरल ढङ्ग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।[3] जान पड़ता है कि इन देवियों के प्रति मनुष्य समाज द्वारा दिखायी गयी उपेक्षा या उन पर किये गये अन्यायों की वार्ता कवि के हृदय पर चोट कर गयी है और इसी कारण सीता के कथानक को लेकर कवि ने सुन्दर सामयिक संदेश[4] एवम् कामिनी की परिभाषा भी दे डाली है।[5]

श्री गुरुभक्त सिंह 'भक्त'—कविवर गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ' में हमें जहां मुगलकालीन ऐश्वर्य तथा संस्कृति की झाँकी देखने को मिलती है, वहाँ हमें नारी के विविध रूपों का अच्छा अध्ययन करने का भी अवसर प्राप्त होता है। कवि ने नूर-जहाँ के बाल-रूप का चित्रण प्रकृति के माध्यम से किया है।[6] इस बाल्यावस्था का

---

१. 'सब वतला क्या अपने मन में, रहती है तू कभी प्रसन्न,
तरुणी तेरे इस जीवन में, कितनी करुणा है प्रच्छन्न।'—वही—वीरांगना; पृ० ६६

२. 'तू ने ली है मोल दासता करके निज सर्वस्य प्रदान,
रो उठता है हृदय देखकर यह तेरा विचित्र वलिदान।'-'मानवी'-देवदासी; पृ. ३५

३. 'हिन्दुस्थानी' जनवरी, १९३८), पृ० १९३

४. 'भारत-लक्ष्मी वन्दीगृह में कब तक वन्द रहेगी ?
कब तक दुःसह दावानल में वह मृदुलता दहेगी ?'—'मानवी'—(सीता;' पृ० ४९

५. 'सार्थक किया है निज मंजु नाम कामिनी ने,
वनकर प्रेममयी देशहित कामिनी।'—संचिता (गजगामिनी); पृ० १७३

६ 'कैसी प्यारी यह कलिका है-नवजात वालिका सोई है।'
....
'हो गई निछावर इस छवि पर नभ की सब तारक मालाएं।'
....
'इस भूमंडल की मंदरी का यह कन्या सघर नगीना है।'—नूरजहाँ-सर्ग २:पृ० १७

यौवनावस्था में परिवर्तन भी बड़ा ही चित्ताकर्षक है।[1]

निर्दय पुरुष के अत्याचारों से त्राण पाने के लिए उन्होंने नारी में एक प्रकार की शक्ति के दर्शन किये हैं। तभी तो वह सूने में अकेली छेड़ी जाने पर बादशाह को भी क्रोधित होकर उत्तर देती है कि अत्याचारी भी नारी के हृदय पर विजय नहीं पा सकता।[2] कवि की नारी अपने अधिकार एवं कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट है, इसी कारण वह पति से मानवता का व्यवहार न पाकर अत्याचार के विरोध में चिल्ला उठती है[3] कवि की दृष्टि में नारी पति-परायणा है वह प्रियतम की दुनिया को ही अपनी दुनिया मान, उस पर तन-मन-धन न्योछावर करने को सदैव तत्पर रहती है। प्रेम-दीवानी होने के कारण वह विवाह के पश्चात अपना समस्त व्यक्तित्व और अपनी स्वतंत्रता खो बैठती है।[4]

कवि ने मेहर के साथ-साथ नारी के विकृत रूप के चित्रण में 'जमीला' को भी प्रस्तुत किया है।[5] वह प्रेम को एक खिलवाड़ समझ अपना उल्लू सीधा करने के लिए प्रेमी को बुलबुल बनाना चाहती है।[6] 'जमीला' के विरोध में 'मेहर' की पति परायणता एक उच्च स्थान प्राप्त कर लेती है। वह पति की रक्षा के लिए अपने प्रेमी को द्वार से बाहर निकालने के लिए विवश कर देती है और पति-धर्म के निर्वाह के लिए अपने प्रेमी को एक लम्बा-चौड़ा उपदेश दे डालती है जिससे उसके प्रेमी के कोमल हृदय पर एक गहरी चोट लगती है।[7] कवि की पति-परायण नारी का

---

१. 'शिशुता की निशा सिरानी उग आया यौवन-दिनकर।
छवि विलसित तन सरवर में दो सरसिज लसे मनोहर॥'—वही-सर्ग ३; पृ० २३

२. 'तू फिर भी समझ न पाया है हृदय अभी नारी का,
उस पर न विजय पा सकता छलबल अत्याचारी का।' नूरजहां-सर्ग ४; पृ० ३२

३. 'नहीं परस्पर प्रेम तथा सद्भाव पूर्ण है यदि व्यवहार,
तो निकाह क्या है अबलाओं के ठगने का है व्यापार,
अपना अपना धर्म अगर समझें दम्पति तो शादी है,
अथवा हृदयहीन सौदे में दोनों की बर्बादी है।'—वही-सर्ग ११; पृ० १७

४. 'सुख-दुख का कुछ ज्ञान न उसको वह तो प्रेम-दिवानी है।
प्रियतम के सुख-दुख को उसने सारी दुनिया मानी है।'—वही; पृ० ६०

५. 'यदि नाम जमीला है मेरा पानी में आग लगा दूंगी।'—वही—सर्ग ७; पृ० ५२

६. वही; सर्ग १४; पृ० १०७

७. 'रमणी क्या रहस्य है भगवन, समझूंगा घर जा कर।'—वही—सर्ग; पृ० ७०

विश्वास है कि पति का घर पत्नी के लिए सब-कुछ है। विवाह से पूर्व के प्रेमी के महलों से उसके पति की कुटिया लाख गुनी अच्छी है।

कवि ने अपने प्रबन्ध-काव्य 'विक्रमादित्य' में चन्द्रगुप्त की विवाहिता वीर पत्नी कुबेरनागा क्षत्रप की कन्या वीणा के चरित्र के अतिरिक्त प्रेम पुजारिन, वीरांगना, नीति-निपुण, धर्म-परायणा तथा काव्य की नायिका 'ध्रुवदेवी' का चरित्र भी बड़ी सफलता के साथ चित्रित किया है। जब ध्रुवदेवी द्वारा चन्द्रगुप्त को नवीन स्फूर्ति प्राप्त हुई और वह विश्वविजयी सम्राट घोषित किया गया तब उसके मुख से अनायास ही नारी के सम्बन्ध में बड़े सुन्दर भाव व्यक्त हुए—

तुम अमरलोक की देवी हो, मैं मानव, है कितना अन्तर।

....

पाने में तेरी गूढ़ थाह, नर अब तक बना अनाड़ी है।

श्री गुरुभक्त सिंह ने जहाँ 'नूरजहाँ' में रमणी के रूप और आकर्षण द्वारा उसे ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया है, वहाँ 'विक्रमादित्य' में नारी के विविध गुणों द्वारा उसे उच्चासन पर स्थापित करने का प्रयास किया है।

श्री सोहन लाल द्विवेदी—हिन्दी-साहित्य के 'आधुनिक-काल' के कवियों में श्री द्विवेदीजी का एक उच्च स्थान है। यथार्थवादी-कवि होते हुए भी उन्होंने कई आदर्श-परायण रचनाएं की हैं। 'भैरवी' की रचनाओं के पश्चात् उन्होंने 'वासवदत्ता' में युग-युग की भारतीय संस्कृति को सुन्दर ढंग से चित्रित करने और मानव के उज्ज्वल मनोभावों को उभारने का सफल प्रयास किया है। 'वासवदत्ता' में कवि ने (वासवदत्ता, उर्वशी, चूड़ावत की नव-विवाहता रानी, कुन्ती, महारानी तिष्यरक्षिता, भिक्षुकी और यशोधरा) के जो चित्र खींचे हैं, उनसे उनकी नारी-विषयक मान्यताओं की स्पष्ट झलक मिल जाती है।

उनकी 'वासवदत्ता' अपना आत्म सम्मान खोकर भी अपने उन्नत कुचों को आँचल से ढंकती और लज्जा के कारण सिकुड़ती-सी आत्म-समर्पण और यौवन अर्पित करने के लिए बिना किसी पूर्व परिचय के तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं करती[1]

---

१. 'अतिथि देव !

यौवन यह अर्पित पद पद्म में है,
इसको स्वीकार करो।
यह न तिरस्कार करो॥
यौवन यह, रूप यह, जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते, तपी तपते पंचाग्नि नित्य'—वासवदत्ता—पृ० ३

कवि ने यहाँ एक ऐसी नारी का चित्रण किया है जो पुरुष की ओर स्वतः आकर्षित होकर अपने यौवन और रूप का समर्पण थाल लेकर उसके सामने स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के दो बड़े-बड़े प्रश्न चिह्न लगाकर सदैव एक समस्या खड़ी कर देती है और पुरुष उससे ऊपर उठकर अपना आदर्श स्थापित करता है। नारी की इसी कमजोरी को हम उनकी उर्वशी में भी देखते हैं।[१] किन्तु जब पार्थ उसके प्रेम को अस्वीकार कर देता है तब उर्वशी उसे शीघ्र शाप दे डालती है।[२]

नारी के रूप के प्रति यही शाश्वत दुर्बलता उनके 'कुणाल' में भी व्यक्त हुई है। कुणाल की सौतेली माँ कुणाल के रूप और अभिनय पर मुग्ध होकर, अपने को सर्वथा भूलकर यौवनदान देने जाती है। कुणाल माता के इस व्यवहार पर आश्चर्य-चकित हो उठता है किन्तु वह डिगता नहीं है। तब माता का नारीत्व प्रतिशोध की आग से धधक उठता है और प्रसाद की 'प्रणयवंचिता-नारी' की भाँति वह भी बदला लेने की धमकी दे डालती है और अन्त में राज्यपाल को उस दोषी कुणाल के दोनों नेत्र निकालने का आदेश देती है।[३] इस प्रकार के चित्रण से कवि ने नारी के एक ऐसे भी वर्ग का चित्रण प्रस्तुत किया है जो अपने को वासना की कठपुतली बनाकर स्वयं पतित हो जाना चाहती है और तत्संबंधित को भी ले जाना चाहती है उसी पतन के गहन गह्वर में। किन्तु कवि की दृष्टि ऐसी भी नारी पर पड़ी है जो युद्ध-स्थल में पति के माया-मोह से देशभक्ति में आँच आते देखकर हँसते-हँसते अपने सिर को धड़ से अलग कर अनुचर के हाथ पति के पास भेजकर परिणय की सुहागरात में सो जाती है।[४] राष्ट्रवादी भावनाओं से ओतप्रोत कवि की यह नारी, पति के साथ स्वयं

---

१. 'रूप का हृदय का, यौवन का दान,
प्राण, इसे स्वीकार करो,
श्रेष्ठतम दान यह !
आज सीमन्त में भरो नव सिन्दूर !'—वही; उर्वशी—पृ० १५

२. 'अबला पर तूने किया है यह पदाघात !
कोमलतमा भावनाओं पर कठिनतम संघात,
नारीत्व पर तूने किया है प्रतिघात !
तो तू नराधम ! —वही; उर्वशी; पृ० १८

३. वही; कुणाल—पृ० ४५-४६

४. वही; सरदार चूड़ावत —पृ० २४-२५

भी देशव्रत लेकर पुरुष के साथ-साथ और बहिन बनकर स्वतंत्रता के संग्राम में भाई के साथ-साथ चलना चाहती है।[1]

आधुनिक काल में 'हल्दीघाटी' अमर काव्य के गायक श्री **श्यामनारायण** पाण्डेय ने वीर-करुण-रस-सिक्त अपने अद्वितीय महाकाव्य 'जौहर' में एक भारतीय सती नारी पद्मिनी का आदर्श भारतीय नारियों के सम्मुख रखा है। तथा 'अपनी संस्कृति', अपनी कुल मर्यादा और स्वाभिमान को देखने के लिए' इक्कीस चिनगारियों को प्रज्वलत किया है।

कवि प्रथम चिनगारी में रूपवती पद्मिनी के रूप, सौन्दर्य तथा कोमलता का चित्रण उपस्थित करता है।[2] बादशाह अलाउद्दीन के दरबारी भी इस परम पुनीता साध्वी के गुणों पर मुग्ध हैं और बादशाह को उस नारी की ओर से ध्यान हटा लेने का सानुरोध निवेदन करते हैं।[3] किन्तु बादशाह की हट के कारण महारानी पद्मिनी अत्यन्त व्याकुल हुई और तब वह सीता, दमयन्ती, सावित्री, राधा के सतीत्व का स्मरण कर अपने भाग्य को कोसती हुई[4] स्वयं महाकाली रूप

---

१. 'चल पड़ी बहन चल पड़े बंधु, चल पड़ी जननि, चल पड़े पुत्र,
पति चले, चली पत्नी उनकी, जुड़ गये स्नेह का सरस सूत्र।'
—भैरवी-दांडी यात्रा; पृ० ७२-७३

२. 'रानी की कोमलता पर, कोमलता ही बलिहारी थी।
छुईमुई-सी कुंभला जाती, वह इतनी सुकुमारी थी॥'—'जौहर'; प्रथम चिनगारी; पृ० ७

३ 'साध्वी परम-पुनीता है वह, रामचन्द्र की सीता है वह।
अधिक आपसे और कहूँ क्या, रामायण है, गीता है वह।
कूद आग में जल जायेगी, गिरि से गिरकर मर जायेगी।
मेरा कहना मान लीजिए, पर न हाथ में वह आयेगी॥'—वही; पांचवीं चिनगारी; पृ० ५०

४. 'हा विधना, हा क्यों मैंने; इतनी सुन्दरता पायी,
हा मेरे लिये बनी है, सुन्दरता ही दुखदायी।'
....
'कितनी अभागिनी मैं हूँ, मैं कुल की एक बला हूँ,
पति मुझसे मुक्त न होगा, क्या सचमुच मैं अबला हूँ?'—वही; सातवीं चिनगारी; पृ० ७०

धारण कर रणचण्डी बनने को प्रस्तुत होती है। अन्त में एक दिन वह भी आया जब उसे गढ़ के समस्त क्षत्रियों को केसरिया बाना धारण किरा, नंगी दुधारी तलवारें हाथ में दे शत्रु के साथ लड़ने को भेजना पड़ा और तब जौहर की चिता में जलने को नारियाँ तैयार हुईं।[1] महारानी सुन्दर सोलह शृंगार कर जब अपने महल से बाहर निकलीं तो महल के पशु-पक्षी भी विलाप करने लगे। रानी ने पिय की पलंगिया, महलिया, सेजरिया, मिलन की रतियाँ तथा प्रियतम के प्रेम से विदा माँगी और वह मंदिर की ओर चल पड़ी। फिर सती माता से करबद्ध प्रार्थना कर[2] वह चिता की अनल में कूद पड़ी। उसके साथ ही महल की अन्य नारियाँ, सखियाँ और दासियाँ भी जलकर भस्म हो गयीं[3] 'असमान टूटकर टपका नहीं, चाँद गिरा नहीं, पृथ्वी फटी नहीं, दुनिया घटी नहीं, किन्तु चित्तौड़ की वीर-नारियाँ जल कर राख हो गयीं। अपनी माँ-बहनों को इस प्रकार जलते देख राजपूतों की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगी और घायल सिंह की भाँति वे वैरी-दल पर टूट पड़े।' इस महाकाव्य की अन्तिम पंक्तियों में कवि कामना करता है कि भारतीय नारियों में पद्मनी के इस जौहर से पातिव्रत, साहस और अनुगमन की भावना जागृत हो और पुरुषों में पत्नी-व्रत का बल।[4]

आधुनिक काल के 'द्विवेदी-युग' के कुछ सुप्रसिद्ध कवियों की प्रमुख रचनाओं पर संक्षेप में विचार करने के पश्चात् हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी-कविता में जिस नवीन-चेतना का आविर्भाव भारतेन्दु-युगीन कवियों की रचनाओं में हुआ था, उसका वास्तविक परिपाक द्विवेदी-युगीन कवियों के काव्य में हुआ। हिन्दी-कविता शृंगार-वर्णन, नायिका भेद, नखशिख चित्रण और समस्यापूर्ति

---

१. वही—१४ वीं चिनगारी; पृ० १६३

२. 'नारी का उर ही नारी की व्यथा जान सकता है माँ।
नर का उर नारी उर की क्या कथा जान सकता है माँ।'—वही; १७ वीं चिनगारी; पृ० १०२

३. 'आग में कूदी अभागिन, प्रथम विधवाएं बिचारी।'
प्राणपति के सामने कूदीं चिता में प्राण-प्यारी।'—वही; १८ वीं चिनगारी; पृ० २१५

४. 'नर में पत्नीव्रत का बल हो, पातिव्रत बल नारी में।
जौहर की सतियों का साहस वृद्धा युवति कुमारी में।'—वही; २१वीं चिनगारी; पृ० २५०

के संकुचित क्षेत्र से हटकर अब पीड़ित एवं उपेक्षित मानव-समाज के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने लगी।

इस युग के प्रायः सभी कवियों ने प्रेम को एक पवित्र और उदात्त वृत्ति के रूप में ग्रहण किया। उनके पात्रों के प्रेम-वर्णन में हमें प्रेम के आरम्भ में आशा-निराशा की लहरें उठती और गिरती दिखलायी पड़ती हैं किन्तु अन्त में वह विरहाग्नि, वेदना और पीड़ाओं से शुद्ध होकर खरे कंचन-सा रूप धारण कर लेता है।

इस युग की सौन्दर्य-भावना 'रीति-शृंगार-युग' एवम् 'भारतेन्दु-युग' की सौंदर्य-भावना से अधिक सूक्ष्म है तथा कुछ कवियों में तो वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो गयी है।[1] नारी-सौंदर्य-चित्रण के लिये रीतिकालीन नख-शिख वर्णन की प्रथा इस युग के आदर्श तथा नवीन रुचि के कारण बहुत कुछ शिथिल पड़ गयी और समस्त सौंदर्य मुख्यतः भावना की ओर ही बहता दृष्टिगोचर होता है। कवियों का सौन्दर्य-वर्णन परम्परागत ही हुआ है, उसमें विशेष नवीनता दिखलायी नहीं पड़ती और सौन्दर्य के उपमान केश, मुख, नयन, भृकुटी, कपोल, अधर, दन्त, नाभि के लिये क्रमशः नाग, चन्द्रमा, कमल, मृग, धनुष, गुलाब, बिम्बाफल, मोती, नवल नीरज आदि ही प्रयुक्त हुए हैं। शरीर के अंग भी उन्हीं रूढ़ सौन्दर्य-गुणों-गुरु नितम्ब, क्षीण कटि, पीनकुच, जघन जंघा तट, गोल कपोल आदि-से युक्त हैं। साथ ही नारी-सौन्दर्य-चित्रण में इन कवियों ने वाह्य से अन्तर्मुख होकर अपनी कल्पना का प्रयोग अधिक स्वच्छन्दता के साथ किया है। प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति कुतूहल की भावना के साथ-साथ अब मानव-सौन्दर्य के प्रति भी कुतूहल की भावना जाग्रत होने लगी।

नारी-स्वातंत्र्य सम्बन्धी भावनाओं का विकास नवयुग की चेतना और मानवतावादी विचार धारा के विकास के साथ हुआ था, अब समानता की भावना भी दृढ़ हुई। प्रारम्भिक रूप में तो इन कवियों की कल्पना नारी को नर की सहधर्मिणी, गृह-लक्ष्मी, देश-सेविका के रूप में देखने में असमर्थ रही किन्तु आगे चलकर कवियों ने देश के समाज-सुधार आन्दोलन तथा राष्ट्रीय-आन्दोलन से प्रभावित हो नवीन प्रभावों को ग्रहण किया। ये कवि आर्य-नारी के प्रति आदर और श्रद्धा के भाव रखते थे, अतएव उन्होंने नारी को शक्ति-रूपा, संक्रान्ति काल में देश-स्वातंत्र्य की भावना से पूरित, दया, समाज-प्रेम, देश-प्रेम, विश्व-प्रेम आदि अनेक गुणों से युक्त पाया। इन

---

१. 'मरण सुन्दर वन आया री"—यशोधरा; पृ० ४४
'सुन्दरता यदि विधे, वासना उपजाती है,
तो कुल-ललना हाय, उसे फिर क्यों पाती है?'—सैरन्ध्री; पृ० १८

कवियों ने नारी की हीनावस्था का स्मरण कराकर उसे पुनः जाग्रत होने के लिये प्रेरित किया। नारीत्व के प्रति उच्च-भावना की अभिव्यक्ति प्रमुख रूप से चार कवियों-सर्वश्री श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त–द्वारा हुई है।

इस युग में नारी, काम-वासना की तृप्ति का साधन-मात्र नहीं रही, अपितु वह शुद्ध-प्रेम करने की केन्द्र बनी। वह प्रेम करना जानती है और उस पर वह स्वयं को उत्सर्ग भी कर सकती है क्योंकि प्रेम वही शुद्ध माना जाता है जिसमें आत्म-त्याग की भावना निहित होती है। भारतेन्दु-युग का प्रणय अथवा दाम्पत्य-प्रेम प्रायः रीति-कालीन ढांचे का ही अनुकरण था किन्तु अब पाश्चात्य नारी-जागरण से उत्पन्न परिष्कृत दृष्टिकोण एवं परिवर्तित नारी-भावना के फलस्वरूप इस प्रेम में एक क्रान्ति और निर्मलता आ गयी।

अधिक संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस युग के हिन्दी-कवियों ने अपनी नारी सम्बन्धी रचनाओं के द्वारा नारी में पुनः प्रेरणा, शक्ति और उच्चादर्श की स्थापना कर उसे 'रीतिकालीन घोर शृंगारिक वीथिकाओं के उबार कर सामाजिक आदर्शों और राष्ट्रीय मान्यताओं के विस्तृत राज मार्ग पर ला खड़ा कर दिया।' फलतः नारी, समाज और साहित्य में एक गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त करने लगी और उसका कार्य-क्षेत्र भी विस्तृत हो गया।

छायावाद-रहस्यवाद युग

प्रत्येक देश तथा जाति की मान्यताएँ राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों एवं परिवर्तित जीवन की परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप बदलती रहती हैं। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य का काल भी विश्व की व्यापक हल-चलों तथा घटनाओं का काल है। देश की विषम आर्थिक स्थिति, आमूल धार्मिक-क्रान्ति, देशोन्नति के लिये स्त्री शिक्षा का कार्यक्रम, शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी का प्राधान्य, रोमांसवादी पाश्चात्य विचारधारा तथा रवीन्द्र के आध्यात्मिक रहस्यवाद का प्रभाव हिन्दी काव्य-शैली पर भी पड़ा। कवियों ने अपनी व्यक्तिगत आशा-निराशा सुख-दुःख आदि जीवन-सुलभ मानवी भावनाओं को निर्भीक होकर वाणी देना आरम्भ कर दिया। द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता, स्थूल दृष्टि और साहित्यिक मान रूढ़ि-ग्रस्त हो गये और अब नवीन सूक्ष्म सौन्दर्य-दर्शिनी-दृष्टि का विकास हुआ। कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकता से मुख मोड़ स्वप्नों के संसार में विचरना आरम्भ किया और उनकी वृत्ति भी अन्तर्मुखी बन गयी डॉ० नगेन्द्र इसे 'अन्तर्मुखी भावनाओं का विस्फोट' मानते हैं। द्विवेदी-युग के कवियों की भाँति वे वस्तुओं का

यथातथ्य (Matter of Fact) चित्रांकन ही नहीं करते थे किन्तु प्रतिक्रिया स्वरूप अपने हृदय में उठने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म अवर्ण्य एवं अमूर्त भावनाओं के अंकन पर अधिक ध्यान देने लगे।[1] अतएव अब भावना प्रधान हो उठीं और विषय का चित्रण अस्पष्ट, धुंधला और छाया-सा।

श्रीमती महादेवी वर्मा के कथानुसार 'सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिये रो उठा। स्वच्छंद छन्द में चित्रित उस मानव अनुभूतियों का नाम 'छाया' उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।[2] अतः इस तृतीय उत्थान में जो परिवर्तन कविता के क्षेत्र में सम्मुख दिखलायी पड़े, उन्हें 'छायावाद' की संज्ञा प्रदान की गयी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिये। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है तथा दूसरा काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में। छाया-वाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।[3] आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी इस साहित्य (छायावाद) के मूल में आत्म-विश्वास को पाते हैं और इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के महान प्रयत्न का सामाजिक दर्शन प्रस्तुत करते हैं।[4] बाबू जयशंकर 'प्रसाद' ने छायावाद को भारतीय साहित्य परम्परा का विकास मानकर बतलाया कि छायावाद 'सौंदर्य की वह शाश्वत प्रवृत्ति है जो प्रथम महायुद्ध के बाद युगानुरूप भाषा-शैली एवं पदावली में अभिव्यक्त हुई है।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि छायावाद में एक सांस्कृतिक चेतना है। उस पर पाश्चात्य प्रभाव और मानवीय तथा सांस्कृतिक कारणों से उत्पन्न आध्यात्मिक अनुभूति की छाप है।[5] सुप्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा इसे मध्यम वर्ग की थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती-बन्धनों के प्रति विद्रोह, डॉ० देवराज पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक

---

१. 'शिल्पी'—श्री सुमित्रा नन्दन पंत; पृ० ३४
२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य; पृ० ५६, ६०
३. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—(पंचम संस्करण); पृ० ६६८
४. 'आधुनिक साहित्य'—पं० नन्द दुलारे वाजपेयी; पृ० २८६
५. 'हिन्दी साहित्य'-डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० ४६१, ६२

लौकिक चेतना का विद्रोह मानते हैं। हमारी दृष्टि में तो यह एक ऐसी काव्य धारा है जिसमें मानववाद के सिद्धान्तों तथा कला और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का लाक्षणिक शैली के माध्यम से प्रबल समर्थन किया गया है।

कहना यथार्थ होगा कि छायावाद की कविता ने प्रकृति के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। प्रकृति काव्य का प्रमुख विषय बनी और प्रकृति में चेतना का अनुभव कर उसमें आत्मा की अनुभूति करना ही 'छायावाद' कहलाया। छायावाद का मुख्य आलम्बन प्रकृति है। प्रकृति के प्रति कहीं विस्मय की भावना, कहीं शृंगार की भावना और कहीं करुणा की भावना अभिव्यक्त की गयी है। कवि कभी प्रकृति के कण-कण में किसी अव्यक्त असीम सत्ता की छाया देखकर आश्चर्य-पुलकित हो उठता है, तो कभी उसमें परोक्ष प्रियतम के प्रणय-सन्देश सुनने लगता है।

छायावाद तथा रहस्यवाद का यह विषय कई वर्षों तक हिन्दी के समीक्षक एवं विद्वानों के लिये एक समस्या बना रहा। किसी ने छायावाद को रहस्यवाद का पर्यावाची समझा और कुछ ने तो 'छायावाद का रहस्यवाद' की स्वतन्त्र कल्पना भी की। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में तो 'चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद'। वास्तव में भारतीय दर्शन का सर्ववाद ही नवीन शैली में व्यक्त होकर छायावाद-रहस्यवाद बन गया है। सुश्री महादेवी वर्मा और पं० गंगा प्रसाद पाण्डेय ने रहस्यवाद को छायावाद काव्य का दूसरा सोपान माना है। रहस्यवाद अन्तर की वह अस्पष्ट प्रेरणा अथवा अनुभूति है जो मानव को जगत के विविध द्वन्दों से ऊपर उठाकर एक चिर आनन्दमय लोक में ले जाने का प्रयत्न करती है। श्रद्धेय डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें दिव्य और आलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तब तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।'

रहस्यवाद को छायावाद का एक विशिष्ट अंग कहा जा सकता है। किन्तु आधुनिक रहस्यवाद की धारा प्राचीन रहस्यवाद की धारा से नितान्त भिन्न है। इन कवियों ने प्राचीन रहस्यवादी कवियों—कबीर, जायसी की तरह न तो 'नौ पौरी पर दशम दुआरा, ता पर बाजि रहा घरियारा' की बात सोची और न 'रमैया की दुलहन ने लूट बाजार' या 'बरसै कम्भर भीजै पानी' जैसी उलट-बांसियों का सहारा लिया। इनके रहस्य का विषय तो परोक्ष सत्ता के प्रति मिलन, विरह और आत्म-समर्पण को लौकिक उपमानों, प्रकृति तथा चेतन अनुभूतियों के माध्यम से व्यक्त करना मात्र है। आधुनिक-युग की कविताओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि रहस्य-

वाद एक भावना अथवा प्रवृत्ति है, इसका सम्बन्ध विषय और आन्तरिक भावना से है जबकि छायावाद का सम्बन्ध आन्तरिक भावना से अधिक नहीं है वरन् अभिव्यक्ति के ढंग से है।

छायावाद की नारी—छायावादी-काव्य मूलतः शृंगारी काव्य ही है यद्यपि रीति कालीन शृंगारिक अभिव्यक्ति और छायावादी अभिव्यक्ति में हम बड़ा अन्तर पाते हैं। रीतिकालीन सौन्दर्य केवल नारी का दैहिक-सौंदर्य है और वह सौंदर्य केवल भोग्य है। नारी के अनेक रूप सामने नहीं आये, केवल उसका भोग्य रूप ही इन कवियों की दृष्टि में आया। इस रूढ़िवादी-वृत्ति के कारण वे नारी के शरीर को भेद कर उसके अन्तर में झांक कर उसके हृदय में उभरने वाली अनेक सम्वेदनाओं, प्रतीतियों, दुख-दर्दों के स्तर को स्पष्ट न कर सकें। जबकि छायावादी कवियों की शृंगारिक अभिव्यक्ति अशरीरी एवं जिज्ञासा प्रधान है और कवि का दृष्टिकोण जिज्ञासात्मक एवं विस्मयात्मक है। डॉ० नगेन्द्र इसे 'अतीद्रिय शृंगार' कहते हैं और उनके मतानुसार यह दो रूपों में व्यक्त हुआ है—प्रकृति के प्रतीकों द्वारा, प्रकृति पर नारी-भाव के आरोप द्वारा तथा नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा, अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुये उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।[1] नारी का रूप ही छायावादी कवियों के शृंगार का अव्यय स्रोत है और उनकी नारी, सौन्दर्य की निर्झारिणी।[2]

छायावाद में वर्णित नारी की छवि कोई अस्थि-मांस से निर्मित मानवी की मूर्ति नहीं प्रतीत होती, वल्कि एक अपरूप माया के अवगुण्टन से लिपटी, लज्जावती लता-सी अपने आप में सिमटी-सकुची, कोई अदृश्य अस्पृश्य छाया-सी दृष्टिगोचर होती है, जो स्वयं कवि के हृदय में अनुभूति-मात्र-सी बनकर रह जाती है।[3] नारी को जितने अधिक पहलुओं में, जितने अधिक प्रकार से इस युग में चित्रित किया गया है,

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियां—डॉ० नगेन्द्र; पृ० ११

२. 'तुम्हारे रोम-रोम से नारि! मुझे है स्नेह अपार,
तुम्हारा मृदु उर ही सकुमार! मुझे है स्वर्गागार।
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान, मृदुल, दुर्बलता, ध्यान,
तुम्हारी पावनता, अभिमान, शक्ति, पूजन सम्मान।
....
तुम्हारी सेवा में अनजान, हृदय है मेरा अन्तर्धान।'—पल्लविनी-नारी रूप; पृ० ८०

३. 'अवन्तिका' मासिक (काव्यलोचनांक); पृ० २१३

सम्भवत: हिन्दी साहित्य के अन्य किसी भी युग में अथवा काल में नहीं किया गया। नारी का सौन्दर्य, नारी का आकर्षक रूप, नारी का प्रेयसी-रूप, नारी का पत्नी-रूप, नारी का संयोगात्मक-रूप, नारी का वियोगात्मक-रूप, नारी का ममता पूर्ण माता-रूप नारी का शक्ति मयी कल्याणी-रूप, नारी के असत् और अकल्याणकारी-रूप; जितने भी नारी के रूपों की कल्पना हो सकती थी, छायावादी कवि ने उन सवका चित्रण किया है। उसने अपने आस-पास के कण-कण में नारी का आरोप किया और उससे प्रेरणा ग्रहण करने का प्रयास किया। वह नारी के केन्द्रिक सौन्दर्य के प्रति भी आकर्षित हुआ और उस केन्द्रिकता में भी उसनें अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के स्पर्श से प्राण डाल दिये। द्विवेदी-साम्राज्य से वहिष्कृत नारी जो अव तक आँखों में सावन-भादों लिये जी रही थीं, वही छायावादी कवियों के हृदय की साम्राज्ञी वनी।[१]

श्रीजयशंकर 'प्रसाद'–छायावादी कविता में जहाँ स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना गया है, वहाँ यह भी मान लेना चाहिये कि छायावाद नारी की महत्ता को प्रतिष्ठापित करने का परोक्ष तथा अपरोक्ष प्रयास हैं और इस प्रयास के अगुआ हैं छायावाद के प्रतिष्ठापक श्री जयशंकर 'प्रसाद,' जिनका समस्त साहित्य नारी-मनोविज्ञान की कुन्जी है। प्रसाद जी प्रेम, यौवन, सौन्दर्य के साथ मूलत: नारी-आत्मा के कवि हैं। नारी के अन्तर्प्रदेश का जितना सजीव और संश्लिष्ट चित्रण उन्होंने किया है, वैसा इन पिछले चालीस-पचास वर्षों के काव्य में पाना कठिन है। नारी को अपने निरक्षेप महत्व में व्यक्त करना उनकी समस्त साहित्य-साधना का मूलभूत मन्तव्य प्रतीत होता है। उन्होंने वौद्ध-दर्शन, पुराण, सांख्य-साहित्य के आधार पर सृष्टि अथवा पुरुष के विकास मात्र में ही नारी का महत्व देखने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु उसे सम्पूर्ण जीवन की जड़-चेतन संचालिका शक्ति के रूप में चित्रित करना चाहा है। 'प्रसादजी नारी की दुरावस्था से क्षुब्ध थे। उन्होंने अधिकारविहीन, भविष्य हीन और दयनीय नारी को पुरुष की क्रूरता, अन्याय और अत्याचारों का शिकार वनते देखा था। नारी की यह शोचनीय स्थिति ही उनकी प्रतिक्रिया का कारण वनी और वे नारी स्वतन्त्रता के समर्थक तथा उसके अधिकारों के पक्षपाती वनकर साहित्यिक-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।'[२]

प्रसादजी की कामायनी केवल आदि पुरुष की कथा-मात्र नहीं किन्तु आदि-पुरुष से निःसृत होने वाले अक्षय जीवन-ज्योति का संचार करने वाली नारी मूर्ति

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता में चित्र-विधान–डॉ० रामयतनसिंह 'भ्रमर'; पृ० ६५
२. 'प्रसाद के नारी-चरित्र'— डॉ० देवेश ठाकुर; पृ० ३०५

श्रद्धा की करुण-गाथा है। उनके इस नारी चित्रण में हमें नारी का व्यक्तित्व पुरुष से अधिक तेजस्वी तथा जागृत दिखलायी पड़ता है। उनकी नारी भीरू तथा संकीर्ण हृदया नहीं है, वह तो पुरुष की कर्तव्यहीनता से उत्पन्न समस्याओं से सूझती है, उसमें सहिष्णुता और स्वाभिमान है तथा वह अनुरक्ति की प्रतिमूर्ति है।

प्रसादजी ने नारी के कोमल पक्ष को उभारने के लिए नारी का कठोर पक्ष भी चित्रित किया है। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने 'सुख का आलोचक है दुःख, पवित्रता की माप है मलीनता' कहकर कर दिया है। वे नारी के सौन्दर्य पर मुग्ध हुए हैं, रीझे हैं और उसके सौन्दर्य के उन्होंने गीत गाये हैं। उन्हें सौन्दर्य सलज्ज मौन का प्रतिनिधि लगता है तभी शायद उन्होंने 'चन्द्रगुप्त' में सौन्दर्य से प्रश्न किया है–

'हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों ?'––

कवि को यह सौंदर्य समस्त संसार के सौन्दर्य का मूल कारण प्रतीत होता है। उसका विश्वास है कि नारी का सौन्दर्य सूने पतझड़ में भी हरियाली ला देता है।[1] सौंदर्य के इस आकर्षण में भी कवि बाह्य सौंदर्य की ओर अधिक झुका है। उसने 'कानन-कुसुम' में रमणी हृदय के अथाह रूप को सिन्धु हृदय के अथाह रूप में देखने का प्रयत्न करता है। सिन्धु की भाँति असीम-नारी-हृदय के प्रति कवि की जिज्ञासा उदित होती है। उसी जिज्ञासा का विकास हम 'झरना' में पाते हैं। फिर प्रसाद नारी के विषय में जिज्ञासु मात्र न रहकर उसे समीप से जानने का प्रयत्न करते हैं।

'आँसू' के आलम्बन रूप में नारी अपने शुद्ध स्वरूप में प्रस्फुटित हुई। 'आँसू' में नारी और पुरुष प्रेमिका-प्रेमी रूप में स्थान पाते हैं। कवि ने अपने जीवन में जो अनुभव प्राप्त किये थे, उसी से उसने 'आँसू' की नारी का निर्माण किया।............ अपनी सम्पूर्ण मादकता को लेकर भी यह नारी केवल वासना और एन्द्रियता का प्रतीक बनकर नहीं रह जाती। अपने शारीरिक आकर्षण में भी वह गुणों से पूरित है।[2] 'आँसू' में सौन्दर्य वर्णन के लिए उन्होंने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है, उसमें नारी का गुण भासित होता है। नारी में स्नेह-सौहार्द की भावना भरकर कवि ने उसे केवल शरीरी सौन्दर्य-प्रतिमा होने से बचा लिया। कवि नारी के अङ्गों-उपांगों

---

१. 'तुमने इस सूने पतझड़ में भरदी हरियाली कितनी,
मैंने समझा मादकता है, तृप्ति बन गयी वह इतनी।'—'कामायनी (निर्वेद)
पृ० २२३

२. 'प्रसाद का काव्य'—डॉ० प्रेमशंकर; पृ० १९६-९७

के सौंदर्य से आगे बढ़कर उसके भाव-सौंदर्य पर अधिक रीझा है और उसमें उसने एक कल्याणकारी भावना निहित देखी है। वह उसकी तन की शोभा को 'गोरे-गोरे मुख आज ओरो सो विलानो जात' न कहकर संक्षेप में सारी बात समेटकर कह जाता है।[1]

प्रसादजी ने नैसर्गिक रमणीयता को ही सौन्दर्य का स्वरूप माना है। उन्होंने 'अपने नेत्र, अपना हृदय, अपनी कल्पना, अपनी प्रतिभा ज्ञान—इन सब का सहारा लिया है सौन्दर्य की अनुभूति में। उनका सौंदर्य बाह्य अवयवों की सीमा लाँघकर, हृदय-लोक में अलोकित होता है और अन्त में आत्मा की दीप्ति बन जाता है जिसके बाहर प्रकाश और भीतर रस है।'[2] सौंदर्य पर मुग्ध होकर कवि उसके निकट तक पहुँचा है।[3]

छायावादी-काव्य में प्रकृति का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। कवि ने प्रकृति के मन में रहस्यात्मक कौतूहल का अनुभव किया। उसके मन में प्रकृति को लेकर भिन्न-भिन्न प्रश्न उठने लगे। उसे प्रकृति एक पहेली के रूप में दृष्टिगोचर हुई। उसकी यह रहस्यात्मक भावना और अधिक रहस्यात्मक हो उठी जब कवि ने प्रकृति और नारी में एक-रूपता की कल्पना की। कवि की दृष्टि जहाँ नारी के सामान्य सौन्दर्य चित्रण पर ठहरी, वहाँ उसने नारी की उस कमनीय मूर्ति का चित्रण किया जो रंगीन परिधान में उभर कर रह गयी है। नीले परिधान में उसकी गौरांग नारी बिजली के उस गुलाबी रङ्ग के फूल जैसी है जो मेघवन में खिल कर रह गया है।[4]

प्रसाद ने प्रकृति में नारी का आरोप किया है। उन्हें रात एक एसी प्रमत्त अभिसारिका के रूप में दिखायी पड़ी है जिसे प्रिय मिलन की आतुरता में अंचल के मोतियों के बिखरने तक की खबर नहीं। कवि नारी के मान मनुहार का चित्रण

---

१. 'चंचला स्नान कर आवे, चंद्रिका पर्व में जैसी,
   उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी'—'आंसू'; पृ० २४
२. 'विशाल-भारत'–(जुलाई १९५०)–'प्रसाद की सौन्दर्यानुभूति'—श्री रामसुरेश त्रिपाठी
३. 'परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निश्वास मलय के झोंके,
   मुखचन्द्र-चांदनी जल से, मैं उठता था मुँह धो के।'—वही; पृ० १४
४. 'नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग'
   खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ वन बीच गुलाबी रंग।'—वही; पृ० ४६

प्रकृति का सहारा लेकर करता है।[1] प्रकृति के माध्यम से कवि ने नारी का प्रातः कालीन अर्ध निद्रित रूप चित्रित किया है। नारी मनोभावों के चित्रण में कवि ने बड़ी कुशलता दिखायी है। नारी का प्रमुख मनोभाव लज्जा है जो उसके प्रत्येक मनोभाव को अपने आवरण में छिपाये रहता है तभी तो कवि सलज्ज नारी का[2] तथा मातृत्व बोझ से दबी कर्तव्य परायण-नारी का सौंदर्य चित्रित करता है।[3] इस प्रकार प्रसाद के नारी सौंदर्य की यह वृत्ति कहीं-कहीं तो अत्यन्त ही सूक्ष्म होकर सामने आयी है।

प्रसाद नारी को मात्र सौंदर्य की एक कठपुतली के रूप में न देख उसके स्नेह के आंचल में संसार की ज्वालाओं और तापों का शमन कर देने की इच्छा रखते हैं। उनकी दृष्टि में नारी का स्नेह अंचल थके पथिक को व्यजन जैसा सुख प्रदान करता है।[4] कवि नारी में कोमलता के दर्शन करता है, उसमें करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित देखता है। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है।[5] जीवन के अवसाद, वेदना, ईर्ष्या तथा विषमताओं की ज्वाला से ध्वस्त व्यक्ति के लिये नारी एक शीतल छाया है जहाँ उसे विश्राम मिलता है। पुरुष जीवन को सन्तुलनमय बनाये रखने के लिए कवि नारी को उसका प्रधान अंग मानता है। नारी उसे कर्तव्य-विमूढ़ होने पर पथ-निर्देश करती और पुरुष को सचेत करती जाती है।[6] कवि यहाँ नारी को एक अपूर्व

---

१. 'सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक सकुच बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में, मान किये सी ऐंठी सी।'—कामायनी(आशा) पृ०; २४

२. 'गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोंक।
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद बोल।'—वही; (वासना)-पृ० ६३

३. 'केतकी गर्भ-सा पीला मुँह, आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशता नयी लजीली थी, कम्पित लतिका-सी लिए देह।
मातृत्व बोझ से झुके हुए, बँध रहे पयोधर पीन आज,
कोमल काले ऊनों की नव, पट्टिका बनाती रुचिर साज।—वही; (ईर्ष्या)-पृ० १४२

४. वही; (वासना)-पृ० ६०

५. 'अजातशत्रु'-'प्रसाद'; पृ० १२६

साहस से मुक्त और प्रेरणा प्रदायिनी शक्ति के रूप में देखता है। वह पुरुष को असहाय देखकर उसके उत्थान के लिए अपनी दाया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास और यहाँ तक कि अपना हृदय-रत्न तक दान कर देती है।[१]

प्रसाद ने नारी को मातृ-रूप में भी देखा है। कामायनी में उनकी श्रद्धा मनु को मार्ग का निर्देश और दिशा का संकेत देती है तथा अचानक मनु के मुख से ये शब्द निकल पड़े थे कि—

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष श्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।'[२]—प्रसाद ने अपनी इन पंक्तियों में जैसे सम्पूर्ण नारी जीवन का निचोड़ निकालकर रख दिया है। कवि ने एक स्थान पर प्रातः कालीन पृष्ठ भूमि पर तारा को घट, अम्बर को पनघट तथा उषा को नारी रूप में नवल रस गागरी भर कर लाते चित्रित किया है।[३] कवि ने एक पतिव्रता श्रद्धालु नारी का मार्मिक चित्र खींच[४] उसके कार्य व्यापारों का भी बड़ा सुन्दर चित्रण किया है।[५] जगत की कुण्ठाओं, तापों, एवं ज्वालाओं से सन्तप्त प्राणी को अन्त में नारी के तरल स्नेह में ही विश्राम मिलता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि संकट और निराशा की घड़ियों में व्यक्ति को अपने माँ के स्नेह की याद आती है। इस प्रकार नारी मां बनकर पुरुष को अपने स्नेह आंचल में विश्राम देकर पुनः नवीन शक्ति का संचार कर देती है। जीवन की विभीषिकाओं से हारे हुये मनु को अन्त में श्रद्धा का ही अवलम्बन श्रेयस्कर दिखा और उस अवसर पर श्रद्धा हमें मातृ-

---

१. कामायनी; पृ० ४९, ५०

२. वही; (लज्जा)—पृ० १०६

३. 'बीती विभावरी जाग री !
अम्बर पनघट में डुबो रही,
तारा-घट उषा नागरी,
लो यह लतिका भी भर लाई,
मधु मुकुल नवल रस गागरी।'—लहर—'प्रसाद'; पृ० १९

४. 'शशि-मुखपर घूंघट डाले, अंचल, में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये॥'—आंसू—'प्रसाद'; पृ० १५

५. 'घूँघट उठा देख मुसक्याती, किसे ठिठकती सी आती,
विजय गगन में किसी भूल सी, किसकी स्मृति पथ में लाती।'—कामायनी (आशा); पृ० ३९

रूप में दृष्टि गोचर होने लगी।[1] श्रद्धा मनु को सहारा और उद्‌बोधन भी देती है।[2]

'प्रसाद' की नारी संकीर्ण मनोवृत्ति की नहीं है, तभी तो वह अपनी प्रसन्नता सारे संसार को बाँट देना चाहती है। श्रद्धा एक आदर्श रमणी के समान हमारे सम्मुख प्रेम की उज्ज्वल ज्योति को फैलाती हुई मनु की पथ-प्रदर्शिका बनी रहती है। उसके व्यक्तित्व में प्रसाद जी ने नारी के समग्र गुणों को अपने चरम रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया है एवं उसके चित्रण में शारीरिक शोभा के साथ-साथ मानसिक और आत्मिक रमणीयता के संरक्षण का भी पर्याप्त ध्यान रखा है। अतएव श्रद्धा के चरित्र में कवि की नारी भावना मानो पूर्णतः साकार हो गयी है। उसका चरित्र 'सही अर्थों में कोलाहलमय रंग मंच पर शान्ति का विश्राम-स्थल है। श्रद्धा की प्रत्येक गति मंगल-कामना से स्फूर्त है। उसके नारीत्व में इस विश्व-कल्याण और विश्व-मैत्री के भाव को अधिष्ठित कर 'प्रसाद' ने नारी की महानता को पुरुष से अधिक ऊँचा उठा दिया है।'[3]

'प्रसाद' की 'कामायनी' गृहस्थ धर्म को स्पष्ट करने वाली एक सुन्दर कृति है। काम और रति की सुन्दर शक्तियों का विकास है उनकी पुत्री श्रद्धा। यह श्रद्धा जितनी शारीरिक सौंदर्य के कारण मोहक है, उतनी ही आन्तरिक छवि में महिमावान। वह मनु को अपने रूप से ही आकृष्ट नहीं करती, वरन् अपनी मनःशक्ति से उसे सामर्थ्यवान बनाकर प्रजातान्त्रिक समता का पाठ पढ़ाती है। उसका मातृत्व भी दर्शनीय है। माता की आकांक्षायें उसके हृदय मन्दिर की पवित्र झाकियाँ हैं। नारी को केवल भोग्या मानने वाले देवलोक के अवशेष मनु भी अन्त में उसे मातृत्व सौंदर्य से परिपूर्ण पाते हैं।

निस्सन्देह प्रसाद की 'श्रद्धा' हमारे सामने एक आदर्श-चरित्र नारी, पथ-प्रदर्शिका, समाज-कल्याणी और परोपकारिणी के रूप में उपस्थित होती है। किन्तु इतने से ही प्रसाद की नारी-भावना को सन्तोष नहीं हो गया, नारी को एक भिन्न पहलू से देखने की उनकी आकांक्षा की तृप्ति न हुई और इसीलिए उन्हें कामायनी में इड़ा

---

१. 'तुम देवि ! आह कितनी उदार, यह मातृ मूर्ति है निर्विकार;
हे सर्व मंगले, तुम महती, सबका दुख अपने पर सहती;
कल्याणमयी वाणी कहती तुम क्षमा निलय में हो रहती।'—वही; (दर्शन)-पृ० २४६

२. 'औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।'—वही; (कर्म)-पृ० १११

३. 'प्रसाद के नारी-चरित्र'—डॉ० देवेश ठाकुर; पृ० ४३५

की सृष्टि करनी पड़ी। प्रसाद ने नारी के समर्पण, उनकी भावना, विश्वास, को नारी का सच्चा रूप माना है और बुद्धि को पुरुष का। कभी-कभी जब नारी हृदय को दबा कर बुद्धि का आश्रय ग्रहण कर लेती है तब उसका एक भिन्न रूप सामने आता है और उसका सच्चा प्रतिनिधित्व 'प्रसाद' ने कामायनी में 'इडा' से कराया है। कवि ने कामायनी को नारी के मानसिक पक्ष का प्रतीक तथा इड़ा को विचार पक्ष का प्रतीक माना है। नारी प्रेम स्वरूपा भी है अतएव उसे प्रेम का प्रतीक माना गया है। नारी के प्रति सर्वप्रथम आकर्षण होता है, फिर मोह और तत्पश्चात् ममता। इन तीनों- आकर्षण, मोह और ममता-का शरीर से सम्बन्ध है। जब नारी प्रेम-स्वरूपा है तो उसे प्राप्त करने के लिए ममता के टूटते ही प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। नारी-मनोविज्ञान (Women Psychology) के नवीन दृष्टिकोण से ही यहाँ सारा चित्रण किया गया है।

प्रसाद का ऐसा विश्वास है कि नारी सर्वप्रथम नारी है जिसमें हृदय, प्रेम और क्षमा पहले, है बुद्धि, हिंसा, प्रतिशोध बाद में।[१] उनकी इड़ा का भी मातृत्व श्रद्धापुत्र कुमार को देखकर जागृत होता है और तभी नारी के इन विभिन्न रूपों में भी प्रसाद ने एक भावना सबमें निहित देखी है और वह है उसकी स्नेह की मंगल पयस्विनी जो विश्वास के पर्वत से जन्म लेकर समतल में प्रवाहित होती रहती है।

महाकवि ने शब्दों में नारी आधुनिक अर्थ संघर्ष में पिसते रहने वाले पुरुष समाज की गुड़िया नहीं, मनोरंजन का साधन नहीं, शोषण की वस्तु नहीं, वह जीवन की अन्तप्रेरणा सदृश पुरुष को चेतना और नवजीवन प्रदान करने वाली युग-युग की छाती चीर अन्तःसलिला-सी प्रवाहित होने वाली दिव्य-शक्ति है। युग की विभिन्न समस्याओं से व्यग्र महाकवि ने कामायनी में युग की प्रमुख समस्या 'नारी' और जीवन की मुख्य पहेली 'पुरुष-नारी' पर बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक प्रकाश डाला है। नारी का मूल रुदन, मूक पीड़न, स्वतः फूट पड़ा है—

'तुम भूल चुके पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की'

प्रसादजी को नारी-चित्रांकन में सर्वाधिक सफलता मिली है। उनकी नारी भावुक भी है, स्नेह करना भी जानती है और उस स्नेह के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करना भी जानती है। उसका प्रेम विषय वासनाओं की उदीप्ति तक ही सीमित नहीं रहता, वरन त्याग और बलिदान की ऊँची से ऊँची सीढ़ी चढ़कर मानव का पथ

---

१. कामायनी; (निर्वेद) पृ० २०७

प्रदर्शक बनता है ।[1] वह मध्ययुगीन भारतीय नारी की भाँति केवल पुरुष की इन्द्रिय या शक्ति की भोज्य पात्र नहीं वरन उसके समस्त जीवन की सहयोगिनी है ।[2]

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' की नारी लावण्यमयी, स्नेहमयी, अनुरागमयी, त्यागमयी, बुद्धिमयी, भावमयी तथा विवेकशील है । जब सांसारिक संघर्षों और घात-प्रतिघातों से पुरुष क्लान्त और शिथिल हो जाता है तब नारी अपने सहज स्नेह और अनुराग से उसे शीतलता प्रदान करती है । जब अनुराग की अधिकता से पुरुष नैतिक-पतन की ओर झुकता है तब नारी ही उसे कर्म-क्षेत्र की ओर खींचकर ले जाती है। उन्होंने पुरुष को जड़ और नारी को चेतन माना है ।

'प्रसाद' के जीवन-दर्शन 'आनन्दवाद' में नारी ही तो पुरुष के अभावों की पूर्ति करती है । नारी-पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं और इस नारी-पुरुष की चिरन्तन समस्या को प्रसादजी ने अत्यन्त आदर्शवादी रीति से सुलझाने का सफल प्रयास किया है ।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—छायावादी कवियों में नारी के शृंगारिक-चित्रण में अश्लीलता के स्थान पर गम्भीरता का समावेश कर सकने वाले दूसरे युग-प्रवर्तक कवि महाप्राण 'निराला' हैं । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की धारणा है कि 'निराला' का व्यक्तित्व एवं काव्य बुद्धि द्वारा अनुशासित है, इसमें बुद्धितत्व की प्रधानता है । जिस प्रकार 'प्रसाद' के काव्य में राग-तत्व की ओर पन्त के काव्य में कल्पना-तत्व की प्रधानता है, उसी प्रकार निराला का काव्य बुद्धि-तत्व द्वारा नियंत्रित है । उन्होंने नारी की कोमलता, सुकुमारता, उसकी मुसकान की आभा और लज्जा-शीलता के मार्मिक चित्र खींचे हैं । यद्यपि कतिपय स्थानों पर ये चित्र नितान्त नग्न हो गये हैं किन्तु 'उनमें अश्लीलता नहीं, विलास की ही सौंदर्य-वृत्ति है ।[3] उनकी नारी सौन्दर्य सरोवर की एक तरंग है जिसमें उद्दाम वेग और चंचलता नहीं, प्रत्युत एक संकुचित लज्जित-गति है ।[4] इसी लज्जित-गति में नारी की सम्पूर्ण छवि छिपी हुई है ।[5]

---

१. स्कन्दगुप्त-प्रसाद—(देवसेना का चरित्र); पृ०
२. कामायनी—प्रसाद-(श्रद्धा का चरित्र)
३. हिन्दी गीत-काव्य—श्री ओमप्रकाश अग्रवाल, पृ० १६५
४. 'सौंदर्य सरोवर की वह तरंग,
किन्तु नहीं चंचल प्रवाह उद्दाम वेग,
संकुचित एक लज्जित गति है यह ।'—परिमल (यमुना); पृ० १३४
५. 'मुसका दो आभा ला दो, उर-उर में गूंज उठा दो ।'—गीतिका; पृ० ४५

'निराला' ने प्रकृति में नारी का ऐसा एकाकार आरोप किया है कि उनकी प्रकृति का एक-एक पता नारी के आन्तरिक और बाह्य सौंदर्य को व्यंजित करने वाला प्रतीक बनकर खड़ा हो गया है। जहाँ 'निराला' ने प्रकृति के साथ नारी को देखने की चेष्टा की है, वहाँ उन्हें उसके अन्तर और बाह्य दोनों का घुला-मिला रूप साकार दृष्टिगत हुआ है। उनकी 'जुही की कली'-'स्नेह स्वप्न मग्न अमल कोमल तनु तरुणी बनी', 'विजन वन वल्लरी पर सुहाग भरे शयन करती हुई दृष्टिगोचर होती है।[1] उनकी 'शेफालिका' उन्हें अपने नायक के साथ प्रणय लीलाएँ करती दिखायी पड़ती हैं जिसके यौवन उभार के खिंचाव में कंचुकी के सारे बन्द ही खुले जा रहे है।[2] इस कविता में रति-भाव की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक है और प्रतीकों के माध्यम से आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया गया है। कल्पना-नारी का सुन्दर रूप चित्रण निरालाजी ने बड़ी ही कुशलता के साथ किया है—

'शिका खण्ड पर बैठी वह नीलांचल मृदु लहराता था।
मुक्त बन्ध सन्ध्या समीर सुन्दरी संग
कुछ चुप-चुप बातें करते जाता और मुस्कराता था—इसी चित्र के साथ एक अंकुरित-यौवन का उद्दीपन-कारी चित्र भी दर्शनीय है—

'प्रतिमा सौंदर्य की, हृदय के मंच पर
....
दृढ़ता चिबुक की, अधरो की विह्वलता
भ्रू कुटिलता, सरस हास, वेदना कण्ठ में,
मृदुता हृदय में, काठिन्य वक्षस्थल में,
हाथों में निपुणता, शैथिल्य चरणों में,
दीखी नहीं अब तक, एक ही मूर्ति में—
तन्मय असीमता।'—यहाँ हमें विद्यापति की 'अंकुरित-यौवना' नायिका का स्मरण होने लगता है। पत्र-पुष्प अर्घ्य नारी के उरोज

---

१. परिमल—(जुही की कली); पृ० १६१

२. 'बंद कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से, यौवन उभार ने।'
....
पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके
मूक आव्हान भरे लालसो कपोलों के,
व्याकुल विकास पर, झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।'—परिमल—निराला—(शेफालिके) पृ० १६६

और अन्य आंगिक विकास के प्रतीक हैं। हृदय के मंच पर प्रेमी के स्वागतार्थ पत्र-पुष्प का संचय-क्षण-क्षण विकसित होती हुई यौवन की देहली पर चरण रखने वाली भोली-भाली बालिका यह चित्र भी बड़ा सुन्दर है।[1]

कवि को प्रकृति का चप्पा-चप्पा नारी के सौंदर्य और उसके क्रिया-कलापों का एक जीता-जागता भंडार-सा दृष्टिगोचर होता है। सन्ध्या-सुन्दरी के आसमान से उतरने की छटा कवि को मात्र 'नूपुरों' की रुनझुन-रुनझुन नहीं किन्तु एक अव्यक्त-सी लगती है जो अपने में एक अतल गांभीर्य छुपाये हुए है। महाकवि निराला ने अपनी 'सन्ध्या' को परी के रूप में देखा है जो दिवस के अवसान पर मेघमय आकाश से धीरे-धीरे उतर रही है।[2]

कवि का भावुक मन एक युवती नारी के ऐहिक श्रृंगार पर रीझकर कुछ क्षण ठहर गया है—

'आँख पड़ी युवती पर
आई थी जो नहाकर
गीली धोती सटी हुई भरी देह में सुघर
उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड़कर'

सामान्यतः 'निराला' को श्रृंगार प्रिय नहीं है किन्तु जहाँ भी उनकी रचनाओं में श्रृंगारिक प्रसंग आये हैं, वहाँ उक्तियाँ अत्यधिक मधुर हो गयी हैं। 'पंचवटी-प्रसंग' में शूर्पणखा का चरित्र एक नवीन दृष्टिकोण से अंकित किया गया है। उसके नेत्रों में वशीकरण, मारण और सम्मोहन की त्रिवेणी विद्यमान है।[3] उसका नख-शिख वर्णन इस सम्बन्ध में एक सुन्दर उदाहरण माना जाता है—

'हारे हैं सारे नेत्र नेत्रों को हेर हेर,

---

१ 'घेर अंग अंग को—
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की,
ज्योतिर्मयी-लता सी हुई मैं तत्काल
घेरि निज तरुतन।—अनामिका (प्रेयसी); पृ० १

२. 'दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है,
वह सन्ध्या सुन्दरी परी सी
धीरे-धीरे धीरे।'—परिमल; पृ० १३५

३. आधुनिक कविता का मूल्यांकन—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० २५३

विश्व भर को मदोन्मत करने की मादकता
भरी है विधाता ने इन्हें दोनों नेत्रों में।
....

देश यह कपोत – कंठ
बाहुवल्ली कर – सरोज
उन्नत उरोज पीन, क्षीण कटि
नितम्ब भार करण सुकुमार
गति मन्द मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का,
देवों-भोगियों की तो बात ही निराली है।'

'जुही की कली' में भी कवि ने नारी को मात्र मांसल दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है किन्तु कविता के अन्त में 'जुही की कली' का जो नम्र-मुखी रूप चित्रित है, उसमें नारी के युगों-युगों से चले आये समस्त अवसरोचित लज्जा भाव को प्राण मिल गये हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में अश्लीलता की भावना के जगते ही—

'निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोंकों झाड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली......................'—कवि ठिठक जाता है और उस चित्र में एक चिरन्तन मधुरता का भाव भर देता है। उनकी नारी एक स्थान पर उन्हें रति की होली खेलकर आते हुए भी दिखलाई पड़ती है—

नयनों के डोरे लाल गुलाल – भरे खेली होली................'—इस प्रकार के चित्रों में कवि की मांसल-नारी भावना का स्पष्ट चित्र मिलता है किन्तु जहाँ एक कवि माँसलता में नारी की सामा संकुचित कर बैठा है वहीं दूसरी ओर उसने नारी को जग के रंगमंच की संगिनी भी कहा है और उससे उसके प्रिय स्नेह आलम्बन की याचना की है।[1] वह स्वार्थ और स्पर्धा से अंधे संसार में समता और कल्याणकारी प्रचार के लिए 'जननी' को पुकारने लगता है।[1]

निराला मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। 'शूर्पनखा' कविता में जहाँ उन्होंने नारी का ऐन्द्रिक चित्रण किया है, वहाँ अपनी रचना 'तुलसीदास' में उन्होंने

---

१. 'जग के रंगमंच की संगिनी
अमि परिहास हास-रस रंगिनी
उर मरु पथ की तरल तरंगिनी।'—गीतिका; पृ० ३८-४१

नारी के प्रति मोह, मानसिक संघर्षों और अन्त में नारी की विजय के सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्र भी उपस्थित किये हैं। कवि ने नारी का वह रूप भी देखा है जब वह 'इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ रही है'—उस चित्र से भी प्रभावित हुए बिना वे नहीं रह सके। उनकी विधवा नारी नूतन अनुराग, अभिलाषाओं और नवीन शृंगार को सहसा नष्ट कर दिये जाने पर परवश मूकता में दुनिया की नजरों से दूर अस्फुट स्वर में रोती है। उनकी इस अस्फुट वेदना को निराला का विद्रोही मन नहीं सह सका और चिल्ला उठा—'तोड़ो तोड़ो कारा पत्थर की।' वेदना, करुणा पवित्रता और संयम की पावन मूर्ति उनकी 'विधवा' (वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी) ने हमारे हृदय को सदैव द्रवित किया है।

इस प्रकार निराला ने नारी में जहाँ पुरुष के मन को परवश अपने आकर्षण में बाँध लेने की क्षमता देखी है वहाँ उसे लज्जा, शील, सामाजिक विभीषिकाओं की कारा में स्वयं बन्द पाया है। वह स्वाभिमान से भरी, प्रेयसी भी है और पथ-प्रदर्शिका भी। इनके अतिरिक्त महाप्राण निराला की 'सरोज-स्मृति,' 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' भी नारी-भावना की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'सरोज-स्मृति' एक शोक-गीत है जिसमें कवि ने अपनी पुत्री की शोक-कथा के माध्यम से अपने जीवन सम्बन्धी कुछ अंशों को उन्मुक्त रूप में उद्घाटित किया है।

'राम की शक्ति पूजा' में राम द्वारा शक्ति की साधना करायी गयी है। 'तुलसीदास' में रत्नावली कामायनी की भाँति पुरुष की प्रेरणा का स्रोत मानी गयी है। डॉ० रामविलास शर्मा का यह कथन उचित ही है कि रत्नावली के योगिनी रूप में मध्य-कालीन नारी का नायिका-भेद वाला रूप जलकर भस्म हो गया है।[1] इस रचना में कवि ने रत्नावली के नारी-भाव को एक नवीन दृष्टिकोण से परखने का प्रयास किया है। इस प्रकार 'निराला' की काव्य-साधना सन् १९१५ से लेकर १९६० तक निरन्तर गतिशील रही है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी इस महाकवि ने पार्थिव तथा अपार्थिव दोनों ही प्रकार के चित्र बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किये हैं।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त—स्व० निराला के साथ-साथ छायावादी कवियों में पन्तजी ने नारी को विविध रूपों में देखने का प्रयास किया है। वे प्रकृति के कवि हैं और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में उन्हें अपने मन की एक छाप मिलती है। वे कहते हैं कि—'प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है, तब मैंने अपने को भी

---

1. 'निराला'—डा० रामविलास शर्मा—पृ० १२४

नारी रूप में अंकित किया है।'–'उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही मां,
वह अपनी वयवाली में।'—पंक्तियाँ हमारी इस धारणा की द्योतक हैं। पन्तजी नारी-रूप से इतने अधिक प्रभावित है कि उन्होंने अपनी कविताएँ 'नन्दिनी' नाम से प्रकाशित करवायीं। उनकी नारी-सम्बन्धी यह भावना 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। वे स्वयं में भी नारी-सौंदर्य देखते हैं।[१] डॉ० नगेन्द्र ने उनकी नारी-भावना का सुन्दर विश्लेषण करते ठीक ही लिखा है—'नारी स्वर के प्रति पन्तजी का यह आकर्षण धीरे-धीरे नारी-रूप के प्रति भी बढ़ता गया। बहुधा हम उस वस्तु के सदृश बन जाना चाहते हैं जिस वस्तु के प्रति हमें अनुराग हो। सम्भव है इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार नवयुवक पन्त ने भी नारीत्व के प्रति अपना मनोगत आकर्षण प्रकट किया हो।[२]

प्रश्न यह उठता है कि इन कवियों ने प्रकृति में नारी-रूप के आरोप को ही क्यों प्रधानता दी? स्पष्ट है कि मन में जिस वस्तु की गूंज सबसे अधिक प्रतिध्वनित होती रहती है, उसी का आरोप और उसकी प्रतिछाया अधिकांशतः स्वाभाविक रूप से होती रहती है। नारी के प्रति उदार भाव तथा उसके लिए हृदय में चिन्तन का विशाल कक्ष इन कवियों ने सुरक्षित रखा है, इसी कारण प्रकृति में नारी के ही विविध रूपों का आरोप उनके द्वारा हुआ है। इतना ही नहीं उन्होंने अलग से भी नारी को तटस्थ मात्र से देख उसका चित्रण किया है। नारी का कभी वाह्य सौंदर्य-चित्रण प्रधान हो गया तो कभी अन्तःसौन्दर्य-चित्रण।

वाह्य-सौंदर्य का नख-शिख वर्णन करते हुए नारी का चित्र कभी 'ग्रीव-तिर्यक चम्पक द्युति गात, नयन मुकलित नतमुख जल जात, देह छवि छाया में दिन रात', रहने वाली सन्ध्या के रूप में उसके सम्मुख उपस्थित हो जाता है और कभी गंगा

---

२. 'घने लहरे रेशम से बाल;
धरा है सिर में मैंने, देवि!
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार
स्वर्ण का सुरभित भार।'—पल्लव; पृ० ११६
२. 'आलोचना' (अक्तूबर, १६५१)—डा० नगेन्द्र—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

की लहरों में नौका-निहार करते हुए उसे सैकत शैया पर लेटी हुई तरुणी गंगा का ध्यान आता है ।[1]

सहज कोमल स्वभाव वाले कवि पन्त को सौन्दर्य ने अधिक आकर्षित किया है । वह सौंदर्य चाहे प्राकृतिक हो अथवा मानवी । मानवी सौंदर्य के अन्तर्गत वयः संधि की अवस्था वाला भावुक कवि नारी-रूप को अपलक निहारता रहा है । कवि के लिए नारी कभी भोग की वस्तु न रही हो किन्तु उसकी छवि का चित्रांकन किसी-न-किसी वहाने कवि ने अपनी अधिकांश रचनाओं में किया है । 'पल्लव', 'गुंजन' और 'ग्रन्थि' में प्रायः कवि नारी के वाह्य-सौंदर्य का ही वर्णन कर सका है । शृंगार-रस के परिपाक में पन्त की प्रतिभा अप्रतिम है । उन्होंने इसके दोनों पक्षों (संयोग-वियोग) का सुन्दर वर्णन किया है । 'ग्रन्थि' प्रेमकाव्य में एक विफल प्रणय तरुण हृदय की मार्मिक वेदना व्यक्त की है । नारी के प्रति अपार ममता ने कवि को अतिशय कोमल और लज्जालु वना दिया है । इसीलिए सम्भवतः कवि की दृष्टि जगत के कोमलतम उपादानों की ओर अधिक उठी है और तदनुकूल रूप-विधान भी इनकी कल्पना जगत की नारी की छवि उतारने के लिए पीछे-पीछे दौड़ती है । इसीलिए उसके रूप विधान मांसल कम हैं, अशरीरी सूक्ष्म तथा कोमल वपु वाले अधिक । 'चिदंवरा' की उनकी ग्राम-युवती[2] और ग्राम नारी[3] का चित्रण वड़ा ही आकर्षक तथा स्वाभाविक वन पड़ा है ।

वालक पन्त का मन प्रकृति के कण-कण से इतना घुल-मिल गया है कि

---

१. ''सैकत शैया पर दुग्ध धवल,
तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल,
लेटी है शांत क्लांत निश्चल·······गुंजन (नौका विहार); पृ० १०१

२. 'उन्माद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ सी सुन्दर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति'—चिदंवरा—पृ० ६७

३. 'स्वाभाविक नारी जन की लज्जा से वेष्टित,
नित कर्म निष्ठ, अंगों की हृष्ट-पुष्ट सुन्दर,
श्रम से हैं जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित;
वह स्वस्थ ग्राम नारी, नर की जीवन सहचर !—वही (ग्राम नारी) पृ० ६६

किशोर कवि पन्त 'मधुप कुमारी' से मीठे गान की याचना करने लगा। वह बाँसों के झुरमुट में चिड़ियों की 'टी वी टुट-टुल' ध्वनि पर ही मस्त हो गया। सन्ध्या के मोहक नारी-रूप को देखकर आश्चर्य-चकित हो कवि उसी से प्रश्न करने लगता है।[1] पन्तजी ने प्रकृति में एक ओर माँ का असीम प्रेम, उसकी ममता और दुलार को ढूंढ़ा है, दूसरी ओर प्रेयसी के सामीप्य की गुदगुदाहट भी इन्हें प्रकृति के साहचर्य में मिली है। प्रकृति का यही तादात्म्य उनकी काव्य-धारा को दर्शन की ओर मोड़ सका है।

कवि ने रवीन्द्र की 'गीतांजलि' और कालिदास के 'रघुवंश' की सुन्दर सजीव कल्पनाओं, रूप-विधानों तथा रंग-विरंगी उपमाओं से प्रेरणा ग्रहण की है। 'ग्रन्थि' में प्रेम-रति, आशा-निराशा, मिलन-वियोग आदि श्रृंगार के उभय पक्षों का भावपूर्ण चित्रण हुआ है। 'वीणा' का कवि 'पल्लव' तक आते-आते भाव-प्रधान, कल्पना-प्रधान और विशुद्ध-श्रृंगार के अनेकानेक सरस गीतों में युवक-पाठकों का मन भर देता है।[2] कवि चांदनी को दुलहिन का रूप देता है क्योंकि दुलहिन भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। संसार की दुःख और दीनता की सेज पर मानव-जीवन की अस्वस्थ दुलहिन लेटी हुई है। मानव-जीवन-रूपी स्त्री की प्रतीक चाँदनी अस्वस्थ होने के कारण जाग रही है, उसे बेचैनी के कारण नींद नहीं आ रही है और वह सतत ओस के आंसू बरसा रही है। भारतीय दुलहिन लज्जा की साकार प्रतिमा होती है। उसमें चंचलता तो नहीं, अपितु मौन-मधुर, झिझकपूर्ण आत्म-समर्पण होता है। यह तो इसका भाव-पक्ष हुआ। कला-पक्ष में कवि ने चाँदनी का मानवीकरण किया है। यद्यपि प्रत्यक्षतः चांदनी और दुलहिन में कोई साम्य नहीं है फिर भी रात की सेज पर सित-वसना चाँदनी का लेटना, सित-वसना दुलहिन का रूप सम्मुख प्रस्तुत कर देता है।

---

१. कौन, तुम रूपसि कौन ?
ग्रीव तिर्यक, चंपक द्युति गात, नयन मुकलित नव मुख जलजात।
देह छवि छाया में दिन रात, कहाँ रहती तुम कौन ?'—पल्लवनि; पृ० ६५

२. 'दिन की आभा दुलहिन बन आइ निशि निभृत शमन पर,
वह छवि की छुई-मुई सी मृदु मधुर लाज भर-भर गुंजन—पृ० ८६

'अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्सना-सी चुपचाप जड़ित पद, नमित पलक, दृग-पात'
—गुंजन (भावी पत्नी के प्रति)—पृ० ४३

'मृदुल उर कम्पन सी वपुमान,
मधुरता, मृदुता सी तुम, प्राण'

दूसरे चित्र में कवि अपनी 'भावी-पत्नी' को दुलहिन के रूप में याद करता है। दुलहिन का यह उस समय का चित्र है जब सद्यः परिणीता पत्नी का उसके पति के साथ प्रथम मिलन होता है। जान पड़ता है जैसे 'मुग्धा-नायिका' यौवनावस्था के चरम शिखर पर पहुँचकर 'पुलकित गात' वाली बनकर मध्या-नायिका' की सीमा में पहुँच गयी हो, जो यौवन की सब कामनाओं से सराबोर हो और पति मिलन के लिए 'पुलकित गात' वाली बनकर अधिक समुत्सुका और उल्लसित दिखायी पड़ रही हो। उनकी एक अन्य नायिका प्राथमिक-मिलन के अवसर पर नायक की सेज के समीप ही नायक के स्पर्श-मात्र से छुई-मुई-सी बनी खड़ी है।[1] इन पंक्तियों द्वारा कवि ने उस नारी का चित्र खींचा है जो पति की सहचरी और सहधर्मिणी का पद कभी प्राप्त न कर सकी और सदैव अनुचरी ही बनी रही।

कवि पन्त का ध्यान नारी की मुस्कान में जा अटकता है और तरल लोल लहरों का विलास उसे मुग्धा की मुस्कान सरीखी दृष्टिगोचर होने लगती है।[2] कवि कभी उस मुस्कान में खो जाता है और कभी उसकी आंखों के नीलाकाश में उसका मन-पंछी उड़ते-उड़ते सो जाता है।[3] कवि को नारी के रोम-रोम से प्यार है, वह उसके रूप पर इतना मुग्ध है, इतना विभोर है कि उस रूप को सदैव सामने

---

१. 'वह नर की छाया
चिर-निमित-नयन, पद विजड़ित
वह चकित, भीत हिरनी सी
निज-चरण चाप से शंकित
मानव की चिर सहधर्मिणि,
युग-युग से मुख अवगुंठित
स्थापित घर के कोने में
वह दीप शिखा सी कम्पित !
करती वह जीवन-यापन
युग युग से पशु से पालित,
वंदिनी काम कारा की,
आदर्श नीति परिचालित।'
—युगवाणी—(नरकी छाया); पृ० ६०

२. 'पल्लव'—वीचि-विलास; पृ० ७७

३. गुंजन—वीचि-विलास; पृ० ४८

रखना चाहता है। उसे नारी के प्रति इतनी श्रद्धा, विश्वास, प्यार-निष्ठा है कि वह उसके हृदय में स्वर्ग की सारी निधियां छिपी हुई मानकर उसे 'स्वर्गागार' कह देता है।[1] कवि के हृदय में नारी के प्रति इतना स्थान है कि उसे मजदूरी करने वाली एक नारी ऐसी मानवी जान पड़ती है जिसने अपने हृदय द्वार संसार की भलाई के लिये खोल दिये है।[2] कवि को नारी ही सर्वगुण-सम्पन्न पावन, शक्ति और सौंदर्य की अप्रतिम कल्याणी दृष्टिगोचर होती है। 'नववधू के प्रति' कविता में नारी का स्वाभाविक रूप अनूठा बन पड़ा है—

'दुग्ध पीत अधिखिली कली सी
मधुर सुरभि का अंतस्तल,
दीप शिखा सी, स्वर्ण करों के
इन्द्र चाप का मुख मंडल।'—

नारी के ऐसे रूप में कवि अपने को खो कर उसके उर में अपने उर का भार उतारना चाहता है। उसके हृदय में इसीलिए एक कसकती वेदना शाश्वत होकर बैठ गयी है। वही वेदना गीतों के स्वरों में फूट-फूटकर निकलती है और तब कवि को लगता है कि आदि-कवि भी इसी प्रकार वियोगी रहा होगा जिसकी आह से अनजाने ही गान फूट पड़ा होगा और आंखों से अश्रु रूप में कविता वह निकली होगी।[५]

पन्त को नारी से इतना अपनत्व है कि जिस वस्तु में उन्हें नारी की

---

१. 'स्नेहमयि ! सुंदरतामयि !
तुम्हारे रोम रोम से, नारि !
मुझे है स्नेह अपार,
तुम्हारा मृदु उर ही, सुकुमारि !
मुझे है स्वर्गागार !'—पल्लव (नारी रूप)—पृ० ११६

२. 'स्त्री नहीं, आज मानवी बन गई तुम निश्चित,
....
तुम प्रिय हो मुझे, न छूती तुमको काम लाज,
....
तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार;
जग के हित खोल दिए नारी के हृदय द्वार।'—चिदवरा—मजदूरनी के प्रति; पृ० ६४

३. 'पल्लव—आंसू; पृ० ६५

काल्पनिक झलक भी मिली, बस विभोर हो उठे। 'मधुकरी' के गुन-गुन में उन्हें क्षण-भर को नारी के मीठे गान सुनायी पड़े और वे उन गानों को इतना प्यार करने लगे कि सीखने तक की प्रार्थना करने लग गये। मधुकरी से वे कह उठे—

'सिखा दो ना हे मधुप कुमारि,
हमें भी अपने मीठे गान'

उन्हें 'छाया' में नारी के विभिन्न रूपों के दर्शन हुए हैं। एक साथ ही छाया उन्हें परहित वसना, म्लान मना, भूपतिता-सी, वातहता विभिन्न लता-सी, रति-श्रांता, व्रजवनिता-सी, नियतिवंचिता आश्रय रहिता, जर्जरिता, पद-दलिता-सी, धूल धूसरित, मुक्त कुन्तला, किसी के चरणों की दासी के रूप में दिखायी देती है।[1] वे उसके दुखी रूप की कल्पना करके क्षुब्ध हो उठते हैं और अन्त में उसे सान्त्वना प्रदान करने लिये उसके गले लगाकर उसके प्राणों को शीतलता प्रदान करने की बात करने लगते हैं। कवि ने छाया के रूप में नारी के उन समस्त निर्बल और अबलापन के रूपों का चित्रण कर दिया है जिसके लिए श्रीमैथिलीशरण गुप्त ने 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' कहा था।

कविवर पन्त केवल रूप मदिरा ज्वाला से उत्पन्न होकर शृंगारी कवियों के समान एकांगी नहीं हुए। जहाँ उन्होंने नारी को रोम-रोम स्पर्श करने वाला बतलाया है[2] वहाँ उन्होंने नारी के स्पर्श में गंगा-स्थान की-सी पवित्रता और वाणी में त्रिवेणी की लहरों के कल्याणकारी गान का अनुभव भी किया है। पन्तजी ने नारी को सदैव आदर की दृष्टि से देखा है और सदैव कल्पना के कोमल भावों से उसे सजा संवार कर अपने मन-मन्दिर में पूजा-भाव से स्थान दिया है। उनका विधुर हृदय विरह के तीव्र आवेग को कभी-कभी सह नहीं पाया और दृगों से जलधार उमड़ पड़ी है।[3] इस अभाव के आवेश में नारी के विभिन्न रूप उसके सामने एक साथ नाच जाते हैं। नारी को अचानक वह 'देवि ! मां सहचरि प्राण !' कह पुकार

---

१. वही—छाया; पृ० १०७

२. 'तुम्हारे चल पद चूम निहाल, मंजरित अरुण अशोक सकाल,
स्पर्श से रोम रोम तत्काल, सतत सिंचित प्रियंगु की वाल।' 'गुंजन'—पंत—छाया—पृ० ४६

३. 'विधुर उर के मृदु भावों से तुम्हारा कर नित नव शृंगार।
पूजता हूं मैं तुम्हें कुमारि, मूंद दृग द्वार ॥'पल्लव–आंसू; पृ० ७३

उठता है। इन चार शब्दों में पन्त की पूरी नारी उतर आयी है।

कवि का नारी के प्रति प्रेम पवित्र है, उतना ही पवित्र जितना गंगा-जल की धार। किन्तु आज की सामाजिक परिस्थितियों ने जबकि प्रेम को लुका-छिपी की काली कोठरियों में बन्द कर दिया गया है और उन्मुक्त प्रेम को पापाचार की संज्ञा दे दी गयी है, कवि क्षुब्ध हो उठता है। उसने सुन रखा था कि प्रेम पवित्र होता है किन्तु आज जब उसके पवित्र प्रेम में भी पापाचार का लांछन लगने लगा तो वह दुखी है।[1]

पन्त की 'ग्राम्या' (१६४०) में नारी का स्वस्थ, सुन्दर और संयमित चित्रण दर्शनीय है।[2] वह नारी को मात्र विलासिता की वस्तु नहीं समझता। इसी कारण वह अपने प्रेम में पाप की परछाई तक नहीं देखता। किन्तु अपनी मान्यताओं के विपरीत उसे नारी के प्रति जग मान्यताएं ध्यान में आती हैं तो वह नारी की मुक्ति के लिए कराह उठता है।[3]

आज के युग की विषमताओं ने पन्त को प्रभावित किया है। उनकी परि-

---

१. 'कभी तो अब तक पावन प्रेम नहीं कहलाया पापाचार।
हुई मुझको ही मदिरा आज हाय! क्या गंगाजल की धार॥' वही–पृ० १८

२. 'तन पर यौवन सुषमाशाली, मुख पर श्रम कण, रवि की लाली
सिर पर धर स्वर्ण शस्य डाली वह मेंड़ों पर आती जाती।'
'है माँस पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता,
संयोग अवयवों में अशलथ उसके उरोज,
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज'

३. मुक्त करो नारी को मानव
चिर वंदिनी नारी को,
युग की वर्बर कारा से
जननि सखि प्यारी को।

....

'योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,

....

उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे नर पर अवसित।'—चिदंवरा–नारी–पृ० ६५
'योनि मात्र रह गई मानवी, निज आत्मा कर अर्पण।'
—'युगवाणी' (नारी)–पन्त–पृ० ५८

स्थितियों में कवि ने नारी के यौवन को असमय ही नष्ट हो जाते देखा है। जो ग्राम-युवती उसे असीम यौवन की अधिष्ठात्री लगती थी, उसी यौवन की अधिष्ठात्री के यौवन को दुखों के दुर्दिन में असमय पिसते देखकर कवि अक्षुण्ण यौवन की बात कहता है[1] तथा इसके लिए अपने समाज को समझाने का प्रयत्न करता है।[2]

इस प्रकार यह कवि नारी और नर के अन्तर को दूर कर मानव के साथ मानव का भी जीवित और स्वतन्त्र अस्तित्व देखना चाहता है। उसकी नारी सौन्दर्य-मयी है, कल्याणमयी, स्नेहमयी है, और 'प्रसाद' की नारी की भाँति वह त्यागमयी भी है। पन्तजी जैसे महान कलाकार के हाथ ने नारी की एक रम्य और भव्य प्रतिमा निर्मित की जो धीरे-धीरे रम्य से रम्यतर भव्य से भव्यतर होती गयी हैं।

कवि ने नारी के मूल्य को खूब अच्छी तरह पहचानता है, तभी तो वह कहता है—

> 'जीवन पथ की बाधाओं को नारी ही हरती है'
>
> ....
>
> 'नारी हो स्वतन्त्र जैसे नर'
>
> ....
>
> 'भीत न होओ, प्रिय अब नारी, लेती जाग्रति की अंगड़ाई ॥'

जो नारी अभी तक योनि मात्र रह गयी है, उसकी आत्मा का प्रकाश पुरुष की वासना ने नष्ट कर दिया है। जो पंगु के समान हो, गृह के बंधनों में जीवित है, उसे पूर्ण सामाजिक स्थिति प्रदान करके कवि, मानव की वास्तविक जीवन-संगिनी नारी के रूप में देखना चाहता है। इसी कारण वह एक आधुनिका का एक नग्न चित्र उतारने में संकोच नहीं करता—

---

१. 'रे दो दिन का यौवन'

....

दुखों से पिस, दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन
ढह जाता यौवन धन
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हंस खेला कुछ क्षण। 'ग्राम्या'—पंत—ग्राम-युवती; पृ० १६

२. 'योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्णस्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।' वही—नारी; पृ० ८५

'लहरों सी तुम चपल लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली सी तुम फूल-फूल पर मंडराती मधु क्षण हित,
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म-समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग प्रणय, धन पद मद, आत्म-प्रदर्शन।
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी।'

इस प्रकार पन्त के नारी-चित्रण को यदि हम संक्षेप में कहना चाहें तो उनकी वे पंक्तियाँ, 'देवि, माँ, सहचरी, प्राण' पर्याप्त होंगी। जब कवि नारी के गुणों और उनकी करुणा के सम्मुख अपने को झुका देता है तो उसके मुख से अचानक 'देवि!' शब्द निकल पड़ता है। जब वह अपने को शिशु समझता है और उसके अन्तर में कोमल भावनाओं का उदय होता है तो वह माँ का प्यार पाने को छटपटा उठता है और वह नारी को माँ पुकार उठता है। अपने आहत हृदय की पीड़ा को जब वह भुलाना चाहता है और उसे जब स्नेह के कोमल कर की आवश्यकता होती है तो वह 'सहचरी' को पुकारता है। जब उसे प्रियतमा की स्मृति विह्वल कर देती है तो कवि आकुल होकर कह उठता है 'प्राण'! इन्हीं चार शब्दों में पन्त की नारी समायी हुई है। उन्होंने नारी उर के भीतर स्वर्ग और नरक दोनों को समाहित पाया है।

श्रीमती महादेवी वर्मा—रहस्यवादी होने के कारण आधुनिक युग की महान कवयित्री काव्य में भी हमें नारी का सफल चित्रण प्राप्त होता है। रहस्यवादी-भक्त का हृदय आत्म-समर्पण की भावना से ओतप्रोत हो उठता है और उसका वह आत्म-समर्पण माधुर्य मूलक प्रेम पति-पत्नी भाव में अपनी अभिव्यक्ति पाता है। इसी कारण परम-तत्त्व और आत्मा में पुरुष और नारी का आरोपण किया गया है। अतः रहस्य-वादी की आत्मा नारी के रूप में सामने आती है।

महादेवीजी रहस्यवादी कवयित्री और नारी होने के नाते नारी के मूल भावों को समझने में अधिक सफल और चित्रण में अधिक स्वाभाविकता ला सकी हैं। उनकी आत्मा चिरन्तन सुहागिनी रूप में प्रस्तुत हुई है।[१] वे अपने चिरन्तन पिय पर मुग्ध हैं और यह जान तक नहीं पातीं कि हृदय में किसके आगमन से मन की वीणा के तार मौन हो जाते हैं और प्रणय में तीव्रता आती जाती है।[२] महादेवी की नारी

---

१. सान्ध्य-गीत-महादेवी वर्मा; पृ० ५१

२. 'शिथिल शिथिल तन थकित हुए कर
स्पन्दन भी भूला जाता हर
मधुर कसक सा आज हृदय में आज समाया कौन?'—नीरजा; पृ० ९

अपने प्रिय के इसी काल्पनिक मिलन की स्मृति और प्रिय के अभाव में आदि से अन्त तक एक गंभीर आह लिये अन्दर-ही-अन्दर सिसकती है।

कवयित्री ने वेदना और वियोग की अनुभूति को बड़ी ही सुन्दर और संगीत-मय शब्दावली में संजोया है। एक वियोगिनी. प्रियतम की थाती लिये हुए आशा और निराशा के झकोरों में जीवित है और प्रियतम के आगमन की आसा में[1] अपनी सारी निधि समेटे अपने आशा-दीप को 'पुलक-पुलक मेरे दीपक जल' और 'सिहर-सिहर मेरे दीपक जल' का आदेश देकर प्रियतम की अगवानी के लिए पलकों में रास्ता नापती रहती है किन्तु दूसरे ही क्षण प्रियतम में एकात्मकता का अनुभव करके उसी में लीन हो जाती है और तब उसके लिए सन्देश भेजना भी एक समस्या बन जाती है क्योंकि उसे ज्ञात हो जाता है कि उसका प्रियतम उसी में खो गया है।[2]

महादेवी का रहस्य-काव्य आधुनिक हिन्दी कविता की एक नितान्त नयी कोटि है। उन्हें प्राचीन रहस्यवादियों के साथ रखा जा सकता है, कारण अपनी अन्तिम रचनाओं में वे धीरे-धीरे अभिसार, मान; वियोग और मिलन के रूपकों के सहारे आशा और जीवन-व्यापी दुःख के ऊपर और विश्व-व्यापी आनन्द का स्वर सुनाती है।[3] वह प्रियतम के चिर-विरह को ही प्रिय मिलन की भांति मधुर मान लेती है और उनकी अतृप्ति ही तृप्ति का रूप धारण कर लेती है।

महादेवी की कविता में करुणा और वेदना का साम्राज्य है। उनके काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्ववेदना, वेदना का आनन्द, वेदना का सौन्दर्य, वेदना के लिए ही आत्म-समर्पण है।[4] इस वेदना को उन्होंने दो प्रकार से अभिव्यक्त किया है—(१) आत्म-वेदना का स्पष्ट कथन द्वारा और (२) प्रकृति के प्रतीकों के माध्यम से। तभी उन्होंने नारी के विरह रूप का वर्णन बहुत ही सजीव ढंग से

---

१. 'प्रियतम आ जाते तो मैं हार बना पहनाती।'—अनन्त के पथ पर; पृ० ५६

२. 'नयन पथ से स्वप्न में मिल प्यास में घुल साध में मिल,
प्रिय मुझी में खो गया दूत को किस देश भेजूं।'—दीपशिखा; पृ० ५५

३. मेरा प्रति पल छू जाता है कोई कालातीत
स्पन्दन से तारों पर गाती, एक अमरता गीत।'—
'हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि' डा० रामरतन भटनागर, पृ० ३८७

महादेवी—सम्पा० डा० इन्द्रनाथ मदान; पृ० १०

किया हैं।[1] उनकी अभिव्यक्ति विहारी आदि की भांति कहीं भी हास्यास्पद नहीं है, अपितु सीधे हृदय को स्पर्श करती है।

महादेवीजी अपने अज्ञात प्रियतम को जिस रूप में अनुभव करती हैं, वह प्रणाली उनकी अपनी है। उनका हृदय तदाकार होने के लिए रागात्मिका प्रवृत्तियों के सांचे में ढलकर प्रियतम तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। वे स्वप्न चर्चा में लीन हो कहती हैं—

तुम्हे बाँध पाती सपने में
तो चिरजीवन प्यास बुझा लेती।

वे अपने को प्रियतम में एकाकार अनुभव करती हैं। उनका प्रियतम असीम है, व्यापक है। इसी कारण वे कहती हैं—'तुम मुझमें, प्रिय फ़िर परिचय क्या'। अपने प्रियतम के पास वे सन्देश पहुँचाना चाहती है किन्तु उस याद में वह इतनी वेसुध हैं कि ठीक-ठीक लिख भी नहीं पाती—

'कैसे सन्देश प्रिय पहुँचाती—
दृग जल को सित मसि है अक्षय
....
मैं अपने ही वेसुध तन में
लिखती हूँ कुछ-कुछ लिख जाती।'

महादेवी मीरा की भांति माधुर्य-भाव से अपने प्रियतम का स्मरण करती हैं और उसे 'प्रिये', 'निर्मम', 'निर्मोही', निठुर आदि शब्दों से सम्बोधित करती हैं। प्रियतम के वियोग में इनका उन्मादिनी स्वरूप वही है जो भारतीय नारी में प्रायः देखा जाता है। यही उन्माद श्रीगुप्तजी की राधा में हम पाते हैं। वह उन्माद में अपने आपको ही श्रीकृष्ण अनुभव करती हुई उद्धव से पूछती हैं—

'सखे लौट आये गोकुल से
कहो राधिका कैसे।'

---

१. 'प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती,
श्वासों में सपने का गुंझित,
वन्दनवार वेदना-चर्चित,
भर दुख से जीवन का घट नित
मूक क्षणों में मधुर भरूंगी भारती।'—
'हिन्दी साहित्य; प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ—श्री शिवनन्दन प्रसाद; पृ० १७७

इस काल्पनिक स्वप्न-मिलन में वह कभी परिणीता वन गर्व का अनुभव करती है।[1] तो कभी अटल विश्वास की शक्ति और असीम प्रेम की प्रेरणा लेकर अभि-सारिका वनकर समस्त विषमताओं को सहती जाती हैं और प्रियतम में अपने को लीन कर देना चाहती हैं। इस प्रकार महादेवी की आत्मा सच्चे रूप में नारी वन-कर 'नीर भरी दुख की वदली' के समान वनने और मिटने की क्रिया चलाती रहती है।

'छायावाद के वसन्त वन की सबसे मधुर, भाव-मुखर पिकी महादेवी जी' ने अपनी गद्य-रचनाओं—'अतीत के चलचित्र', 'श्रृंखला की कड़ियाँ' तथा 'स्मृति की रेखाएं'—में भी नारी की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है और नारी की हीनावस्था' विधवा की विवशता तथा पतित की दुर्दशा पर हृदय खोलकर आँसू वहाये हैं। उपेक्षिताओं, परित्यक्ताओं, विधवाओं और अवैध सन्तान वाली माताओं के प्रति भी उन्होंने सदैव हार्दिक सहानुभूति व्यक्त की हैं। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में वेश्या-जीवन पर उन्होंने जो विचार प्रकट किये हैं उन्हें यहाँ देने का हम लोभ संव-रण नहीं कर सकते। 'पुरुष की वर्वरता, रक्त लोलुपता पर वलि होने वाले युद्ध वीरों के चाहे स्मारक वनाये जावें, पुरुष की अधिकार भावना को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रज्ज्वलित चिता पर क्षण-भर में जल मिटने वाली नारियों के नाम चाहे इतिहास के पृष्ठों पर सुरक्षित रह सकें, परन्तु पुरुष की कभी न बुझने वाली वासनाग्नि में ने हंसते-हंसते अपने जीवन को तिल-तिल जलाने वाली इन रमणियों को मनुष्य जाति कभी दो वूंद आंसू पाने का अधिकारी भी नहीं समझा'।[2] महादेवी ने नारी के इसी दर्द को अपने काव्य में सवसे अधिक गहरा उतारा है। पन्तजी ने नारी में स्वर्ग और नरक दोनों की कल्पना की थी[3] किन्तु महादेवी ने नारी में विविध रूपों का आरोप कर उसकी महानता में अस्थिरता नहीं आने दी। 'उनके काव्य में विश्व-नारी के अतृप्त-प्रेम, अविकसित राग भावना की विशुद्ध हृदयानुभूति है। उनकी दृष्टि अन्त-र्मुखी तथा वैयक्तिक ही है।'[4]

---

१. दीपशिखा—महादेवी वर्मा; पृ० ५५
२. श्रृंखला की कड़ियाँ; पृ० ११३
३. 'यदि कहीं नरक है इस भू पर तो वह नारी के अन्दर'

....

'यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर तो वह नारी उर के भीतर'—ग्राम्या (स्त्री)—पन्त; पृ० ८२
४. महादेवी का काव्य-पं० सुमित्रानंदन पन्त—सम्पादक डॉ. इन्द्रनाथ मदान

इस प्रकार हमने देखा कि छायावाद-रहस्यवाद के कवियों के मुख्य विषय हैं-प्रेम (प्रणय) और सौन्दर्य। प्राचीन काव्य में लौकिक-अलौकिक, ऐन्द्रिक-आत्मिक स्वकीया-परकीया प्रेम जैसी भिन्न-भिन्न कोटियाँ स्पष्ट दिखलायी पड़ती हैं किन्तु नवीन काव्य में इस प्रकार का कोई स्पष्ट अन्तर दिखायी नहीं पड़ता। छायावादी काव्य में तो मानव-मानव का ऐन्द्रिक-प्राकृतिक प्रेम (प्रणय) ईश्वरीय कोटि तक पहुंचा हुआ चित्रित किया गया है। सौन्दर्य के प्रमुख साधन हैं-प्रकृति औरनारी। नारी-सौन्दर्य की निर्झरिणी है-अतएव छायावादी कवियों ने प्रकृति के माध्यम से शृंगार के संयोग-वियोग दोनों पक्ष का अच्छा चित्रण किया है। प्राचीन हिन्दी साहित्य में जहाँ प्रकृति मुख्यत: उद्दीपन के रूप में ही प्रयुक्त की जाती थी, वहाँ छायावाद में आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों रूपों में प्रयुक्त की जाने लगी। प्रकृति में अपने प्रिय की छाया देखना छायावाद है और विश्वात्मा का प्रतिबिम्ब देखना रहस्यवाद। अतएव दोनों ने प्रकृति को ही सर्वश्रेष्ठ माध्यम बनाया—तथा क्षण-भंगुर सौन्दर्य की अपेक्षा शाश्वत एवं पवित्र सौंदर्य को देखने के लिए हमें प्रेरित किया।

छायावादी-काव्य में नारी-सौन्दर्य-चित्रण के अन्तर्गत रूप, यौवन, विलास, वस्त्र, अलंकार, अनुलेपन, अनुभाव आदि का वर्णन [1] तथा भाव-चित्रण के अन्तर्गत

---

१. 'नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-बन बीच गुलाबी रंग !'—
कामायनी-प्रसाद

....

'बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से,
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से—आंसू; प्रसाद
'इठलाती आती ग्राम युवती, वह गजपति सर्प डगर पर।
सरकाती पट, खिसकाती लट, शरमाती झट,
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट।'—ग्राम्या; पन्त

....

'रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली।'—महादेवी

....

'तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा स्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों का गान।'—पल्लव पन्त

नारी के प्रेम, लज्जा, शील, अन्तःसौन्दर्य का सुन्दर वर्णन हुआ है।[1] छायावादी कवियों ने नारी के व्यक्तित्व पर भी ध्यान दिया और उसका चित्रण विविध रूपों—बालिका, सलज्ज सुकुमारी, प्रेयसी, विधवा, वेदनामयी, आधुनिका, देवी, मां, सहचरी आदि—में किया है।[2] उन्होंने नारी के प्रति नवीन और उदात्त दृष्टिकोण अपनाया

---

१. 'नारी, तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पद-तल में,
पीयूष स्रोत सी वहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।'—कामायनी; प्रसाद

....

'चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी,
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।—आंसू; प्रसाद

२. 'सरलपन ही था उसका मन, निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन, सहज था सजा सजीला तन।'—पल्लविनी (बालिका); पन्त

....

'एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
हठ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।'—ग्रन्थि (सुकुमारी); पन्त

....

'बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनंत,
एक स्वर में समस्त संगीत,
एक कलिका में अखिल वसंत,
धरा में थीं तुम स्वर्ग पुनीत।'—पल्लव (प्रेयसी); पन्त

....

'वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर, काल-ताण्डव की स्मृति रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन
दलित भारत ही की विधवा है।'—परिमल (विधवा)—निराला

....

रे म्लान अंग रंग यौवन चिर मूक सजल नत चितवन !
जग के दुख से जर्जर उर बस मृत्युशेष अब जीवन।'—पल्लविनी (वेदनामयी); पन्त

....

'मैं नीर भरी दुख की बदली'—वियोगिनी; महादेवी
'तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी।'—ग्राम्या (आधुनिके)

....

'तुम्हारी सेवा में अनजान, हृदय है मेरा अन्तर्ध्यान,
देवि ! मां ! सहचरि ! प्राण ! —पल्लव; पन्त

है। इन कवियों की बदली हुई दृष्टी के कारण नारी न तो आकार शोभा से युक्त भोग्या युवती है और न वह मात्र आदर्शमयी-वीरांगना, वीर-माता अथवा वीर-स्नुषा है। छायावाद-युग की नारी मानव की चिरसंगिनी नवीन उत्साह, धैर्य और आशा की ओर प्रेरित करने वाली वास्तविक मानवी है। यह नारी अपने जीवन के भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की शोभा गरिमा से पूर्ण दिखलायी पड़ती है और उसके सभी रूप सृष्टि के पोषक रस प्रदान करने वाले हैं। नारी यदि अपने इन समस्त रूपों से पृथक होकर एक रूप में ही शेष रह जाये तो उसके सौन्दर्य का पूर्ण-तम विकास दिखायी न पड़े। कवि पन्त के शब्दों में वह 'देवि, माँ, सहचरि, प्राण' सभी कुछ है। छायावादी कवियों ने प्रायः उसे इन्ही रूपों में देखा है।

प्रगतिशील-प्रयोगवादी युग

पिछले पृष्ठों में हम इस बात पर विचार कर चुके हैं कि 'छायावाद' की कविता में नारी को विविध रूपों में चित्रित करने का प्रयास किया गया है उन कवियों ने नारी को प्रेयसी, सहचरी, मां, अबला, सबला आदि रूपों में चित्रित कर देखने में भरसक प्रयत्न किये, यहाँ तक की प्रकृति के कण-कण में नारी के किसी-न-किसी रूप के दर्शन हुए। उनके द्वारा नारी तथा प्रकृति को उसके असाधारण आक-र्षक तथा दिव्य रूपों में देखा गया। वैयक्तिकता के कारण नारी के नयनों में सुषमा का समस्त संसार देखा जाने लगा। छायावादी कवियों के रोमांटिक दृष्टिकोण के कारण उसमें असाधारणता आ गयी और वह जन-काव्य न बन पाया। किन्तु ये छायावादी कवि जीवन की विषमताओं से दूर रहकर भी कविता में शिवम् सुन्दरम् की धारा प्रवाहित करते रहे।

जिस प्रकार द्विवेदी-युगीन स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह के कारण 'छायावाद' का जन्म हुआ, उसी प्रकार छायावादी सूक्ष्म के प्रति स्थूल ने विद्रोह किया और प्रतिक्रिया स्वरूप 'प्रगतिवाद' का उद्‌भव हुआ। इस परिवर्तन के युग को पहले 'प्रगति-युग' कहा गया किन्तु जब प्रगतिशीलता मात्रा रोटी-कपड़े तथा राजनैतिक वाद विशेष की प्रतिनिधि बन गई तो कविता में पुनः क्रान्ति हुई और उसके निश्चित स्वरूप, शैली, विषय आदि को लेकर नवीन प्रयोग होने लगे। आज कविता का यही प्रयोग-युग है। डा० जगदीश गुप्त के मतानुसार छायावादोत्तर-काल की कविता को प्रगति और प्रयोग का मिलाजुला नाम 'प्रगति-युग' कहें तो अधिक उपयुक्त रहेगा। राजनीति में जो समाजवाद (अथवा साम्यवाद) है, वास्तव में उसी का साहित्यिक मोर्चा प्रगतिवाद है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में यह युग की मांग को पूरा

साहित्य है।'

इन कवियों को सम्यक् रूप से उन सभी विचारधाराओं ने आकर्षित किया जो रूढ़िगत सांस्कृतिक नैतिक परम्पराओं के विरुद्ध थीं और जिनके कारण व्यक्ति का मुक्त अवरुद्ध था। विशेपतया समाजवाद तथा मनोविश्लेषण विज्ञान ने इस युग के कवि को प्रभावित किया और ये प्रभाव बहुत कुछ विदेशी विचारकों के थे जिनमें कार्ल मार्क्स, फ्रायड, युंग, डार्विन, बर्ट्रांड रसेल, मोपांसा, बर्नार्ड शा, इब्सन तथा टी०एस० इलियट आदि प्रमुख हैं। आज की कविता इन्हीं विचारकों की प्रतिष्ठापनाओं और सिद्धान्तों के अनुसार नये-नये प्रयोग करती हुई अपने लिए एक मार्ग का अन्वेषण करने में निरत है।

इस युग का नारी-चित्रण—आज की कविता वस्तु और शैली की कितनी विविधताओं से होकर आ रही है संभवतः ऐसी विचित्रता अन्य किसी भी युग में देखने को नहीं मिलती। इन विचारधाराओं में कवियों की नारी विषयक मान्यताओं, उसके प्रतीकों, उपमानों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और इसी कारण आज कविता में नारी कहीं आर्थिक विषमताओं के बीच ओझल हो गयी है तो कहीं वही आधुनिक कवि को जीवन तक जीने की मूल प्रेरणा प्रदान करती है, कहीं कवि को नारी मात्र वासना-पूर्ति का एक साधन समझ पड़ती है, कहीं वह तर्कशील होकर बुद्धिवादी के रूप में पथ-भ्रष्ट पुरुष को दिशा निर्देश करती है, कहीं अपने आँचल में छिपाकर अपने पावन प्रणय की शीतल छाया में आत्म-समर्पण और सर्वस्व दान की प्रतिदेवी बनकर पुरुष को उसके लक्ष्य तक पहुँचने में अपनी सार्थकता समझती है तो कहीं अपने प्रेम की कोठरी में बन्द रखकर उससे केवल अपने में खोये रहने की अपेक्षा रखती है।

प्रगतिवादी कवियों ने अन्य शोपितों में नारी को भी प्रमुख माना है। उनकी नारी पुरुष की दासी बनकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को खो बैठी है। अतएव उन्होंने नारी को विलास की सामग्री मानने वाले सामन्ती-आदर्शों का डटकर विरोध किया है। मार्क्सवादी लेखक भी नारी में एक ऐसा शोषित-वर्ग देखता है जिसका नर द्वारा खूब शोपण किया गया है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त लिखते हैं—सामन्त युग के स्त्री-पुरुष सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदण्ड स्त्री की शरीर यष्टि रहा है। उस सदाचार के अंचल छोर को हमारी मध्य युग की सती और हमारी बाल-विधवा छाती से चिपकाये हुए है और दूसरे छोर को उस युग की

१. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ; डा० जगदीश नारायण त्रिपाठी; पृ० ५७

देन वेश्या। ""सामन्त-युग की नारी नर की छाया-मात्र रही है।[1] पन्तजी ने इसी भावना को लेकर 'युग-वाणी' में ऐसी नारी की सृष्टि की है जो जीवन समुद्र की उत्ताल तरंगों में भी अपने पैर जमा सके, आर्थिक विषमताओं एवं वैयक्तिक कुंठाओं में पुरुष की सहचरी बनकर उसे सहारा दे सके और मात्र अबला न रहकर सबला भी बन सके।

हमने प्रगतिशील प्रयोग-युग में नारी विषयक जिन मान्यताओं की विभिन्नता का संकेत किया है, उन विभिन्नताओं को स्पष्ट करने के लिए आगे हम छायावाद तथा छायावादोत्तर काल के कुछ कवियों की रचनाओं पर विचार करेंगे। इस काल में भी कुछ कवि ऐसे हैं जो अब भी नारी को छायावादी दृष्टि से प्रकृति के तादात्म्य में रहस्यात्मक देखते हैं, कुछ ऐसे हैं जो प्रसाद की नारी-भावना को अपनी कविता में भर देना चाहते हैं, कुछ ऐसे हैं जो फ्राइड की काम-भावना को आधार बनाकर रीतिकालीन-कवियों से भी अधिक नारी को वासना की आराध्य देवी समझते हैं और इसके अतिरिक्त उससे कुछ नहीं चाहते। इन सभी कवियों की अपनी-अपनी व्यक्तिगत मान्यताएं और अनुभूतियां हैं जिनके आधार पर नारी का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। छायावाद तथा छायावादोत्तर काल के कवियों ने नारी का अपने-अपने दृष्टिकोण से ही चित्रण किया है जिसमें उनकी व्यक्तिगत अनुभूति की प्रधानता है।

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'—यद्यपि प्रेमीजी की रचनाओं में छायावाद, निराशा-वाद तथा प्रगतिवाद तीनों ही के दर्शन होते हैं किन्तु वे कविता के परिवर्तित-युग के कवि माने जाते हैं। इस युग में जो पलायन की प्रवृत्ति चली, उसका कारण चाहे राजनैतिक हो अथवा सामाजिक, किन्तु इतना अवश्य है कि छायावादी अथवा रहस्यवादी कवि की प्रवृत्तियां इस युग में पलायन-वादी अवश्य हो गयीं।[2] कवियों की नारी विषयक मान्यताओं में भी इस परिवर्तन-युग की प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा। दुःखवाद के कारण संसार की ज्वाला से दग्ध और त्रस्त कवि नारी के अंचल में शीतल छाया की खोज करता रहा। उसे ज्योति की साकार प्रतिमा देखता है, जिसके सहारे वह अंधकारमय जगत में अपना मार्ग खोज सके।[3] इस परिवर्तन का

---

१. 'आधुनिक कवि'—२. पर्यालोचन; पृ० २३
२. 'जादूगरनी'—श्री हरिकृष्ण प्रेमी; पृ० ७२
३. प्रेयसी का रूप बखान चुके गान निष्ठुरता का गा चुके,
रच रहे प्राण नूतन समाज आया जीवन अभ्युदय आज।" 'जागृति अभ्युदय'—
तोरन देवी लली; पृ० ७३

संकेत करते हुए कवि नारी के स्वर में स्वयं परिवर्तन की घोषणा करता है। नारी अब पुराने प्रणय-गान को जर्जर मनाने लगी। युग की सन्ध्या में वह उषाकाल के पश्चात् का कंचन विहान ला देना चाहती है। कवि भी नारी के इसी स्वर में स्वर मिलाकर 'कुसुम कुंजों' में रमते हुए रमणी छवि के ध्यान का विद्रोह कर उठता है और 'नख-शिख, कुच, कटि वर्णन की कारिख को' शक्ति मूर्ति प्रकटा कर धो डालना चाहता है। इस युग में नारी को ही लेकर सीधे ढंग से तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया गया है। इन कवियों ने पहिले आदर्शवादी सिद्धान्तों से मुक्ति लेकर नवीन आदर्शवाद की स्थापना की है। आदर्शवादी होने के कारण कवि ने इस युग में नारी को महान और गौरवमय रूप में देखा। विधाता ने मानो अपने स्वरूप विस्तार करने के लिए ही नारी की सृष्टि की हो।[१] कवि को नारी-सौन्दर्य एक सरिता सदृश्य दृष्टिगोचर होता है जिसके तरल-स्नेह में स्नान कर सारा जग अपना ताप नष्ट कर देता है। जो भी इस छवि में अपना जीवन लीन कर देता है, वही अमर और सीमाहीन हो जाता है।[२] कवि ने सौन्दर्य का आकर्षण अनिवार्य माना है और इसीलिए वह मानता है कि जब नारी अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य दिखाकर मन आकर्षित कर लेती है तब किसी का साहस नहीं कि उस सौंदर्याकर्षण की अवहेलना कर सके। 'प्रेमी' ने तो यहाँ तक माना है कि इस आकर्षण के फलस्वरूप सारा जग चरणों पर लोटने लगता है।[३] नारी जब दर्शन देती है तो उसमें एक क्षण को जीवन-मरण, सुख-दुख सभी लुप्त हो जाते हैं।[४] यद्यपि यह रूप का आकर्षण एक बन्धन है किन्तु यह बन्धन भी कवि को प्यारा है। सौंदर्यमयी नारी का रूप क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। इस आधार पर उस क्षण-क्षण में नवीनता का बोध करने वाले नारी-सौन्दर्य की अकथ कथा को निभाने में कवि अपनी असमर्थता प्रकट करता है।[५] कवि ने नारी में वाह्य सौंदर्य के स्थान पर अन्तः सौंदर्य के दर्शन किये हैं। उसका विश्वास है कि वाह्य सौंदर्य अन्तः सौंदर्य की उचित पूर्ति है। प्रसाद ने इसी दृष्टि-

---

१. "किया विधाता ने तुमको रचकर अपना ही स्वरूप विस्तार,
अपना चमत्कार मायाविनि दिया तुझे उसने उपहार।" जादूगरनी–'प्रेमी'; पृ० ३

२. "जो करता तेरी छवि में, अपना जीवन तन्मय लीन।
वही अमर हो जाता सुन्दर, हो जाता है सीमाहीन।" वही; पृ० ६

३. "तेरे चरणों पर झुक जाता, विस्मित होते हैं नादान।"

४. जीवन-मरण अतृप्ति तृप्ति औ सुख-दुख तृष्णा प्यास पुकार,
एक घड़ी को छिप जाते हैं जब दर्शन देती सुकुमार।" वही; पृ० १६

५. "छवि की अकथ लिख पायें, कब कवि के ओछे अक्षर।"–वही; पृ० २०

कोण को दीर्घकारायण के शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि—पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं, इसलिए प्रकृति ने उसे अपना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है—रमणी का रूप।"[1] इसलिए कवि को उसका राह भूलकर एक क्षण का आ जाना भी रुचिकर है।[2] वह उसे स्वर्गागार के सदृश दृष्टिगोचर होती है।[3] 'प्रेमी' ने नारी को शक्ति-रूप में चित्रित किया है।[4] नारी का समान अधिकार है। उसके प्रलयंकर रूप के सम्मुख विधाता की भी एक नहीं चलती। उसके नूपुरों में विनाश का राग तथा चितवन में मृत्यु चमकने लगती है और 'भृकुटि विलास सृष्टिलय होई' की स्थिति उपस्थित हो जाती है। जब वह अपना तांडव रूप धारण करती है तो फिर विश्व की प्रतिपालिका के रूप में उपस्थित होकर पश्चाताप के आँसुओं से समस्त विश्व को पुनः जीवित कर देती है। प्रेमी जी ने नारी में पतित-पावनी माँ का रूप देखता है। संकटकाल में जब यह संसार शिशु-सा घबरा उठता है तो नारी का वात्सल्य ही अवलम्ब बनकर उसे सहारा प्रदान करता है।[6]

कवि कल्पना करता है कि जब पीयूष मोहिनी अपने सुधाघट को स्वर्ग में लिये जा रही थी तब थोड़ा अमृत छलक कर मर्त्य-लोक में आ गिरा और वह नारी रूप में परिवर्तित हो गया। स्वर्ग देखता ही रह गया। नारी को इतना कौतूहल और रहस्यपूर्ण बनाकर 'प्रेमी' जी ने कबीर की माया के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया है। किन्तु जहाँ कबीर की माया 'महाठगिनी' है जो 'बाजार को लूटती' रहती है, वहाँ प्रेमी की नारी में 'सत्यं शिवं और सुन्दरं' की त्रिधारा है जो समस्त कलुषों को

---

१. 'अजातशत्रु'; जयशंकर प्रसाद; पृ० १२६

२. "एक निमिष को यदि, सुन्दरि, राह भूलकर आती है।
अनृत असुन्दर, अशिव जगत को, अजर अमर कर जाती है।"—वही; पृ० २०

३. "तुम्हारा कोमल हृदय विशाल, मधुर भावों का स्वर्गागार।"—चांद; नवम्बर १९३४; 'नारी गीत'; उत्तमचन्द श्रीवास्तव

४. "सकल सृष्टि का अवलम्बन है शक्तिमयी तेरा संयोग,
किसमें इतनी शक्ति नापले जो तेरा विराट विस्तार।"—जादूगरनी; 'प्रेमी'; पृष्ठ—८५ और ९१

५. मृत्यु चमकती है चितवन में, नूपुर ध्वनि में बजता नाश,
काँप उठता है विश्व देखकर तेरा वंकिम भृकुटि विलास।"—वही; पृ० ६६

६. "जब संकट के गर्जन से शिशु सी दुनियाँ घबराती है।
तब जग शक्तिमयी तेरा ही सहज सहारा लेता है।"—वही—प्रेमी; पृ० ८५

निमिष-काल में वहा ले जाती है। इसीलिए 'इन्द्रधनुष-सी रंग-बिरंगी जादू की लकड़ी लिये हुए' नारी एक जादूगरनी है जो समय-समय पर इच्छानुसार विभिन्न रूप धारण करती रहती है। नारी इतनी रहस्यमय है कि उसके समझने में संसार लाख प्रयत्न करके असफल हो जाता है। नारी जब कभी प्रेम करती है तो उसे ऐसा छिपाकर रखती है कि प्रयत्न करने पर भी समझा नहीं जा सकता। वह कभी शक्तिशाली रूप धारण कर लेती है, कभी कुसुम कोमल होकर 'मखमल' पर भी चलने से पैर छिले जाते हैं' की स्थिति पर पहुँच जाती है, कभी माननी बन जाती है तो कभी उदारता का सागर उमड़ा देती है। नारी को समझना एक पहेली है।[1]

श्री सियारामशरण गुप्त—'छायावाद-काल' में जो कवि अपने ढंग से आगे बढ़ रहे थे, उनमें सबसे श्रेष्ठ सियारामशरण गुप्त हैं। इनमें भी व्यक्तिगत चिन्तन अनुभूति है।

मौर्य-विजय (संवत् १९७१) से लेकर 'जयहिन्द' और 'गीता संवाद' [सं० २००५] तक कवि ने कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की थी। नारी-चित्रण की दृष्टि से हम यहाँ 'विषाद', 'आर्द्रा', 'मृण्मयी' और 'नकुल' की कुछ रचनाओं पर संक्षेप में विचार करेंगे।

'विषाद' कवि की करुण-रस-प्रधान रचना है जिसकी प्रेरणा कदाचित् धर्म-पत्नी की मृत्यु से प्राप्त हुई है। इन पन्द्रह विषादमयी 'कविताओं की घनीभूत पीड़ा बरबस मर्म को स्पर्श करती है, और कवि का रोम-रोम चीत्कार कर उठता है और उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है।[2] वह विकल हो दिवा-स्वप्न देखने लगता है और पत्नी के पावन स्नेह की स्मृति जाग्रत हो उठती है। आगे चलकर कवि की यही करुणा 'आर्द्रा' में व्यक्तिगत धारतल से उठकर समष्टि-गत धरातल पर पहुँचकर धीरे-धीरे सामाजिक और मानवीय हो जाती है। 'एक फूल की चाह' शीर्षक कविता में एक अछूत-कन्या सुखिया में 'देवी के प्रसाद का एक फूल' चाहती है किन्तु उसकी इस कामना की पूर्ति उसका पिता अन्त तक नहीं कर सका, यद्यपि इस कार्य के प्रयास में उसे कारावास भोगना पड़ा। पिता का हृदय इस पर चीत्कार कर उठा।[3] 'आर्द्रा'

---

१. 'तू रहस्य है इसीलिए तो लगती है जग को प्यारी।'—जादूगरनी; पृ० १००

२. सियारामशरण गुप्त—सम्पादक डॉ० नगेन्द्र; पृ० ३८

३. 'बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर, छाती धधक उठी मेरी,
हाय फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी।—'आर्द्रा'–(एक फूल की चाह)—श्री सियारामशरण गुप्त

की 'हूक' कविता में भी बेटी रमा की हृद्गति के कारण होने वाली मृत्यु का वर्णन है और मानव की अतृप्त आकांक्षा का मार्मिक चित्रण है। 'अग्नि परीक्षा' में हमें 'सुभद्रा' नामक हिन्दू-नारी के सतीत्व के दर्शन होते हैं।

मृण्मयी' की 'सम्मिलित' कविता में पृथ्वी माता और प्रकृति का वरद रूप तथा 'ग्वालिनें' में 'वैष्णव-हृदयनाद सौन्दर्य के साथ मुखरित हुआ है'। 'नकुल' महाभारत के वन-पर्व की कथा पर आधारित एक खण्ड-काव्य है। यद्यपि सियाराम शरणजी ने नारी के विविध रूपों—पुत्री, बहिन, प्रेयसी, पत्नी, माता—का चित्रण किया है तथापि कहीं भी वे 'रति की आलम्बन प्रकृत नारी के रूप तथा मन का उद्‌घाटन नहीं कर सके हैं।' उनके मत में 'श्रद्धा और संकोच-मिश्रित स्निग्धता-भर हैं, तभी तो उनके द्वारा नारी का रूप-वर्णन आकर्षण नहीं हो पाया है। यहाँ कवि ने द्रौपदी के ममतामय और रौद्र दोनों प्रकार के रूप उपस्थित किये हैं जिससे पाठक को पांचाली बड़ी ही आकर्षण दिखलायी पड़ती है। नारी के प्रति मानवीय सहानुभूति और सम्वेदनशीलता के कारण ही सियारामशरणजी ने अपने लोकप्रिय उपन्यास 'नारी' में भारतीय नारी-जीवन की करुणा के जो सफल चित्र प्रस्तुत किये हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ है।

डॉ० रामकुमार वर्मा—श्री रामकुमार वर्मा जिस प्रकार जीवन को सुख-सुगन्धि, रूप और प्रगतिशीलता का एक मिलाजुला रूप समझते हैं, उसी प्रकार उन्होंने नारी में भी सुख-सुगन्धि रूप और प्रगतिशीलता के दर्शन किये हैं। वर्माजी विशुद्ध रहस्यवादी कवि हैं। अध्ययन, चिन्तन, कल्पना और अनुभूति ने इनकी दार्शनिकता को विशुद्धता प्रदान कर दी है। फलतः उनकी नारीगत कल्पना भी बहुत कुछ दार्शनिक हो गयी है। प्रकृति में आपकी अन्तर्दृष्टि बहुत सूक्ष्म है और जब उन्होंने प्रकृति के साथ नारी को देखा है तो वह भी अत्यन्त सूक्ष्म हो गयी है। छायावादी कवि के रूप में वे रात की कल्पना एक मालिन के रूप में करते हैं और उससे तारे वाले गजरों का रहस्य पूछने लग जाते हैं।[1]

नारी को हृदय की अधिष्ठात्री बनाकर उन्होंने भी अन्धकारमय जगत में उससे जीवन ज्योति ग्रहण करना चाहा है।[2] उसके अधरों में वे उज्ज्वल जीवन-सार की

१. इस सोते संसार बीच, जग कर सज कर रजनी वाले !
   कहाँ बेचने ले जाती हो, ये गजरे तारोंवाले ?'—आधुनिक कवि—३—अंजलि; पृ० ९६

२. 'प्रेयसी जग है एक भटकता शून्य सतम अज्ञात,
   एक ज्योति सी उठो गिरो पथ-पथ पर बन प्रात।'—रूपराशि—श्री वर्मा; पृ० ४

कल्पना करते हैं। नारी को इतनी अधिक महत्ता प्रदान करके कवि ने नारी का उचित मूल्यांकन किया है। उसकी मांसलता पर उनकी दृष्टि नहीं गयी। उनकी दृष्टि में नारी कोमल भी है और कठोर भी तथा समय पड़ने पर वह रणक्षेत्र में भी उतर सकती है।[1]

डा० वर्मा की रचनाओं 'अञ्जलि', 'अभिशाप', 'रूप-राशि', 'चित्ररेखा' और 'अभिशाप' में रहस्यवाद की प्रवृत्ति ही प्रमुख रूप से दिखायी पड़ती है। उन्होंने स्वयं भी 'आधुनिक कवि-३' की भूमिका में लिखा है—मैंने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है। इसीलिए मैंने किसी हल्के क्षण में कविता नहीं लिखी।.... ....संभवत: यही कारण है कि मैं भौतिक शृंगार की कोई कविता नहीं लिख सका'। फिर भी जहाँ उन्होंने नारी-रूप का चित्रण किया है, वह बड़ा ही आकर्षण है।[2]

अपनी नवीन काव्य-रचना 'एकलव्य' महाकाव्य में वर्माजी ने एकलव्य की माता का जो चित्रण किया है, वह बहुत ही भव्य और आदर्शयुक्त है। अष्टम-सर्ग (ममता) में माता एकलव्य की चिन्ता में निमग्न है। वह पुत्र की बाल्यावस्था की अनेक बातों का स्मरण करती हुई[3] उसके वियोग से वह इतनी पीड़ित है कि

---

१. 'नारियों ने भी लो असि तान, चढ़ाए रण में आत्म प्रसून
छोड़ दी मुग्धा सी सब लाज।'
....
'शीघ्र ही दो किंकिणी उतार
बाँध भी लो कटि में तलवार, छोड़कर चुम्बन का उपहार
दृगों का त्यागा चंचल वार, दृगों में यौवन का मृदुमद,
हटाकर रखा रण उन्माद भुला मृदुवाणी सीखा नाद।'—चित्तौड़ की चिता; पृ० ८५

२. 'मैं तुमसे मिल गया प्रिये, यह है जीवन का अन्त।
इसी मिलन का गीत कोकिले, गा जीवन पर्यन्त।।'—आधुनिक-कवि ३—रूपराशि; पृ० ४७

३. 'मेरा लाल न अब तक आया।
मार्ग देखकर थकी, न कोई उसका कुशल संदेशा लाया।'
....
मेरे सुन्दर से प्रिय छौने!
खोज रही हूँ आज तुझे मैं, सूने घर के कोने।'—एकलव्य-अष्टम सर्ग; पृ० १४८

एकलव्य का छोटा-सा धनुप भी उसे विरह-बाण मारता है।[१] अपने पुत्र के वियोग में यमुना के प्रवाह को देखकर भी वह चिढ़ती है।[२] तदनन्तर ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त—सभी ऋतुओं को सम्बोधित करती हुई, वह अपनी वेदना व्यक्त करती है। यहाँ तक कि वह कीर से भी पिंजडे को चीरने के लिए प्रार्थना करती है।[३] अन्त में माता अपने पुत्र एकलव्य का सम्पूर्ण शरीर[४] और अपने नेत्र[५] भी गुरु द्रोण को समर्पित करने को तैयार हो जाता है। माता का यह महान त्याग वास्तव में अनुकरणीय है। इस प्रकार एकलव्य की आदर्श गुरुभक्ति के साथ-साथ कवि ने माता के सच्चे रूप और उससे हार्दिक प्रेम की सुन्दर झाँकी भी बड़ी सफलता के साथ इस महाकाव्य में प्रस्तुत की है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा'—पं० माखनलाल चतुर्वेदी खंडवा से प्रकाशित सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय पत्रिका 'कर्मवीर' के यशस्वी सम्पादक और हिन्दी के वयोवृद्ध कवि थे। उनके अब तक कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'हिमकिरीटनी', 'हिमतरंगिनी', 'माता', 'समर्पण', 'वेणु लो गूंजे धरा' तथा 'बीजूरी काजल आँज रही' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इनकी रचनाओं में राष्ट्रीय-भावना और स्वदेश प्रेम की प्रवृत्ति ही प्रमुख है तथापि हमें यत्र-तत्र माधुर्यपूर्ण-काव्य तथा नारी-चित्रण के भी दर्शन हो जाते हैं।

---

१. 'यह छोटा-सा धनुप तुम्हारा।
इससे तीखा विरह-बाण क्यों मेरे मन में मारा?
आज बह रही है आंखों में जब आँसू की धारा।'—वही पृ० १४१

२. वही; पृ० १५४

३. 'अरे सुन, ओ उन्मादी कीर।
तू भी वाक्य-वेध सीखा हैं, पिंजड़े को दे चीर।'—वही; पृ० १५४

४. 'गुरुदेव! आज धन्य मेरा लाल है।
जिसका अंगुष्ठ प्राप्त करके प्रसन्न हैं।
उसका शरीर भी समर्पित है आपको।'—वही; पृ० ३०२

५. 'आपके विधान में नियम यदि ऐसा हो,
शिष्य-माता से भी दक्षिणा में लिया जाता है।
तो विनीत मेरी प्रार्थना है, देव! सुनिये,
नेत्र मेरे लीजिए पुनीत निज सेवा में,
जिससे न देख सकूँ खंडित अंगुष्ठ में,
निज प्रिय लाल के सलोने उस हाथ का।'—वही; पृ० ३०४

कवि की 'तुम मिले' शीर्षक कविता में माधुर्य की छटा सुन्दर ढङ्ग से व्यक्त की गई है। उनकी नारी भी पुरुषों की भाँति राष्ट्र-सेवा की पुनीत भावना से प्रेरित होकर देश के लिए हँसते-हँसते अपना प्राण-विसर्जन करने को तैयार है।[1] कवि ने नारी के वीरांगना-रूप के भी दर्शन किये हैं। जब वह सिपाई को उत्साहपूर्वक शब्द, में अपनी अमर-वाणी कहते सुनता है तो उसे उसकी पत्नी (सिपाहिनी) का भी स्मरण हो उठता है। पुरुष जब शंकर का रूप धारण कर सकता है तो कवि की दृष्टि में नारी भी दुर्गा बन सकती है। कवि की नारी पति से अधर पर अधर रखकर बात करना नहीं चाहती, वह तो अब चूड़ियों वाले हाथों में भुजदण्ड धारण करना चाहती है।[2] उसे मात्र 'जौहर' करना पसन्द नहीं, वह तो अब युद्धभूमि में जा अपना जौहर दिखाना चाहती है।[3]

पं० चतुर्वेदी प्रकृति-काव्य के भी मौलिक सृष्टा थे। कई रचनाओं में उन्होंने अपने आराध्य के प्रति 'मधुर', 'सुन्दर', 'नेह' आदि शब्दों के सम्बोधनों को अपनाया है तथा प्रकृति के माध्यम से अपनी नारी-भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति की है।

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'—राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माता श्री 'दिनकर'

---

१. 'एक से लग एक, हम जलती रहें,
और बलि-बहनें बढ़ें, फलती रहें,
सूर्य की किरनें कभी तो आएगी,
जलन की घड़ियाँ, उन्हें ले आएंगी।'—'हिम किरीटिनी'; पृ० ३०

२. 'चूड़ियाँ बहुत हुईं कलाइयों पर प्यारे भुजदण्ड सजा दो।
तीर कमानों में सिंगार दो जरा जिरह बख्तर पहना दो।'
....
'कैसे सेनानी हो, जो मैं नहीं सैनिका होने पाती!
कैसे बल हो अबलापन को जो मैं नहीं डुबोने पाती!'
....
मेरे प्रणय और प्राणों के ओ सिंदूर रक्तिम लाली!
तुम कैसे प्रलयंकर शंकर! जो मैं रहूं न दुर्गा, काली!'—'हिमकिरीटनी'
(सिपाहिनी); पृ० १३६

३. 'जौहर से बढ़कर, घोड़े पर चढ़कर जौहर दिखलाने दो,
चूड़ियाँ हों सुहागिनी, यौवन! यौवन अपनी पार आने दो।'—वही; पृ० १४२

आधुनिक-युग की प्रगतिवादी-काव्य-परम्परा के एक ऐसे कवि हैं जिन्हें देश के जागरण की अनुभूति है। राष्ट्र कवि के साथ-साथ वे भारत और भारतीयता के अटल उपासक हैं और उन्हें अपने देश के गौरव का गर्व है। रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, दिल्ली, नीम के पत्ते, नील कुसुम, परशुराम की प्रतीक्षा, बापू और आत्मा की आँखें उनकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियां हैं तथा 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' उनके सुप्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य हैं।

छायावाद-काल की रंगीनी से दूर हटकर जब कवि ने अपना एक नवीन क्षेत्र तैयार किया तब उसने देखा कि क्रान्ति के सब उपकरण प्रस्तुत हैं और वह किसी भी दिशा से देश में उतर सकती है। कवि ने उसे 'विपथगा' का नाम देकर उसके काल्पनिक रूपविधान को अधिक प्रभावशाली और आकर्षक पाया। उस विपथगा-रानी का आमंत्रण कब होता है, यह दर्शनीय है।[1] कवि एक ओर देश के क्षुधित, अर्धनग्न, पीड़ित जन-जीवन को कराहता देखता है और दूसरी ओर जब दिल्ली को वैभव और विलास के नाना उपकरणों से सुसज्जित देखता है तब उसे दिल्ली उस कुलटा परकीया-सी प्रतीत होती है, जो चिर-परिचित स्वपतिको बिलखता छोड़ पर-पति के मिलनोत्साह में षोडश शृंगार से अपने को सुसज्जित करती है और जिसका शृंगार गम के सीने पर विलास के नग्न-नृत्य-सा लगता है।[2]

कवि 'दिनकर' ने 'रसवन्ती' शीर्षक शृंगार-परक गीतों का उद्भव हेतु अपने हृदय की विवशता बतलायी है। ये कविताएं बे-रोक कवि के हृदय से प्रकट हुई हैं। 'बालिका से वधू' कविता में कवि ने एक ऐसी ग्राम-कन्या का चित्रण किया है जो महाकवि कालिदास की शकुन्तला की भाँति नयी-नयी ससुराल जा रही है। अपने पितृगृह के वियोग की व्यथा से उसका अन्तस्थल व्यथित है। षोडशी-ग्राम्या का

---

१. 'श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
मां की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों में रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाए जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार तब देता मुझको आमन्त्रण।'—हुंकार—श्री 'दिनकर'

२. 'दिनकर' के काव्य—श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'; पृ० ६४

नवोढा-स्वरूप बड़ा ही आकर्षक बन पड़ा है।[1]

शौर्य और सौन्दर्य के कवि 'दिनकर' की दृष्टि में जब नारी अपने आकर्षण को दिखाकर प्राणों को प्रमत्त बना देती है तो उसका सामना करने का किसी को साहस नहीं होता। यहाँ आधुनिक कवि की सौन्दर्य-भावना प्रधान हो जाती है। इस सौंदर्य-भावना में उसे नारी केवल प्रेयसी या पत्नी-रूप में ही नहीं दिखायी देती, प्रत्युत वह उसके मातृत्व वाले रूप को भी देखता है। वह उसके प्रति अपनी श्रद्धा ज्ञापित करना नहीं भूलता।[2] किन्तु जब कवि प्रकृति में प्रीति का आदान-प्रदान देखता है तो अपने एकाकीपन से विह्वल हो उठता है। फलतः वह अपने अभाव की अनुभूति को दूर करने के लिए सपने की एक प्रतिमा की रचना करता है। कवि के गान उस स्वप्निल मोहिनी छवि पर केन्द्रित हो जाते हैं। वह मोहिनी छवि और कहीं नहीं, मात्र नारी में देखता है। आधुनिक काव्य की भारतीय नारी की वेषभूषा पर कवि ने बड़ा सुन्दर कटाक्ष किया है—

'एक नग्नता वह थी जब भू के पहले नर-नारी
सहज नग्न थे, किन्तु, नग्न होने का ज्ञान नहीं था,
....
आखिर जाग पड़ी नारी लज्जा से आकुल होकर।' किन्तु आज—
....
'लज्जा वसनों में अनेक वातायन खोज रही है,
देह पहनती चीर नग्नता अपनी दिखलाने को।—अवन्तिका (जून १९५४) नग्नता

कवि 'दिनकर' का आधुनिक प्रेम-कवियों में बहुत ऊंचा स्थान है। 'रेणुका' और 'रसवन्ती' के अनेक गीतों में उनके प्रणय की अभिव्यक्ति और माधुर्य के हमें दर्शन होते हैं। उनकी मधुर मिलन-भावना अनेक स्थलों पर चहचहा उठी है। कवि 'दिनकर' की दृष्टि में नारी प्रेम के लिए जीती-मरती है, वह पुरुष को अपने प्रेम से ही उठाती है और अपने असत रूप में उसी से गिरती भी है। उसके अन्दर पुरुष के लिए निर्माण की भावना बहुत गहरी रहती है। वह उसे दुख में भी निराश नहीं होने देती। उसका कहना है—

'पुरुष चूमते तब जब वे सुख में होते हैं।
हम चूमती उन्हें जब वे दुःख में होते हैं।'

---

१. 'पी चुपके आनन्द उदासी भरे सजल चितवन में,
आँसू में भीगी माया चुपचाप खड़ी आँगन में।'—रसवन्ती (बालिका से वधू) 'दिनकर'

२. रसवन्ती (नारी)—'दिनकर'; पृ० ३०

वह सदैव पुरुष के लिए अपने जीवन की अंधेरी रात में भी मुस्कान की चाँदनी बाँटती रहती है। नारी से इससे अधिक पुरुष और क्या अपेक्षा रख सकता है ? कवि को इसलिए नारी में 'आदि-काल' से अब तक सभी शक्तियों--रति, राधा, पार्वती, सीता, द्रौपदी, यशोधरा, कस्तूरबा आदि के दर्शन हुए हैं। वह नारी को सम्बोधित करके कहता है--

'तू कामदेव की रति नारी, तू कृष्ण चन्द्र की राधा है।
तू शती शंकरा शंकर की, तूने वन उसका साधा है।
....

तू ही कस्तूरी बाई है जिसने उस पथ को शुद्ध किया,
जिसपर चलकर गाँधीजी ने निरूपम स्वतन्त्रता युद्ध किया।'

कवि नारी की इसी शक्ति की प्रशंसा करके संतोष-लाभ नहीं कर लेता। वह कवि या कलाकार की अभिराम कला की प्राण प्रतिष्ठा में नारी के महत्त्वपूर्ण योग को जानता है--

'कवियों की प्रतिभा जाग सकी जब तूने उसे जगाया है,
उनकी अभिराम कला को ही तूने सप्राण बनाया है।'

इसी कारण कवि नारी की शक्तियों से अभिभूत होकर उसके प्रति श्रद्धा से झुक जाता है।

नारी की शक्ति से आधुनिक कवि इतना अभिभूत हो उठा कि उसे समस्त विश्व में उसी की महानता दृष्टिगोचर होने लगी। उसकी माँग का सिंदूर ही रवि को विभामय करने वाला दिखाई दिया। कवि ने नारी को 'भूतल पर स्वर्गीय किरण' माना है। वह कल्पना करता है कि जब पीयूष मोहिनी अपने अमृत के घट को लेकर स्वर्ग जा रही थी, तब घट से थोड़ा अमृत छलक पड़ा और वही अमृत नारी-रूप में परिवर्तित हो गया।[1]

आज के कवि ने भी कविवर रवीन्द्रनाथ के स्वरों में स्वर मिलाकर नारी को

---

१. 'पीयूष मोहिनी के घट से, सहसा थोड़ा सा छलक पड़ा,
वह मर्त्य लोक में गिरा, स्वर्ग रह गया देखता खड़ा खड़ा,
हो गया सुधा का विधि गति से नारी स्वरूप में परिवर्तन।'--'विश्वमित्र'
(नवम्बर, १९४२) नारी--श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'

कलामय माना है ।[१] कविवर निरालाजी ने भी कहा है कि कला अपने नाम से ही नारी-स्वभाव की सूचना देती है । उसकी कोमलता एवं विकास में महिलाओं की प्रकृति निहित है । प्रसादजी की श्रद्धा ललित-कलाओं के ज्ञान के लिए ही गंधर्व-देश में आई थी ।[२] गुप्तजी की उर्मिला एक दक्ष चित्रकार है[३] और हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने तो 'जादूगरनी' की वीणा में समस्त ललित-कलाओं का सार पा लिया है ।[४] आधुनिक-कवि नारी को मात्र कलाकार अथवा कलाकृति ही नहीं मानता, अपितु उसे कला की प्रेरणा भी मानता है ।

कविवर 'दिनकर' की 'रसवन्ती' में तीन रचनाएं हैं—दो के शीर्षक 'नारी' और तीसरी 'पुरुष-प्रिया' है । पहली 'नारी' रचना पर छायावादी कवि श्री पन्त का प्रभाव स्पष्ट झलकता है[५] और वह इतिवृत्तात्मक होकर रह गयी है यद्यपि वह सम्पूर्ण कलाओं की प्रेरक शक्ति के रूप में चित्रित की गई है । उनकी दूसरी 'नारी' रचना में नारी के दो चित्र—आधुनिका और ग्रामीणा—उपस्थित किये गये हैं । आधुनिका दूसरों की आंखों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कृत्रिम श्रृंगार-सज्जा को अपनाती है[६] जबकि कवि की ग्रामीणा अपने पैर की उंगलियों तक को चादर से

---

१. 'तुम नियंता की कलाकृति, काव्यरूपा कामिनी हो ।'—वही

२. 'कामायनी'—(श्रद्धा)—प्रसाद; पृ० ४४

३. साकेत—सर्ग १; पृ० १८–२१—सर्ग ६; पृ० २५१

४. 'जादूगरनी'–'प्रेमी'; पृ० १६

५. 'खिली भू पर जब से तुम नारि,
कल्पना-सी विधि की अम्लान,
रहे फिर तबसे अनु-अनु देवि !
लुब्ध भिक्षुक से मेरे गान ।'

....

'दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
खिल गई कमल पंक्ति अम्लान ।'—रसवन्ती (नारी)—'दिनकर'

६. पहन नील किर्मीर वसन तितली से पंख लगाए
उर-गृह से बाहर आकर तुम किसको ढूंढ़ रही हो ?—
रसवन्ती (आधुनिका)

ढककर बैलगाड़ी पर बैठी ससुराल जा रही है। वह कदापि अपने शील को त्यागना नहीं चाहती।[१] कवि ने उसे 'समाज की विवश वन्दिनी' कहा है।

सात सर्गों वाले 'रश्मिरथी' प्रबन्ध-काव्य में कवि ने कुन्ती का साहसी रूप प्रस्तुत किया है। महारथी कर्ण कुन्ती से कहता है कि तुम मेरी माता बनने की अधिकारिणी नहीं हो, माता मेरी वही है जिसने मेरे ऊपर माता के योग्य वात्सल्य-स्नेह की वर्षा की। मुझे आज्ञा देने की अधिकारिणी मेरी सच्ची माता राधा ही है।[२] इस रचना में कवि ने कुन्ती के चरित्र को भी निखारने का भरसक प्रयत्न किया है[3] और अन्त में माता और पुत्र को गले मिला दिया है।

'उर्वशी' दिनकरजी की वह नवीनतम कृति है जिस पर उन्हें १ दिसम्बर १९७३ को एक लाख रुपये का ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया है। उर्वशी काम और अध्यात्म के द्वन्द्व, नर-नारी के संयोग और वियोग तथा यौन आकर्षण का महाकाव्य है। कविवर दिनकर ने इस रचना के माध्यम से यह बतलाने का सफल प्रयास किया है कि अनन्त काल से मनुष्य में जो काम शक्ति है वह उसमें नित्य नवीन प्रेरणा स्फुरण तथा सुख का प्रसार करती आई है। कवि ने स्वर्ग लोक की अप्सरा, अनिंद्य सुन्दरी, रति की साकार प्रतिमा उर्वशी को सनातन नारी का प्रतीक और अनेक ध्वनियों से आक्रान्त पुरूरवा को सनातन नर का प्रतीक माना है। महाकाव्य के प्रमुख पात्र हैं—उर्वशी, पुरूरवा, औशीनरी और सुकन्या तथा सम्पूर्ण कथा वस्तु पांच अंकों में विभाजित है।

उर्वशी प्रेम की सच्ची प्रतिमा एकार्पिता प्रेमिका और सही अर्थ में एक जननी भी है क्योंकि उसमें मातृत्व की पीयूष धारा भी बह रही है। उसमें गृहिणी के गुण भी विद्यमान हैं। औशीनरी महाराज पुरूरवा की महारानी है। उसके चरित्र में कवि ने एक असहाय एवं आदर्श गृहिणी के गुणों को बड़ी सफलता पूर्वक चित्रित किया है—

---

१. 'कांप रही शंकिता मृगी-सी वह सिकुड़ी-सिमटी भी,
जी कहता है, अपना पौरुष, इज्जत उसे बढ़ा दूं।'—वही (ग्रामीणा)

२. 'उसको सेवा, तुमको सुकीर्ति प्यारी है,
तुम ठकुरानी हो, वह केवल नारी है।' रश्मिरथी—'दिनकर'

३. 'बेटा, धरती पर बड़ी दीन है नारी,
अबला होती, सचमुच योषिता कुमारी।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,
सिर उठा न पा सकती पतिता निजसुख को'—वही; पृ० ७०

'अवलम्ब है सबको, मगर, नारी बहुत असहाय है—'

....

'रुदन छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का ?'

....

'नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शान्ति करुणा है'

च्यवन ऋषि की धर्मपत्नी सुकन्या एक आदर्श पतिव्रता नारी का प्रतीक है। महर्षि च्यवन की दृष्टि में नारी एक सेतु के समान संसार में प्रकट होती है—

'नारी ही वह महा-सेतु, जिसपर अदृश्य से चलकर,
नये मनुज, नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं। उर्वशी पृ० ११७

श्री 'दिनकर' मूलतः क्रान्ति द्रष्टा कवि हैं तथापि उन्होंने शृंगार को उचित आदर दिया है। नारी को लेकर 'रसवन्ती', 'रश्मिरथी और 'उर्वशी' में बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु किसी भी स्थल पर विकृति नहीं आने पायी है। नारी सम्बन्धी इन रचनाओं में नारी अंगों के प्रति कहीं भी अस्वस्थ आकर्षण नहीं मिलेगा क्योंकि कवि नारी को काव्य, मूर्ति, नृत्य, संगीत आदि कलाओं की प्रेरणा का स्रोत मानता हैं। कवि ने युग की जागृत भावनाओं के अनुकूल नारी के नारीत्व, पत्नीत्व तथा मातृत्व को निर्मल रूप में प्रकट किया है।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान—कवयित्री सुभद्राजी देशवासियों में राष्ट्र-प्रेम और बलिदान की भावना जाग्रत करने के लिए सुविख्यात थीं।[1] सन् १९३१ में उनका काव्य-संग्रह 'मुकुल' प्रकाशित हुआ था। उनकी कविताएं राष्ट्रीय, दाम्पत्य और वात्सल्य भाव से परिपूर्ण हैं। उनकी 'झाँसी की रानी' अपनी इसी स्वदेश-प्रेम के कारण मर्दानी बनकर खूब लड़ी थी जिसकी कहानी आज भी 'बुन्देले हरबोलों के

---

२. न होने दूंगी अत्याचार, चलो मैं हो जाऊं बलिदान,
मातृ मन्दिर में हुई पुकार, चढ़ा दो मुझको हे भगवान।'—'मुकुल'
सुश्री सुभद्रा कुमारी चौहान; पृ० १०२

....

'सबल पुरुष यदि भीरु बनें, तो हमको दे वरदान सखी,
अबलाएं उठ पड़ें देश में, करें युद्ध घमसान सखी॥
पन्द्रह कोटि असहयोगिनियां दहला दें ब्रह्माण्ड सखी।
भारत लक्ष्मी लौटाने को रच दें लंकाकाण्ड सखी॥'—वही—(विजयादशमी)
पृ० ६४

मुख से' सुनी जाती है। उनकी यह ओजस्विनी और अमर 'झांसी की रानी' कविता आज भी निर्जीव लोगों में प्राण फूंकने का कार्य करती है।[1]

कवियित्री जहाँ नारी के पारिवारिक अथवा प्रेम-सम्बन्धी चित्रण पर उतरी है, वहाँ उन्होंने नारी के आत्म-समर्पण, निःस्वार्थ प्रतिदान की अपेक्षा सर्वथा दूर उसके पावन प्रणय, माँ के वात्सल्य-हृदय की सुन्दर झाँकियां प्रस्तुत की हैं। उनकी नारी जब प्यार करती है तो अपने प्रियतम से कहती है—

'मैं भूलों की भरी पिटारी, और दया के तुम आगार।
सदा दिखाई दो तुम हँसते, चाहे मुझसे करो न प्यार।'[2]

वह पुरुष की मुस्कान-मात्र से सन्तोष कर लेती है, चाहे प्यार मिले अथवा नहीं। यहां नारी का पति-प्राण भारतीय-रूप स्पष्ट उभर कर आया है। अपने आत्म-समर्पण के समय वह अपना सर्वस्व प्रिय के चरणों पर अर्पित कर देती है। उसे उसकी प्रतिक्रिया की तनिक भी परवाह नहीं है कि इससे वह ठुकराई जायगी अथवा उसे इस आत्म-समर्पण के बदले प्रेम मिलेगा।[3] कवयित्री ने नारी के प्रेम को सात्विक तथा शुद्ध माना है।[4]

जब नारी का मातृत्व जगता है तो वह अपनी बालिका के रुदन में भी उस अपूर्व आनन्द का अनुभव करती है जिसका अनुभव वह दूसरों को भी कराना चाहती है।[5] 'बालिका का परिचय' नामक कविता में नारी का जो मातृ-रूप

---

१. 'बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी।'—झांसी की रानी
सुभद्रा कुमारी चौहान; पृ० ६४

२. 'मुकुल'; पृ० ४१

३. 'मैं उन्मुक्त प्रेम की प्यासी, हृदय दिखाने आई हूँ।
जो कुछ है बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ।
चरणों पर अर्पित है इसको, चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो।'—'मुकुल'; पृ० ४५

४. 'मेरे इस पवित्र बन्धन में मोह नहीं है, राग नहीं।
मेरे इस स्नेही स्वभाव में है कलुषित अनुराग नहीं॥'—त्रिधारा—प्रेम-शृंखला
पृ० ५१

५. 'तुम कहते हो मुझको इसका रोना नहीं सुहाता है।
मैं कहती हूं इस रोने से, अनुपम सुख छा जाता है।
ये नन्हें से ओंठ और यह लम्बी सी सिसकी देखो।
यह छोटा सा गला और यह गहरी-सी हिचकी देखो।'—'मुकुल' पृ० ६१-६२

छाया है, वह अपने मातृत्व का पर्दा क्षण भर के लिए दूसरों पर भी डाल देना चाहती है ।

सुभद्रा जी ने नारी उर में छिपे हाहाकार को पहचाना है किन्तु उसे खेद है कि उस हाहाकार को संसार ने अदेखा ही छोड़ दिया है क्योंकि संसार तो नारी के नित नवीन श्रृंगार पर दृष्टि गड़ाता है। उसके हृदय में कौन-सा तूफान मन को कुरेद रहा है, इस हाहाकार को कौन सुनने जाता है। इस प्रकार कवयित्री ने न केवल गृहस्थी से पीड़ित नारी के प्रति अपनी श्रद्धा ज्ञापित की है, वरन् उसके प्रति भी उतने ही सहृदयता के भाव से सहानुभूति प्रदर्शित की है जो निज नारीत्व और स्वभाव-जन्य शक्तियों और आकांक्षाओं की होली जलाकर विवशताओं में बंधकर अवांछित हैं, जो वीरांगनाएँ, वेश्याएँ तथा देव दासियां हैं। महादेवजी ने भी इन वार-विलासिनी नारियों के प्रति अपनी श्रद्धा ज्ञापित की है। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि रूप की हाट में बैठकर अपने नारीत्व का गला घोटने वाली वेश्या में भी चिरन्तन नारी हृदय वर्तमान है ।[1]

डॉ० हरिवंशराय 'वच्चन'—मधुशाला, मधुवाला निशा निमन्त्रण और मधु-कलश के सुप्रसिद्ध कवि 'वच्चन' मुख्यत: मानव-भावना, अनुभूति, प्राणों की ज्वाला तथा जीवन-संघर्ष के आत्मनिष्ठ कवि हैं।' कवि 'वच्चन' का विकास छायावाद और प्रगतिकाल के संधिकाल में हुआ। कविवर पन्त के शब्दों में अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में 'वच्चन' छायावाद के शब्द संगीत तथा द्विवेदीयुगीन काव्यात्मकता के सुथरेपन से प्रभावित अवश्य प्रतीत होता है और 'बंगाल का काल' तथा कुछ अन्य मुक्त-छन्द की रचनाओं में उसके भीतर प्रगतिवाद की बहिर्मुखी झिल्ली की झंकार भी यत्र-तत्र मिलती है, पर उसका कवि मुख्यत: गायक ही की मादकता लेकर प्रकट हुआ है' ।[2]

आज का कवि मनोविज्ञान से बहुत अधिक प्रभावित है। वह नारी के मनोविज्ञान को परखता है किन्तु उस मनोविज्ञान के अध्ययन में एकांगी इस अर्थ में हो जाता है कि वह नारी का प्रेयसी-रूप प्रधान मानता है और उसकी आंखों के प्याले में यौवन-मद की सुरा डालते रहना चाहता है, वह नारी में विलास-मात्र की झलक देखता है। नारी के अधरों की सजीवता इसी में समझता है कि उन्हें अधरों का आलिंगन प्राप्त हो। उन अधरों में उसे प्रणय की हाला का नशा छिपा मिलता

१, 'श्रृंखला की कड़ियाँ'—महादेवी वर्मा; पृ० ११४
२. 'अभिनव-सोपान'—(वच्चन)—की भूमिका में पन्त जी

है ।[1] वह नारी के प्रणय की मधुशाला खोलना चाहता है । उसे नारी 'मधुबाला' के रूप में और उसका यौवन 'मधुशाला' के रूप में दिखायी देता है । वह जीवन-भर उसी 'मधुबाला' की 'मधुशाला' की खोज में खोया रहना चाहता है ।[2]

कवि 'बच्चन' ने निराशाओं और निष्फलताओं के बीच जिस मादक-रूप के दर्शन किये हैं, वह फारस के कवि उमर खैयाम की देन है । उनमें निराशावाद की प्रधानता है । कवि ने नारी को एक मादकता की जीती-जागती प्रतिमा के रूप में देखा है जो जग ज्वाला से सन्तप्त मनुष्यों के दुःखों को प्रणय के मधुदान से शान्त कर देती है । इस मधुदान के लालच में संसार को हलाहल भी पी जाना पड़ता है ।[3] 'बच्चन' ने अपनी 'नागिन' कविता में नारी के लिये नागिन का प्रतीक प्रयुक्त किया है । सुन्दर नारी आधुनिक युग की नागिन हैं जो पुरुष को मन्त्रमुग्ध कर डस लेती है । कवि की 'नागिन' नाग योनि सर्पिणी न होकर एक ऐसी विश्व को मोहने वाली माया है जिसके आकर्षण और जिसकी अजेय शक्ति और प्रेरणा से संसार अनन्तकाल से परिचालित होता रहा है ।[4] नागिनी रूपिणी नारी यौवन और जीवन का साकार रूप है ।

---

१. (क) 'आज सजीव बनालो प्रेयसी अपने अधरों का प्याला ।
भर लो, भर लो, भर लो इसमें यौवन की मधुरस हाला ।।'—मधुशाला; पृ० ६३

(ख) 'पास आओ, चन्द्रमा के होठ-चूमूं
कुन्तलों के बादलों के साथ घूमूं
आज तुम पाताल को आकाश कर दो ।'—'मिलन-यामिनी'; पृ० २८

२. 'सुमुखि तुम्हारा सुन्दर मुख ही माणिक मदिरा का प्याला ।
छलक रही है जिसमें छल-छल रूप मदिर मादक हाला ।'—वही; पृ० ६६

३. 'जगत घट को विष से कर पूर्ण किया जिन हाथों ने तैयार ।
लगाया उसके मुख पर नारि तुम्हारे अधरों पर मधुसार ।।
नहीं तो कब का देता फोड़ पुरुष यह विषघट ठोकर मार ।
इसी मधु का लेने को स्वाद हलाहल पी जाता संसार ।।'—हलाहल—बच्चन पृ० १

४. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृतियाँ—डा० जगदीशनरायण त्रिपाठी; पृ० ५४

कविवर 'बच्चन' की यह मधुबाला-भावना छायावादी कवियों की प्रेयसी भावना से बहुत कुछ मिलती-जुलती है क्योंकि छायावादी कवियों ने जिस निराश पलायन के लिए 'प्रेयसी, का रूप आँका था, उसी दृष्टि से हालावादियों ने मधुबाला की सृष्टि की। इस प्रकार की बिलासिता प्रिय नारी-भावना रोमाँसवादी नारी-भावना के नाम से पुकारी जाती है। इसी भावना का विकास और ह्रास आगे के कवियों ने भी प्रकारान्तर से किया है। हिन्दी का अत्याधुनिक कवि भी हालावादी माध्यम के मोह से मुक्त नहीं हो सका है।[1]

'हालावाद' के बाद के 'बच्चन' सर्वथा भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। प्रयोगवाद के जन-विरोधी दृष्टिकोण से 'सर्वथा' अप्राभावित रहकर अपनी 'विशिष्ट' और 'अभ्यस्त' रीति के अतिरिक्त 'बच्चन' ने अन्यप्रयोग भी किये हैं।

कविवर 'बच्चन' जीवन का सम्बल प्रेम को मानते हैं और उनका विश्वास है कि प्रेम व्याधि नहीं अपितु जीवन का आकर्षण और गीतों के लिए प्रेरणा है, तभी तो उन्होंने लिखा है—'मैं जग-जीवन का भार लिए फिरता हूँ, फिर भी जीवन में प्यार लिए फिरता हूँ' —'याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा' 'न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ, मगर यामिनी बीच में ढल रही है'–'सुमुखि, तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था'––'आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो, मैं न खोलूँ द्वार कैसे।'

फिर 'पत्नी' के देहावसान और प्रेम की दुनियाँ के धोखा देने पर कवि का 'जीवन विश्रृंखल हो गया' और तब उनके जीवन में एक मोह आया और परिणामस्वरूप कवि की वेदना और निराशा, 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त-संगीत', 'आकुल-अन्तर', में प्रस्फुटित हुई है। फिर 'बच्चन' निराशा उच्छ्वास और कंटकों की विषण्ण भूमि को पार कर प्रकाश की ओर बढ़ रहा है अपनी रचनाओं-सतरंगिनी, मिलन-यामिनी और प्रणय-पत्रिका में। छन्दों के संगीत, शब्द-चयन, कला-शिल्प, सौन्दर्य-बोध और भाव-व्यंजना की दृष्टि से ये अन्तिम दो रचनाएँ प्रौढ़ कृतियाँ हैं।

निस्सन्देह शैली की सरलता और माधुर्य, शिल्प-विधान, भाव एवं मानव हृदय की चिरन्तन अनुभूतियों के काव्यमय चित्रण की दृष्टि से 'बच्चन' की कृतियाँ भावी कवियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण और नवीन दिशा प्रदान करने वाली हैं।

---

१. 'एक हाथ में सुरा पात्र ले, एक हाथ में घूंघट थामे,
नीरव पग धरती कम्पित-सी, बढ़ी चली आई मधुबाला।
मैंने कहा कंठ सूखा है, किन्तु नयन भी तो हैं प्यासे,
एक मांग मधुशाला से है, किन्तु दूसरी मधुबाला से ॥'––'इत्यलम्'—अज्ञेय

श्री भगवतीचरण वर्मा—यद्यपि वर्माजी अपने उपन्यासों, नाटकों, ध्वनि-रूपकों एवं कहानियों के कारण अधिक प्रसिद्ध हैं तथापि आप एक सफल प्रगतिशील कवि भी हैं। उनकी सुप्रसिद्ध काव्य-रचनाओं में 'मधुकण', 'प्रेम संगीत', 'मानव', 'रंगों से मोह' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा नारी को 'सपने की प्रतिमा' समझ अपने अभावों की काल्पनिक पूर्ति करते दिखायी पड़ते हैं।।[1] उसे 'अमर सन्देश' के रूप में देखते हुए उसकी मुस्कराहट में वह अपने सुख-दुःख को खो देना चाहते हैं।[2] कवि की दृष्टि में पुरुष के जीवन में नारी का प्रवेश असफलता के पट पर आशा की रेखा का अंकन है जो उसकी टूटती हिम्मत को सहारा प्रदान करती है।[3] वह नारी को एक कहानी समझता है जो जीवन के मौन रहस्यों को हल करती रहती है। उसका विश्वास है कि नारी-हृदय अनुराग का अक्षय भंडार है, इसलिए वह अक्षय अनुराग की भिक्षा मांगता[4] और कभी उसे अपने जीवन का जीवन समझ उठता है।[5] कवि पुरुष को नारी के बिना अधूरा समझता है, अतएव उसे जीवन-निधि कहकर पुकारता है। उसे नारी का वियोग असह्य है। उसकी चिर-वेदना से व्याकुल होकर वह नारी-जीवन के मूल तत्त्व प्रेम पर भी अविश्वास कर बैठता है—'जग के स्वर में तुम यह कह दो इस जग में किसका कौन हुआ।' कवि अपने प्रिया की मधुर कल्पना में लीन हो जाता है और स्वयं को उसी में लीन कर देना चाहता है। वह संसार के बीच सुख-दुःखों से लड़ने के लिए नारी से साहस चाहता है, अतएव—"थोड़ा साहस! इतना कह दो, तुम प्रेम-लोक की रानी हो"—कहकर वह अपने में एक साहस की लहर दौड़ना चाहता है। किन्तु एक क्षण के पश्चात् नारी उसे छविजाल-सी दिखायी देने लगती है; इसी कारण वह पूछ बैठता है—"तुम बिछाती चल रही हो, कौन-सा छविजाल रंगिनी?"—संयोग की रात्रि में वह नारी के अधरों से अधर मिलाकर जी-भर अपनी बात कह लेना चाहता है—

---

१. प्रेम संगीत—श्री भगवतीचरण वर्मा; पृ० ३१
२. 'तुम एक अमर सन्देश बनूं मैं मन्त्र मुग्ध-सा मौन रहूं।
तुम कौतूहल सी मुस्का दो, जब मैं सुख-दुख की बात कहूं।'—वही; पृ० २८
३. 'भरे हुए सूनेपन के हम में आशा की लेखा सी,
असफलता के पटपर अंकित तुम आशा की लेखा-सी।' वही; पृ० १८
४. 'जीवन के मौन रहस्यों की तुम सुलझी कहानी हो।'—वहीं; पृ० २६, ४
५. 'आओ जीवन-निधि आओ।'—मधुकण—स्वागत, पृ० ३८

'यह तन्मय की वेला है, यह है संयोग की रात प्रिये !
अधरों से कहलें आज अधर, जो भरकर अपनी वात प्रिये !'

कवि 'नववधू के प्रति' अपनी उत्सुकता प्रकट करता है[1] किन्तु वह नारी के इसी मांसल रूप में खोया नहीं रहता, वह उसमें एक अपूर्व शक्ति की कल्पना करता है और उसे नारी के विभिन्न शक्तिशाली रूप दृष्टिगोचर होने लगते हैं। वह अपने को आदि-पुरुष मानता हुआ आदि प्रकृति नारी के साथ सुख का संसार रच लेना, सुख दुःख की गाथा कहना तथा अमर सन्देश सुनना चाहता है।[2]

पण्डित नरेन्द्र शर्मा—शर्माजी प्रणय-सम्बन्धी विभिन्न भावों की व्यंजना, शृंगार वर्णन और नारी-प्रेम सम्बन्धी कविताओं के लिए सुविख्यात हैं। आपकी काव्य-कृतियों में 'प्रभात फेरी', 'प्रवासी के गीत', 'पलाश-वन', 'मिट्टी और फूल', 'कामिनी', 'रक्त चंदन', 'द्रौपदी' और 'प्यासा निर्झर' विशेष प्रसिद्ध हैं।

कवि की प्रारम्भिक शृङ्गारी रचनाओं में हमें अधिक ऐंद्रिकता एवं स्थूलता उभरी दिखायी देती है। उनकी एक नायिका अत्यधिक भाव विह्वल हो निद्रा के व्यवधान को भी सहन कर सकने में असमर्थ है।[3] उसकी अतृप्त एवं उद्वेगपूर्ण वासना ही इस स्पष्ट कथन का कारण जान पड़ता है। वह पुरुष को रेशमी डोरे से बांधकर सदैव अपने पास रखना चाहती है।[4] वह पुरुष के कर से अपने तंद्रिल तन को सजग मंजरित करने के लिए स्पर्श चाहती है क्योंकि उसे भय है कि कहीं उसका चंचल यौवन प्रिय के कर का स्पर्श पाये विना ही न उड़ जाय।[5] किन्तु

---

१. कहां पर तुम आई हो छोड़ देवि, शैशव का कोमल भार ?
'प्रेम-संगीत' (नववधू के प्रति); पृ० १६३

२. 'तुम एक अमर सन्देश वनो मैं मन्त्र-मुग्ध-सा मौन रहूं।
तुम कौतूहल सी मुस्का दो जब मैं सुख-दुख की बात कहूं।'—'प्रेम-संजीत' पृ० २८

३. 'आज न सोने दूंगी बालम !
आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय निज वक्षस्थल में भर लूंगी;
मृदुल गोल गोरी बांहों में कम्पित अंगों में कस लूंगी।'—'प्रभात फेरी'—नरेन्द्र शर्मा; पृ० ७६

४. 'बांध रेशमी डोरियां में मैं तुम्हें सब दिन,
रखूंगी पास, निशदिन पास, अपने पास।'—'कामिनी'—(अथिति) नरेन्द्रशर्मा पृ० २४

५. 'उड़ न जाय यह चंचल यौवन,
छू दो अपने कोमल कर से सजग मंजरित हो तंद्रिल तन।'—कर्णफूल'; पृ० ४०

विरह-वेदना की अभिव्यक्ति में कवि का स्वर अधिक संयत, गंभीर एवं भावनापूर्ण हो गया है। उसमें वासना का वेग कम है, हृदय की व्याकुलता अधिक।[१]

'पलाश-वन' में कवि ने नारी-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण किया है। कुछ स्थानों पर कवि प्रकृति में अपनी प्रिया के रूप का दर्शन करता दिखायी पड़ता है।[२]

'बात वह करती न, सोने भी न देती,
मुसुकराते मौन वाली चांदनी।'

कवि ने आरम्भ में नारी के वासना-कुल रूप को अधिक सामने रखा है किन्तु साथ ही उसने प्रेयसी से माता के स्थान को उच्च माना है उनकी नारी विरह में अपने प्रिय का ध्यान ही अधिक करती है, पर अन्त में वह कामिनी का अवसान गोद में नवेन्दु के उदय में ही मानती है।—

'भार कितना मधुर सुखमय मधुर कितना भार,
और कुछ दिन में मिलेगा जब मातृपद अधिकार।

शर्माजी ने आगे चलकर इस रोमांसवादी भावना का परित्याग कर[३] अपने गीतों के निमित्त अपनी प्रिया के नयनों के प्रति कृतज्ञता स्वीकार की है।

---

१. 'साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी ?
क्या किसी की याद आई, औ विरह व्याकुल प्रवासी।'
....

'आज के विछुड़े न जाने कब मिलेंगे।'—हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
डा० गणपतिचन्द्र गुप्त; पृ० ७२१–२२

२. (क) 'वह रही लजीओ-सी री पुरवैया'—'मिट्टी और फूल'; पृ० ५७
(ख) 'झीनी बूँदों बीनी धानी साड़ी पहने थी वरसात'—वही; पृ० ६७
(ग) 'गरज रहे घिर मेघ साँवले, नाच रही गोरी बिजली—वही पृ० ६४

३. 'तुम नहीं भोग की ही वस्तु मुझको, अस्तु तुमसे,
भीख मधु की भी माँगता मन भी नहीं, अलि ज्यों कुसुम से!
चाटुकारी से रिझाना हुई अवहेलना तुम्हारी, सुनो नारी!
करूं अभिनन्दन तुम्हारा मौन अब विन कहे तु से।'
....

'सुनो नारी! निरादर का रीति थी वह छोड़ता हूं।'—'मिट्टी और फूल'
पृ० १३४

'प्यासा निर्झर' में हम नारी को अनेक रूप धारण करते देखते हैं।[1]

कवि की एक लघु रचना 'कामिनी' में एक अतिथि और कामिनी की प्रीति कथा का बड़ा ही स्वाभाविक किन्तु हृदयग्राही वर्णन है। इस प्रीतिकथा में मिलन की अपेक्षा वियोग को श्रेष्ठतर बतलाते हुए नारी के मातृत्व रूप की महत्ता सिद्ध की गई है। महाभारत की कथा-वस्तु पर आधारित 'द्रौपदी' लघु-काव्य में पंडित नरेन्द्र जी ने प्रतीक शैली के माध्यम से कविता और दर्शन का उपयुक्त संतुलन प्रस्तुत किया है। उन्होंने द्रौपदी को पाँच महातत्वों को संश्लिष्ट और तेजोमय कर देने वाली जीवनी शक्ति के रूप में देखा है।[2] उसका व्यक्तित्व उदात्त और गरिमामय है, तभी तो सती-शिरोमणि गांधारी ने वनवास के समय विदा देते हुए कहा था—'जाओ पुत्र, पति के साथ वन को स्वर्ग बनाओ और अह्य पति दुःख को हृदय में समेटकर सतीत्व की सार्थकता लाभ करो' कवि ने यह भी सिद्ध किया है कि धर्मराज युधिष्ठिर की विजय के लिये पृथा ने अपने अवैद्य पुत्रों की बलि दी, द्रौपदी ने अपने पाँच पुत्रों को खोया गांधारी ने अपने १०० पुत्रों को गंवाया और सुभद्रा ने अपने पुत्र का बलिदान दिया अतएव नारी ही नर को दीप्त करती है। यदि नारी का अपमान होता रहेगा तो पृथ्वी डूब जायेगी। नारी यदि शाप और संहार में लगे तो नाश ही नाश दिखायी देता है।[3] जान पड़ता है कि युग की माँग पर पं० नरेन्द्रजी ने द्रौपदी लघुकाव्य लिख कर नारी की भीतरी शक्तियों को उभारने का प्रयास किया है।

इस प्रकार हम नरेन्द्र शर्मा की काव्य-चेतना का विश्वास क्रमशः नारी-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम एवं अलौकिक-प्रेम की विभिन्न मंजिलों के रूप में पाते हैं। कवि का भाव-क्षेत्र क्रमशः अधिकाधिक व्यापक एवं उसकी विचारधारा उत्तरोत्तर प्रौढ़ होती गयी है।[4]

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'—श्री 'अंचल' की प्रारम्भिक रचनाओं में हमें नारी का वासनात्मक रूप अधिक मिलता है, किन्तु बाद में समाजवाद के प्रभाव में

---

१. क्रीत दासी, स्वामिनी, आराध्य हो, आराधिका भी
प्राण मोहन कृष्ण हो तुम, शरण अनुगत राधिका भी
सहचरी हो, ओ वंदनीया, अम्बिका भी
भक्ति की कृति हो, स्वयं फिर भक्त की प्रति पालिका भी

२. 'आनन्द, पुलक, आह्लाद, दिव्य उन्माद, देह, मन, वाणी,
द्रोपदी जीवन-शक्ति, पंच तत्वों की, वह कल्याणी।—द्रोपदी–पृ० १२

३. कुरुक्षेत्र ढह गया आह से, स्वर्ण द्वारिका डूबी
है नारी के अश्रु बिन्दु में पारावार प्रलय का।—वही; पृ० ५१

४. 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'—डॉ० गणपति चन्द्र; पृ० ७२२

आकर कवि नारी को विद्रोहियों के कैम्प में बुलाता प्रतीत होता है।[1] अंचल ने १९४१ में लिखा था 'प्रगतिशील कविता का उन क्लीवों के लिए एक आग-भरी हाहाकार है जो नारी को योनि-मात्र या एक बायोलाजिकल (Biological) आवश्यकता-भर समझते हैं। किन्तु यदि 'अंचल' के साहित्य पर दृष्टि डालें तो अंचल स्वयं नारी की यौनि भावना से ऊपर नहीं उठ पाये। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में 'अंचल' नवीनहिन्दी का एक क्रान्ति-दूत है—क्रान्ति उसने की है छायावाद की मानवीय, किन्तु अशरीरी कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कल्पना द्वारा।' निस्सन्देह वे उद्भ्रान्त यौवन के ज्वलनशील विद्रोही कवि हैं।

कविवर 'अंचल' मस्ती और यौवन लेकर आये हैं और इसी मस्ती और यौवन का सारा बोझ नारी के ऊपर उड़ेलकर उसी के यौवन-रस का पान करते रहना चाहते हैं। नारी के एक-एक अङ्ग पर वे झूम उठते हैं,[2] उसकी वेणी पर पागल हो जाते हैं, उनके मन में न जाने कौन अनंगवती प्रबल पिपासा भरती रहती है 'कौन सलोनी परी मुझे कर देती पागल सा, कौन अनंगवती रग-रग में भरती प्रबल पिपासा' वे नारी को 'नग्न मुखर मधुधारा' के रूप में देखतें हैं। उसका रूप अंचल की सीमा-हीन पिपासा का उद्दीपक है, उस रूप को केवल उपयोग की दृष्टि से देखा गया है। उन्हें नारी भोली-भाली साकी के रूप में दिखायी पड़ती है जो अपने अधरों की मदिरा दान का महासागर भरकर उनकी उफनाती हुई प्यास शान्त करने की प्रार्थना स्वीकार करती है। वासना के वेग में कवि ने निरंकुश हो अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में स्पष्ट ही कह दिया है—'एक वासना ही मुखरित है अतल वितल में प्रबल प्रिये' तथा 'मैं अर्थ बताता द्रोह भरे यौवन का, मैं नग्न वासना को गाता उच्छृंखल'।[3] कवि 'अंचल' ने नारी के रूप को अतृप्त नेत्रों से देखा है। इसी कारण वह उसे अनेक विशेषणों से विभूषित कर[4] उसके कौमार्य-काल की छवि और चपलता[5] को बड़े ही

१. 'कंधे से कंधा मिला छाती से छाती सटा,
रात को तुम बनी थी गीली और रंगीली,
किन्तु दिन में बनी अखड युद्ध की करालिका।'—करील—अंचल;

२. 'ज्यों मद्यप मदिरा को लख हो जाते हैं मतवाले,
वैसे आज सरस वेणी पर पागल हूं मैं बाले।'—'मधूलिका' (वेणी)-अंचल; पृ० १६

३. 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह'—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी; पृ० २६६

४. तुम लदी कौमार्य कलियों से लता सुकुमार;
मुग्ध यौवन और शैशव की नयी पहिचान।'—'लाल चूनर'; पृ० ५-६

५. 'तुम दिया की जोत-सी तुम तो झमकते झमरों-सी,
अप्सरा के रूप-सी तुम तो किरण के नूपरों-सी,—वही; पृ० २३

आकर्षक ढङ्ग से चित्रित करता है। उसकी लेखनी नारी के रूप वर्णन करने में नहीं नहीं थकती ।[1]

श्री 'अंचल' की कविताओं में नारी-शोषण के अनेक हृदय-विदारक चित्र भी प्राप्त होते हैं। 'शोषण', 'दानव', 'आज मरण की ओर', 'तीन चित्र', 'किरण-वेला' आदि कविताओं में नारी-शोषण सम्बन्धी भाव बड़े स्पष्ट रूप से सम्मुख आये हैं। कवि जहाँ वेश्याओं की दुर्दशा पर दो-दो आंसू बहाता है,[2] वहां वह यह भी विश्वास रखता है कि एक-न-एक दिन भयानक क्रान्ति का तूफान आवेगा और तब ये वेश्याएं भी ज्वालामुखी ऊगलेंगी ।[3]

'अंचल' को नारी का बोझिल रूप बड़ा ही कुरूप लगता है। कवि उसके प्रति घृणा प्रकट करता है। उसे तो नारी का स्वस्थ्य यौवन भरारूप चाहिए जिसकी प्यास उसके मनमें युगों से भरी है। कवि ने अपने दृष्टिकोण से ही प्रेरित होकर नारी को भी उसके पक्ष से तीव्र वासनामयी रूप में देखा है। वह चंचल कामातुर होकर कवि के सामने 'मनुहार' करती है, उसकी तृष्णा स्वयं कवि की तृष्णा के समान तृप्ति दिखायी पड़ती है और इसी की तृप्ति के लिए वह सोचती है।[4] वह वासना में डूब अपने प्रियतम से बाँहों में कस लेने को कहती हैं। वियोग के क्षणों में भी 'अंचल' नारी के ऐसे ही वासनात्मक रूप को याद कर सके हैं। उन्हें सुधि के नयनों में भी नारी के गोरे-गोरे कंधों की सारी तथा हाथों द्वारा मुख पर उड़ते हुए बालों के हटाने[5] और शरद निशा में नारी के इसी रूप की बहुत याद आई है।[6]

१—'मेरा वश चलता,
मैं बन जाता सौन्दर्य तुम्हारा ।'—वही—पृ० ७

२—'माता बनी दूध भर आया, किन्तु न भरता पापी पेट।
जननी बनकर भी पशुओं के आगे नग्न सकेंगी लेट ?'—मधूलिका—पृ० ६
'पशुता की कीड़े-सी वह, चीत्कार भरी दोहित नारी।
पंख कटे जिसके प्राणों के, मूक रुदन सदियों से जारी ॥'—किरण वेला-पृ०१२५

३—'ये बाजार की असंस्कृता निर्लज्जा नारियां,
जो कि न 'योनि मात्र रहकर' बनेंगी प्रदीप्त उगलेंगी ज्वालामुखी ।'—वही—पृ० ६०

४—'आज सोहाग करूँ मैं किसका लूटूँ किसका यौवन।
किस परदेशी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन ॥'—मधूलिका-अंचल

५—वर्षान्त के बादल (मौन ममता)—पृ० १६

६—वर्षान्त के बादल (शरद निशा)—पृ० २०

उनकी नारी भी प्रतीक्षा में दीपक जला-जलाकर थक जाती है किन्तु उसकी पिपासा शान्त करने वाला उसका प्रिय फिर भी नहीं आता और उसका प्रतीक्षा-दीप बुझ-बुझ जाता है।[१] उसे किसी के बाहुओं पर गालों को रखकर सोना याद आता है, उसके तरंगित अंग इसी तरह के मदिर चित्रों की याद दिलाते हैं।[२]

कवि नारी को यौवन की दीपशिखा और लपटों की पटरानी मानता है जिससे कवि ऐसी शक्ति की याचना करता है कि वह नारी के स्नेह का वरदान सह सके।[३] वह नारी को इसी रूप में अत्यधिक प्यार करना चाहता है। वह जितना भी प्यार करता है, उतने से उसकी तृप्ति नहीं होती। पावस की सन्ध्या में से बिन सोये कट जाने वाली बरसाती रातों की स्मृति उसे विह्वल कर देती है[४] किन्तु धीरे-धीरे कवि की क्रान्ति-भावना से उसे नारी के प्रति विश्वास को लगा उसका आत्म-गौरव जाग पड़ता है।[५] वह नारी के यौवन-रूप में खोया नहीं रहना चाहता क्योंकि अब उसकी आत्मा सजग हो गयी है। यौवन के उद्दाम खेल में निरत कवि 'अंचल' भी सामाजिक भावनाओं के प्रवाह में अपनी वासना का कीचड़ धो सकने में समर्थ हुए हैं। उनकी अधिकांश रचनाओं में हम नारी में वासना का आधिक्य ही देखते हैं और देखते हैं उसमें सौन्दर्य-रस से पुरुष को पागल बना देने वाली शक्ति। उनकी श्रृंगार भावनाओं का केन्द्र नारी ही रही है, किन्तु बौद्धिक विकास के साथ-साथ कवि के नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण में हम पर्याप्त परिवर्तन पाते हैं।[६]

१—वर्षान्त के बादल (मेरा दीपक)—पृ० २२

२—वर्षान्त के बादल (द्वार खोलो)—पृ० २३

३—वर्षान्त के बादल —पृ० ७८

४—'किन्तु नारी सिर्फ नारी हो तुम्हें मैं जानता हूँ।
तुम प्रणय की हो खिलाड़िन मैं तुम्हें पहचानता हूँ॥'—लाल चूनर-पृ० २४

५—देखकर तुमको बिछौने की गुलाबी सुधि न आए।
युद्ध में बढ़ते चले छाती फुला मस्तक उठाए।
रूप बिंबित हो इन्हीं संग्राम लपटों में तुम्हारा।
मृत्यु की छाया न निष्प्रभ कर सके तब मधु तुम्हारा।'—वही—पृ० ३८

६—'पृथ्वी की रंग-स्थली-सी ओ स्वयंवरा।
मानव जगती का प्रकाश जीवन को स्रोत तुम,
विश्व के प्रथम प्रात की तुम हिमकणिका,—काव्यधारा-(१९५५)

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—कविवर नवीनजी की रचनाओं में राष्ट्रीयता, शृंगारिकता एवं रहस्यात्मकता तीनों ही प्रवृत्तियाँ मिश्रित रूप में मिलती हैं। वे हिन्दी के रस-सिद्ध कवि थे। उनकी काव्य सर्जना के दो प्रमुख तत्त्व हैं—रति तथा उत्साह। कभी उन्होंने समय के वातावरण से उद्वेलित हो विक्षोभकारी घोष किया है और कभी प्रकृति तथा मानव-संसर्ग से आत्मगत हो सौन्दर्य और प्रेम के गीत गाये हैं। उनके काव्य-ग्रन्थों में कुंकुम, अपलक, रश्मि-रेखा, क्वासि, विनोबा-स्तवन, उर्मिला आदि उल्लेखनीय हैं।

'कुंकुम' गीत संग्रह में 'प्रान' के मधुर मिलन से 'झरोखे की झांकियां' और विरह के स्वर हैं। कवि की प्रेयसी तो 'नयनों की चोट देकर ओट' हो गयी, किन्तु उसकी झांकी देखकर 'लकुटि हाथ से गिर गई, रोमावलियाँ कांप गई, दुनियां की सुध-बुध बिसर गई'। फिर वियोगावस्था में बीती घड़ियों की स्मृति कवि के हृदय को व्यथित करने लगीं तो वह उस 'झरोखे की रानी' से बड़ी दीनता के साथ देख लेने-भर की याचना करता है। संग्रह की व्रजभाषा की रचनाएँ—'निगोड़ी हवा' और 'गुइयां प्रीति को मरम' बड़ी ही सरस बन पड़ी हैं। कवि मानवती नायिका से मान छोड़ने की प्रार्थना करता है—'मान जनि करौ सजनि, लाज का सिकोरो छोर' और कहता है कि आज हृदय की मरोर खुल जाने दो।[1] 'गुइयाँ प्रीति को मरम काहू को बतैयो ना' वाले गीत में एक सखी द्वारा प्रीति की रीति सिखाई जा रही है।

'रश्मिरेखा' में कवि की प्रेम-परक, सौन्दर्य-परक, वैयक्तिक और प्रकृति वर्णन से सम्बन्धित रचनाएँ ही अधिक हैं। कवि की 'साकी' कविता को पढ़ते समय, 'बच्चन' की 'मधुशाला' याद आने लगती है।[2]

'क्वासि'—कौन हो तुम ? कविता संग्रह में भी 'रश्मिरेखा' के विषयों से सम्बन्धित पचपन कविताएँ हैं। यहाँ दार्शनिक, रहस्यात्मक और प्रार्थनापरक रचनाओं का बाहुल्य है, तथापि कुछ कविताएँ संयोग शृंगार और उभयनिष्ठ रति

१—'आज खुलि जायबे दो, हिय की मृदुल मरोर।

....

नेहि की विभूति मोहि देहु, करि कृपा की कोर।'—कुंकुम-'नवीन'-पृ० ६०

२. 'बड़े विकट हम पीने वाले, तेरे गृह आए मतवाले,

इसमें क्या संकोच, लाज क्या ? भर भर ला प्याले पर प्याले।'—रश्मिरेखा

(साकी)—पृ० २४

से सम्बन्धित भी हैं ।[१] 'डोले वाला' नामक कजरी तो] बड़ी ही मनोहर है । नायिका अपने प्रिय के समीप शीघ्र पहुँचने को आतुर है, अतएव वह डोले वालों से शीघ्र चलने को कहती है ।[२]

'उर्मिला' प्रबन्ध-काव्य में नवीनजी ने काव्य की उपेक्षित उर्मिला के वियोग को बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है ।

जिस उर्मिला ने १४ वर्ष तक विरह वेदना में जलकर आर्य-संस्कृति की रक्षा के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया, उस महान त्यागिनी रमणी के प्रति भावुक कवि एवं गीतकार स्व० बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' की करुणा और हार्दिक सहानुभूति काव्य के माध्यम से साकार हुई है । कवि ने इस भावना प्रधान रचना में सीता उर्मिला, बहनों का सौन्दर्य, पुष्प चयन प्रसंग, माता के अटूट मातृ स्नेह, विवाहोपरान्त अयोध्या आगमन, नन्द-भावज, सास बहू, बहिन-बहिन, नव-दम्पति का पारस्परिक प्रेमालाप, उर्मिला वियोग, राम की उत्तर यात्रा और लक्ष्मण सीता संवाद द्वारा नारी की महत्ता का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है । प्रेम का सांगोपांग और सूक्ष्म वर्णन भी बड़ा ही आकर्षक बन पड़ा है ।

'साकेत' की उर्मिला की भाँति नवीन जी की उर्मिला का वियोग वर्णन बड़ा ही सजीव है क्योंकि प्रकृति भी उसके वियोग में दुखी दिखाई पड़ती है[3] वह प्रतीक्षा

---

१. 'तुम मिले प्राण में रागनी छा गई ।
धनों में मधुर स्वर्ण-रेखा मिली,
नयन में नयन रूप देखा, मिली—
पुतलियों में डुबा निज नजर की कलम
नेह के पृष्ठ को चित्र लेखा मिली,
बीतते से दिवस लौट कर आ गए,
बालपन ले, जवानी संभल आ गई ।' —बालकृष्ण शर्मा—'नवीन'—व्यक्ति और काव्य—डा० रामखिलावन तिवारी—पृ० ३१०

२. 'डोला लिए चलो तुम झटपट छोड़ो अटपट चाल रे,
सजन भवन पहुँचा दो हमको मन का हाल बिहाल रे ।
उनके बिन बरसाती रातें कैसे कटें अचूक रे,
पिय की बाँह उसीस न हों तो मिटें न मन की हूक रे ।'—क्वासि (डोले वाली) —'नवीन' —पृ० ४७

३. उर्म्मिला—श्री नवीन—सर्ग ५ पृ० ४०५

मग में निज दीपक लिये जोगन की भाँति अपलक नेत्रों से नित्य प्रिय की बाट जोहती रहती है। उसके आँगन में करुणा उमड़ रही है हृदय में निदाघ और नेत्रों में सावन समाया हुआ है।[1] ग्रन्थ के अन्तिम सर्ग में सीता लक्ष्मण वार्तालाप द्वारा कवि ने नारी की महानता पर बड़े ही सुन्दर भाव व्यक्त किये है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवीनजी की रचनाओं में वियोगावस्था की कविताओं की ही प्रधानता है। संभव है इसका प्रमुख कारण उन कविताओं का कारागृह-जीवन और ऐकाकीपन में लिखा जाना रहा हो। नवीनजी ने कुछ स्फुट दोहों की रचना भी की थी जिनमें शृंगार की रीतिकालीन छटा देखने को मिलती है।[3]

पिछले पृष्ठों में हमने जिन प्रगततिशील विचारधारा के कवियों की नारी सम्बन्धी भावना पर विचार किया है, उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् हमारे कवियों एवम् कलाकारों की सृजन-कल्पना भौतिक धरातल पर उतर आई और हिन्दी-साहित्य में 'प्रगतिवाद' के नाम से एक नवीन काव्य-चेतना का जन्म हुआ। कविता के क्षेत्र में कविता-कामिनी का शृंगार करने की पुरानी परम्परा को त्यागकर अब 'अप्रस्तुत' समाज से सम्बद्ध और मूर्त होने लगे।[4]

---

१. वही; सर्ग ४—पृ० ३८७

२. 'देवि, तुम्हारे नर नारायण, नारी से ही लालित हैं,
नारी-नेह-अश्रु से उनके, अंग अंग प्रक्षालित हैं।
नर यदि है खर दोपहरी तो नारी है शीतल छाया,
नर-नारी दो रूप बनाकर, प्रकटी है विभु की माया।' वही—सर्ग ६
पृ० ६१२-१२

३. 'मन होता है प्रियतमे, मृदु तलवों में आज,
नैन लचकते दूं बिछा, जब तुम चलो सलाज।
....
अरुण प्रात कारी निसा, स्फटिक दुपहरी पीर,
सजल लोचनन में दुरे, सवइक संग री बीर।
....
झीनी चादर ओढ़ि के मत सोवहु सुकुमारि,
अंग अंग झलक्यो जात है, रंजित हैं दिसि चारि।'—नवीन और उनका
काव्य—पृ० २२९

४. 'कोयले की खान की, मजदूरिन-सी रात,
बोझ ढोती तिमिर का, विश्रांत-सी अवदात।'—डा० रांगेय राघव

प्रगतिशील कवियों की रचनाओं में युग-युग से पीड़ित और शोपित नारी के प्रति पर्याप्त सहानुभूति व्यक्त की गयी और साथ ही उसे स्वतंत्र अस्तित्व के विकास के लिए प्रेरित भी किया गया।

नयी कविता

हिन्दी में 'प्रयोगवाद' नाम के चलने का श्रेय 'तार सप्तक' (सन् १९४३) के सम्पादकीय और कुछ अन्य व्यक्तियों को है।[1] उनमें 'प्रयोगवाद' शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ, किन्तु 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' को स्पष्ट शब्दों में अपनी विशेपता कहा गया। पाठकों ने कवियों के 'प्रयोग-प्रयोग' की टेक पकड़ ली और नये प्रयोग के नाम पर प्रयोगवाद का भी नाम चल पड़ा। यद्यपि 'दूसरा सप्तक' (सन् १९५१) की भूमिका में 'अज्ञेय' ने इस नामकरण का विरोध भी किया कि 'प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे। न प्रयोग अपने में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है। कविता भी अपने आपमें इष्ट या साध्य नहीं है'[2] किन्तु यह कहना व्यर्थ ही रहा और यह नाम उनके मत्थे मढ़ ही दिया गया।[3]

सन् १९५४ से डा० जगदीश गुप्त और श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादन में प्रयोगवादी कविताओं का एक अर्द्धवार्षिक संग्रह 'नयी कविता' नाम से निकलने लगा. इस कारण भी प्रयोगवादी कविताऐं अब 'नयी कविता' नाम से पुकारी जाने लगीं हैं। डा० नामवरसिंह का मत है कि आजकल प्रयोगवादी काव्य को वाद-विशेष से मुक्त करने के लिए तथा व्यापक काव्य-प्रवृति का स्वरूप देने के लिए इसे 'नयी कविता' के नाम से अभिहित किया जा रहा है। वह प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद, रूप-वाद, प्रतीकवाद तथा नयी कविता आदि को समाज-विरोधी अतिशय व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही विस्तार समझते हैं।[4] तीनों तार सप्तकों में इक्कीस कवियों की रचनाऐं संग्रहीत हैं। साथ ही इस कविता के विकास में अन्य कवियों का भी महत्व-पूर्ण योगदान है।

इन कवियों की रचनाओं में मूल चालक मनोवृत्ति मानवतावादी ही है, क्यों-कि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि आज का सर्वहारा शोषित प्राणी (जिसमें नारी भी

१. 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां–प्रयोगवाद—डा० नामवर सिंह; पृ० ४३
२. 'दूसरा तार सप्तक'—सम्पा० 'अज्ञेय'—पृ० ६
३. 'आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां'–डा० जगदीशनरायण त्रिपाठी; पृ० ९४
४. 'आधुनिक कविता का मूल्यांकन'—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० ६७

सम्मिलित है) शोषण से मुक्त कर दिया जावे तो अवश्य ही उसकी प्रतिभा तथा उसके सद्गुणों का विकास हो। साथ ही ये कवि भी आकृति को खींचने के लिए किसी सहायक उपादान, नियम, बन्धन अथवा रस को आवश्यक नहीं समझते। कुछ कवि वैयक्तिकता का स्वर ऊंचा करके अपने कथ्य और शिल्प में चमत्कार दिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं और कुछ कवि समाज-निष्ठा चेतना को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। रस की अपेक्षा प्रभाव उत्पन्न करने की चिन्ता अब कवियों को अधिक है। नये उपमान, नये प्रतीक, नयी काव्य-भंगिमाओं की खोज में आज का कवि आकाश पाताल के प्रति आकुल दौड़ लगा रहा है।[1]

श्री सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'—अति-यथार्थवादी अथवा प्रयोगवादी अथवा नयी कविता प्रवर्तक 'अज्ञेय' की कविता के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'भग्नदूत', 'चिन्ता', 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षणभर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', 'अरी ओ करुणा प्रभामय' तथा 'आंगन के पार द्वार' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'तार सप्तक' तथा 'तीसरी सप्तक' का सम्पादन कर नयी कविता के स्वरूप और सीमाओं को स्पष्ट किया है।

जैसा हम इससे पूर्व संकेत कर चुके हैं अब साहित्य में फ्रायड की काम-भावना का अच्छा प्रचार एवं प्रसार हो चुका था। नारी मनोविज्ञान(Women Phychology का विश्लेषण करता हुआ कवि कहता है कि 'पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध पति और पत्नी का नहीं, चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन स्त्री का सम्बन्ध अनिवार्यतः एक गतिशील (डाइनेमिक) सम्बन्ध है। पुरुष और स्त्री की परस्पर अवस्थिति एकाकर्षण की अवस्था है। वह शक्ति आकर्षण का रूप ले ले अथवा विकर्षण का, अथवा आकर्षण-विकर्षण की विभिन्न प्रवृत्तियों के सन्तुलन द्वारा एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले जिसमें बाह्य रूप से कोई गति प्रेरणा नहीं है किन्तु किसी-न-किसी प्रकार आन्तरिक खिचाव बना रहना अनिवार्य है। नाटकीय भाषा में हम उसे पुरुष और स्त्री का चिरन्तन संघर्ष कह सकते हैं।[2] इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि कवि नारी की सहज प्रवृत्तियों में विश्वास करता है, उनसे युक्त नारी अच्छी है अथवा घृणास्पद, सत् है अथवा असत्, इसे कवि नहीं कहना चाहता। वह केवल पुरुष के सम्बन्ध में नारी के स्वरूप करना को स्पष्ट चाहता है। श्री 'अज्ञेय' की 'चिन्ता' में यह स्पष्टीकरण दो प्रकार

१. 'नयी कविता'—श्री विश्वम्भर 'मानव'; पृ० १६
२. 'चिन्ता'— भूमिका में-अज्ञेय; पृ० ५

से हुआ है—एक तो पुरुष की नारी सम्बन्धी विचार धारा और दूसरी स्वयं नारी की निजी भावधाराएं।

आधुनिक मनोविश्लेषणवादी कवि की दृष्टि में पुरुष सामाजिक व्यवधानों के कारण सहचरी स्त्री के वहुत निकट पहुँचना चाहते हुए भी पहुँच नहीं पाता। वह नारी का प्रेम पाना चाहता है किन्तु उसे बंधन रूप नहीं बनाना चाहता। अपने दर्प में उन्मत्त रहने के कारण नारी के प्रेम के प्रति अपनी स्वीकृति को नारी को अवला समझकर सहायता के लिए वढ़ाया गया हाथ समझ वैठता है।[१] शनैः शनै आकर्षण तीव्र होता जाता है और उसे प्रतीत होता है कि प्रणय व्यापार जीवन की सीमाओं से परे है, नारी उसकी अनन्त प्रणयिनी है, जन्म-जन्मान्तर की अपूर्ण तृष्णा है और नारी उसकी असंभव पूर्ति। नारी पुरुष के अन्तर की दुर्जयता और अभिमान को नत करने में समर्थ है, पुरुष उसके सामने दीन याचक की भाँति रह जाता है।[२] फिर भी उसका अभिमान जाग उठता है।[3] उनका पुरुष नारी द्वारा वशीकृत होकर उसके उपहास का अधिक लक्ष्य वनना नहीं चाहता। वह इस अभिमान के वार चाहता है कि नारी उसके जीवन से चली जाय किन्तु दूसरे ही क्षण वह एकाकी क्षणों में पछताता है।[४] नारी के स्नेह-दान से उसके जीवन में पुनः सरसता छा जाती है। किन्तु इस स्नेह-दान में नारी के हृदय की कठोरता छिपी हुई है, वह निर्भीक होकर पुरुष की अवहेलना करती है। वह इतना प्रभाव रखती है कि पुरुष उसे 'घृणामयी-प्रतिमा' कह देता है। नारी उसकी दृष्टि में पुरुष के जीवन आकाश में मंडराता हुआ एक छोटा-सा मेघ पुंज है। किन्तु जव उसका मस्तिष्क दर्प और अभिमान की सीमा रेखा को छोड़-कर सामान्य स्थिति पर आ जाता है तो वह नारी को आलोक किरण के रूप में पहचानता है, जो उसे वासना के गर्त में गिराने से वचाती रही है।[५]

अज्ञेय ने पुरुष को आराध्य देव के रूप में चित्रित किया है और नारी को

---

१. 'मैंने सहसा यह जाना तू है अवला असहाया।
तेरी सहायता के हित अपने को तत्पर पाया॥'—'चिन्ता' (विश्व-प्रिया)-अज्ञेय-पृ०; २०
२. वही पृ०; ३६
३. मत हंसो नारी, मुझे अपना वशीकृत जान,
तोड़ दूंगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान॥'—वही; पृ० ४८
४. 'वाहर रूठ चला मैं आया, अब जाना धोखा था खाया।—वही; पृ० ६१
५. वही; पृ० ६८

उनकी उपासिका के रूप में। पुरुष को उन्होंने विजयी माना है और नारी विजित; पुरुष दानी और नारी दान स्वीकार करने वाली। 'विश्व-प्रिया' के गीतों में उन्होंने नारी को तितली, घृणामयी-प्रतिमा, छलना, पंक का जन्तु, प्रकाण्ड निर्लज्जता कहकर नारी को हेय ठहराया है और पुरुष को नारी से ऊंचा माना है।

उनकी 'चिन्ता' में रति-कार्य के लिए प्रस्तुत नारी का चित्र भी है। नारी वहाँ एक-एक करके अपने वस्त्राभूषण पुरुष के चरणों पर अर्पण करती जाती है और अन्त में समर्पण के लिए वस्त्रहीन रह जाती है।[1] वह कहती है कि 'मुझमें भी उत्ताप है, मुझमें भी दीप्ति है, मैं भी एक प्रखर ज्वाला हूँ, पर मैं स्त्री भी हूँ इसलिए नियमित हूं तुम्हारी सहचरी हूँ, इसलिए तुम्हारी मुखापेक्षी हूँ, तुम्हारी प्रणयिनी हूँ, इसलिए तुम्हारे स्पर्श के आगे विनम्र और कोमल हूँ।[2] इस प्रकार अज्ञेय ने मनोविज्ञान के आधार पर पुरुष और नारी के विचारों का स्पष्ट विश्लेषण प्रस्तुत किया है। नारी पुरुष के आसपास सप्तपर्णी की छाया की भांति छायी रहती है। पुरुष इसी सप्तपर्णी की छाया में विश्राम का अनुभव करता है।

इसी मनोविश्लेषण का सहारा लेकर कुछ कवियों ने नारी की काम-भावना में अपने को ऐसा उलझा दिया है कि वे उससे आगे कुछ सोच ही नहीं सकते। इन कवियों ने नारी के शरीर का नग्न चित्रण किया है। 'यद्यपि आज के प्रगति-वाद ने नारी को यौन स्वतंत्रता प्रदान कर दी है किन्तु उसकी आड़ में उसको नग्न किया जा रहा है। जिस छायावाद में कवियों ने नारी के अंग-प्रत्यंग को वासना का आधार माना, प्रगतिवाद में वही नारी रीतिकालीन नारी की तरह व्यक्त की जा रही।[3]

श्री आरसीप्रसाद सिंह—कविवर 'बच्चन' की 'नागिन' और प्रेमीजी की 'जादूगरनी' की भावना को श्री आरसीप्रसाद सिंह ने आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया अपना पौरुष सिद्ध करने का प्रयास करता है और नारी से प्रेम करना वह अपना अपमान समझता है। नारी के प्रेम को स्वीकार करने को तैयार नहीं है।[4] बच्चन की भांति वह भी नारी को काली नागिन तथा भूखी मायाविनी बाघिन के रूप में

---

१. 'चिन्ता'—अज्ञेय; पृ० ११६

२. वही; पृ० १६०

३. 'बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य'—डा० प्रतिपाल सिंह; पृ० ८२

४. 'किसने कहा कि सुंदरि, तुमको करता हूँ मैं प्यार ?
किसने कहा कि हमदोनों में गोपनीय व्यवहार ?—'नई दिशा'—'किसने कहा कि सुन्दरि तुमको'; पृ० ८

देखता है।[1] किन्तु आगे चलकर कवि का मानसिक संघर्ष 'पूनो' और 'माघ शुक्ला त्रयोदशी' में स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। वह नारी की ओर आकृष्ट होता है।[2] इस आकर्षण के साथ-साथ कवि की नारी भावना में भी हम परिवर्तन पाते हैं। वह नारी को भी क्रान्ति की दूतिका के रूप में देखने लगा है। इसी कारण उसकी नारी उसके सम्मुख हुंकार करती हुई आ उपस्थित होती है।[3]

कवि जब नारी के उग्र रूप का दर्शन करता है तब वह भी पुकार उठता है[4] और नारी को जागृति का नव-सन्देश देने लगता है।[5]

डा० धर्मवीर भारती—सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'धर्मयुग' के यशस्वी सम्पादक डा० भारती मूलतः रागवृति के अनुगायक हैं। उन्होंने नारी के प्रेम में फंसे रहने की माया का चित्रण 'ठण्डा लोहा' में किया है जिसे बहुत कुछ मनोविज्ञान की आधारशिला पर खड़ा किया गया है। कहीं-कहीं उनकी काव्यधारा में विवस्त्र राग-सौन्दर्य उद्भावना भी हुई है।[6] वे नारी का प्रेयसी रूप अपनी गोद में भरे रखना

---

१. 'नई दिशा'; पृ० ६८-६६

२. 'आज कितनी शान्ति जीवन में मनोरम शान्ति !
रश्मि बन बिखरी पड़ी मेरी प्रिया की कांति ।।'—वही-पूनो; पृ० १८-१६

३. 'एक विप्लव वादिनी,
हुंकारित हो, जाय अरि-जय-नाद से जग ध्वंस जब,
कर प्रकंपित, शिथिल साहस, हो विमूर्छित शक्ति सब,
अग्रदूती बन बढ़ूं द्रुत रण मरण शृंगार लेकर,
प्राण में उन्मादिनी ।।'—वही; पृ० १२६

४. 'उष्ण उष्ण रक्त आज दुष्ट दुराचारियों के
पी पी के पिपासिते, न प्यास क्यों बुझाती री ?—संचयिता (कपालिका);
पृ० १२७

५. 'बहुत दिवस हो गए बहाते नयनों से जलधार,
अब भी तो कुछ कर दिखलाओ इस युग के अनुसार,'—संचयिता (अग्रदूत);
पृ० १७६

६. "प्रातः सद्यः स्नात
कंधों पर बिखरे केश
आँसुओं में ज्यों
घुला वैराग्य का सन्देश
चूमती रह रह
बदन को अर्चना की धूप
यह सरल निष्काम,
पूजा-सा तुम्हारा रूप ।"—'ठंडा लोहा'—डा० धर्मवीर भारती

चाहते हैं।[1] उन्हें नारी के उदास चेहरे का सौन्दर्य अधिक अच्छा लगता है।[2] सामाजिक परवशता में कवि नारी की वेवसी के लिए एक सहारा है।[3] उसके सामने 'प्रीति की मरजाद ही सब कुछ नहीं है; लोक की मरजाद है सबसे वड़ी' इसीलिए वह सामाजिक दायित्व का निर्वाह करता हुआ प्रेयसी से कहता है कि 'भूलकर मेरा न हर्गिज नाम लेना',[4] वह अपने प्रेम की गुहार मचाकर किसी दम्पति के पारिवारिक जीवन में कलह नहीं पैदा होने देना चाहता। यद्यपि उसे प्रति क्षण अपनी प्रेयसी की याद आती है। उसके गर्म ओठों पर सुलगते मूंगिया वादल उसे पागल वना देने के लिए पर्याप्त हैं, उसके स्पर्श से कवि का संयम टिक पाने में असमर्थ हो जाता है। वह वासना के विष को अमृत समझकर पीता है किन्तु उसके साथ एक शर्त है कि वह वासना नारी रूप से आवद्ध हो, क्योंकि प्रेयसी के फीरोजी होठों पर वह अपनी जिन्दगी वर्वाद कर चुका है। वह इस वासना को जिन्दगी का माप मानता है। इसीलिये वह किसी को मदभरी अंगड़ाइयाँ और किसी की सांस की पुरवाइयाँ चूमने में गुनाह नहीं समझता', वह नारी-स्वर्ग और नर्क का अनुभव

---

१. 'अर्चना की धूप-सी तुम गोद में लहरा गईं
ज्यों झरे केसर तितलियों के परों की मार से
सोन जूही की पंखुरियों से गुथे, ये दो मदन के वान
मेरी गोद में।'—ठंडा लोहा; पृ० ११

२. "तुम कितनी सुन्दर लगती हो
जव तुम हो जाती हो उदास,
ज्यों किसी गुलावी दुनियाँ में
सूने खंडहर के आसपास।'—वही; पृ० १५

३. "पो मिले जव
फूल-सी अंगुली दवाकर चुटकियाँ ले और पूछें
क्यों ?
कहो कैसी रही जी, यह सफर की रात
हँसकर टाल जाता वात
हँस कर टाल जाता वात आँसू थाम लेना।"—वही; पृ० १२

४. वही पृ० १८

कर लेता है।[1] उनकी नारी में आत्म-विश्वास है प्रेम का। वह मानती है कि उसकी आत्मा में यदि पुरुष का स्नेह संबल है तो वह अन्तिम सांसों तक जीवन से हार नहीं मानेगी। कवि भी नारी के इसी विश्वास पर अपना प्यार टिकाकर 'घबराहट की शाम' में सब कामकाज छोड़कर नारी से अपने पास बैठे रहने की इच्छा प्रकट करता है। किन्तु इस प्रेम प्यार की दुनियां में खोये रहने पर अचानक कवि नारी में अन्धकार के कुहासे की कल्पना करता है। वह नारी के इस कुहासे परिपूर्ण घुटन-भरे प्यार से निकलकर भागना चाहता है, पर भाग नहीं पाता। तब वह उस अंधियारे को भी सहर्ष स्वीकार करता है। उसमें प्रकाश की कल्पना करता है। नारी और पुरुष के प्रतीक से कवि जीवन की पहेलियां और कुंठाओं का चित्रण करता है। किन्तु इस स्वीकृति में भी एक घुटन है, बेबसी है। उस बेबसी को वह किसी की गोद में सर रखकर जलते माथे पर सपने बिखराकर जादू पढ़ कर 'दूर कर देना चाहता है।' वह जीवन की भारी-भारी बातों को पास नहीं आने देना चाहता और उसकी गोरी-गोरी बाहों के द्वारा अपने को कसा हुआ देखना चाहता है।[2] जीवन की थकी मंजिल में भी वह नारी के सहचर्य के कारण थके पावों भी चलता जा रहा है। नारी के साहचर्य के सहारे वह अपनी विषमताओं की घुटन में भी मुस्काना चाहता है।

आज के कवि को नारी के प्रेमपाश में जकड़ कर बैठने का अवकाश नहीं है। वह नारी को कोहरे के परदे जैसी चीज मानता है।[3] वह नारी को देवी के

१- 'अगर सच पूछो मेरी प्रान, व्यर्थ है स्वर्ग नर्क अनुमान।
तुम्हारी मुस्कराहट में स्वर्ग, तुम्हारे आँसू में भगवान।'–वही–पृ० ३१

२. 'कच्चे दूध सरीखी गोरी-गोरी नग्न भुजाएं,
जिनकी मोम मृदुलता
स्निग्ध गठित मांसलता
रूपसि, इनमें कस लो मुझको
उर धड़कन रुक जाये।" गुलाब

३. 'छाओ मत आँखों में कोहरे के पर्दे-सी
जीने दो पुरुष को
जीवन के कार्य-क्षेत्र में।'—'मंजीर' (प्रेम से पहले)—
गिरिजाकुमार माथुर–पृ० ६०

आसन से हटा देना चाहता है क्योंकि उसे वह पापाचार से गंदा पाता है।[1] नारी उसकी दृष्टि में छल का दूसरा नाम है।[2] वह नारी को सुहाग देना चाहता है[3] किन्तु उस सुहाग के साथ उसकी वासना की महक उन्मिलित नहीं है क्योंकि आज अन्य परिस्थितियाँ भी उसके सामने हैं।

आज की 'नयी कविता' के कवि की सौन्दर्य-भावना में भी परिवर्तन हुआ है। वह आज सजे संवारे बालों की अपेक्षा 'उलझे बालों में शृंगार देखता हैं।[4] सौन्दर्य की प्यास तो सदैव कवि के साथ है कि आज वह नारी सौंदर्य की स्पष्टता खो बैठता है और उसे नारी का सौंदर्य अस्पष्टता की मरीचिका सदृश समझ पड़ता है, इसीलिए वह सतर्क अधिक हो गया है।[5] आधुनिक कवि नारी के माँ-रूप की भी कल्पना करता है।[6] नारी की आत्मा अपने को पुरुष के समक्ष अपने सही रूप में प्रस्तुत कर देने को तैयार है क्योंकि उसे भय है कि कहीं दूसरे ही क्षण यह वास्तविकता कहीं छिप

---

१. 'हँस' (दिसम्बर १९५२)—नारी—केदारनाथ अग्रवाल

२. 'मंजीर' (प्रेम से पहले)—गिरजाकुमार माथुर

३. 'आज अचानक सूनी-सी संध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं
रंग-भरी उस मिलन-रात में।
'सेज सुनहली
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना।
निकल गई सपने जैसी वे रातें
याद दिलाने रहा सुहाग-भरा वह टुकड़ा।

—तार—सप्तक (१९४३ ई०)

—चूड़ी का टुकड़ा, गिरजाकुमार माथुर—पृ० १९

४. 'श्वासों के स्वर'—श्री रामावतार चेतन—पृ० १

५. 'नयी-कविता' —श्री कुंवर नारायण (तुम नहीं)—पृ०३६

६. 'नयी-कविता' मृत आत्मा की वसीयत—श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा—पृ०६२

न जाय ।[1] आज की नारी में अन्तः विद्रोह है और उस अन्तः विद्रोह का कारण स्पष्ट करने के लिए नारी में कछुए-सी क्षण में सिमट जाने वाली प्रवृत्ति है।

आज नारी को योनि-मात्र मानकर उससे घृणा करने वाले पक्ष को चुनौती देता हुआ कवि नारी की पवित्रता का उद्घोष करता है।[2] वह नारी को उर्वशी मानकर उसके मत्थे गढ़े गये अपवित्रता के दोष का भंडाफोड़ करके पुरुष की दमित वासनाओं को उत्तरदायी ठहराने का संकल्प कर रहा है। नारी वासना की घोर अंधियारी में भी अनुभूति के अलौकिक तथ्य छिपाये हुए कवि को ज्ञान, ईश्वर, गीत और आत्माभिमान प्रदान करती है।[3] नारी की प्रसव-पीड़ा में उसे नवीन जीवन के जन्म देने की शक्ति का आभास मिलता है।[4] अपने आस पास की सारी वस्तुओं में आज

---

१. 'भगवन अमिताभ !
देकर तिलांजलि मिथ्या संकोच को
हृदय की बात लो, कहती हूँ आज मैं—
कोई एक होता
कि जिसको अपना मैं समझती
भले वह पीटता, भले ही मारता
किन्तु किसी क्षण में प्यार भी करता
जीवन-रस उड़ेलता मेरे रिक्त पात्र में
भूख मातृत्व की मेरी मिटा देता,
स्त्रीत्व का सुफल पाकर अनायास
धन्य मैं होती ! —भिक्षुणी—श्री नागार्जुन

२. 'नारी में नहीं मलिनता है, पुरुष की दमित वासनाओं में
केट केलो, नाली है।
जिससे होकर हमारी दमित इच्छाओं का पानी
घर से बाहर निकल जाता है
दुर्गन्धि है पानी में
नाली तो सीमेन्ट की है
जिससे चाहे मंदिर का कंगूरा गढ़ लो ।'—नयी-कविता (नयी परकीया)
—मदन वात्स्यायन; पृ० ८६

३. वही—कुंवर नरायन; पृ० २५

४. 'अम्बर आशंकित उत्कंठित होता रहता
आतुर जगती भी नहीं चैन से सोती है
कुछ ऐसे ही महसूस धरा को होता है
जब नई जिंदगी आने वाली होती है।'—वही–१ (मुक्तक)–श्री हरि; पृ० ५८

भी वह नारी को देखता रहना चाहता है और इसीलिए उसे नाव को जाते देखकर उसके पाल, डांड, पतवार और लहरों के सम्यक रूप में केवट वधू का चित्र दिखायी देने लगता है।[1] कवि नारी के किसी भी रूप को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता, तभी तो वह वेवस रास्ते पर बैठी मौन भिखारिनी और शोषित नारी[2] के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट करता है। 'नयी-कविता' का कवि नारी को कविता की आदि-प्रेरणा मानता है,[3] तभी तो वह नारी की भावना में परिवर्तन की कल्पना करता है।[4]

इस प्रकार हमने देखा कि 'भारतेंदु-युग' से लेकर 'प्रगतिशील प्रयोगवादी' तथा 'नयी कविता' के युग तक धीरे-धीरे कवियों की नारी-भावना में विकास और ह्रास होता रहा है। कभी नारी का वासनात्मक रूप अधिक उभरा है तो कभी उसका क्रान्तिकारी समाज सुधारवादी रूप। कभी कवि सौन्दर्य पर मोहित हो नारी के रूप पर दो क्षण आँखें गड़ाता रहा है तो कभी उसके गुणों का गान करता है और उसके विभिन्न रूपों—जननी, प्रेयसी, पत्नी आदि में अपने मन की भावनाओं को व्यक्त

---

१. 'गाँव के पाँव'—जगदीश गुप्त

२. 'मटक मटक मुँह बिचकाती है पथ पर पागल,
बूढ़े स्तन लटकाए नंगी भाग्य देवता,
फूटे वर्तन-सी तिरस्कृता जब मानवता।'—'हंस' (जुलाई, १९४७)—मुक्तिबोध

३. 'तुम छन्दों की आदि-प्रेरणा
प्रथम श्लोक की प्रथुल वेदना'—'तार सप्तक'—प्रभाकर माचवे; पृ० ५३

४. 'तुम से एक बात कहता हूँ गोकुल की वाचाल गोपियो !
मधुकर की परवाह छोड़ दो, मधुवन का आचरण संभालो !
....
तुमसे एक विनय करता हूँ बुरा न मानो यशोधराओ !
बाट न देखो बैठ द्वार पर घर का वातावरण संभालो—
....
तुमसे चार शब्द कहता हूँ सुनती भी हो शकुन्तलाओ !
कुछ तन की भाषा को बदलो, कुछ मन का व्याकरण संभालो।
....
तुमसे एक प्रार्थना मेरी सुन लो कोटि कोटि सीताओ !
करो नहीं निर्वसन सत्य को, भ्रम वाला आवरण संभालो।'—गीतों के बादशाह 'रामावतार त्यागी'—क्षेमचन्द 'सुमन'; पृ० १०३

करता है। पुरुष के जीवन में नारी ऐसी छायी हुई है कि जब तक काव्य की सृष्टि होती रहेगी,उसमें नारी का प्रकारान्तर से वर्णन होता ही रहेगा। एक समय था जब 'छायावाद-युग' में स्पष्ट अक्षरों में लिखा था नारी का चित्रण, आज प्रतीकों के माध्यम से सांकेतिक रूप में वही चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है। 'नयी-कविता' में तो नारी चिन्तन का एक स्वतंत्र विषय ही बन गयी है। कारण नयी-कविता की भाव-भूमि स्वयं 'मानवता' है। गतिशील मानवता केवल अपने विकास के लिए अवश्यक मर्यादाओं को स्वीकार करती है, बन्धनों को नहीं। 'नयी-कविता' में यह भावना स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ती है।

'नयी कविता' में नारी के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण यथार्थवादी विचार-धारा से प्रेरित है। जिस प्रकार छायावादी-युग द्विवेदी-युगीन काव्य की प्रतिक्रिया है उसी प्रकार प्रगतिशील-प्रयोगवाद की कविता में हम छायावादी कविता के प्रति एक तीव्र प्रतिक्रिया देखते हैं क्योंकि आज प्रेम औरसौन्दर्य पुनः स्थूल अथवा बाह्य हो गए हैं। आज का कवि जहाँ नारी की छवि को विराट मायाविनी[1] कहकर उसे अपने अङ्क में समेट लेना चाहता, वहाँ वह नारी के प्रेम का भी याचक बना है[2] और उसे नारी का रूप समस्त सृष्टि में बिखरा हुआ दिखाई दिया है। रीति युग में परकीया के चित्रण का महत्व था, छायावाद में अतीन्द्रिय सौरभमयी प्रेयसी का किन्तु नयी-कविता ने 'स्वकीया' को कविता आधार बनाया है।

अब कुछ नवीन संग्रहों में 'नयी कविता' के रूप को सुन्दर ढङ्ग से संवारने और भाव-पक्ष को परिमार्जित करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ कवि (घनश्याम अस्थाना, शकुन्त माथुर, राजेन्द्र यादव, डा० देवराज आदि) नई कविता को नया-मोड़ दे रहे हैं। अतः विकासवादी मान्यताओं के आधार पर यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य में नयी-कविता के कवि घोर व्यक्तिवादी, अबुद्धिवादी और समाज द्रोही अहंमन्यता को त्याग कर ऐसी रचनायें प्रस्तुत करेंगे जो नारी के अन्तर्वाह्य जीवन को मूर्त कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान कर सके। 'नयी-कविता के 'वाद'

---

१. आज तुम्हारे यौवन-गिरि की
        गहन अतल घाटी गह्वर में,
   पड़ा अकिंचन पुरुष चीखता
        नारी ओ! विराट मायविन।'—राजेन

२. मैं जन्म-जन्म का याचक हूँ, तुम स्नेहमयी कल्याणी हो।
   मैं अटल प्रेम का अभिलाषी, तुम 'मीरा-दरद-दिवानी' हो।—क्षेमचन्द सुमन

की परिधि के बाहर रहकर भी कुछ कवि नारी सम्बन्धी भावनाओं का चित्रण बड़े ही आकर्षण एवं प्रभावोत्पादक ढङ्ग से कर रहे हैं।

श्रीगोपालदास सक्सेना 'नीरज' हिन्दी कवियों की तरुण पीढ़ी के एक सशक्त कवि और कलाकार हैं। उनकी रचनाओं में जहाँ मानव के सम्वेदनशील हृदय की सरस, सरल अनुभूति के दर्शन होते हैं, वहाँ संसार की क्षण-भंगुरता के प्रति भी स्पष्ट किन्तु सबल संकेत मिलता है। उनकी विद्रोहमयी वाणी[1] में युग से तड़फती, कसकती की जो करुण सजल पुकार देखने सुनने को मिलती है, वह हमारे राष्ट्र की नवीन पीढ़ी के लिए अनुकरणीय-मननीय है।[2]

मानव-जीवन के अनन्यतम गायक 'नीरज' प्रेम, सौन्दर्य और मृत्यु—इन तीन सृष्टि रूपों के कलाकार हैं। प्रेम की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा है—

"प्यार है कि सभ्यता सजी खड़ी
प्यार है कि वासना बंधी पड़ी,
प्यार है कि आँख में शरम जड़ी,
प्यार बिन मनुष्य दुश्चरित्र है।"

'नीरज' के कवि-जीवन का आरम्भ भी प्रणय-सम्बन्ध से ही हुआ, इसी कारण कवि के 'परस तुम्हारा प्राण बन गया, दास तुम्हारा श्वास बन गया' नामक गीत में प्रेम और सौन्दर्य की सफल अभिव्यक्ति हुई है। अपनी काव्य-कृति 'संघर्ष' और 'अन्तर्ध्वनि' में 'नीरज' कवि 'बच्चन' से बहुत अधिक प्रभावित है किन्तु 'विभा-वरी' तक आते-आते उसने अपना स्वतंत्र जीवन-दर्शन अपना लिया।

'नीरज की पाती' नामक कविता-संग्रह में कवि ने अपनी प्रेयसी को ध्यान में रखकर कई कवितायें लिखी जान पड़ती हैं। 'मैं पीड़ा का राजकुंवर हूं', 'रीती

---

१. मैं विद्रोही हूं, जग में विद्रोह कराने आया हूं,
क्रान्ति-क्रान्ति का सरल सुनहरा राग सुनाने आया हूं।'—'नीरज'

—क्षेमचन्द्र सुमन; पृ० ५

'चमचम चूनर-चोली पर तो लाखों ही थे लिखने वाले,
मेरी मगर ढिठाई मैंने फटी कमीजों के गुन गाए।'

—'इसीलिए.................' 'नीरज'

२. 'नीरज'—क्षेमचन्द्र सुमन; पृ० ८

गागर का क्या होगा' 'अकेले मन लागे ना' 'कारवां गुजर गया'[1] 'प्यार करके' आदि रचनायें कवि की वेदना से ओतप्रोत हैं। कवि 'नीरज' के 'बच्चन' की भाँति लोकधुन पर आधारित कई गीत भी लिखे हैं। 'अभी न जाओ पिया कि बदरा, बरस गयो', 'पानी दो', 'गंगा की कसम, जमना की कसम ;यह ताना-बाना बदलेगा'। उन्होंने 'नई उमर की नई फसल' नामक फिल्म में भी अपने गीत दिए हैं। 'नीरज' की पिछली रचनाओं में हम पाते हैं कि उनकी भौतिकवादी दृष्टि अब कुछ आध्यात्मिक हो उठी है और वे शरीर को प्रेम का एकमात्र लक्ष्य न मान कर उसे संसार में व्याप्त देखना चाहते हैं।

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी—ने अपनी 'नई नारी' में आधुनिक नारी भावना सम्बन्धी परिवर्तन (जिसमें नारी ने घूंघट को उलट दिया है, पर्दे को फाड़ फेंका है, प्राचीरों को ध्वस्त तथा बन्धनों को चूर-चूर कर दिया है) का बड़ा ही सजीव चित्र उपस्थित किया है।[2] श्रीमती गंगारानी वर्मा नारी-समाज की ओर से पुरुषों को मोह-निद्रा त्यागने का आवाहन कर रही है और श्री पुरुषोत्तम कुमार अपनी 'आधुनिक शकुन्तला' में एक परित्यक्ता नारी की वास्तविक वेदना को व्यक्त कर रहे हैं।

हिन्दी के प्रख्यात हास्य-कवि पद्मश्री गोपालप्रसाद ने तो एक नवीन 'वाद' (पत्नी-वाद) और एक नवीन 'रस' (परिवार-रस) की सुन्दर स्थापना की है पति-भक्ति का उपदेश तो सभी धार्मिक ग्रन्थों और सन्त-महात्माओं की रचनाओं में मिलता है किन्तु पत्नी के प्रति आस्था और सम्मान की भावना किसी ने प्रदर्शित नहीं की थी;

---

१. 'स्वप्न-झरे फूल से
मीत-चुभे शूल से,
लुट गए सिंगार सभी बाग के बबूल से,
और हम खड़े-खड़े बहार देखते रहे,
कारवां गुजर गया, गुबार देखते रहे।'—'कारवां गुजर गया'—'नीरज'

२. 'नई नारी,
हां, नई नारी,
देखो, वह अन्तरिक्ष पर अवतीर्ण हुई है,
घूंघट को जिसने उलट दिया है,
पर्दे को जिसने फाड़ फेंका है,
प्राचीरों को जिसने ध्वस्त-पस्त कर डाला है,
बन्धनों को जो चूर-चूर कर चुकी है,
देखो, नई नारी, वह खड़ी है।'—नई नारी—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी; पृ० ६

अतएव हिन्दी-काव्य में यह पत्नी-वाद सर्वथा अछूता और नवीन ही समझा जाना चाहिए। व्यासजी ने तो पत्नी पीड़ित पतियों का भी अच्छा खाका खींचा है।[1] परिवार-रस का आलम्बन कोई एक विशिष्ट व्यक्ति न होकर परिवार के अंगभूत के सभी व्यक्ति हैं जो परिवार को संगठित करते हैं। पति-पत्नी, सास-ससुर, वेटा-वेटी, भाई-भाभी, भतीजे, बुआ, मामा, चाचा, काका-काकी—सभी को इसमें समान अधिकार हैं।[2] आज की आधुनिक पत्नी को व्यासजी ने परमेश्वर मानने की सलाह दी है।[3] इसके अतिरिक्त 'पति के मित्र', 'जग्गो की जीजी', 'साला माहात्म्य', 'पलकों पर किसे विठाऊं मैं', 'अजी सुनो' आदि कविताओं में भी इस परिवार-रस की उन्होंने सुन्दर स्थापना की है। एक स्थान पर उन्होंने नारी को हउआ और कनकउआ कहकर भी सम्बोधित किया है।

श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'वेढव बनारसी' ने अपनी एक कविता में नयी-कविता के कवियों पर अच्छा व्यंग्य करते हुए पत्नी को घर-वार देखने-मात्र की सलाह दी है।[4] कुछ कवियों ने आधुनिक ढङ्ग का नायिका-भेद और नखशिख-वर्णन

---

१. "सुनती हो, कल में जाऊँगा जिस तरह गये थे कभी बुद्ध,
मैं वापस कभी न आऊँगा लिनलिथगो-सा असहाय क्रुद्ध।
ऐ गोपा सोती रहो, आज यह नया तथागत जायेगा,
आँखें खोलो, दर्शन कर लो, फिर पंछी हाथ न आयेगा"—'धर्मयुग'
(६ फरवरी, १६६६)
—कविवर व्यास और हास्य—विजयेंद्र स्नातक

२. वही; पृ० १८

३. "यदि ईश्वर में विश्वास न हो, उससे कुछ फल की आस न हो,
तो अरे, नास्तिको! घर बैठो, साकार ब्रह्म को पहचानो,
पत्नी को परमेश्वर मानो।
सीखो पत्नी-पूजन पद्धति, पत्नी-अर्चन, पत्नी चर्चा,
पत्नीव्रत पालन करो और पत्नीवत् शास्त्र पढ़े जाओ।
अब कृष्णचन्द्र के दिन बीते, राधा के दिन बढ़ती के हैं,
यह सदी बीसवीं है भाई, नारी के ग्रह चढ़ती के हैं।'—हास-परिहास;
पृ० ५६-६०

४. "तुम प्रिये घर-वार देखो।
मैं बड़ा अब हो गया हूँ, काव्य मैं लिखता नया हूँ,
पास मेरे ढेर से सम्मेलनों के तार देखो।"
'हास-परिहास'—'कवि'; पृ० १०६

भी प्रस्तुत किया है—अब इसी सम्बन्ध में हाथरस के लोकप्रिय हास्य-कवि 'काका हाथरसी' की बातों पर भी विचार कर लें। काकाजी ने अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव भारतीय युवतियों पर कैसा पड़ा-इसे स्पष्ट किया है।[1] 'काका' ने पति का भूसा बना देने वाली मोटी पत्नी और बिना लगाम की बीबी—स्वतंत्र पत्नी का भी बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित किया है।[2] 'काका' ने कामशास्त्र में वर्णित चार प्रकार की नायिकाओं की भाँति आज के युग में भी चार प्रकार की नवीन नायिकाओं का अस्तित्व स्वीकार किया है।[3] हास्य-रस के कवि श्री गोविन्द व्यास ने तो नारी-राज (श्रीमती सुचेता कृपलानी के उत्तर-प्रदेश प्रान्त की मुख्यमंत्री हो जाने और श्रीमती इंदिरा गाँधी को

---

१. मृगनैनी छैनी बनी, पहुँची नैनीताल।
होठों पर सुर्खी दई, रंग लीने दोउ गाल।
रंग लीने दोउ गाल, धाय को दीन्हा लल्ला।
सिर से साढ़ी हटा, बगल में दाबा पिल्ला।
कहं 'काका' कविराय चाल में आई तेजी,
मेम बन गई देवीजी, पढ़के अंगरेजी।"—'काका की फुलझड़ियाँ'; पृ० ५१

२. ढाई मन से कम नहीं, तौल सके तो तौल;
किसी किसी के भाग्य में, लिखी ठोस फुटबाल।
लिखी ठोस फुटबाल, न करती घर का धन्धा,
आठ बज गए किन्तु पलंग पर पड़ा पुलंदा।
कहं 'काका' कविराय, खाय वह ठूंसम ठूंसा,
यदि ऊपर गिर पड़े, बना दे पति का भूसा।'—वही; मोटी पत्नी; पृ० ८८
'बाबूजी को सौंपकर घर का सारा काम,
घूम रही है पार्क में बीबी बिना लगाम।
बीबी बिना लगाम छोड़ प्रीतम पर लल्ला,
साथ ले गई गोदी में अलस्येशन पिल्ला।
कहं 'काका' कविराय, लौट जब घर को आई,
बोली आंख तरेर, न अब तक चाय बनाइ॥'—वही; स्वतंत्र-पत्नी; पृ० ९०

३. "जैसे कामशास्त्र की हैं पद्मिनी चित्रिणी,
तथा शंखिनी और हस्तिनी नारि नायिका।
वैसे ही हे काग! आज के युग में मिलती,
ठुण्टा, रुण्टा, डुण्टा, पुण्टा-चार नायिका।"—'काकदूत'—हाथरसी;—पृ० ९९

भारत की प्रधान मंत्री बन जाने पर) आ जाने पर नारी-समाज के प्रति अत्यधिक पक्षपात होने की शिकायत की है ।[1]

इस प्रकार आधुनिक-युग के हास्यरस के अनेक कवियों ने आधुनिक-युग की नारी को बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से देखने, निरखने और चित्रित करने का सफल प्रयास किया है ।

निष्कर्ष

विगत पृष्ठों में हमने देखा कि इस आधुनिक-युग के प्रारम्भ में देश और समाज का मन नाना भाव-धाराओं से आलोड़ित था । उन्नीसवीं शतक के अन्त तथा विंशति शताब्दी के प्रारम्भ का यह एक ऐसा अद्भुत अभिनव संधिकाल था जब नारी सम्बन्धी भावनाएं जहाँ एक ओर सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के आघात-प्रत्याघातों से व्याकुल होकर द्रुतगति से यात्रा के डग भर रहीं थीं, वहीं दूसरी ओर 'विगत' के संचित संस्कार पीछे भी कभी-कभी खीचते थे, कम-से-कम मुड़कर देखने को तो विवश कर ही रहे थे । फिर भी 'भूत' की अंगड़ाइयाँ 'वर्तमान' की साहसपूर्ण यात्रा को रोक न सकीं और समूची गतिशीलता ने नारी-भावना को उदार, उदात्त बना ही डाला । आदि-युग की आद्याशक्ति, वीरगाथा-काल की अधिकांशतः नगण्या भोग्या, रीति (श्रृंगार)—युग की केलिनिरता 'नायिका' एवम् सन्त-साहित्य की कभी माया-रूपा अतएव तिरस्कृता बाघिनी', 'विष की वेलि' और कभी आध्यात्मिक एवं पारलौकिक सिद्धि के लिए विरह-विह्वला आत्मा के रूप में पतिव्रता अतएव आदृता-नारी, इस युग की प्रशस्त भूमि पर नवीन-चेतना, नवीन-उत्साह एवं अभिनव-सन्देश के साथ अवतरित हुई । अब नारी नर की केवल क्रीड़ा-केलि-पुत्तलिका, आश्रिता,

---

१. "पक्षपात है, पक्षपात है !
नहीं पैंट की कदर रही है, पूछ रहे हैं सब साड़ी को,
गिफ्ट मिल रहे महिलाओं को, लिफ्ट मिल रही है नारी को ।
पहले ही क्या इस ईश्वर ने, देने में कुछ कसर रखी है—
अक्ल मिली है महिलाओं को, शक्ल मिली है महिलाओं को,
धूप मिली है महिलाओं को, रूप मिला है महिलाओं को,
और काम करने की खातिर, सूप मिला है महिलाओं को,
आप बताएं, यह भी कोई ठीक बात है ?
पक्षपात है, पक्षपात है ।"—'पक्षपात है'—श्री गोविंद व्यास

अबला नहीं किन्तु स्वयं एक पृथक सामाजिक सबला इकाई बन गयी और न केवल ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रत्युत राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन में वह क्रियाशील हुई और उसने अपनी योग्यता, तेजस्विता और अनन्त शक्ति का अपूर्व चमत्कारिक आलोक विकीर्ण करना प्रारम्भ किया।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय-सत्याग्रह तथा असहयोग-आन्दोलनों में क्या कुमारिका, क्या विवाहिता, क्या गर्भवती, क्या श्वेत केशधारिणी-यावत् नारी जगत् ने प्रसन्नतापूर्वक स्वातंत्र्य-संग्राम में भाग लेकर अनेक यातनाओं को स्वेच्छया वरण किया। पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कृति,–सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क के कारण पुरुषों का मानसिक क्षितिज भी व्यापक एवं उदार हो चुका था। महर्षि दयानन्द, राजा राममोहन राय, श्री रानाडे,महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानंद तथा योगिराज अरविन्द द्वारा समय-समय पर जो उदात्त विचारधारा प्रवाहित की गयी, उसने भी नारी सम्बन्धी भावना को लोक में अधिक समादृत किया। नारी-जागरण संबंधी सामाजिक संस्थाओं ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण, योग प्रदान किया। इन नानाविध परिस्थितियों के प्रभाव से भला साहित्य और काव्य जो कि 'समाज का दर्पण' होता है, कैसे अछूता रह सकता है? अतएव नारी-जागृति के कारण साहित्य-पटी पर नारी के चित्र भी परिवर्तित होने लगे।

आलोच्य-युग के प्रारम्भ में हिन्दी-साहित्य के गगन में सुकवि 'भारतेन्दु' का उदय एक सुकोमल ऐतिहासिक घटना थी। प्राचीन के प्रति उन्हें मोह था किन्तु अर्वाचीन की उत्सुकता भी उनमें कम न थी। काव्य के क्षेत्र में उन्होंने परम्परायुक्त मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर फूँका। भारतेन्दुजी ने सामान्यतः नारी का चित्रण परम्परागत रीतिकालीन शैली पर ही किया। उनकी नारी प्रेममयी है और लोक-लाज या 'कुलकानि की बतरावन' में बहलाई नहीं जा सकती। उनकी 'चन्द्रावली' दाम्पत्य-प्रेम–निरता होते हुए भी गोपी रूप में कृष्ण के वियोग में सर्वात्म-समर्पण करके सुध-बुध खो बैठती है। भारतेन्दु की नारी नर की अर्द्धांगिनी है, गुणमयी है, प्रेममयी है, शोभामयी है, शक्तिमयी है और है वीर-प्रसविनी। नारी-रूप चित्रण में भारतेन्दुजी का आकर्षण-बिन्दु श्री राधा-रानी ही रही हैं। कदाचित वैष्णव समुदाय में दीक्षित होने के कारण यह भाव व्यक्तिगत संस्कारों के कारण उन्हें अधिक प्रिय रहा हो। अतएव तन्मय होकर उन्होंने वृषभानु-लली राधारानी के चाकर होने की उद्घोषणा की है।

भारतेन्दु के समकालीन अन्य प्रकाशमान नक्षत्र बाबा सुमेरसिंह 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, श्री प्रतापनारायण मिश्र, रायदेवी प्रसाद पूर्ण, श्री बालमुकुन्द गुप्त, आदि कलाकारों की भी नारी सम्बन्धी अभिव्यंजना न्यूनाधिक भारतेन्दु की ही

भाव-परिधि में रहीं। हां, इन कवियों का अपना 'स्व' कहीं-कहीं अवश्य पृथक अभिभासित हुआ है।

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी इस युग के दूसरे प्रकाश तथा प्रेरणा स्तम्भ हैं। उन्होंने काव्य की भाषा के रूप में खड़ी-बोली को स्वीकार कर अनेक कवियों को साहित्य-जगत् में प्रस्तुत किया। वर्ण्य वस्तु, भाषा, छन्द आदि नाना विषयों पर मार्ग-दर्शन करते हुए स्वकीया, परकीया की सकरी गलियों में से निकलकर अनन्त पृथ्वी, आकाश, वन, नदी, पर्वत को वर्ण्य विषय बनाने के लिए उन्होंने कवियों का आह्वान किया। अंग्रेजी और संस्कृत-साहित्य के अपूर्व भंडार से भी भाव तथा प्रेरणा प्राप्त करने के लिए उन्होंने कवियों को दिशा प्रदान की। नवीन विचारधारा के प्रभाव के कारण राष्ट्रीयता तथा चारित्रिक दृढ़ता के साथ बुद्धिवादी, तर्कवादी, और मानवतावादी प्रवृतियों का अपूर्व गुंफन इस काल में दृष्टिगोचर होता है। ऐसे बुद्धिवादी युग में नारी पुरुष की अधिकृत सम्पत्ति बनकर नहीं रह सकती थी। उसका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व विकसित हुआ। वह पुरुष की सहधर्मिणी और सहकर्मिणी बन गई। काव्य में भी रूप की तृप्ति नारी के स्थान पर प्रकृति-सुन्दरी से की जाने लगी। वयः संधि, यौवन, एवं नायिका-भेद आदि के पिष्टपोषित विषयों से हटकर अब कविगण नारी में निहित गुण तथा उसकी अभ्यन्तरिक शक्ति के प्रति आकृष्ट हुए। श्री श्रीधर पाठक ने राष्ट्रीयता से ओतप्रोत होकर जन्मभूमि में नारी-भाव की आराधना की और श्री रामनरेश त्रिपाठी की नारी ने तो कर्तव्यच्युत पति को उद्बोधन करके पुनः कर्मभूमि में प्रतिष्ठित किया और स्वयं पुरुष-वेष धारण कर राष्ट्र-त्राण के लिए खड़ी हो गयी। श्री भगवानदीन 'दीन' ने 'वीर-क्षत्राणी', 'भारतीया-कन्या और वधू,' कई ऐतिहासिक वीर-नारियों का अत्यन्त तेजस्वी और उन्मुक्त यशोगान किया है।

अतः हिन्दी-साहित्य के 'आधुनिक-युग' के आते-आते भारतीय दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। युग बदला, युग की परिस्थितियां बदलीं; युग की मान्यताएं बदलीं और प्राचीन विश्वासों की नींव पर नवीन विश्वासों की प्रतिष्ठापना हुई। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप हिन्दी-कवियों की विचार-धारा भी पूर्ववत् न रही और उनकी नारी-भावना में भी परिवर्तन हुआ।[1] उनका माया के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ और संसार के प्रति विरक्ति अनुरक्ति दृष्टिगोचर होने लगी। कवि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से भरे जीवन में सौंदर्य-दर्शन करने लगा। फलतः उसे नारी ग्राह्य लगने लगी और ग्राह्य ही नहीं, प्रत्युत उसके जीवन का प्रधान अंग बन गयी।

---

१. "मुक्त करो नारी को मानव, चिर वंदिनी नारी को।
युग-युग की वर्बर कारा से, जननि सखी प्यारी को।"—श्री सुमित्रानंदन पन्त

कवि अब 'पुराण मित्येव न साधु सर्वम्' (कालिदास) की उक्ति के अनुसार किसी वस्तु को केवल इसलिए उत्तम और ग्राह्य मानने को तैयार नहीं कि वह पुरानी है। नारी के प्रति आधुनिक कवियों के परिवर्तित दृष्टिकोण का एक प्रधान कारण हिन्दी-साहित्य का पाश्चात्य स्वच्छन्दवादी (Romantic) काव्य से प्रभावित होना भी माना जा सकता है। रोमांटिक प्रवृत्ति का मूलाधार है कौतूहल तथा सौन्दर्य-प्रेम।

'द्विवेदी-युग' के कवि पं० श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ की रचना हर्मिट (Hermit) का रूपान्तर 'एकान्तवासी योगी' नाम से किया। इस रचना में वर्णित प्रेम, भोग से मुक्त होकर पवित्र उद्देश्यों की ओर बढ़ा है। अतएव लोगों ने यह अनुभव किया कि प्रेम शरीर सम्पर्क से विहीन भी हो सकता है। इस भावना को लेकर पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'मिलन' तथा श्री जयशंकर प्रसाद ने 'प्रेम-पथिक' काव्य की रचना की। परिणामस्वरूप कवियों ने नारी-विषयक आदर्शों की स्थापना की एवं उसे मांसलता और वासना के क्षेत्र से बाहर निकाला; नारीत्व और प्रेम का नवीन क्षितिज प्रकट हुआ और वह नारी-सौन्दर्य, समाज-सेवा और विश्व-सेवा की ओर प्रवृत्त हुआ। आगे चलकर वे नारियाँ भी प्रधानता पाने लगीं जो सौन्दर्य के कारण नहीं किन्तु त्याग और वीरता के लिए प्रसिद्ध हुई थीं। द्विवेदी जी की 'द्रौपदी', श्री रामनरेश त्रिपाठी की 'विजया' (मिलन-काव्य) और सुमना (स्वप्न-काव्य) तथा लाला भगवानदीन की 'वीर क्षत्राणियाँ' का प्रादुर्भाव इसी कोटि के अन्तर्गत आता है।

इस युग का कवि नारी के असत् को क्षणिक मानकर उसमें सतत 'सत' का दर्शन करना चाहता है। नारी के असत् रूप को वह अस्वीकार नहीं करता किन्तु वह उसकी क्षणिक विकृति-मात्र मानकर उसकी उपेक्षा कर जाता है। नारी के प्रति यह उदार, सहनशील, सहानुभूतिमय, पूजात्मक दृष्टिकोण स्पष्टतः युगों-युगों तक नारी को पद-दलित करती चली आने वाली भक्तिकालीन घृणात्मक भावना की प्रतिक्रिया अथवा रीतिकालीन अतिकाम की कठपुतली बनाकर रखने वाली हीन और संकुचित मनोवृत्ति के प्रति एक विद्रोह कहा जा सकता है। आधुनिक-कवि नारी की कारुणिक दशा से अत्यन्त पीड़ित है, इसी कारण उसने नारी-समाज के प्रति सम्वेदना प्रकट की है[1] तथा उसके व्यक्तित्व को निखारने तथा बंदिनी-नारी को

---

१. 'वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर-काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन,
दलित भारत की विधवा है।" —'विधवा'—श्री निराला

उसकी काम-कारा से निकाल कर मानसिक जीवन में उसके महत्व को समझाने का प्रयत्न भी किया है। किन्तु नारी के प्रति यह पूजा-भावना 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' की भावना से निश्चित रूप में भिन्न है। आज का कवि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नारी के प्रति उदार नहीं हुआ है, वरन् उसने नारी के वास्तविक रूप को आंक, उसके गुणों का महत्व समझ, उसकी आत्मा का सच्चा रूप अंकित कर उसमें महान व्यक्तित्व की मंजुल झांकी प्रस्तुत की है।[१] उसने नारी के अन्तर तथा वाह्य दोनों को शुद्ध कर दिया है, कारण उसकी दृष्टि में उसके दोनों ही रूप आदर्श हैं।[२] यदि हमें उसका वाह्य रूप, सौन्दर्य, प्रेम, प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है तो अन्तर त्याग और कल्याणकारी भावनाओं से ओतप्रोत कर देता है। साथ ही आधुनिक कवि नारी-जीवन का प्रथम सत्य प्रेम मानता है, किन्तु वह प्रेम में वासना को सर्वोपरि मानने को तैयार नहीं। छायावादी-काव्य में प्रेम-भावना का विकास विविध रूपों—प्रकृति-प्रेम, नारी-प्रेम, मानव-प्रेम, शिशु-प्रेम (मातृ-प्रेम), अज्ञात चिरन्तन प्रिय के प्रति प्रेम आदि—में प्रकट हुआ है। इन कवियों की प्रतीकात्मक भावनाओं में नारी-भावना ही परोक्ष रूप से व्यक्त हुई है।

आज का कवि सौन्दर्य का उपासक है। किन्तु उसकी यह सौन्दर्योपासना रीतिकालीन कवियों की सौन्दर्योपासना से सर्वथा भिन्न है। रीतिकालीन कवि जहाँ नारी के वाह्य सौन्दर्य पर ही उलझ कर रह गये, उसके आन्तरिक भाव-सौन्दर्य की झाँकी भलीभांति स्पष्ट न कर सकें, वहीं आधुनिक-कवि, सौन्दर्य के आन्तरिक पक्ष तक पहुँचता है। रीतिकालीन कवि चमत्कार पर विश्वास करता था किन्तु आज का कवि रूप के आकर्षण को कम महत्वपूर्ण न मानते हुए भी चमत्कार-मात्र में विश्वास नहीं करता। उसने उसी सौन्दर्य की उपासना की है जो आत्मा का तार झंकृत कर सके।

सौन्दर्य-भावना में परिवर्तन के साथ-साथ सौन्दर्य वर्णन की परिपाटी तथा रीतिकालीन नखशिख-वर्णन की शैली में भी परिवर्तन हुआ है। रीतिकालीन जिस नारी के 'कानन-चारी नयन मृग नागर नरन' शिकार थे, वे अब अपनी कटाक्ष की कटारी से कुटिलों का शिकार करने वाले बन गये हैं। जिस नारी के 'आनन ओप उजास से, चहुँ दिशि पूनो' ही रहती थी, उसी तरुणी का तेज तरणि से भी अधिक तेजवान हो गया है।

---

२. 'पूजी जाती व्रज अवनि में देवितुल्या अतः थी।
आराध्या थी व्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थी।'—प्रिय-प्रवास की 'राधा'
'हरिऔध'

३. 'दीन न हो गोपे, हीन नहीं नारी कभी।
भूत-दया-मूर्ति, वह मन से शरीर से।'—यशोधरा में बुद्ध के वचन—श्री गुप्त

इस युग के कवि ने वरौनी, कटाक्ष, लोचन और अधर की परिभाषाएँ बदल कर नारी का वह चित्र अंकित किया जिसके सामने वासना-लोलुप का भी समस्त साहस छूट जाय। इन कवियों की सौन्दर्य-भावना के इस परिवर्तन का कारण आज की पश्चिमी सभ्यता तथा मानवतावादी बुद्धि का संसर्ग तो है ही, साथ ही देश की आर्थिक स्थिति भी इसका एक प्रधान कारण है। आज का मानव इतना व्यस्त एवं मानसिक पीड़ा से त्रस्त है कि अवकाश और मानसिक शान्ति के अभाव में नारी को विलासिता की वस्तु समझने की बात बहुत कम सोच पाता है। आज के यांत्रिक-युग में कवि को इतना अवकाश कहाँ कि वह नारी के साथ प्रेम प्यार की बातें कर उसके विलास-पक्ष को उभारे। वह तो इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि वह नारी के सक्रिय सहयोग से आज की विषम परिस्थितियों का सामना सफलतापूर्वक कर सके।

इन कवियों ने वैदिक-युग की 'विदुषी, संस्कृत कवियों की कांचन कमलिनी 'तन्वंगी', तुलसीदास की 'सौम्या' किन्तु 'सहज अपावनि' रीतिकालीन कवियों की 'हास-विलासमयी सुकुमारी कठपुतली' नारी को अपनी तूलिका से नवीन रंग देकर उसके रूप को पुनः निखारा है। नारी आज न तो शैतान का दरवाजा है, न 'समस्त पापों का मूल'; और न वह पति की 'क्रीत-दासी' अथवा 'स्वामी की दया पर जीवन-यापन करने वाली' है। आज के कवि तो उसके सहज स्वभाव पर प्राण-प्रण से श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। उनकी नारी किसी की दया की भीख चाहती है, अवलम्बन के लिए तरसती है, फिर भी आज वह अपना अलग अस्तित्व चाहती है। वह उदात्त भावनाओं की प्रेरिका के रूप में आधुनिक कवि के सम्मुख आयी है।

'आधुनिक-युग' में नारी यदि प्रेयसी के रूप में चित्रित हुई है तो वह माता बनकर वात्सल्य बरसाने वाली भी चित्रित की गई है। आज नारी का यथार्थ रूप भी चित्रित हुआ है और आदर्श-रूप भी। वह गृह-लक्ष्मी संचालिका-शक्ति भी है और समाज-कल्याण और लोक-मंगल की भावना लेकर पुरुषों के साथ कार्यकर्त्री तथा पुरुष के लिए सहायक भी।

'भारतेन्दु-युग' से लेकर आधुनिक प्रयोगवादी-काव्य और 'नयी-कविता' के युग तक यदि हम दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि आधुनिक-युग के कवि नारी को समान प्रतिष्ठा प्रदान करने लगे हैं, जिससे आज नारी पुरुष के साथ समान अधिकारों की भोग्या बनकर समस्त कार्यों में उसका हाथ बंटाने वाली हो गयी है। इसी कारण 'आधुनिक-युग' के लोकप्रिय कवि श्री 'दिनकर' का कथन है कि प्रेम और विरह के गान आज बदल गये हैं और प्राचीन परम्पराओं में भी परिवर्तन हो रहा है।

आज भी नारी अपने को समर्पित करती है जिसके बदले में वह कुछ चाहती नहीं।[1] वह पुरुष के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना चाहती है जिसके बदले वह किसी वस्तु की भी कामना नहीं करती। जान पड़ता है आज की प्रकृति पुरुष में लीन हो रही है।[2] रीतिकालीन कवियों की तरह आज के कवि ने नारी को केवल एक ही चश्मे से न देख उसके विभिन्न रूपों का दर्शन कर उनका गुणगान किया है।

इसे अस्वीकार नहीं किया जाता कि नारी का एक रूप वह भी है जिसे रीतिकालीन कवि अपनी चमत्कारिता की चटनी मिलाकर अतिरंजना और अतिशयोक्ति के द्वारा तीखेपन से व्यक्त करते रहे, किन्तु आज का कवि यह नहीं मानता कि नारी पुरुष की विलासिता की कठपुतली-मात्र है। 'आधुनिक-युग' के कवियों ने पार्वती, कौशल्या, सीता, उर्मिला, माण्डवी, कैकेयी, द्रौपदी, कुन्ती, दमयन्ती, श्रद्धा, यशोधरा, सारन्धा, कांचनमाला, उत्तरा, विष्णुप्रिया, रत्नावली, मीरा, महारानी लक्ष्मीबाई, रानी दुर्गावती, आदि ऐतिहासिक तथा आदर्श नारियों को लेकर नारी-समाज के प्रति महान आदर-भाव प्रकट किया है।

पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के प्रभाव में आकर हिन्दी के छायावाद में नारी का प्रेयसी-रूप प्रधान हो गया था जिसका आरोप छायावादी कवियों ने अपने सामने की प्रत्येक वस्तु पर करना चाहा है। आधुनिक कवि सौन्दर्योपासक होने के कारण नारी छवि को संसार के सौंदर्य और सुख का मूल कारण मानता है। वह उसके अनिवार्य आकर्षण से भक्तिकालीन कवि की तरह भागता नहीं प्रत्युत उसे वह नारी की एक शक्ति मानता है। उस शक्ति को सम्मोहन शक्ति की अभिधा प्रदान की जा सकती है।

आज की भारतीय चिन्तन-धारा को कार्ल मार्क्स के साम्यवादी जीवन-दर्शन ने भी प्रभावित किया है। मार्क्सवादियों के अनुसार अभी तक किसान और मजदूरों के साथ-साथ नारी-वर्ग का भी शोषण हुआ है और वह पुरुष के विलास और मनोरंजन का एक साधन-मात्र रही है, अतएव आज के प्रयोगवादी और 'नयी-

---

१. "इस अर्पण में कुछ और नहीं, केवल उत्सर्ग छलकता है।
मैं दे दूं और न फिर कुछ लूं, इतना ही सरल झलकता है।"—कामायनी—
'प्रसाद'; पृ० ११३

२. "प्रकृति पुरुष में लीन हो गई, स्वयं रागिनी, बीन हो गई॥
कैसी थी उद्दाम नर्तकी, घर-घर झूमी, दर-दर भटकी॥
जिधर दृष्टि फिर गई उधर ही, अजय पिपासा, तृष्णा भय की॥
विश्व रीझ कर जिस पर रीता, वह ही जल बिन मीन हो गई॥"—'धर्मयुग'
(२४ मार्च १९५७)—'प्रकृति'—श्रीकान्त जोशी

कविता' के कवि जीवन के यथार्थ चित्रण के साथ नारी का उद्धार कर उसे बन्धन-मुक्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इस प्रकार नव-जागरण के इस युग में नारी आत्म-सम्मान और स्वावलम्बन की भावना लिए हुये अपने अधिकारों के प्रति अधिक सचेत और प्रयत्नशील है तथा इसी कारण आज का कवि भी अधिक जागरूक एवं नारी को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पुरुष के समान ही विकास और उत्कर्ष के अवसर जुटाने में प्रयत्नशील है। मार्क्सवादी तथा पाश्चात्य विचारधारा, समाज-सुधार एवम् नवीन राष्ट्रीय-चेतना की लहर से प्रभावित होकर 'नव्य-काल' के कई कवियों की नारी-भावना का साहित्यिक विकास अनेक दिशाओं में हुआ है और वे नारी को सहधर्मिणी, गृहलक्ष्मी और अर्धाङ्गिनी के रूप में देखने लगे हैं। कवि पीड़ित नारी-समाज के प्रति सहानुभूति रखता है, इसी कारण उसके लिये नारी का हृदय ही आज स्वर्गागार बन गया है।[1]

अतएव आधुनिक मानववाद, समवेदन और साम्य के बंगला-भाषी कवि नजरुल इस्लाम के स्वर-में-स्वर मिलाकर हमारा भी यह दृढ़ विश्वास है कि विश्व जो कुछ भी महान है, सृष्टि में जो कुछ भी कल्याणकर है, उसके आधे का कर्त्ता पुरुष है और आधे की नारी[2] तथा वह दिन दूर नहीं है, जब यह पृथ्वी पुरुष के साथ नारी का भी जयगान करेगी—

"एत दिन शुधु पियाले अमृत, आजि प्रयोजन जबे।
जे हाथे पियाले अमृत, से हाते कूट विष दिते हबे।
से दिन सुदूर नय—
जे दिन धरणी पुरुषेर साथे गाइबे—"नारीर ओ जय'।"

---

१. 'यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर,
तो वह नारी उर के भीतर।"—ग्राम्या—स्त्री – श्री पन्त; पृ० ८३
....

'तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि,
मुझे है स्वर्गागार।"—पल्लव (नारी-रूप)—श्री पन्त; पृ० १८

२. "विश्वे जा किछु महान सृष्टि चिर कल्याण कर,
अर्धेक तार करियाछे नारी, अर्धेक तार नर।"—'कल्पना'—मासिक
(सितम्बर, १९५४); पृ० ६७-६८

उपसंहार

नारी-भावना का उद्गम सृष्टि से प्रारम्भ से ही माना जाता है। प्रसिद्ध है कि जगन्नियंता को जब एकाकी रमने में कुछ ऊब-सी आइ तो वे स्वकीय इच्छा-शक्ति से एक से दो हो गए। इस प्रकार प्रकृति पुरुष की सुरुचिपूर्ण रमण-सृष्टि है, पुरुष प्रकृति अर्थात शक्ति और सौंदर्य का दाम्पत्य भी शाश्वत है। संसार के प्रायः सभी धर्मों ने नारी का अस्तित्व किसी न किसी मूल रूप में स्वीकार किया है। हमारे यहाँ अवतारों के नाम से पूर्व ही नारी की प्रतिष्ठा स्थापित करके उसकी गरिमा और अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है। दिन-रात प्रायः सोते-जागते, उठते-बैठते प्रत्येक समय और स्थान पर 'जी की जरनि शान्ति करने और समस्त दुरति क्षय करने की शक्ति रखने वाले' 'सीताराम', 'राधेश्याम', 'गौरीशंकर' आदि पवित्र एवं सम्पूर्ण नामोच्चर स्वीकार कर लिए गए हैं। इस पुण्य भूमि के ऋषियों-मुनियों एवं दार्शनिकों ने नारी को परम पुरुष की आद्याशक्ति के रूप में ही देखा है। नारी पुरुष का उपसर्ग बन गयी और पुरुष की पूर्णता का पूरक भी—सीताराम का शील और सत्य, राधा कृष्ण का सौंदर्य और माधुर्य तथा पार्वती शंकर की शक्ति एवं 'शिवम्' का प्रतीक बन गई। विवध रूप-प्रतीकों में वह दुर्गा है, ब्रह्मानी है, माया है, जगदम्बा है और अन्न पूर्णा है। वह प्रचण्ड शक्ति, सृजन, लौकिक एषणा, ममता करुणा और समृद्धि तथा पोषण के तत्त्व-रूप में प्रकट हुई। नारी पुरुष का उदात तत्त्व है—भावना, एणणा, रागात्मक वृत्ति आदि मनोभावों का विरेचन-शक्ति होकर वह पुरुष के अन्तर की सम्राज्ञी बन गई। वह ममतामई, कल्याणमई, मंगलमई और प्रकाशमई है। अतएव सृष्टि के प्रारम्भिक काल से जो यह महारास चल रहा है, उसमें नारी की अनिवार्य अपेक्षा स्वीकृति होती चली आ रही है। नारी अनादि-काल से ही समस्त सृष्टि की संचालिका-शक्ति के साथ-साथ मानव हृदय की रागात्मक-वृत्तियों का प्रेरणा स्रोत रही है। साहित्य, संगीत, कला, और संस्कृति सभी जीवनदायिनी-वृत्तियाँ उससे प्रेरणा प्राप्त कर पल्लवित और पुष्पित होती रहीं हैं। भारत के गौरव पूर्ण प्राचीन-काव्य में वह विकास की मूल शक्ति एवं शाश्वत सौंदर्य की प्रमुख अभिव्यक्ति रही है।

नारी-भावना की अभिव्यंजकता हमें अत्यन्त प्राचीन काल से प्राप्त होती है। काल के चिन्तन शील आर्यों ने, चार आश्रमों के वर्गीकरण में गृहस्थ-जीवन के लिए नारी की साधनों करके उसके गौरव और सम्मान में अनेक मन्त्रों की रचना कर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से नारी सम्बन्धी विचारों की भावुक प्रेरणा प्रदान की और

स्वयं ग्रहण की। जब आर्य लोग इस देश में फैलते जारहे थे और उन्हें अनार्यों (दस्युओं) से युद्ध करने पड़ रहे थे तब जीवन के अन्य कार्य-क्षेत्रों, विशेषकर पारिवारिक जीवन का सम्पूर्ण भार नारी ही पर था। इस युग की नारी को शिक्षा के पूर्ण अवसर प्राप्त थे। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा आदि मन्त्रद्रष्टा देवियाँ इसी समय की उपज हैं। सामाजिक जीवन और धार्मिक सभाओं तथा यज्ञों में स्त्रियों को सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त था। विवाह परिपक्व बुद्धि की अवस्था में होते थे और वरण की व्यक्तिगत सुविधा और स्वतन्त्रता भी नारी जाति को प्राप्त थी। पत्नी पति के सुख-दुःख की सम-भागिनी थी और मातृत्व में ही नारी का चरम उत्कर्ष माना जाता था। इस प्रकार वैदिक काल को हम नारी समाज के उत्थान की पराकाष्ठा अथवा 'स्वर्ग युग' की संज्ञा दे सकते हैं।

समय की शृंखला भी शाश्वत् नहीं रहती, अतएव उत्तर-वैदिककाल में नारी की पूर्ववत् स्थिति न रही और महाकाव्य-काल में उसका अपकर्ष प्रारम्भ हो गया। आर्यों की दस्यु-विजय के उपरान्त प्रचलित अनुलोम-विवाह, पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा आदि के कारण पुरुष की अर्धांगिनी सहधर्मिणी और शक्ति-प्रदायिनी नारी अब विलास की वस्तु समझी जाने लगी और वह संतान उत्पन्न करने का साधन भर रह गयी। विविध स्मृतियों में नारी-पूजा के साथ नारी-स्वातंत्र्य पर प्रतिबन्धात्मक सुभाषितों का श्रीगणेश हो गया। आगे चलकर संस्कृत-साहित्य के महाकवि कालीदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि की रचनाओं में रूप-लावण्य-वर्णन के अतिरिक्त नारी के विभिन्न रूपों भावों एवं वृत्तियों का अनुपम उद्घाटन और नारी-आत्मा का मनोहारी चित्रण हुआ।

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य का जन्म अस्थिर धार्मिक, राजनैतिक एवम् सामाजिक परिस्थितियों में हुआ। वैदिक-धर्म में कर्मकाण्ड के अति विस्तार के कारण जटिलता बढ़ चली थी और वाह्याडम्बरों के परिणामस्वरूप ऊंच-नीच की भावना भी उत्पन्न हो गयी थी। शनैः शनैः नारी-समाज भी अत्याचारों से दबने लग, किन्तु बौद्ध-काल में संम्वेदना का संदेश प्राप्त कर उसने मठों, संघारामों और विहारों में भिक्षुणी का परिधान धारण कर अपना कायाकल्प करने का प्रयत्न किया। आगे चलकर आठवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म स्वयं तंत्र-प्रधान होकर अति प्रवृत्तिपरक बन गया। फिर सिद्धों की अनाचार-युक्त गुह्य साधना-पद्धति भी प्रारम्भ हो गयी। ये क्रियाएं भले ही सिद्धों की शास्त्रीय दृष्टि में निर्वाण की साधक मानी गयी हों, किन्तु आज इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नारी भावना का इस काल में बड़ा अपकर्ष हुआ तथा पंचमकारों की साधना और उपदेश से नारी-भावना

पतनोन्मुख होती चली गयी। वज्रयानी, माता, पत्नी, पुत्री और भगिनी से कोई अन्तर नहीं मानते थे। नारी-मात्र उनकी कामतृप्ति का साधन बनी। हठयोगियों का जीवन भी 'मंत्र और मैथुन' के बीच ही व्यतीत होता था।

इसकी प्रतिक्रिया जैनियों में हुई, जिन्होंने नारी को पथ की बाधा मानते हुए उसे मोक्ष की अनधिकारिणी घोषित कर दिया। उधर, इस्लाम की भोगपरक-वृत्ति का भी समाज पर प्रभाव पड़ा। बाल-विवाह के साथ स्त्रियों में पर्दे की प्रथा प्रचलित हो गयी। सती-प्रथा के प्रचलन के साथ विधवा-विवाह भी बन्द हो गये। आक्रामक इस्लाम ने भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति को अत्यन्त विशृंखल कर दिया। शिक्षा के अभाव के कारण, ज्ञान की सीमाएं भी सकरी हो चलीं और नारी-जगत् भी अशिक्षा एवम् अन्धविश्वासों के अन्धकूप में डूबने-उतारने लगा।

इस काल में कविगण विदेशियों अथवा गृह युद्ध के वर्णनों में व्यस्त रहे। तब रूप-सौन्दर्य और नख-शिख वर्णन को ही कवि-कर्म माना गया और नारी का दैहिक-सौन्दर्य ही काव्य की मूल प्रेरणा रही और कामुक मांसल वर्णन इसका अभिप्राय। किसी भी पराक्रमी द्वारा भोग्या होकर इस काल की नारी रनिवास की बन्दिनी-रानी बनी रही। पत्नी और कुछ कर्तव्यशीला नारियों के चित्रण के अतिरिक्त नारी के माता, भगिनी आदि रूपों के वर्णन की कल्पना कवियों के मस्तिष्क में कभी उठी ही नहीं। अतएव इस काल की नारी नायक की भोग्या और उसकी वीरता के पुरस्कार की पात्री रही और भावना रही विशुद्ध वासनामयी 'रति'।

'आदि-युग' के नाथपंथियों और हठयोगियों ने सरल, सात्विक जीवन पर बल देते हुए आचार-शुद्धता का स्वर प्रबल किया था। इस्लाम का एकेश्वरवाद इस देश के निवासियों के लिए यद्यपि कोई नवीन विचार न था, किन्तु इस्लाम में ऊंच-नीच की भावना से परे समानता का एक महान सन्देश था। इसी कारण इस कट्टर व्यावहारिक भ्रातृभाव की ओर परम्परा-त्रस्त निचले वर्गों का हिन्दू आकृष्ट होने लगा। यदि रैदास, कबीर, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास, गुरू नानक, नामदेव आदि निर्गुण सन्त न होते तो तत्कालीन समाज की स्थिति ही कुछ और हो जाती। इस महान् विभूतियों ने वेद-ज्ञान अनावश्यक बतलाकर समाज के तथ्यहीन बाह्याडम्बरों की तीव्र भर्त्सना की, जिससे विशेषतः हिन्दू-समाज की निम्न स्तरीय जनता इनकी ओर आकृष्ट हो गयी। स्पष्ट ही ये लोग मोक्ष मार्ग के राही थे। अतएव वैराग्य-मूलक प्रवृत्ति होने के कारण संसार की निःसारता और विषय-सुखों की व्यर्थता ही इन्होंने प्रतिपादित की। उनके साहित्य विशेष कर काव्य में नारी-त्याग और उसकी निंदा

नारी, वासना की प्रतिमूर्ति और काम की वर्तिका मानी गई है। अतएव नारी से और विशेषतः नारी मादक के 'कामिनी' रूप से बचने के इन सन्तों ने उपदेश किये और वैराग्य वृत्ति के पोषण तथा उन्नयन के लिए नारी के लिए प्रायः तीव्र निन्दात्मक शब्दों तथा विशेषणों का भी जी-भर उपयोग किया गया। नारी-निन्दा के सम्बन्ध में आत्म-त्याग की बड़ी प्रशंसा की है और अध्यात्म-पक्ष में भक्त-प्रिया बनकर कंपते पैर और धड़कते हृदय को साहसपूर्वक सम्हाले अपने प्रियतम परमात्मा से 'ऊंची अटरिया' पर मिलने को भी वे सदैव अग्रसर रहे हैं। इस प्रकार इन सन्तों द्वारा नारी के दोनों रूपों–शुद्ध अलौकिक तथा लौकिक का विडंबनापूर्ण विवेचन हुआ है।

लौकिक-प्रेम के प्रतीकों द्वारा अलौकिक प्रेम का आभास देने वाले सूफी सन्तों ने फारसी प्रेम-पद्धति के अनुकूल परमात्मा की कल्पना एक प्रेयसी के रूप में की है और गुरु के मार्ग-प्रदर्शन द्वारा कठोर तप और साधना से पथ की समस्त विघ्न-बाधाओं के अतिक्रम के पश्चात् प्रिय-मिलन का उन्होंने उपक्रम किया है। ये सूफी-साधक मुस्लिम-शासन से बहुत पूर्व भारत में आने लगे थे। इन्होंने हिन्दुओं के पौराणिक तथा प्रचलित ऐतिहासिक आख्यानों को कल्पना के सहारे बड़े ही हृदयग्राही रूप में चित्रित किया है। जायसी के सुप्रसिद्ध 'पद्मावत' में नागमती की विरह-व्यंजना समर्पित और शुद्ध पतिव्रता हिन्दू नारी की प्रेम व्यंजना है। उसमें अलौकिक किन्तु उद्दाम एकांतिक प्रेम की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति भी हुई है। युग की परिस्थितियों एवम् युग-प्रभाव के कारण इन प्रेम-गाथाकारों के नारी-चित्रण में नारी के प्रति अवज्ञा तथा अतिरेक की भावना स्पष्ट देखी जा सकती है। पति के साथ सह-रमण करने वाली सती और पतिव्रता नारी की भूरि भूरि प्रशंसा के साथ ही इन कवियों ने नारी को भोग वासना की ओर उन्मुख करने वाली माना है। इस प्रकार न रहस्यवादी सूफी-सन्तों ने नारी की शक्ति, उसकी महत्ता और दिव्यता के वर्णन में हीप्रेम-मार्ग की समस्याओं का सुलभ और सुगम समाधान देखा है।

'सूफियों की भक्ति को 'रागानुगा' कहा गया है। हमारे यहाँ के सगुण-भक्तों में भी यह रागानुगा-भक्ति परिलक्षित होती है, यद्यपि सगुण सन्त वेद-शास्त्र में विश्वास करने वाले और वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रबल पोषक थे। राम और कृष्ण की उपासना भेद पद्धति से इन सन्त कवियों ने अपने-अपने आराध्य-देव के चरणों में उत्कृष्ण रचनायें अर्पित की हैं किन्तु नारी-विषयक भावना की दृष्टि से इनमें तथा निर्गुण भक्त कवियों में समानता है, क्योंकि इन भक्त-कवियों की नारी, मर्यादा की महिमा से मंडित रही है।

जीवन-भर 'रामचरण' अनुरागे की कामना तथा साधना करने वाले सन्त

गोस्वामी तुलसीदास तथा 'कमल-नयन का छोड़ महातम' अन्य देवता की ओर न जाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ सूरदास आराध्य के गुणगान में तल्लीन रहकर सात्विक सदाचारी जीवन बिताते रहे। नारी का कामिनी रूप, जो अत्यन्त मादक उद्दीपक तथा आकर्षक है, उन्हें सर्वथा त्याज्य एवम् निन्द्य है। इसी कारण जहाँ-जहाँ नारी अध्यात्म-मार्ग की बाधक हुई अथवा जहाँ बाधक होने की आशंका हुई, वहाँ नारी की निन्दा और भर्त्सना, किन्तु साधक रूप में बड़ी प्रशंसा भी की गयी। यह द्विधा-वृत्ति परस्पर विरोधी नहीं है, जैसी कि साधारणतः दिखायी देती है। परिस्थितियों के अनुरूप-नारी निन्दनीय हुई है और वन्दनीय भी बनी है नारी के स्वरूप का निर्धारण और नारीत्व के मूल्य का आकलन परिस्थितिपरक बनाकर कवियों ने उसको समाज के विभिन्न साँचों में ढालकर मनमाना ढांचा तैयार किया और नारी इस 'काव्य-शोषण' का शिकार बनी सिसकती रही, बिलखती रही; पुरुषों के दाँव का पासा बनी बाजी में जीती-हारी जाती रही। महात्मा तुलसीदास प्रभृति कवियों ने भी सामान्य नारी को सहज अपावन, जड़, अज्ञ, वासनामय तथा काम-वासना और मोह का प्रमुख कारण बतलाया है। साथ ही राम-साहित्य के प्रबन्ध काव्यों में सीता, कौशल्या, सुमित्रा आदि आदर्श पात्रों का चित्रण और हिन्दू पारिवारिक जीवन के विभिन्न पक्षों का सटीक, प्रभावशाली और चित्ताकर्षक चित्रण हुआ है। तुलसी के कथन 'सिया राम मय सब जग जानी' से भारतीय नारी की विश्वजनीनता सिद्ध होती है।

कृष्ण-साहित्य में, प्रबन्ध के विस्तार के अभाव में, आत्मा का सितार तल्लीनता की उंगलियों से ही करील की कुंजो में एवम् यमुना-तट पर झंकृत हो उठा है। कृष्ण-काव्य में गोपियों के प्रेम का वर्णन विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। ऋषि अगस्त्य ने, कहते हैं, अंजलि में भरकर समुद्र पान कर डाला था किन्तु निशि-दिन बरसते प्रेम-नीर से प्रवाहित प्रेमोदधि के पान की क्षमता किसी की न थी; इसके एकान्त अधिकारी तो नन्द-नन्दन ही थे। गोपियों का काम पूर्णतः समुन्नत होकर प्रेम में इस प्रकार मिश्रित हो गया कि काम तथा प्रेम भेद-रहित हो गये। लगभग ऐसी ही उत्कृष्ट रट मरुभूमि राजस्थान की अमर गायिका मीरां की भी प्रभु-चरणों में थी। प्रेम की यह ऐसी उदात्त भाव-दशा है कि जहाँ प्रेम के अतिरिक्त कुछ शेष ही नहीं रह जाता, चतुर्दिक प्रेम का ही वेणुरव गूंजता रहता है। इस मनोभाव की प्राप्ति के पश्चात् लौकिक-वैदिक विधि-निषेधों की भी कोई चिन्ता नहीं रहती। हिन्दी का यह भक्ति-काव्य 'रति' के इस उच्च-स्तरीय भाव-उन्नयन के लिये अपने में स्वतः सम्पूर्ण तथा विलक्षण मानवीय रस प्रदान करने वाला हैं।

'भक्ति काल' के इस काम-साहित्य और काम-दमन की प्रतिक्रिया 'रीतिकाल' की प्रवल कामुकता में हुई। एक लम्बे समय तक दबी रहने के कारण वासना हुंकार उठी। इसी कारण अधिकांश रीतिकालीन शृंगार-काव्य प्रवल वासना मूलक है, क्योंकि इन कवियों एवम् आचार्यों की दृष्टि नारी के वाह्य-रूप, अंग-प्रदर्शन और वहिर्भावनाओ तक ही पहुँच पायी एवम् उन्होंने नारी के मानस में पैठने की वहुत ही कम चेष्टा की। इस समय मुस्लिम-शासन भारत में पूर्णतया स्थापित हो चुका था, अतएव शान्ति के वातावरण में ललितकलाओं के विकास और प्रस्फुटन को पर्याप्त अवसर प्राप्त था। फिर किसी नृपति अथवा सामन्त के वैभवपूर्ण दरवार में प्रश्रय पाने वाले कवियों पर भी मुस्लिम-संस्कृति का प्रभाव पड़े विना कैसे रह सकता था? परिणामतः नारी का मात्र मादक उद्दाम रूप कवियों का वर्ण्य विषय वना एवम् दरबारों के विलासी वातावरण में नारी-भावना केवल अठखेलियाँ करती, ग्रीवा भंग कर नृत्य करती रही। कवियों का लक्ष्य नारी को अधिकाधिक आकर्षक और उपभोग्य वना देना ही रहा। रसों में केवल शृंगार और उसका भी वासनामय संयोग-पक्ष प्रवल रहा। नख-शिख-वर्णन, हाव-भाव, नायिका में दोष-भेद और विरह प्रसंगान्तर्गत षट्ऋतु वर्णन की खूव धूमधाम रही। नारी-भावना में स्थूल देहवाद की चकाचौंध के बीच भी कविजनों ने नायिका-भेद, गणिका विभेद तथा उसकी दशा के निरूपण आदि वर्णनों में अपने मनोवैज्ञानिक अध्ययन, जीवन सम्वन्धी गंभीर निरीक्षण और विश्लेषशात्मक निरूपण का परिचय देते हुए हमारे सम्मुख जीवन का वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है। इन कवियों ने परकीया के अहितकर तथा कंटकाकीर्ण मार्ग से दूर रहने के लिये सावधान किया है तथा एक स्वर से गणिका के प्रेम को रसाभास मान निन्दा और स्वकीया प्रेम की मुक्तकंठ से प्रशंशा की है।

अति शृंगारिकता के घटाटोप में कहीं-कहीं नीति-काव्य, वैराग्यमूलक भावना और अध्यात्मपरक उक्तियों के दर्शन भी हमें इस युग की कविता में देखने को मिलते हैं, किन्तु ऐसी उक्तियाँ पाठकों के हृदय को स्पर्श नहीं कर पातीं। भगवद्-विषयक इन पंक्तियों में सूर, तुलसी और मीरां की-सी वह आत्मिक तल्लीनता कहां, जो पढ़ते ही अनजाने में हृदय की सीपियों में प्रेम के मोती भर दे। यह सही है कि भूषण आदि भी इस युग के गायक हुए किन्तु वे भी समय की परिस्थितियों तथा परम्पराओं से ऊपर नहीं उठ सके। कविवर भूषण ने शत्रु की वीवियों को जो 'तीन वेर' खाने वाली थीं, उन्हें पराक्रमी हिन्दू राजा के भय से सुनसान वियावान में क्षुधा शान्ति के लिए 'वेर वीनते' चित्रित किया है। नारी को विविध रूपों तथा व्यापक क्षेत्र में चित्रित करने की इस काल में किसी ने कल्पना ही नहीं की। इन

परिस्थितियों में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए प्रकट रूप से भी कोई अवकाश न था ।

हिन्दी के 'आधुनिक-युग' का उदय 'भारतेन्दु-युग' के आरम्भ के साथ माना जाता है । साहित्य के इस 'सन्धिकाल' में यद्यपि नारी-जागृति के चिन्ह अधिक स्पष्ट न हो सके और न तत्कालीन कवि नारी-चित्रण में सौंदर्य के साथ शिव-रूप का ही सामंजस्य स्थापित कर सके, तथापि नारी-भावना के विकास की पृष्ठभूमि के रूप में यह युग अवश्य ही महत्वपूर्ण है । इस युग के कवियों के मन में नारी की वस्तुस्थिति के प्रति अवश्य ही हार्दिक करुणा की भावना विद्यमान थी, तभी तो उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र नारी की दयनीय दशा- अशिक्षा, सती-प्रथा एवं बाधित वैधव्य के प्रति प्रतिकारात्मक भावना देखने को मिलती है ।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ का समय सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त अस्थिर समय रहा है । परिस्थितियों के आघातों से जहां नारी-भावना व्यापक होकर प्रगति-पथ पर द्रुत गति से अग्रसर हो रही थी, वहीं विगत के संचित संस्कार उसे पीछे मुड़कर देखने को भी विवश कर रहे थे । द्विवेदी-युग हिन्दी में ऐसा ही संक्रान्ति-युग था । राजनैतिक-क्षेत्र में महिलाएं स्वराज्य प्राप्ति के संघर्ष में क्रियात्मक सहयोग करने लगी थीं और समाज की सबल इकाई के रूप में अपनी शक्ति, योग्यता तथा तेजस्विता का आलोक बिखेरने लगी थीं । कवीन्द्र रवीन्द्र के नारी सम्बन्धी विचारोत्तजक-निबन्धों से समाज-सुधार की एक अभिनव लहर दौड़ गयी थी और भक्ति तथा रीतिकाल की नारी-भवना के विरुद्ध एक प्रबल विद्रोही स्वर गूंज उठा था । इधर पाश्चात्य-साहित्य की विचारधाराएं भी इस काल के साहित्य को पर्याप्त रूप से प्रभावित कर रही थीं । अतएव नारी-स्थिति के पुनरुत्थान की ओर विद्वानों, कवियों एवं समाज-सेवियों का ध्यान आकर्षित हुआ । नारी-जागृति की दृष्टि से निश्चय ही यह समय बड़ा महत्वपूर्ण था ।

'द्विवेदी-युग' के राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त में आदर्श तथा यथार्थ का समन्वयात्मक दृष्टिकोण देखने को मिलता है । अब नारी का अबला, पतिता और उपेक्षिता रूप के उद्धार का सुष्ठु प्रयत्न प्रारम्भ हो गया था । वैदिक तथा पौराणिक नारियों के गुणगान द्वारा वर्तमान हीन-दशा का चित्रण करके गुप्तजी ने नारी की अनन्त शक्ति का अह्वान किया । श्री श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ की 'हरमिट' कविता का रूपान्तर प्रस्तुत कर भोगमुक्त शरीर-सम्पर्क-विहीन प्रेम का

और विश्व-सेवा के प्रांगण में नारी-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की। त्रिपाठीजी तथा लाला भगवानदीन 'दीन' ने वीर-क्षत्राणियों के चरित्राचित्रण में नारी का वीर उत्सर्गमय रूप प्रस्तुत किया। इस प्रकार नारी के अवगुणों के स्थान पर उसके वाह्य एवं आन्तरिक गुणों पर दृष्टिपात कर नारी की त्याग और इतर कल्याणकारी शक्तियों का यशोगान किया गया। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'प्रिय-प्रवास' की 'रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना' एवम् 'नाना हाव भाव विभाव कुशला' राधा को 'विश्व-विरह समेटे, पर दुःख कातर, लोक-सेविका' और 'लोक-निर्देशिका' के रूप में चित्रित किया।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' मानव-मनोविज्ञान के उत्तम ज्ञाता तथा सौन्दर्य और प्रेम की अर्न्तभावनाओं के सुहृदय कवि थे। इसी कारण उनकी रचनाओं में हमें नारी के दर्शन दया, क्षमा, त्याग, तितिक्षा, सेवा-भावना और करुणा की प्रतिमा के रूप में होते हैं। उनकी नारी में भारतीय परम्परा और अतीत का गौरव समाया हुआ है। 'प्रसाद' की नारी जहाँ शील, सहिष्णुता और करुणा की अजस्र स्रोत हैं, वहाँ वह विद्रोह की ज्वालामुखी भी है। नारी के लौकिक तथा अलौकिक दोनों रूपों के संघर्ष का पर्यवासन त्याग और करुणा में होता हैं और वह अपनी समस्त सीमाओं से ऊपर उठकर वन्दनीय बन जाती है। इस प्रकार इस युग की नारी-भावना में आमूल परिवर्तन हुआ और कवियों ने नारी को वासना और मांसलता के क्षेत्र से बाहर निकालकर नारी-सम्बन्धी नवीन आदर्शों की सृष्टि की।

यद्यपि 'छायावाद' में नारी-सौन्दर्य का चित्रण रूप-सौन्दर्य (शरीरी अङ्गों का चित्रण) एवं भाव-सौन्दर्य (प्रेम, लज्जा, मोह आदि भावात्मक वृत्तियों का चित्रण) इन दो रूपों में हुआ है, तथापि भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित होकर छायावादी-कवियों ने स्थूल से परे नारी-सौन्दर्य और प्रेम की लाक्षणिक अभिव्यंजना की है। ये कवि, नारी-सौन्दर्य की अतीन्द्रियता पर मुग्ध हो तथा भोग-भाव से ऊपर उठकर, केवल विस्मय, कौतूहल और रहस्यमयी चेतना में ही रम गये हैं। उनके द्वारा चित्रित नारी सम्पूर्ण रूप में अशरीरी और सूक्ष्म बन गयी है। उसका यह सूक्ष्मतम् रूप कहीं इस सीमा तक बढ़ गया है कि वह अनुभूति-मात्र ही रह गयी है। कुछ कवियों के चित्रण में तो वह इस सीमा को भी पार कर अगोचर ब्रह्म के समकक्ष जा बैठी है। साथ ही इन कवियों ने प्रकृति के साथ नारी का सामंजस्य स्थापित कर सौन्दर्य दृष्टि को सूक्ष्मता और विविधता प्रदान की है, तभी तो उनके प्रकृति-चित्रण में सर्वत्र हमें 'नारीवाद' के ही दर्शन होते हैं।

कविवर पन्त ने प्रकृति के माध्यम से नारी का बड़ा ही हृदयाकर्षक चित्रण किया, श्रीमती महादेवी वर्मा ने उसे 'अर्ध-मानवी' और 'अर्ध-कल्पना' का रूप दिया,

'प्रसाद' ने उसे लक्ष्मी का स्वरूप और 'निराला' ने उसे शारदा की गरिमा प्रदान की। इस प्रकार इन कवियों की दृष्टि में नारी का रूप-लावण्य वासना अथवा पतन का संदेशवाही नहीं, अपितु जीवन के कर्म-पथ की उत्कट प्रेरणा है। इस छायावादी प्रवृत्ति के विकास ने नारी के मूल्य, महत्व और स्वरूप में एक क्रान्ति-सी उत्पन्न कर उसकी स्थिति के उन्नयन की दिशा में सराहनीय प्रयास किया है। उन्होंने नारी को जहां देवी, मां, सहचरी, प्राण आदि नामों से सम्बोधित कर उसके प्रति अपना सम्मानप्रदर्शित किया, वहां उसे प्रेयसी, अबोध बालिका, महिला, अप्सरा, ग्राम्या, आधुनिका आदि विविध रूपों में भी चित्रित किया है।

छायावादोत्तर-काल में 'प्रगतिवाद' के समानान्तर हिन्दी कविता में जो व्यक्तिवाद की परिणति अहंवादी, असामाजिक तथा उच्छृंखल प्रवृत्ति के रूप में हुई है, उसका नामकरण प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, प्रपद्यवाद, रूपवाद, नयी कविता, अकविता, गीत-कविता आदि से किया गया है। इस काल के कवियों के लिए युग-युग से सामन्तवाद की कारा में पुरुषदासता की शृंखलाओं में आबद्ध नारी भी किसान और मजदूर की भांति शोषित, दलित और पीड़ित है, अतएव वह उनकी हार्दिक सहानुभूति की पात्र है। इन प्रगतिशील-प्रयोगवादी कवियों द्वारा नारी-भावना का अनेक दिशाओं में विकास हुआ है। वे नारी को समान प्रतिष्ठा प्रदान करने लगे हैं, जिससे आज नारी पुरुष के साथ समान अधिकारों की भोग्या बनकर समस्त कार्यों में उनका हाथ बंटाने वाली बन गयी है। उनकी नारी सम्बन्धी विचारधारा मार्क्स के भौतिक-आदर्श, फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक विज्ञान और युग के नवीन विचारों से प्रभावित है।

'नयी-कविता' की अधिकांश रचनाएँ छायावादी रचना-शैली और कला-विधान के विकास का ही परिणाम हैं। ये नये कवि अब नये उपमान, नये प्रतीक और नयी काव्यभंगिमाओं के सहारे युग-मानव के लिए नवीन भावभूमि प्रस्तुत कर रहे हैं। वास्तव में डा० गणपतिचन्द्र के शब्दों में यह नयी कविता, नये समाज के नये वृत्तियों की नयी अभिव्यक्ति, नयी शब्दावली में है, जो नये पाठकों के नये दिमाग पर, नये ढंग से, नया प्रभाव उत्पन्न करती है।' इन कवियों में रस की अपेक्षा प्रभाव उत्पन्न करने की चिन्ता अधिक जान पड़ती है। नव्यतर-गीत-कविता के इन गायकों ने प्रकृति और प्रणय के काव्य-क्षेत्र में अपनी दृष्टि का प्रसार कर एवं भाषा को नवीन रूप तथा संस्कार प्रदान कर सामाजिक चेतना की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उन्होंने प्रणय को सर्वथा लौकिक पीठिका पर इसी धरती की

यद्यपि मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित कुछ कवियों ने नारी के नग्न-रूप को वासना की उत्तेजना से प्रज्जवलित कर उसके चरित्र के साथ खिलवाड़ किया है, तथापि अधिकांश कवियों द्वारा यथार्थ के प्रति उत्कट आग्रह होने के कारण युग-युग से उपेक्षित नारी को अत्यधिक परतंत्रता से मुक्त कराने का सफल प्रयास भी किया जा रहा है। अब नारी-जागृति और परिष्कृत समाजवादी नारी-भावना के उदय के कारण काव्य-पटी पर नारी के चित्र परिवर्तित होने लगे हैं। आज का कवि नारी की छवि को विराट मायाविनी और जीवन को प्रेरित करने वाली महाशक्ति कहकर उसे अपने अंक में समेट लेना चाहता है।

'तुम छन्दों की आदि प्रेरणा,
प्रथम श्लोक की प्रचुल वेदना।' तार-सप्तक, पृ० ५३

'नयी कविता' का कवि यह अनुभव कर रहा है कि इस संघर्ष-प्रधान युग में नारी, पुरुष की केवल सहचरी अथवा 'ललित कला विधौ' शिष्यां बनकर सन्तुष्ट नहीं रह सकती, उसे नारी को सहयात्रिणी और सहधर्मिणी बनाना है। अतएव आधुनिक युग की कविता में नारी को स्वच्छन्द जीवन-संगिनी के रूप में चित्रित किया जा रहा है। सन् १९६० के पश्चात् के नवगीतों तथा 'अकविता' नाम से सम्बोधित रचनाओं में भी जीवन के सामाजिक सत्यों को वाणी देते का प्रयास हो रहा है। विगत १९-२० वर्षों में नारी-प्रधान विषयक (राधा, सीता, शकुन्तला, कनुप्रिया, हिडिम्बा, कूबरी, गोपिका, गान्धरी, कुन्ती इन्द्राणी, कच-देवयानी नारी आदि) तथा काव्य की उपेक्षिता नारियों (कैकेयी, सारन्धा, पार्वती दमयन्ती, मीरां, उर्मिला, द्रौपदी, उर्वशी, झांसी की रानी, दुर्गावती, पद्मवती, लक्ष्मीबाई आदि) पर प्रबन्ध काव्य अथवा महाकाव्य लिखकर कई कवियों ने अपने कृतित्व का शृंगार किया है। साथ ही हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियों के लोक गीतों में भी नारी के विविध रूपों की सुन्दर झांकी हमें देखने को मिलती है। कारण, ये लोकगीत नारी हृदय की कोमल भावनाओं, तीव्र अनुभूतियों और मार्मिक अनुभवों से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि आधुनिकयुग वास्तव में नारी सम्बन्धी भावनाओं के जागरण का युग है।

परिशिष्ट

शोध-कालीन अध्ययन ग्रन्थ

(१) वैदिक एवं संस्कृत-साहित्य से सम्बन्धित शास्त्रीय, काव्य तथा आलोचना ग्रन्थ—

ऋग्वेद-संहिता, गीता प्रेस, गोरखपुर।
यजुर्वेद-संहिता, " "
अथर्ववेद-संहिता, " "
श्री विष्णु पुराण, " "
ब्रह्मवैवर्त पुराण, " "
पद्म पुराण, " "
मार्कण्डेय पुराण, " "
शिव पुराण, " "
भागवत पुराण, " "
वाल्मीकि रामायण महर्षि वाल्मीकि।
महाभारत, खंड ६ महर्षि वेदव्यास।
श्रीमद्भगवद् गीता " "
वृहदारण्यकोपनिषद् गीता प्रेस, गोरखपुर।
मनुस्मृति महर्षि मनु।
याज्ञवल्क्य स्मृति महर्षि याज्ञवल्क्य।
पारस्कर गृह्यसूत्र महर्षि पारस्कर।
कामसूत्र (जय मंगला टीका) महर्षि वात्स्यायन।
दुर्गा सप्तशती
कालीदास ग्रन्थावली श्री भारतीय विक्रम परिषद्, वाराणसी।
मालती माधव, उत्तर रामचरितम् भवभूति।
किरातार्जुनीयम् महाकवि भारवि।
वासवदत्ता कवि सुवन्धु।
शिशुपाल-वध कवि माघ।
हर्ष चरित्रतम् महाकवि वाणभट्ट।
नैषध महाकाव्यम् श्रीहर्ष।
वुद्धचरित, सौदरानन्द कवि अश्वघोष।

वेणी संहारम् भट्ट नारायण ।
नीति शतक, वैराग्य शतक, शृङ्गार शतक भर्तृहरि ।
भामिनी विलास पंडितराज जगन्नाथ (खेमराज श्रीकृष्णदास) १९६३ ।
शृंगार-भूषण श्री वामन भट्ट, निर्णय सागर प्रेस, १८९६ ।
शृंगार तिलकम् श्री रामचन्द्र दीक्षित, निर्णय सागर प्रेस, १८९४ ।
संस्कृति-कवि-दर्शन डा० भोलाशंकर व्यास, १९५५ ।
संस्कृत-साहित्य का इतिहास डा० ए० बी० कीथ, १९६० ।
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता डा० वेनीप्रसाद, १९५० ।
आदि-भारत प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप, १९५३ ।
हिन्दू सभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी, १९५५ ।
वैदिक-संस्कृति का इतिहास श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी, १९५७ ।
भारत का सांस्कृतिक इतिहास श्री हरिदत्त वेदालङ्कार, १९५२ ।
धर्म और समाज डा० सर्वेपल्ली राधाकृष्णन्, १९६३ ।
भारत श्री श्रीपाद अमृत डांगे, अनु० श्री आदित्य मिश्र ।
भारत का प्राचीन इतिहास डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, १९६० ।
बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक श्रीपरशुराम चतुर्वेदी, १९५८ ।
सांस्कृतिक भारत श्री भगवतशरण उपाध्याय ।
भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण श्री भगवतशरण उपाध्याय ।
विनय-पिटक (१९३५) महापंडित राहुल सांकृत्यायन ।
बौद्ध दर्शन (१९४४) " "
बुद्ध-चर्य्या (१९५२) " "
ऋग्वैदिक चार्य (१९५७) " "
वैदिक साहित्य और संस्कृति डा० बलदेव उपाध्याय, १९५५ ।
भारतीय संस्कृति का विकास डा० मंगलदेव शास्त्री, १९५६ ।
प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९६३ ।
कला और संस्कृति डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, १९५२ ।
संस्कृति के चार अध्याय श्री रामधारीसिंह 'दिनकर', १९५६ ।
रामायण-कालीन संस्कृति श्री शान्तिकुमार व्यास, १९५८ ।
कालिदास और उनका युग श्री भगवतशरण उपाध्याय, १९५६ ।

(२) हिन्दी साहित्य सम्बन्धी शास्त्रीय, इतिहास तथा आलोचना ग्रन्थ—

नाट्यशास्त्र-भरत मुनि, अनु० श्री भोलानाथ शर्मा, १९५४ ।

काव्यालंकार रुद्रट, तृ० संस्करण, १९५।४
काव्यलंकार भामह, १९२८ ।
काव्य-मीमांसा कविराज राजशेखर, १९५४ ।
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, डा० नगेन्द्र, १९५५ ।
काव्यशास्त्र डा० भागीरथ मिश्र, १९५७ ।
साहित्य-शास्त्र डा० रामकुमार वर्मा, १९५६ ।
रस-मीमांसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००६ ।
साहित्यावलोकन डा० विनयमोहन वर्मा, १९५२ ।
हिन्दी साहित्य कोश ज्ञानमंडल लि०, बनारस सं० २०१५ ।
हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००६ ।
हिन्दी साहित्य डा० श्यामसुन्दरदास, १९५३ ।
भारतीय नारी स्वामी विवेकानन्द, १९४८ ।
नारी का मूल्य श्री शरद्चन्द्र चट्टोपाध्याय, १९५१ ।
वेद में स्त्रियाँ श्री गणेशदत्त शर्मा गौड़, सं० १९८९ ।

(३) आदि-युग संबन्धी ग्रन्थ—

हिन्दी साहित्य का आदि-काल डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० २०१३ ।
हिन्दी काव्य-धारा महापंडित राहुल सांकृत्यायन, १९४५ ।
नाथ-सम्प्रदाय डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५० ।
गोरखनाथ और उनका युग डा० रांगेय राघव, १९६३ ।
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग डा० नामवरसिंह, १९६१ ।
खुसरो की हिन्दी कविता खुसरो-सम्पा. श्री बृजरत्नदास, १९२२ ।
विद्यापति ठक्कुर डा० उमेश मिश्र ।
विद्यापति-युग और साहित्य डा० अरविन्द नारायण सिन्हा, १९६६ ।
विद्यापति डा० जयनाथ 'नलिन', १९६१ ।

(४) निर्गुण काव्य-धारा सम्बन्धी-ग्रन्थ—

मध्यकालीन धर्म-साधना आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५२ ।
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, १९५१ ।
निर्गुण काव्य दर्शन प्रो० सिद्धनाथ तिवारी, १९५३ ।
निर्गुणी सन्त साहित्य डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, १९४० ।
हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान पं० परशुराम चतुर्वेदी, १९६२ ।
हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त-काव्य डा० प्रभाकर माचवे, १९६२ ।

कबीर का रहस्यवाद डा० रामकुमार वर्मा, १९६१ ।
कबीर की विचारधारा डा० गोविन्द त्रिगुणायत, सं० २०१४ ।
कबीर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९६० ।
सुन्दर-ग्रन्थावली सन्त सुन्दरदास, १९३६ ।
दादूदयाल की बानी सन्तदादूदयाल, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग १९२१ ।
सन्त रैदास की बानी सन्त रैदास, ,, ,,
मलूकदास की बानी सन्त मलूकदास, ,, ,,
पद्मावत मलिक मुहम्मद जायसी, सम्पा. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, सं० २०१२ ।
जायसी-ग्रन्थावली डा० माताप्रसाद गुप्त, १९५२ ।
मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य डा० सिवसहाय पाठक, १९६४ ।
जायसी डॉ रामपूजन तिवारी, १९६५ ।
सूफी-मत और हिन्दी साहित्य डा० विमलकुमार जैन, १९५५ ।
हिन्दी सन्त साहित्य डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, १९६३ ।

(५) सगुण काव्यधारा सम्बन्धी ग्रन्थ—

संत वैष्णव-काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ।
भागवत सम्प्रदाय डा० बल्देव उपाध्याय, सं० २०१० ।
तुलसी साहित्य की भूमिका डा० रामरतन भटनागर, १९४६ ।
तुलसी-ग्रन्थावली (भाग १, २, ३), सम्पा० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, १९२३ ।
गोस्वामी तुलसीदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००३ ।
तुलसी-रसायन डा० भागीरथ मिश्र, १९५४ ।
तुलसी-ग्रन्थावली (भाग १, २), डा० माताप्रसाद गुप्त ।
तुलसीदास ,, ,, १९४६ ।
तुलसी डा० उदयभानुसिंह, १९६५ ।
रामचरित-मानस, गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
दोहावली तुलसीदास, सम्पा० श्री वियोगी हरि, सं० २०१५ ।
रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन डा० गार्गी गुप्त, १९६४ ।
रामचन्द्रिका आचार्य केशवदास, सम्पा० डा० बड़थ्वाल, सं० १९९० ।
भारतीय साधना और सूर-साहित्य डा० मुन्शीराम शर्मा, सं० २०१० ।
भारतीय वाङ्मय में श्री राधा डा० बलदेव उपाध्याय, १९६३ ।
श्री राधा का क्रम-विकास श्री शशिभूषणदास गुप्त, १९५६ ।
सूर-काव्य की आलोचना डा० हरवंशलाल शर्मा, (प्रथम संस्करण) ।
सूर-सागर (खण्ड १–२) नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००७ ।

हिन्दी कृष्ण-काव्य में माधुर्योपासना डा० श्यामनारायण पाण्डेय, १९६३।
भंवर गीत, रूप-मंजरी, रास पंचाध्यायी श्री नन्ददास।
कूट-काव्य ; एक अध्ययन डा० रामधन शर्मा, १०६३।
अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (भाग १, २) डा० दीनदयाल गुप्त, १९३७।
अष्टछाप-काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन सुश्री मायारानी टंडन, १९६०।
पदावली सर्वश्री परमानन्द दास, कृष्णदास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, गोविन्ददास।
गीत गोविन्द कवि जयदेव, अनु० डा० विनयमोहन शर्मा, १९५५।
रहिमन शतक कवि रहीम, सं० १९६१।
अब्दुर्रहीम खानखाना डा० समरबहादुर सिंह, सं० २०१८।
रसखान : जीवन और कृतित्व प्रो० देवेन्द्र प्रताप उपाध्याय, १९६२।
मीरां माधुरी मीराँबाई, सम्पा० व्रजरत्नदास, सं० २००५।
मीरां की प्रेम-साधना डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र १९३७।
मीरां स्मृति-ग्रन्थ बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता।
मीरांबाई डा० श्रीकृष्णलाल, सं० २००७।
चन्द्रसखी और उनका काव्य श्रीमती पद्मावती, सं० २०११।

(६) श्रृङ्गार (रीति) काल से सम्बन्धित ग्रन्थ—

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग), सम्पा० डा० नगेन्द्र, (नागरी प्रचारिणी सभा) सं० २०१५।
हिन्दी रीति-साहित्य डा० भागीरथ मिश्र, १९५६।
रीति-श्रृङ्गार डा० नगेन्द्र, १९५४।
व्रजभाषा साहित्य में नायिका-निरूपण श्री प्रभुदयाल मीतल, १९४४।
मध्यकालीन श्रृंगारिक प्रवृत्तियाँ श्री परशुराम चतुर्वेदी, १९५५।
रीतिकाल के प्रमुख प्रबन्ध-काव्य डा० इन्द्रपाल सिंह, १९६५।
कव-प्रिया, रसिक-प्रिया, नखशिख आचार्य केशवदास।
भाव विलास महाकवि देव।
रस-विलास "
भवानी विलास "
देव और बिहारी पं० कृष्णबिहारी मिश्र, सं० २००९।
बिहारी दर्शन पं० लोकनाथ द्विवेदी, सं० २००७।
बिहारी और उनका साहित्य डा० हरवंशलाल शर्मा तथा डा० परमानन्द शास्त्री १९६३।

बिहारी का नया मूल्यांकन डा० बच्चनसिंह, १९६० ।
बिहारी की वाग्विभूति श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।
महाकवि मतिराम डा० त्रिभुवनसिंह,
मतिराम ग्रन्थावली मतिराम, सम्पा० श्री कृष्णबिहारी मिश्र, १९३४ ।
श्रृङ्गार-निर्णय भिखारीदास, १८९५ ।
जगद् विनोद पद्माकर (खेमराज श्रीकृष्णदास), १९५६ ।
पद्माकर श्री डा० भालचन्द्रराव तैलंग, १९६६ ।
आलम केलि माधवानल काम कन्दर्प कला (आलम), स० १९७९ ।
शिवा-बावनी छत्रशाल शतक (१९४०), कविभूषण ।

(७) आधुनिक-काल सम्बन्धी आलोचना तथा काव्य-ग्रन्थ—

आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१७५७-१८५७), डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९५२ ।
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००-२५ ई०), डा० श्रीकृष्णलाल, १९४२ ।
आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार डा० रांगेय राघव, १९६१ ।
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां आ० नगेन्द्र, १९५१ ।
आधुनिक कविता का मूल्यांकन श्री इन्द्रनाथ मदान, १९६२ ।
हिन्दी कविता में युगान्तर डा० ब्रह्मदत्त मिश्र 'सुधीन्द्र', १९५० ।
आधुनिक साहित्य आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ।
हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी " ।
हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास डा० शम्भूनाथ सिंह, १९६२ ।
आधुनिक हिन्दी कविता डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, १९६२ ।
आधुनिक हिन्दी कविता में चित्र-विधान डा० रामयतन सिंह 'भ्रमर'- १९५५ ।
भारतेन्दु ग्रंथावली (भाग १, २) श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सम्पा. श्री ब्रजरतनदास ।
भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवि श्री किशोरीलाल गुप्त, १९५६ ।
प्रताप लहरी श्री प्रतापनारायण मिश्र, १९४९ ।
कविता कलाप (द्वितीय संस्करण) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, १९११ ।
'हरिऔध' और उनका साहित्य श्री मुकुन्द देव शर्मा ।
महाकवि 'हरिऔध' श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ।
प्रिय-प्रवास, वैदेही वनवास पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', वि० २००० ।
भारत भारती, शकुन्तला, साकेत, यशोधरा, द्वापर, जय-भारत, हिडिम्बा, पंचवटी
(सं. १९६९) (सं. २०११) (सं. २००७) (सं. १९९५)

विष्णुप्रिया (सं० २०१४) श्री मैथिलीशरण गुप्त ।
कश्मीर सुषमा (द्वितीय संस्करण) श्री श्रीधर पाठक ।
रत्नाकर (भाग १) श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' सं० २००३ ।
उद्धव शतक " " सं० १६५१ ।
वासवदत्ता (सं० २०१२), कुणाल श्री सोहनलाल द्विवेदी ।
कृष्णायन श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र, सं० २००२ ।
सिद्धार्थ श्री अनूप शर्मा, १६३७ ।
नूरजहाँ श्री गुरुभक्त सिंह 'भक्त', सं० २००० ।
जौहर श्री श्यामनारायण पाण्डेय ।
मुकुल सुश्री सुभद्रा कुमारी चौहान, १६४७ ।
कवि प्रसाद की काव्य-साधना श्री रामनाथ सुमन, १६३८ ।
आंसू (सं० २००६), कामायनी (सं० २०१५), प्रेम पथिक (द्वि० सं०)
श्री जयशंकर 'प्रसाद' ।
अपरा (सं० २००३), अनामिका, परिमल (सं २००७), गीतिका
श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ।
वीणा, पल्लव (सं० १६४२), युग-वाणी (१६६६), ग्राम्या (१६६६), उत्तरा (२००६),
रश्मि-बन्धन, गुंजन श्री सुमित्रानन्दन पन्त ।
सुमित्रानन्दन पन्त : काव्य-कला और जीवन-दर्शन सुश्री शचि रानी गुर्टू ।
महादेवी वर्मा : काव्य-कला और जीवन-दर्शन सुश्री शचि रानी गुर्टू ।
यामा (१६४७), दीपशिखा (१६४६), सान्ध्य गीत, आधुनिक कवि (सं० २००६) ।
शृंखला की कड़ियां, अतीत के चलचित्र सुश्री महादेवी वर्मा ।
अंजलि, रूपराशि, कुल-ललना, चित्ररेखा, आधुनिक कवि (सं० १६६८)
डा० रामकुमार वर्मा ।
बच्चन-व्यक्तित्व एवं कृतित्व श्री कृष्णचन्द्र पंड्या ।
मधुशाला (१६३८), मिलन-यामिनी (१६५०), निशा निमंत्रण (सं० १६६८), ।
प्रणय-पत्रिका (१६५५ , आरती और अंगारे (१६६३)
डा० हरिवंशराय 'बच्चन'
प्रवासी के गीत, कामिनी श्री नरेन्द्र शर्मा, सं० २०००
अर्ध-नारीश्वर, रसवन्ती (चतुर्थ संस्करण), रेणुका (प्रथम सं०)
श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ।
हिम-किरीटिनी, हिम-तरंगिणी (सं० १६६८) श्री माखनलाल चतुर्वेदी ।

'नवीन' और उनका काव्य श्री जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, १६६३ ।
अपलक (१६५१) रश्मि रेखा (सं० २००८) श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ।
मधुकण (१६३३) प्रेम-संगीत (१६३७) श्री भगवतीचरण वर्मा ।
प्रलय सर्जन, हिल्लोल (१६४६), जीवन केगान (१६४५), युग का मोल ।
डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' ।
नयी नारी श्री रामवृक्ष वेनीपुरी, १६४६ ।
तार सप्तक (१६४३), हरी घास पर क्षण-भर (१६४६), अरी ओ करुणामय प्रभामय, बावरा अहेरी श्री 'अज्ञेय' ।
अपराजिता, किरण वेला (१६४१), वर्षान्त के बादल, लाल चूनर
श्री रामेश्वरशुक्ल 'अंचल' ।
कनुप्रिया, ठंडा लोहा तथा अन्य कृतियाँ डा० धर्मवीर भारती ।
प्राण गीत (प्रथम संस्करण) श्री 'नीरज' ।
हास परिहास सम्पा० श्री सुधाकर पाण्डेय १६५६ ।
उर्मिला महाकाव्य श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' १६५७ ।
द्रौपदी श्री नरेन्द्र शर्मा १६६१ ।
उर्वशी श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' १६६२ ।
कूबरी श्री रामनारायण अग्रवाल १६६५ ।

(८) प्रकाशित एवं अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध (Thesis)

हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास डॉ० राम शंकर शुक्ल 'रसाल' इलाहाबाद, १६३७ ।
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ, १६४७ ।
हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, इलाहाबाद, १६४७ ।
हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण डॉ० किरण कुमारी गुप्ता, आगरा, १६४८ ।
अपभ्रंश साहित्य डॉ० हरिवंश कोछड़, दिल्ली, १६५२ ।
अपभ्रंश साहित्य का गवेषणात्मक अध्ययन डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, आगरा, १६५० ।
हिन्दी वीर-काव्य डॉ० टीकम सिंह, तोमर, इलाहाबाद, १६५२ ।
सिद्ध साहित्य डॉ० धर्मवीर भारती, इलाहाबाद,१६५३ ।
श्री गुरु गोरख नाथ और उनका युग डॉ० टी० एन० वी० आचार्य (स्व० रांगेय राघव आगरा. १६४८ ।
हिन्दी की निर्गुणमार्गी काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, आगरा, १६५७ ।
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय डा० पीताम्बरदत्त, लखनऊ १६३४ ।

हिन्दी काव्य में मराठी सन्तों की देन डा० विनयमोहन शर्मा, नागपुर, १९५६।
मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी-भावना। डा० उषा पाण्डेय, इलाहाबाद, १९५७।
जायसी : उनकी कला और दर्शन डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ, आगरा, १९४९।
तुलसीदास और उनका युग डा० राजपति दीक्षित, बनारस, १९४९।
कृष्ण-काव्य में भ्रमर गीत डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित, आगरा, १९५४।
सूरदास और उनका साहित्य डा० हरवशलाल शर्मा, नागपुर, १९५५।
मीरावाई—डा० सी० एल० प्रभात, आगरा, १९६३।
भक्ति-काव्य में माधुर्य-भाव का स्वरूप डा० जयनाथ 'नलिन', पंजाव, १९६६।
सूरदास : जीवन और कृतिओं का अध्ययन डा० व्रजेश्वर वर्मा, इलाहावाद, १९४५।
भारतीय साधना और सूर-साहित्य डा० मुंशीराम शर्मा, आगरा, १९५१।
कविवर परमानन्द दास और उनका साहित्य डा० गोवर्धननाथ शुक्ल, अलीगढ़, १९५६।
अकवरी दरबार के हिन्दी कवि डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ, १९४९।
रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना डा० बच्चनसिंह, बनारस, १९५६।
नायक-नायिका भेद : वैज्ञानिक अध्ययन डा० छैलबिहारीलाल गुप्त 'राकेश'। इलाहावाद, १९५२।
रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन डा० नगेन्द्र, आगरा, १९४६।
हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य डा० सत्यदेव चौधरी, दिल्ली, १९५६।
आचार्य केशव दास डा० हीरालाल दीक्षित, लखनऊ, १९५०।
हिन्दी काव्य में श्रृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, पंजाव, १९५८।
हिन्दी कविता (१६००–१८५० ई०) में श्रृंगार रस का अध्ययन डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, आगरा, १९५२।
आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, आगरा १९५५।
आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा तथा प्रयोग डा० गोपालदत्त सारस्वत, आगरा, १९५८।
वीसवीं शताब्दी के महाकाव्य डा० प्रतिपाल सिंह, आगरा, १९५२।
आधुनिक काव्य में नारी-भावना डा० शैलकुमारी, इलाहावाद, १९४९।
आधुनिक साहित्य (१८५०–१९०० ई०) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, इलाहावाद, १९४०।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१६०१-२५ ई०)　डा० श्रीकृष्ण लाल, इलाहाबाद, १६४२ ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग　डा० उदयभानु सिंह, लखनऊ, १६४६ ।

मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता　डा० उमाकान्त गोयल, दिल्ली, १६५७ ।

गुप्तजी का काव्य-विकास　डा० कमलाकान्त पाठक, सागर, १६५७ ।

जयशंकर प्रसाद के काव्य का विकास　डा० प्रेमशंकर, सागर, १६५३ ।

प्रसाद के नारी-चरित्र　डा० देवेशठाकुर, सागर, १६६२ ।

हिन्दी महाकाव्यों में नारी-चित्रण　डा० श्यामसुन्दर व्यास, आगरा, १६५६ ।

अज्ञेय साहित्य-प्रयोग और मूल्यांकन　डा० केदार शर्मा, १६६८ राजस्थान ।

(६) हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ—

सरस्वती (मासिक)　वाराणसी

नागरी प्रचारिणी पत्रिका　वाराणसी

सम्मेलन-पत्रिका　इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी　इलाहाबाद

'कल्याण' (नारी अंक)　गोरखपुर

समालोचक (सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक)　आगरा

आलोचना (मासिक)　दिल्ली

आजकल (मासिक)　दिल्ली

सरिता (मासिक)　दिल्ली

अवन्तिका (मासिक)　पटना

कल्पना (मासिक)　हैदराबाद

नवनीत (मासिक)　बम्बई

कल्याण (मासिक)　गोरखपुर

श्रीकृष्ण-सन्देश (मासिक)　मथुरा

वीणा (मासिक)　इन्दौर

साहित्य-सन्देश (मासिक)　आगरा

सरस्वती-सन्देश (मासिक)　आगरा

प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ　१६४६

पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ　सं० २०१०